# मेरी कहानी

[ पण्डित जवाहरलाल नेहरू की आत्म-कथा ]

हिन्दी-सम्पादक

श्री हरिभाऊ उपाध्याय

प्रकाशक

सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली

अक्तूबर १९३६; पहली बार, ३०००,
नवंबर १९३६; दूसरी बार ३०००
क़ीमत चार रुपये ।

पूज्य मालवीयजी की अपील

"सस्ता साहित्य मण्डल" ने हिन्दी में उच्चकोटि की सस्ती पुस्तकें निकालकर हिन्दी की बड़ी सेवा की है। सर्वसाधारण को इस संस्था की पुस्तकें लेकर इसकी सहायता करनी चाहिए।"

मुद्रक—
हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस,
पो० ब० नं० ७८, दिल्ली

# मेरी ओर से

आज, जब कि पूर्व-प्रकाशित सूचना के अनुसार इस पुस्तक को पाठकों के हाथों में पहुँचे एक महीना हो जाना चाहिए था, मैं अपना यह प्रारम्भिक निवेदन लिखने बैठा हूँ। समझ में नहीं आता, इस देरी के लिए किस प्रकार क्षमा माँगूं। एक तो वैसे ही स्वास्थ्य कुछ बहुत अच्छा नहीं रहता, फिर दूसरी ओर ज़िम्मेदारियों का बोझ भी सिर पर था, जो इस अधमरे शरीर को थका देने के लिए काफ़ी था। ऐसी दशा में पं० जवाहरलाल जी की 'आत्मकथा' के अनुवाद और सम्पादन के काम की ज़िम्मेदारी मेरे लिए दुःसाहस की बात थी। लेकिन पागल भावुकता का क्या इलाज? पूज्य बापूजी—महात्माजी—की 'आत्मकथा' के अनुवाद का जब सुअवसर मिला तो उसको मैंने अपना अहोभाग्य समझा। अब अपने मान्य राष्ट्रपति की जीवन-कथा के अनुवाद का सुसंयोग आने पर इस गौरव से अपने को वञ्चित रखने की कल्पना ही कैसे हो सकती थी? इसलिए जब 'सस्ता साहित्य मण्डल' ने काँग्रेस-इतिहास के दोनों संस्करणों के अनुवाद और संपादन के बाद ही यह ज़िम्मेदारी भी उठाने के लिए मुझसे कहा तो मैंने फ़ौरन उसे स्वीकार कर लिया और इस ख़याल से कि काम जल्दी और समय पर ख़त्म हो जाय, अनुवाद में शक्ति से अधिक मेहनत करने लगा। नतीजा यह हुआ कि आगे चलकर शरीर ने जवाब दे दिया और गाड़ी अधबीच में ही रुक गई। लेकिन काम को जल्दी ख़त्म करने और पुस्तक जल्दी प्रकाशित करने की चिन्ता होना स्वाभाविक ही था। और स्वास्थ्य इतना अधिक गिर गया था, कि मैं डर गया। लेकिन मेरे मित्र प्रो० गोकुललालजी असावा तथा भाई शंकरलालजी वर्मा (मन्त्री, प्रान्तीय काँग्रेस कमेटी, अजमेर) ने तुरन्त ही मुझे इस चिन्ता-भार से बचा लिया। प्रो० गोकुललालजी तो 'काँग्रेस-इतिहास' की तरह शुरू से ही इस काम में भी मेरी मदद कर रहे थे। इसबार इस समय भाई शंकरलालजी भी मेरी मदद पर आ गये। यह इन दोनों के सहयोग और सहायता का ही परिणाम है कि पुस्तक का काम जल्दी पूरा हो गया। इसके लिए मैं इनका बहुत आभारी हूँ।

अनुवाद के सिलसिले में मुझे भाई श्रीकृष्णदत्तजी पालीवाल (असेम्बली सदस्य) भाई गोपीकृष्णजी विजयवर्गीय (प्रधान मंत्री, इन्दौर-राज्य-प्रजा-मण्डल) और श्री चन्द्रगुप्तजी वार्ष्णेय (अजमेर) से भी सहायता मिली है, और फ्रेञ्च उद्धरणों का अंग्रेज़ी भाषान्तर स्वयं मूल लेखक तथा पूज्य डॉ० हरि रामचन्द्रजी दिवेकर (गवालियर) ने किया है। इसके लिए मैं इन सबका अत्यन्त आभारी हूँ।

भाई श्री वियोगी हरिजी ने कविता-क्षेत्र से अलग हट-जाने पर भी, मेरे अनुरोध पर, इस पुस्तक की कविता के हिन्दी-अनुवादों का संशोधन करने की कृपा की है। श्री मुकुटबिहारी वर्मा ने इस काम को अपना ही काम समझकर प्रूफ-संशोधन और कहीं-कहीं भाषा-संबन्धी संशोधन आदि में शुरू से ही सहायता दी है। अतः इन दोनों का भी मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ।

कुछ शब्द अनुवाद की भाषा के सम्बन्ध में भी। मैं सरल और बोल-चाल की भाषा—जिसे पूज्य बापूजी ने 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी' नाम दिया है, और जो असली राष्ट्रभाषा कही जा सकती है—लिखने का पक्षपाती हूँ। इस पुस्तक के ज़रिये मैं उसका एक नमूना पेश करना चाहता था। लेकिन अफ़सोस है कि प्रकाशन की जल्दी और अपनी बीमारी की वजह से मैं शुरू से अख़ीर तक उसे निबाह न सका। फिर भी जहाँ तक सम्भव हो सकता था उसके सरल बनाने और भाषान्तर के सही होने का पूरा ख़याल रक्खा गया है। इतना सब कुछ करने पर भी कहीं-कहीं ग़लतियाँ और मतभेद की आशंका रहना मुमकिन है। इसलिए कृपालु पाठकों से मेरा अनुरोध है कि जो भूलें उनकी निगाह में आवें उनपर मेरा ध्यान दिलाने की मिहरबानी करें, जिससे दूसरे संस्करण में उनका सुधार किया जा सके।

अनुवाद की भाषा में प्रचलित हिन्दी, उर्दू और अँग्रेजी शब्दों का खुलकर प्रयोग हुआ है। सम्भव है, कुछ रूढ़ी-चुस्त लोगों को वह पसन्द न आवे। लेकिन अनुवाद का पहला फ़ार्म खुद पंडित जवाहरलालजी ने देख लिया था और उसकी भाषा को उन्होंने पसन्द किया था। उससे मुझे काफ़ी उत्साह मिला था। अब यदि सारी पुस्तक पंडितजी को पसन्द आ गई तो मुझे बड़ा संतोष मिलेगा; क्योंकि मैं, वर्तमान भारत की बहुतेरी आवश्यकताओं को, पंडितजी की राय में बोलता हुआ पाता हूँ।

**गांधी-आश्रम, हटुंडी** (अजमेर)।
गाँधी जयन्ती १९३६.

*हरिभाऊ उपाध्याय*

# प्रस्तावना

यह सारी किताब, सिर्फ़ एकाध आख़िरी बात और चन्द मामूली रद्दोबदल के अलावा, जून १९३४ से फ़रवरी १९३५ के बीच, जेल में ही लिखी गई है। इसके लिखने का ख़ास मक़सद यह था कि मैं किसी निश्चित काम में लग जाऊँ, जो कि जेल-जीवन की तनहाई के पहाड़-से दिन काटने के लिए बहुत ज़रूरी होता है। साथ ही मैं पिछले दिनों की हिन्दुस्तान की उन घटनाओं की ऊहापोह भी कर लेना चाहता था, जिनसे मेरा ताल्लुक़ रहा है, ताकि उनके बारे में मैं स्पष्टता के साथ सोच सकूं। आत्म-जिज्ञासा के भाव से मैंने इसे शुरू किया और, बहुत हद तक, यही क्रम बराबर जारी रक्खा है। पढ़नेवालों का ख़याल रखकर ही मैंने सब-कुछ लिखा हो, सो बात नहीं है; लेकिन अगर पढ़नेवालों का ध्यान आया भी, तो अपने ही देश के लोगों का आया है। विदेशी पाठकों का ख़याल करके लिखता तो शायद मैंने इससे मुख़्तलिफ़ रूप में इसे लिखा होता, या दूसरी ही बातों पर ज्यादा ज़ोर दिया होता। उस हालत में, जिन कुछ बातों को इसमें मैंने यों ही टाल दिया है, उनपर ज़ोर देता, और दूसरी जिन कुछ बातों को कुछ विस्तार से लिखा है उन्हें महज़ सरसरी तौर पर लिखता। मुमकिन है कि बाहरवालों की उनमें से ज्यादातर बातों से दिलचस्पी न हो जिन्हें मैंने तफ़सील में लिखा है, और वे उनके लिए अनावश्यक या इतनी खुली हुई बातें हों जिनके लिए बहस-मुबाहसे के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं है; लेकिन मैं समझता हूँ कि आज के हिन्दुस्तान में उनका कुछ-न-कुछ महत्व ज़रूर है। इसी तरह हमारे देश के राजनैतिक मामलों और व्यक्तियों के बारे में बारबार जो कुछ लिखा गया है वह भी सम्भवत: बाहरवालों के लिए दिलचस्पी का विषय न हो।

मुझे उम्मीद है कि पाठक, इसे पढ़ते हुए, इस बात का ख़याल रक्खेंगे कि यह किताब ऐसे समय में लिखी गई है जो मेरी ज़िन्दगी का ख़ास तौर पर कष्टपूर्ण समय था। इसमें यह असर साफ़ तौर पर झलकता है। अगर इसकी बजाय और किसी मामूली वक्त में यह लिखी गई होती तो यह कुछ और ही तरह लिखी जाती और कहीं-कहीं शायद ज्यादा संयत होती। मगर मैंने यही मुनासिब समझा कि यह जैसी है वैसी ही इसे रहने दूं, क्योंकि दूसरों को शायद वही रूप ज्यादा पसन्द हो, जिससे उन भावों का ठीक-ठीक परिचय मिलता हो जो इस किताब को लिखते वक्त मेरे दिमाग़ में उठते थे। इसमें, जहांतक मुमकिन हो सकता था, मैंने अपना मानसिक विकास अंकित करने का प्रयत्न किया है, हिन्दुस्तान के आधुनिक इतिहास का विवेचन

नहीं । यह बात कि यह किताब ऊपर से देखने पर उक्त विवेचन-सी मालूम होती है, पाठक को गुमराह कर सकती है, और इसलिए वह इसे उससे कहीं ज्यादा महत्त्व दे सकता है, जितने की कि यह मुस्तहक़ है । इसलिए मैं यह चेतावनी दे देना चाहता हूँ कि यह विवरण सर्वथा एकांगी—इकतर्फ़ा—है, और निश्चित रूप से, व्यक्तिगत है । अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओं की बिलकुल उपेक्षा कर दी गई है, और कई प्रतिभाशाली व्यक्तियों का, जिनका कि घटनाओं के निर्माण में हाथ रहा है, उल्लेख तक नहीं हो पाया है । किन्हीं बीती हुई घटनाओं के असली विवेचन में ऐसा करना अक्षम्य होता, किन्तु एक व्यक्तिगत विवरण इसके लिए क्षमापात्र हो सकता है । जो लोग हमारे नज़दीक भूतकाल की घटनाओं का ठीक-ठीक अध्ययन करना चाहते हैं, उन्हें इसके लिए किसी दूसरे साधनों का सहारा लेना होगा । लेकिन यह हो सकता है कि यह विवरण और ऐसी दूसरी कथायें उन्हें छूटी हुई कड़ियों को जोड़ने और कठोर तथ्य का अध्ययन करने में सहायक हो सकें ।

मैंने अपने कुछ साथियों की, जिनके साथ मुझे बरसों काम करने का सौभाग्य रहा है, और जिनके प्रति मेरे हृदय में सबसे अधिक आदर और प्रेम है, खुली चर्चा की है; साथ ही, कुछ समुदायों और व्यक्तियों की भी शायद और भी कड़ी आलोचना की है । मेरी यह आलोचना उनमें के अधिकतर के प्रति मेरे आदर को घटा नहीं सकती । लेकिन मुझे ऐसा लगा, कि जो लोग सार्वजनिक कामों में पड़ते हैं, उन्हें आपस में एक-दूसरे के और जनता के साथ, जिसकी कि वे सेवा करना चाहते हैं, स्पष्टवादिता से काम लेना चाहिए । दिखावटी शिष्टाचार और असमञ्जस और कभी-कभी परेशानी में डालनेवाले प्रश्नों को टाल देने से न तो हम एक दूसरे को अच्छी तरह समझ सकते हैं, और न अपने सामने की समस्याओं का मर्म ही जान सकते हैं । आपस के मतभेदों और उन सब बातों के प्रति, जिनमें मतैक्य हैं, आदर और वस्तु-स्थिति का, चाहे वह कितनी ही कठोर क्यों न हो, मुक़ाबिला ही हमारे वास्तविक सहयोग का आधार होना चाहिए । लेकिन मेरा विश्वास है कि मैंने जो कुछ भी लिखा है, उसमें किसी व्यक्ति के साथ किसी प्रकार के द्वेष या दुर्भाव का लेशमात्र भी नहीं है ।

सरसरी तौर पर या अप्रत्यक्ष रूप से चर्चा करने के सिवा, मैंने भारत की मौजूदा समस्याओं के विवेचन को जान-बूझकर टाला है । जेल में मैं न तो इस स्थिति में था कि इनकी अच्छी तरह विवेचना कर सकूं, न मैं अपने मन में यही निश्चय कर सकता था कि क्या किया जाना चाहिए । जेल से छूटने के बाद भी मैंने इसमें उस सम्बन्ध में कुछ बढ़ाना ठीक नहीं समझा । मैं जो कुछ लिख चुका था,

उसके यह अनुकूल नहीं जान पड़ा। इस तरह मेरी यह 'कहानी' एक व्यक्तिगत, और ऐसे अतीत के, जो वर्त्तमान के नजदीक किन्तु जो उसके सम्पर्क से सतर्कता-पूर्वक दूर है, अपूर्ण विवरण का रेखा-चित्रमात्र रह गई है।

बेडनवीलर,
२ जनवरी, १९३६।

जवाहरलाल नेहरू

## विषय-सूची

# चित्र-सूची

# मेरी कहानी

# १

# कश्मीरी घराना

"अपने आपके बारे में लिखना है तो अच्छा काम, मगर है मुश्किल। क्योंकि अपनी बुराई या निन्दा लिखना खुद हमें बुरा मालूम होता है, और यदि अपनी तारीफ़ करें, तो पाठकों को उसे सुनना नागवार गुज़रता है।"

—अब्राहम कोली

मा-बाप धनी-मानी और बेटा इकलौता हो तो, यों भी उसके ख़राब हो जाने का अन्देशा रहता है, फिर हिन्दुस्तान में तो और भी ज्यादा। और जब लड़का ऐसा हो जो शुरू के ११ साल तक अपने मा-बाप का अकेला ही बच्चा रहा हो, तो फिर ख़राबी से उसके बचने की आशा और भी कम रह जाती है। मेरे दो बहनें हैं, जो उम्र में मुझसे बहुत ही छोटी हैं और हम हरेक के बीच में काफ़ी साल का फ़र्क़ है। इस तरह अपने बचपन में मैं बहुत-कुछ अकेला ही रहा। मुझे कोई हम-उम्र साथी न मिला—यहाँतक कि मुझे स्कूल का भी कोई साथी नसीब न हुआ; क्योंकि मैं किसी किंडर-गार्टन या बच्चों के मदरसे में पढ़ने नहीं भेजा गया। मेरी पढ़ाई की ज़िम्मेदारी ख़ानगी मास्टरों या अध्यापिकाओं पर थी।

मगर हमारे घर में किसी तरह अकेलापन न था। हमारा परिवार बड़ा था, जिसमें चाचा-ताऊ और दूसरे नज़दीक के रिश्तेदार बहुत थे, जैसा कि हिन्दू-परिवारों में आम तौर पर हुआ करता है। मगर मुश्किल यह थी कि मेरे तमाम चचेरे भाई उम्र में मुझसे बहुत बड़े थे और वे सब हाईस्कूल या कॉलेज में पढ़ते थे। उनकी नज़र में मैं उनके कामों या खेलों में शरीक़ होने लायक़ नहीं हुआ था। इस तरह इतने बड़े परिवार में, मैं और भी अकेलापन महसूस करता था और ज्यादातर अपने ही ख़यालों और खेलों में ही मुझे अकेले अपना वक़्त काटना पड़ता था।

हम लोग कश्मीरी हैं। २०० बरस से ज्यादा हुए होंगे, १८वीं सदी के शुरू में हमारे पुरखे दौलत और नामवरी हासिल करने के इरादे से कश्मीर की सुन्दर तराइयों से नीचे के उपजाऊ मैदानों में आये। वे मुग़ल सल्तनत की गिरावट के दिन थे। औरंगज़ेब मर चुका था और फ़र्रुख़सियर बादशाह था। हमारे जो पुरखा सबसे पहले आये, उनका नाम था राजकौल। कश्मीर के संस्कृत और फ़ारसी के विद्वानों में उनका बड़ा नाम था। फ़र्रुख़सियर जब कश्मीर गया, तो उसकी उनपर नज़र पड़ी।

और शायद उसीके कहने से उनका परिवार दिल्ली आया, जो कि उस समय मुग़लों की राजधानी थी। यह १७१६ के आस-पास की बात है। राजकौल को एक मकान और कुछ जागीर दी गई। मकान नहर के किनारे था, इसीसे उनका नाम नेहरू पड़ गया। कौल जो उनका ख़ानदानी लक़ब था वह बदलकर कौल-नेहरू हो गया और, आगे चलकर, वह कौल ग़ायब हो गया और हम महज़ नेहरू रह गये।

उसके बाद ऐसा डांवाडोल ज़माना आया कि जिससे हमारे कुटुम्ब के जीवन में कई उतार-चढ़ाव आये, जिसमें वह जागीर भी तहस-नहस हो गई। मेरे परदादा लक्ष्मीनारायण नेहरू, दिल्ली के नाम-मात्र के बादशाह के दरबार में कम्पनी-सरकार के पहले वकील हुए। मेरे दादा, गंगाधर नेहरू, १८५७ के ग़दर के कुछ पहले तक दिल्ली के कोतवाल थे। १८६१ में ३४ साल की भर-जवानी में ही वह मर गये थे।

१८५७ के ग़दर की वजह से दिल्ली से हमारे परिवार का सब सिलसिला टूट गया। हमारे ख़ानदान के तमाम काग़ज़-पत्र और दस्तावेज़ तहस-नहस होगये। इस तरह अपना सब-कुछ खो चुकने पर हमारा परिवार दिल्ली छोड़नेवाले और कई लोगों के साथ वहाँ से चल पड़ा और आगरे में जाकर बस गया। उस समय मेरे पिताजी का जन्म नहीं हुआ था। लेकिन मेरे दो ताऊ जवान थे और कुछ-कुछ अंग्रेज़ी जानते थे। इस अंग्रेजी जानने की बदौलत मेरे छोटे ताऊ और परिवार के कुछ दूसरे लोग एक बुरी और अचानक आफ़त से बच गये। हमारे परिवार के कुछ लोगों के साथ वह दिल्ली से कहीं जा रहे थे। उनके साथ उनकी एक छोटी बहन भी थी, जिसका रूप-रंग गोरा और बहुत अच्छा था, जैसा कि अक्सर कश्मीरी बच्चों का हुआ करता है। इत्तिफ़ाक़ से कुछ अंग्रेज़ सिपाही उन्हें रास्ते में मिले। उन्हें शक हुआ कि, हो न हो, यह लड़की किसी अंग्रेज़ की है और ये लोग इसे भगाये लिये जा रहे हैं। उन दिनों सरसरी तौर पर मुक़दमा करके सज़ा ठोक देना एक मामूली बात थी, इसलिए मेरे ताऊ तथा परिवार के दूसरे लोग किसी नज़दीकी पेड़ पर ज़रूर फांसी पर लटका दिये गये होते। मगर ख़ुश-क़िस्मती से मेरे ताऊ के अंग्रेज़ी जानने ने मदद की, जिससे इस फ़ैसले में कुछ देरी हुई। इतने ही में उधर से एक शख़्स गुज़रा, जो मेरे ताऊ वग़ैरा को जानता था, उसने उनकी और दूसरों की जान बचाई।

कुछ बरसों तक वे लोग आगरा रहे और वहीं ६ मई १८६१ को मेरे पिताजी का जन्म हुआ[१]। मगर वह पैदा हुए थे मेरे दादा के मरने के तीन महीने बाद। मेरे दादा की एक छोटी तस्वीर हमारे यहाँ है जिसमें वह मुग़लों का दरबारी लिबास

१. एक अजीब और मज़ेदार दैवयोग है कि कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी इसी दिन, उसी महीने और उसी साल पैदा हुए हैं।

पहने और हाथ में एक टेढ़ी तलवार लिये हुए हैं। उसमें वह एक मुगल सरदार-से दिखाई देते हैं, हालांकि उनकी सूरत-शकल कश्मीरियों की-सी ही थी।

तब हमारे परिवार के भरण-पोषण की ज़िम्मेदारी मेरे दो ताउओं पर आ पड़ी, जो कि उम्र में मेरे पिता से काफ़ी बड़े थे। बड़े ताऊ वंशीधर नेहरू थोड़े ही दिन बाद ब्रिटिश सरकार के न्याय-विभाग में नौकर हो गये। जगह-जगह उनका तबादला होता रहा, जिससे वह परिवार के और लोगों से बहुत-कुछ जुदा पड़ गये। छोटे ताऊ नन्दलाल नेहरू राजपूताना की एक छोटी रियासत खेतड़ी के दीवान हुए और वहां दस बरस तक रहे। बाद में उन्होंने क़ानून का अध्ययन किया और आगरे में वकालत शुरू की। मेरे पिता भी उन्हींके साथ रहे और उन्हींकी छत्र-छाया में उनका लालन-पालन हुआ। दोनों का आपस में बड़ा प्रेम था और उसमें बन्धु-प्रेम, पितृ-प्रेम और वात्सल्य का अनोखा मिश्रण था। मेरे पिता सबसे छोटे होने के कारण स्वभावतः मेरी दादी के बहुत लाडले थे। वह बूढी थीं और बड़ी दबंग भी। कोई उनकी बात न सुने, यह उन्हें गवारा नहीं होता था। उनको मरे अब कोई पचास वर्ष हो गये होंगे; मगर बूढ़ी कश्मीरी स्त्रियाँ अब भी उनको याद करती हैं और कहती हैं कि वह बड़ी ज़ोरदार औरत थीं। अगर किसीने उनकी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ कोई काम किया, तो वह उसके लिए भयंकर साबित होती थीं।

मेरे ताऊजी नये हाइकोर्ट में जाया करते थे और जब वह हाइकोर्ट इलाहाबाद चला गया तो हमारे परिवार के लोग भी वहीं जा बसे। तबसे इलाहाबाद ही हमारा घर बन गया है और वहीं, बहुत साल के बाद, मेरा जन्म हुआ। ताऊजी की वकालत धीरे-धीरे बढ़ती गई और वह इलाहाबाद-हाइकोर्ट के बड़े वकीलों में गिने जाने लगे। इस बीच मेरे पिताजी कानपुर और इलाहाबाद के स्कूल और कॉलेज में शिक्षा पाते रहे। शुरू-शुरू में उन्होंने महज़ फ़ारसी और अरबी की तालीम पाई थी। उनकी अंग्रेज़ी शिक्षा बारह-तेरह बरस की उम्र के बाद शुरू हुई। मगर उस उम्र में भी वह फ़ारसी के अच्छे जानकार समझे जाते थे और अरबी में भी कुछ दख़ल रखते थे। और इसी कारण उनसे उम्र में बहुत बड़े लोग भी उनके साथ इज्ज़त से पेश आते थे। छोटी उम्र में इतनी लियाक़त हो जाने पर भी स्कूल और कॉलेज में वह ज्यादातर हँसी-खेल और धूमामस्ती के लिए मशहूर थे। उन्हें संजीदा विद्यार्थी किसी तरह नहीं कह सकते थे। पढ़ने-लिखने की बनिस्बत खेल-कूद और शरारत का शौक बहुत था। कॉलेज में वह सरकश लड़कों के अगुआ समझे जाते थे। उनका झुकाव पश्चिमी लिबास की तरफ़ हो गया था, और सो भी उस वक़्त जब कि हिन्दुस्तान में कलकत्ता और बम्बई जैसे बड़े शहरों को छोड़कर इसका चलन नहीं हुआ था। वह तेज़-मिज़ाज

और अक्खड़ थे, तो भी उनके अंग्रेज़ प्रोफ़ेसर उनको बहुत चाहते थे और अक्सर मुश्किलों से बचा लिया करते थे। वह उनकी स्पिरिट को पसन्द करते थे। उनकी बुद्धि तेज़ थी और कभी-कभी एकाएक ज़ोर लगाकर वह क्लास में भी अपना काम ठीक चला लेते थे। अर्से बाद अक्सर वह अपने एक प्रोफ़ेसर का ज़िक्र प्रेम-भरे शब्दों में किया करते थे। वह थे मि० हैरिसन, जो म्योर सेन्ट्रल कॉलेज इलाहाबाद के प्रिन्सिपल थे। उनकी एक चिट्ठी भी उन्होंने बड़े जतन से सम्हालकर रक्खी थी। वह उन दिनों की है, जब कि वह कॉलेज में पढ़ते थे।

कॉलेज की परिक्षाओं में वह पास होते चले गये। कोई ख़ास नामवरी उन्होंने हासिल नहीं की। आखिर को बी० ए० के इम्तिहान में बैठे। मगर उसके लिए उन्होंने कुछ मेहनत या तैयारी नहीं की थी और जो पहला परचा किया तो उससे उन्हें बिलकुल संतोष नहीं हुआ। उन्होंने सोचा, जब पहला ही परचा बिगड़ गया है तो अब पास होने की क्या उम्मीद? उन्होंने बाकी परचे किये ही नहीं और जाकर ताजमहल की सैर करने लगे। ( उन दिनों विश्वविद्यालय की परीक्षायें आगरा में हुआ करती थीं ) मगर याद को उनके प्रोफ़ेसर ने उन्हें बुलाया और बहुत बिगड़े। उनका कहना था कि पहला परचा तुमने ठीक-ठीक किया है और बेवकूफी की जो आगे के परचे नहीं किये। ख़ैर, इस तरह पिताजी की कॉलेज-शिक्षा हमेशा के लिए ख़त्म हो गई और बी० ए० पास करना आखिर रही गया।

अब उन्हें काम-धंधा जमाने की फ़िक्र हुई। सहज ही उनकी निगाह वकालत की ओर गई; क्योंकि उस समय वही एक पेशा ऐसा था कि जिसमें बुद्धिमान और होशियार आदमियों के लिए काम की गुन्जाइश थी और जिसकी चल जाती उसके पौ-बारह होते थे। अपने भाई की मिसाल उनके सामने थी ही। बस हाइकोर्ट-वकील के इम्तिहान में बैठे और उनका नम्बर सबसे पहला रहा। उन्हें एक स्वर्णपदक भी मिला। कानून का विषय उन्हें दिल से पसन्द था और उसमें सफलता पाने का उन्होंने निश्चय कर लिया था।

उन्होंने कानपुर की जिला-अदालतों में वकालत शुरू की, और चूंकि वह सफलता पाने के लिए बहुत लालायित थे, इसलिए जी तोड़कर मेहनत की। फिर क्या था, उनकी वकालत अच्छी चमक उठी। मगर हाँ, हँसी-खेल और मौज-मजा उनका उसी तरह जारी रहा और अबतक भी उनका कुछ वक्त उसमें चला जाता था। उन्हें कुश्ती और दंगल का ख़ास शौक़ था। उन दिनों कानपुर कुश्तियों और दंगल के लिए मशहूर था।

तीन साल तक कानपुर में उम्मीदवार के तौर पर काम करने के बाद पिताजी

इलाहाबाद आये और हाइकोर्ट में काम करने लगे। पण्डित नन्दलाल एकाएक गुज़र गये। इससे पिताजी को ज़बरदस्त धक्का लगा। वह उनके लिए भाई ही नहीं, पिता के समान थे, और उन दोनों में बड़ा प्रेम था। उनके जाने से परिवार का मुखिया, जिसपर सारी आमदनी का दारोमदार था, उठ गया। परिवार की और पिताजी की यह बहुत बड़ी हानि थी। अब इतने बड़े कुनबे के भरण-पोषण का प्राय: सारा भार इस नौजवान के कन्धे पर आ पड़ा।

वह अपने पेशे में जुट पड़े। सफलता पर तो तुले हुए थे ही। इसलिए कई महीनों तक दूसरी सब बातों से जी हटाकर इसीमें लगे रहे। ताऊजी के क़रीब-क़रीब सब मुकदमे उन्हें मिल गये और उन्हें उनमें अच्छी कामयाबी भी मिल गई। इससे अपने पेशे में भी बहुत जल्दी कामयाबी मिली। मुकदमे धड़ाधड़ आने लगे और रुपया ख़ूब मिलने लगा। छोटी उम्र में ही उन्होंने वकालती सफलता में नामवरी हासिल करली और इसके लिए उन्होंने अपनी निष्ठुर प्रेयसी वकालत में अधिक-से-अधिक तल्लीन होकर इसकी क़ीमत भी चुकाई थी। उनके पास न सार्वजनिक और न ख़ानगी कामों के लिए वक़्त रहता था—यहाँतक कि छुट्टियों के दिन भी वह वकालत के काम में ही लगाते थे। कांग्रेस उन दिनों मध्यम श्रेणी के अंग्रेज़ी-दाँ लोगों का ध्यान अपनी तरफ़ खींचने में लगी थी। वह उसकी शुरू की कुछ बैठकों में गये भी थे और, जहाँ तक विचारों से सम्बन्ध है, उसके प्रति अपनी रुचि और भक्ति प्रकट भी कर चुके थे। लेकिन उसके कामों में वह कोई ख़ास दिलचस्पी नहीं लेते थे। अपने पेशे में ही इतने डूबे रहते थे कि उसके लिए उन्हें वक्त नहीं था। हाँ, एक बात और थी। इसके सिवा, उन्हें यह निश्चय न था कि राजनैतिक और सार्वजनिक कार्यों का क्षेत्र उनके लिए उपयुक्त भी होगा या नहीं; उस समय तक इन विषयों पर उन्होंने न तो ज्यादा ध्यान ही दिया था, न कुछ उन्हें इसकी अधिक जानकारी ही थी। वह ऐसे किसी आन्दोलन और संगठन में शामिल होना नहीं चाहते थे, जिसमें उन्हें किसी दूसरे के इशारे पर नाचना पड़ता हो। यों बचपन और जवानी के शुरू की तेज़ी देखने में कम हो गई थी, पर दरअसल उसने नया रूप ले लिया था। अधिकार की नई इच्छा उनमें जग गई थी। वकालत की ओर उसे लगा देने से उन्हें कामयाबी मिली, जिससे उनका गर्व और आत्मावलम्बन का भाव बढ़ गया। पर फिर भी विचित्रता यह थी कि एक ओर वह लड़ाई लड़ना, दिक्कतों का मुकाबिला करना पसन्द करते थे और दूसरी ओर उन दिनों राजनैतिक क्षेत्र से अपनेको बचाये रखते थे। और बात यह है कि उन दिनों कांग्रेस में लड़ाई का मौक़ा ही बहुत कम था। फिर भी, उस क्षेत्र से उनका परिचय नहीं था और उनका दिमाग़ अपने पेशे की बातों में और उसके लिए कड़ी मेहनत करने में लगा

रहता था। उन्होंने सफलता की सीढ़ी को ज़ोर से पकड़ लिया था और एक-एक क़दम ऊपर चढ़ते जाते थे—किसीकी मेहरबानी से नहीं, जैसा कि उनका विश्वास था, और न किसीकी ख़िदमत करके, बल्कि ख़ुद अपने संकल्प और बुद्धि के बल पर।

साधारण अर्थ में वह ज़रूर ही राष्ट्रवादी थे। मगर वह अंग्रेज़ों और उनके तौर-तरीक़ के क़द्रदां भी थे। उनका यह ख़याल बन गया था कि हमारे देशवासी ही नीचे गिर गये हैं और वे जिस हालत में हैं, बहुत-कुछ, उसीके लायक़ हैं। जो राजनैतिक लोग बातें-ही-बातें किया करते हैं, करते-धरते कुछ नहीं, उनसे वह मन-ही-मन कुछ नफ़रत-सी करते थे, हालाँकि वह यह नहीं जानते थे कि इससे ज्यादा वे और कर क्या सकते थे। हाँ, एक और ख़याल भी उनके दिमाग़ में था, जोकि उनकी कामयाबी के नशे से पैदा हुआ था। वह यह कि जो राजनीति में पड़े हैं, उनमें ज्यादातर—सब नहीं—वे लोग हैं, जो अपने जीवन में नाकामयाब हो चुके हैं।

पिताजी की आमदनी दिन-दिन बढ़ती जाती थी, जिससे हमारे रहन-सहन में बहुत परिवर्तन हो गया था। जहाँ आमदनी बढ़ी नहीं कि ख़र्च भी उसके साथ बढ़ा नहीं। रुपया जमा करना मेरे पिताजी को ऐसा मालूम पड़ता था मानों जब और जितना चाहें रुपया कमाने की अपनी शक्ति पर तुहमत लगाना है। खिलाड़ी की स्पिरिट और हर तरह से बढ़ी-चढ़ी रहन-सहन के शौकीन तो वह थे ही, जो-कुछ कमाते थे, सब ख़र्च कर देते थे। नतीजा यह हुआ कि हमारा चाल-ढाल धीरे-धीरे पश्चिमी साँचे में ढलता गया।

मेरे बचपन[१] में हमारे घर का यह हाल था।

१. १४ नवम्बर १८८९, मार्गशीर्ष बदी सप्तमी संवत् १९४६, को इलाहाबाद में मेरा जन्म हुआ था।

# २

## बचपन

मेरा बचपन इस तरह बुज़ुर्गों की छत्रच्छाया में बीता। उसमें कोई महत्त्व की घटना नहीं हुई। मैं अपने चचेरे भाइयों की बातें सुनता, मगर हमेशा सबकी सब मेरी समझ में आ जाती हों सो बात नहीं। अक्सर ये बातें अंग्रेज़ और यूरेशियन लोगों के ऐंठू स्वभाव और हिन्दुस्तानियों के साथ अपमानजनक व्यवहारों के बारे में हुआ करती थीं और इस बात पर भी चर्चा हुआ करती कि प्रत्येक हिन्दुस्तानी का फ़र्ज़ होना चाहिए कि वह इस हालत का मुक़ाबिला करे और इसे हरगिज़ बरदाश्त न करे। हाकिमों और लोगों में टक्करें होती रहती थीं और उनके समाचार आये दिन सुनाई पड़ते थे। उनपर ख़ूब बहस भी होती थी। यह एक मशहूर बात थी कि जब किसी अंग्रेज़ ने किसी हिन्दुस्तानी को क़त्ल कर दिया तो उसको जूरी, जिनमें उन्हींके देश-वाले रहते थे, बरी कर देते। रेलगाड़ियों में यूरोपियनों के लिए डब्बे रिज़र्व रहते थे और गाड़ी में चाहे कितनी ही भीड़ हो—और जबरदस्त भीड़ रहा ही करती थी—कोई हिन्दुस्तानी उनमें सफ़र नहीं कर सकता था, चाहे भले ही वे खाली पड़े रहें। जो डब्बे रिज़र्व नही रहते थे, उनपर भी अंग्रेज़ लोग अपना क़ब्ज़ा जमा लेते थे और किसी हिन्दुस्तानी को नहीं घुसने देते थे। सार्वजनिक बगीचों और दूसरी जगहों में भी बेञ्चें और कुर्सियां रिज़र्व रक्खी जाती थीं। विदेशी हाकिमों के इस बर्ताव को देखकर मुझे बड़ा रंज होता और जब कभी कोई हिन्दुस्तानी उलटकर वार कर देता तो मुझे बड़ी ख़ुशी होती। कभी-कभी मेरे चचेरे भाइयों में से कोई या उनके कोई दोस्त ख़ुद भी ऐसे झगड़ों में उलझ जाते, तब हम लोगों में बड़ा जोश फैल जाता। हमारे परिवार भर में मेरे एक चचेरे भाई बड़े दबंग थे। उन्हें अक्सर अंग्रेज़ों से और ज्यादातर यूरेशियनों से झगड़ा मोल लेने का बड़ा शौक़ था। यूरेशियन तो अपनेको शासकों की जाति का बताने के लिए अंग्रेज़ अफ़सरों और व्यापारियों से भी ज्यादा बुरी तरह पेश आते। ऐसे झगड़े खासकर रेल के सफ़र में हुआ करते थे।

हालांकि देश में विदेशी शासकों का रहना और उनका रंग-ढंग मुझे नागवार मालूम होने लगा था, तो भी, मुझे जहाँतक याद है, किसी अंग्रेज़ के लिए मेरे दिल में बुरा भाव नहीं था। मेरी अध्यापिकायें अंग्रेज़ थीं और कभी-कभी मैं देखता था कि कुछ अंग्रेज़ भी पिताजी से मिलने के लिए आया करते थे। बल्कि यों कहना चाहिए कि अपने दिल में तो मैं अंग्रेज़ों की इज्ज़त ही करता था।

शाम को रोज़ कई मित्र पिताजी से मिलने आया करते थे। पिताजी आराम से पड़ जाते और दिन-भर की थकान मिटाते। उनकी ज़बरस्त हँसी से सारा घर भर जाता। इलाहाबाद में उनकी हँसी एक मशहूर बात हो गई थी। कभी-कभी मैं परदे की ओट से उनकी और उनके दोस्तों की ओर झाँकता और यह जानने की कोशिश करता कि देखें ये बड़े लोग इकट्ठे होकर आपस में क्या-क्या बातें करते हैं। मगर जब कभी ऐसा करते हुए मैं पकड़ा जाता तो मैं खींचकर बाहर लाया जाता और मैं, सहमा हुआ, कुछ देर तक पिताजी की गोदी में बैठाया जाता। एक बार मैंने उन्हें 'क्लेरेट' या कोई दूसरी लाल शराब पीते हुए देखा। 'व्हिस्की' को मैं जानता था। अक्सर पिताजी और उनके मित्रों को पीते देखा था। मगर इस नई लाल चीज़ को देखकर मैं सहम गया और माँ के पास झपटा गया और कहा कि "माँ, माँ, देखो तो, पिताजी खून पी रहे हैं!"

मैं पिताजी की बहुत ही इज्जत करता था। मैं उन्हें बल, साहस और होशियारी की मूर्ति समझता था। और दूसरों के मुक़ाबले में इन बातों में बहुत ही ऊँचा और बढ़ा-चढ़ा पाता था। मैं भी अपने दिल में यह आशा लगाये था कि बड़ा होने पर पिताजी की तरह होऊँगा। लेकिन जहाँ मैं उनकी इज्ज़त करता था और उन्हें बहुत ही चाहता था, वहाँ मैं उनसे डरता भी था। नौकर-चाकरों पर और दूसरों पर बिगड़ते हुए मैंने उन्हें देखा था। उस समय वह बड़े भयंकर मालूम होते थे। और मैं मारे डर के काँपने लगता था। नौकरों के साथ जो यह बर्ताव उनका होता था उसके प्रति मेरे मन में उनपर कभी-कभी गुस्सा भी आ जाया करता था। उनका स्वभाव दरअसल भयंकर था, और उनकी आयु के ढलते दिनों में भी उनका-सा गुस्सा मुझे किसी दूसरे में देखने को नहीं मिला। लेकिन खुशक़िस्मती से उनमें हँसी-मज़ाक़ का माद्दा बड़े ज़ोर का था और वह इरादे के बड़े पक्के थे। इससे आम तौर पर अपने-आपपर ज़ब्त रख सकते थे। ज्यों-ज्यों उनकी उम्र बढ़ती गई, उनकी अपने-आप पर क़ाबू पाने की ताक़त बढ़ती गई। और फिर शायद ही कभी उनकी इस पुरानी आदत का परिचय मिलता।

उनकी तेज़-मिज़ाजी की एक घटना मुझे याद है। बचपन ही में मैं उसका शिकार हो गया था। कोई ५–६ वर्ष की मेरी उम्र रही होगी। एक रोज़ मैंने पिताजी की मेज़ पर दो फ़ाउण्टेन-पेन पड़े देखे। मेरा जी ललचाया। मैंने दिल में कहा—पिताजी एक साथ दो पेनों का क्या करेंगे? एक मैंने अपनी जेब में डाल ली। बाद में बड़े ज़ोरों की तलाश हुई, कि पेन कहाँ चला गया? तब तो मैं घबराया। मगर मैंने बताया नहीं। आख़िर पेन मिल गया और मैं गुनहगार क़रार

दिया गया। पिताजी बहुत ग़ुस्सा हुए और मेरी ख़ूब जी भर के मरम्मत की। आख़िर पिटकर शर्म से अपना-सा मुँह लिये मैं माँ की गोद में दौड़ा गया। इतना पिटा था कि कई दिन तक मेरे बदन पर क्रीम और मरहम लगाने पड़े थे।

लेकिन मुझे याद नहीं पड़ता कि इस सज़ा के कारण पिताजी के प्रति मेरे मन में कोई बुरा भाव पैदा हुआ हो। मैं समझता हूँ, मेरे दिल ने यही कहा होगा कि सज़ा तो तुझे वाजिब ही मिली है, मगर थी ज़रूरत से ज्यादा। लेकिन पिताजी के लिए मेरे दिल में वैसी ही इज्ज़त और मुहब्बत बनी रही—हाँ, अब एक डर उसमें और शामिल हो गया था। मगर मा के साथ ऐसा न था। उससे मैं बिलकुल नहीं डरता था। क्योंकि मैं जनता था कि वह मेरे सब कुछ किये-धरे को माफ़ कर देगी और उसके इस ज्यादा और बेहद प्रेम के कारण मैं उसपर थोड़ा-बहुत हावी होने की भी कोशिश करता था। पिताजी की बनिस्बत मैं मा को ज्यादा पहचान सका था और वह मुझे पिताजी से अपने ज्यादा नज़दीक मालूम होती थी। मैं जितने भरोसे के साथ माताजी से अपनी बात कह सकता था, उतने भरोसे के साथ स्वप्न में भी पिताजी से कहने का ख़याल नहीं कर सकता था। वह सुडौल, क़द में छोटी और नाटीं थीं और मैं जल्द ही क़रीब-क़रीब उनके बराबर ऊँचा हो गया था और अपनेको उनके बराबर समझने लगा था। वह बहुत सुन्दर थीं। उनका सुन्दर चेहरा और छोटे-छोटे ख़ूब-सूरत हाथ-पाँव मुझे बहुत भाते थे। मेरी मा के पूर्वज कोई दो पुश्त पहले ही कश्मीर से नीचे मैदान में आये थे

एक और शख़्स जो लड़कपन में मेरे भरोसे के आदमी थे, वह पिताजी के मुंशी मुबारकअली थे। वह बदायूँ के रहनेवाले थे और उनके घर के लोग ख़ुशहाल थे। मगर १८५७ के ग़दर ने उनके कुनबे को बरबाद कर दिया और अंग्रेज़ी फ़ौज ने उसको एक हद तक जड़-मूल से उखाड़ फेंका था। इस मुसीबत ने उन्हें हरेक के प्रति, और ख़ासकर बच्चों के प्रति, बहुत नम्र और सहन-शील बना दिया था, और मेरे लिए तो वह, जब कभी मैं किसी बात से दुःखी होता या तकलीफ महसूस करता तो, सान्त्वना के निश्चित आधार थे। उनके बढ़िया सफेद दाढ़ी थी और मेरी नौ-जवान आंखों को वह बहुत पुराने और प्राचीन जानकारी के ख़ज़ाने मालूम होते थे। मैं उनके पास लेटे-लेटे घण्टों अलिफलैला के और दूसरे किस्से-कहानियाँ या १८५७ और १८५८ की बातें सुना करता। बहुत दिन बाद, मेरे बड़े होने पर, मुंशीजी इन्तकाल कर गये। उसकी प्यारी सुखद स्मृति अब भी मेरे मन में बसी हुई है।

हिन्दू पुराणों और रामायण-महाभारत की कथायें भी मैं सुना करता था, जोकि मेरी मा और ताइयाँ सुनाया करती थीं। मेरी एक ताई, पण्डित नन्दलालजी की

विधवा पत्नी, पुराने हिन्दू ग्रन्थों की बहुत जानकारी रखती थीं। उनके पास इन कहानियों का तो मानों ख़जाना ही भरा था।

धर्म के मामले में मेरे ख़यालात बहुत धुंधले थे। मुझे वह स्त्रियों से सम्बन्ध रखनेवाला विषय मालूम होता था। पिताजी और बड़े चचेरे भाई धर्म की बात को हँसी में उड़ा दिया करते थे और इसपर ज्यादा ध्यान नहीं देते थे। हाँ, हमारे घर की औरतें अलबत्ता पूजा-पाठ और व्रत-त्यौहार किया किया करतीं थीं। हालाँकि मैं इस मामले में घर के बड़े-बूढ़े अदामियों की देखा-देखी उनके तात्कालिक आचरण की कोशिश किया करता था, फिर भी कहना होगा कि मैं उनका रस लिया करता था। कभी-कभी मैं अपनी मा या ताई के साथ गंगा नहाने जाया करता, और कभी इलाहाबाद या काशी या दूसरी जगह मन्दिरों में भी या किसी नामी और बड़े साधू-संन्यासी के दर्शन के लिए भी जाया करता। मगर इन सबका बहुत कम असर मेरे दिल पर हुआ।

फिर त्यौहार के दिन आते थे—होली जबकि सारे शहर में रंगरेलियों की धूम मच जाती थी और हम लोग एक दूसरे पर रंग की पिचकारियां चलाते थे; दिवाली, रोशनी का त्यौहार होता, जबकि सब घरों पर धीमी रोशनीवाले मिट्टी के हज़ारों दीये जलाये जाते; जन्माष्टमी, जिसमें कि जेल में पैदा हुए श्रीकृष्ण की आधीरात को वर्षगांठ मनाई जाती (लेकिन उस समय तक जागते रहना हमारे लिए बड़ा मुश्किल होता था); दशहरा और रामलीला, जिसमें कि स्वाँग और जूलूसों के द्वारा रामचन्द्र और लंका-विजय की पुरानी कहानी की नक़ल की जाती थी और जिन्हें देखने के लिए लोगों की बड़ी भारी भीड़ इकट्ठी होती थी। सब बच्चे मुहर्रम का जुलूस भी देखने जाते थे, जिसमें रेशमी अलम होते थे और सुदूर अरब में हसन और हुसैन के साथ घटित घटनाओं की यादगार में शोकपूर्ण मरसिये गाये जाते थे। दोनों ईद पर मुंशीजी बढ़िया कपड़े पहनकर बड़ी मसजिद में नमाज के लिए जाते और मैं उनके घर जाकर मीठी सेवैंया और दूसरी बढ़िया चीज़े खाया करता। इनके सिवा रक्षाबन्धन, भैया-दूज वग़ैरा छोटे त्यौहार भी हम हम लोग मनाते थे।

कश्मीरियों के कुछ खास त्यौहार भी होते हैं, जिन्हें उत्तर में बहुतेरे दूसरे हिन्दू नहीं मनाते। इनमें सबसे बड़ा नौरोज़ याने वर्ष-प्रतिपदा का त्यौहार हैं। इस दिन हम लोग नये कपड़े पहनकर बन-ठनकर निकलते और घर के बड़े लड़के-लड़कियों को हाथ-खर्च के तौर पर कुछ पैसे मिला करते थे।

मगर इन तमाम उत्सवों में मुझे एक सालाना जलसे में ज्यादा दिलचस्पी रहती थी, जिसका खास मुझीसे ताल्लुक था—याने मेरी वर्ष-गांठ का उत्सव।

इस दिन में बड़े उत्साह और रंग में रहता था। सुबह ही एक बड़ी तराजू में मैं गेहूँ और दूसरी चीज़ों के थैलों से तौला जाता और फिर वे चीज़े ग़रीबों को बाँट दी जातीं और बाद को नये-नये कपड़ों से सजा-धजाकर मुझे भेंट और तोहफे नज़र किये जाते। फिर तीसरे पहर दावत दी जाती। उस समय मैं अपनेको मानों उस सारे जलसे का सरदार ही पाता था। मगर मुझे इस बात का बड़ा दुःख था कि वर्ष-गांठ साल में एक बार ही क्यों आती है? वास्तव में मैंने इस बात का आन्दोलन खड़ा करने की कोशिश की कि वर्ष-गाँठ के मौक़े बरस में एक बार ही क्यों और अधिक क्यों न आया करें? उस वक्त मुझे क्या पता था कि एक समय ऐसा भी आयगा जब ये वर्ष-गाँठें हमको अपने बुढ़ापे के आने की दुःखदायी याद दिलाया करेंगी।

कभी-कभी हम सब घर के लोग अपने किसी भाई या किसी रिश्तेदार या किसी दोस्त की शादी में बरात भी जाया करते। उस सफ़र में बड़ी धूम रहती। शादी के उत्सव मे हम बच्चों की तमाम पाबन्दियाँ ढीली हो जाती थीं और हम आज़ादी से आ-जा सकते थे। शादीखाने में कई कुटुम्बों के लोग आकर रहते थे और उनमें बहुतेरे लड़के और लड़कियाँ भी होती थीं। ऐसे मौकों पर मुझे अकेलेपन की शिकायत नही रहती थी और जी भरकर खेलने-कूदने और शरारत करने का मौक़ा मिल जाता था। हाँ, कभी-कभी बड़े-बूढ़ों की डाँट-फटकार भी ज़रूर पड़ जाती थी।

हिन्दुस्तान में क्या ग़रीब और क्या अमीर सब जिस तरह शादियों में धूम-धाम और फ़िज़ूल-ख़र्ची करते हैं उसकी सब तरह बुराई ही की जाती है और वह ठीक भी है। फ़जूल-ख़र्ची के अलावा उसमें बड़े भद्दे ढंग के प्रदर्शन भी होते हैं, जिनमें न कोई सुन्दरता होती है न कला। (कहना नहीं होगा कि इसमें अपवाद भी होते हैं) इन सबके असली गुनहगार हैं मध्यम वर्ग के लोग। ग़रीब भी क़र्ज़ लेकर फ़जूल-ख़र्ची करते हैं। मगर यह कहना बिलकुल बेमानी है कि उनकी मुफ़लिसी उनकी इन सामाजिक कुप्रथाओं के कारण है। अक्सर यह भुला दिया जाता है कि ग़रीब लोगों की जिन्दगी बड़ी उदास, नीरस और एक ढर्रे की होती है। जब कभी कोई शादी का जलसा होता है, तो उसमें उन्हें अच्छा खाने-पीने और गाने-बजाने का कुछ मौक़ा मिल जाता है, जो कि उनकी मेहनत-मशक्कत के रेगिस्तान में एक झरने का काम देता है। रोज़मर्रा के जी उबा देनेवाले काम-काज और जीवन-क्रम से हटकर कुछ आराम और आनन्द की छटा दीख जाती है, और जिनको हँसने-खेलने के इतने कम मौक़े मिलते हैं उनको ऐसा कौन निठुर बेपीर होगा जो इतना भी आनन्द, आराम और

तसल्ली न मिलने देना चाहेगा ? हाँ, फ़जूल-खर्ची को आप शौक़ से बन्द कर दीजिए और उनकी शाहखर्ची भी—कैसे बड़े और बेमानी लफ्ज हैं ये जो उस थोड़े-से प्रदर्शन के लिए इस्तैमाल किये जाते हैं, जिसे ग़रीब लोग अपनी ग़रीबी में भी दिखाते हैं—कम कर दीजिए, लेकिन मेहरबानी करके उनके जीवन को ज्यादा उदास और हँसी-खुशी से खाली मत बनाइए।

यही बात मध्यमश्रेणी के लोगों के लिए भी है। फ़जूल-खर्ची को छोड़ दें तो ये शादियाँ एक तरह के सामाजिक सम्मेलन ही हैं, जहाँकि दूर के रिश्तेदार और पुराने साथी व दोस्त बहुत दिनों के बाद मिल जाते हैं। हमारा देश बड़ा लम्बा-चौड़ा है; यहाँ अपने संगी-साथियों व दोस्तों से मिलना आसान नहीं है। सबका साथ और एक जगह मिलना तो और भी मुश्किल है। इसीलिए यहाँ शादी के जलसों को लोग इतना चाहते हैं। एक और चीज़ इसके मुक़ाबले की है और कुछ बातों में तो, और सामाजिक सम्मेलन की दृष्टि से भी, वह उससे आगे निकल गई है। वह है राजनैतिक सम्मेलन, अर्थात् प्रान्तीय परिषदें, या काँग्रेस की बैठकें।

और लोगों की बनिस्बत, खासकर उत्तर भारत में, कश्मीरियों को एक खास सुभीता है। उनमें परदे का रिवाज़ या मर्द-औरतों को एक-दूसरे से न मिलने-जुलने देने का रिवाज कभी नहीं रहा है। मैदान में आने पर, वहाँके रिवाज के मुताबिक, दूसरों से और ग़ैर-कश्मीरियों से जहाँतक ताल्लुक है, उन्होंने इस रिवाज को एक हद तक अपना लिया है। उत्तर में जहाँ कि कश्मीरी अधिक बसते हैं, उन दिनो यह सामाजिक उच्चता का एक चिन्ह समझा जाता रहा था। मगर अपने आपस में उन्होंने स्त्री और पुरुषों के सामाजिक जीवन को वैसा ही आज़ाद रक्खा है। कोई भी कश्मीरी किसी भी कश्मीरी के घर में आज़ादी से आ-जा सकता है। कश्मीरियों की दावतों और उत्सवों में स्त्री-पुरुष आपस में एक-दूसरे के साथ मिलते-जुलते और बैठते हैं। हाँ, अक्सर स्त्रियाँ अपना एक झुण्ड बनाकर बैठती हैं, लड़के-लड़कियाँ बहुत-कुछ बराबर की हैसियत से मिलते-जुलते हैं। लेकिन हाँ, यह तो कहना ही पड़ेगा कि आधुनिक पश्चिम की आज़ादी उन्हें नहीं थी।

इस तरह मेरा बचपन गुज़रा। कभी-कभी, जैसा कि बड़े कुटुम्बों में हुआ ही करता है, हमारे कुटुम्ब में भी झगड़े हो जाया करते थे। जब वे बढ़ जाते तो पिताजी के कानों तक पहुँचते। तब वह ग़ुस्सा होते और कहते कि ये सब औरतों की बेवक़ूफ़ी के नतीजे हैं। मैं यह तो नहीं समझ पाता था कि दरअसल क्या घटना हुई है। मगर मैं इतना ज़रूर समझता था कि कोई बुरी बात हुई है। क्योंकि लोग एक-दूसरे से बिगड़कर बदमज़गी से बोलते थे और आपस में मिलना टालते थे। ऐसी हालत में

मैं बड़ा दुःखी हो जाता। पिताजी जब कभी बीच में पड़ते तो हम लोगों के देवता कूच कर जाते थे।

उन दिनों का एक छोटा वाक़या मुझे अभीतक याद है। मैं ६–७ वर्ष का रहा होउँगा। मैं रोज़ घुड़-सवारी के लिए जाया करता था। मेरे साथ घुड़-सेना का एक सवार रहता था। एक रोज़ शाम को मैं घोड़े से गिर पड़ा और मेरा टट्टू—जो अरबी नस्ल का एक अच्छा जानवर था—ख़ाली घर लौट आया। पिताजी टेनिस खेल रहे थे। काफ़ी घबराहट और हलचल मच गई और वहाँ जितने लोग थे सब-के-सब, जो भी सवारी मिली उसे लेकर, मेरी तलाश में दौड़ पड़े। पिताजी उन सबके आगे थे। वह रास्ते में मुझे मिले और वे सब मेरे साथ इस तरह पेश आये मानों मैंने कोई बड़ी बहादुरी का काम किया हो।

## ३

# थियोसॉफ़ी

जबकि मै दस साल का था, हम लोग एक नये और काफ़ी बड़े मकान में आ गये, जिसका नाम पिताजी ने 'आनन्द-भवन' रक्खा था। इस मकान में एक बड़ा बाग़ था और एक तैरने का बड़ा-सा हौज। वहाँ ज्यों-ज्यों नई-नई चीजें दिखाई पड़ती त्यों-त्यों मेरी तबीयत लहरा उठती। इमारत में नये-नये हिस्से जोड़े जा रहे थे और बहुतेरा खुदाई और चुनाई का काम हो रहा था। वहाँ मजदूरों को काम करते हुए देखना मुझे अच्छा लगता था।

मैं कह चुका हूँ कि मकान में तैरने के लिए एक बड़ा हौज था। मैं तैरना जान गया और पानी में गिरते मुझे जरा भी डर मालूम नहीं होता था। गर्मी के दिनों में कई बार मौक़ा-बे-मौक़ा में उसमें नहाया करता। शाम को पिताजी के कई दोस्त तैरने आया करते, वह एक नई चीज थी और वहाँ तथा मकान में बिजली की बत्तियाँ लगाई गई थीं। ये इलाहाबाद में उन दिनों नई बातें थीं। इन नहानेवालों के झुण्ड में मुझे बड़ा आनन्द रहता था और उनमें जो तैरना नहीं जानते थे उनमें से किसीको आगे धक्का देकर या पीछे खींचकर डराने में बड़ा ही लुत्फ़ आता था। मुझे डाक्टर तेजबहादुर सप्रू का क़िस्सा याद आता है, जबकि उन्होंने इलाहाबाद-हाइकोर्ट में नई-नई वकालत शुरू की थी। वह तैरना नहीं जानते थे और न जानना ही चाहते थे, वह पन्द्रह इञ्च पानी में पहली सीढ़ी पर ही बैठ जाते थे और क़सम खाने को एक सीढ़ी नीचे नही उतरते थे, और अगर कोई उन्हें आगे खींचने की कोशिश करता तो जोर से चिल्ला उठते थे। मेरे पिताजी खुद भी तैराक नहीं थे, मगर वह किसी तरह हाथ-पैर फटफटाकर और जी कड़ा करके हौज के आर-पार चले जाते थे।

उन दिनों बोअर-युद्ध हो रहा था। उसमें मेरी दिलचस्पी होने लगी। बोअरों की तरफ़ मेरी हमदर्दी थी। इस लड़ाई की खबरों को पढ़ने के लिए मैं अखबार पढ़ने लगा।

इसी समय एक घरेलू बात में मेरा चित्त रम गया। वह थी मेरी एक छोटी बहन का पैदा होना। मेरे दिल में एक अर्से से एक रंज छिपा रहता था और वह यह कि मुझे कोई भाई या बहन नहीं है जबकि और कइयों के हैं। जब मुझे यह मालूम हुआ कि मेरे भाई या बहन होनेवाली है, तो मेरी खुशी का पार न रहा। पिताजी उन दिनों योरप थे। मुझे याद है कि मैं उस वक़्त बरामदे में बैठा-बैठा कितनी

उत्सुकता से इस बात की राह देख रहा था। इतने में एक डॉक्टर ने आकर मुझे बहन होने की ख़बर दी और कहा—शायद मज़ाक़ में—कि तुमको खुश होना चाहिए कि भाई नहीं हुआ, जो तुम्हारी जायदाद में हिस्सा बँटा लेता। यह बात मुझे बहुत चुभी और मुझे गुस्सा भी आ गया–इस ख़याल पर कि कोई मुझे ऐसा कमीना ख़याल रखनेवाला समझे।

पिताजी की योरप-यात्रा ने कश्मीरी ब्राह्मणों में अन्दर-ही-अन्दर एक तूफ़ान खड़ा कर दिया। योरप से लौटने पर उन्होंने किसी किस्म का प्रायश्चित्त करने से इन्कार कर दिया। कुछ साल पहले एक दूसरे कश्मीरी, पण्डित बिशननरायण दर, जो बाद में कॉंग्रेस के सभापति हुए थे, इंगलैण्ड गये थे और वहाँ से बैरिस्टर होकर आये थे। लौटने पर बेचारों ने प्रायश्चित्त भी कर लिया, तो भी पुराने ख़याल के लोगों ने उनको जाति से बाहर कर दिया और उनसे किसी क़िस्म का ताल्लुक़ नहीं रक्खा। इससे बिरादरी मे क़रीब-क़रीब बराबर के दो टुकड़े हो गये थे। बाद को कई कश्मीरी युवक विलायत पढ़ने गये और लौटकर सुधारक-दल में मिल गये, लेकिन उन सबको विधिवत प्रायश्चित्त तो करना ही पड़ा। यह प्रायश्चित्त-विधि क्या थी, एक तमाशा होता था, जिसमें किसी तरह की धार्मिकता नहीं थी। उसके मानी सिर्फ रस्म अदा करना या एक समूह की बात को मान लेना होता था। और दिल्लगी यह कि एक दफ़ा प्रायश्चित्त कर लेने के बाद ये सब लोग हर तरह के नवीन सुधारों के कामों में शरीक होते–यहाँ तक कि अब्राह्मण और अहिन्दू के यहाँ भी जाते-आते और खाना खाते थे।

पिताजी एक क़दम और आगे बढ़े और उन्होंने किसी रस्म या नाममात्र के लिए भी किसी प्रकार के प्रायश्चित्त को करने से इन्कार कर दिया। इससे बड़ा तहलका मचा, ख़ासकर पिताजी की तेज़ी और किसी क़दर अक्खड़पन के कारण। आख़िर कितने ही कश्मीरी पिताजी के साथ हो गये और एक तीसरा दल बन गया। थोड़े ही साल के अन्दर जैसे-जैसे ख़यालात बदलते गये और पुरानी पाबन्दियाँ हटती गई, ये सब दल एक में मिल गये। बहुत-से कश्मीरी लड़के-लड़कियाँ इंग्लैण्ड और अमेरिका पढ़ने गये और उनके लौटने पर प्रायश्चित्त का कोई सवाल पैदा नहीं हुआ। खान-पान का परहेज़ क़रीब-क़रीब सब उठ गया। मुट्ठीभर पुराने लोगों को, ख़ासकर बडी-बूढ़ी स्त्रियों को, छोड़कर ग़ैर-कश्मीरियों, मुसलमानों तथा ग़ैर-हिन्दुस्तानियों के साथ बैठकर खाना खाना एक मामूली बात हो गई। दूसरी जातिवालों के साथ स्त्रियों का परदा उठ गया और उनके मिलने-जुलने की रुकावट भी हट गई। १९३० के राजनैतिक आन्दोलन ने इसको एक जोर का आखिरी धक्का दिया। दूसरी बिरादरीवालों के साथ शादी-ब्याह करने का रिवाज अभी बहुत बढ़ा

नहीं है—हालाँकि दिन-दिन बढ़ती पर है। मेरी दोनों बहनों ने ग़ैर-कश्मीरियों के साथ शादी की है और हमारे कुटुम्ब का एक युवक हाल ही एक हुंगेरियन लड़की ब्याह लाया है। अन्तर्जातीय विवाह पर ऐतराज़ धार्मिक दृष्टि से नहीं, बल्कि ज्यादातर जाति-शुद्धि की दृष्टि से किया जाता है। कश्मीरियों में यह अभिलाषा पाई जाती है कि वे अपनी जाति की एकता को और आर्यत्व के प्रकट चिन्हों को क़ायम रक्खें। उन्हें डर है कि यदि वे हिन्दुस्तानी और ग़ैर-हिन्दुस्तानी समाज के समुद्र में कूदें तो इन दोनों बातों को खो देंगे। इस विशाल देश में हम कश्मीरियों की संख्या दरिया में खसखस के बराबर है।

सबसे पहले कश्मीरी ब्राह्मण जिन्होंने आधुनिक समय में, कोई सौ बरस पहले, पश्चिमी देशों की यात्रा की, वह थे मिर्ज़ा मोहनलाल 'कश्मीरी' (वह अपनेको ऐसा ही कहा करते थे)। वह बड़े ख़ूबसूरत और ज़हीन थे। दिल्ली के मिशन कॉलेज में पढ़ते थे। एक ब्रिटिश मिशन काबुल गया तो उसके साथ फ़ारसी के दुभाषिया बनकर वह गये। बाद को तमाम मध्य-एशिया और ईरान की उन्होंने सैर की और जहाँ कहीं गये उन्होंने अपनी एक-एक शादी की। मगर आम तौर पर ऊँचे दर्जे के लोगों के यहाँ। वह मुसलमान हो गये थे और ईरान में शाही घराने की एक लड़की से शादी करली थी, इसीलिए उनको मिर्ज़ा की उपाधि मिली थी। वह योरप भी गये थे और तत्कालीन तरुण महारानी विक्टोरिया से भी मिले थे। उन्होंने अपनी यात्रा का बड़ा रोचक वर्णन और सुन्दर संस्मरण लिखे हैं।

जब मैं कुल ११ वर्ष का था तो मेरे लिए एक नये शिक्षक आये, जिनका नाम था एफ़० टी० ब्रुक्स। वह मेरे साथ ही रहते थे। उनके पिता आयरिश थे और मा फ़रासीसी या बेलजियन थी। वह एक पक्के थियोसॉफ़िस्ट थे और मिसेज़ बेसेण्ट की सिफ़ारिश से आये थे। कोई ३ साल तक वह मेरे साथ रहे। कई बातों में मुझपर उनका गहरा असर पड़ा। उस समय एक और मेरे शिक्षक थे—एक बूढ़े पण्डितजी, जो मुझे हिन्दी और संस्कृत पढ़ाने के लिए रक्खे गये थे। कई वर्षों की मेहनत के बाद भी पण्डितजी मुझे कुछ कम पढ़ा पाये थे—इतना थोड़ा, कि मैं अपने नाम-मात्र के संस्कृत-ज्ञान की तुलना अपने लैटिन-ज्ञान के साथ ही कर सकता हूँ, जोकि मैंने हैरो में पढ़ी थी। क़ुसूर तो इसमें मेरा ही था, भाषायें पढ़ने में मेरी गति अच्छी नहीं थी और व्याकरण में तो मेरी रुचि बिलकुल ही नहीं थी।

एफ़० टी० ब्रुक्स की सोहबत से मुझे किताबें पढ़ने का चाव लगा और मैंने कई अंग्रेज़ी किताबें पढ़ डालीं—अलबत्ते बिना किसी उद्देश के। बच्चों और लड़कों सम्बन्धी अच्छा साहित्य मैंने देख लिया था। लेविस केरोल की किताबें और

'दि जंगल बुक्स' और 'किम' मुझे बहुत पसन्द थीं। गस्टेव डोरे के चित्र, जो 'डॉन क्विक्सॉट' में थे, मुझे बहुत लुभावने मालूम हुए और फ़्रिड्जॉफ़ ननसेन की 'फ़ारदेस्ट नार्थ' ने तो मेरे लिए अद्भुतता और साहस की एक नई दुनिया का दरवाज़ा खोल दिया। स्कॉट, डिकन्स और थैकरे के कई उपन्यास मुझे पढ़े याद हैं। एच० जी० वेल्स के रोमान्सेज़, मार्क ट्वेन और शर्लाक होम्स की कहानियाँ भी पढ़ी हैं। 'प्रिज़नर्स ऑफ़ ज़ेन्दा' को पढ़कर मुझे रोमाञ्च हो उठा था और जिरोम के० जिरोम की 'थ्री मेन इन ए बोट' से बढ़कर हास्य-रस की पुस्तक मैंने नहीं पढ़ी। दूसरी किताबें भी मुझे याद हैं। वे हैं डू मॉरियर की 'ट्रिलबी' और 'पीटर इबटसन'। काव्य-साहित्य से भी मुझे दिलचस्पी हो गई थी, जोकि कई परिवर्तनों के हो चुकने के बाद अब भी मुझमें कुछ हद तक क़ायम है।

ब्रुक्स ने विज्ञान के रहस्यों से भी मेरा परिचय कराया। हमने विज्ञान की एक प्रयोगशाला खड़ी करली थी और मैं प्रारम्भिक वस्तु-विज्ञान और रसायन-शास्त्र के प्रयोग घण्टों किया करता था, जो बड़े दिलचस्प मालूम होते थे।

अपनी पढ़ाई के अलावा ब्रुक्स साहब ने एक और बात का असर मुझपर डाला, जो कुछ समय तक बड़े ज़ोर के साथ रहा। वह थी थियोसॉफ़ी। हर हफ्ते उनके कमरे में थियोसॉफिस्टों की सभा हुआ करती। मैं भी उसमें जाया करता और धीरे-धीरे थियोसॉफ़ी की भाषा और विचार-शैली मेरे हृदयंगम होने लगी। वहाँ आध्यात्मिक विषयों पर तथा 'अवतार', 'कामशरीर' और दूसरे 'अलौकिक शरीरों' और 'तेजोवलय' तथा 'कर्म-तत्त्व' इन विषयों पर चर्चा होती और मैडम ब्लेवेट्स्की तथा दूसरे थियोसॉफ़िस्टों से लेकर हिन्दू धर्म-ग्रन्थों, बुद्ध-धर्म के धम्मपद, पायथागोरस, तयाना के अपोलोनियस और कई दार्शनिकों और ऋषियों के ग्रन्थों का ज़िक्र आया करता था। वह सब कुछ मेरी समझ में तो नहीं आता था। परन्तु वह मुझे बहुत रहस्यपूर्ण और लुभावना मालूम होता था और मैं ख़याल करता था कि सारे विश्व के रहस्यों की कुंजी यही है। यहीं से ज़िन्दगी में सबसे पहले मैं अपनी तरफ़ से धर्म और परलोक के बारे में सोचने लगा था। ख़ासतौर से, हिन्दू-धर्म, मेरी नज़र में ऊँचा उठ गया था—उसके कर्म-काण्ड और व्रत-उत्सव नहीं; बल्कि उसके महान् ग्रन्थ, उपनिषद् और भगवद्गीता। मैं उन्हें समझ तो नहीं पाता था, परन्तु वे मुझे बहुत विलक्षण ज़रूर मालूम होते थे। मुझे 'कामशरीरों' के सपने आते और मैं बड़ी-बड़ी दूर तक आकाश में उड़ता जाता। बिना किसी साधन के यों ही ऊँचे आकाश में उड़ते जाने के सपने मुझे जीवन में अक्सर आया करते हैं। कभी-कभी तो वे बहुत साफ़ और सच्चे मालूम होते हैं और नीचे विशाल विश्व-पटल में सारा जन-प्रदेश

मुझे दिखाई पड़ता है। मैं नहीं जानता कि फ्रूड तथा दूसरे आधुनिक स्वप्न-शास्त्री इस सपने का क्या अर्थ लगाते होंगे।

उन दिनों मिसेज़ बेसेन्ट इलाहाबाद आई थीं और थियोसॉफ़ी-सम्बन्धी कई विषयों पर भाषण दिये थे। उनके सुन्दर भाषणों से मेरा दिल हिल उठता था और मैं चकाचौंध होकर घर आता था—अपने-आपको भूले जाता था, जैसे कि कोई सपने में हो। मैं उस समय १३ साल का था, तो भी मैंने थियोसॉफ़िकल सोसायटी का मेम्बर बनना तय कर लिया। जब मैं पिताजी से इजाज़त लेने गया तो उन्होंने उसे हँसकर उड़ा दिया। वह इस मामले को इधर या उधर कोई महत्त्व देना नहीं चाहते थे। उनकी इस उदासीनता पर मुझे दुःख हुआ। यों तो वह मेरी निगाह में बहुत बातों में बड़े थे। फिर भी मुझे लगा कि उनमें आध्यात्मिकता की कमी है। यों सच पूछिए तो वह बहुत पुराने थियोसॉफ़िस्ट थे। वह तबसे थियोसॉफ़िकल सोसायटी में शरीक हुए जबकि मैडम ब्लेवेट्स्की हिन्दुस्तान में थीं। धार्मिक-विश्वास की बनिस्बत कुतूहल के कारण शायद वह उसके मेम्बर बने थे। मगर शीघ्र ही वह उसमें से हट गये। हाँ, उनके कुछ मित्र, जो उनके साथ सोसायटी में शरीक हुए थे, क़ायम रहे और सोसायटी के उच्च आध्यात्मिक पदों पर ऊँचे चढ़ते गये।

इस तरह मैं १३ वर्ष की उम्र में थियोसॉफ़िकल सोसायटी का मेम्बर बना और ख़ुद मिसेज़ बेसेन्ट ने मुझे प्रारम्भिक दीक्षा दी, जिसमें कुछ उपदेश दिया और कुछ गूढ़ चिन्हों के बारे में कहा—जो कि शायद फ़्रीमेसनरी ढंग के थे। उस समय मैं पुलकित हो उठा था। मैं थियोसॉफ़िकल कन्वेन्शन में बनारस गया था और कर्नल अलकॉट को देखा था, जिनकी डाढ़ी बड़ी उम्दा थी।

३० बरस पहले अपने बचपन में कोई कैसा लगता होगा और कैसा क्या अनुभव करता होगा, इसका ख़याल करना बहुत मुश्किल है। मगर मुझे यह अच्छी तरह खयाल पड़ता है कि अपने थियोसॉफ़ी के इन दिनों में मेरा चेहरा स्थिर, गम्भीर और उदास दिखाई पड़ता था, जैसा कि कभी-कभी पवित्रता का सूचक होता है और थियोसॉफ़िस्ट स्त्री-पुरुषों का अक्सर दिखाई पड़ता है। मैं अपने मन में समझता था कि मैं औरों से ऊँची सतह पर हूँ और अवश्य ही मेरा रंग-ढंग ऐसा था कि जिससे मुझे अपने हम-उम्र लड़के-लड़की अपनी संगत के लायक़ न समझते होंगे।

ब्रुक्स साहब के मुझसे अलहदा होते ही थियोसॉफ़ी से भी मेरा सम्पर्क छूट गया और बहुत ही थोड़े अर्से में थियोसॉफ़ी मेरी ज़िन्दगी से बिलकुल हट गई। इसकी कुछ वजह तो यह थी कि मैं इंग्लैण्ड पढ़ने चला गया था। मगर इसमें कोई शक नहीं कि ब्रुक्स साहब की संगति का मुझपर गहरा असर हुआ है और मैं उनका

और थियोसॉफ़ी का बहुत ऋणी हूँ। लेकिन मुझे कहते दुःख होता है कि थियोसॉफ़िस्ट तबसे मेरी निगाह में कुछ नीचे उतर गये हैं और ऊंचे व बढ़े-चढ़े होने के बजाय मामूली आदमी-से दिखाई देते हैं, जोकि ख़तरे की बनिस्बत आराम को ज्यादा पसन्द करते हैं। शहीदों के रास्ते जाने की बनिस्बत फूलों पर चलना पसन्द करते हैं। लेकिन, हाँ, मिसेज़ बेसेन्ट के लिए मेरे दिल में हमेशा बड़ा आदर रहा है।

एक दूसरी मार्के की घटना, जिसने मेरे जीवन पर उस समय असर डाला, रूस-जापान की लड़ाई थी। जापानियों की रोज़-बरोज़ होनेवाली फ़तह से मेरा दिल उत्साह से उछलने लगता और रोज़ मैं अखबारों में ताजी खबरें पढ़ने का मुन्तज़िर रहता। मैंने जापान-सम्बन्धी कई किताबें मँगाईं और उनमें से थोड़ी-बहुत पढ़ीं भी। जापान के इतिहास ने तो मानों मुझे भूलभुलैयां में डाल दिया, लेकिन पुराने जापान की सरदारों की कहानियां मैं चाव से पढ़ता और लेफ्केडियो हर्न का गद्य मुझे रुचिकर लगता था।

मेरा दिल राष्ट्रीय भावों से भरा रहता था। मैं योरप के पंजे से एशिया और हिन्दुस्तान को आजाद करने के भावों में डूबा रहता, और बहादुरी के बड़े-बड़े मनमूबे बांधा करता, कि कैसे हाथ में तलवार लेकर मैं हिन्दुस्तान को आजाद करने के लिए लड़ूगा।

मैं चौदह साल का था। हमारे घर में रद्दोबदल हो रहे थे। मेरे बड़े चचेरे भाई अपने-अपने काम-धंधों में लग गये थे और अलहदा रहने लगे थे। मेरे मन में नये-नये विचार और गोल-मोल कल्पनायें मंडराया करती थीं और स्त्रियों के प्रति मेरी दिलचस्पी कुछ बढ़ने लगी थी, लेकिन अब भी मैं लड़कियों की बनिस्बत लड़कों के साथ मिलना ज्यादा पसन्द करता था और लड़कियों के साथ मिलना-जुलना अपनी शान के ख़िलाफ समझता था। कभी-कभी कश्मीरी दावतों में—जहाँ सुन्दर लड़कियों का अभाव नहीं रहता था—या दूसरी जगह, उनपर कहीं निगाह पड़ गई या बदन छू गया तो मुझे रोमाञ्च हो उठता था।

मई १९०५ में, जब मैं पन्द्रह साल का था, हम इंग्लैण्ड रवाना हुए। पिताजी, मा, मेरी छोटी बहन, और मैं चारों एकसाथ गये।

# ४

# हॅरो और केम्ब्रिज

मई के अखीर में हम लोग लन्दन पहुँचे । डोवर से ट्रेन में जाते हुए रास्ते में सूशीमा में जापानी जल-सेना की भारी विजय का समाचार पढ़ा । मेरी खुशी का ठिकाना न रहा । दूसरे ही दिन डर्बी की घुड़दौड़ थी । हम लोग उसे देखने गये । मुझे याद है कि लन्दन में आने के कुछ दिनों बाद ही एम० ए० अन्सारी (डाक्टर अन्सारी) से मेरी भेंट हुई । उन दिनों वह एक चुस्त और होशियार नौजवान थे । उन्होंने वहाँ के विद्यालयों में चमत्कारिक सफलता प्राप्त की थी और उन दिनों लन्दन के एक अस्पताल में हाउस-सर्जन थे ।

हॅरो में दाखिल होने के लिए मेरी उम्र कुछ बड़ी थी; क्योंकि मैं उन दिनों १५ बरस का था । इसलिए यह मेरी खुशक़िस्मती ही थी कि मुझे वहाँ जगह मिल गई । मेरे परिवार के लोग पहले तो योरप के दूसरे देशों की यात्रा को चले गये और फिर वहाँ से कुछ महीनों बाद हिन्दुस्तान लौट गये ।

इससे पहले मैं अजनबी आदमियों में बिलकुल अकेला कभी नहीं रहा था । इसलिए मुझे बहुत ही सूना-सूना मालूम पड़ता था और घर की याद सताती थी । लेकिन यह हालत ज्यादा दिनों तक नहीं रही । कुछ हद तक मैं स्कूल की ज़िन्दगी में हिल-मिल गया और काम तथा खेल-कूद में मशगूल रहने लगा, लेकिन मेरा पूरा मेल कभी नहीं बैठा । हमेशा मेरे दिल में यह ख़याल बना रहता कि मैं इन लोगों में से नहीं हूँ और दूसरे लोग भी मेरी बाबत यही ख़याल करते होंगे । कुछ हद तक मैं सबसे अलग, अकेला ही रहा । लेकिन कुल मिलाकर मैं खेलों में पूरा-पूरा हिस्सा लेता था । खेलों में मैं चमका-चमकाया तो कभी नहीं, लेकिन मेरा विश्वास है कि लोग यह मानते थे कि मैं खेल से पीछे हटनेवाला भी न था ।

शुरू में तो मुझे नीचे के दर्जे में भर्ती किया गया, क्योंकि मुझे लैटिन कम आती थी, लेकिन फ़ौरन ही मुझे तरक्क़ी मिल गई । ग़ालिबन कई बातों में और खासकर आम बातों की जानकारी में मैं अपनी उम्र के लोगों से आगे था । इसमें शक नहीं कि मेरी दिलचस्पी के विषय बहुतेरे थे और मैं अपने ज्यादातर सहपाठियों से ज्यादा किताबें और अखबार पढ़ता था । मुझे याद है कि मैंने अपने पिताजी को लिखा था कि अंग्रेज़ लड़के बड़े मट्ठे होते हैं; क्योंकि वे खेलों के सिवा और किसी विषय पर बात ही नहीं कर सकते । लेकिन मुझे इसमें अपवाद भी मिले थे, खास कर ऊपर के दर्जों में ।

इंग्लैण्ड के आम चुनाव में मुझे बहुत दिलचस्पी थी। जहाँतक मुझे याद है, यह चुनाव १९०५ के अखीर में हुआ और उसमें लिबरलों की बड़ी भारी जीत हुई। १९०६ के शुरू में हमारे दर्जे के मास्टर ने हमसे नई सरकार की बाबत सवाल पूछे, और मुझे यह देखकर बड़ा अचरज हुआ कि उस दर्जे में मैं ही एक ऐसा लड़का था जो उस विषय पर बहुत सी बातें बता सका—यहाँ तक कि मैंने कॅम्बॅल-बॅनरमन के मंत्रि-मण्डल के सदस्यों की क़रीब-क़रीब पूरी फ़ेहरिस्त बता दी।

राजनीति के अलावा जिस दूसरे विषय में मुझे बहुत दिलचस्पी थी, वह था हवाई जहाज़ों की शुरुआत। वह ज़माना राइट ब्रदर्स और सान्तोस ड्यूमों का था। इनके बाद ही फ़ौरन फ़रमन, लैथम और ब्लीरियाट आये। जोश में आकर मैंने हॅरो से पिताजी को लिखा था कि मैं हवाई-जहाज़ द्वारा उडकर हफ़्ते के अखीर में आपसे हिन्दुस्तान में मिल सकूँगा।

इन दिनों हॅरो में चार या पाँच हिन्दुस्तानी लड़के थे। दूसरी जगह रहनेवालों से मिलने का तो मुझे बहुत ही कम मौका मिलता था। लेकिन हमारे अपने ही घर में—हेडमास्टर के यहाँ—महाराजा बड़ौदा के एक पुत्र हमारे साथ थे। वह मुझसे बहुत आगे थे और क्रिकेट के अच्छे खिलाड़ी होने की वजह से लोक-प्रिय थे। मेरे जाने के बाद फौरन ही वह वहाँ से चले गये। पीछे महाराजा कपूरथला के बड़े लड़के परमजीतसिंह आये, जो आजकल टीकासाहब है। वहाँ उनका मेल बिलकुल नहीं मिला। वह दुःखी रहते थे और दूसरे लड़कों से बिलकुल नहीं मिलते-जुलते थे। लड़के अक्सर उनका तथा उनके तौर-तरीकों का मजाक उड़ाते थे। इससे वह बहुत चिढ़ते थे और कभी-कभी उनको धमकी देते कि जब कभी तुम कपूरथला आओगे तब तुम्हें देख लूँगा। यह कहना बेकार है, कि इस घुड़की का कोई अच्छा असर नहीं होता था। इससे पहले वह कुछ समय तक फ्रांस में रह चुके थे और फ्रान्सीसी भाषा में धारा-प्रवाह बोल सकते थे। लेकिन ताज्जुब की बात तो यह थी कि अंग्रेज़ी पब्लिक स्कूलों में विदेशी भाषाओं के सिखाने के तरीके कुछ ऐसे थे, कि फ्रान्सीसी भाषा के दर्जे में उनका यह ज्ञान उनके कुछ काम नहीं आता था।

एक दिन एक अजीब घटना हुई। आधी रात को हाउस-मास्टर साहब यकायक हमारे कमरों में घुस-घुसकर तलाशी लेने लगे। पीछे हमें मालूम हुआ कि परमजीत-सिंह की सोने की मूंठ की खूबसूरत छड़ी खो गई है। तलाशी में वह नहीं मिली। इसके दो या तीन दिन बाद लार्ड्स-मैदान में ईटन और हॅरो का मैच हुआ और उसके बाद फौरन ही वह छड़ी उनके मकान में रक्खी मिली। ज़ाहिर है कि किसी साहब ने मैच में उससे काम लिया और उसके बाद उसे लौटा दिया।

हमारे छात्रावास तथा दूसरे छात्रावासों में थोड़े-से यहूदी भी थे। यों वे मज़े में बिला खरखशा रहते थे, लेकिन तह में उनके ख़िलाफ़ भाव ज़रूर काम करता था कि ये लोग "बदमाश यहूदी" है और कुछ दिन बाद ही, लगभग अनजान में, मैं भी यही सोचने लगा कि इनसे नफ़रत करना ठीक ही है। लेकिन दरअसल मेरे दिल में यहूदियों के ख़िलाफ़ कभी कोई भाव न था और अपने जीवन में आगे जाकर यहूदियों में मुझे कई अच्छे दोस्त मिले।

धीरे-धीरे मैं हॅरो का आदी हो गया और मुझे वहाँ अच्छा लगने लगा। लेकिन न जाने कैसे मैं यह महसूस करने लगा कि अब यहाँ मेरा काम नहीं चल सकता। विश्वविद्यालय मुझे अपनी तरफ खींच रहा था। १९०६ और १९०७ भर हिन्दुस्तान से जो खबरें आती थी उनसे मैं बहुत बेचैन रहता था। अंग्रेज़ी अख़बारों में बहुत ही कम ख़बरें मिलती थी, लेकिन जितनी मिलती थी उनसे ही यह मालूम हो जाता था कि देश में—बंगाल, पंजाब और महाराष्ट्र में—बड़ी-बड़ी बातें हो रही है। लाला लाजपतराय और सरदार अजीतसिंह को देश-निकाला दिया गया था। बंगाल में हाहाकार-सा मचा हुआ मालूम पड़ता था। पूना से तिलक का नाम बिजली की तरह चमकता था और स्वदेशी तथा बहिष्कार की आवाज गूँज रही थी। इन सब बातों से मेरे ऊपर भारी असर पड़ा। लेकिन हॅरो में एक भी शख्स ऐसा न था जिससे मैं इस बारे में बातें कर सकता। छुट्टियों में मैं अपने कुछ चचेरे भाइयों तथा दूसरे हिन्दुस्तानी दोस्तों से मिला और तभी मुझे अपने जी को हलका करने का मौका मिला।

स्कूल में अच्छा काम करने के लिए मुझे एक इनाम जो मिला वह जी० एम० ट्रिवेलियन की गैरिबाल्डी-विषयक एक पुस्तक थी। इस पुस्तक में मेरा मन ऐसा लगा कि मैंने फ़ौरन ही इस माला की बाक़ी दो किताबें भी ख़रीद लीं और उनमें गैरिबाल्डी की पूरी कहानी बड़ी सावधानी के साथ पढ़ी। हिन्दुस्तान में भी इसी तरह की घटनाओं की कल्पना मेरे मन में उठने लगी। मैं आजादी की बहादुराना लड़ाई के सपने देखने लगा और मेरे मन में इटली और हिन्दुस्तान अजीब तरह-से मिल-जुल गये। इन ख़यालों के लिए हॅरो कुछ छोटी और तंग जगह मालूम होने लगी, और मैं विश्व-विद्यालय के ज्यादा बड़े क्षेत्र में जाने की इच्छा करने लगा। इसीलिए मैंने पिताजी को इस बात के लिए राज़ी कर लिया और मैं हॅरो में सिर्फ़ दो बरस रहकर वहाँ से चला गया। यह दो बरस का समय वहाँ के निश्चित साधारण समय से बहुत कम था।

यद्यपि मैं हॅरो से ख़ुद अपनी मरज़ी से जाना चाहता था, फिर भी मुझे यह अच्छी तरह याद है कि जब अलग होने का समय आया तब मुझे बड़ा दुःख हुआ ओर मेरी आँखों में आँसू आ गये। मुझे वह जगह अच्छी लगने लगी थी और वहाँ

से सदा के लिए अलग होने ने मेरे जीवन के एक अध्याय को समाप्त कर दिया। परन्तु फिर भी मुझे कभी-कभी यह ख़याल आ जाता है कि हॅरो छोड़ने पर मेरे मन में असली दुःख कितना था ? क्या कुछ हदतक यह बात न थी कि मैं इसलिए दुःखी था, क्योंकि हॅरो की परम्परा और उसके गीत के अनुसार मुझे दुःखी होना चाहिए था ? मैं भी इन परम्पराओं के प्रभाव से अपनेको बचा नहीं सकता था, क्योंकि उस स्थान के साथ अपना मेल बिठा सकने के ख़याल से मैंने उनका विरोध कभी नहीं किया था।

१९०७ के अक्तूबर के शुरू में मैं केम्ब्रिज के ट्रिनिटी कॉलेज में पहुँच गया। उस वक्त मेरी उम्र १७ या १८ बरस के क़रीब थी। मुझे इस बात से बेहद खुशी हुई कि अब मैं अण्डर-ग्रेजुएट हूँ, स्कूल के मुक़ाबिले में यहाँ मुझे जो चाहूँ सो करने की काफ़ी आज़ादी मिलेगी। मैं लड़कपन के बन्धनों से मुक्त हो गया और यह महसूस करने लगा कि आखिर मैं भी अब बड़ा होने का दावा कर सकता हूँ। मैं ऐंठ के साथ केम्ब्रिज के विशाल भवनों और उसकी तंग गलियों में चक्कर काटा करता और अगर कोई जान-पहचानवाला मिल जाता तो बहुत खुश होता।

केम्ब्रिज में मैं तीन साल रहा। ये तीनों साल शान्ति-पूर्वक बीते; इनमें किसी प्रकार के विघ्न नहीं पड़े। तीनों साल धीरे-धीरे धीमी-धीमी बहनेवाली कॅम नदी की तरह चले। ये साल बड़े आनन्द के थे। इनमें बहुत-से मित्र मिले, कुछ काम किया, कुछ खेले और मानसिक क्षितिज धीरे-धीरे बढ़ता रहा। मैंने प्राकृतिक विज्ञान का ट्राइपस कोर्स लिया। मेरे विषय थे रसायन शास्त्र, भूगर्भ-शास्त्र और वनस्पति-शास्त्र; परन्तु मेरी दिलचस्पी इन्ही विषयों तक महदूद न थी। केम्ब्रिज या छुट्टियों में लन्दन में अथवा दूसरी जगहों में मुझे जो लोग मिले, उनमें से बहुत-से ग्रन्थों के बारे में, साहित्य और इतिहास के बारे में, राजनीति और अर्थशास्त्र के बारे में विद्वत्तापूर्वक बात-चीत करते थे। पहले-पहल तो ये बढ़ी-चढ़ी बातें मुझे बड़ी मुश्किल मालूम हुई, परन्तु जब मैंने कुछ किताबें पढ़ीं तब सब बातें समझने लगा, जिससे मैं कम-से-कम अन्त तक बात करते हुए भी इन साधारण विषयों में से किसीके बारे में अपना घोर अज्ञान ज़ाहिर नहीं होने देता था। हम लोग नीत्शे और बर्नार्ड शा की भूमिकाओं तथा लॉवेज डिकिन्सन की नई-से-नई पुस्तकों के बारे में बहस किया करते थे। उन दिनों केम्ब्रिज में नीत्शे की धूम थी। हम लोग अपनेको बड़ा चलता-पुर्जा समझते थे और स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध तथा सदाचार आदि विषयों पर बड़ी शान के साथ बातें करते थे और बातचीत के सिलसिले में ईवान ब्लॉक, हैवलोक एलिस, क्राफ्ट एबिंग और ओटो वीनिंगर के हवाले देते जाते थे। हम लोग यह महसूस

करते थे कि इन विषयों के सिद्धान्तों के बारे में, विशेषज्ञों को छोड़कर, साधारणतः जितना जानने की जरूरत है उतना हम जानते हैं।

वास्तव में, हम बातें ज़रूर बढ़-बढ़कर मारते थे, लेकिन स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध के बारे में हममें से ज्यादातर डरपोक थे और कम-से-कम मैं तो ज़रूर डरपोक था। मेरा इस विषय का ज्ञान, केम्ब्रिज छोड़ने के बाद भी बहुत बरसों तक, केवल सिद्धान्त तक ही सीमित रहा। ऐसा क्यों था, यह कहना कुछ कठिन है। हममें से अधिकांश का स्त्रियों की ओर ज़ोर का आकर्षण था और मुझे इस बात में सन्देह है कि उनके सहवास में हममें से कोई किसी प्रकार का पाप समझता था। यह निश्चित है कि मैं उसमें कोई पाप नहीं समझता था। मेरे मन में कोई धार्मिक रुकावट नहीं थी। हम लोग आपस में कहा करते थे—स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धों का न सदाचार से सम्बन्ध है न दुराचार से। वह तो इन आचारों से परे है। यह सब होने पर भी एक प्रकार की झिझक तथा इस सम्बन्ध में आम तौर पर जिन तरीकों से काम लिया जाता था उनके प्रति मेरी अरुचि ने मुझे इससे बचा रक्खा। उन दिनों मैं निश्चित-रूप से एक झेंपू लड़का था। शायद यह इसलिए हो कि मैं बचपन में अकेला रहा था।

उन दिनों जीवन के प्रति मेरा आम रुख एक अस्पष्ट प्रकार के भोग-वाद का था, जो कुछ अंश तक युवावस्था के लिए स्वाभाविक था और कुछ अंश तक ऑस्कर वाइल्ड और वाल्डर पेटर के प्रभाव के कारण था। आनन्दानुभव और आराम की ज़िन्दगी की ख्वाहिश को भोग-वाद जैसा बड़ा नाम देना है तो आसान और तबीयत को खुश करनेवाली बात, लेकिन मेरे मामले में इसके अलावा कुछ और बात भी थी; क्योंकि मै ख़ास तौर पर आराम की ज़िन्दगी की तरफ़ रुजू न था। मेरी प्रकृति धार्मिक नहीं थी और धर्म के दमनकारी बन्धनों को मै पसन्द नही करता था। इसलिए मेरे लिए यह स्वाभाविक था कि मैं किसी दूसरे स्टैंडर्ड की खोज करता। उन दिनों मै सतह पर ही रहना पसन्द करता था, किसी मामले की गहराई तक नहीं जाता था, इसीलिए जीवन का सौन्दर्य-मय पहलू मुझे अपील करता था। मैं चाहता था कि में सुयोग्यता के साथ जीवन-यापन करूँ। गँवारू ढंग से उसका उपभोग तो मैं नहीं करना चाहता था, लेकिन मेरा रुझान जीवन का सर्वोत्तम उपभोग करने और उसका पूर्ण तथा विविध आनन्द लेने की ओर था। मै जीवन का उपभोग करता था और इस बात से इन्कार करता था कि मैं उसमें पाप की कोई बात क्यों समझूँ? साथ ही ख़तरे और साहस के काम भी मुझे अपनी ओर आकर्षित करते थे। अपने पिताजी की तरह मैं भी हमेशा कुछ हदतक जुआरी था। पहले रुपये का जुआरी, और फिर बड़ी-बड़ी बाज़ियों का—जीवन की बड़ी-बड़ी समस्याओं का। १९०७

तथा १९०८ में हिन्दुस्तान की राजनीति में उथल-पुथल मची हुई थी और मैं उसमें वीरता के साथ भाग लेना चाहता था। ऐसी दशा में मैं आराम की ज़िन्दगी तो बसर कर ही नहीं सकता था। ये सब मिश्रित और कभी-कभी परस्पर-विरोधी इच्छायें मेरे मन में अजीब खिचड़ी पकातीं, एक भँवर-सी पैदा कर देतीं। उन दिनों ये सब बातें अस्पष्ट तथा गोल-मोल थी। परन्तु इससे उन दिनों मैं परेशान न था, क्योंकि इनका फैसला करने का समय तो अभी बहुत दूर था। तबतक जीवन—शरीरिक और मानसिक दोनों प्रकार का—आनन्दमय था। हमेशा नित-नये क्षितिज दिखाई पड़ते थे। इतने काम करने थे, इतनी चीज़ें देखनी थीं, इतने नये क्षेत्रों की खोज करनी थी! जाड़े की लम्बी रातों में हम लोग अँगीठी के सहारे बैठ जाते और धीरे-धीरे इतमीनान के साथ रात में आपस में बातें तथा विचार-विनिमय करते—उस समय तक जबतक अँगीठी की आग बुझकर हमें जाड़े से कँपाकर बिछौने पर भेज न देती थी। कभी-कभी वाद-विवाद में हमारी आवाज़ मामूली न रहकर तेज़ हो जाती और हम लोग बहस की गरमा-गरमी से जोश में आ जाते थे। लेकिन यह सब कहने भर को था। उन दिनों हम लोग जीवन की समस्याओं के साथ गम्भीरता के स्वांग करके खेलते थे; क्योंकि उस वक्त तक वे हमारे लिए वास्तविक समस्यायें न हो पाई थीं और हम लोग संसार के झमेलों के चक्कर में नहीं फँस पाये थे। वे दिन महायुद्ध से पहले के, बीसवीं शताब्दी के शुरू के थे। कुछ ही दिनों में हमारा वह संसार मिटने को था—इसलिए कि इससे ऐसे दूसरे संसार को जगह मिले जो दुनिया के युवकों के लिए मृत्यु और विनाश एवं पीड़ा तथा दिली रंज से भरा हुआ हो। लेकिन उन दिनों यह संसार भविष्य के परदे में छिपा हुआ था और हमें अपने चारों तरफ़ एक सुनिश्चित तथा उन्नतिशील व्यवस्था दिखाई देती थी जो उन लोगों के लिए, जो उसमें रह सकते थे, आनन्दप्रद थी।

मैंने भोग-वाद तथा वैसी ही दूसरी और उन अन्य अनेक भावनाओं की चर्चा की है, जिन्होंने उन दिनों मेरे ऊपर अपना असर डाला। लेकिन यह सोचना ग़लत होगा कि मैंनें उन दिनों इन विषयों पर भली-भांति साफ़ तौर पर विचार कर लिया था, या मैंने उनकी बाबत स्पष्टतया निश्चित विचार करने की कोशिश करने की ज़रूरत भी समझी थी। वे तो कुछ अस्पष्ट तरंगें-मात्र थीं जो मेरे मन में उठा करती थीं और जिन्होंने अपने इसी दौरान में अपना थोडा या बहुत प्रभाव मेरे ऊपर अंकित कर दिया। इन बातों के ध्यान से मै उन दिनों बिलकुल परेशान नहीं होता था। उन दिनों तो मेरी जिन्दगी काम और विनोद से भरी हुई थी। सिर्फ एक चीज़ ऐसी ज़रूर थी जिससे मैं कभी-कभी विचलित हो जाता था। वह थी हिन्दुस्तान की राज-

नैतिक कशमकश। केम्ब्रिज में जिन किताबों ने मेरे ऊपर राजनैतिक असर डाला उनमें मेरीडिथ टाउनसेण्ड की 'एशिया और योरप' मुख्य है।

१९०७ मे कई साल तक हिन्दुस्तान बेचैनी और कष्टों से मानों उबलता रहा। १८५७ के ग़दर के बाद पहली मर्त्तबा हिन्दुस्तान फिर लड़ने पर आमादा हुआ था। वह विदेशी शासन के सामने चुपचाप सिर झुकाने को तैयार न था। तिलक के कार्य-कलाप और कारावास की तथा अरविन्द घोष की खबरों से और बंगाल की जनता जिस ढंग से स्वदेशी और बहिष्कार की प्रतिज्ञायें ले रही थी उनसे इंग्लैण्ड में रहनेवाले तमाम हिन्दुस्तानियों मे खलबली मच जाती थी। हम सब लोग बिना किसी अपवाद के तिलक-दल या गरम दल के थे। हिन्दुस्तान में यह नया दल उन दिनों इन्हीं नामों से पुकारा जाता था।

केम्ब्रिज में जो हिन्दुस्तानी रहते थे उनकी एक सोसायटी थी, जिसका नाम था मजलिस। इस मजलिस में हम लोग अक्सर राजनैतिक मामलों पर बहस करते थे, लेकिन ये बहसें कुछ हद तक बेवजूद थी। इसमें पार्लमेण्ट की अथवा यूनिवर्सिटी-यूनियन की बहस की शैली तथा अदाओं की नकल करने की जितनी कोशिश की जाती थी उतनी विषय को समझने की नही। मैं अक्सर मजलिस में जाया करता था, लेकिन तीन साल में मैं वहाँ शायद ही बोला होऊँ। मैं अपनी झिझक और हिचकिचाहट को दूर नहीं कर सका। कॉलेज में "मैग्पाइ और स्टम्प" नाम की जो वाद-विवाद की सभा थी उसमें भी मुझे इसी कठिनाई का सामना करना पड़ा। इस सभा में यह नियम था कि अगर कोई मेम्बर पूरी मियाद तक न बोले तो उसे जुर्माना देना पड़ेग, और मुझे अक्सर जुर्माना देना पड़ता था।

मुझे यह याद है कि एडविन मॉण्टेगु, जो पीछे जाकर भारत-मंत्री हो गये थे, बहुत बार इस सभा में आया करते थे। वह ट्रिनिटी कॉलेज के पुराने विद्यार्थी थे और उन दिनों केम्ब्रिज की ओर से पार्लमेन्ट के मेम्बर थे। पहले-पहल श्रद्धा की अर्वाचीन परिभाषा मैने उन्हीसे सुनी। जिस बात के बारे में तुम्हारी बुद्धि यह कहे कि वह सच नही हो सकती, उसमें विश्वास करना ही सच्ची श्रद्धा है; क्योंकि तुम्हारी तर्क-शक्ति ने भी उसे पसन्द कर लिया तो फिर अन्धश्रद्धा का सवाल ही नहीं रहता। विश्वविद्यालय के विज्ञान के अध्ययन का मुझपर बहुत प्रभाव पड़ा और विज्ञान उन दिनों जिस तरह अपने सिद्धान्तों और निश्चयों को ला-कलाम समझता था वैसे ही समझने लगा था, क्योंकि उन्नीसवीं और बीसवीं शदी के शुरू के विज्ञान को आजकल के विज्ञान के बर्खिलाफ़ अपने निर्णयों की बाबत और संसार की बाबत बडा इतमीनान था।

मजलिस में और निजी बातचीत में हिन्दुस्तान की राजनीति पर बहस करते

हुए हिन्दुस्तानी विद्यार्थी अक्सर बड़ी गरम तथा उग्र भाषा काम में लाते थे, यहाँ तक कि बंगाल में जो हिंसाकारी कार्य शुरू होने लगे थे उनकी भी तारीफ़ कर जाते थे। लेकिन पीछे मैंने देखा कि यही लोग कुछ तो इण्डियन सिविल सर्विस के मेम्बर हुए, कुछ हाइकोर्ट के जज हुए, कुछ बड़े धीर-गम्भीर वकील तथा ऐसे ही लोग बन गये। इन आराम-गृह के आग-बबूलों में से बिरलों ने ही पीछे जाकर हिन्दुस्तान के राजनैतिक आन्दोलनों में कारगर हिस्सा लिया होगा।

हिन्दुस्तान के उन दिनों के कुछ नामी राजनीतिज्ञों ने केम्ब्रिज में हम लोगों के पास आने की कृपा की थी। हम उनकी इज्ज़त तो करते थे, लेकिन हम उनसे इस तरह पेश आते थे मानों हम उनसे बड़े हैं। हम लोग महसूस करते थे कि हमारी शिक्षा-दीक्षा उनसे कहीं बढ़ी-चढ़ी थी और हम चीज़ों को उनके व्यापक रूप में देख सकते थे। जो लोग हमारे यहाँ आये उनमें विपिनचन्द्र पाल, लाला लाजपतराय और गोपालकृष्ण गोखले भी थे। विपिनचन्द्र पाल से हम अपने बैठने के एक कमरे में मिले। वहाँ हम सिर्फ़ एक दर्जन के करीब थे। लेकिन उन्होंने इतने ज़ोर-ज़ोर से बातें की मानों वह दस हज़ार की सभा में भाषण दे रहे हों। उनकी आवाज़ इतनी भारी थी कि मैं उनकी बात को बहुत ही कम समझ सका। लालाजी ने हमसे अधिक विवेक-पूर्ण ढंग से बातचीत की और उनकी बातों का मुझपर बहुत असर पड़ा। मैंने पिताजी को लिखा कि विपिनचन्द्र के मुक़ाबिले में मुझे लालाजी का भाषण अधिक अच्छा लगा। इससे वह बड़े ख़ुश हुए, क्योंकि उन दिनों उन्हें बंगाल के आग-बबूला राजनीतिज्ञ अच्छे नहीं लगते थे। गोखले ने केम्ब्रिज में एक सार्वजनिक सभा में भाषण दिया। उस भाषण की मुझे सिर्फ़ यही खास बात याद है कि भाषण के बाद अब्दुलमजीद ख़्वाजा ने एक सवाल पूछा था। हॉल में खड़े होकर उन्होंने जो सवाल पूछना शुरू किया तो पूछते ही चले गये, यहाँ तक कि हममें से बहुतों को यही याद नहीं रहा कि सवाल शुरू किस तरह हुआ था और वह किस सम्बन्ध में था।

हिन्दुस्तानियों में हरदयाल का बड़ा नाम था। लेकिन वह मेरे केम्ब्रिज में पहुँचने से कुछ पहले आक्सफ़ोर्ड में थे। अपने हॅरो के दिनों में मैं उनसे लन्दन में एक या दो बार मिला था।

केम्ब्रिज में मेरे समकालीनों में से कई ऐसे निकले जिन्होंने आगे जाकर हिन्दुस्तान की काँग्रेस की राजनीति में प्रमुख भाग लिया। जे० एम० सेनगुप्त मेरे केम्ब्रिज पहुँचने के कुछ दिन बाद ही वहाँ से चले गये। सैफ़ुद्दीन किचलू, सैयद महमूद और तसद्दुक़अहमद शेरवानी कम-बढ़ मेरे समकालीन थे। एस० एम० सुलेमान भी, जो इन दिनों इलाहाबाद-हाइकोर्ट के चीफ जस्टिस हैं, मेरे समय में केम्ब्रिज में थे।

मेरे दूसरे समकालीनों में से कोई मिनिस्टर बना और कोई इण्डियन सिविल सर्विस का सदस्य ।

लन्दन में हम श्यामजी कृष्ण वर्मा और उनके इण्डिया-हाउस की बाबत भी सुना करते थे, लेकिन मुझे न तो वह कभी मिले और न मैं कभी उस हाउस में ही गया । कभी-कभी हमें उनका 'इण्डियन सोशलॉजिस्ट' नाम का अखबार देखने को मिल जाता था । बहुत दिनों बाद, सन् १९२६ में, श्यामजी मुझे जिनेवा में मिले थे । उनकी जेबें 'इण्डियन सोशलॉजिस्ट' की पुरानी कापियों से भरी रहती थी और वह प्रायः हरेक हिन्दुस्तानी को, जो उनके पास जाता था, ब्रिटिश-सरकार का भेजा हुआ भेदिया समझते थे ।

लन्दन में इण्डिया-ऑफ़िस ने विद्यार्थियों के लिए एक केन्द्र खोला था । इसकी बाबत तमाम हिन्दुस्तानी यही समझते थे कि यह हिन्दुस्तानी विद्यार्थियों के भेद जानने का एक जाल है और इसमें बहुत कुछ सचाई भी थी । फिर भी यह बहुतसे हिन्दुस्तानियों को बरदाश्त करना पड़ता था, चाहे मन से हो या बेमन से, क्योंकि उसकी सिफ़ारिश के बिना किसी विश्वविद्यालय में दाखिल होना ग़ैरमुमकिन हो गया था ।

हिन्दुस्तान की राजनैतिक स्थिति ने मेरे पिताजी को अधिक सक्रिय राजनीति की ओर खींच लिया था और मुझे इस बात से खुशी हुई थी, हालाँकि मैं उनकी राजनीति से सहमत नहीं था । यह स्वाभाविक ही था कि वह माडरेटों में शामिल हुए, क्योंकि उनमें से बहुतों को वह जानते थे और उनमें से बहुत-से वकालत में उनके साथी थे । उन्होंने अपने सूबे की एक कान्फ्रेंस का सभापतित्व भी किया था और बंगाल तथा महाराष्ट्र के गरम-दलवालों की तीव्र आलोचना की थी । वह संयुक्त-प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी के सभापति भी बन गये थे । १९०७ में जिस समय सूरत में काँग्रेस में गोलमाल होकर वह भंग हुई और अन्त में सोलहों आना माडरेटों की हो गई, उस समय वह उपस्थित थे ।

सूरत के कुछ ही दिनों बाद एच० डबलू० नेविन्सन कुछ समय तक इलाहाबाद में पिताजी के अतिथि बनकर रहे । उन्होंने हिन्दुस्तान पर जो किताब लिखी उसमें पिताजी की बाबत लिखा कि "वह मेहमानों की ख़ातिर-तवाजो को छोड़कर और सब बातों में माडरेट हैं ।" उनका यह अन्दाज़ कतई ग़लत था; क्योंकि पिताजी अपनी राजनीति को छोड़कर और किसी बात में कभी माडरेट नहीं रहे और उनकी प्रकृति ने धीरे-धीरे उनको उस बची-खुची नरमी से भी दूर भगा दिया । प्रचण्ड भावों, प्रबल बिकारों, घोर अभिमान और महती इच्छा-शक्ति से सम्पन्न वह माडरेटों की

जाति से बहुत ही दूर थे। फिर भी १९०७ और १९०८ में और कुछ साल बाद तक वह बेशक माडरेटों में भी माडरेट थे और गरम-दल के सख्त ख़िलाफ़ थे, हालांकि मेरा ख़याल है कि वह तिलक की तारीफ़ करते थे।

ऐसा क्यों था ? क़ानून और विधि-विधान ही उनके बुनियादी पाये थे, सो उनके लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह राजनीति को वकील और विधानवादी की दृष्टि से देखते। उनकी स्पष्ट विचारशीलता ने उन्हें यह दिखाया कि कड़े और गरम शब्दों से तबतक कुछ होता-जाता नहीं जबतक कि इन शब्दों के मुताबिक काम न हो और उन्हें किसी कारगर काम की कोई सम्भावना नज़दीक में दिखाई नहीं देती थी। उनको यह नहीं मालूम होता था कि स्वदेशी और बहिष्कार के आन्दोलन हमें बहुत दूर तक ले जा सकेंगे। इसके अलावा इन आन्दोलनों की पुश्त में वह धार्मिक राष्ट्रीयता थी जो उनकी प्रकृति के प्रतिकूल थी। वह प्राचीन भारत के पुनरुद्धार की आशा नहीं लगाते थे। ऐसी बातों को न तो वह कुछ समझते ही थे, न इनसे उन्हें कोई हमदर्दी ही थी। इसके अलावा बहुतसे पुराने सामाजिक रीति-रिवाजों को, जात-पाँत वग़ैरा को, वह क़तई नापसन्द करते थे और उन्हें उन्नति-विरोधी मानते थे। उनकी दृष्टि पश्चिम की ओर थी। पाश्चात्य ढंग की उन्नति की ओर उनका बहुत अधिक आकर्षण था और वह समझते थे कि ऐसी उन्नति हमारे देश में इंग्लैण्ड के संसर्ग से ही आ सकती है।

१९०७ में हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता का जो पुनरुत्थान हुआ वह सामाजिक दृष्टि से ज़रूर पीछे घसीटनेवाला था। हिन्दुस्तान की नई राष्ट्रीयता, पूर्व के दूसरे देशों की तरह, अवश्य ही धार्मिकता को लिये हुए थी। इस दृष्टि से माडरेटों का सामाजिक दृष्टिकोण अधिक उन्नतिशील था। परन्तु वे तो चोटी के सिर्फ़ मुट्ठीभर मनुष्य थे जिनका आम जनता से कोई सम्बन्ध न था। वे समस्याओं पर अर्थशास्त्र की दृष्टि से अधिक विचार नहीं करते थे, महज़ उस ऊपरी मध्यम वर्ग के लोगों के दृष्टिकोण से विचार करते थे जिसके कि वे आंशिक प्रतिनिधि थे और जो अपने विकास के लिए जगह चाहता था। वह जाति के बन्धनों को ढीला करने और उन्नति को रोकनेवाले पुराने सामाजिक रिवाजों को दूर करने के लिए छोटे-छोटे सामाजिक सुधारों की पैरवी करते थे।

माडरेटों के साथ अपना भाग्य जोड़कर पिताजी ने आक्रामक ढंग अख़्त्यार किया। बंगाल और पूना के कुछ नेताओं को छोड़कर अधिकांश गरम-दलवाले नौजवान थे और पिताजी को इस बात से बहुत चिढ़ थी कि ये कल के छोकरे अपने मन-माफ़िक़ काम करने की हिम्मत करते हैं। विरोध से वह अधीर हो जाते थे, विरोध को सहन नहीं कर सकते थे, जिन लोगों को वह बेवकूफ़ समझते थे उनको तो फूटी आँख भी नहीं देख सकते थे। और इसलिए वह जब कभी मौक़ा मिलता उनपर टूट पड़ते थे।

मेरा ख़याल है कि केम्ब्रिज छोड़ देने के बाद मैंने उनका एक लेख पढ़ा था, जो मुझे बहुत बुरा मालूम हुआ था और मैंने उन्हें एक गुस्ताख़ाना ख़त लिखा, जिसमें मैंने यह भी झलकाया कि इसमें शक नहीं कि आपकी राजनैतिक कार्रवाइयों से ब्रिटिश सरकार बहुत खुश हुई होगी। यह एक ऐसी बात थी जिसे सुनकर वह आपे से बाहर हो सकते थे, और वह सचमुच बहुत नाराज हुए भी। उन्होंने क़रीब-क़रीब यहाँ तक सोच लिया था, कि मुझे फ़ौरन इंग्लैण्ड से वापस बुला ले।

जब मै केम्ब्रिज में रहता था तभी यह सवाल उठ खड़ा हुआ था कि मुझे कौन-सा 'कॅरियर' चुनना चाहिए। कुछ समय के लिए इण्डियन सिविल सर्विस की बात भी सोची गई। उन दिनों तक उसमें एक ख़ास आकर्षण था। परन्तु चूँकि न तो पिताजी ही उसके लिए बहुत उत्सुक थे न मैं ही, इसलिए वह विचार छोड़ दिया गया। मेरा ख़याल है कि इसका मुख्य कारण यह था कि उसके लिए अभी मेरी उम्र कम थी और अगर मै उस इम्तिहान में बैठना चाहता तो मुझे अपनी डिग्री लेने के बाद भी तीन-चार साल और वहाँ ठहरना पड़ता। मैंने केम्ब्रिज में जब अपनी डिग्री ली तब मैं २० बरस का था और उन दिनों इण्डियन सिविल सर्विस के उम्र की मियाद २२ बरस से लेकर २४ वरस तक थी। इम्तिहान मे कामयाब होते पर इंग्लैण्ड में एक साल और बिताना पड़ता है। मेरे परिवार के लोग मेरे इंग्लैण्ड में इतने दिनों तक रहने के कारण ऊब गये थे और चाहते थे कि मै जल्द ही घर लौट जाऊँ। मेरे पिताजी पर एक बात का और भी ज़ोर पड़ा, और वह बात यह थी कि अगर मैं आई० सी० एस० हो जाता तो मुझे घर से दूर-दूर जगहों में रहना पड़ता। पिताजी और मा दोनों ही यह चाहते थे कि इतने दिनों तक अलग रहने के बाद मे उनके पास ही रहूँ। बस, पासा पुश्तैनी पेशे के यानी वकालत के पक्ष में पड़ा और म इनर टैम्पिल में भरती हो गया।

यह अजीब बात है कि राजनीति में गरम-दल की ओर झुकाव बढ़ता जाने पर भी आई० सी० एस० में शामिल होने को और इस तरह हिन्दुस्तान में ब्रिटिश-शासन-मशीन का एक पुरज़ा बनने के ख़याल को मैंने ऐसा बुरा नही समझा। आगे के सालों में इस तरह का ख़याल मुझे बहुत त्याज्य मालूम होता।

१९१० में अपनी डिग्री लेने के बाद मैं केम्ब्रिज से चला आया। ट्राइपस के इम्तिहान में मुझे मामूली सफलता मिली, दूसरे दर्जे में सम्मान के साथ पास हुआ। अगले दो साल मै लन्दन के इधर-उधर घूमता रहा। मेरी क़ानून की पढ़ाई में बहुत समय नही लगता था और बैरिस्टरी के एक के बाद दूसरे इम्तिहान में मैं पास होता रहा, हाँ; उसमें मुझे न तो सम्मान मिला न अपमान। बाक़ी वक्त मैंने यों ही

बिताया। कुछ आम किताबें पढ़ी, फैबियन और समाजवादी विचारों की ओर एक अस्पष्ट आकर्षण हुआ और उन दिनों के राजनैतिक आन्दोलन में भी दिलचस्पी हुई। आयर्लैण्ड के और स्त्रियों के मताधिकार के आन्दोलन में मेरी खास दिलचस्पी थी। मुझे यह भी याद है कि १९१० की गरमी में जब मैं आयर्लैण्ड गया तो सिनफ़िन-आन्दोलन की शुरुआत ने मुझे अपनी तरफ़ खीचा था।

इन्ही दिनों मुझे हॅरो के पुराने दोस्तों के साथ रहने का मौक़ा मिला और उनके साथ मेरी आदतें खर्चीली हो गई। पिताजी मुझे खर्च को काफ़ी रुपया भेजते थे, लेकिन मै अक्सर उससे भी ज्यादा ख़र्च कर डालता था। इसलिए उन्हें मेरे बारे में बड़ी चिन्ता हो गई थी और उन्हें अन्देशा हो गया कि कहीं मै बुरे रास्ते तो नहीं पड़ गया हूँ। परन्तु मैं दरहक़ीकत ऐसी कोई खास बात नहीं कर रहा था। मैं तो सिर्फ़, उन खुशहाल परन्तु कुछ हद तक खाली-दिमाग अंग्रेज़ों की नक़ल-भर कर रहा था जो 'मैन अबाउट टाउन' कहलाते थे। यह कहना बेकार है कि इस उद्देश-हीन आराम-तलबी की ज़िन्दगी से मेरी किसी तरह की कोई तरक्की नहीं हुई। मेरे पहले के हौसले ठंडे पड़ने लगे और खाली एक चीज़ जो बढ़ रही थी वह था मेरा घमण्ड।

छुट्टियों में मैंने कभी-कभी योरप के जुदा-जुदा देशों की भी सैर की। १९०९ की गरमी में जब काउन्ट ज़ैपलिन अपने नये हवाई जहाज़ में कौन्सटेन्स झील पर फ्रीडरिश शैफिन से उड़कर बर्लिन आये तब मै और पिताजी दोनों वहीं थे। मेरा ख़याल है कि वह उसकी सबसे पहली लम्बी उड़ान थी। इसलिए उस अवसर पर बड़ी खुशी मनाई गई और खुद क़ैसर ने उसका स्वागत किया। बर्लिन के टेम्पिलॉफ फ़ील्ड में जो भीड़ इकट्ठी हुई थी वह दस लाख से लेकर बीस लाख तक कूती गई थी। ज़ैपलिन ठीक समय पर आकर बड़ी वफ़ादारी के साथ हमारे आसपास चक्कर लगाने लगा। एडलॉ होटल ने उस दिन अपने सब निवासियों को काउन्ट ज़ैपलिन का एक-एक सुन्दर चित्र भेंट किया था। वह चित्र अबतक मेरे पास है।

कोई दो महीने बाद हमने पैरिस में वह हवाई जहाज देखा जो उस शहर पर पहले-पहल उड़ा और जिसने एफिल टावर के चक्कर पहले लगाये। मेरा खयाल है कि उड़ाके का नाम काम्टे डि लैम्बर्ट था। अठारह बरस बाद जब लिंडबर्ग अटलांटिक के उस पार से दमकते हुए तीर की तरह उड़कर पैरिस आया था तब भी मै वहाँ था।

१९१० में केम्ब्रिज से अपनी डिग्री लेने के बाद फौरन ही जब मै सैर-सपाटे के लिए नारवे गया हुआ था तब मैं बाल-बाल बचा। हम लोग पहाड़ी प्रदेश में पैदल घूम रहे थे। बुरी तरह थके हुए एक छोटे-से होटल में अपने मुकाम पर पहुँचे

और गरमी के मारे नहाने की इच्छा प्रकट की । वहाँ ऐसी बात पहले किसीने न सुनी थी । होटल में नहाने के लिए कोई इन्तजाम न था । लेकिन हमको यह बता दिया गया कि हम लोग पास की एक नदी में नहा सकते हैं । अतः मेज के या मुँह पोंछने के छोटे-छोटे तौलियों से, जो होटल ने हमें उदारतापूर्वक प्रदान किये थे, सुसज्जित होकर हम में से दो, एक मैं और एक नौजवान अंग्रेज़, पड़ोस के हिम-सरोवर से निकलती और दहाड़ती हुई तूफानी धारा में जा पहुँचे । मैं पानी में घुस गया । वह गहरा तो न था लेकिन ठंडा इतना था कि हाथ-पैर जमे जाते थे और उसकी ज़मीन बड़ी रपटीली थी । मैं फिसल कर गिर गया । बरफ़ की तरह ठंडे पानी से मेरे हाथ-पैर निर्जीव हो गये । मेरा शरीर और सारे अवयव सुन्न पड़ गये, मेरे पैर जम न सके, तूफानी धारा मुझे तेज़ी से बहाये ले जा रही थी, परन्तु मेरा अंग्रेज़ साथी किसी तरह बाहर निकलकर मेरे साथ भागने लगा और अन्त में किसी तरह मेरा पैर पकड़ने में कामयाब हुआ और मुझे बाहर खींच लिया । इसके बाद हमें यह मालूम हुआ कि हम कितने बड़े खतरे में थे; क्योंकि हमसे दो-तीन सौ गज की दूरी पर यह पहाड़ी धारा एक विशाल चट्टान के नीचे गिरती थी जिसका जल-प्रपात उस जगह की एक दर्शनीय चीज़ थी ।

१९१२ की गरमी में मैंने बैरिस्टरी पास करली और उसी साल शरद् ऋतु में मैं, कोई सात साल से ज्यादा इंगलैंड में रहने के बाद, आख़िर को हिन्दुस्तान लौट आया । इस बीच छुट्टी के दिनों में दो बार मैं घर गया था । परन्तु अब मैं हमेशा के लिए लौटा और मुझे शक है कि जब मैं बम्बई में उतरा तो कुछ ऐसा अभिमानी-सा था कि मेरे क़द्र किये जाने की बहुत कम गुंजाइश थी ।

# ५

## हिन्दुस्तान की युद्धकालीन राजनीति

१९१२ के आखिर में राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान बहुत सुस्त था। तिलक जेल में थे, गरम दलवाले कुचल दिये गये थे। किसी कारगर नेतृत्व के न होने से वे चुपचाप पड़े हुए थे। वंग-भंग दूर होने पर बंगाल में शान्ति हो गई थी और सरकार को कौंसिलों की मिन्टो-मॉरले योजना के मातहत माडरेटों को अपनी तरफ खीचने में पूरी तरह कामयाबी मिल गई थी। प्रवासी भारतीयों की समस्या के बारे में, खास तौर पर दक्षिण अफ्रीका में रहनेवाले भारतीयों की दशा के बारे में, कुछ दिलचस्पी ज़रूर थी। काँग्रेस माडरेटों के हाथ में थी। साल भर में एक बार उसका जलसा होता था और वह कुछ ढीले-ढाले प्रस्ताव पास कर देती थी। उसकी तरफ़ लोगों का ध्यान बहुत ही कम जाता था।

१९१२ की बड़े दिन की छुट्टियों में मै डेलीगेट की हैसियत से बांकीपुर की काँग्रेस में शामिल हुआ। बहुत हद तक वह अंग्रेज़ी जाननेवाले उच्च श्रेणी के लोगों का मजमा था, जिसमें सुबह पहनने के कोट और सुन्दर इस्तरी किये हुए पतलून बहुत दिखाई देते थे। वस्तुतः वह एक प्रकार का सामाजिक उत्सव था, जिसमें किसी प्रकार की राजनैतिक उत्तेजना या खींचा-तानी न थी। गोखले, जो हाल ही अफ्रीका से लौटकर आये थे, उसमें शामिल हुए थे। उस अधिवेशन के प्रमुख पुरुष वही थे। उनकी तेजस्विता, उनकी सचाई और उनकी शक्ति से वहाँ आये उन थोड़े-से व्यक्तियों में वही एक ऐसे मालूम होते थे जो राजनीति और सार्वजनिक मामलों पर संजीदगी से विचार करते थे और उनके सम्बन्ध में गहराई से सोचते थे। मेरे ऊपर उनका अच्छा प्रभाव पड़ा।

जब गोखले बांकीपुर से लौट रहे थे तब एक खास घटना हो गई। वह उन दिनों पब्लिक सर्विस कमीशन के सदस्य थे। उस हैसियत से उन्हें अपने लिए एक फर्स्ट-क्लास का डब्बा रिज़र्व कराने का हक़ था। उनकी तबीयत ठीक न थी और लोगों की भीड़ से तथा बेमेल साथियों से उनके आराम में खलल पड़ता था। इसलिए वह चाहते थे कि उन्हें एकान्त में चुपचाप पड़ा रहने दिया जाय और काँग्रेस के अधिवेशन के बाद वह उत्सुक थे कि सफ़र में उन्हें शान्ति मिले। उन्हें उनका डब्बा मिल गया, लेकिन बाक़ी गाड़ी कलकत्ता लौटनेवाले प्रतिनिधियों से ठसाठस भरी हुई थी। कुछ समय के बाद भूपेन्द्रनाथ वसु, जो बाद में जाकर इंडिया कौंसिल के मेम्बर

हुए, गोखलेजी के पास गये और यों ही बातचीत में उनसे पूछने लगे कि क्या मैं आपके डब्बे में सफ़र कर सकता हूँ ? यह सुनकर पहले तो गोखले कुछ चौंके, क्योंकि वसु महाशय वड़े बातूनी थे, लेकिन फिर स्वभाव-वश वह राज़ी हो गये। चन्द मिनट बाद वसु फिर श्री गोखले के पास आये और उनसे कहने लगे कि अगर मेरे एक और दोस्त आपके साथ इसी कम्पार्टमेण्ट में चले चलें तो आपको तकलीफ़ तो न होगी ? गोखले ने फिर चुप-चाप 'हाँ' कर दिया। ट्रेन छूटने से कुछ समय पहले वसु साहब ने फिर उसी ढंग से कहा कि मुझे और मेरे साथी को ऊपर की बर्थो पर सोने में बहुत तकलीफ़ होगी, इसलिए अगर आपको तकलीफ न हो तो आप ऊपर की बर्थ पर सो जायँ और हम दोनों नीचे की दोनों बर्थो पर सो जायँ। मेरा ख़याल है कि अन्त में यही हुआ और बेचारे गोखले को ऊपरी बर्थ पर चढ़कर जैसे-तैसे रात बितानी पड़ी।

मैं हाइकोर्ट मे वकालत करने लगा। कुछ हद तक मुझे अपने काम में दिलचस्पी आने लगी। योरप से लौटने के बाद शुरू-शुरू के महीने बड़े आनन्द के थे। मुझे घर आने और वहाँ आकर पुरानी मेल-मुलाक़ातों को ताजा कर लेने से ख़ुशी हुई। परन्तु धीरे-धीरे, अपनी तरह के अधिकांश लोगों के साथ-साथ, मुझे जिस तरह की जिन्दगी बितानी पड़ती थी, उसकी सब ताज़गी ग़ायब होने लगी और मैं यह महसूस करने लगा कि मैं बेकार और उद्देश-हीन जीवन की नीरस ख़ाना-पूरी मे ही फँस रहा हूँ। मेरे मन में अपनी परिस्थितियों से जो असन्तोष था उसके लिए मैं समझता हूँ कि मेरी दोग़ली या कम-से-कम खिचड़ी शिक्षा जिम्मेदार थी। इंग्लैण्ड की अपनी सात बरस की ज़िन्दगी में मेरी जो आदतें और जो भावनायें बन गई थी वे जिन चीज़ों को मैं यहाँ देखता था उनसे मेल नही खाती थी। सौभाग्य से मेरे घर का वायु-मण्डल बहुत अनुकूल था और उससे कुछ शान्ति भी मिलती थी। परन्तु उतना भी काफ़ी न था। उसके बाद तो वही बार-लाइब्रेरी, वही क्लब और दोनों में वही साथी, जो आम तौर पर उन्हीं क़ानूनी पेशे सम्बन्धी पुराने विषयो पर ही बार-बार बातें करते थे। निस्सन्देह यह वायु-मण्डल ऐसा न था जिससे बुद्धि को कुछ स्फूर्ति मिले और मेरे मन में जीवन के नितान्त नीरसपन या मनहूसी का भाव घर करने लगा। वहाँ विनोद या प्रमोद की बातें कहने को भी न थीं।

ई० एम० फॉर्स्टर ने हाल ही में लावेज डिकिसन की जो जीवनी लिखी है, उसमें उन्होंने लिखा है कि डिकिसन ने एक बार हिन्दुस्तान के बारे में कहा था कि, "ये दोनों जातियाँ ( यूरोपियन और हिन्दुस्तानी ) एक दूसरे से क्यों नहीं मिल सकतीं ? महज़ इसलिए कि हिन्दुस्तानियों से अँग्रेज़ ऊब जाते हैं; यही सीधा और कठोर

सत्य है।" यह सम्भव है कि बहुतसे अंग्रेज़ यही महसूस करते हों और इसमें कोई आश्चर्य की बात भी नही है। दूसरी पुस्तक में फ़ॉर्स्टर ने कहा है, कि हिन्दुस्तान में हरेक अंग्रेज़ यही महसूस करता है और उसीके मुताबिक बर्ताव करता है कि वह जीते हुए देश पर क़ब्ज़ा बनाये रखनेवाली सेना का एक सदस्य है और ऐसी हालत में दोनों जातियों में परस्पर सहज और संकोचहीन सम्बन्ध स्थापित होना असंभव है। हिन्दुस्तानी और अंग्रेज़ दोनों ही एक-दूसरे के सामने बनते हैं और स्वभावतः दोनों एक-दूसरे के सामने असुविधा महसूस करते हैं। दोनों एक-दूसरे से ऊबे रहते हैं और जब दोनों ही एक-दूसरे से अलग होते हैं तो उन्हें ख़ुशी होती है और वे आज़ादी के साथ साँस लेते तथा फिर से स्वभाविक रूप में चलने-फिरने लगते हैं।

आम तौर पर अंग्रेज़ उन एक ही क़िस्म के हिन्दुस्तानियों से मिलते हैं जिनका हाकिमों की दुनिया से ताल्लुक रहता है। वास्तव में भले और बढ़िया लोगों तक उनकी पहुँच ही नही होती और अगर ऐसा कोई शख़्स उन्हें मिल भी जाय, तो वे उससे जी खोलकर बात करने को तैयार नही कर पाते। हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन ने, सामाजिक मामलों में भी, हाकिमों की श्रेणी को ही महत्त्व देकर आगे बढ़ाया है। इनमें हिन्दुस्तानी और अंग्रेजी दोनों ही तरह के हाकिम आ जाते है। इस वर्ग के लोग खास तौर पर मट्ठे और तंग ख़याल के होते हैं। एक सुयोग्य अंग्रेज़ नौजवान भी हिन्दुस्तान में आने पर शीघ्र ही एक प्रकार की मानसिक और सांस्कृतिक तन्द्रा में ग्रस्त होकर तथा समस्त सजीव विचारों और आन्दोलनो से अलग हो जाता है। दफ्तर में, दिन-भर हमेशा चक्कर लगाती रहनेवाली अथाह और अनन्त फाइलों में, सिर खपाने के बाद ये हाकिम थोड़ा-सा व्यायाम करते हैं। फिर वहाँ से अपने समाज के लोगों से मिलने-जुलने को क्लब में चले जाते है, वहाँ व्हिस्की पीते है तथा इंग्लैंड से आये हुए 'पंच' आदि सचित्र साप्ताहिक पत्र पढ़ते हैं। किताब तो वे शायद ही पढ़ते हों। पढ़ते भी होंगे तो अपनी किसी पुरानी मनचाही किताब को ही। इसपर भी अपने इस क्रमशः मानसिक ह्रास के लिए वे हिन्दुस्तान पर दोष मढ़ते हैं, यहाँ की आबोहवा को कोसते है और आम तौर पर आन्दोलन करनेवालों को बददुआ देते हैं जो उनकी दिक्क़तें बढ़ाते हैं। लेकिन यह महसूस नही कर पाते कि उनके मानसिक और सांस्कृतिक क्षय का कारण वह मज़बूत नौकरशाही तथा स्वेच्छाचारी शासन-प्रणाली है जो हिन्दुस्तान में प्रचलित है और वह खुद जिसका एक छोटा-सा पुर्जा है।

इतनी छुट्टियाँ और फर्लो मिलने पर भी जब अंग्रेज़ हाकिमों की यह हालत है तो हिन्दुस्तानी अफ़सर जो उनके साथ या उनके मातहत काम करते हैं वे उनसे बेहतर कैसे

हो सकते हैं, क्योंकि वे तो अंग्रेज़ी नमूने की नक़ल करने की कोशिश करते हैं। साम्राज्य की राजधानी नई दिल्ली में ऊँचे हिन्दुस्तानी और अंग्रेज़ हाकिमों के पास बैठकर तरक्क़ी, छुट्टी के क़ायदों, तबादलों और नौकर तथा नौकरों की रिश्वतखोरी तथा बेईमानियों वग़ैरा के किस्सों को सुनने से ज्यादा जी घबरानेवाली बात शायद ही कोई हो।

शायद कुछ हद तक कलकत्ता, बम्बई जैसे शहरों को छोड़कर बाक़ी सब जगहों में इस हाकिमाना और 'सर्विस' के वातावरण ने हिन्दुस्तान की मध्य श्रेणी के लगभग तमाम लोगों की जिन्दगी पर, खास तौर पर अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों के जीवन पर, चढ़ाई करके उसे अपने रंग में रंग दिया है। पेशेवर लोग—जैसे वकील, डाक्टर तथा दूसरे लोग भी—उसके शिकार हो गये, और अर्द्धसरकारी विश्वविद्यालयों के शिक्षा-भवन भी उससे न बच सके। ये सब लोग अपनी एक अलग दुनिया में रहते हैं जिसका सर्व-साधारण से तथा मध्यम श्रेणी के नीचे के लोगों से क़तई कोई ताल्लुक नहीं है। उन दिनों राजनीति इसी ऊपर की तह के लोगों तक महदूद थी। बंगाल में १९०६ के राष्ट्रीयता के आन्दोलन ने ज़रा इस वस्तुस्थिति को झकझोर कर बंगाल के मध्यम श्रेणी के नीचे के लोगों में और कुछ हद तक जनता में भी नई जान डाल दी। आगे चलकर गाँधीजी[१] के नेतृत्व में यह सिलसिला और तेजी से बढ़ने को था।

१. मैंने इस पुस्तक में सब जगह महात्मा गांधी के बजाय गाँधीजी लिखा है, क्योंकि वह खुद 'महात्मा गांधी' के बदले 'गांधीजी' कहा जाना पसन्द करते हैं। परन्तु अंग्रेज़ लेखकों के लेखों व पुस्तकों में मैंने इस 'जी' की विचित्र व्याख्यायें देखी हैं। कुछ ने कल्पना कर ली है कि वह प्यार का शब्द है और गांधीजी के मानी हैं, 'नन्हे से प्यारे गांधी'। यह बिलकुल वाहियात है और इससे यही मालूम होता है कि ऐसा लिखनेवालों को भारतीय जीवन के बारे में कितना अज्ञान है। हिन्दुस्तान में 'जी' एक सबसे ज्यादा मामूली शब्द है जो मर्द, औरत, लड़के, लड़की, बच्चे सबके नाम के आगे अन्धाधुन्ध लगा दिया जाता है। उसमें सम्मान का भाव ज़रूर रहता है, जैसे कि 'मिस्टर' और 'मिसेज़' में रहता है। दरबारी मुहावरों में और नामों के आगे-पीछे के शब्दों तथा सम्मान्य उपाधियों में हिन्दुस्तानी भाषा बहुत भरपूर है। 'जी' बिलकुल शुद्ध होते हुए भी इन सबसे ज्यादा सरल और घरेलू है, हालांकि अपने बहनोई रणजीत एस० पण्डित से मुझे मालूम हुआ कि 'जी' की वंश-परम्परा बहुत पुरानी तथा प्रतिष्ठित है। वह संस्कृत के 'आर्य' शब्द से ( नाज़ियों का आर्यन नहीं ) निकला है जिसके मानी हैं सज्जन या कुलीन। प्राकृत में यही आर्य 'अज्ज' हो गया। उससे सरल 'जी' निकला।

परन्तु राष्ट्रीय संग्राम जीवनप्रद होने पर भी वह एक संकीर्ण सिद्धान्त होता है और वह अपनेमें इतनी अधिक शक्ति तथा इतना अधिक ध्यान लगवा लेता है कि दूसरे कामों के लिए कुछ नहीं बचता ।

इसलिए इंगलैण्ड से लौटने के बाद उन शुरू के सालों में, मैं जीवन से असन्तोष अनुभव करने लगा । अपने वकालत के पेशे में मुझे पूरा उत्साह नहीं था । राजनीति के मानी मेरे मन में यह थे कि विदेशी शासन के खिलाफ़ आक्रमणकारी राष्ट्रीय आन्दोलन हो । लेकिन उस समय की राजनीति में इसके लिए कोई गुंजाइश नही थी । मैं कांग्रेस में शरीक हो गया और उसकी बैठकों में जाता रहता । फिजी में हिन्दुस्तानी मज़दूरों के लिए शर्तबन्दी कुली-प्रथा के खिलाफ़ या दक्षिण अफ्रीका में प्रवासी भारतियों के साथ दुर्व्यवहार किये जाने के खिलाफ़ यानी ऐसे ख़ास मौक़ों पर जब कभी कोई आन्दोलन खड़ा होता तो मैं अपनी पूरी ताक़त से उसमें जुटकर ख़ूब मेहनत करता । लेकिन ये काम तो सिर्फ कुछ समय के लिए ही होते थे ।

शिकार जैसे दूसरे कामों में मैंने अपना जी बहलाना चाहा, लेकिन उनकी तरफ मेरी ख़ास रग़बत या झुकाव न था । बाहर जाना और जंगलों में घूमना तो मुझे अच्छा लगता था, लेकिन इस बात की ओर मैं कम ध्यान देता कि कोई जानवर मारूं । सच बात तो यह है कि मैं जानवरों को मारने के लिए कभी मशहूर नहीं हुआ, हालांकि एक दिन कश्मीर में थोड़े-बहुत इत्तिफ़ाक़ से ही एक रीछ के मारने में मुझे कामयाबी मिल गई थी । शिकार के लिए मेरे मन में जो थोड़ा-बहुत उत्साह था वह भी एक छोटे-से बारहसिंगे के साथ जो घटना हुई उससे ठंडा पड़ गया । यह छोटा-सा निर्दोष अहिंसक पशु चोट से मरकर मेरे पैरों पर गिर पड़ा और अपनी आँसूभरी बड़ी-बड़ी आँखों से मेरी तरफ देखने लगा । तबसे उन आँखों की मुझे अक्सर याद आ जाती है ।

उन शुरू के सालों में श्री गोखले की भारत-सेवक-समिति की ओर भी मेरा आकर्षण हुआ था । मैंने उसमें शामिल होने की बात तो कभी नहीं सोची । कुछ तो इसलिए कि उनकी राजनीति मेरे लिए बहुत ही नरम थी और कुछ इसलिए कि उन दिनों अपना पेशा छोड़ने का मेरा कोई इरादा न था । परन्तु समिति के मेम्बरों के लिए मेरे दिल में बड़ी इज़्ज़त थी; क्योंकि उन्होंने निर्वाह मात्र पर अपनेको स्वदेश की सेवा में लगा दिया था । मैंने दिल में कहा कि कम-से-कम यह एक ऐसी समिति है जिसके लोग एकाग्र-चित्त होकर लगातार सीधे काम करते हैं, फिर चाहे वह काम सोलहों आने ठीक दिशा में भले ही न हो ।

मगर एक छोटे-से मामले में, जिसका राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं था, श्री

श्रीनिवास शास्त्री ने मेरे दिल को बड़ा धक्का पहुँचाया। वह इलाहाबाद में विद्यार्थियों की एक सभा में भाषण दे रहे थे। उन्होंने विद्यार्थियों से कहा कि अपने शिक्षकों और प्रोफ़ेसरों की इज्ज़त करो, उनकी आज्ञा मानो और वैध अधिकारियों द्वारा जो क़ायदे-क़ानून बना दिये जायँ उनका सावधानी के साथ पालन करो। उनकी ये भली-भली बातें मुझे ज़रा भी पसन्द न आईं। ये सब पुरानी और मामूली बातें थीं और सो भी अवाञ्छनीय; क्योंकि उनमें सत्तावाद पर अधिक जोर दिया गया था। मैंने सोचा कि शायद यह इसलिए हो कि हिन्दुस्तान में अर्द्ध सरकारी वातावरण फैला हुआ है। मगर श्री शास्त्री ने आगे बढ़कर विद्यार्थियों को आदेश दिया कि वे एक-दूसरे के अकर्मों और कुकर्मों की रिपोर्ट अधिकारियों को तुरन्त करदें। दूसरे शब्दों में वे एक-दूसरे का भेद लेते रहें और भेद देनेवालों का काम करें। यद्यपि श्री शास्त्री ने इन सख़्त शब्दों का व्यवहार नहीं किया था, लेकिन मुझे उनके मानी साफ़ दिखाई दे रहे थे। मैं एक बड़े नेता की इस दोस्ताना सलाह को सुनकर दंग रह गया। मैं उन दिनों नया-नया ही इंग्लैण्ड से लौटा था, और वहाँ मेरे स्कूल व कॉलेज में मेरी जिस शिक्षा पर सबसे ज्यादा ज़ोर दिया गया था, वह यही थी कि अपने साथी के साथ कभी विश्वासघात मत करो। सौजन्य के नियमों के ख़िलाफ़ इससे बड़ा पाप और कोई न था कि आप छिपकर सुनें और भेद देकर अपने साथी को विपत्ति में डालें। इस सिद्धान्त को यकायक इस तरह सोलहों आने उलटा जाता देखकर मुझे बहुत बेचैनी हुई और मैंने यह अनुभव किया कि मुझे जो सदाचार सिखाया गया है उसमें और श्री शास्त्री के सदाचार में ज़मीन-आस्मान का अन्तर है।

विश्व-व्यापी महा-युद्ध में हमारा ध्यान लग गया, हालाँकि वह हमसे बहुत दूर हो रहा था। शुरू में उससे हमारे जीवन पर ऐसा ज्यादा प्रभाव नहीं पड़ा और हिन्दुस्तान ने तो उसकी वीभत्सता का पूरा रूप अनुभव भी नहीं किया। राज-नीति के बरसाती नाले बहते और लोप हो जाते थे। ब्रिटिश डिफ़ेन्स आफ रिएल्म एक्ट की तरह जो भारत-रक्षा नामक क़ानून बना था, वह देश को ज़ोर से जकड़े हुए था। लड़ाई के दूसरे साल से ही षड़यन्त्रों की और गोलियों से मारे जाने की खबरें आने लगीं। उधर पंजाब में रंगरूटों की जबरन भरती की खबरें सुनाई देती थीं।

यद्यपि लोग ज़ोर-ज़ोर से राजभक्ति का राग अलापते थे तो भी अंग्रेज़ों के साथ उनकी बहुत ही कम हमदर्दी थी। जर्मनी की जीत की ख़बरें सुनकर माडरेट और गरम-दलवाले दोनों को ही खुशी होती थी। यह नहीं कि किसीको जर्मनी से कोई प्रेम था, बल्कि यह इच्छा थी कि हमारे प्रभुओं को नीचा देखना पड़े।

असल में यह ऐसा ही खुशी का भाव था, जैसा कमजोर और असहाय मनुष्यों के मन में अपनेसे ज़बरदस्त के दूसरे से पीटे जाने की खबर सुनकर होता है। मेरा ख़याल है कि हममें से अधिकांश इस लड़ाई के बारे में मिश्रित भाव रखते थे। जितने राष्ट्र लड़ रहे थे, उनमें मेरी हमदर्दी सबसे ज्यादा फ्रान्स के साथ थी। मित्र राष्ट्रों की ओर से बेहयाई के साथ जो प्रचार लगातार किया गया, उसका कुछ असर ज़रूर पड़ा, यद्यपि हम लोग उसकी सब बातें सही न मानने की काफ़ी कोशिश करते थे।

धीरे-धीरे फिर राजनैतिक जीवन बढ़ने लगा। लोकमान्य तिलक जेल से बाहर आ गये और उन्होंने तथा मिसेज़ बेसेन्ट ने होमरूल-लीगें कायम की। मै दोनों लीगों मे शामिल हुआ, लेकिन काम मैंने ख़ास तौर पर मिसेज़ बेसेन्ट की लीग के लिए ही किया। हिन्दुस्तान के राजनैतिक मंच पर मिसेज़ बेसेन्ट दिन-दिन अधिक भाग लेने लगीं। कॉंग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों में कुछ अधिक जोश भर गया और मुस्लिम लीग कॉंग्रेस के साथ-साथ चलने लगी। वायु-मण्डल में बिजली-सी दौड़ गई और हम-जैसे अधिकांश नवयुवकों का दिल फड़कने लगा। नज़दीक भविष्य में हम बड़ी-बड़ी बातें होने की उम्मीद करने लगे। मिसेज़ बेसेन्ट की नज़रबन्दी से पढ़े-लिखे लोगों में बहुत उत्तेजना बढ़ी और उसने देश-भर में होमरूल-आन्दोलन में जान डाल दी। होमरूल-लीगों में न सिर्फ़ वे पुराने गरम-दलवाले ही शामिल हुए जो १९०७ से कॉंग्रेस से बाहर रक्खे जाते थे, बल्कि मध्यम श्रेणी के लोगों में से बहुत-से नये कार्यकर्त्ता भी आये। लेकिन आम जनता को इन लीगों ने छुआ तक नहीं।

मिसेज़ बेसेन्ट की नजरबन्दी से बुड्ढों में खलबली मच गई, जिनमें कई माडरेट लीडर भी थे। मुझे याद है कि नजरबन्दी से कुछ दिन पहले तक अखबारों में श्री श्रीनिवास शास्त्री के वक्तृत्वपूर्ण भाषणों को पढ़कर हम लोगों के दिल कैसे हिल जाते थे। लेकिन नजरबन्दी से ठीक पहले या उसके बाद से श्री शास्त्री चुप हो गये। जब काम का वक़्त आया तब वह हमें बिलकुल छोड़ गये और एक ऐसे वक़्त पर, जब सबसे ज्यादा नेतृत्व की ज़रूरत थी, उनकी चुप्पी पर हममें बहुत मायूसी और नाराज़गी फैली। तबसे मेरे दिल में यह विश्वास घर कर गया है कि श्री शास्त्री कर्मवीर नहीं है और संकट-काल उनकी प्रतिभा के अनुकूल नहीं पड़ता।

लेकिन दूसरे माडरेट लीडर आगे बढ़ते गये। उनमें से कुछ तो बाद को पीछे हट गये, कुछ जहाँ पहुँच चुके थे वहीं डटे रहे। मुझे याद है कि यूरोपियन डिफेंस फ़ोर्स के ढंग पर सरकार हिन्दुस्तान में मध्यम-वर्ग के लोगों में से जिस नये इण्डियन डिफेंस फ़ोर्स का संगठन कर रही थी, उनके बारे में बड़ी बहसें होती थीं। कई मामलों

में इस हिन्दुस्तानी डिफेंस फ़ोर्स के साथ वह व्यवहार नही किया जाता था, जो यूरोपियन डिफेंस फ़ोर्स के साथ किया जाता था, और हममें से बहुतों को यह महसूस हुआ कि जबतक ये सब अपमान-जनक भेद-भाव न मिटा दिया जाय तबतक हमें इस फ़ोर्स से सहयोग न करना चाहिए। लेकिन बहुत बहस के बाद आख़िर हम लोगों ने संयुक्त-प्रान्त में सहयोग करना ही तय किया, क्योंकि यह सोचा गया कि इन हालतों से भी हमारे नौजवानों के लिए यह अच्छा है कि वे फौजी शिक्षा ग्रहण करें। मैंने इस फ़ोर्स में दाख़िल होने के लिए अपनी अर्ज़ी भेज दी और उस तजवीज़ को बढ़ाने के लिए हम लोगों ने इलाहाबाद में एक कमिटी भी बना ली। इसी समय मिसेज़ बेसेन्ट की नज़रबन्दी हुई और उस क्षण के जोश में मैंने कमिटी के मेम्बरों को, जिनमें पिताजी, डॉक्टर तेजबहादुर सप्रू, श्री सी० वाई० चिन्तामणि तथा दूसरे माडरेट लीडर शामिल थे, इस बात के लिए राज़ी कर लिया कि वे अपनी मीटिंग रद कर दें और सरकार की नज़रबन्दी वाली हरकत के विरोध-स्वरूप डिफेंस फ़ोर्स के सिलसिले में दूसरे सब काम भी बन्द करदें। तुरन्त ही इस मतलब का एक आम नोटिस निकाल दिया गया। मेरा ख़याल है कि लड़ाई के वक़्त में ऐसा लड़ाकू काम करने के लिए इनमें से कुछ लोग पीछे बहुत पछताये।

मिसेज़ बेसेन्ट की नज़रबन्दी का नतीजा यह हुआ कि पिताजी तथा दूसरे माडरेट लीडर होमरूल-लीग में शामिल हो गये। कुछ महीने बाद इन माडरेट नेताओं में से कुछ ने होमरूल-लीग से इस्तीफ़ा दे दिया। मेरे पिताजी उसके मेम्बर बने रहे और उसकी इलाहाबाद वाली शाखा के सभापति भी बन गये।

धीरे-धीरे पिताजी कट्टर माडरेटों की स्थिति से अलग हटते जा रहे थे। उनकी प्रकृति, जो सत्ता हमारी उपेक्षा करती थी और हमारे साथ हिक़ारत का बर्ताव करती थी, उससे ज्यादा दबने और उसीसे अपील करने के ख़िलाफ़ बग़ावत करती थी; परन्तु पुराने गरम-दल के नेता उन्हें आकर्षित नहीं करते थे। उनकी भाषा और उनके ढंग उन्हें कर्ण-कटु मालूम होते थे। मिसेज़ बेसेन्ट की नज़रबन्दी की घटनाओं का उनके ऊपर काफ़ी असर पड़ा, लेकिन आगे क़दम रखने से पहले वह अब भी हिचकते थे। अक्सर वह उन दिनों यह कहा करते थे कि माडरेटों के तरीक़ों से कुछ नहीं हो सकता, लेकिन साथ ही जबतक हिन्दू-मुस्लिम सवाल का हल नहीं मिलता तबतक दूसरा भी कोई कारगर काम नहीं किया जा सकता। वह वादा करते थे कि अगर इसका हल मिल जाय तो मैं आपमें से तेज़-से-तेज़ के साथ कदम मिलाकर चलने को तैयार हूँ। हमारे ही घर में आल-इंडिया कांग्रेस-कमिटी की मीटिंग में वह ज्वाइण्ट कांग्रेस-लीग-योजना बनी जिसे १९१६ ईस्वी में कांग्रेस ने लखनऊ में मंजूर किया। इस बात से

पिताजी बड़े खुश हुए; क्योंकि इससे सम्मिलित उद्योग का रास्ता खुल गया । उस समय वह माडरेट दल के अपने पुराने साथियों से बिगाड़कर भी हमारे साथ चलने को तैयार थे । भारत-मंत्री की हैसियत से एडविन मान्टेगु ने हिन्दुस्तान में जो दौरा किया उसके पहले और दौरे के दर्मियान माडरेट और पिताजी साथ-साथ रहे । लेकिन मान्टेगु-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट के प्रकाशन के बाद तुरन्त ही मत-भेद शुरू हो गया । १९१८ में लखनऊ में सूबे की एक विशेष कान्फ्रेंस हुई । पिताजी इसके सभापति थे । इसी-में वह, सदा के लिए, माडरेटों से अलग हो गये । माडरेटों को डर था कि यह कान्फ्रेंस मान्टेगु-चेम्सफ़ोर्ड प्रस्तावों के ख़िलाफ़ कड़ा रुख़ अख़्त्यार करेगी । इसलिए उन्होंने उसका बायकाट कर दिया । इसके बाद इन प्रस्तावों पर विचार करने के लिए काँग्रेस का जो विशेष अधिवेशन हुआ उसका भी उन्होंने बायकाट किया । तबसे अबतक वे काँग्रेस से बाहर है ।

माडरेटों ने जो ढंग अख़्त्यार किया वह यह था कि वे काँग्रेस के अधिवेशनों तथा दूसरे आम जलसों से चुपचाप अलग होकर दूर रहें और बहुमत के ख़िलाफ़ होने पर वहाँ जाकर अपना दृष्टि-कोण भी न रक्खें और न उसके लिए लड़ें । यह ढंग बहुत ही भद्दा और अनुचित मालूम हुआ । मेरा ख़याल है कि देश में अधिकांश लोगों का यही आम ख़याल था, और मुझे विश्वास है कि हिन्दुस्तान की राजनीति में माडरेटों का प्रभाव जो प्रायः सोलहों आने जाता रहा, वह एक हद तक उनके इस डरपोकपन के कारण भी हुआ । मेरा ख़याल है कि अकेले श्री शास्त्री ही एक ऐसे माडरेट नेता थे जो काँग्रेस के शुरू के उन कुछ जलसों में भी शामिल हुए जिनका माडरेट दल ने बायकाट कर दिया था और उन्होने अपने अकेले का दृष्टि-कोण वहाँ रक्खा । इसकी बदौलत पब्लिक की निगाह में उनकी इज्ज़त बढ़ गई ।

लड़ाई के शुरू के सालों में मेरे अपने राजनैतिक और सार्वजनिक कार्य साधारण ही थे और मै आम सभाओं में व्याख्यान देने से बचा रहा । अभीतक मुझे पब्लिक में व्याख्यान देने में डर व झिझक मालूम होती थी । कुछ हद तक इसकी वजह यह भी थी कि मैं यह महसूस करता था कि सार्वजनिक व्याख्यान अंग्रेज़ी में तो होने नही चाहिएँ और हिन्दुस्तानी में देर तक बोलने की अपनी योग्यता में मुझे सन्देह था । मुझे वह छोटी-सी घटना याद है जो उस समय हुई जब मुझे इस बात के लिए मजबूर कर दिया गया कि मै पहले-पहल इलाहाबाद में सार्वजनिक भाषण दूं । सम्भवतः यह १९१५ में हुआ । लेकिन तारीख़ के बारे में मैं ठीक-ठीक नहीं कह सकता । इसके अलावा पहले क्या हुआ और फिर क्या यह तरतीब भी मुझे साफ़-साफ़ याद नहीं है । प्रेस का मुँह बन्द करनेवाले एक क़ानून के विरोध में सभा होनेवाली थी और उसमें

मुझे यह मौक़ा मिला था। मैं बहुत थोड़ा बोला, सो भी अंग्रेज़ी में। ज्यों ही मीटिंग ख़त्म हुई मुझे इस बात से बड़ी सकुचाहट हुई कि डॉक्टर तेजबहादुर सप्रू ने मंच पर पब्लिक के सामने मुझे छाती से लगाकर प्यार से चूमा। मैंने जो-कुछ या जिस तरह कहा उसपर वह खुश हुए हों सो बात नहीं; बल्कि उनकी इस बेहद ख़ुशी का सबब सिर्फ़ यह था कि मैंने आम सभा में व्याख्यान दिया और इस तरह सार्वजनिक कार्य के लिए एक नया रंगरूट मिल गया। उन दिनों सार्वजनिक काम दर-असल महज़ व्याख्यान देना ही था।

मुझे याद है कि उन दिनों हमें, इलाहाबाद के बहुतसे नौजवानों को, यह भी आशा थी कि डॉक्टर सप्रू मुमकिन है कि राजनीति में कुछ आगे कदम रक्खें। शहर में माडरेट दल के जितने लोग थे उन सबमें उन्हींसे इस बात की सबसे ज्यादा संभावना थी; क्योंकि वह भावुक थे और कभी-कभी मौके पर उत्साह की लहर में बह जाते थे। उनके मुकाबले में पिताजी बहुत ठंडे मालूम होते थे, हालाँकि उनकी इस बाहरी चादर के नीचे काफ़ी आग थी। लेकिन पिताजी की दृढ़ इच्छा-शक्ति के कारण हमें उनसे बहुत कम उम्मीद रह गई थी, और कुछ वक्त के लिए हमें सचमुच डॉक्टर सप्रू से ज्यादा उम्मीदें थी। इसमें तो कोई शक नहीं कि अपनी लम्बी सार्वजनिक सेवाओं के कारण पण्डित मदनमोहन मालवीय हमें अपनी तरफ़ खीचते थे और हम लोग उनसे देर-देर तक बातें करते तथा उनपर यह जोर डालते थे कि वह ज़ोर के साथ मुल्क का नेतृत्व करें।

उस ज़माने में, घर में राजनैतिक सवाल चर्चा और बहस के लिए शान्तिमय विषय नहीं था—उसकी चर्चा अक्सर होती थी, लेकिन चर्चा होते ही तनातनी होने लगती थी। गरमदल की तरफ़ जो मेरा बढ़ता हुआ झुकाव था उसे पिताजी बड़े ग़ौर से देख रहे थे; ख़ास तौर पर बातूनी राजनीति के बारे में मेरी नुक्ताचीनियों को और कार्य के लिए की जानेवाली मेरी लगातार माँग को। मुझे भी यह बात साफ़-साफ़ नहीं दिखाई देती थी कि क्या काम होना चाहिए और पिताजी कभी-कभी ख़याल करते थे कि मैं सीधे उस हिंसात्मक काम की तरफ़ जा रहा हूँ जिसको बंगाल के नौजवानों ने अख़्त्यार किया था। इससे वह बहुत ही चिन्तित रहते थे, जब कि दरअसल मेरा आकर्षण उस तरफ़ न था। हाँ, यह ख़याल मुझे हर वक्त घेरे रहता था कि हमें मौजूदा हालत को चुपचाप नहीं बरदाश्त करना चाहिए, और कुछ-न-कुछ ज़रूर करना चाहिए। राष्ट्रीय दृष्टि से किसी काम को सफल करना बहुत आसान नहीं दिखाई देता था। लेकिन मैं यह महसूस करता था कि स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान दोनों ही यह चाहते हैं कि विदेशी हुकूमत के ख़िलाफ़ अधिक लड़ाकू और आक्रामक रवैया अख़्त्यार

किया जाय। पिताजी खुद माडरेटों की विचार-पद्धति से असन्तुष्ट थे और उनके मन के भीतर द्वन्द्व-युद्ध मच रहा था। वह इतने हठी थे कि जबतक इस बात का पूरा-पूरा विश्वास न हो जाय कि ऐसा करने के अलावा और कोई चारा नहीं तबतक वह एक स्थिति को छोड़कर दूसरी को कभी न अपनाते। आगे रक्खे जानेवाले हरेक क़दम के मानी यह थे कि उनके मन में कठिन और कठोर द्वन्द्व हो, लेकिन अपने मन से इस तरह लड़ने के बाद जब वह कोई क़दम आगे रख देते तब फिर पीछे पैर नहीं हटाते थे। उन्होंने आगे जो क़दम बढ़ाया वह किसी उत्साह के झोंके में नहीं बल्कि बौद्धिक विश्वास के फलस्वरूप, और एकबार आगे क़दम रख लेने के बाद उनका सारा अभिमान उन्हें पीछे मुड़कर देखने से भी रोकता था।

उनकी राजनीति में बाह्य परिवर्तन मिसेज़ बेसेण्ट की नजरबन्दी के वक्त से आया और तबसे वह कदम-ब-कदम आगे ही बढ़ते गये और अपने माडरेट दोस्तों को पीछे छोड़ते गये। अन्त में १९१९ में पंजाब में जो दुःखान्त काण्ड हुआ उसने उन्हें हमेशा के लिए अपने पुराने जीवन और अपने पेशे से अलग काट फेंका और उन्होंने गाँधीजी के चलाये नये आन्दोलन के साथ अपने भाग्य की डोर बाँध दी।

लेकिन यह बात तो आगे जाकर होने को थी और १९१५ से १९१७ तक तो वह यह तय ही नहीं कर पाये कि क्या करना चाहिए। एक तो उनके अपने मन में तरह-तरह की शंकायें उठ रही थीं, दूसरे वह मेरी वजह से चिन्तित थे। इसलिए वह उन दिनों के सार्वजनिक प्रश्नों पर शान्ति-पूर्वक बात-चीत नहीं कर सकते थे। अक्सर यह होता था कि बात-चीत में वह गुस्सा हो जाते और हमें बात जहाँ-की-तहाँ खतम कर देनी पड़ती।

मैं गाँधीजी से पहले-पहल १९१६ में बड़े दिन की छुट्टियों में लखनऊ-कांग्रेस में मिला। दक्षिण अफ़्रीका में उनकी बहादुराना लड़ाई के लिए हम सब लोग उनकी तारीफ करते थे, लेकिन हम नौजवानों में बहुतों को वह बहुत दूर और अलग तथा राजनीति से दूर व्यक्ति मालूम होते थे। उन दिनों उन्होंने काँग्रेस या राष्ट्रीय राजनीति में भाग लेने से इन्कार कर दिया था और अपनेको प्रवासी भारतीयों के मसले की सीमा तक बाँध रक्खा था। इसके बाद ही चम्पारन में निलहे गोरों से होने-वाले किसानों के दुःख दूर करने में उन्होंने जैसा साहस दिखाया और उस मामले में उनकी जो जीत हुई, उससे हम लोग उत्साह से भर गये। हम लोगों ने देखा कि वह हिन्दुस्तान में भी अपने इस तरीके से काम लेने को तैयार हैं और उससे सफलता की भी आशा होती थी।

लखनऊ-काँग्रेस के बाद उन दिनों इलाहाबाद में सरोजिनी नायडू ने जो कई

वक्तृत्वपूर्ण भाषण दिये, उनसे भी, मुझे याद है, मेरा दिल हिल उठता था। वे भाषण शुरू से आखिर तक राष्ट्रीयता और देश-भक्ति से सराबोर होते थे और उन दिनों मैं विशुद्ध राष्ट्रीयता-वादी था। मेरे कालेज के दिनों के गोलमोल समाजवादी भाव पीछे जा छिपे थे। १९१६ में रौजर केसमेण्ट ने अपने मुकदमे में जो आश्चर्यजनक भाषण दिया उसने हमें यह बताया कि गुलाम जातिवालों के भाव कैसे होने चाहिएँ। आयर्लैण्ड में ईस्टर के दिनों में जो बग़ावत हुई उसकी विफलता ने भी हमें अपनी तरफ़ खींचा; क्योंकि क्या वह सच्चा साहस नहीं था, जो निश्चित विफलता पर हंसता हुआ संसार के समाने यह ऐलान करता था कि एक राष्ट्र की अजेय आत्मा को कोई भी शारीरिक शक्ति नहीं कुचल सकती?

ये ही उन दिनों मेरे भाव थे। परन्तु नई किताबों के पढ़ने से मेरे दिमाग़ में समाजवादी विचारों के अंगारे भी फिर जलने लगे थे। उन दिनों वे भाव अस्पष्ट थे। उतने वैज्ञानिक नहीं थे जितने कि दयापूर्ण और हवाई थे। युद्धकाल में तथा उसके बाद भी मुझे बर्ट्रेन्ड रसल के लेख तथा ग्रंथ बहुत पसन्द आते थे।

इन विचारों और इच्छाओं से मेरे मन का भीतरी संघर्ष तथा अपने वकालत के पेशे के प्रति मेरा असन्तोष और भी बढ़ गया। यों मैं उसे चलाता रहा; क्योंकि उसके सिवा मैं करता भी क्या? लेकिन मैं अधिकाधिक यह महसूस करने लगा कि, एक ओर ख़ास तौर पर आक्रामक ढंग का सार्वजनिक कार्य है, जो मुझे पसन्द है, और दूसरी तरफ यह वकालत का पेशा, ये दोनों एकसाथ निभ नहीं सकते। सवाल सिद्धान्त का न था, लेकिन समय और शक्ति का था। न जाने क्यों कलकत्ता के नामी वकील सर रासबिहारी घोष मुझसे बहुत ख़ुश थे। वह मुझे इस विषय में बहुत नेक सलाह दिया करते थे। ख़ास तौर पर उन्होंने मुझे यह सलाह दी कि मैं अपने पसन्द के किसी क़ानूनी विषय पर एक किताब लिखूँ। क्योंकि उनका कहना था कि जूनियर वकील के लिए अपनेको 'ट्रेन' करने का यही सबसे अच्छा रास्ता है। उन्होंने यह भी कहा कि इस किताब के लिखने में वह मुझे विचारों की भी मदद देंगे और उस किताब का संशोधन भी कर देंगे। लेकिन मेरे वकील के जीवन में उनकी यह सब दिलचस्पी बेकार थी, क्योंकि मेरे लिए इससे ज्यादा अखरनेवाली इससे बढ़कर और कोई चीज़ नहीं हो सकती थी कि मैं क़ानूनी किताब लिखने में अपना समय और शक्ति बरबाद करूँ।

बुढ़ापे में सर रासबिहारी बहुत ही चिड़चिड़े हो गये थे। फ़ौरन ही उन्हें गुस्सा आ जाता था, जिससे उनके जूनियरों पर उनका बड़ा आतंक-सा रहता था। मुझे वह फिर भी अच्छे लगते थे। उनकी कमियाँ और कमजोरियाँ भी बिलकुल

अनाकर्षक नहीं मालूम होती थी। एक मर्त्तबा मैं और पिताजी शिमला में उनके मेहमान थे। मेरा ख़याल है कि यह बात १९१८ की है, ठीक उस समय की जब कि माण्टेगु-चेम्सफोर्ड-रिपोर्ट छपकर आई थी। उन्होंने एक दिन शाम को कुछ मित्रों को खाने के लिए बुलाया और उनमें खापर्डे साहब भी थे। खाना खाने के बाद सर रासबिहारी और खापर्डे आपस में ज़ोर-ज़ोर से बातें तथा एक-दूसरे पर हमला करने लगे; क्योंकि वे राजनीति में भिन्न-भिन्न फिर्कों के थे। सर रासबिहारी घुटे हुए माडरेट थे और खापर्डे उन दिनों प्रमुख तिलक-शिष्य माने जाते थे, यद्यपि पीछे जाकर वह कपोत की तरह कोमल और माडरेटों के लिए भी अत्यधिक माडरेट हो गये। खापर्डे ने गोखले की आलोचना शुरू की। कुछ साल पहले ही गोखले का देहान्त हो चुका था। खापर्डे कहने लगे कि गोखले ब्रिटिश सरकार के एजेण्ट थे और उन्होंने लन्दन में मेरे ऊपर भेदिये का काम किया। सर रासबिहारी उसे कैसे बरदाश्त कर सकते थे? वह ज़ोर से बोले कि गोखले पुरुषोत्तम थे और मेरे खास मित्र थे। मैं किसी को उनके ख़िलाफ़ एक भी शब्द नही कहने दूँगा। तब खापर्डे श्रीनिवास शास्त्री की बुराई करने लगे। सर रासबिहारी को यह भी अच्छा तो नहीं लगा, लेकिन उन्होने कोई नाराज़गी नहीं दिखलाई। ज़ाहिर है कि वह शास्त्रीजी के उतने प्रशंसक नहीं थे जितने गोखले के। यहाँतक कि उन्होंने यह कहा कि जबतक गोखले जीवित थे मैं रुपये-पैसे से भारत-सेवक-समिति की मदद करता था, लेकिन उनकी मौत के बाद मैंने रुपया देना बन्द कर दिया है। इसके बाद खापर्डे उनके मुकाबिले में तिलक की तारीफ करने लगे। बोले, "तिलक निस्सन्देह महापुरुष, एक आश्चर्यजनक पुरुष, महात्मा है।" "महात्मा!" रासबिहारी बोले—"मैं महात्माओं से नफ़रत करता हूँ। मैं उनसे कोई वास्ता नही रखना चाहता।"

# ६

## मेरी शादी और हिमालय की एक घटना

मेरी शादी १९१६ में, दिल्ली में, वसन्त-पंचमी को हुई थी। उस साल गरमी में हमने कुछ महीने कश्मीर में बिताये। मैंने अपने परिवार को तो घाटी में छोड़ दिया और अपने एक चचेरे भाई के साथ कई हफ्ते तक पहाड़ों में घूमता रहा तथा लदाख़ रोड तक बढ़ता चला गया।

संसार के उच्च प्रदेश में उन संकीर्ण और निर्जन घाटियों में घूमने का यह मेरा पहला अनुभव था, जो कि तिब्बत के मैदान की तरफ ले जाती हैं। जोज़ीला-घाटी की चोटी से हमने देखा तो हमारी एक तरफ नीचे की ओर पहाड़ों की घनी हरियाली थी, और दूसरी तरफ़ ख़ाली कड़ी शिला की चट्टान। हम उस घाटी की सँकड़ी तह के ऊपर चढ़ते चले गये, जिसके दोनों ओर पहाड़ हैं। एक तरफ़ बरफ़ से ढकी हुई चोटियाँ चमक रही थीं और उनमें से छोटे-छोटे ग्लेशर—हिम-सरोवर—हमसे मिलने के लिए, नीचे को रेंग रहे थे। हवा ठंडी और कटीली थी। लेकिन दिन में धूप अच्छी पड़ती थी और हवा इतनी साफ़ थी कि अक्सर हमें चीज़ों की दूरी के बारे में भ्रम हो जाता था। वे दरअसल जितनी दूर होती थीं, हम उन्हें उससे बहुत कम दूर समझते थे। धीरे-धीरे सूनापन बढ़ता गया, पेड़ों और वनस्पतियों तक ने हमारा साथ छोड़ दिया—सिर्फ़ नंगी चट्टान और बरफ़ और हिम और कभी-कभी कुछ खुशनुमा फूल रह गये। फिर भी प्रकृति के इस जंगली और सुनसान निवासों में मुझे अजीब सन्तोष मिला। मेरे उत्साह और उमंग का ठिकाना न था।

इस यात्रा में मुझे एक बड़ा स्फूर्तिदायी अनुभव हुआ। जोज़ीला-घाटी से आगे सफ़र करते हुए एक जगह, जो मेरे ख़याल में मतायन कहलाती थी, हमसे कहा गया कि अमरनाथ की गुफा यहाँ से सिर्फ़ आठ मील दूर है। यह ठीक था कि बीच में बुरी तरह हिम व बरफ़ से ढका हुआ एक बड़ा पहाड़ पड़ता था, जिसे पार करना था। लेकिन उससे क्या? आठ मील होते ही क्या है? तजुर्बे के अभाव में भी जोश में आकर हमने तय किया कि हम गुफा तक पहुँचने की कोशिश करेंगे। अतः हमने अपने डेरे-तम्बू, जो ११ हज़ार ५०० फीट की ऊँचाई पर थे, छोड़ दिये और एक छोटे-से दल के साथ पहाड़ पर चढ़ने लगे। रास्ता दिखाने के लिए हमारे साथ वहाँ का एक गड़रिया था।

हम लोगों ने रस्सियों के सहारे कई हिम-सरोवरों पर चढ़कर उन्हें पार किया। हमारी मुश्किलें बढ़ती गई और सांस लेने में भी कठिनाई मालूम होने लगी। हमारे कुछ भारवाहियों के मुँह से खून निकलने लगा, हालांकि उनपर बोझ बहुत नही था। इधर बर्फ पड़ने लगी और हिम-सरोवर भयानक रूप से रपटीले हो गये। हम लोग बुरी तरह थक गये और एक-एक क़दम आगे बढ़ने के लिए खास कोशिश करनी पड़ती थी। लेकिन फिर भी हम यह मूर्खतापूर्ण उद्योग करते ही गये। हमने अपना खीमा सुबह चार बजे छोड़ा था और बारह घंटे तक लगातार चढ़ते रहने के बाद हमें एक सुविशाल हिम-क्षेत्र देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यह दृश्य बहुत ही सुन्दर था। उसके चारों ओर हिमाच्छादित पर्वत-चोटियां थीं। मानों देवताओं का कोई मुकुट अथवा अर्द्धचन्द्र हो। परन्तु ताज़ा बरफ और कुहरे ने शीघ्र ही इस दृश्य को हमारी आंखों से ओझल कर दिया। पता नहीं कि हम कितनी उँचाई पर थे, लेकिन मेरा ख़याल है कि हम लोग कोई १५-१६ हज़ार फीट की ऊँचाई पर ज़रूर होंगे, क्योंकि हम अमरनाथ की गुफा से बहुत ऊँचे थे। अब हमें इस हिम-क्षेत्र को, जो सम्भवतः आध मील लम्बा होगा, पार करके दूसरी तरफ नीचे गुफा को जाना था। हम लोगों ने सोचा कि चढ़ाई ख़त्म होने से हमारी मुश्किलें भी खत्म हो गई होंगी इसलिए बहुत थके होने पर भी हम लोगों ने हँसते-हँसाते यात्रा की यह मंजिल भी तय करना शुरू किया। लेकिन इसमें बड़ा धोखा था, क्योंकि यहाँ दरारें बहुत-सी थीं और ताज़ा गिरने-वाली बरफ ख़तरनाक दरारों को ढक देती थी। इस नई बरफ ने ही मेरा क़रीब-क़रीब ख़ात्मा कर दिया होता। क्योंकि मैंने ज्योंही उसके ऊपर पैर रक्खा त्योंही वह धसक गई और में धम से नीचे एक विशाल दरार में, जो मुँह बाये हुए थी, जा गिरा। यह दरार बहुत बड़ी थी और कोई भी चीज़ उसमें बिलकुल नीचे पहुँचकर हजारों वर्ष बाद तक भूगर्भशास्त्रियों की खोज के लिए इतमीनान के साथ सुरक्षित रह सकती थी। लेकिन रस्सी नही छूटी और मै दरार की बाजू को पकड़े रहा और ऊपर खींच लिया गया। इस घटना से हम लोगों के होश तो ढीले हो गये थे। पर फिर भी हम लोग आगे चलते ही गये। लेकिन दरारों की तादाद और उनकी चौड़ाई आगे जाकर और भी बढ़ गई। इनमें से कुछको पार करने के कोई साधन भी हमारे पास न थे, इसलिए अन्त में हम लोग थके-मादे हताश होकर लौट आये और इस प्रकार अमरनाथ की गुफा अनदेखी ही रह गई।

कश्मीर के पहाड़ों तथा ऊँची-ऊँची घाटियों ने मुझे ऐसा मुग्ध कर लिया कि मैंने एकबार फिर वहाँ जाने का संकल्प किया। मैंने कई योजनायें सोचीं और कई यात्राओं के मनसूबे बाँधे और उनमें से एकके तो ख़याल ही से मेरी ख़ुशी का ठिकाना

न रहा । वह थी तिब्बत की आश्चर्यमयी झील मानसरोवर और उसके पास का हिमाच्छादित कैलाश । यह अठारह बरस पहले की बात है और मैं आज भी कैलाश तथा मानसरोवर से उतना ही दूर हूँ जितना पहले कभी था । मैं फिर कश्मीर न जा सका, हालाँकि वहाँ जाने की मेरी बहुत ख्वाहिश रही । लेकिन मैं राजनीति और सार्वजनिक कामों के जंजाल में अधिकाधिक उलझता गया । पहाड़ों पर चढ़ने या समुद्रों को पार करने के बदले मेरी सैलानी तबीयत को जेलों में जाकर ही संतोष करना पड़ा । लेकिन अब भी मै वहाँ जाने के मनसूबे गढ़ा करता हूँ, क्योंकि वह तो एक ऐसे आनन्द की बात है जिसे कोई जेल में भी नहीं रोक सकता । इसके अलावा, जेलों में ये स्कीमें सोचने के सिवा और कोई करे भी क्या ? अतः मैं उस दिन का स्वप्न देख रहा हूँ जब मैं हिमालय पर चढ़कर उसे पार करूंगा और उस झील तथा कैलाश के दर्शन करके अपना मनोरथ पूरा करूंगा । परन्तु इस बीच में जीवन की घड़ियाँ बीतती जा रही हैं, जवानी अधेड़पन में तब्दील हो रही है, और कभी-कभी मैं यह सोचता हूँ कि मैं इतना बुड्ढा हो जाऊँगा कि कैलाश और मानसरोवर जा ही नहीं सकूँगा; परन्तु यद्यपि यात्रा का अन्त न भी दिखाई दे तब भी यात्रा करने में हमेशा आनन्द ही आता है ।

> मेरे अन्तर्पट पर इन गिरि-श्रृंगों की पड़ती छाया—
> सांध्य-गुलाबों से रंजित है जिनकी भीषण दुर्गमता;
> फिर भी मेरे प्राण मुग्ध पलकों पर बैठे अकुलाते,
> शांत शुभ्र हिम के ये प्यासे, है कैसी पागल ममता ! [१]

१. वाल्टर डि ला मेअर के एक पद्य का भावानुवाद । मूल पद्य इस प्रकार है:—

> "Yea, in my mind these mountains rise,
> Their perils dyed with evening's rose;
> And still my ghost sits at my eyes
> And thirsts for their untroubled snows."

# ७

# गांधीजी मैदान में: सत्याग्रह और अमृतसर

यूरोपियन महायुद्ध खतम हुआ तबतक हिन्दुस्तान का जोश-खरोश दब चुका था। उद्योगवाद फैल गया था और पूंजीवादी वर्ग धन और सत्ता में बढ़ गया था। चोटी पर के मुट्ठीभर लोग मालामाल हो गये थे और उनके जी इस बात के लिए ललचा रहे थे कि बचत की इस दौलत को लगाने के लिए मौके और सत्तायें मिलें ताकि वे ज्यादा दौलतमंद हो जायें। मगर आम लोग इतने खुशकिस्मत न थे और वे उस बोझे को कम करने की टोह में थे जिसके तले वे कुचले जा रहे थे। मध्यम-वर्ग के लोगों में यह आशा फैल रही थी कि अब शासन-सुधार होंगे ही, जिनसे स्वराज के कुछ ज्यादा अधिकार मिलेंगे और उसके द्वारा उन्हें अपनी बढ़ती के नये रास्ते मिलेंगे। राजनैतिक आन्दोलन, जो कि शान्तिमय और बिलकुल वैध था, कामयाब होता हुआ दिखाई देता था और लोग विश्वास के साथ आत्म-निर्णय और स्वशासन व स्वराज की बातें करते थे। इस अशान्ति के कुछ आसार जनता में भी, और खासकर किसानों में भी, दिखाई पडते थे। पंजाब के देहाती इलाकों में ज़बरदस्ती रंगरूट भर्ती करने की दुःखदायी बातें लोग अभीतक बुरी तरह याद करते थे और कोमागाटा-मारूवाले तथा दूसरे लोगों पर षड़यंत्र के मुक़दमे चलाकर जो दमन किया गया था उसने उनकी चारों ओर फैली हुई नाराज़गी को और भी बढ़ा दिया था। जगह-जगह लड़ाई के मैदानों से जो सिपाही लौटे थे वे अब पहले जैसे 'जो हुकुम' नही रह गये थे। उनकी जानकारी और अनुभव बढ़ गया था और उनमें भी बहुत अशान्ति थी।

मुसलमानों में भी, तुर्किस्तान और ख़िलाफ़त के मसले पर जैसा रुख अख़्तियार किया गया उसपर, गुस्सा बढ़ रहा था और आन्दोलन तेज़ हो रहा था। तुर्किस्तान के साथ सुलहनामे पर अभी दस्तखत नहीं हो चुके थे, मगर ऐसा मालूम होता था कि कुछ बुरा होनेवाला है, सो जहाँ एक ओर वे आन्दोलन कर रहे थे तहाँ दूसरी ओर इन्तज़ार भी कर रहे थे।

सारे देशभर में इन्तज़ार और आशा की हवा ज़ोरों पर थी। लेकिन उस आशा में चिन्ता और भय समाये हुए थे। इसके बाद रौलट-बिल का दौर हुआ, जिसमें क़ानूनी कार्रवाई के बिना भी गिरफ्तार करने और सज़ा देने की धारायें रक्खी गई थीं। सारे हिन्दुस्तान में चारों ओर उठे हुए क्रोध की लहर ने उसका स्वागत किया था। यहाँतक कि माडरेट लोगों ने भी अपनी पूरी ताक़त से उसका विरोध

किया था। और सच तो यह है कि हिन्दुस्तान के सब विचार और दल के लोगों ने एक-स्वर से उसका विरोध किया था। फिर भी सरकारी अफ़सरों ने उसको तुरत-फुरत क़ानून बनवा ही डाला। और खास रिआयत, पूछो तो, यह की गई कि उसकी मीयाद महज़ तीन वर्ष की रखदी गई।

१५ बरस पहले इस बिल पर और इसकी बदौलत जो हलचल मची उस-पर ज़रा निगाह दौड़ाना निरुपयोगी न होगा। रौलट-क़ानून बन तो गया, मगर, जहाँतक मैं जानता हूँ, अपनी ३ वर्ष की जिन्दगी में वह कभी काम में नहीं लाया गया, हालाँकि वे तीन साल शान्ति के नहीं बल्कि ऐसे उपद्रव के साल थे, जो १८५७ के ग़दर के बाद हिन्दुस्तान ने पहले-पहल देखा था। इस तरह ब्रिटिश सरकार ने लोकमत के घोर विरोधी होते हुए एक ऐसा क़ानून बना डाला जिसका उसने कुछ उपयोग भी नहीं किया और बदले में उलटा एक तूफान मोल ले लिया। इससे यह बहुत-कुछ खयाल किया जा सकता है कि इस क़ानून को बनाने का उद्देश सिर्फ झगड़ा मोल लेना था।

एक और मजेदार बात सुनिए। आज १५ साल के बाद ऐसे कितने ही क़ानून बन गये हैं जो रोज़-ब-रोज़ बरते भी जाते हैं और जो रौलट-बिल से भी ज्यादा सख्त हैं। इन नये क़ानूनों और नये आर्डिनेन्सों के मुकाबिले में, जिनके मातहत हम आज ब्रिटिश हुकूमत की नियामत का आनन्द लूट रहे हैं, रौलट-बिल तो क़रीब-क़रीब आजादी का परवाना ही समझा जा सकता है। हाँ, एक फ़र्क जरूर है (१९१९ से हमें मॉन्टेगु-चैम्सफोर्ड-योजना नामक स्वराज की एक बड़ी किस्त मिल चुकी है और अब, सुनते हैं, एक और बड़ी मिलनेवाली है। हम तरक्क़ी जो कर रहे हैं!

(१९१९ के शुरू में गांधीजी एक सख्त बीमारी से उठे थे। रोग-शय्या से उठते ही उन्होंने वाइसराय से प्रार्थना की थी कि वह इस बिल को कानून न बनने दें। इस अपील की उन्होंने, दूसरी अपीलों की तरह, कोई परवा न की और, उस हालत में, गांधीजी को अपनी तबीयत के खिलाफ़ इस आन्दोलन का अगुआ बनना पड़ा, जो उनके जीवन में पहला भारत-व्यापी आन्दोलन था। उन्होंने सत्याग्रह-सभा शुरू की, जिसके मेम्बरों से यह प्रतिज्ञा कराई गई थी कि उनपर लागू किये जाने पर वे रौलट-क़ानून को तथा उन आपत्तिजनक क़ानूनों को जिनका निर्देश समय-समय किया जायगा, न मानेंगे। दूसरे शब्दों में उन्हें खुल्लम-खुल्ला और जान-बूझ कर जेल जाने की तैयारी करनी थी।

जब मैंने अखबारों में यह खबर पढ़ी तो मुझे बड़ी तसल्ली हुई। आखिर इस उलझन से एक रास्ता मिला तो। वार करने के लिए एक हथियार तो मिला जो सीधा, खुला और बहुत करके राम-बाण था। मेरे उत्साह का पार न रहा और मैं फौरन ही

सत्याग्रह-सभा में सम्मिलित होना चाहता था। लेकिन मैंने उसके नतीजे पर—कानून तोड़ना, जेल जाना वग़ैरा पर—शायद ही ग़ौर किया हो, और अगर मैंने ग़ौर किया भी होता तो मुझे उनकी परवा न होती। मगर एकाएक मेरे सारे उत्साह पर पाला पड़ गया और मैंने समझ लिया कि मेरा रास्ता आसान नहीं है। पिताजी इस नये ख़याल के घोर विरोधी थे। वह नये-नये प्रस्तावों के बहाव में बह जानेवाले न थे। कोई नया क़दम आगे बढ़ाने के पहले वह उसके नतीजे को बहुत अच्छी तरह सोच लिया करते थे, और जितना ही ज्यादा उन्होंने सत्याग्रह के प्रश्न और उसके प्रोग्राम के बारे में सोचा उतना ही कम वह उन्हें जँचा। थोड़े-से लोगों के जेल जाने से क्या फ़ायदा होगा? उससे सरकार पर क्या असर होगा और क्या दबाव पड़ेगा? इन आम बातों के अलावा असल बात तो थी हमारा ज़ाती सवाल। उन्हें यह बात बहुत बेहूदा दिखाई देती थी कि मैं जेल जाऊँ। जेल जाने का सिलसिला अभी पड़ा नहीं था और यह खयाल ही उनको बहुत नागवार मालूम होता था। पिताजी अपने बच्चों से बहुत ही मुहब्बत रखते थे। यद्यपि वह प्रेम का दिखावा नहीं करते थे तो भी उनके अन्दर प्रेम बहुत छिपा रहता था।

बहुत दिनों तक मानसिक संघर्ष चलता रहा और चूँकि हम दोनों जानते थे कि यह बड़ी-बड़ी बाज़ियाँ लगाने का सवाल है, जिनमें हमारे सारे जीवन में बड़ी उथल-पुथल होने की संभावना है, दोनों ने इस बात की कोशिश की कि जहाँतक हो सके एक-दूसरे की भावनाओं और बातों पर खयाल रक्खें। मैं चाहता था कि जहाँ-तक हो सके कोशिश करूँ कि उनको तकलीफ़ न भुगतनी पड़े। मगर मुझे अपने दिल में यक़ीन हो गया था कि मुझे जाना तो सत्याग्रह के ही रास्ते है। हम दोनों के लिए वह मुसीबत का समय था और कई रात मैंने अकेले बड़ी चिन्ता और बेचैनी में काटीं। मैं सोचता रहता कि इसमें से कोई रास्ता निकले। बाद को मुझे मालूम हुआ कि पिताजी रात को सचमुच फर्श पर सोकर खुद यह अनुभव कर लेना चाहते थे कि जेल में मेरी क्या गत होगी; क्योंकि उनके ख़याल में मुझे आगे-पीछे जेल ज़रूर जाना पड़ेगा।

पिताजी ने गांधीजी को बुलाया और वह इलाहाबाद आये। दोनों की बड़ी देर तक बातें होती रहीं। उस समय मैं मौजूद न था। इसका नतीजा यह हुआ कि गाँधीजी ने मुझे सलाह दी कि जल्दी न करो और ऐसा काम न करो जो पिताजी को बहुत नागवार हो। मुझे इससे दुःख ही हुआ; मगर उसी समय देश में ऐसी घटनायें घट गईं जिनसे सारी हालत ही बदल गई और सत्याग्रह-सभा ने अपनी कार्रवाई बन्द कर दी।

सत्याग्रह-दिवस याने सारे हिन्दुस्तान में हड़तालें और तमाम काम-काज बन्द—दिल्ली और अमृतसर में पुलिस और फौज का गोली चलाना और बहुतसे आदमियों

का मारा जाना—अमृतसर और अहमदाबाद में भीड़ के द्वारा हिंसा-काण्ड हो जाना—जालियांवाला-बाग़ का हत्या-काण्ड—पंजाब में फौजी क़ानून के भीषण अपमानजनक और जी दहलानेवाले कारनामे। पंजाब मानों दूसरे प्रान्तों से अलग काट दिया गया हो। उसपर मानों एक गहरा परदा पड़ गया था जिससे बाहरी दुनिया की आँखें उसतक नहीं पहुँच पाती थी। वहाँ से मुश्किल से कोई खबर मिलती थी और न कोई वहाँ जा सकता था न कोई वहाँ से आ ही सकता था।

कोई इक्का-दुक्का किसी तरह उस नरक-कुण्ड से बाहर आ पहुँचता, तो वह इतना भयभीत हो जाता था कि साफ़-साफ़ हाल नहीं बता सकता था। हम लोग जो कि बाहर थे, असहाय और असमर्थ थे, छोटी-बड़ी ख़बर का इन्तजार करते रहते थे, और हमारे दिलों में कटुता भरती जा रही थी। हममें से कुछ लोग फौजी क़ानून की परवा न करके खुल्लमखुल्ला पंजाब के उन हिस्सों में जाना चाहते थे। लेकिन हमें ऐसा नहीं करने दिया गया और, इस दर्म्यान, कांग्रेस की तरफ से दुखियों और पीड़ितों को सहायता पहुँचाने तथा जाँच करने के लिए एक बड़ा संगठन बनाया गया।

ज्योंही ख़ास-खास जगहों से फौजी क़ानून वापस लिया गया और बाहर वालों को जाने की छुट्टी मिली, मुख्य-मुख्य काँग्रेसी और दूसरे लोग पंजाब में जा पहुँचे और सहायता तथा जाँच के काम में अपनी सेवायें अर्पित कीं। पीड़ितों की सहायता का काम मुख्यतः पण्डित मदनमोहन मालवीय और स्वामी श्रद्धानन्दजी की देखभाल में होता था और जाँच का काम मुख्यतः मेरे पिताजी और देशबन्धु दास की देख-रेख में। गांधीजी उसमें बहुत दिलचस्पी ले रहे थे और दूसरे लोग अक्सर उनसे सलाह-मशवरा लिया करते थे। देशबन्धु दास ने अमृतसर का हिस्सा ख़ास तौर पर अपनी तरफ़ लिया और वहाँ में उनके साथ उनकी सहायता के लिए तैनात किया गया। मुझे उनके साथ और उनके नीचे काम करने का वह पहला मौक़ा था। वह अनुभव मेरे लिए बड़ा क़ीमती था और इससे उनके प्रति मेरा आदर बढ़ा। जालियाँवाला-बाग़ से और उस भयंकर गली से जिसमें लोगों को पेट के बल रेंगाया गया था, सम्बन्ध रखनेवाले बयान, जो बाद को काँग्रेस-जाँच-रिपोर्ट में छपे थे, हमारे सामने लिये गये थे। हमने कई बार ख़ुद जाकर उस बाग़ को देखा था और उसकी हर चीज़ की जाँच बड़े ग़ौर से की थी।

यह कहा गया था, मैं समझता हूँ मि० एडवर्ड थामसन के द्वारा, कि जनरल डायर का यह ख़याल था कि बाग़ से निकलने के दूसरे दरवाज़े भी थे और यही कारण है जो उसने इतनी देर तक गोलियाँ जारी रक्खीं। यदि डायर का यही ख़याल था और दरअसल उसमें दरवाजा रहा होता, तो भी इससे उसकी जिम्मेदारी कम नहीं हो

जाती। मगर यह ताज्जुब की बात मालूम होती है कि उसे ऐसा खयाल रहा । कोई भी शख़्स इतनी ऊँची जगह पर खड़ा होकर, जहाँ कि वह खड़ा था, उस सारी जगह को अच्छी तरह देख सकता था कि वह किस तरह चारों ओर से बड़े ऊँचे-ऊँचे मकानों से घिरी हुई और बन्द है। सिर्फ़ एक तरफ़ कोई सौ फ़ीट के क़रीब कोई मकान न था, सिर्फ़ ५ फ़ीट ऊँची दीवार थी। गोलियां दनादन चल रही थीं और लोग चट-पट मर रहे थे। जब उन्हें कोई रास्ता नहीं सूझ पड़ा तो हजारों आदमी उस दीवार की ओर झपटे और उसपर चढ़ने की कोशिश करने लगे। तब गोलियाँ उस दीवार की ओर निशाना लगाकर चलाई गई—जैसा कि हमारे बयानों तथा दीवार पर लगे गोलियों के निशानों से मालूम होता है—ताकि कोई उसपर से चढ़कर भाग न सके। और जब यह सब ख़तम हो चुका, तो क्या देखा गया कि मुर्दों और घायलों के ढेर दीवार के दोनों ओर पड़े हुए थे।

उस साल (१९१९) के अन्त में मैं अमृतसर से देहली रात की गाड़ी से रवाना हुआ था। जिस डिब्बे में मैं चढ़ा उसकी तमाम जगहें भरी हुई थीं, सिर्फ़ ऊपर की एक 'बर्थ' ख़ाली थी। सब मुसाफ़िर सो रहे थे। मैंने उस ख़ाली बर्थ को ले लिया। दूसरे दिन सुबह मुझे मालूम हुआ कि वे तमाम मुसाफिर फ़ौजी अफ़सर थे। वे आपस में ज़ोर-ज़ोर से बातें कर रहे थे, जो मेरे कानों तक आही पहुँचती थीं। उनमें से एक बड़ी तेजी के साथ, मगर विजय के घमंड में, बोल रहा था और फ़ौरन ही मैं समझ गया कि यह वही जालियाँवाला-बाग़ के 'सूरमा' डायर सा० हैं। वह अपने अमृतसर के अनुभव सुना रहा था। उसने बताया कि कैसे सारा शहर उसकी दया के भरोसे हो रहा था। उसने सोचा, एक बार इस सारे बाग़ी शहर को ख़ाक में मिला दूं। मगर कहा, कि फिर मुझे रहम आ गया और मैं रुक गया। हण्टर-कमिटी में अपना बयान देकर वह लाहौर से वापस आ रहा था। उसकी बातचीत और उसकी संग-दिली को देखकर मेरे दिल को बड़ा धक्का लगा—वह देहली स्टेशन पर उतरा तो गहरी गुलाबी धारियोंवाला पायजामा और ड्रेसिंग-गाउन पहने हुए था।

(पंजाब-जाँच के ज़माने में मुझे गांधीजी को बहुत-कुछ समझने का मौक़ा मिला। बहुत बार उनके प्रस्ताव कमिटी को अजीब मालूम होते थे और कमिटी उन्हें पसंद नहीं करती थी। मगर करीब-क़रीब हमेशा ही अपनी दलीलों से कमिटी को वह समझा लिया करते थे और कमिटी उन्हें मंजूर कर लिया करतो थी। और बाद की घटनाओं से मालूम हुआ कि उनकी सलाह में दूरन्देशी थी। तबसे उनकी राजनैतिक अंतर्दृष्टि में मेरी श्रद्धा बढ़ती गई। )

पंजाब की दुर्घटनाओं और उनकी जाँच के कार्य का मेरे पिताजी पर ज़बरदस्त

असर हुआ। उनकी तमाम कानूनी और वैधानिक बुनियाद उसके द्वारा हिल गई थी और उनका मन उस परिवर्तन के लिए धीरे-धीरे तैयार हो रहा था जो एक साल बाद आनेवाला था। अपनी पुरानी माडरेट स्थिति से वह पहले ही बहुत-कुछ आगे बढ़ चुके थे। उन दिनों इलाहाबाद से नरम दल का अखबार 'लीडर' निकल रहा था, उससे उनको संतोष नहीं था और उन्होंने १९१९ के शुरू में 'इण्डिपेन्डेन्ट' नाम का दैनिक पत्र इलाहाबाद से निकाला। यों तो इस अखबार को बड़ी सफलता मिली, लेकिन शुरू से ही उसमें एक बात की बड़ी कमी रही। उसका प्रबन्ध अच्छा नहीं था। उससे सम्बन्ध रखनेवाले करीब-करीब सभी लोगों पर—क्या डाइरेक्टर, क्या सम्पादक और क्या प्रबन्ध-विभाग के लोग—इस कमी की जिम्मेदारी आती है। मैं खुद भी एक डाइरेक्टर था, मगर इस काम का मुझे कुछ भी तजुरबा न था और उसके रगड़े-झगड़ों की चिन्ता से मैं दिन-रात परेशान रहता था। मुझे और पिताजी दोनों को पंजाब जाना और ठहरना पड़ा था। हमारी इस लम्बी ग़ैरहाज़िरी में पत्र की हालत बहुत गिर गई और उसकी माली हालत भी बहुत बिगड़ गई। उस हालत से वह कभी उभर न सका (हालांकि १९२०-२१ में उसकी हालत बीच-बीच में कुछ बेहतर हो जाती थी, लेकिन ज्यों ही हम जेल गये त्योंही उसकी हालत अबतर होने लगी)। आखिर १९२३ के शुरू में उसकी ज़िन्दगी खतम हो गई। अखबार के मालिक बनने के इस अनुभव ने मुझे इतना भयभीत कर दिया कि उसके बाद से मैंने किसी अखबार का डाइरेक्टर बनने की जिम्मेदारी नहीं ली! हां, जेल में तथा बाहर और-और कामों में लगे रहने के कारण भी मैं ऐसा नहीं कर सकता था।

१९१९ के बड़े दिनों में पिताजी अमृतसर-कांग्रेस के सभापति हुए। उन्होंने माडरेट नेताओं के नाम एक दिल हिला देनेवाली अपील की, कि वे अमृतसर के अधिवेशन में शामिल हों। चूंकि फ़ौजी-कानून की वजह से एक नई हालत पैदा हो गई थी, उन्होंने लिखा—'पंजाब का ज़ख्मी और पीड़ित दिल आपको बुला रहा है। क्या आप उसकी पुकार न सुनेंगे?' मगर उन्होंने उसका वैसा जवाब नहीं दिया जैसा कि वह चाहते थे। वे लोग शामिल न हुए। उनकी आँखें उन नये सुधारों की ओर लगी हुई थीं जो माण्टेगु-चैम्सफोर्ड सिफ़ारिशों के फल-स्वरूप आनेवाले थे। उनके इन्कार कर देने से पिताजी के दिल को बड़ा सदमा पहुँचा और इससे उनके और माडरेटों के दिल की खाई और चौड़ी हो गई।

अमृतसर-कांग्रेस पहली गांधी-कांग्रेस हुई। लोकमान्य तिलक भी आये थे और उन्होंने उसकी कार्रवाई में प्रमुख भाग लिया था। मगर इसमें कुछ शक नहीं कि प्रतिनिधियों में अधिकांश, और इससे भी ज्यादा बाहर की भीड़, अगुवा बनने के

लिए गांधीजी की ओर देख रहे थे। हिन्दुस्तान के राजनैतिक क्षितिज मे 'महात्मा गांधी की जय' की आवाज़ बुलंद होने लगी थी। अली-बन्धु हाल ही नज़रबन्दी से छूटे थे और सीधे अमृतसर-कांग्रेस में आये थे। राष्ट्रीय आन्दोलन एक नया रूप धारण कर रहा था और उसकी नीति निर्माण हो रही थी।

शीघ्र ही मौलाना मुहम्मदअली खिलाफ़त-डेपुटेशन में योरप चले गये। इधर हिन्दुस्तान में खिलाफ़त-कमिटी दिन-पर-दिन गांधीजी के असर में आने लगी और उनके अहिंसात्मक असहयोग के विचारों से नाता जोड़ने की फ़िराक में थी। दिल्ली में जनवरी १९२० में खिलाफ़त के नेताओं और मौलवियों और उलेमा की एक शुरू-शुरू की मीटिंग मुझे याद है। खिलाफ़त-डेपुटेशन वाइसराय से मिलने जानेवाला था और गांधीजी भी साथ जानेवाले थे। उनके दिल्ली पहुँचने से पहले, जो ऐड्रेस वाइसराय को दिया जानेवाला था, उसका मसविदा उन्हें रिवाज के मुताबिक भेजा जा चुका था। जब गांधीजी पहुँचे और उन्होंने उसका मज़मून पढ़ा तो उसे बहुत नापसन्द किया और यह भी कहा कि अगर इसमें बहुत-कुछ रद्दोबदल नहीं किया गया तो मै डेपुटेशन में शरीक न हो सकूँगा। उनका ऐतराज़ यह था कि इस मज़मून में गोल-मोल बातें कही गई हैं। इसमें शब्द तो बहुत हैं मगर यह साफ़ तौर पर नहीं कहा गया कि मुसलमानों की कम-से-कम मांगें क्या हैं। उन्होंने कहा कि इससे न तो वाइसराय के साथ इन्साफ़ होता है और न ब्रिटिश-सरकार के साथ; न लोगों के साथ और न अपने साथ। उन्हें ऐसी बढ़ी-चढ़ी मांगें पेश न करनी चाहिएँ जिनपर कि वे अड़ना न चाहते हों। कम-से-कम मांग बिलकुल साफ़ शब्दों में हो, जिसमें किसी प्रकार शक-शुभा न हो और फिर मरने तक उसपर डॅटे रहो। अगर आप लोग सचमुच कुछ किया चाहते हो तो यही सच्चा और सही राज-मार्ग है।

यह दलील हिन्दुस्तान के राजनैतिक और दूसरे हलकों में एक नई चीज़ थी। हम लोग बढ़ी-चढ़ी और गोल-मोल बातें और लच्छेदार भाषा के आदी थे और दिमाग में हमेशा सौदा करने की तजवीज़ें चला करती थीं। आखिर, गाधीजी की बात क़ायम रही और उन्होंने वाइसराय के प्राइवेट-सेक्रेटरी को पत्र लिखा, जिसमें बताया कि पिछले मज़मून में क्या खामियां हैं और वह किस तरह गोल-मोल है, और कुछ नया मज़मून भी अपनी तरफ से भेजा, जो उसमें जोड़ा जानेवाला था। इसमें उन्होंने कम-से-कम माँग पेश की थी। वाइसराय का जवाब दिलचस्प था। उन्होंने नये मज़मून का जोड़ा जाना मंजूर नहीं किया और कहा, मेरी राय में पहला मज़मून ही बिलकुल ठीक है। मगर गांधीजी ने सोचा कि इस चिट्ठी-

पत्री से उनकी और ख़िलाफ़त कमिटी की स्थिति साफ़ हो जाती है और वह डेपुटेशन के साथ चले गये ।

यह ज़ाहिर था कि सरकार ख़िलाफ़त-कमिटी की मांगें मंज़ूर नहीं करेगी और लड़ाई छिड़े बिना न रहेगी । अब मौलवियों और उलेमाओं में देर-देर तक बातें होती रहतीं । अहिंसात्मक असहयोग पर और ख़ासकर अहिंसा पर चर्चा होती रहती । गांधीजी ने उनसे कह दिया कि मैं अगुवा बनने के लिए तैयार हूँ, मगर शर्त यह है कि आप लोग अहिंसा को उसके पूरे मानी में अपना लें । इसके बारे में कोई कमज़ोरी, लाग-लपट और छिपाव मन में न होना चाहिए । मौलवियों के लिए इस चीज़ को मान लेना आसान न था, लेकिन वे रज़ामन्द हो गये । हाँ, उन्होंने यह अलबत्ता साफ़ कर दिया कि वह इसे धर्म के तौर पर नहीं बल्कि नीति के तौर पर मानेंगे; क्योंकि उनके मज़हब में नेक काम के लिए तलवार उठाना मना नहीं है ।

१९२० में राजनैतिक और ख़िलाफ़त-आन्दोलन दोनों एक ही दिशा में और एकसाथ चले । और कांग्रेस के द्वारा गांधीजी के अहिंसात्मक असहयोग के मंज़ूर कर लिये जाने पर आख़िर को दोनों एकसाथ मिल गये । पहले ख़िलाफ़त-कमिटी ने उस कार्यक्रम को अपनाया और १ अगस्त लड़ाई जारी करने का दिन मुकर्रर हुआ ।

उस साल के शुरू में मुसलमानों की एक मीटिंग ( मैं समझता हूँ कि मुस्लिम-लीग की कौंसिल होगी ) इलाहाबाद में सैयद रज़ाअली के मकान में इस कार्यक्रम पर विचार करने के लिए हुई । मौलाना मुहम्मदअली तो योरप थे, मगर मौलाना शौकतअली उसमें मौजूद थे । मुझे उस सभा की याद है, क्योंकि मैं उससे बहुत नाउम्मीद हुआ था । हाँ, शौकतअली अलबत्ता उत्साह में थे; बाक़ी सब लोग दुःखी और परेशान थे । उनमें यह हिम्मत न थी कि वे उसको नामंज़ूर करदें, किन्तु फिर भी उनका इरादा किसी ख़तरे में पड़ने का न था । मैंने दिल में कहा—क्या यही लोग एक क्रान्तिकारी आन्दोलन के अगुआ होंगे और ब्रिटिश सल्तनत को चुनौती देंगे ? गांधीजी ने एक भाषण दिया, जिसे सुनकर वे, ऐसा मालूम होता था कि, पहले से भी ज्यादा घबरा गये । उन्होंने एक डिक्टेटर जैसा भाषण दिया । उसमें नम्रता थी, मगर साथ ही हीरे की तरह कटा-छँटा साफ़ और सख़्ती लिये हुए था । उसकी भाषा सुहावनी और मीठी थी, जिसमें कठोर निश्चय और अज़हद सरगर्मी भरी हुई थी । उनकी आँखों में मृदुलता और शान्ति थी, मगर उनमें से ज़बरदस्त कार्य-शक्ति और दृढ़-निश्चय की लौ निकल रही थी । उन्होंने कहा कि यह मुक़ाबिला बड़ा ज़बर-दस्त होगा और सामना भी बड़े ज़बरदस्त से है । अगर आप लड़ना ही चाहते हैं तो आपको अपना सब-कुछ बर्बाद करने के लिए तैयार हो जाना चाहिए और पूरी कड़ाई

के साथ अहिंसा और अनुशासन का पालन करना चाहिए। जब लड़ाई का ऐलान कर दिया जाता है तो फ़ौज़ी क़ानून का दौर हो जाता है। हमारे अहिंसात्मक युद्ध में भी, यदि हम चाहते हों, कि हमारी फ़तह हो तो, हमें अपनी तरफ़ से डिक्टेटर बनाने होंगे और फ़ौज़ी क़ानून ज़ारी करने होंगे। आपको यह हक़ है कि आप मुझे ठोकर मारकर निकाल दें, मेरा सिर उतार लें और जब कभी और जैसी चाहें सजा दे दें। लेकिन जबतक आप मुझे अपना अगुआ मानते हैं तबतक आपको मेरी शर्तों का पाबन्द ज़रूर रहना होगा। आपको डिक्टेटर की राय पर चलना होगा और फ़ौज़ी क़ानून के निज़ाम में रहना होगा। लेकिन डिक्टेटर बना रहना बिलकुल आपके सद्भाव, आपकी मंज़ूरी और आपके सहयोग पर अवलम्बित रहेगा। ज्योंही आप मुझसे उकता जायँ, त्योंही आप मुझे उठाकर फेंक दें, पैरों-तले रौंद दें, और मैं चूं तक न करूँगा।

इसी आशय की कुछ बातें उन्होंने कही और यह फ़ौजी मिसाल और उनकी ज़बरदस्त सरगर्मी देखकर वहाँ बहुतसे श्रोताओं के बदन में चीटियां रेंगने लगीं। मगर शौकतअली वहाँ मौजूद थे, जो अधकचरे लोगों में जोश भरा करते थे। और जब रायें लेने का समय आया तो उनमें से बहुतों ने चुपचाप, मगर झेंपते हुए, उस प्रस्ताव के, यानी लड़ाई शुरू करने के, हक़ में हाथ ऊँचे कर दिये।

जब हम सभा से लौट रहे थे तो मैंने गांधीजी से पूछा, कि क्या इसी तरीक़े से आप एक महान् युद्ध को शुरू करेंगे ? मैंने तो यहाँ जोश और उत्साह की, गरमागरम भाषा की, आँखों से आग की चिनगारी निकलने की आशा रक्खी थी, लेकिन उसके बजाय मुझे यहाँ पालतू, डरपोक और अधेड़ लोगों का जमघट दिखाई पड़ा। और फिर भी इन लोगों ने—आम राय का इतना असर था कि—लड़ाई के हक में राय दे दी। निश्चय ही मुस्लिम लीग के इन मेम्बरों में से बहुत कम ने आगे लड़ाई में योग दिया था; बहुतों को तो सरकारी कामों में पनाह मिल गई थी। मुस्लिम लीग उस समय या बाद भी मुसलमानों के किसी भी बड़े तबक़े की प्रतिनिधि नहीं रह गई थी। हाँ, १९२० की खिलाफ़त-कमिटी अलबत्ता एक ज़ोरदार और उससे कहीं ज्यादा प्रातिनिधिक संस्था थी और इसी कमिटी ने जोश और उत्साह के साथ लड़ाई के लिए कमर कस ली।

१ अगस्त गांधीजी ने असहयोग की शुरुआत का दिन रक्खा था—हालांकि अभी काँग्रेस ने न तो इसको मंजूर ही किया था और न इसपर विचार ही किया था। इसी दिन लोकमान्य तिलक का बम्बई में देहान्त हो गया। उसी दिन सुबह गांधीजी सिन्ध के दौरे से बम्बई पहुँचे थे। मैं उनके साथ था, और हम सब उस ज़बरदस्त जलूस में शरीक हुए थे जिसमें सारी बम्बई के लाखों आदमी अपने उस महान् और मान्य नेता को अपनी श्रद्धाञ्जलि देने के लिए दौड़ पड़े थे।

## ८

# मेरा निर्वासन और उसके परिणाम

मेरी राजनीति वही थी जो मेरे वर्ग यानी मध्यम-वर्ग की राजनीति थी। हाँ, उस समय, और बहुत हदतक अब भी, जिस राजनीति का शोर है, वह मध्यम-वर्ग के लोगों की राजनीति थी। क्या नरम और क्या गरम दोनों विचार के लोग मध्यम-वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे और अपने-अपने ढंग से उनकी बेहबूदी चाहते थे। माडरेट लोग ख़ास करके मध्यम वर्ग की ऊपरी श्रेणी के मुट्ठीभर लोगों में से थे जो कि आम तौर पर ब्रिटिश शासन की बदौलत फले-फूले थे, और एकाएक ऐसे परिवर्तन नहीं चाहते थे जिससे उनकी मौजूदा स्थिति और स्वार्थों को धक्का लगे। ब्रिटिश सरकार से और बड़े ज़मींदारों से उनके घने सम्बन्ध थे। गरम विचार के लोग भी मध्यम वर्ग के ही थे; परन्तु निचली सतह के। कल-कारख़ानों के मज़दूर, जिनकी संख्या महायुद्ध के कारण बेहद बढ़ गई थी, कुछ-कुछ जगहों में ही मुक़ामी तौर पर संगठित हो पाये थे और उनका प्रभाव नहीं के बराबर था। किसान अपढ़, अज्ञान, मुफ़लिस, गंवार, दुःखी और मुसीबत के मारे थे। भाग्य के भरोसे दिन काटते और सरकार, ज़मींदार, साहूकार, छोटे-बड़े हुक्काम, पुलिस, वकील, पंडे-पुरोहित, जो भी होते सब उनपर सवारी गाँठते और उनको चूसते थे।

किसी अख़बार का कोई पाठक शायद ही उन दिनों ख़याल करता होगा कि हिन्दुस्तान में करोड़ों किसान और लाखों मज़दूर हैं, या उनकी कोई वक़त है। अंग्रेज़ों के अख़बार बड़े अफ़सरों के कारनामों से भरे रहते। उनमें शहरों और पहाड़ों पर रहनेवाले अंग्रेज़ों के सामाजिक जीवन की, यानी उनकी पार्टियों की, उनके नाच-गान और नाटकों की, लम्बी-लम्बी ख़बरें छपा करतीं। उनमें हिन्दुस्तानियों के दृष्टिकोण से हिन्दुस्तान की राजनीति की चर्चा प्रायः बिलकुल नहीं की जाती थी, यहांतक कि काँग्रेस के अधिवेशन के समाचार भी किसी ऐसे-वैसे पन्ने के एक कोने में और सो भी कुछ सतरों में, दिये जाते थे। कोई ख़बर तभी किसी काम की समझी जाती जब कोई हिन्दुस्तानी, चाहे वह बड़ा हो या मामूली, काँग्रेस को या उसके दावों को बुरा-भला कह बैठता या नुक़्ताचीनी कर बैठता। कभी-कभी किसी हड़ताल का थोड़ा ज़िक्र आ जाता, और देहात को तो महत्त्व तभी दिया जाता जब वहाँ कोई दंगा-फ़साद हो जाता।

हिन्दुस्तानी अख़बार भी अंग्रेज़ों के अख़बारों की नक़ल करने की कोशिश करते।

लेकिन वे राष्ट्रीय आन्दोलन को उनसे कहीं ज्यादा महत्त्व देते थे। यों तो वे भी हिन्दु-स्तानियों को छोटी-बड़ी नौकरियाँ दिलवाने, उनकी तरक्की और तबदीली में, और जब किसी जानेवाले अफ़सर की बिदाई में कोई पार्टी दी जाती थी, 'जिसमें लोगों में बड़ा उत्साह होता था,' दिलचस्पी लेते थे। जब कभी नया बन्दोबस्त होता तो क़रीब-क़रीब हमेशा ही लगान वग़ैरा बढ जाता, जिससे शोर मच जाता था; क्योंकि उसका असर ज़मींदारों की जेब पर भी पड़ता। बेचारे किसान जो ज़मीन जोतते थे, उनकी तो कोई बात भी नही पूछता था। ये अख़बार ज़मीदार और कल-कारखानेवालों के होते थे। यह हालत थी उन अखबारों की जो 'राष्ट्रीय' कहे जाते थे।

यही क्यों, खुद काँग्रेस का भी शुरू के दिनों में यह एक मतालबा था कि जहाँ-जहाँ अभी बन्दोबस्त नही हो पाया है वहाँ स्थायी बन्दोबस्त कर दिया जाय, जिससे ज़मीदारों के हक़ूक की रक्षा हो सके, और उसमें किसानों का कही जिक्र तक न रहता था।

पिछले बीस वर्षो में राष्ट्रीय आन्दोलन की बढ़ती के कारण हालत बहुत बदल गई है और अब अंग्रेज़ों के अख़बारों को भी हिन्दुस्तान के राजनैतिक प्रश्नों के लिए जगह देनी पड़ती है। क्योंकि ऐसा न करें तो हिन्दुस्तानी पाठकों के टूट जाने का अदेशा रहता है। परन्तु यह बात वे अपने खास ढंग से ही करते हैं। हिन्दुस्तानी अख़बारों की दृष्टि कुछ विशाल हो गई है। वे किसानों और मज़दूरों की भलाई की भी बातें किया करते हैं; क्योंकि एक तो आज-कल यह फ़ैशन हो गया है और दूसरे उनके पाठकों में कल-कारखानों और गाँव-संबन्धी बातों के जानने की तरफ़ दिल-चस्पी बढ़ रही है। परन्तु दरअसल तो अब भी वे पहले की तरह हिन्दुस्तानी पूँजी-पतियों और ज़मीदार-वर्ग के हितों का ही ध्यान रखते हैं, जोकि उनके मालिक होते हैं। कितने ही हिन्दुस्तानी राजा-महाराजा भी अख़बारों में अपना रुपया लगाने लगे हैं और वे हर तरह कोशिश करते हैं कि उन्हें अपने रुपयों का मुआवज़ा मिल जाय। फिर भी इनमें से बहुत से अख़बार 'काँग्रेसी' कहलाते है, हालाँकि वे जिनके ताबे में हैं उनमें से बहुतेरे काँग्रेस के मेम्बर भी न होंगे। किन्तु काँग्रेस शब्द लोगों को बहुत प्यारा हो गया है और कितने ही लोग और संस्थायें उसे अपने फ़ायदे के लिए इस्तैमाल करते हैं। जो अख़बार ज़रा आगे बढ़े विचारों का प्रतिपादन करते हैं उन्हें या तो बड़े-बड़े जुरमानों का, यहां तक कि बड़े सख़्त प्रेस-कानूनों के ज़रिये दबा दिये जाने या सेंसर किये जाने का भी, ख़ौफ़ बना रहता है।

१९२० में मुझे इस बात का बिलकुल पता न था कि कारखानों में या खेतों में काम करनेवाले मज़दूरों की हालत क्या है, और मेरा राजनैतिक दृष्टिकोण

बिलकुल मध्यमवर्ग के जैसा था। फिर भी मैं इतना ज़रूर जानता था कि उनमें ग़रीबी बहुत है और उनके दुःख भयंकर हैं और मैं सोचता था कि राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान आज़ाद हो जाय तो उसका पहला लक्ष्य यह हो कि इस ग़रीबी के मसले को हल करे। मगर मुझे सबसे पहली सीढ़ी तो राजनैतिक आज़ादी ही दिखाई दी, जिसमें मध्यमवर्ग की प्रधानता हुए बिना नहीं रह सकती। गांधीजी के चम्पारन (बिहार) और खेडा (गुजरात) के किसान-आन्दोलन के बाद किसानों के प्रश्न पर मैं ज्यादा ध्यान देने लगा। फिर भी मेरा ध्यान तो १९२० में राजनैतिक बातों में और असहयोग के आगमन में लग रहा था, जिसकी चर्चा से राजनैतिक वायुमण्डल भरा हुआ था।

उन्हीं दिनों एक नई बात में मेरी दिलचस्पी पैदा हो रही थी, जिसे कि आगे चलकर ऐक महत्त्व का काम करना था। मैं, अपनी खुद की प्रायः कोई इच्छा न रहते हुए, किसानों के सम्पर्क में फेंक दिया गया, और यह भी एक अजीब तरीक़े से हुआ।

मेरी मा और कमला (मेरी पत्नी) दोनों की तन्दुरुस्ती खराब थी और मई १९२० के शुरू में मैं उनको मसूरी ले गया। पिताजी उस वक़्त एक बड़े राज के मामले में मशगूल थे, जिसमें कि दूसरी ओर के वकील देशबन्धु दास थे। हम सेवाय-होटल में ठहरे हुए थे। उन दिनों अफ़गान और ब्रिटिश राज-प्रतिनिधियों के दर्म्यान मसूरी में सुलह की बातें हो रही थी (यह १९१९ मे हुए छोटे अफ़गान युद्ध के बाद की बात है, जब कि अमानुल्ला तख़्त पर बैठा था) और अफ़गान प्रतिनिधि सेवाय-होटल में ठहरे हुए थे। लेकिन वे एक तरफ़ ही रहते थे, खाना भी अकेले खाते थे और किसीसे मिलते-जुलते न थे। मुझे उनमें खास दिलचस्पी नही थी और इस महीने-भर में मैने उस प्रतिनिधि-मंडल के एक भी आदमी को नही देखा और अगर देखा भी हो तो मै किसीको पहचानता न था। लेकिन क्या देखता हूँ, कि एक दिन एकाएक शाम को पुलिस-सुपरिन्टेन्डेंट वहाँ आया और मुझे स्थानीय सरकार का खत दिखाया, जिसमें मुझसे यह वादा चाहा गया था कि मैं अफ़गान-प्रतिनिधि-मण्डल से कोई सरोकार न रक्खूँ। मुझे एक बड़ी अजीब बात मालूम हुई; क्योंकि इस महीने-भर में मैंने उन्हें कभी देखा तक नहीं और न मुझे उसका मौक़ा ही मिल सकता था। सुपरिन्टेन्डेट इस बात को जानता था, क्योंकि वह प्रतिनिधि-मण्डल की हलचलों पर ग़ौर से निगाह रखता था और वहाँ दरअसल खुफिया लोगों का एक खासा जमघट लगा रहता था। मगर ऐसा वादा करना मेरे मिज़ाज के खिलाफ़ था और मैंने उनको ऐसा कह भी दिया। उसने मुझे डिस्ट्रिक्ट-मजिस्ट्रेट से, जो कि

देहरादून का सुपरिन्टेन्डेंट था, मिलने के लिए कहा और उससे मैं मिला। चूँकि मैं बराबर कहता रहा कि मैं ऐसा वादा नहीं कर सकता, मुझे मसूरी से चले जाने का हुक्म मिला, जिसमें कहा गया कि मै २४ घंटे के अन्दर देहरादून ज़िले से बाहर चला जाऊँ। इसके मानी यही थे कि मै कुछ घंटों में ही मसूरी छोड़ दूँ। मुझे यह अच्छा तो नहीं लगा कि अपनी बीमार मा और पत्नी दोनों को वहाँ छोड़कर जाऊँ, लेकिन उस वक़्त मुझे उस हुक्म की ख़िलाफ़वर्ज़ी करना मुनासिब मालूम नहीं हुआ, क्योंकि उस समय सविनय भंग तो था नही, इसलिए मै मसूरी से चल दिया।

मेरे पिताजी की सर हारकोर्ट बटलर से, जो कि उस समय युक्तप्रान्त के गवर्नर थे, अच्छी मुलाक़ात थी। उन्होने दोस्ताना तरीक़े पर सर हारकोर्ट को पत्र लिखा, कि मुझे यक़ीन है कि ऐसा वाहियात हुक्म आपने न दिया होगा; यह शिमला के किसी मन-चले आदमी की कार्रवाई मालूम होती है। सर हारकोर्ट ने जवाब दिया, कि हुक्म में कोई ऐसी खराब बात नही है जिसके मानने से जवाहरलाल की शान में कोई फ़र्क़ आ जाता। इसके जवाब में पिताजी ने उनसे अपना मतभेद प्रकट किया और लिखा कि जवाहरलाल का जानबूझकर हुक्म तोड़ने का कोई इरादा नहीं है; पर अगर उसकी मा या पत्नी की तन्दुरुस्ती के लिए ज़रूरी हुआ तो वह ज़रूर मसूरी जायगा, चाहे आपका हुक्म रहे या न रहे। और ऐसा ही हुआ भी। मेरी मा की हालत ज्यादा खराब हो गई और पिताजी व मैं दोनों तुरन्त मसूरी के लिए रवाना हो गये। उसके ठीक पहले हमें उस हुक्म की मन्सूखी का एक तार मिला।

दूसरे दिन सुबह मसूरी पहुँचने पर सबसे पहले जो शख़्स मैने होटल के आंगन में देखा वह अफ़गान था और मेरी छोटी बच्ची को गोद में लिये हुए था! मुझे मालूम हुआ कि वह वहाँ का एक मिनिस्टर और अफ़गान प्रतिनिधि-मण्डल का एक सदस्य था। बाद को पता चला कि मसूरी से मेरे निकाले जाने का हुक्म मिलते ही उन अफ़गानों ने अख़बारों में उसके समाचार पढ़े और उनकी दिलचस्पी यहाँतक बढ़ी कि प्रतिनिधि-मण्डल के प्रधान हर रोज़ फूल और फलों की एक डलिया मेरी मा को भेजा करते।

बाद को पिताजी और मै प्रतिनिधि-मंडल के एक-दो सदस्य से मिले भी थे, और उन्होंने हमें अफ़गानिस्तान आने का प्रेमपूर्वक निमंत्रण दिया था। मगर अफसोस है कि हम उससे कुछ फ़ायदा न उठा पाये; और पता नहीं वहाँकी नई हुकूमत में वह निमंत्रण अब कायम रहा है या नही।

मसूरी से निकाल दिये जाने के फल-स्वरूप मुझे दो हफ्ते इलाहाबाद रहना पड़ा और इसी अर्से मे मै किसान-आन्दोलन में जा फँसा और ज्यों-ज्यों दिन आते गये त्यों-त्यों मैं उसमें अधिकाधिक ही फँसता गया, जिसने मेरे विचारों और दृष्टिकोण

पर काफी असर डाला । कभी-कभी मेरे मन में यह विचार उठा है कि अगर मैं न तो मसूरी से निकाला जाता और न इलाहाबाद में ठहरा होता, या उन्हीं दिनों कोई दूसरा काम होता, तो क्या हुआ होता ? वहुत मुमकिन है कि मैं किसानों की ओर तो किसी-न-किसी तरह आगे-पीछे खिंचा होता; परन्तु मेरा उनके पास जाने का तरीक़ा और इसलिए उसका असर भी कुछ और ही होता ।

जून १९२० के शुरू में, जहाँतक मुझे याद है, कोई दो सौ किसान परताबगढ़ के देहात से पचास मील पैदल चलकर इलाहाबाद आये—इस इरादे से कि वे अपने दुःखों और मुसीबतों की तरफ़ वहाँ के ख़ास-ख़ास राजनैतिक पुरुषों का ध्यान आकर्षित करें । रामचन्द्र नामक उनके एक अगुआ थे, जो वहाँ के रहनेवाले न थे । मैंने सुना कि किसानों का यह जत्था जमना के घाट पर डेरा डाले हुए है । मैं कुछ मित्रों के साथ उनसे मिलने गया । उन्होंने बताया कि किस तरह ताल्लुकेदार ज़ोर-ज़ुल्म से वसूलयाबी करते है, कैसा उनका अमानुष व्यवहार है, और कैसी हालत उनकी हो गई है जिसको कि अब बर्दाश्त नहीं कर सकते । उन्होंने हमसे प्रार्थना की कि हम उनके साथ चले और उनकी हालत की जाँच करें । उनको डर था कि ताल्लुकेदार उनके इलाहाबाद आने पर जरूर बहुत बिगड़ेगे और उसका बदला लिये बिना न रहेंगे, इसलिए वे चाहते थे कि उनकी जान बचाने के लिए हम उनके साथ रहें । वह हमारे इन्कार को मानने के लिए किसी तरह तैयार न थे और सचमुच हमसे बुरी तरह चिपट गये । आखिर को मैंने उनसे वादा किया कि मैं दो-तीन रोज़ बाद ज़रूर आऊँगा ।

मैं कुछ साथियों को लेकर वहाँ पहुँचा । कोई तीन दिन वहाँ हम लोग गाँव में रहे । वे रेलवे से और पक्की सड़क से बहुत दूर थे । उस दौरे में मैंने कई नई बातें देखीं । हमने देखा कि सारे देहाती इलाके में उत्साह की लहर फैल रही है और उनमें अजीब जोश उमड़ा पड़ता है । ज़रा ज़बानी कहला दिया और बड़ी-बड़ी सभाओं के लिए लोग इकट्ठे हो जाते । एक गाँव से दूसरे गाँव और दूसरे से तीसरे गाँव इस तरह सब गाँवों में संदेशा पहुँच जाता और देखते-देखते सारे गाँव खाली हो जाते और खेतों में दूर-दूर तक सभास्थान पर आते हुए मर्द, औरत और बच्चे दिखाई देते । और इससे भी ज्यादा तेज़ी से 'सीताराम, सीता··रा··आ··आ म' की धुन की आवाज़ आकाश में गूँज उठती और चारों तरफ़ दूर-दूर तक फैल जाती और दूसरे गाँव से उसीकी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती और बस, लोग पानी की धारा की तरह दौड़ते चले आते । मर्द-औरत फटे-टूटे चिथड़े पहने थे; मगर उनके चेहरों पर जोश और उत्साह था और आँख चमकती हुई दिखाई देती थीं—मानों कोई विचित्र बात होने को थी, जिसके द्वारा जादू की तरह आनन-फानन में उनकी तमाम मुसीबत का ख़ात्मा हो जायगा ।

उन्होंने हमपर बहुत प्रेम बरसाया और वे हमें आशा तथा प्रेमभरी आँखों से देखते थे—मानो हम कोई शुभ सन्देश सुनाने आये हों, या उनके रहनुमा हों, जो उन्हें उनके मंज़िले-मकसूद तक पहुँचा देंगे। उनकी मुसीबतों को और उनकी अपार कृतज्ञता को देखकर मैं दुःख और शर्म के मारे गड़ गया। दुःख तो हिन्दुस्तान की ज़बरदस्त ग़रीबी और ज़िल्लत पर; और शर्म मेरी अपनी आराम की ज़िंदगी पर, और शहरों की न-कुछ राजनीति पर, जिसमें हिन्दुस्तान के इन अधनंगे करोड़ों पुत्र-पुत्रियों के लिए कोई जगह न थी। नगे-भूखे, दलित-पीड़ित हिन्दुस्तान का एक नया चित्र मेरी आँखों के सामने खड़ा होता हुआ दिखाई दिया। और हम लोग जो दूर शहर से उन्हें देखने कभी-कभी आ जाते हैं, उनके प्रति उनकी श्रद्धा को देखकर मैं परेशानी में पड़ गया और उसने मुझमें यह नई ज़िम्मेदारी का भाव पैदा कर दिया जिसकी कल्पना से मेरा दिल दहल उठा।

मैंने उनके दुःख की सकड़ों कहानियाँ सुनीं। कैसे लगान का बोझ दिन-दिन बढ़ता जा रहा है, जिससे वे कुचले जा रहे हैं। किस तरह ख़िलाफ़-क़ानून लाग लगाये जाते हैं और ज़ोरो-ज़ुल्म से वसूली की जाती है, ज़मीन और कच्चे झोपड़ों से किस तरह उनको बेदख़ल किया जाता है, कैसे उनपर मार पड़ती है, कैसे चारों तरफ़ ज़मींदारों के एजेण्ट, साहूकारों और पुलिस के गिद्धों से घिरे रहते हैं, किस तरह कड़ी धूप में मशक्क़त करते हैं और अन्त में यह देखते हैं कि उनकी सारी पैदावार उनकी नहीं है—दूसरे ही उठा ले जाते हैं और उसका बदला उन्हें मिलता है ठोकरों, गालियों और भूखे पेट से। जो लोग वहाँ आये थे उनमें से बहुतों के ज़मीन नहीं थीं और जिन्हें ज़मीदारों ने बे-दख़ल कर दिया था, उन्हें सहारे के लिए न अपनी ज़मीन थी न अपना झोंपड़ा। यों ज़मीन उपजाऊ थी मगर उसपर लगान आदि का बोझ बहुत भारी था। खेत छोटे-छोटे थे और एक-एक खेत पाने के लिए कितने ही लोग मरते थे। उनकी इस तड़प से फ़ायदा उठाकर ज़मींदारों ने, जो कि क़ानून के मुताबिक़ एक हद से ज्यादा लगान नहीं बढ़ा सकते थे, क़ानून को ताक पर रखकर भारी-भारी नज़राना वग़ैरा बढ़ा दिये थे। बेचारे किसान कोई चारा न देख रुपया उधार लाते और नज़राना वग़ैरा अदा करते और फिर जब क़र्ज़ और लगान तक न दे पाते तो बेदख़ल कर दिये जाते, और उनका सब-कुछ छिन जाता था।

यह तरीक़ा पुराना चला आ रहा है और किसानों की दिन-ब-दिन बढ़नेवाली दरिद्रता का सिलसिला भी एक लम्बे अरसे से चला आ रहा है। तब फिर क्या बात हुई जिससे मामला इस हदतक बढ़ गया और देहात के लोग इस तरह उमड़ पड़े? निश्चय ही इसका कारण उनकी आर्थिक दशा थी। परन्तु यह हालत तो सारे

अवध में एकसी थी। और यह किसानों का १९२०-२१ का बवन्डर तो सिर्फ़ परताबगढ़, रायबरेली और फ़ैज़ाबाद ज़िले में ही फैला हुआ था। इसका आंशिक कारण तो था, रामचन्द्र नामक विलक्षण व्यक्ति का अगुआ हो जाना, जोकि बाबा रामचन्द्र कहलाता था।

रामचन्द्र महाराष्ट्रीय था और कुली-प्रथा के अन्दर मज़दूर बनकर फ़िजी चला गया था। वहाँ से लौटने पर धीरे-धीरे वह अवध के जिलों की तरफ़ आ गया। तुलसीदास की रामायण गाता हुआ और किसानों के कष्टों और दुःखों को सुनता हुआ वह इधर-उधर घूमने लगा। वह पढ़ा-लिखा थोड़ा था और कुछ हद तक उसने किसानों से अपना ज़ाती फ़ायदा भी कर लिया। मगर हाँ, उसने भारी संगठन-शक्ति का परिचय दिया। उसने किसानों को आपस में समय-समय पर सभा करना और अपनी तकलीफों पर चर्चा करना सिखलाया और हर तरह उनके आपस में एके का भाव पैदा किया। कभी-कभी बड़ी भारी-भारी सभायें होतीं और उससे उन्हें एक बल का अनुभव होता। यों 'सीताराम' एक पुरानी और प्रचलित धुन है, मगर उसने उसे करीब-करीब एक युद्ध-घोष का रूप दे दिया और जरूरत के वक्त लोगों को बुलाने का तथा जुदा-जुदा गाँवों को आपस में बाँधने का चिन्ह बना दिया। फ़ैज़ाबाद, परतापगढ़ और रायबरेली राम और सीता की पुरानी कथाओं से भरे पड़े हैं। इन ज़िलो का समावेश पुराने अयोध्या-राज में होता था। तुलसीदास की रामायण वहाँ लोगों के घर-घर गाई जाती है। कितने ही लोगों को इसके हजारों दोहे, चौपाई बर-ज़बान थे। इस रामायण का गान और अच्छे-अच्छे प्रसंगों पर मौजूँ दोहे-चौपाइयों की मिसाल देना बाबा रामचन्द्र का एक ख़ास तर्ज़ था। कुछ हद तक किसानों का सगठन करके उसने उनके सामने बहुतेरे गोल-मोल और ऊट-पटांग वादे भी किये, जिनसे उन्हें बड़ी-बड़ी आशायें बँधीं। उसके पास किसी-किस्म का कोई कार्यक्रम नहीं था और जब उनका जोश आखिरी सीमा तक पहुँच गया तो उसने उसकी जिम्मेदारी को दूसरों पर डालने की कोशिशें की। यही कारण है जो वह कितने ही किसानों को इलाहाबाद लाया कि वहाँके लोग उस आन्दोलन में दिलचस्पी लें।

एक साल तक और रामचन्द्र ने आन्दोलन में प्रधान रूप से भाग लिया और दो-तीन बार जेल भी गया। मगर बाद में जाकर वह बड़ा ग़ैर-ज़िम्मेदार और अविश्वसनीय साबित हुआ।

किसान-आन्दोलन के लिए अवध ख़ास तौर पर अच्छा क्षेत्र था। वह ताल्लुक़ेदारों की, जो कि अपनेको 'अवध का राजा' कहते हैं, भूमि थी और अब भी है। जमींदारी-प्रथा का सबसे बिगड़ा हुआ रूप वहाँ मिलता है। ज़मींदारों के लगाये करों

के बोझ असह्य हो रहे थे और बे-ज़मीन मज़दूरों की तादाद बढ़ रही थी । वहाँ यों सिर्फ़ एक ही किस्म के किसान थे । और इसीसे वे सब मिलकर एक-साथ कोई कार्रवाई कर सके ।

हिन्दुस्तान को मोटे तौर पर दो भागों में बाँट सकते हैं । एक जमींदारी इलाक़ा जिसमें बड़े-बड़े जमीदार हैं, और दूसरा वह जहाँ किसान ज़मीन के मालिक हैं । मगर कहीं-कहीं दोनों एक-दूसरे से मिल जाते हैं । बंगाल, बिहार और संयुक्त-प्रांत जमींदारी इलाका है । किसानी इलाक़े के लोगों की हालत इनसे अच्छी है; हालाँकि वहाँ भी उनकी हालत कई बार दयाजनक हो जाती है । पंजाब और गुजरात के ( जहाँ ज़मीन के मालिक किसान है ) किसानों की हालत जमीदारी इलाक़े से कहीं अच्छी है । जमींदारी इलाके के ज्यादातर हिस्से में कई क़िस्म के काश्तकार थे, दख़ीलकार, ग़ैर-दख़ीलकार और शिकमी वग़ैरा । इन जुदा-जुदा काश्तकारों के स्वार्थ अक्सर आपस में टकराते और इस कारण मिलकर एकसाथ कोई जोरदार काम नही किया जा सकता । लेकिन अवध में १९२० में न तो दख़ीलकार काश्तकार थे और न हीनहायत काश्तकार ही थे । वहाँ सिर्फ़ आरज़ी काश्तकार थे, जो बे-दख़ल होते रहते थे और जिनकी जमीनें ज्यादा नज़राना या लगान देने पर दूसरों को दे दी जाया करती थी । इस तरह चूंकि वहाँ ख़ास तौर पर एक ही तरह के काश्तकार थे, वहाँ एकसाथ काम करने के लिए संगठन करना और भी आसान था ।

अवध में आरज़ी पट्टे की भी कोई गारंटी देने का रिवाज नहीं था । जमींदार शायद ही कही लगान की रसीद देते थे । और कोई भी जमींदार कह सकता था कि लगान अदा नहीं किया गया और काश्तकार को बे-दख़ल कर सकता था । उस बेचारे के लिए यह साबित करना ग़ैर-मुमकिन था कि लगान अदा कर दिया । लगान के अलावा बहुतेरी बेजा लागें लगी हुई थीं । मुझे मालूम हुआ कि उस ताल्लुके में तरह-तरह की कोई पचास ऐसी लागें लगी हुई है । मुमकिन है यह बात बढ़ाकर कही गई हो । मगर ताल्लुकेदार जिस तरह ख़ास-ख़ास मौक़ों पर—जैसे अपने कुटुम्ब में किसीकी शादी हो तो, लड़के विलायत पढ़ने गये हों तो, गवर्नर या दूसरे बड़े अफ़सर को पार्टी दी गई हो तो, एक मोटर या हाथी खरीदा गया हो तो—उनके खर्चे का रुपया वसूल करते थे, यह कितनी दुष्टता थी । यहाँतक कि इन लागों के मोटरोना (मोटर-टैक्स), हथियोना (हाथी के ख़रीदने का खर्च) वग़ैरा नाम पड़ गये थे ।

ऐसी हालत में कोई ताज्जुब नही जो अवध में इतना बड़ा किसान-आन्दोलन उठ खड़ा हुआ हो; बल्कि मुझे उस वक्त ताज्जुब तो इस बात पर हुआ कि बिना शहरवालों की मदद के या राजनैतिक पुरुषों अथवा ऐसे ही दूसरे लोगों की प्रेरणा

के कैसे बिलकुल अपने-आप वह इतना बढ़ गया। यह किसान-आन्दोलन काँग्रेस से बिलकुल अलहदा था। देश में जो असहयोग-आन्दोलन आरम्भ हो रहा था, उसका इसमे कोई ताल्लुक न था। बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि इन दोनों विशाल और जोरदार आन्दोलनों का मूल-कारण एक-सा था। हाँ, १९१९ में गांधीजी ने जो बड़ी-बड़ी हड़तालें कराई थीं, उनमें किसानों ने भी हिस्सा लिया था, और उनके बाद से उनका नाम देहातियों में जादू का काम करता था।

मुझे सबसे बड़ा आश्चर्य तो इस बात पर हुआ कि हम शहरवालों को इतने बड़े किसान-आन्दोलन का पता तक नही था। किसी अखबार में उसपर एक सतर भी नही आती थी। उन्हें देहात की बातों में कोई दिलचस्पी नही थी। मैंने इस बात को और भी ज्यादा महसूस किया कि हम अपने लोगों से किस तरह दूर पड़े हुए हैं, और उनसे अलग अपनी छोटी-सी दुनिया में किस तरह रहते और काम तथा आन्दोलन करते हैं।

९

# किसानों में भ्रमण

तीन दिन तक मैं गांवों में घूमता रहा। और एक बार इलाहाबाद आकर फिर वापस गया। हम गाँव-गाँव घूमे—किसानों के साथ खाते, उन्हींके साथ उनके कच्चे झोंपड़ों में रहते, घण्टों उनसे बात-चीत करते और कभी-कभी छोटी-बड़ी सभाओं में व्याख्यान भी देते। शुरू में हम एक छोटी मोटर में गये थे। किसानों में इतना उन्साह था कि सैकड़ों ने रात-रात भर काम करके खेतों के रास्ते कच्ची सड़क तैयार की, जिससे मोटर ठेठ दूर-दूर के गाँवों में जा सके। अक्सर मोटर अड़ जाती और बीसों आदमी खुशी-खुशी दौड़कर उसे उठाते। आखिर को हमें मोटर छोड़ देनी पड़ी और ज्यादातर सफ़र पैदल ही करना पड़ा। जहाँ कहीं हम गये, हमारे साथ पुलिस के लोग, खुफिया और लखनऊ के डिप्टी कलेक्टर रहते थे। मैं समझता हूँ, खेतों में हमारे साथ दूर-दूर तक पैदल चलते हुए उनपर एक प्रकार की मुसीबत आ गई होगी। वे सब थक गये थे। हमसे और किसानों से बिलकुल उकता उठे थे। डिप्टी कलेक्टर थे लखनऊ के एक नाजुक-मिजाज़ नौजवान और पम्प-शू पहने हुए थे। कभी-कभी वह हमसे कहते कि ज़रा धीरे चलें। मैं समझता हूँ आखिर हमारे साथ चलना उन्हें दुश्वार हो गया और वह रास्ते में ही कहीं रह गये।

जून का महीना था, जिसमें सबसे ज्यादा गर्मी पड़ा करती है। बारिश के पहले की तपिश थी। सूरज की तेज़ी बदन को झुलसाये देती थी और आँखों को अंधा बना देती थी। मुझे धूप में चलने की बिलकुल आदत न थी और इंग्लैंड से लौटने के बाद हर साल गर्मियों में मैं पहाड़ पर चला जाया करता था। किन्तु इस बार मैं दिन भर खुली धूप में घूमता था और सिर पर धूप से बचने को हैट भी न था। सिर्फ़ एक छोटा तौलिया सिर पर लपेट लिया था। दूसरी बातों में मैं इतना मशगूल था कि धूप का कुछ खयाल भी नहीं रहा; और इलाहाबाद लौटने पर जब कहीं मैंने देखा तो मेरे चेहरे का रंग कितना पक्का हो गया था। और फिर मुझे याद पड़ा कि सफ़र में क्या-क्या बीती। लेकिन इस बात पर मैं अपने-आपसे खुश हुआ; क्योंकि मुझे मालूम हो गया कि बड़े-बड़े मज़बूत आदमियों के बराबर मैं धूप को बर्दाश्त कर सका और जो मैं उससे डरता था उसकी जरूरत नहीं थी। मैंने देख लिया है कि मैं कड़ी-से-कड़ी गर्मी और कड़े-से-कड़े जाड़े को बिना ज्यादा तकलीफ़ के बर्दाश्त कर सकता हूँ। इससे मुझे अपने काम में तथा जेल-जीवन बिताने में बड़ी मदद मिली। इसकी वजह

यह थी कि मेरा शरीर आम तौर पर मज़बूत और काम करने लायक़ था और मैं हमेशा कसरत किया करता था। इसका सबक़ मैंने पिताजी से सीखा था, जो थोड़े-बहुत कसरती थे और क़रीब-क़रीब अपने आख़िरी दिनों तक जिन्होंने रोज़ाना कसरत जारी रक्खी थी। उनके सिर पर चाँदी-से सफ़ेद बाल हो गये थे, चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गई थीं और वह विचार करते करते बूढ़े और थके-से दिखाई देते थे। मगर उनका बाक़ी शरीर मृत्यु के एक-दो साल पहले तक उनसे बीस बरस कम उम्र के आदमी का-सा जान पड़ता था।

जून १९२० में परताबगढ़ जाने के पहले भी मैं गाँवों से अक्सर गुजरता था। वहाँ ठहरता था और किसानों से बात-चीत भी करता था। बड़े-बड़े मेलों के अवसर पर गंगा-किनारे हज़ारों देहातियों को मैंने देखा था और उनमें होमरूल का प्रचार किया था। लेकिन उस समय मैं यह अच्छी तरह न जानता था कि दरअसल वे क्या हैं, और हिन्दुस्तान के लिए उनका क्या महत्त्व है। हममें से ज्यादातर लोगों की तरह मैं भी उनके बारे में कोई विचार न करता था। यह बात मुझे इस परताबगढ़ की यात्रा में मालूम हुई, और तबसे हिन्दुस्तान का जो चित्र मैंने अपने दिमाग़ में बना रक्खा है उसमें हमेशा के लिए इस नंगी-भूखी जनता का स्थान बन गया है। सम्भवतः उस हवा में एक क़िस्म की बिजली थी। शायद मेरा दिमाग़ उसका असर अपने पर पड़ने देने के लिए तैयार था। और उस समय जो चित्र मैंने देखे और जो छाप मुझ-पर पड़ी वह मेरे दिल पर हमेशा के लिए अमिट हो गई।

इन किसानों की बदौलत मेरी झेंप निकल गई और मैं सभाओं में बोलना सीख गया। तबतक मैं शायद ही किसी सभा में बोला होऊँ। अक्सर हमेशा हिन्दुस्तानी में बोलने की नौबत आती थी और उसके ख़याल से मैं दहशत खाया करता था। लेकिन मैं किसान सभाओं में बोलने को कैसे टाल सकता था? और इन सीधे-सादे ग़रीब लोगों के सामने बोलने में झेंपने की भी क्या बात थी? मैं वक्तृत्व-कला तो जानता न था। इसलिए उनके साथ एक-दिल होकर बोलता और मेरे दिल और दिमाग़ में जो-कुछ होता था वह सब उनसे कह देता था। लोग चाहे थोड़े हों चाहें हज़ारों की तादाद में हों, मैं हमेशा बातचीत के या ज़ाती ढंग से ही उनके सामने बोलता; और मैंने देखा कि चाहे कुछ कमी भी उसमें रह जाती हो लेकिन मेरा काम चल जाता था। मेरे व्याख्यान में प्रवाह काफ़ी रहता था। मैं जो-कुछ कहता था शायद उसका बहुत-कुछ हिस्सा उनमें से बहुतेरे समझ नहीं पाते थे। मेरी भाषा और मेरे विचार इतने सरल न थे कि वे समझ सकते। बहुत लोग तो मेरा भाषण सुन ही नहीं पाते थे; क्योंकि भीड़ तो भारी होती थी और मेरी आवाज़ दूर तक नहीं पहुँच

पाती थी। लेकिन जब कि वे किसी एक शख्स पर भरोसा और श्रद्धा कर लेते हैं, तब इन सब की ज्यादा परवा उन्हें नहीं रहती।

मैं अपनी मां और पत्नी से मिलने मसूरी गया तो, मगर मेरे दिमाग़ में किसान-ही-किसान भरे थे और मैं फिर उनमें जाने के लिए उत्सुक था। ज्योंही मैं मसूरी से वापस लौटा, गाँवों में घूमने चला गया; और मैंने देखा कि किसान-आन्दोलन बढ़ता जा रहा था। उन पीड़ित किसानों के अन्दर अपने-आपपर एक नया विश्वास पैदा हो रहा था। वे छाती तानकर और सिर ऊँचा करके चलने लगे थे। ज़मींदारों के कारिन्दों और पुलिस का डर उनके दिल में कम होता चला जाता था। और यदि किसीका खेत बे-दख़ल होता था तो कोई दूसरा किसान उसे लेने के लिए आगे नहीं बढ़ता था। ज़मींदारों के नौकर जो उन्हें मारा-पीटा करते थे और क़ानून के ख़िलाफ़ उनसे बेगार और लाग लिया करते थे, वह कम हो गया था; और जब कभी कोई ज्यादती होती तो फौरन उसकी रिपोर्ट होती और तहकीक़ात की कोशिश की जाती। इससे ज़मींदारों के कारिन्दों और पुलिस की ज्यादतियों की कुछ रोक हुई। ताल्लुक़ेदार घबराये और अपना बचाव करते और प्रान्तीय सरकार ने अवध-काश्तकारी-कानून में सुधार करने का वादा किया।

ताल्लुक़ेदार और बड़े ज़मींदार ज़मीन के मालिक कहलाते हैं। वे अपने को "लोगों के स्वभाविक नेता" कहने में अपना फ़ख़्र समझते हैं। वे यों तो ब्रिटिश सरकार के लाड़ले और बिगड़ैल बेटे हैं, लेकिन सरकार उनके लिए शिक्षा और लालन-पालन की जो विशेष व्यवस्था की थी या करने की भूल की थी उसके द्वारा उसने उनके सारे वर्ग को बुद्धि और दिमाग़ में बिलकुल बोदा और निकम्मा बना दिया। वे अपने किसानों के लिए कुछ भी नहीं करते थे जैसा कि दूसरे देशों के ज़मींदार अक्सर थोड़ा-बहुत किया करते हैं, और ज़मीन और लोगों को महज़ चूस कर अपना पेट भरने वाले रह गये थे। उनके पास सबसे बड़ा काम यह रह गया था कि वे मुक़ामी अफ़सरों की खुशामत-दरामद करते रहें—जिनकी कि मेहरबानी के बिना उनकी हस्ती ज्यादा दिन ठहर नहीं सकती थी। और वे हमेशा अपने खास स्वार्थों और हक़ों की रक्षा का लगातार मतालबा करते रहते थे।

ज़मींदार शब्द से ज़रा धोखा हो जाता है और किसी-किसीको यह ख़याल हो सकता है कि तमाम ज़मींदार बड़ी-बड़ी ज़मीनों के मालिक हैं। जिन सूबों में रैयतवारी तरीक़ा है वहाँ ज़मींदार के मानी हैं खुद खेती करने वाला ज़मीन-मालिक। उन प्रान्तों में भी जहाँ ज़मींदारी-प्रथा है, ज़मींदारों में कम ज़मीन के मालिक, मध्यम दर्जे के हज़ारों ज़मीन-मालिक, और वे हज़ारों लोग भी जो हद दर्जे की ग़रीबी में दिन काटते

हैं और किसी तरह काश्तकारों से अच्छी हालत में नहीं हैं, आ जाते हैं। संयुक्त-प्रान्त में, जहाँ तक मुझे याद है, पन्द्रह लाख के क़रीब वे लोग हैं जिनकी गिनती ज़मींदार-वर्ग में की जाती है। ग़ालिबन इनमें से ९० फ़ी सदी के ऊपर की हालत गरीब-से-ग़रीब काश्तकार की हालत से मिलती-जुलती है और दूसरे ९ फ़ी सदी की हालत किसी क़दर अच्छी है। बड़े समझे जानेवाले ज़मीन-मालिक सारे सूबे में पाँच हज़ार से ज्यादा नहीं हैं और इसके कोई ११० दरहकीक़त बड़े ज़मीदार और ताल्लुक़ेदार कहलाने लायक हैं। बाज़-बाज़ बड़े काश्तकार की हालत तो छोटे ग़रीब ज़मीदारों से कहीं अच्छी है। ग़रीब ज़मीन-मालिक और मध्यम दर्जे के ज़मींदार बुद्धि में पिछड़े हुए हैं। मगर हैं आम तौर पर बहुत अच्छे लोग—स्त्री व पुरुष दोनों। और यदि उनकी शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध अच्छा हो तो वे बढ़िया नागरिक बन सकते है। उन्होने राष्ट्रीय आन्दोलनों में ख़ास हिस्सा लिया है। मगर ताल्लुक़ेदारों और बड़े ज़मीदारों ने नहीं—हाँ, कुछ अच्छे अपवादों को छोड़कर। और तो और पर उनमें कुलीन वर्ग की खूबियाँ भी नहीं पाई जातीं। एक वर्ग की हैसियत से शरीर और बुद्धि दोनों में वे गिर गये हैं। अब-तक तो उनका खात्मा ही होना चाहिए था। अब वे तभी तक जीवित रह सकेंगे कि जबतक ब्रिटिश सरकार ऊपर से उनको सहारा लगाती रहेगी।

पूरे १९२१ भर में देहाती इलाकों मे आता-जाता रहा। लेकिन मेरा कार्य-क्षेत्र बढ़ता गया—यहाँतक कि सारे युक्त प्रान्त में फैल गया। असहयोग सरगर्मी से शुरू हो गया था और उसका सन्देश दूर-दूर के गाँवों में पहुँच चुका था। हर जिले में काँग्रेस-कार्यकर्त्ताओं का एक झुण्ड इस नये सन्देश को लेकर देहात में जाता, और उनके साथ वे किसानों की शिकायतें दूर करने की बात भी मोटे तौर पर जोड़ देते थे। स्वराज एक ऐसा व्यापक शब्द था जिसमें सब-कुछ आ जाता था, फिर भी ये दोनों आन्दोलन—असहयोग और किसान—बिलकुल अलहदा-अलहदा थे; हालाँकि हमारे प्रान्त में ये दोनों बहुत कुछ एक-दूसरे में मिल-जुल जाते थे और एक-दूसरे पर असर डालते थे। काँग्रेस के इस प्रचार का यह फल हुआ कि मुकदमेबाज़ी एकबारगी कम हो गई और गाँवों में पञ्चायतें कायम होकर उनमें मुकदमे फ़ैसल होने लगे। कांग्रेस का असर शान्ति के हक़ में खास तौर पर ज्यादा गिरा क्योंकि जहाँ भी कोई काँग्रेस-कार्यकर्त्ता जाता वहाँ इस नये अहिंसा के सिद्धान्त पर ख़ास तौर पर ज़ोर देता। हो सकता है कि लोगों ने न तो इसकी क़द्र की हो, न इसे पूरा समझा ही हो; लेकिन इसने किसानों को मार-काट पर पड़ने से रोका ज़रूर है।

यह कोई कम बात न थी। किसान जब उभड़ते हैं तो मार-काट कर बैठते हैं और उनका उभाड़ किसानों की और मालिकों की खासी लड़ाई ही बन जाती है। और

उन दिनों अवध के हिस्से के किसानों के जोश का पारा बहुत ऊँचा चढ़ा हुआ था और वे सब-कुछ कर डालने पर आमादा थे। एक चिनगारी पड़ने की देर थी कि आग धधक उठती। फिर भी उन्होंने ग़ज़ब की शान्ति रक्खी। मुझे सिर्फ़ एक ही मिसाल याद आती है कि जिसमें एक ताल्लुक़ेदार पीटा गया। ताल्लुक़ेदार अपने घर में बैठा था—उसके यार-दोस्त आसपास बैठे थे। एक किसान उसके पास गया और उसके गाल पर एक थप्पड़ जमा दिया। किसान का कहना था कि वह अपनी पत्नी के साथ अच्छा व्यवहार नही करता था और बदचलन था।

एक और क़िस्म का हिंसा-कार्य आगे जाकर हुआ, जिससे सरकार के साथ टक्करें हुईं। मगर ये टक्करें तो होकर ही रहती; क्योंकि सरकार संगठित किसानों की बढ़ती हुई ताक़त को बर्दाश्त नही कर सकती थी। ढेर-के-ढेर किसान बिना टिकट रेल में सफ़र करने लगे—ख़ास तौर पर तब जब कि उन्हें अपनी बड़ी-बड़ी सभाओं में समय-समय पर जाना पड़ता था। कभी-कभी तो उनकी तादाद ६० से ७० हज़ार तक हो जाती। उन्हें हटाना मुश्किल था। और वे खुल्लमखुल्ला रेलवे की हुकूमत का मुक़ाबिला करने लगे, जैसा कि पहले कभी न देखा न सुना गया था। वे रेलवे कर्म-चारियों से कहते कि—'साहब, अब पुराना ज़माना चला गया।' किसके भड़काने से वे बिना टिकट झुण्ड-के-झुण्ड सफर करते थे, मैं नही जानता। हाँ, हमने उन्हें ऐसी कोई बात नहीं सुझाई थी। हमने तो अचानक सुना कि वे ऐसा कर रहे हैं। बाद को जाकर जब रेलवेवालों ने कड़ाई की तब यह सिलसिला बन्द हो गया।

१९२० की शरद् ऋतु में (जब मैं कलकत्ते मे काँग्रेस के विशेष अधिवेशन में गया हुआ था) कुछ मामूली-सी बात पर कुछ किसान नेता गिरफ्तार कर लिये गये। ख़ास परताबगढ़ में उनका मुक़दमा चलाया जानेवाला था। लेकिन मुक़दमे के दिन किसानों की एक बड़ी भीड़ से अदालत का हाता भर गया और वहाँ से जेल तक के रास्ते भर एक लाइन बन गई, जहाँ कि नेता लोग रक्खे गये थे। मजिस्ट्रेट घबरा गया और उसने मुक़दमा दूसरे दिन के लिए मुल्तवी कर दिया। लेकिन भीड़ बढ़ती गई और उसने जेल को क़रीब-क़रीब घेर लिया। किसान लोग मुट्ठी-भर चने खाकर कुछ दिन बड़े मज़े से रह सकते हैं। आख़िर को किसान नेता छोड़ दिये गये। शायद जेल में उनका मुक़दमा कर दिया गया था। मैं यह तो भूल गया कि यह घटना कैसे हुई, लेकिन किसानों ने उसे अपनी एक बड़ी विजय समझा और वे यह सोचने लगे कि महज़ अपनी भीड़ के बल पर ही हम अपना चाहा करा लिया करेंगे। मगर सरकार के लिए यह स्थिति असह्य थी। और एक ऐसा ही मौका जल्दी पेश आया; लेकिन उसका अंत दूसरी तरह हुआ।

१९२१ की जनवरी के शुरू की बात है। मैं नागपुर-कांग्रेस से लौटा ही था कि मुझे रायबरेली से तार मिला, कि जल्दी आओ; क्योंकि वहाँ उपद्रव की आशंका थी। दूसरे दिन मैं गया। मुझे मालूम हुआ कि कुछ दिन पहले कुछ प्रमुख किसान पकड़े गये थे और वहीं जेल में रक्खे गये थे। किसानों को परतापगढ़ की सफलता और उस समय जो नीति उन्होंने अख़्त्यार की थी वह याद थी ही। चुनांचे किसानों की एक बड़ी भीड़ रायबरेली जा पहुँची। मगर इस बार सरकार उन्हें ऐसा नहीं करने देना चाहती थी और इसलिए उसने जायद पुलिस और फ़ौज का इंतज़ाम कर रक्खा था कि उन्हें आगे न बढ़ने दे। कस्बे के ठीक बाहर एक छोटी नदी के उस पार किसानों का मुख्य भाग रोक दिया गया। लेकिन फिर भी दूसरी तरफ़ से लोग लगातार चले आ रहे थे। स्टेशन पर आते ही मुझे इस स्थिति की ख़बर मिली और मैं फ़ौरन नदी की तरफ गया, जहाँ फ़ौज किसानों का सामना करने के लिए रक्खी गई थी। रास्ते में मुझे ज़िला-मजिस्ट्रेट का जल्दी में लिखा एक पुर्जा मिला, कि मैं वापस लौट जाऊँ। उसीकी पीठ पर मैंने जवाब लिखा और पूछा, कि किस क़ानून की किस दफ़ा की रू से मुझे वापस जाने के लिए कहा गया है; और जबतक इसका जवाब नहीं मिलेगा तबतक मैं अपना काम जारी रखना चाहता हूँ। जैसे ही मैं नदी तक पहुँचा कि दूसरे किनारे पर से गोलियों की आवाज़ सुनाई दी। मुझे पुल पर ही फ़ौजवालों ने रोक लिया। मैं वहाँ इन्तज़ार कर ही रहा था कि एकाएक कितने ही डरे और घबराये हुए किसानों ने मुझे आ घेरा, जोकि नदी के इस किनारे खेतों में छिप रहे थे। तब मैंने वहाँ उसी जगह कोई दो हज़ार किसानों की सभा करके उनके डर को दूर और उत्तेजना को कम करने की कोशिश की। कुछ क़दम आगे ही एक छोटे नाले के उस पार उनके भाइयों पर गोलियों का बरसना और चारों और फ़ौज-ही-फ़ौज दिखाई देना—यह उनके लिए एक असाधारण स्थिति थी। मगर फिर भी सभा बहुत सफलता के साथ हुई, जिससे किसानों का डर कुछ कम हो गया। तब ज़िला-मजिस्ट्रेट उस जगह से लौटे जहाँ से गोलियाँ चलाई जा रही थीं और उनके अनुरोध पर मैं उनके साथ उनके घर गया। वहाँ उन्होंने किसी-न-किसी बहाने कोई दो घण्टे तक मुझे रोक रक्खा—ज़ाहिर है कि उनका इरादा मुझे किसानों से और शहर के अपने मित्रों से दूर रखने का था।

बाद को हमें पता चला कि गोली-काण्ड से बहुतेरे आदमी मारे गये। किसानों ने तितर-बितर होने से या पीछे हटने से इन्कार कर दिया था; मगर यों वे बिलकुल शान्त बने रहे थे। मुझे बिलकुल यक़ीन है कि अगर मैं, या हममें से कोई, जिनपर वे भरोसा रखते थे, वहाँ होते और उन्होंने उनसे कहा होता तो वे जरूर

वहाँ से हट गये होते। जिन लोगों का वे विश्वास नहीं करते थे उनका हुक्म मानने से उन्होंने इन्कार कर दिया। किसीने तो दर-असल मजिस्ट्रेट को सुझाया भी था, कि मेरे आने तक कुछ ठहर जावें; किन्तु उन्होंने नहीं सुना। जहाँ वह खुद नाकामयाब हो चुके थे, वहाँ भला वह किसी आन्दोलनकारी को क्योंकर सफल होने दे सकते थे? विदेशी सरकारों का, जिनका कि दारोमदार अपने रौब पर होता है, यह तरीक़ा नहीं हुआ करता।

रायबरेली ज़िले में उन्हीं दिनों दो बार किसानों पर गोलियाँ चलीं, और उसके बाद तो हरेक प्रमुख किसान-कार्यकर्त्ता या पञ्चायत के मेम्बर के लिए मानों डर का राज्य ही फैल गया! सरकार ने उस आन्दोलन को कुचल डालने का पक्का इरादा कर लिया था। उन दिनों कांग्रेस की प्रेरणा से किसानों के अन्दर चरखा चलाने की प्रवृत्ति हो रही थी। इसलिए चरखा तो मानों राजद्रोह का प्रतीक हो गया था, और जिसके घर चरखा पाया जाता उसीकी आफ़त आ जाती। चरखे अक्सर जला भी दिये जाते थे। इस तरह सरकार ने सैकड़ों लोगों को गिरफ्तार करके तथा दूसरे तरीकों से रायबरेली और परतावगढ़ ज़िले के देहाती इलाकों के किसान और कांग्रेस दोनों आन्दोलनों को कुचलने की कोशिश की। ज्यादातर मुख्य-मुख्य कार्यकर्त्ता दोनों आन्दोलनों में एक ही थे।

कुछ दिन बाद, १९२१ में, फ़ैज़ाबाद ज़िले में दूर-दूर तक दमन का मज़ा चखाया गया। वहाँ एक अनोखे ढग से झगड़ा खड़ा हुआ। कुछ देहात के किसानों ने जाकर एक ताल्लुक़ेदार का माल-असबाब लूट लिया। बाद को पता लगा कि उन लोगों को एक दूसरे जमींदार के नौकरों ने भड़का दिया था, जिसका ताल्लुक़ेदार से कुछ झगड़ा था। उन गरीबों से सचमुच यह कहा गया था कि महात्मा गांधी चाहते हैं कि वे लूट लें; और उन्होंने 'महात्मा गांधी की जय' बोलते हुए इस आदेश का पालन किया।

जब मैंने यह सुना तो मैं बहुत बिगड़ा और दुर्घटना के एक या दो ही दिन में घटना स्थल पर जा पहुँचा, जो अकबरपुर (फ़ैज़ाबाद ज़िला) के पास ही था। मैंने उसी दिन एक सभा बुलाई और कुछ ही घण्टों में ५-६ हज़ार लोग कई गाँवों से, कोई १०-१० मील की दूरी से, वहाँ इकट्ठे हो गये। मैंने उन्हें बुरी तरह आड़े हाथों लिया, कि किस तरह उन्होंने अपने-आपको तथा हमारे काम को धक्का पहुँचाया, और शर्मिन्दगी दिलाई और कहा कि जिन-जिनने लूट-पाट की है वे सबके सामने अपना गुनाह क़बूल करें। (उन दिनों मैं गांधीजी के सत्याग्रह की स्पिरिट से, जैसा-कुछ मैं उसे समझता था, भरा हुआ था।) मैंने उन लोगों से, जो लूट-मार में शरीक थे, हाथ ऊँचा उठाने

के लिए कहा, और कहते ताज्जुब होता है कि बीसों पुलिस-अफसरों के सामने कोई दो दर्जन हाथ ऊपर उठ गये। इसके मानी थे यक़ीनन उनपर आफ़त आना।

जब उनमें से बहुतेरे लोगों से मैंने खानगी में बातचीत की और उन्होंने सीधे-सादे ढंग से सुनाया कि किस तरह उन्हें गुमराह किया गया था, तो मुझे उनकी हालत पर बड़ा दुःख हुआ और इस बात पर अफसोस होने लगा कि मैंने नाहक ही इन सीधे-भोले लोगों को लंबी-लंबी सजायें पाने की हालत में ला रक्खा। लेकिन जिन लोगों को सज़ा भुगतनी पड़ी वे दो या तीन दर्जन नहीं थे। सरकार के लिए इतना अच्छा मौक़ा भला कहीं खोने जैसा था? उस ज़िले के किसान-आन्दोलन को कुचलने के लिए इस अवसर का पूरा-पूरा फ़ायदा उठाया गया। एक हज़ार से ऊपर गिरफ्तारियाँ हुई और ज़िला-जेल ठसाठस भर गई। कोई एक साल तक मुक़दमे चलते रहे। कितने ही मुकदमे के दौरान में जेल ही में मर गये। दूसरे कितनों ही को लम्बी-लम्बी सजायें दी गई और पिछले दिनों जब मैं जेल गया तो वहाँ उनमें से कुछ से मुलाक़ात हुई थी। क्या लड़के और क्या जवान, सब अपनी जवानी जेल में काट रहे थे!

हिन्दुस्तान के किसान में टिके रहने की शक्ति बहुत कम है। ज्यादा दिनो तक मुकाबिला करने की ताक़त नही रहती। अकालों और बीमारियों के दौर में लाखों मर जाते हैं। ऐसी दशा में यह ताज्जुब की बात है कि एक साल भर तक उन्होंने सरकार और जमीदार दोनों के सम्मिलित दबाव का मुकाबिला करने की ताक़त का परिचय दिया। लेकिन वे कुछ-कुछ थकने लग गये थे और सरकार उनके आन्दोलन पर दृढ़तापूर्वक हमले करती रहती थी, जिससे अन्त में उनकी हिम्मत उस समय के लिए तो टूट गई। फिर भी उनका आन्दोलन धीमी रफ्तार से चलता रहा—हाँ, पहले जैसे बड़े-बड़े प्रदर्शन नहीं होते थे, लेकिन अधिकांश गाँवों में पुराने कार्यकर्ता बच रहे थे जिनपर डर का कोई असर न हुआ था और जो छोटे रूप में काम करते रहे। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि यह सब हुआ था काँग्रेस के १९२१ के जेल जाने के कार्य-क्रम बनने के पहले। किन्तु इसमें भी किसानों ने, पिछले साल के दमन के बावजूद, बहुत-कुछ हाथ बंटाया था।

सरकार किसान-आन्दोलन से डर गई थी और उसने किसानों-सम्बन्धी क़ानून को पास करने की जल्दी की। इसके द्वारा किसानों की हालत सुधरने की आशा हुई थी। किन्तु जब देखा कि आन्दोलन काबू में आ चुका है तो उसको नरम बना दिया गया। इसके द्वारा जो मुख्य परिवर्तन किया गया वह था अवध के किसानों को हीन-हयात ज़मीन पर अधिकार दे देना। यह दिखाई तो दिया था उनके लिए

लुभावना, लेकिन अन्त में साबित यह हुआ कि उनकी हालत में उससे कुछ भी सुधार नहीं हुआ।

अवध में किसानों की हलचलें जब-तब होती रहती थीं, लेकिन छोटे पैमाने पर। मगर, १९२९ में जो मंदी सारे संसार में आई उससे चीज़ों के भाव गिर गये और इसलिए फिर एक संकट-काल आ खड़ा हुआ।

# १०

## असहयोग

अवध के किसानों की उथल-पुथल का यहाँ कुछ ब्यौरे के साथ मैंने वर्णन किया है, क्योंकि उसने भारत की समस्या पर से परदा उठाकर उसका मूल-स्वरूप मेरे सामने खड़ा कर दिया, जिसकी तरफ कि राष्ट्रीय विचार वालों ने शायद ही कुछ तवज्जो की हो। हिन्दुस्तान के जुदे-जुदे भागों में किसानों की हलचलें बार-बार होती रहती हैं, जो कि गहरी अशान्ति के लक्षण हैं। अवध के कुछ हिस्सों में जो किसान-आन्दोलन १९२०-२१ में हुआ वह उसी तरह का था—हालांकि वह अपने ढंग का निराला था, जिससे कई रहस्य सामने आये। उसकी शुरुआत का सम्बन्ध किसी तरह न तो राजनीति से था, न राजनैतिक पुरुषों से, बल्कि शुरू से आखिर तक बाहरी और राजनैतिक लोगों का उसपर कम-से-कम असर था। सारे हिन्दुस्तान की दृष्टि से वह एक मुकामी मामला था, और इसलिए उसकी तरफ़ बहुत-कम ध्यान दिया गया था। यहाँ तक कि संयुक्त-प्रान्त के अखबारों ने भी उसकी तरफ़ बहुत-कुछ लापरवाही ही दिखाई। उनके सम्पादकों और उनके अधिकांश शहराती पाठकों के लिए अध-नंगे किसानों की जमात के उन कामों में कोई असली राजनैतिक या दूसरे प्रकार की खूबी न थी।

पंजाब और ख़िलाफ़त-सम्बन्धी अन्यायों की रोज़ चर्चा होती थी और असहयोग, जिसके बल पर उन अन्यायों को दूर करने की कोशिश की जानेवाली थी, लोगों की ज़बान पर एक ही विषय था। सब लोगों का ध्यान उसी में लगा हुआ था। अलबत्ते शुरू में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के बड़े प्रश्न, यानी स्वराज, पर ज्यादा ज़ोर नहीं दिया जाता था। गांधीजी गोल-मोल और बड़े-बड़े उद्देशों को पसन्द नहीं करते हैं—वह हमेशा किसी ख़ास और निश्चित बात पर सारी ताक़त लगाना ज्यादा पसन्द करते हैं। फिर भी स्वराज की बातें वायु-मण्डल में और लोगों के दिमाग़ों में बहुत-कुछ घूमती रहती थी, और जगह-जगह जो सभा-सम्मेलन होते थे उनमें बार-बार उनका ज़िक्र आया करता था।

१९२० के सितम्बर में कलकत्ता में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ—पंजाब और ख़िलाफत के और ख़ासकर असहयोग के प्रश्न पर अपना निर्णय देने के लिए। लाला लाजपतराय उसके सभापति थे, जो लम्बे अरसे तक देश से बाहर रहने के बाद हाल ही अमेरिका से लौटे थे। उन्हें असहयोग की यह नई योजना नापसन्द

थी और उन्होंने उसका विरोध किया था। हिन्दुस्तान की राजनीति में वह आम तौर पर गरम-दल के माने जाते थे, लेकिन उनकी साधारण जीवन-दृष्टि निश्चित रूप से वैध और माडरेट थी। सदी के शुरू के उन दिनों परिस्थिति ने—न कि हार्दिक विश्वास या इच्छाने—उन्हें लोकमान्य तिलक तथा दूसरे गरम-दलवालों का साथी बना दिया था। लेकिन उनका दृष्टि-कोण निश्चय ही सामाजिक तथा आर्थिक था, जो कि उनके अरसे तक विदेशों में रहने से और भी मज़बूत हो गया था, और उसके कारण उनकी दृष्टि अधिकांश हिन्दुस्तानी नेताओं की बनिस्बत ज्यादा व्यापक थी।

विल्फ्रेड स्केवन ब्लण्ट ने अपनी 'डायरियों' में गोखले और लालाजी के साथ हुई मुलाक़ातों ( १९०९ से लगभग ) का हाल लिखा है। दोनो के बारे में उसने बहुत सख़्त लिखा है, क्योंकि उसकी राय में वे बहुत फूंक-फूंक कर चलते थे और वास्तविकता का सामना करते हुए डरते थे। लेकिन फिर भी लालाजी दूसरे बहुत-से हिन्दुस्तानी नेताओं से कहीं ज्यादा उनका मुक़ाबिला करते थे। ब्लण्ट पर जो छाप पड़ी उससे तो हम यह समझ सकते हैं कि उस समय हमारी राजनीति की ओर हमारे नेताओं की नाड़ी कितनी धीमी चलती थी और उनका असर एक सुयोग्य और अनुभवी विदेशी सज्जन पर क्या पड़ा। लेकिन पिछले २० वर्षों में उनकी नब्ज़ की चाल में बड़ा फ़र्क़ पड़ गया है।

इस विरोध में लाला लाजपतराय अकेले न थे। उनके साथ बड़े-बड़े और प्रभाव-शाली लोग भी थे। कॉंग्रेस के करीब-करीब सभी पुराने महारथियों ने गांधीजी के असहयोग-प्रस्ताव का विरोध किया था। देशबन्धु दास उस विरोध के अगुआ थे—इसलिए नहीं कि वह उसकी स्पिरिट को नापसन्द करते थे—क्योंकि वह उस हद तक बल्कि उससे भी आगे जाने को तैयार थे—बल्कि ख़ासकर इसलिए कि नई कौंसिलों के बहिष्कार पर उन्हें ऐतराज था।

पुरानी पीढ़ी के बड़े-बड़े नेताओं में एक मेरे पिताजी ही ऐसे थे जिन्होंने उस समय गांधीजी का साथ दिया उनके लिए ऐसा करना हँसी-खेल न था। उनके पुराने साथियों ने जो-जो ऐतराज किये थे उनमें से बहुतेरों को वे ठीक समझते थे और उनका उनपर बहुत असर भी हुआ था। उनकी तरह वह भी एक अज्ञात दिशा में एक अजीब नये तरीक़े से आगे बढ़ने में हिचकिचाते थे, जहाँ जाकर किसीके लिए अपने पुराने तौर-तरीक़े क़ायम रखना मुश्किल ही था। फिर भी उनके दिल में एक अनिवार्य कोशिश थी कोई कारगर उपाय करने की ओर—और असहयोग के प्रस्ताव में ऐसे निश्चित उपाय की योजना थी, अलबत्ते वह ठीक उसी तरह की न थी जैसी कि

पिताजी चाहते थे। पक्का इरादा करने में उन्हें बहुत वक़्त लगा था। बड़ी देर-देर तक उन्होंने गांधीजी और देशबन्धु से बातें की थीं। उन्हीं दिनों संयोग से वह और दास बाबू दोनों बहुत-कुछ एकसाथ पड़ गये थे, क्योंकि एक बड़े मुफस्सिल मुक़दमे में वे दोनों एक-दूसरे के खिलाफ़ पैरवी के लिए खड़े हुए थे। वे दोनों इस मसले को बहुत-कुछ एक-सा नुक्ते-निगाह से देखते थे और उसके अन्त के बारे में भी उनका बहुत कम मतभेद था। फिर भी, वह थोड़ा-सा ही मतभेद काफ़ी था उनसे विशेष काँग्रेस के मुख्य प्रस्ताव का परस्पर-विरोधी पक्ष लिवाने के लिए। तीन महीने बाद वे फिर नागपुर-काँग्रेस में मिले, और तबसे आगे चलकर दोनों एकसाथ चलते रहे और एक-दूसरे के अधिक नज़दीक आते चले गये।

उन दिनों, कलकत्ता की विशेष काँग्रेस के पहले, मैं उनको बहुत कम समझ पाया था। परन्तु जब कभी मैं उनसे मिलता मैंने देखा कि वह बराबर इस समस्या का मुकाबिला करने में लगे रहते थे। इस सवाल के राष्ट्रीय स्वरूप के अलावा इसका ज़ाती पहलू भी था। असहयोग के मानी होते थे उनका वकालत छोड़ देना, जिसके मानी होते थे उनका अपने पुराने जीवन से बिलकुल नाता तोड़ लेना और एक बिलकुल नये जीवन में अपनेको ढालना—यह कोई आसान बात नहीं थी, खासकर उस समय जब कि कोई अपनी ६० वीं वर्षगाँठ मनाने की तैयारी कर रहा हो। पुराने राजनैतिक साथियों से, अपने पेशे से, उस सामाजिक जीवन से जिसके वह अब तक आदी थे, सबसे ताल्लुक़ तोड़ना था और कितनी ही खर्चीली आदतों को छोड़ देना था, जो अबतक पड़ी हुई थीं। फिर रुपये और खर्च-वर्च का सवाल भी कम महत्व का न था, और यह ज़ाहिर था कि अगर वकालत की आमदनी चली गई तो उन्हें अपने रहन-सहन का स्टैंडर्ड बहुत कम करना होगा।

लेकिन उनकी बुद्धि, उनका जबरदस्त स्वाभिमान, और उनका गर्व—ये सब मिलाकर उन्हें एक-एक कदम नये आन्दोलन की तरफ़ ही बढ़ाते गये यहाँतक कि अन्त में वह सोलहों आना उसमें कूद पड़े। उन कई घटनाओं से, जिनका अन्त पञ्जाब-काण्ड में हुआ, और उसके बाद जो-कुछ हुआ उससे उनके दिल में जो गुस्सा भरता जा रहा था उसको, जो अन्याय और अत्याचार वहाँ हुए थे उनकी याद को, और जो राष्ट्रीय अपमान हुआ उसकी कटुता को, बाहर निकलने का कोई मार्ग चाहिए था। लेकिन वह महज़ उत्साह की लहर में बह जानेवाले न थे। उन्होंने आखिरी फैसला तभी किया और गांधीजी के आन्दोलन में तभी कूदे जब उनके दिमाग़ ने, और एक मँजे हुए वकील के दिमाग़ ने, सारा आगा-पीछा अच्छी तरह सोच लिया।

गांधीजी के मानवी गुणों को देखकर वह उनकी तरफ़ खिंचे थे और इसमें कोई

शक नहीं कि इस बात ने भी उनपर असर डाला था। जिस शख्स को वह नापसन्द करते थे उससे उनका साथ कोई भी ताक़त नहीं करा सकती थी, क्योंकि उनकी रुचि और अरुचि दोनों बड़ी तेज़ होती थीं। लेकिन यह मिलाप था अनोखा—एक तो साधु, वैरागी, धर्मात्मा, जीवन में प्राप्त होनेवाले आनन्द-विलास और शारीरिक सुखों को लात मारनेवाला, और दूसरा कुछ भोग-प्रिय, जिसने जीवन के कितने ही आनन्दों का स्वागत और उपभोग किया और इस बात की बहुत कम परवा की कि आगे क्या होगा! मनोविश्लेषण-शास्त्र की भाषा में कहें तो यह एक अन्तर्मुख का एक बहिर्मुख के साथ मिलाप था। फिर भी उन दोनों के बीच एक प्रेम-बन्धन और एक हित-सम्बन्ध था, जिसने दोनों को एक-दूसरे की तरफ़ खींचा और बाँध रक्खा—यहाँतक कि जब आगे चलकर दोनों की राजनीति में अन्तर पड़ गया तब भी दोनों में गाढ़ी मित्रता रही।

वाल्टर पेटर ने अपनी एक किताब में बताया है कि कैसे एक साधु और एक दुनियादार, एक धार्मिक प्रकृति का और दूसरा उसके विरुद्ध स्वभाव का, एक-दूसरे के विरोधी स्थानों से शुरू करके, जुदे-जुदे रास्तों से सफ़र करते हुए, पर फिर भी दोनों ऐसी जीवन-दृष्टि रखते हुए जो अपने उत्साह और सरगर्मियों में औरों से उच्च और उदार रहती है, अक्सर एक-दूसरे को ज्यादा अच्छी तरह समझते और पहचानते हैं—बनिस्बत इसके कि उनमें से हरेक दुनिया के किसी साधारण मनुष्य को समझें और पहचाने—और कभी-कभी तो वे दरअसल एक-दूसरे के हृदय को स्पर्श भी करते हैं।

कलकत्ता के विशेष अधिवेशन ने कांग्रेस की राजनीति में गाँधी-युग को शुरू किया, जो तबसे अबतक क़ायम है—हां, बीच में एक छोटा-सा ज़माना (१९२२ से १९२९ तक) ज़रूर ऐसा गया जिसमें उन्होंने अपने-आपको पीछे रख लिया था और स्वराज-पार्टी को, जिसके नेता देशबन्धु दास और मेरे पिताजी थे, अपना काम करने दिया था। तबसे कांग्रेस की सारी दृष्टि ही बदल गई; विलायती कपड़े चले गये और देखते-देखते सिर्फ खादी-ही-खादी दिखाई देने लगी; कांग्रेस में नये क़िस्म के लोग—प्रतिनिधि—दिखाई देने लगे, जो खास करके मध्यम-वर्ग की निचली श्रेणी के थे। हिन्दुस्तानी और कभी-कभी तो उस प्रान्त की भाषा जहाँ अधिवेशन होता था अधिकाधिक बोली जाने लगी, क्योंकि कितने ही डेलीगेट अँग्रेज़ी नहीं जानते थे। राष्ट्रीय कामों में विदेशी भाषा का व्यवहार करने के खिलाफ़ भी लोगों के भाव तेज़ी से बढ़ रहे थे, और कांग्रेस की सभाओं में साफ़ तौर पर एक नई ज़िन्दगी, नया जोश, और एक सरगर्मी दिखाई देती थी।

अधिवेशन खतम होने के बाद गाँधीजी 'अमृत बाज़ार पत्रिका' के महारथी सम्पादक श्री मोतीलाल घोष से मिलने गये, जोकि मृत्युशय्या पर पड़े हुए थे। मैं उनके साथ गया था। मोती बाबू ने गांधीजी के आन्दोलन को आशीर्वाद दिया और साथ में कहा—"मैं तो अब दूसरी दुनिया में जा रहा हूँ। मैं, और तो क्या कहूं, कहीं भी जाऊँ, मुझे एक बात का बहुत सन्तोष है कि वहाँ ब्रिटिश साम्राज्य न होगा—अब मैं इस साम्राज्य की पहुंच के परे हो जाऊँगा!"

कलकत्ता से लौटते समय मैं गांधीजी के साथ रवीन्द्रनाथ ठाकुर और उनके निहायत प्यारे बड़े भाई 'बड़ो दादा' से मिलने शान्ति-निकेतन गया। वहाँ हम कुछ दिन रहे। मुझे याद है कि सी० एफ़० एण्डरूज़ ने कुछ किताबें मुझे वहाँ दी थीं, जो मुझे दिलचस्प मालूम हुई थीं और जिनका मुझपर बहुत असर भी पड़ा था। उनका विषय था आफ़्रिका में साम्राज्यवाद के आर्थिक स्वरूप। इनमें से मॉरेल की लिखी एक किताब—ब्लैक मेन्स बर्डन—ने मेरे दिल को बहुत हिला दिया था।

इन्हीं दिनों या इसके कुछ दिन बाद, एण्डरूज साहब ने एक पुस्तका लिखी, जिसमें हिन्दुस्तान के लिए स्वाधीनता की पैरवी की गई थी। मैं समझता हूँ कि उसका नाम था 'इंडिपेंडेन्स—दि इमीजिएट नीड'। यह एक बहुत ऊँचे दरजे का मज़मून था, जो कि सिली के हिन्दुस्तान-विषयक कुछ लेखों और पुस्तकों के आधार पर लिखा गया था। और मुझे ऐसा लगा कि स्वाधीनता का प्रतिपादन इतनी अच्छी तरह किया गया है कि उसका कोई जवाब नहीं हो सकता—यही नहीं, बल्कि मुझे वह हमारे हार्दिक भावों का चित्र खींचती हुई मालूम हुई। उसकी भाषा बड़ी सीधी-सादी और सरगर्मी लिये हुई थी। मानो हमारे दिल को हिला देनेवाली गहरी प्रेरणायें और अधखिली अभिलाषायें साफ़ तौर पर मूर्त बनती हुई दिखाई दीं। न तो वह आर्थिक आधार पर लिखी गई थी और न उसमें समाजवाद ही था; उसमें शुद्ध राष्ट्रीयता, हिन्दुस्तान की ज़िल्लत के प्रति मन में सहानुभूति और इससे छुटकारा पाने की और हमारे इस बरसों के अधःपतन का ख़ात्मा कर देने की जबरदस्त ख्वाहिश थी। यह कितनी विचित्र बात है कि एक विदेशी, और सो भी वह जो हमपर हुकूमत करनेवाली जाति का है, हमारे अन्तस्तल की पुकार को इस तरह प्रतिध्वनित करे! असहयोग तो, जैसा कि सिली ने बहुत पहले कह दिया है, "यह भावना है कि हमारे लिए विदेशियों को अपनी हुकूमत हमपर जमाये रखने में सहायता पहुँचाना शर्मनाक है।" और एण्डरूज़ ने लिखा है—"आत्मोद्धार का एक ही मार्ग है, कि अपने अन्दर से कोई जबरदस्त हलचल—उभाड़—पैदा हो। ऐसे उभाड़ के लिए जिस बारूद की ज़रूरत है वह खुद हिन्दुस्तान की रूह में ही पैदा होनी चाहिए। वह बाहर से किसीके देने, मांगने, मिलने, ऐलान

करने और रिआयतें देने में नहीं आ सकती। वह अपने अन्दर से ही आनी चाहिए।.........इसलिए जब मैंने देखा कि ऐसे ही आन्तरिक शक्ति, वह बारूद, दरअसल भक् से धड़ाका कर चुकी है– जब महात्मा गांधी ने भारत के हृदय में मन्त्र फूंका—'आज़ाद हो जाओ, गुलाम मत बने रहो' और हिन्दुस्तान की हृत्तन्त्री उसी स्वर में झनझना उठी—तो मेरे मन और आत्मा को उस असह्य बोझ से छुटकारा पाने की निहायत खुशी हुई। एक आकस्मिक हलचल के साथ उसकी बेड़ियाँ ढीली होने लगीं और आज़ादी का रास्ता खुल गया।"

अगले तीन मास में सारे देश भर में असहयोग की लहर बढ़ती चली गई। नई कौन्सिलों का बहिष्कार करने की जो अपील की गई थी उसमें आश्चर्यजनक सफलता मिली। यह बात नहीं कि सभी लोग वहाँ जाने से रुक गये, या रुक सकते थे, और इस तरह तमाम सीटें खाली रक्खी जा सकती थीं। बल्कि मुट्ठीभर वोटर भी चुनाव कर सकते थे और अविरोध चुनाव भी हो सकता था। लेकिन, हाँ यह सच है कि अधिकांश वोटर–मतदाता—वोट देने नहीं गये, और वे सब उम्मीदवार जिन्हें देश की पुकार का ख़याल था, कौन्सिलों के लिए खड़े नहीं हुए। चुनाव के दिन सर वेलेन्टाइन शिरोल दैवयोग से इलाहाबाद में थे और खुद चुनाव के मुकामों पर देखने गये थे। वह बायकाट की पूर्णता को देखकर दंग रह गये। एक देहाती चुनाव-स्टेशन पर, जो कि इलाहाबाद शहर से १५ मील दूर था, उन्होंने देखा कि एक भी वोटर वोट देने नहीं गया था। हिन्दुस्तान पर लिखी अपनी एक पुस्तक में उन्होंने अपने इस अनुभव का ज़िक्र किया है।

यद्यपि देशबन्धु दास तथा दूसरे लोगों ने कलकत्ता-अधिवेशन में बहिष्कार की उपयोगिता पर सन्देह प्रकट किया था, तो भी आख़िर को उन्होंने कांग्रेस के फ़ैसले को माना। चुनाव हो जाने के बाद मतभेद भी दूर हो गया और नागपुर-कांग्रेस (१९२०) में फिर बहुत से पुराने कांग्रेसी नेता असहयोग के मञ्च पर आकर मिल गये। उस आन्दोलन की कामयाबी ने बहुतेरे डाँवाडोल और सन्देह रखनेवालों को क़ायल कर दिया था।

फिर भी, कलकत्ता के बाद, कुछ पुराने नेता कांग्रेस से पीछे हट गये, जिनमें एक मशहूर और लोकप्रिय नेता थे श्री जिन्ना। सरोजिनी नायडू ने उन्हें 'हिन्दू-मुस्लिम एकता का राज-दूत' कहा था और पिछले दिनों में उन्हींकी बदौलत मुस्लिम-लीग का काँग्रेस के नज़दीक आना बहुत-कुछ मुमकिन हुआ था, मगर काँग्रेस ने बाद में जो रूप धारण किया—असहयोग को तथा अपने नये विधान को अपनाया, जिससे वह ज्यादातर जनता का संगठन बन गई, वह उन्हें क़तई नापसन्द था। उनके मतभेद का

कारण यों तो राजनैतिक बताया गया था; परन्तु वह मुख्यतः राजनैतिक न था। उस समय की कांग्रेस में ऐसे बहुत-से लोग थे जो राजनैतिक विचारों में जिन्ना साहब से पीछे ही थे। पर बात यह है कि कांग्रेस के इस नये रंग-रूप से उनका स्वभाव मेल नहीं खाता था। उस खादीधारी भभ्भड़ में जो हिन्दुस्तानी में व्याख्यान देने का मतालवा करती थी, वह अपने को बिलकुल बे-मेल पाते थे। बाहर लोगों में जो जोश था वह उन्हें पागलों की उछल-कूद-सा मालूम होता था। उनमें और भारतीय जनता में उतना ही फ़र्क़ था जितना कि सेवाइल रो और बॉण्ड स्ट्रीट में और झोंपड़ोंवाले हिन्दुस्तानी गाँवों में है। एक बार उन्होंने खानगी में सुझाया था कि सिर्फ़ मैट्रिक पास ही कांग्रेस में लिये जावें। मैं नहीं कह सकता कि उन्होंने दरअसल संजीदगी के साथ ही यह बढ़िया बात सुझाई थी। परन्तु यह सच है कि उनके साधारण दृष्टिकोण के वह मुआफ़िक ही थी। इस तरह वह कांग्रेस से दूर चले गये और हिन्दुस्तान की राजनीति में अकेले-से पड़ गये। दुःख की बात है कि आगे जाकर एकता का यह पुराना एलची उन प्रतिगामी लोगों में मिल गया जो मुसलमानों में बहुत ही सम्प्रदाय-वादी थे।

माडरेटों या यों कहें कि लिबरलों का तो कांग्रेस से कोई ताल्लुक़ ही न रहा था। वे उससे सिर्फ दूर ही नहीं हट गये, बल्कि सरकार में घुल-मिल गये, नई योजना के अन्दर मिनिस्टर और बड़े-बड़े अफसर बने और असहयोग तथा कांग्रेस का मुक़ाबिला करने में सरकार की मदद की। वे जो-कुछ चाहते थे, क़रीब-क़रीब सब उन्हें मिल गया था—यानी कुछ सुधार दे दिये गये थे, और इसलिए अब उन्हें किसी आन्दोलन की ज़रूरत न थी। सो, एक ओर देश जहाँ जोश-खरोश से उबल रहा था, और अधिकाधिक क्रान्तिकारी बनता जा रहा था, तहाँ वे खुले आम क्रान्ति-विरोधी, खुद सरकार के एक अंग बन गये। वे लोगों से कटकर बिलकुल अलग जा पड़े और तब से हर मसले को हाकिमों के दृष्टि-बिन्दु से देखने की उनकी आदत पड़ गई, जो अबतक क़ायम है। सच्चे अर्थ में उनकी अब कोई पार्टी नहीं रह गई है—सिर्फ़ चन्द लोग रह गये हैं, सो भी कुछ बड़े शहरों में। श्री श्रीनिवास शास्त्री शाही राजदूत और ब्रिटिश सरकार की प्रेरणा से भिन्न-भिन्न ब्रिटिश उपनिवेशों में तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में घूमे और जहाँ-जहाँ गये उन्होंने कांग्रेस को और खुद अपने ही देश-वासियों को उस सरकार से लड़ाई लड़ते रहने के लिए बुरा-भला कहा।

फिर भी यह न समझिए कि लिबरल लोग सुखी थे। खुद अपने ही लोगों से कटकर अलहदा पड़ जाना, जहाँ दुश्मनी नहीं दिखाई या सुनाई देती हो वहाँ भी दुश्मनी समझना कोई आनन्दायी अनुभव नहीं कहा जा सकता। जब सारी जनता उभड़

उठती है तो वह अपनेसे अलहदा रहनेवालों के प्रति मेहरबान नहीं रह सकती। हालांकि गांधीजी की बार-बार की चेतावनियों ने असहयोग को मुखालिफों के लिए उससे कहीं अधिक मृदुल और सौम्य बना दिया था जितना कि दूसरी हालत में वह हो सकता था। लेकिन फिर भी महज़ उस वायुमण्डल ने ही उनका दम बन्द कर दिया था जो उसका विरोध करते थे, जिस तरह कि वह उन लोगों को बल और स्फूर्ति देता था और उनमें जीवन तथा कार्य-शक्ति का सञ्चार करता था जो कि उसके हामी थे। जनता के उभाड़ और सच्चे क्रान्तिकारी आन्दोलनों के हमेशा ऐसे दोहरे असर होते हैं; वे उन लोगों को जो जनता में से होते हैं या जो उनकी तरफ़ हो जाते हैं, उत्साहित करते हैं और उनको आगे लाते हैं, और साथ ही उन लोगों के विचारों को दबाते हैं और उनको पीछे हटा देते हैं जो उनसे मतभेद रखते हैं।

यही कारण है जो कुछ लोगों की यह शिकायत थी कि असहयोग में तो सहनशीलता का अभाव है और उससे अन्धे की तरह एक-सी राय देने और एक-से काम करने की प्रवृत्ति पैदा होती है। इस शिकायत में सचाई तो थी, लेकिन वह थी इस बात में कि असहयोग जनता का एक आन्दोलन था और उसका अगुआ था ऐसा दबंग शख़्स जिसे हिन्दुस्तान के करोड़ों लोग भक्ति-भाव से देखते थे। मगर इससे भी गहरी सच्चाई तो थी जनता पर हुए उसके असर में। ऐसा अनुभव होता था मानों किसी क़ैद से या बोझ से वह छुटकारा पा गई हो और आज़ादी का एक नया भाव आ गया हो! जिस भय से वह अबतक दबी और कुचली जा रही थी वह पीछे हट गया था और उसकी कमर सीधी और सिर ऊँचा हो गया था। यहाँतक कि दूर-दूर के बाज़ारों में भी राह चलते लोग काँग्रेस और स्वराज (क्योंकि नागपुर-काँग्रेस ने स्वराज को अपना ध्येय बना लिया था) की, पंजाब की घटनाओं की, तथा खिलाफ़त की बातें करते थे। लेकिन 'खिलाफ़त' शब्द के अजीब मानी देहात के लोग समझते थे। लोग समझते थे कि यह'खिलाफ़' से बना है और इसलिए वे इसके मानी करते थे 'सरकार के खिलाफ़'! हां, वे अपने ख़ास-ख़ास आर्थिक कष्टों पर भी बातचीत करते थे। बेशुमार सभायें और सम्मेलन होते और उनसे उनमें बहुत-कुछ राजनैतिक शिक्षा फैली।

हममें से बहुत लोग जो कांग्रेस-कार्यक्रम को पूरा करने में लगे हुए थे, १९२१ में मानों एक किस्म के नशे में मतवाले हो रहे थे। हमारे जोश, आशावाद और उछलते हुए उत्साह का ठिकाना न था। हमें वैसा आनन्द और सुख का स्वाद आता था जैसा किसी शुभ काम के लिए धर्म-युद्ध करनेवाले को होता है। हमारे मन में न शंकाओं के लिए जगह थी, न हिचक के लिए; हमें अपना रास्ता अपने

सामने बिलकुल साफ़ दिखाई देता था, और हम आगे बढ़ते चले जाते थे, दूसरों के उत्साह से उत्साहित होते तथा दूसरों को और आगे धक्का देते थे। हमने जी-जान लगाकर काम करने में कोई बात उठा न रक्खी, इतनी बड़ी मेहनत हमने कभी न की थी; क्योंकि हम जानते थे कि सरकार से मुक़ाबिला शीघ्र ही होनेवाला है, और इससे पहले कि सरकार हमें उठाकर अलग कर दे, हम ज्यादा-से-ज्यादा काम कर डालना चाहते थे।

इन सब बातों से बढ़कर हमारे अन्दर आज़ादी का और आज़ादी के गर्व का भाव आ गया था। यह पुराना भाव कि हम पीड़ित हैं और हमारा कोई काम पूरा नहीं पड़ सकता, बिलकुल चला गया था। अब न तो काना-फूँसी होती थी और न गोल-मोल क़ानूनी भाषा इस्तैमाल की जात थी, कि जिससे अधिकारियों के साथ झगड़ा मोल लेने से अपनेको बचाया जा सके। हम वही कहते थे जो हम मानते थे और महसूस करते थे, और उसे खुल्लमखुल्ला डंके की चोट कहते थे। हमें उसके नतीजे की क्या परवा थी? क्या जेल? उसकी तो हम राह ही देख रहे थे। उससे तो हमारे उद्देश-सिद्धि में मदद ही पहुँचनेवाली थी। बेशुमार भेदिया और खुफिया पुलिस के लोग जो हमें घेरे रहते थे और हम जहाँ जाते वहाँ साथ रहते थे, उनकी हालत दयाजनक हो गई थी। क्योंकि हमारे पास उनके पता लगाने के लिए कोई छिपी बात ही न थी। हमारी सारी बाज़ी खुली थी।

हमको इस बात का ही सिर्फ़ सन्तोष न था कि हम एक कारगर राजनैतिक काम कर रहे हैं, जिससे हमारी आँखों के सामने भारत की तसवीर बदलती जा रही है, और जो जैसा कि हमारा विश्वास था, हिन्दुस्तान की आज़ादी बहुत नज़दीक ला रहा है, बल्कि हमारे अन्दर एक नैतिक उच्चता का भाव भी पैदा हो गया था, कि हमारे साध्य और साधन दोनों हमारे मुखालिफ़ों के मुक़ाबिले में अच्छे और ऊँचे हैं। हमें अपने नेता पर और उसके बताये लासानी तरीक़े पर फ़ख्र था। और कभी-कभी हम अपनेको सत्पुरुष मानने का दावा करने लगते थे। लड़ाई के जारी होते हुए भी और हमारे खुद उसमें लिप्त होते हुए और उसे बढावा देते हुए भी एक आन्तरिक शान्ति का अनुभव होता था।

ज्यों-ज्यों हमारा नैतिक तेज, हमारा सत्व, बढ़ता गया, त्यों-त्यों सरकार का घटता गया। उसकी समझ में नहीं आता कि यह हो क्या रहा है। ऐसा जान पड़ता था कि हिन्दुस्तान में उनकी परिचित पुरानी दुनिया एकाएक ढहे जा रही है। दूर-दूर तक एक नई आक्रामक स्पिरिट और आत्मावलम्बन और निर्भयता के भाव फैल रहे हैं और भारत में ब्रिटिश हुक़ूमत का बहुत बड़ा सहारा—रौब—सरेदस्त

गिरता जा रहा है। थोड़ा-थोड़ा दमन करने से आन्दोलन उलटा बढ़ता जाता था और सरकार बहुत देर तक बड़े-बड़े नेताओं पर हाथ डालने से हिचकती ही रही। वह नहीं जानती थी कि इसका नतीजा आखिर क्या होगा। हिन्दुस्तानी फ़ौज पर भरोसा रक्खा जा सकता है या नहीं? पुलिस हमारे हुक्मों पर अमल करेगी या नहीं? दिसम्बर १९२१ में लार्ड रीडिंग ने तो कह ही दिया था कि हम 'हैरान और परेशान हो रहे हैं।'

१९२१ की गर्मियों में युक्तप्रान्त की सरकार की ओर से जिला-अफ़सरों के नाम एक मजेदार गुप्त गश्ती-चिट्ठी भेजी गई थी। वह बाद को एक अखबार में भी छप गई थी। उसमें दुःख के साथ यह कहा गया था कि इस आन्दोलन में प्रारम्भिक सूत्र हमेशा दुश्मन यानी कांग्रेस के हाथों में है, और इसे कमबख्ती ही समझना चाहिए। और प्रारम्भिक सूत्र सरकार के हाथों में आ जाय, इसके लिए उसमें तरह-तरह के उपाय बताये गये थे, जिनमें एक था निकम्मी 'अमन सभाओं' को क़ायम करना। यह माना जाता था कि असहयोग से लड़ने का यह तरीक़ा लिबरल मिनिस्टरों का सुझाया हुआ था।

कितने ही ब्रिटिश अफ़सरों के होश-हवास गुम होने लगे थे। दिमाग़ी परेशानी कम न थी। दिन-दिन प्रबल होनेवाला विरोध और हुकूमत का मुक़ाबिला करने की स्पिरिट हाकिमों के सिर पर घने मानसूनी बादलों की तरह मँडरा रहे थे; परन्तु फिर भी चूंकि उसके साधन शान्तिमय थे, उन्हें उसका मुक़ाबिला करने, उसपर हावी होने या ज़ोर के साथ धर दबाने का कोई मौक़ा नहीं मिलता था। औसत दर्जे के अंग्रेज इस बात को नहीं मानते थे, कि हम कांग्रेसी सच्चे दिल से अहिंसा चाहते हैं। वे समझते थे कि यह सब धोखा-धड़ी है—किसी गहरी छिपी साज़िश को छिपाने का बहाना-मात्र है, जो किसी-न-किसी दिन एक हिंसात्मक उत्पात के रूप में फूट पड़नेवाली है। अंग्रेज़ों को बचपन से ही यह सिखाया जाता है कि पूर्व एक रहस्यमय देश है, और वहाँ के बाजारों और तंग गलियों में दिन-रात छिपी साजिशें होती रहती हैं। इसलिए वे इन रहस्यमय समझे जानेवाले देशों के मामलों को सीधा नहीं देख सकते। वे एक पूर्वी पुरुष को जो स्पष्ट और रहस्य से खाली है, समझने की कभी कोशिश ही नहीं करते। वे उससे एक दूरी पर ही रहते हैं, उसके बारे में जो कुछ खयाल बनाते हैं वे भेदियों और खुफ़िया पुलिस के द्वारा पेटभर के मिली खबरों के आधार पर, और फिर उसके सम्बन्ध में अपनी कल्पना की उड़ान को खुला छोड़ देते हैं। अप्रैल १९१९ के शुरू में पंजाब में ऐसा ही हुआ। अधिकारियों में और आम तौर पर अंग्रेज लोगों में एकाएक दहशत फैल गई। उन्हें हर जगह खतरा-ही-खतरा, एक बग़ावत, एक दूसरा ग़दर जिसमें भयानक मारकाट

होगी, दिखाई देने लगा और हर सूरत से आँखें मुंदकर आत्म-रक्षा की सहज वृत्ति ने उनसे वे-वे भंयकर काण्ड करा डाले जिनके अमृतसर का जालियांवाला बाग और रेंगनेवाली गली ये प्रतीक और दूसरे नाम हो गये।

१९२१ का साल बड़ी तनातनी का साल था, और उसमें बहुत-सी ऐसी बातें हुईं जिनसे हाकिमों को चिढ़ने, बिगड़ने और घबराने या डर जाने की गुंजाइश थी। जो कुछ दर-असल हो रहा था वह तो बुरा था ही, परन्तु जो-कुछ ख़याल कर लिया गया वह उससे भी बुरा था। मुझे एक घटना याद है, जिससे इस कल्पना की घुड़दौड़ का नमूना मिल जायगा। मेरी बहन सरूप की शादी इलाहाबाद में १० मई १९२१ को होनेवाली थी। देशी तिथि के हिसाब से पंचांग में शुभ-दिन देखकर यह तारीख़ मुक़र्रर की गई थी, गांधीजी तथा दूसरे काँग्रेसियों को, जिनमें अली बन्धु भी थे, निमंत्रण दिया गया था, और उनकी सुविधा का ख़याल करके उसी समय के आस-पास कार्य-समिति की बैठक भी इलाहाबाद में रख ली गई थी। स्थानीय कांग्रेसी चाहते थे कि बाहर से आये हुए नामी-गिरामी नेताओं की मौजूदगी से फ़ायदा उठाया जाय और इसलिए उन्होंने बड़े पैमाने पर एक ज़िला-कान्फरेन्स का आयोजन किया। उन्हें उम्मीद थी कि आस-पास के देहात से किसान लोग बहुत बड़ी तादाद में आ जायँगे।

इन राजनैतिक सभाओं की बदौलत इलाहाबाद में खूब चहल-पहल और जोश छाया हुआ था। इससे लोगों के दिलों में अजीब घबड़ाहट छा गई। एक रोज़ एक बैरिस्टर-दोस्त से मैंने सुना कि इस आयोजन से कितने ही अंग्रेज़ों के होश ठिकाने न रहे और उन्हें डर हो गया कि शहर में एकाएक कोई बवंडर खड़ा हो जाने-वाला है। हिन्दुस्तानी नौकरों पर से उनका विश्वास हट गया और वे अपनी जेब में पिस्तौल रखने लगे। खानगी में यहाँ तक कहा गया कि इलाहाबाद का क़िला इस बात के लिए तैयार रक्खा गया था कि ज़रूरत पड़ने पर तमाम अंग्रेज़ों को पनाह के लिए वहां भेज दिया जाय। मुझे यह सुनकर बड़ा ताज्जुब हुआ और इस बात को समझ न सका कि कोई क्यों इलाहाबाद जैसे सोये हुए और शान्ति-मय शहर में ऐसे किसी बवंडर का अन्देशा रक्खे, खासकर उसी समय जब कि ख़ुद अहिंसा का दूत ही वहाँ आ रहा हो। ओफ़ ! यहाँ तक कहा गया कि १० मई, और यही तारीख़ इत्तिफ़ाक़ से मेरी बहन की शादी की नियत हुई थी, १८५७ को मेरठ में ग़दर शुरू हुआ था और उसका सालाना जलसा करने की ये तैयारियाँ हो रही हैं।

१९२१ में खिलाफत-आन्दोलन को बहुत प्रधानता दी गई थी, इससे कितने ही मौलवी और मुसलमानों के मज़हबी नेताओं ने इस राजनैतिक लड़ाई में बड़ा हाथ

बँटाया था। उन्होंने इस हलचल पर एक निश्चित मज़हबी रंग चढ़ा दिया था और मुसलमान लोग आम तौर पर उससे बहुत प्रभावित हुए थे। बहुत-से पश्चिमी रंग में रंगे हुए मुसलमान भी, जिनकी कोई ख़ास रग़बत मज़हब की तरफ़ नहीं थी, डाढ़ी रखने तथा शरीयत के दूसरे फरमानों की पाबन्दी करने लगे थे। बढ़ते हुए पश्चिमी असर के और नये ख़यालात के सबब से मौलवियों का जो असर और रौब घटता जा रहा था वह फिर बढ़ने और मुसलमानों पर अपनी धाक जमाने लगा। अली-भाइयों ने भी, जो ख़ुद भी मजहबी तबीयत के आदमी थे, इस सिलसिले को और ताक़त दी, और इसी तरह गांधीजी ने भी, जो मौलवियों और मौलानाओं को बहुत ही इज़्ज़त दिया करते थे।

इसमें कोई शक नहीं कि गांधीजी बराबर आन्दोलन के धार्मिक और आध्यात्मिक पहलू पर ज़ोर दिया करते थे। उनका धर्म शास्त्राज्ञा से जकड़ा हुआ न था, परन्तु उसकी यह मंशा ज़रूर थी कि जीवन को देखने की दृष्टि धार्मिक हो। इसलिए सारे आन्दोलन पर उसका बहुत प्रभाव पड़ा था और, जहाँ तक जनता से ताल्लुक़ है, उसने एक धर्मोद्धार का रूप धारण कर लिया था। काँग्रेस के बहुसंख्यक कार्यकर्त्ता स्वभावतः अपने नेता का अनुकरण करने लगे और कितने ही तो उनकी तरह भाषा भी बोलने लगे। और फिर भी कार्य-समिति में गांधीजी के मुख्य-मुख्य साथी थे—मेरे पिताजी, देशबन्धु दास, लाला लाजपतराय, और दूसरे लोग—जो साधारण अर्थ में धार्मिक पुरुष न थे, और जो राजनैतिक मसलों का राजनैतिक ज़मीन पर बैठकर ही विचार करते थे। अपने व्याख्यानों और बयानों में वे धर्म को नहीं लाया करते थे। मगर वह जो कुछ कहते थे उससे उनके प्रत्यक्ष उदाहरण का ज्यादा असर होता था—क्या उन्होंने वह सब बहुत कुछ नहीं छोड़ दिया था, जिसको दुनिया क़ीमती समझती है, और पहले से ज्यादा सादी रहन-सहन नहीं अख़्त्यार कर ली थी? यह बात ख़ुद ही धर्म का एक चिन्ह समझ ली गई, और इसने भी धर्मोद्धार के वायुमण्डल को फैलाने में मदद की।

राजनीति में, क्या हिन्दू और क्या मुसलमान दोनों तरफ़ धार्मिकता की इस बढ़ती से कभी-कभी मुझे परेशानी होती थी। मुझे वह बिलकुल पसन्द न थी। मौलवी, मौलाना और स्वामी तथा ऐसे ही दूसरे लोग जो-कुछ अपने भाषणों में कहते थे उसका बहुतांश मुझे बहुत कुफल पैदा करनेवाला मालूम होता था। उनका सारा इतिहास, सारा समाज-शास्त्र और अर्थ-शास्त्र मुझे ग़लत दिखाई देता था और हर चीज़ को जो मज़हबी मरोड़ दी जाती, उससे स्पष्ट विचार करना रुक जाता था। कुछ-कुछ तो गांधीजी के भी शब्द-प्रयोग मेरे कानों को खटकते थे—जैसे 'राम-

राज्य', जिसे वह फिर लाना चाहते हैं। लेकिन उस समय मुझमें दखल देने की शक्ति न थी, और मैं इसी खयाल से तसल्ली कर लिया करता था कि गांधीजी ने उनका प्रयोग इसलिए किया है कि इन शब्दों को सब जानते हैं और जनता इन्हें समझ लेती है। उनमें जनता के हृदय तक पहुँच जाने की विलक्षण स्वभाव-सिद्ध शक्ति थी।

लेकिन मैं इन बातों की झञ्झट में ज्यादा नहीं पड़ता था। मेरे पास काम इतना ज्यादा था और हमारे आन्दोलन की प्रगति इस तेजी से हो रही थी कि ऐसी छोटी-छोटी बातों की परवा करने की ज़रूरत न थी, क्योंकि उस समय मैं उन्हें वैसा ही न-कुछ समझता था। किसी बड़े आन्दोलन में हर क़िस्म के लोग रहते हैं, और जब तक हमारी असली दिशा सही है, कुछ भँवरों और चक्करों से कुछ बिगड़ नहीं सकता। और खुद गांधीजी को लें तो वह ऐसे शख़्स थे जिन्हें समझना बहुत मुश्किल था, कभी-कभी तो उनकी भाषा औसत दर्जे के आधुनिक आदमी की समझ में प्रायः नहीं आती थी। लेकिन हम यह मानते थे कि हम उन्हें इतना ज़रूर अच्छी तरह समझ गये हैं कि वह एक महान् और अद्वितीय पुरुष और शानदार नेता हैं और जब कि हमने उनपर कम-से-कम उस समय तो श्रद्धा रक्खी थी; तो मानों हमने कोरे कागज़ पर ही दस्तख़त करके उनके हवाले कर दिया था। अक्सर हम आपस में उनके इन खब्तों और विचित्रताओं की चर्चा किया करते थे और कुछ-कुछ दिल्लगी में कहा करते कि जब स्वराज आ जायगा तब इन खब्तों को इस तरह आगे न चलने देंगे।

इतना होने पर भी हममें से बहुत-से लोग राजनैतिक तथा दूसरे मामलों में उनके इतने प्रभाव में थे कि धर्म के क्षेत्र में भी बिलकुल आज़ाद बने रहना असंभव था। जहाँ सीधे हमले से कामयाबी की उम्मीद न थी वहाँ ज़रा चक्कर खाकर जाने से बहुत हद तक उस प्रवृत्ति की ताक़त कम हो जाती थी। धर्म के बाहरी आचार कभी मेरे दिल में जगह न कर पाये, और सबसे बड़ी बात तो यह कि मुझे इन धार्मिक कहलानेवाले लोगों के द्वारा जनता का चूसा जाना बहुत नापसन्द था, मगर फिर भी मैंने धर्म के प्रति नरमी अख़्त्यार करली थी। अपने ठेठ बचपन से लेकर किसी भी समय की बनिस्बत १९२१ में मेरा मानसिक झुकाव धार्मिकता की तरफ़ ज्यादा हुआ था। लेकिन तब भी मैं उसके बहुत नज़दीक नहीं पहुँचा था।

जिस बात का मैं आदर करता था वह थी उस आन्दोलन का नैतिक और सदाचार-सम्बन्धी पहलू और सत्याग्रह। मैंने अहिंसा के सिद्धान्त को सोलहों आने नहीं माना था, या हमेशा के लिए नहीं अपना लिया था; लेकिन हाँ, वह मुझे अपनी तरफ़ अधिकाधिक खींचता चला जाता था और यह विश्वास मेरे दिल में पक्का बैठता जाता था कि हिन्दुस्तान की जैसी परिस्थिति बन गई है, हमारी जैसी परम्परा और

जैसे संस्कार हैं उन्हें देखते हुए यही हमारे लिए सही नीति है। राजनीति को आध्यात्मिकता के—तंग और मजहबी मानी में नहीं—साँचे में ढालना मुझे एक उम्दा खयाल मालूम हुआ। निस्सन्देह एक उच्च ध्येय को पाने के लिए साधन भी वैसे ही उच्च होने चाहियें—यह एक अच्छा नीति-सिद्धान्त ही नहीं, बल्कि निर्भ्रम व्यावहारिक राजनीति भी थी; क्योंकि जो साधन अच्छे नहीं होते वे अक्सर हमारे उद्देश्य को ही विफल बना देते हैं और नई समस्यायें और नई दिक्कतें पैदा कर देते हैं; और ऐसी दशा में, एक व्यक्ति या एक क़ौम के लिए, ऐसे साधनों के सामने सिर झुकाना—दलदल में से गुजरना, कितना बुरा, कितना स्वाभिमान को गिरानेवाला मालूम होता था! उससे अपनेको गंदा बनाये बिना कोई कैसे बच सकता था? यदि हम सिर झुकाते हैं, या पेट के बल रेंगते हैं, तो कैसे हम अपने गौरव को क़ायम रखते हुए तेज़ी के साथ आगे बढ़ सकते हैं?

उस समय मेरे विचार ऐसे थे। और असहयोग-आन्दोलन ने मुझे वह चीज़ दी जो मैं चाहता था—क़ौमी आज़ादी का ध्येय और (जैसा मैंने समझा) निचले दर्जे के लोगों के शोषण का अन्त कर देना, और ऐसे साधन जो मेरे नैतिक भावों के मुआफ़िक़ थे और जिन्होंने मुझे ज़ाती आज़ादी का भान कराया। यह ज़ाती तसल्ली मुझे इतनी ज्यादा मिली कि नाकामयाबी के अन्देशे की भी मैं ज्यादा गिनती न करता था, क्योंकि ऐसी असफलता तो थोड़े समय के लिए ही हो सकती थी। भगवद्‌गीता के आध्यात्मिक भाग को मैं न तो समझता था और न उसकी तरफ़ मेरा खिंचाव ही हुआ था, लेकिन हाँ, उन श्लोकों को पढ़ना पसन्द करता था, जो शाम को गांधीजी के आश्रम में प्रार्थना के समय पढ़े जाते थे, और जिनमें यह बताया गया है कि मनुष्य को कैसा होना चाहिए; शान्त, स्थिर, गंभीर, अचल, निष्काम भाव से कर्म करनेवाला और फल के विषय में अनासक्त। मैं खुद बहुत शान्त-स्वभाव या अनासक्त नहीं हूँ, इसलिए शायद यह आदर्श मुझे अच्छा लगा होगा।

# ११

## मेरी पहली जेल-यात्रा

उन्नीस सौ इक्कीस का साल हमारे लिए एक असाधारण साल था। राष्ट्रीयता और राजनीति और रहस्यवादिता और धर्मान्धता का एक ही अजीब मिश्रण हो गया था। इस सबकी तह में किसानों की अशान्ति और बड़े शहरों का बढ़ता हुआ मजदूर-वर्गीय आन्दोलन था। राष्ट्रीयता और एक अस्पष्ट किन्तु देशव्यापी जबरदस्त आदर्श-वाद ने इन सब भिन्न-भिन्न और कभी-कभी परस्पर-विरोधी असन्तोषों को मिला देने का प्रयत्न किया, और इसमें बड़ी हद तक कामयाबी भी मिली। परन्तु इस राष्ट्रीयता को कई शक्तियों से बल मिला था। उसकी तह में थी हिन्दू राष्ट्रीयता, मुस्लिम राष्ट्रीयता—जिसका ध्यान कुछ-कुछ हिन्दुस्तान की सीमा के बाहर भी खिंचा हुआ था—और हिन्दुस्तानी राष्ट्रीयता, जो ज़माने की स्पिरिट के अधिक अनुकूल थी। उस समय ये सब एक-दूसरे में मिल-जुलकर साथ-साथ चलने लगी थी। हर जगह 'हिन्दू-मुसलमान की जय' थी। यह देखने लायक बात थी कि किस तरह गांधीजी ने सब वर्गों और सब गिरोहों के लोगों पर जादू-सा डाल दिया था, और उन सबको एक ही दिशा में चलनेवाला पचरंगी दल बना दिया था। वास्तव में वह 'लोगों की अस्पष्ट अभिलाषाओं का एक मूर्त रूप' (जो वाक्य कि एक दूसरे ही नेता के विषय में कहा गया है) बन गये थे।

इससे भी ज्यादा निराली बात यह थी कि ये सब अभिलाषायें और उमंगें उन विदेशी हाकिमों के प्रति घृणा-भाव से कहीं मुक्त थीं, जिनके खिलाफ़ वे इस्तैमाल हो रही थीं। राष्ट्रीयता मूल में ही एक विरोध-रूपी भाव है, और यह जीता और पनपता है दूसरे राष्ट्रीय समुदायों के—खासकर किसी शासित देश के,विदेशी शासकों के खिलाफ़ घृणा और क्रोध के भावों पर। १९२१ में हिन्दुस्तान में ब्रिटिश लोगों के खिलाफ़ घृणा और क्रोध ज़रूर था, मगर इसी हालतवाले दूसरे मुल्कों के मुकाबिले में यह निहायत ही कम था। इसमें शक नहीं कि यह बात हुई है गांधीजी के अहिंसा के तात्पर्यों और फलितार्थों पर ज़ोर देते रहने के कारण ही। इसका यह भी कारण था कि सारे देश में आन्दोलन चालू होने के साथ ही यह भावना आ गई थी कि हमारे बन्धन टूट रहे हैं, हमारा बल बढ़ रहा है, और नज़दीक भविष्य में कामयाब हो जाने का व्यापक विश्वास पैदा हो गया था। जब हमारा काम अच्छी तरह चल रहा हो और जब हम जल्दी ही सफल हो जानेवाले हों तो गुस्सा होने और नफ़रत करने से फ़ायदा ही क्या है ? हमें लगा कि उदार बनने में हमारा कुछ बिगाड़ नहीं।

अपना सिर ऊँचा किया, और एक देशव्यापी सुनियंत्रित और सम्मिलित उपाय में जुट पड़े ! हमने समझा कि इस उपाय से ही जनता को अदम्य शक्ति मिल जायगी। मगर उपाय के साथ उसके मूलस्थ विचार की आवश्यकता का ख़याल हमने छोड़ दिया। हमने भुला दिया कि एक जाग्रत विचार-विज्ञान और उद्देश्य के बिना, जनता की शक्ति और उत्साह बहुत-कुछ धुंधुआकर रह जायगा। किसी हद तक हमारे आन्दोलन में धर्मोद्धार या पुनरुद्धार-वाद के बल ने हमें आगे बढ़ाया। और वह यह भावना थी कि राजनैतिक या आर्थिक आन्दोलनों के लिए या अन्यायों को दूर करने के लिए अहिंसा का प्रयोग करना एक नया ही संदेश है, जो हमारा राष्ट्र संसार को देगा। सभी जातियों और सभी राष्ट्रों में जो यह विचित्र मिथ्या विश्वास फैल जाता है कि हमारी ही जाति एक विशेष प्रकार से संसार में सबसे ऊँची है, उसीमें हम फँस गये थे ; अहिंसा, युद्ध या सब प्रकार की हिंसात्मक लड़ाइयों में, शस्त्रास्त्रों के बजाय एक नैतिक शस्त्र का काम दे सकती है। यह सिर्फ़ नैतिक उपाय ही नहीं हैं, बल्कि कारगर भी है। मेरे ख़याल से, हममें से शायद ही कोई मशीनरी और वर्तमान सभ्यता विषयक गांधीजी के पुराने विचारों से सहमत था। हम समझते थे कि ख़ुद वह भी अपने विचारों को कल्पना-सृष्टि या मनोराज्य और वर्तमान परिस्थितियों में ज्यादातर अव्यवहार्य समझते होंगे। निश्चय ही, हममें से ज्यादातर लोग तो आधुनिक सभ्यता की नियामतों को त्यागने को तैयार न थे, हालाकि हमें चाहे यह महसूस हुआ हो कि हिन्दुस्तान की परिस्थिति के मुताबिक उनमें कुछ परिवर्त्तन कर देना ठीक होगा। ख़ुद मैं तो बड़ी मशीनरी और तेज़ सफ़र को हमेशा पसन्द करता रहा हूँ। फिर भी इसमें सन्देह नही हो सकता कि गांधीजी के आदर्श का बहुत लोगों पर असर पड़ा और वह मशीनों और उनके सब परिणामों को तोलने-जोखने लगे। इस तरह, कुछ लोग तो भविष्यकाल की तरफ़ देखने लगे और दूसरे कुछ भूतकाल की तरफ़ निगाह डालने लगे। और कुतूहल की बात यह है कि दोनों ही तरह के लोगों ने सोचा कि हम जिस सम्मिलित उपाय में लगे हुए हैं वह मिलकर करने ही योग्य है, और इसी स्पिरिट के बदौलत खुशी-खुशी बलिदान करना और आत्मत्याग के लिए तैयार होना आसान हो गया

मै आन्दोलन में दिलोजान से जुट पड़ा और दूसरे बहुत-से लोगों ने भी ऐसा ही किया। मैंने अपने दूसरे कामकाज और सम्बन्ध, पुराने मित्र, पुस्तकें और अखबार तक, सिवा उस हद तक कि जितना उनका चालू काम से ताल्लुक था, सब छोड़ दिये। हाँ, उस समय तक प्रचलित किताबों को कुछ-कुछ पढ़ना क़ायम रक्खा था और संसार में क्या-क्या घटनायें घटती जाती हैं इसको जानने की कोशिश करता था। मगर अब

तो इसके लिए वक्त ही नही था। हालाँकि पारिवारिक मोह ज़बरदस्त था, मगर मैं अपने परिवार, अपनी पत्नी, अपनी लड़की, सबको करीब-करीब भूल ही गया था। बहुत अरसे के बाद मुझे मालूम हुआ कि उन दिनों में उनकी कितनी कठिनाई और कितने कष्टों का कारण बन गया था। और मेरी पत्नी ने मेरे प्रति कितने विलक्षण धैर्य और सहनशीलता का परिचय दिया था। दफ्तर और कमिटी की मीटिंगें और लोगों की भीड़ ही मानों मेरा घर बन गया। "गाँवों में जाओ" यही सबकी आवाज़ थी, और हम कोसों खेतों में चलकर जाते थे, दूर-दूर के गाँवों में पहुँचते थे, और किसानों की सभाओं में भाषण देते थे। मैं रोम-रोम में जनता की सामूहिक भावना का और जनता को प्रभावित करने की शक्ति का अनुभव करता था। मैं थोड़ा-थोड़ा भीड़ का मानस, शहर की जनता और किसानों के फ़र्क़ को समझने लगा, और मुझे धूल और तकलीफ़ों और बड़े-बड़े मजमों के धक्कम-धक्कों में मज़ा आने लगा, हालाँकि उनमें अनुशास के न होने से मैं अक्सर चिढ़ जाता था। उसके बाद तो कभी-कभी मुझे विरोधी और क्रोधित मजमों के सामने भी जाना पड़ता है जिनकी तेज़ी इतनी बढ़ती हुई थी कि एक चिनगारी भी उन्हें भड़का सकती थी, और शुरू के तजुर्बे से और उससे उत्पन्न आत्म-विश्वास से मुझे बड़ी मदद मिली। मैं हमेशा सीधा मजमे के सामने जाता और उसका भरोसा करता था, और अभी तक तो उसने मेरे प्रति सद्व्यवहार और गुण-ग्राहकता का ही परिचय दिया है, चाहे हममें मत-भेद ही रहा हो। मगर मजमों का स्वभाव चंचल होता है और सम्भव है भविष्य में मुझे कुछ और ही अनुभव मिलें।

मैं मजमों को अपना समझता था और मजमे मुझे अपना लेते थे, मगर उनमें मैं अपने-आपको भुला नही देता था। मैं अपनेको उससे हमेशा अलग ही समझता रहा। मैं अपनी अलग मानसिक स्थिति से उन्हें समीक्षक-दृष्टि से देखता था, और मुझे ताज्जुब होता था कि मैं, जो कि अपने आसपास जमा होनेवाले इन हज़ारों आदमियों से हर बात में भिन्न था, अपनी आदतों में, इच्छाओं में, मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण में बहुत भिन्न था, इन लोगों की सदिच्छा और विश्वास कैसे हासिल कर सका? क्या इसका सबब यह था कि इन लोगों ने मुझे मेरी असलियत से कुछ जुदा समझा? जब वे मुझे ज्यादा पहचानने लगेंगे, क्या तब भी वे मुझे चाहेंगे? क्या मैं लम्बी-चौड़ी बातें बना-बनाकर उनकी सदिच्छा प्राप्त कर रहा हूँ? मैंने उनके सामने सच्ची और खरी बातें कहने की कोशिश की, कभी-कभी मैंने उनसे सख़्ती से बातचीत की, और उनके कई प्रिय विश्वासों और रीतियों की नुकताचीनी की, फिर भी वे मेरी इन सब बातों को बरदाश्त कर लेते थे। मगर मेरा यह विचार

न हटा कि उनका मुझपर प्रेम, मैं जैसा कुछ हूँ उसके लिए नहीं, बल्कि मेरी बाबत उन्होंने जो-कुछ सुन्दर कल्पना कर ली थी उसके कारण था। यह झूटी कल्पना कितने समय तक टिकी रह सकती थी ? और वह टिकी रहने भी क्यों दी जाय ? जब उनकी वह कल्पना झूठ निकलेगी और उन्हें असलियत मालूम होगी, तब क्या होगा ?

मुझमें तो कई तरह का अभिमान है, मगर मजमों के इन भोले-भाले लोगों में तो ऐसे किसी अभिमान का कोई सवाल ही नहीं हो सकता है ? उनमें कोई दिखावा न था, और न कोई अशिष्टता ही थी, जैसा कि मध्यम वर्ग के कई लोगों में, जो अपने को उनसे अच्छा समझते है, होती है। हाँ, वे कुन्द-ज़हन बेशक थे और व्यक्तिगत रूप से ऐसे न थे कि उनमें कोई दिलचस्पी लें; मगर समुदाय-रूप में उनको देखकर तो असीम करुणा का भाव पैदा होता और उनके आनेवाले दु.खान्त जीवन का दृश्य आंखों के सामने खड़ा हो जाता था।

मगर हमारी कान्फ्रेन्सों का तो, जहाँ हमारे चुने हुए कार्यकर्त्ता (जिनमें मैं भी शामिल था) व्याख्यान-मंच पर अपना करतब दिखाते थे, हाल ही दूसरा था। वहाँ कफ़ी दिखावा होता था, और हमारे धुआँधार भाषाणों में अशिष्टता की कोई कमी न थी। हममें से सभी थोड़े-बहुत इस मामले में कुसूरवार रहे होंगे, मगर खिलाफ़त के कई छोटे नेता तो इसमें सबसे ज्यादा बढ़े हुए थे जहाँ बहुत लोग जमा हों उनके सामने व्याख्यान-मंच पर स्वाभाविक बर्ताव रखना आसान नहीं है; और इस तरह लोगों के सामने आने का पहले किसीको तजुर्बा भी नहीं था। इसलिए हमारे खयाल के मुताबिक नेताओं को जैसे रहना चाहिए उसी तरह से हम अपने-आपको विचार-पूर्ण और गम्भीर, चंचलता और छिछोरपन से बिलकुल बरी, दिखाते थे। जब हम चलते, या बात करते या हँसते थे, तो हमें यह खयाल रहता था कि हज़ारों आँखें हमें घूर रही हैं और उसीको ध्यान में रखते हुए हम सब-कुछ करते थे। हमारे भाषण अक्सर बड़े वक्तृत्वपूर्ण होते थे, मगर अक्सर ही वे ज्यादातर बे-मुद्दा भी होते थे। दूसरे लोग जैसा अपनेको समझें वैसा अपने-आपको समझना मुश्किल ही है। इसलिए जब मैं अपने-आपकी नुक़्ता-चीनी न कर सका तो मैंने दूसरों के तर्जे-अमल पर ग़ौर करना शुरू किया, और इसी काम में मुझे खूब मजा आया और फिर मुझे यह भयंकर खयाल भी आता था कि शायद मैं भी दूसरों को इतना ही वाहियात दिखाई देता होऊँगा।

१९२१ भर कांग्रेस-कार्यकर्त्ताओं की व्यक्तिगत गिरफ्तारी और सज़ायबी होती रही, मगर सामूहिक गिरफ्तारियाँ न हुईं। अली-बन्धुओं को हिन्दुस्तानी फ़ौज में असन्तोष पैदा करने के लिए लम्बी-लम्बी सजायें दी गई थीं। जिन शब्दों के लिए

उन्हें सज़ा मिली थी, उनको सैकड़ों व्याख्यान-मचों से हज़ारों आदमियों ने दोहराया। अपने कुछ भाषणों के कारण राजद्रोह का मुक़दमा चलाये जाने की धमकी मुझे गर्मियों में दी गई थी। मगर उस वक्त ऐसी कोई कार्रवाई नहीं की गई। साल के अखीर में मामला अज़हद बढ़ गया। युवराज हिन्दुस्तान आनेवाले थे, और उनकी आमद के मुताल्लिक़ की जानेवाली तमाम कार्रवाइयों का बहिष्कार करने की घोषणा कांग्रेस ने कर दी थी। नवम्बर के अखीर तक बंगाल में कांग्रेस के स्वयंसेवक ग़ैरक़ानूनी करार दे दिये गये, और फिर युक्तप्रान्त के लिए भी ऐसी ही घोषणा निकल गई। देशबन्धु दास ने बंगाल को एक बड़ा जोशीला सदेश दिया—"मैं महसूस कर रहा हूँ कि मेरे हाथों में हथकड़ियां पड़ी हुई हैं। और मेरा सारा शरीर लोहे की वज़नी ज़ंजीरों से जकड़ा हुआ है। यह है गुलामी की वेदना ओर यन्त्रणा। अरे, सारा हिन्दुस्तान एक बड़ा जेलखाना ही है! कांग्रेस का काम हर हालत में जारी रहना चाहिए—इसकी पर्वाह नहीं कि मैं पकड़ लिया जाऊँ या खुला रहूँ, इसकी पर्वाह नहीं कि मैं मर जाऊँ या ज़िन्दा रहूँ।" युक्त प्रान्त मे भी हमने सरकार की चुनौती को स्वीकार कर लिया। हमने न सिर्फ़ यही ऐलान किया कि हमारा स्वयंसेवक-संगठन क़ायम रहेगा, बल्कि दैनिक अख़बारों में अपने स्वयंसेवको की नामावलियाँ भी छपवा दी। पहली फेहरिस्त में सबसे ऊपर मेरे पिताजी का नाम था। वह स्वयंसेवक तो नहीं थे, मगर सिर्फ सरकार की हुक्म-उदूली करने के लिए ही वह शामिल हो गये थे और उन्होंने अपना नाम दे दिया था। दिसम्बर के शुरू ही में, हमारे प्रान्त में युवराज के आने के कुछ ही दिन पहले, सामूहिक गिरफ्तारियाँ शुरू हुई।

हमने जान लिया कि आखिर अब तो पासा पड़ चुका है; कांग्रेस और सरकार का अनिवार्य संघर्ष अब होने ही वाला था। अभी तक भी जेल एक अपरिचित जगह थी और वहाँ जाना भी एक नई बात थी। एक दिन मैं इलाहाबाद के काँग्रेस-दफ्तर में ज़रा देर तक बक़ाया काम निपटा रहा था। इतने ही में एक क्लर्क ज़रा उत्तेजित होता हुआ आया, और उसने कहा कि पुलिस तलाशी का वारण्ट लेकर आई है, और दफ्तर के मकान को घेर रही है। निःसन्देह मैं भी थोड़ा उत्तेजित तो हो गया, क्योंकि मेरे लिए भी इस तरह की यह पहली ही बात थी, मगर दृढ़ दिखाई देने की इच्छा, पूरी तरह शान्त और निश्चिन्त प्रतीत होने तथा पुलिस के आने और जाने से प्रभावित न होने की अभिलाषा प्रबल थी। इस लिए मैंने एक क्लर्क से कहा कि जब पुलिस-अफ़सर दफ्तर के कमरों में तलाशी ले तो तुम उसके साथ-साथ रहो, और बाक़ी के कारकुनों से कहा कि सब अपना-अपना काम बिला खरखशा करते रहो और पुलिस की तरफ़ ध्यान न दो। कुछ देर बाद एक मित्र और एक साथी कार्य-कर्त्ता, जो

दफ्तर के बाहर ही गिरफ्तार कर लिये गये थे, एक पुलिस-मैन के साथ, मेरे पास मुझसे बिदा लेने आये। मुझे इन नई घटनाओं को मामूली घटनायें समझना चाहिए, यह अभिमान मुझमें इतना भर गया था कि मैं अपने साथी कार्यकर्त्ता के साथ बिलकुल रुखाई से पेश आया। उनसे और पुलिस-मैन से मैंने कहा कि मैं जब-तक अपनी चिट्ठी, जिसे मैं लिख रहा था, पूरी न करलूँ, तबतक ज़रा ठहरे रहें। जल्दी ही शहर में और भी लोगों के गिरफ्तार होने की ख़बर आई। आख़िरकार मैंने यह तय किया कि मैं घर जाऊँ और देखूँ कि वहाँ क्या हो रहा है। मैंने देखा कि पुलिस, जो एक-न-एक दिन आने ही वाली थी, हमारे उस लम्बे-चौड़े घर के एक हिस्से की तलाशी ले रही है और मालूम हुआ कि वह, पिताजी और मुझे, दोनों को गिरफ्तार करने आई है।

युवराज के आगमन के बहिष्कार-सम्बन्धी कार्य-क्रम के लिए हमारा और कोई कार्य इतना उपयुक्त न होता। युवराज जहाँ-जहाँ ले जाये गये, वहाँ-वहाँ उन्हें हड़तालें और सूनी सड़कें ही मिली। जब वह इलाहाबाद आये तो वह एक सुनसान शहर मालूम पड़ा। कुछ दिनों बाद कलकत्ता ने भी कुछ समय के लिए अचानक अपना सारा कारोबार बन्द कर दिया। युवराज के लिए यह सब एक मुसीबत थी। मगर उनका कोई क़सूर न था, और न उनके ख़िलाफ़ कोई दुर्भावना थी। हाँ, हिन्दुस्तान की सरकार ने अलबत्ते उनके व्यक्तित्व का बेजा फ़ायदा उठाने की कोशिश की थी, इसलिए कि अपनी गिरती हुई प्रतिष्ठा को बनाये रख सके।

इसके बाद तो, ख़ासकर युक्तप्रान्त और बंगाल में, गिरफ्तारियों और सज़ाओ की धूम मच गई। इन प्रान्तों में सभी ख़ास-ख़ास काँग्रेसी नेता और काम करनेवाले पकड़ लिये गये, और मामूली स्वयंसेवक तो हज़ारों की तादाद में जेल गये। शुरू-शुरू में तो ज्यादातर शहर के ही लोग थे, ओर जेल जाने के लिए स्वयंसेवको की तादाद मानों ख़त्म ही न होती थी। युक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी के लोग सब-के-सब ( ५५ व्यक्ति ), जब वे कमिटी की एक मीटिंग कर रहे थे, एकसाथ गिरफ्तार कर लिये गये। कई ऐसे लोगों को भी, जिन्होंने अभीतक कांग्रेस या राजनैतिक हल-चल में कोई हिस्सा नहीं लिया था, जोश चढ़ आया, और वे गिरफ्तार होने की ज़िद करने लगे। ऐसी भी मिसालें हुई कि कुछ सरकारी क्लर्क, जो शाम को दफ्तर से लौट रहे थे, इसी जोश में बह गये, और घर के बजाय जेल में जा पहुँचे। नवयुवक और बच्चे पुलिस की लारियों के भीतर घुस जाते थे और बाहर निकलने से इन्कार कर देते थे। हम जेल के अन्दर से, शाम-का-शाम, अपने परिचित नारे और आवाज़ें सुनते थे, जिनसे हमें पता लगता था कि बाहर पुलिस की लारियों-पर-लारियाँ आ रही हैं। जेलें

भर गई थीं, और जेल-अफ़सर इस असाधारण बात से परेशान हो गये थे। कभी-कभी ऐसा भी होता था कि लारी के साथ जो वारण्ट आता था उसमें सिर्फ़ लाये जाने वालों की तादाद ही लिखी रहती थी, नाम नही लिखे होते थे या न लिखे जा सकते थे। और वास्तव में लिखी तादाद से भी ज्यादा व्यक्ति लारी मे से निकलते थे, तब जेल-अधिकारी यह नहीं समझ पाते थे कि इस अजीब परिस्थिति में क्या करना चाहिए और जेल-मैनुअल में इसकी बाबत कोई हिदायत नहीं थी।

धीरे-धीरे सरकार ने हर किसीको गिरफ्तार कर लेने की नीति छोड़ दी; सिर्फ़ ख़ास-ख़ास कार्यकर्त्ता चुनकर पकड़े जाने लगे। धीरे-धीरे लोगों के उत्साह की पहली बाढ़ भी उतर गई, और सभी भरोसे के कार्यकर्त्ताओं के जेल चले जाने से अनिश्चय और लाचारी की भावना फैल गई। यह परिवर्तन भी यों ऊपरी ही था। वातावरण में तो फिर भी तेज़ी और चारों ओर तनातनी के भाव मौजूद थे और ऐसा जान पड़ता था कि अन्दर-ही-अन्दर क्रान्ति की तैयारी हो रही है। दिसम्बर १९२१ और जनवरी १९२२ में, यह अन्दाज किया जाता है कि, कोई ३० हज़ार आदमियों को असहयोग के सम्बन्ध में सजायें मिलीं। मगर हालाकि ज्यादातर प्रमुख व्यक्ति और काम करनेवाले जेल चले गये, इस सारी लड़ाई के नेता महात्मा गांधी फिर भी बाहर थे, जो रोज़ाना लोगों को अपने संदेश देते और हिदायतें जारी करते रहते थे, जिनसे लोगों को स्फूर्ति मिलती थी और कई अवाञ्छनीय बातें होने से बच जाती थीं। सरकार ने उनपर अभीतक हाथ नहीं डाला था, क्योंकि उसे डर था कि शायद इसका नतीजा ख़राब होगा और कहीं हिन्दुस्तानी फ़ौज और पुलिस बिगड़ तो नहीं जायगी।

अचानक १९२२ की फ़रवरी के शुरू म ही सारा दृश्य बदल गया, और जेल में ही हमने बड़े आश्चर्य और भय के साथ सुना कि गांधीजी ने हमारी लड़ाई के आक्रमणात्मक कार्य बन्द करवा दिये हैं और सत्याग्रह मुल्तवी कर दिया ह। हमने पढ़ा कि यह इसलिए किया गया कि चौरीचौरा नामक गाँव के पास लोगों की एक भीड़ ने बदले में पुलिस-स्टेशन में आग लगा दी थी और उसमें क़रीब आधे दर्जन पुलिसवालों को जला डाला था।

जब हमें मालूम हुआ कि ऐसे वक्त में जब कि हम अपनी स्थिति मज़बूत करते जा रहे थे और सभी मोर्चों पर आगे बढ़ रहे थे, हमारी लड़ाई बन्द कर दी गई है, तो हम बहुत बिगड़े। मगर जेल में हमारी मायूसी और नाराज़गी से किसीको कुछ भी फ़ायदा नहीं हो सकता था। सत्याग्रह बन्द हो गया, और उसके साथ ही असहयोग भी जाता रहा। कई महीनों की दिक़्क़त और परेशानी के बाद सरकार को

आराम की साँस मिली, और पहली बार उसे अपनी तरफ़ से हमला शुरू करने का मौक़ा मिला । कुछ हफ्तों बाद उसने गांधीजी को गिरफ्तार कर लिया और उन्हें एक लम्बी क़ैद की सज़ा दे दी ।

# १२

# अहिंसा और तलवार का उसूल

चौरीचौरा-काण्ड के बाद हमारे आन्दोलन के एकाएक मुल्तवी किये जाने से, मेरा खयाल है, गांधीजी को छोड़कर कांग्रेस के बाक़ी तमाम नेताओं में बहुत ही नाराज़गी फैली थी। मेरे पिताजी जो उस वक़्त जेल में थे, उसपर बहुत ही बिगड़े थे। क़ुदरतन् नौजवान कांग्रेसियों को तो यह बात और भी ज्यादा बुरी लगी थी। हमारी बढ़ती हुई उम्मीदें धूल में मिल गई। इसलिए उसके ख़िलाफ़ इतनी नाराज़गी का फैलना स्वाभाविक ही था। आन्दोलन के मुल्तवी किये जाने से जो तकलीफ़ हुई उससे भी ज्यादा तकलीफ़ मुल्तवी करने के जो कारण बताये गये उनसे तथा उन कारणों से पैदा होनेवाले नतीजों से हुई। हो सकता है कि चौरीचौरा एक खेदजनक घटना हो, वह थी भी खेद-जनक और अहिंसात्मक आन्दोलन के भाव के बिलकुल खिलाफ़, लेकिन क्या हमारी आज़ादी की राष्ट्रीय लड़ाई कम-से-कम कुछ वक्त के लिए महज़ इसलिए बन्द हो जाया करेगी कि कहीं बहुत दूर के किसी कोने में पड़े गाँव में किसानों की उत्तेजित भीड़ ने कोई हिंसात्मक काम कर डाला? अगर इस तरह अचानक खून-खराबी का यही अटल नतीजा होना है तब तो इस बात में कोई शक नहीं कि अहिंसात्मक लड़ाई की विद्या और उसके मूल सिद्धान्त में कुछ कमी है; क्योंकि हम लोगों को इसी तरह की किसी-न-किसी अनचाही घटना के न होने की गारन्टी करना ग़ैर-मुमकिन मालूम होता था। क्या हमारे लिए यह लाज़िमी है कि आज़ादी की लड़ाई में आगे क़दम रखने से पहले हम हिन्दुस्तान के तीस करोड़ से भी ज्यादा लोगों को अहिंसात्मक लड़ाई का उसूल और उसका अमल सिखा दें और, यही क्यों, हममें से ऐसे कितने हैं जो यह कह सकते हैं कि पुलिस से बहुत ज्यादा उत्तेजना मिलने पर भी हम लोग पूरी तरह शान्त रह सकेंगे? लेकिन अगर हम इसमें कामयाब भी हो जायँ तो जो बहुत-से भड़कानेवाले एजेन्ट और चुगलखोर वग़ैरा हमारे आन्दोलन में आ घुसते हैं, और या तो खुद ही कोई मारकाट कर डालते हैं या दूसरों से करा देते हैं, उनका क्या होगा? मगर अहिंसात्मक लड़ाई के लिए यही शर्त रही कि वह तभी चल सकती है जब कहीं कोई ज़रा भी खून-खराबी न करे, तब तो अहिंसात्मक लड़ाई हमेशा असफल ही रहेगी।

हम लोगों ने अहिंसा के तरीके को इसीलिए मंजूर किया था; और कांग्रेस ने भी इसीलिए उसे अपना साधन बना लिया था, कि हमें यह विश्वास था कि वह

तरीक़ा कारगर है। गांधीजी ने उसे मुल्क के सामने महज इसीलिए नहीं रक्खा था कि वह सही तरीका है, बल्कि इसलिए भी कि हमारे मतलब के लिए वह सबसे ज्यादा कारगर था। यद्यपि उसका नाम नकार में है, तो भी वह है बहुत ही बल और प्रभाव रखनेवाला तरीका, और ऐसा तरीक़ा जो ज़ालिम की ख्वाहिश के सामने चुपचाप सिर झुकाने के बिलकुल खिलाफ़ था। वह तरीक़ा कायरों का तरीक़ा नहीं था जिसमें लड़ाई से मुँह छिपाया जाय; बल्कि बुराई और क़ौमी गुलामी की मुख़ालिफ़त करने के लिए बहादुरों का तरीक़ा था। लेकिन अगर किन्हीं भी थोड़े से शख्सों के—मुमकिन है वे दोस्ती का लबादा ओढ़े हुए हमारे दुश्मन हों—हाथ में यह ताक़त हो कि वे ऊटपटांग बेतहाशा कामों से हमारे आन्दोलन को रोक या ख़त्म कर सकते हैं, तो बहादुराना-से-बहादुराना और मज़बूत-से-मज़बूत तरीक़े से भी आखिर क्या फ़ायदा ?

धारा-प्रवाह बोलने की और लोगों को समझाने की ताक़त गांधीजी में कसरत से मौजूद है। अहिंसा का और शांतिमय असहयोग का रास्ता अख़्तियार कराने के लिए उन्होंने अपनी ताक़त से पूरा-पूरा काम लिया था। उनकी भाषा सीधी-सादी थी, उसमें बनावट बिलकुल न थी। उनकी आवाज़ और उनकी मुख-मुद्रा शान्त और साफ़ थी। उसमें विकार का नामोनिशान भी न था, लेकिन बरफ़ की उस बाहरी ओढ़नी के पीछे एक ठोस जोश, उमंग और जलती हुई ज्वाला की गरमी थी। उनके मुख से शब्द उड़-उड़ कर ठेठ हमारे दिलो-दिमाग़ के भीतरी-से-भीतरी कोने में घर कर गये, और उन्होंने वहाँ एक अजीब खलबली पैदा कर दी। उन्होंने जो रास्ता बताया था वह कड़ा और मुश्किल था, लेकिन था बहादुरी का, और ऐसा मालूम पड़ता था कि वह आज़ादी से मकसद पर हमें ज़रूर पहुँचा देगा। १९२० में 'तलवार का उसूल' नाम के एक नामी लेख में उन्होंने लिखा था :—

"मैं यह विश्वास ज़रूर रखता हूँ कि अगर सिर्फ़ बुज़दिली और हिंसा में से ही चुनाव करना हो तो मैं हिंसा को चुनने की सलाह दूँगा। मैं यह पसन्द करूँगा कि हिन्दुस्तान अपनी इज्ज़त बचाने के लिए हथियारों की मदद ले, बनिस्बत इसके कि वह कायरों की तरह खुद अपनी बेइज्ज़ती का असहाय शिकार हो जाय या बना रहे। लेकिन मेरा विश्वास है कि अहिंसा हिंसा से कहीं ऊँची है, सज़ा की बनिस्बत माफ़ी देना कहीं ज्यादा बहादुरी का काम है। 'क्षमा वीरस्य भूषणम्'। क्षमा से वीर की शोभा बढ़ती है। लेकिन सज़ा न देना उसी हालत में क्षमा होती है जब सज़ा देने की ताक़त हो। किसी असहाय जीव का यह कहना कि मैंने अपने से बलवान को क्षमा किया, कोई मानी नहीं रखता। जब एक चूहा बिल्ली को अपने शरीर के टुकड़े-टुकड़े करने देता है तब वह बिल्ली को क्षमा नहीं करता।···लेकिन मैं यह नहीं

समझता कि हिन्दुस्तान असहाय है । न मैं यही समझता हूँ कि मैं बिलकुल असहाय हूँ...।

"कोई मुझे समझने में ग़लती न करे । ताकत शारीरिक बल से नहीं आती, वह तो अदम्य इच्छा-शक्ति से ही आती है ।

"कोई यह न समझे कि मैं हवाई और खयाली आदमी हूँ । मैं तो अमली आदर्श-वादी होने का दावा करता हूँ । अहिंसा-धर्म महज़ ऋषि और महात्माओं के लिए ही नहीं है, वह तो आम लोगों के लिए भी है । जैसे पशुओं के लिए हिंसा प्रकृति का नियम है वैसे ही अहिंसा हम मनुष्यों की प्रकृति का क़ानून है । पशुओं की आत्मा सोती पड़ी रहती है और वह शारीरिक बल के अलावा और कानून को जानती ही नहीं । इन्सान का गौरव चाहता है कि वह ज्यादा ऊँचे कानून की ताक़त, आत्मा की ताक़त, के सामने सिर झुकावे ।"

"इसीलिए मैंने हिन्दुस्तान के सामने आत्मत्याग का, अपनी क़ुर्बानी का, पुराना नियम पेश करने की जुर्रत की है । क्योंकि सत्याग्रह और उसकी शाखायें, असहयोग और सविनय प्रतिरोध, कष्ट-सहन के नियम के दूसरे नामों के अलावा और कुछ नहीं है । जिन ऋषियों ने, हिंसा में से अहिंसा का नियम ढूँढ निकाला, वे न्यूटन से ज्यादा प्रतिभाशाली थे । वे खुद वेलिंगटन से ज्यादा योद्धा थे ; वे हथियार चलाना जानते थे, लेकिन अपने अनुभव से उन्होंने उन्हें बेकार पाया और थकी हुई दुनिया को यह सिखाया कि उसका छुटकारा हिंसा के ज़रिये नहीं होगा बल्कि अहिंसा के ज़रिये होगा ।

"अपनी सक्रिय दशा मे अहिंसा के मानी हैं जान-बूझकर तकलीफ़ें उठाना । उसके मानी यह नहीं हैं कि आप बुरा करनेवाले की ख्वाहिश के सामने चुपचाप अपना सिर झुका दें, बल्कि उसके मानी यह हैं कि हम ज़ालिम की ख्वाहिश के खिलाफ़ अपनी पूरी आत्मा को भिड़ा दें । अपनी हस्ती के इस कानून के मुताबिक काम करते हुए, महज़ एक शख्स के लिए भी यह मुमकिन है कि वह अपनी इज्ज़त, अपने मजहब और अपनी आत्मा को बचाने के लिए, किसी अन्यायी साम्राज्य की ताक़त को ललकार दे और उसके साम्राज्य के पुनरुद्धार या पतन की नींव डाल दे ।

"और इसीलिए मैं हिन्दुस्तान से अहिंसा का रास्ता अख़्तियार करने के लिए इसलिए नहीं कहता कि वह कमज़ोर है । मैं चाहता हूँ कि वह अपनी ताक़त और अपने बल-भरोसे को जानते हुए अहिंसा पर अमल करे......मैं चाहता हूँ कि हिन्दुस्तान यह पहचान ले कि उसके एक आत्मा है, जिसका नाश नहीं हो सकता और जो तमाम शारीरिक कमज़ोरियों पर फतह पा सकती है और तमाम दुनिया के शारीरिक बलों का मुकाबिला कर सकती है......

"इस असहयोग को मैं 'सिनफ़िन'-आन्दोलन से अलग समझता हूँ; क्योंकि इसका जिस तरह से ख़याल किया गया है उस तरह से वह हिंसा के साथ-साथ कभी हो ही नहीं सकता। लेकिन मैं तो हिंसा के सम्प्रदाय को भी दावत देता हूँ कि वे इस शान्तिमय असहयोग की परीक्षा तो करें। वह अपनी अन्दरूनी कमज़ोरी की वजह से नाकामयाब न होगा। हाँ, अगर ज्यादा तादाद में लोग उसे अख़्तियार न करें तो वह नाकामयाब हो सकता है। वही वक्त असली ख़तरे का वक्त होगा; क्योंकि उस वक्त वे उच्चात्मा जो अधिक समय तक राष्ट्रीय अपमान सहन नहीं कर सकते, अपना गुस्सा नहीं रोक सकेंगे। वे हिंसा का रास्ता अख़्तियार करेंगे। जहाँतक मैं जानता हूँ, वे अपना या गुलामी से मुल्क का छुटकारा किये बिना ही बरबाद हो जायँगे। अगर हिंदुस्तान तलवार के पक्ष को ग्रहण करले तो मुमकिन है कि शायद वह क्षणिक विजय पा ले। परन्तु उस वक्त हिन्दुस्तान के लिए मेरे हृदय में गर्व न होगा। मैं तो हिन्दुस्तान से इसलिए बंधा हुआ हूँ कि मेरे पास जो-कुछ है वह सब मैंने उसीसे पाया है। मुझे पक्का और पूरा विश्वास है कि दुनिया के लिए हिन्दुस्तान का एक मिशन है।"

इन दलीलों का हमारे ऊपर बहुत असर पड़ा, लेकिन हम लोगों की राय में और कुल मिलाकर कांग्रेस की राय में अहिंसा का तरीक़ा न तो मज़हब या अकाट्य सिद्धान्त या धर्म का तरीक़ा था, और न हो ही सकता था। हमारे लिए तो वह ज्यादा से-ज्यादा एक ऐसी नीति या एक ऐसा सहल तरीका ही हो सकता था जिससे हम कुछ नतीजों की उम्मीद करते थे, और उन्हीं नतीजों से अख़ीर में हम उसकी बाबत फ़ैसला करते। अपने-अपने लिए लोग उसे भले ही मज़हब बना लें या निर्विवाद धर्म मान लें, परन्तु कोई भी राजनैतिक संस्था, जबतक वह राजनैतिक है, ऐसा नहीं कर सकती।

चौरीचौरा और उसके नतीजे ने हम लोगों को, एक साधन के रूप में, अहिंसा के इन पहलुओं की जाँच करने को मजबूर कर दिया और हम लोगों ने यह महसूस किया कि अगर आन्दोलन मुल्तवी करने के लिए गांधीजी ने जो कारण बताये हैं वे सही हैं तो हमारे मुख़ालिफ़ों के पास हमेशा वह ताक़त रहेगी, जिससे वे ऐसी हालतें पैदा कर दें जिनसे लाज़िमी तौर पर हमें अपनी लड़ाई छोड़ देनी पड़े! आया यह कसूर ख़ुद अहिंसा के तरीक़े का था या उसकी उस व्याख्या का जो गांधीजी ने की? लेकिन आखिर वही तो उस तरीके के जन्मदाता थे? उनसे ज्यादा इस बात का बेहतर जज और कौन हो सकता था कि वह तरीक़ा क्या है और क्या नहीं है? और बिना उनके हमारे आन्दोलन का क्या ठिकाना होगा?

लेकिन बहुत बरसों के बाद, १९३० की सत्याग्रह की लड़ाई शुरू होने से ठीक

पहले, हमें यह देखकर बड़ा सन्तोष हुआ कि गांधीजी ने इस बात को साफ़ कर दिया। उन्होंने कहा कि कहीं इक्के-दुक्के हिंसात्मक काण्ड हो जायँ तो उसकी वजह से हमें अपनी लड़ाई छोडने की ज़रूरत नहीं है। अगर ऐसी घटनाओं की वजह से, जो कहीं-न-कहीं हुए बिना नहीं रह सकती, अहिंसा का तरीक़ा काम नहीं कर सकता तो ज़ाहिर था कि वह हर मौक़े के लिए सबसे अच्छा तरीक़ा नहीं है। और गांधीजी इस बात को मानने के लिए तयार नहीं थे। उनकी राय में तो जब वह तरीक़ा सही तरीक़ा है तो वह सब मौकों के लिए मौजूं होना चाहिए, और कम-से-कम संकुचित दायरे में ही सही लेकिन विरोधी आबोहवा में भी उसे अपना काम करते रहना चाहिए। इस व्याख्या ने अहिंसात्मक लड़ाई का क्षेत्र बढ़ा दिया। लेकिन यह व्याख्या गांधीजी के मन के विकास की गवाही देती है, या क्या, यह मैं नहीं जानता।

असल बात तो यह है कि फरवरी १९२२ में सत्याग्रह का मुल्तवी किया जाना महज़ चौरीचौरा की वजह से नहीं हुआ, हलांकि ज्यादातर लोग यही समझते थे। वह तो असल में एक आखिरी निमित्त हो गया था। गांधीजी अक्सर अपनी अन्तः-प्रेरणा या सहज-बुद्धि से प्रेरित होकर काम करते हैं। ऐसा मालूम होता है, जैसे कि महान् लोक-प्रिय नेता अक्सर किया करते हैं, गांधीजी ने बहुत अर्से से जनता के नज़दीक रहकर एक नई इन्द्रिय पैदा कर ली है, जो उनको यह बता देती है कि जनता क्या महसूस कर रही है और वह क्या कर सकती है तथा क्या नहीं कर सकती। वह इस सहज-प्रेरणा को सुनते हैं और तुरन्त उसीके मुताबिक रूप अपने कार्य को दे देते हैं और उसके बाद अपने चकित और नाराज़ साथियों के लिए अपने फ़ैसलों को कारणों का जामा पहनाने की कोशिश करते हैं। यह जामा अक्सर बिलकुल नाकाफ़ी होता है, जैसे कि चौरीचौरा के बाद मालूम होता था। उस वक्त हमारा आन्दोलन, बावजूद उसके ऊपरी दिखाई देनेवाले और लम्बे-चौड़े जोश के, अन्दर से तितर-बितर हो रहा था। तमाम संगठन और अनुशासन का लोप हो रहा था। क़रीब-क़रीब हमारे सब अच्छे आदमी जेल में थे, और उस वक्त तक आम लोगों को खुद अपने बल पर लड़ाई चलाते रहने की बहुत ही कम, नहीं के बराबर, शिक्षा मिली थी। जो भी अजनबी आदमी चाहता, कांग्रेस-कमिटी का चार्ज ले सकता था, और दरअसल बहुत-से ऐतराज़ के क़ाबिल लोग, जिनमें लोगों को उकसाने तथा भड़-कानेवाले सरकारी एजेंट तक शामिल थे, घुस आये थे और कुछ मुकामी कांग्रेस और खिलाफत-कमिटियों पर हावी हो गये थे। ऐसे लोगों को रोकने का उस वक्त कोई चारा न था।

इसमें कोई शक नहीं कि कुछ हद तक इस तरह की बात इस किस्म की लड़ाई

में बहुत कुछ लाज़िमी है। नेताओं के लिए यह लाज़िमी है कि वे सबसे पहले खुद जेल जाकर लोगों को रास्ता दिखावें और दूसरों पर यह भरोसा करें कि वे लड़ाई चलाते रहेंगे। ऐसी दशा में जो कुछ किया जा सकता है वह सिर्फ़ इतना ही कि जनता को कुछ मामूली सीधे-सादे काम करना और उसमे भी ज्यादा कुछ किस्म के कामों से बचते रहना सिखा दिया जाय। १९३० में इस तरह की तालीम देने में हमने पहले ही कुछ साल लगा दिये थे। इसीसे उस वक्त और १९३२ में सविनय-भंग-आन्दोलन बहुत ही ताक़त के साथ और संगठित रूप में चला था। १९२१ और १९२२ में इस बात की कमी थी। उन दिनों लोगों के जोशोखरोश के पीछे और कुछ न था। इसमें कोई शक नहीं कि अगर अन्दोलन जारी रहता तो कई जगह भयंकर हत्याकांड हो जाते। इन हत्याकांडों को सरकार बदतर हत्याकाण्डों द्वारा कुचलती। डर का राज क़ायम हो जाता, जिससे लोग बुरी तरह पस्त-हिम्मत हो जाते।

गांधीजी के दिमाग़ में जिन असरों और सबबों ने काम किया वे सम्भवतः यही थे। उनकी मूल बातों को, तथा अहिंसा-शास्त्र के मुताबिक काम करना वाञ्छनीय था इत बात को, मान लेने के बाद कहना होगा कि उनका फ़ैसला सही ही था। उनकी ये सब खराबियाँ रोककर नये सिरे से रचना करनी थी। एक दूसरी और बिलकुल जुदा दृष्टि से देखने पर उनका फ़ैसला ग़लत भी माना जा सकता है, लेकिन उस दृष्टि-कोण का अहिंसात्मक तरीक़े से कोई ताल्लुक न था। आप एक साथ दायें और बायें दोनों रास्तों पर नहीं चल सकते। इसमें कोई शक नहीं कि अपने उस आन्दोलन को उस अवस्था में और उस खास इक्की-दुक्की वजह से सरकारी हत्याकाण्डों द्वारा कुचल डालने का निमंत्रण देने से भी राष्ट्रीय आन्दोलन खत्म नहीं हो सकता था। क्योंकि ऐसे आन्दोलनों का ऐसा तरीका है कि वे अपनी चिता की भस्म में से ही फिर उठ खड़े होते हैं। अक्सर थोड़े वक्त के लिए हार जाने से भी समस्याओं को भली-भांति समझने में और लोगों को पक्का तथा मजबूत करने में मदद मिलती है। असली बात पीछे हटना या दिखावटी हार नहीं है, बल्कि सिद्धान्त और आदर्श है। अगर जनता इन उसूलों का तेज कम न होने दे तो नये सिरे से ताक़त हासिल करने में देर नहीं लगती। लेकिन १९२१ और १९२२ में हमारे उसूल और हमारा मक़सद क्या था? एक धुँधला स्वराज, जिसके पीछे उसका कोई साफ़ विचार-विज्ञान तो न था, लेकिन था सिर्फ़ अहिंसात्मक लड़ाई का एक खास शास्त्र। अगर लोग किसी बड़े पैमाने पर इक्के-दुक्के हिंसा-काण्ड कर डालते तो अपने आप पिछला यानी अहिंसा का तरीका खत्म हो जाता, और जहाँ तक पहली बात, यानी स्वराज, से ताल्लुक है उसमें ऐसी कोई बात न थी जिसके लिए लोग अड़ते। आम तौर पर लोग इतने मजबूत न थे कि

वे ज्यादा अरसे तक लड़ाई चलाये जाते, और विदेशी शासन के खिलाफ़ करीब-करीब सर्वव्यापी असंतोष और कांग्रेस के साथ सब लोगों की हमदर्दी के बावजूद लोगों में काफ़ी कुव्वत या संगठन न था। वे टिक नहीं सकते थे। जो हजारों लोग जेल गये वे भी क्षणिक जोश में आकर और यह उम्मीद करते हुए कि तमाम किस्सा कुछ दिनों में तय हो जायगा।

इसलिए यह हो सकता है कि १९२२ में सत्याग्रह को मुल्तवी करने का जो फ़ैसला किया गया वह ठीक ही था, हालाँकि उसके मुल्तवी करने का तरीका और भी बेहतर हो सकता था और उसकी वजह से लोगों में एक प्रकार की पस्त-हिम्मती आ गई।

मगर मुमकिन है कि इस बड़े आन्दोलन को इस तरह एकाएक बोतल में बन्द करने से उन दुःखान्त काण्डों के होंने में मदद मिली जो देश में बाद को जाकर हुए। राजनैतिक संग्राम में फुटकर और बेकार हिंसाकाण्ड़ों की ओर बहाव तो रुक गया, लेकिन इस तरह दबाई गई हिंसा-वृत्ति अपने निकलने का रास्ता तो ढूँढती ही; और शायद बाद के सालों में इसी बात ने हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों को बढ़ाया। असहयोग और सविनय-भंग या सिविल नाफरमानी की हलचल को आम लोगों की जो भारी मदद मिली उससे तरह-तरह के साम्प्रदायिक नेता, जो ज्यादातर राजनीति में प्रति-क्रियावादी थे, लोगों की निगाह से गिरकर दबे पड़े थे। लेकिन उस हलचल के बन्द होने पर अब वे बाहर निकल आये। बहुत-से दूसरे लोगों ने भी—जैसे खुफिया के एजेण्टों तथा उन लोगों ने जो हिन्दू-मुसलमानों मे फिसाद कराके हाकिमों को खुश करना चाहते थे—हिन्दू-मुस्लिम बैर बढ़ाने में मदद की। मोपलाओं के उत्पात से तथा जिस निहायत बेरहमी से उसे कुचला गया उससे उन लोगों को एक अच्छा हथियार मिला जो फिरकेवाराना झगड़े पैदा कराना चाहते थे। रेलवे के बन्द डिब्बों में मोपला कैदियों का भुनना तो बहुत ही बीभत्स था। यह मुमकिन हो सकता है कि अगर सत्याग्रह बन्द न किया गया होता और उसे सरकार ने ही कुचला होता तो फिरकेवाराना कड़वापन इतना न बढ़ता और बाद को जो फिरकेवाराना दंगे हुए उनके लिए बहुत ही कम ताक़त बाक़ी रहती।

सत्याग्रह बन्द करने से पहले एक घटना हुई, जिसके नतीजे बिलकुल दूसरे हो सकते थे। सत्याग्रह की पहली लहर से सरकार भौंचक रह गई और डर गई। इसी वक्त वाइसराय लार्ड रीडिंग ने एक आम स्पीच में यह कहा कि कि मैं हैरान व परेशान हूँ। उन दिनों युवराज हिन्दुस्तान में थे और उनकी मौजूदगी से सरकार की जिम्मेदारी बहुत बढ़ गई थी। दिसम्बर १९२१ के शुरू में जो धड़ाधड़ गिरफ्तारियाँ हुई थीं।

उनके बाद ही फौरन उसी महीने में सरकार ने एक कोशिश की कि कांग्रेस से किसी किस्म का राजीनामा कर लिया जाय। यह बात खास तौर पर कलकत्ते में युवराज की आमद को मद्देनज़र रखकर की गई थी। बंगाल-सरकार के प्रतिनिधियों में और देशबन्धुदास में, जो उन दिनों जेल में थे, कुछ आपसी बात-चीत हुई। मालूम पड़ता है कि इस तरह की तजवीज की गई कि सरकार और कांग्रेस के प्रतिनिधियों में एक छोटी-सी गोलमेज-कानफ़ेन्स की जाय। लेकिन यह तजवीज़ इसलिए गिर गई, गांधीजी ने इस बात पर जोर दिया कि मौलाना मुहम्मदअली को भी, जो उस वक्त कराची की जेल में थे, इस कानफ़ेन्स में मौजूद रहना चाहिए और सरकार इस बात के लिए राज़ी न थी।

इस मामले में गांधीजी का यह रुख़ दास बाबू को पसन्द नहीं आया और कुछ वक्त बाद जब वह जेल से छूटकर आये तब उन्होंने खुलेआम गांधीजी की आलोचना की और कहा कि उन्होंने सख्त ग़लती की है। हम लोग उन दिनों जेल में थे, इसलिए हममें से ज्यादातर वे सब बातें नहीं जान सकते जो इस मामले में हुई, और तमाम बातों को जाने बिना कोई फ़ैसला करना मुश्किल है। लेकिन यह मालूम होता है कि उस हालत में उस कानफ़ेन्स से कोई फायदा नहीं हो सकता था। असल में सरकार महज़ यह कोशिश कर रही थी कि किसी तरह कलकत्ते में युवराज की आमद का वक्त बिला खरख़शा निकल जाय। इससे तो जो बुनियादी मामले हमारे सामने थे वे ज्यों-के-त्यों बने रहते। नौ बरस बाद, जब राष्ट्र और कांग्रेस पहले से कहीं ज्यादा ताक़तवर थी तब, गोलमेज़-कान्फ्रेन्स हुई और उससे कोई नतीजा नहीं निकला। लेकिन इसके अलावा भी मुझे ऐसा मालूम होता है कि गांधीजी ने मुहम्मदअली की मौजूदगी पर ज़ोर देकर बिलकुल ठीक ही किया। कांग्रेस के लीडर की हैसियत से ही नहीं, बल्कि खिलाफ़त की हलचल के लीडर की हैसियत से भी, और उन दिनों कांग्रेस के प्रोग्राम का खिलाफ़त एक अहम मुद्दा था, उनकी मौजूदगी लाज़िमी थी। जिस नीति या चाल में अपने साथी को छोड़ना पड़े वह कभी सही हो ही नहीं सकती। सरकार की एक इसी बात से कि वह उन्हें जेल से छोड़ने को तैयार न थी, इस बात का पता चल जाता है कि कानफ़ेन्स से किसी क़िस्म के नतीजे की उम्मीद करना बेकार था।

मुझे और पिताजी को अलग-अलग जुर्मों में अलग-अलग अदालतों ने ६-६ महीने की सजायें दीं थीं। मुक़दमे महज एक स्वांग थे और अपने रिवाज के मुताबिक हम लोगों ने उनमें कोई हिस्सा नहीं लिया था। इसमें कोई शक नहीं कि हमारे सब व्याख्यानों में और दूसरी हलचलों में सजा देने के लिए काफ़ी मसाला ढूंढ निकालना बहुत आसान था। लेकिन सज़ा दिलाने के लिए जो मसाला दरअसल पंसद किया

गया वह मजेदार था। पिताजी पर एक ग़ैर-क़ानूनी जमात का मेंबर होने—काँग्रेस-स्वयंसेवक होने—के जुर्म में मुक़दमा चलाया गया था और इस जुर्म को साबित करने के लिए एक फार्म पेश किया गया जिसमें हिन्दी में उनके दस्तख़त दिखाये गये थे। बिला शक दस्तख़त उन्हीके थे, लेकिन असल में हुआ यह कि इससे पहले उन्होने कभी हिन्दी में दस्तख़त नहीं किये थे। इसलिए बहुत ही कम लोग उनके हिन्दी के दस्तख़त पहचान सकते थे। अदालत में एक फटे-हाल महाशय पेश किये गये, जिन्होंने हलफ़िया बयान दिया कि दस्तख़त मोतीलालजी के ही है। वह महाशय बिलकुल अपढ़ थे और जब उन्होंने दस्तख़तों को देखा तब वह फार्म को औंधा पकड़े हुए थे। पिताजी अदालत में मेरी लड़की को बराबर अपनी गोद में लिये रहे। इससे उनके मुकदमे में उसे पहली मर्तबा अदालत का तजुर्बा हुआ। उस वक्त उसकी उम्र चार बरस की थी।

मेरा जुर्म यह था कि मैंने हड़ताल कराने के लिए नोटिस बाँटे थे। उन दिनों यह कोई जुर्म न था—यद्यपि मेरा ख़याल है कि इस वक्त ऐसा करना जुर्म है, क्योंकि हम बड़ी तेज़ी के साथ डोमीनियन स्टेटस (औपनिवेशिक स्वराज) की तरफ़ बढ़ते जा रहे हैं—फिर भी मुझे सज़ा दे दी गई! तीन महीने बाद जब मैं, पिताजी तथा दूसरे लोगों के साथ, जेल में था तब मुझे इत्तिला मिली कि कोई मुक़दमों की जाँच करनेवाले अफ़सर इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि मुझे जो सज़ा दी गई वह ग़लत है और इसलिए मुझे छोड़ा जायगा। मुझे इस बात से बड़ा अचरज हुआ, क्योकि मेरे मुक़दमे की जाँच कराने के लिए मेरी तरफ़ से किसीने कोई कार्रवाई नहीं की थी। ऐसा मालूम पड़ता है कि सत्याग्रह मुल्तवी हो जाने पर जाँच करनेवाले जजों में मुक़दमों को जाँच करने का एकाएक जोश उमड़ आया हो। मुझे पिताजी को जेल मे छोड़कर बाहर जाने में बहुत दु.ख हुआ।

मैंने तय कर लिया कि क़रीब-क़रीब फ़ौरन ही अहमदाबाद जाकर गांधीजी से मिलूँगा। लेकिन मेरे वहाँ पहुँचने से पहले वह गिरफ्तार हो चुके थे। इसलिए उनसे मैं साबरमती-जेल में ही जाकर मिल सका। उनके मुक़दमे के वक़्त मैं अदालत में मौजूद था। वह एक चिरस्मरणीय प्रसंग था और हममें से जो लोग उस वक़्त वहाँ मौजूद थे वे शायद उसे कभी भूल नहीं सकते। जज एक अंग्रेज़ था। उसने अपने व्यवहार में काफ़ी शराफ़त और भावना दिखाई। अदालत में गाँधीजी ने जो बयान दिया वह दिलों पर बहुत ही असर डालनेवाला था। हम लोग वहाँ से जब लौटे तब हमारे दिल हिलोरें ले रहे थे और उनके ज़िन्दा वाक्यों और उनके चमत्कारी भावों और विचारों की छाप हमारे मन पर लगी हुई थी।

मैं इलाहाबाद लौट आया। मुझे एक ऐसे वक़्त पर जेल से बाहर रहना बहुत-ही सुनसान और दुःखप्रद मालूम हुआ जब मेरे इतने दोस्त और साथी जेल के सींखचों के अन्दर बन्द थे। बाहर जाकर मैंने देखा कि काँग्रेस का संगठन ठीक-ठीक काम नहीं कर रहा है और मैंने उसे ठीक करने की कोशिश की। ख़ास तौर पर मैंने विलायती कपड़े के बायकाट में दिलचस्पी ली। सत्याग्रह के वापस ले लिये जाने पर भी हमारे कार्यक्रम का वह हिस्सा अब भी चालू था। इलाहाबाद के कपड़े के क़रीब-क़रीब तमाम व्यापारियों ने यह वादा किया था कि वे न तो विलायती कपड़ा हिन्दुस्तान में ही किसीसे खरीदेंगे न विलायत से ही मंगावेंगे। इस मतलब के लिए उन्होंने एक मण्डल भी क़ायम कर लिया था। मण्डल के क़ायदों में यह लिखा हुआ था कि जो अपना वादा तोड़ेगा उसे जुर्माने की सजा दी जायगी। मैंने देखा कि कपड़े के कई बड़े-बड़े व्यापारियों ने अपना वादा तोड़ दिया है और वे विदेशों से विलायती कपड़ा मँगा रहे हैं। यह उन लोगों के साथ बहुत बड़ी नाइंसाफ़ी थी जो अपने वादे पर डटे हुए थे। हम लोगों ने कहा-सुनी की, लेकिन कुछ नतीजा न निकला और कपड़े के दूकानदारों का मण्डल किसी कारगर काम के लिए बिलकुल बेकार साबित हुआ। इसलिए हम लोगों ने तय किया कि वादा तोड़नेवाले दूकानदारों की दूकानों पर धरना दिया जाय। हमारे काम के लिए धरने का इशारा-भर काफ़ी था। बस, जुर्माने दे दिये गये और नये सिरे से फिर वादे कर लिये गये। जुर्मानों से जो रुपया आया वह दूकानदारों के मण्डल के पास गया।

दो-तीन दिन बाद अपने कई साथियों के साथ मुझे गिरफ्तार कर लिया गया। ये साथी वे लोग थे जिन्होंने दूकानदारों के साथ बातचीत करने में हिस्सा लिया था। हमारे ऊपर ज़बरदस्ती रुपया ऐंठने और लोगों को डराने का जुर्म लगाया गया। मेरे ऊपर, राजद्रोह समेत, कुछ और भी जुर्म लगाये गये। मैंने अपनी कोई सफ़ाई नहीं दी, अदालत में सिर्फ़ एक लम्बा बयान दिया। मुझे कम-से-कम तीन जुर्मों में सज़ा दी गई, जिनमें ज़बरदस्ती रुपया ऐंठना और लोगों को दबाने के जुर्म शामिल थे। लेकिन राजद्रोहवाला मामला नहीं चलाया गया। क्योंकि शायद यह सोचा गया कि मुझे जितनी सज़ा मिलनी चाहिए थी वह पहले ही मिल चुकी है। जहाँतक मुझे याद है, मुझे तीन सजायें दी गई, जिनमें दो अठारह-अठारह महीने की थीं और एक-साथ चलने को थीं। मेरा ख़याल है कि कुल मिलकर मुझे एक साल नौ महीने की सज़ा दी गई थी। यह मेरी दूसरी सज़ा थी। मैं छः हफ्ते के क़रीब जेल से बाहर रहकर फिर वहीं चला गया।

# १३

## लखनऊ-ज़िला-जेल

१९२१ में हिन्दुस्तान में राजनैनिक अपराधों के लिए जेल जाना कोई नई बात न थी। खासकर वंग-भंग-आन्दोलन के वक्त से तो बराबर ऐसे लोगों का तांता लगा रहा जो जेल जाते थे और जिनको अक्सर बड़ी लम्बी-लम्बी सजायें भी होती थीं। बग़ैर मुक़दमे चलाये नजरबन्दियाँ भी होती थीं। लोकमान्य तिलक को, जो अपने समय के हिन्दुस्तान के सबसे बड़े नेता थे, उनकी ढलती हुई उम्र में छः साल क़ैद की सज़ा दी गई थी। पिछले महायुद्ध के कारण तो नज़रबन्दियों और जेल भेजने का यह सिलसिला और भी बढ़ गया, और षड्यन्त्रों के मामले बहुत होने लगे, जिनमें आमतौर पर मौत की या आजीवन क़ैद की सज़ायें दी जाती थीं। अली-बन्धु और मौ० अबुलकलाम आज़ाद भी लड़ाई के ज़माने में नज़रबन्द हुए थे। लड़ाई के बाद ही फ़ौरन पंजाब में फ़ौजी कानून जारी हुआ, जिनमें लोग बड़ी तादाद में जेल गये और बहुत लोगों को षड्यन्त्र के या सरसरी मुकदमों में सजायें दी गई। इस तरह हिन्दुस्तान में राजनैतिक सज़ा होना एक काफी आम बात हो गई थी, मगर अभीतक खुद जान बूझ-कर कोई जेल न जाता था। लोग अपना काम करते थे और उस सिलसिले में उन्हें राजनैतिक सज़ा अपने-आप मिल जाती थी; या शायद इसलिए मिल जाती थी कि खुफिया पुलिस उनको नापसन्द करती थी। लेकिन, ऐसा होने पर, अदालत में पैरवी करके उससे बचने की पूरी कोशिश की जाती थी। हाँ, दक्षिण-अफ़्रीका में अलबत्ते सत्याग्रह की लड़ाई में गांधीजी और उनके हज़ारों अनुयायियों ने इससे उलटी ही मिसाल पेश की थी।

मगर फिर भी १९२१ में जेलखाना क़रीब-क़रीब एक अज्ञात जगह थी, और बहुत कम लोग जानते थे कि सजायाफ्ता आदमी को अपने अन्दर हड़प जानेवाले डरावने फाटक के भीतर क्या होता है। अन्दाज़ से हम कुछ-कुछ ऐसा समझते थे कि जेल के अन्दर बड़े-बड़े खतरनाक जीव होंगे, जिनके लिए कुछ भी कर गुजरना तो बायें हाथ का खेल था। हमारे ख़याल से जेल एकान्त, बेइज्ज़ती और कष्टों की जगह थी, और सबसे बडी बात यह थी कि उसके साथ अनजान जगह होने का खौफ़ लगा हुआ था। १९२० से जेल जाने का बार-बार ज़िक्र सुनते रहते के कारण, और उसमें अपने कई साथियों के चले जाने से, हम इस ख़याल के आदी हो गये, और उसके बारे में आशंका और अनिच्छा की जो भावना अक्सर अपने-आप पैदा हो जाती थी

उसकी तेज़ी कम हो गई। परन्तु दिमाग़ी तैयारी पहले से कितनी भी की हो, जब हम लोहे के फाटक में पहले-पहल दाख़िल होते थे तो वह क्षोभ और उद्वेग से नहीं बचा सकती थी। उस ज़माने से, जिसे आज तेरह साल हो गये, आज तक मेरे अन्दाज़ से हिन्दुस्तान के कम-से-कम ३ लाख स्त्री-पुरुष उन फाटकों में राजनैतिक अपराधों के लिए दाख़िल हो चुके हैं, हालांकि बहुत करके इलज़ाम फ़ौजदारी आईन की किसी दूसरी ही दफ़ा की रू से लगाया गया है। इनमें से हज़ारों तो कई बार अन्दर गये और बाहर आये हैं। उन्हें यह अच्छी तरह मालूम हो ही जाता है कि अन्दर वे किन बातों की उम्मीद रक्खें; और जहांतक कोई आदमी विचित्र रूप से असाधारण नीरसता और उदासी के साथ कष्ट-सहन और भयंकर एकसापन की ज़िन्दगी के लायक़ अपने-आपको बना सकता है, वहाँ तक उन्होंने वहाँ की अजीब ज़िन्दगी के मुआफ़िक अपने को बनाने की कोशिश की है। हम उसके आदी हो जाते हैं, क्योंकि इन्सान क़रीब-क़रीब हर बात का आदी हो जाता है, और फिर भी जब नई बार हम उस फाटक के अन्दर दाख़िल होते हैं तो फिर वही कुछ पुरानी क्षोभ और उद्वेग की भावना आ जाती है और नब्ज़ उछलने लगती है और आँखें बरबस बाहर की हरियाली और चौड़े मैदानों, चलते-फिरते लोगों और गाड़ियों और जान-पहचानवालों के चेहरों की तरफ़, जिन्हें अब बहुत अर्से तक देखने का मौका नहीं मिलेगा, आख़िरी नज़र डालने लगती है।

जेल की मेरी पहली मियाद के दिन, जो तीन महीने के बाद ही अचानक-सी ख़त्म हो गई, मेरे और जेल-कर्मचारियों दोनों ही के लिए क्षोभ और बेचैनी के दिन थे। जेल के अफ़सर इन नई तरह के अपराधियों की आमद से घबरा-से गये थे। इन नये आनेवालों की महज़ तादाद ही, जो दिन-ब-दिन बढ़ती ही जाती थी, एक ग़ैर-मामूली थी। उन्हें एक ऐसी बाढ़-सी मालूम होती थी कि कहीं अपनी पुरानी क़ायम हदों को बहा न ले जाय। इससे भी ज्यादा चिन्ता की बात यह थी कि नये आनेवाले लोग बिलकुल निराले ढंग के थे। यों आदमी तो सभी वर्ग के थे, मगर मध्यम-वर्ग के बहुत ज्यादा थे। लेकिन इन सब वर्गों में एक बात-सामान्य थी। वे मामूली सज़ायाफ्ता लोगों से बिलकुल दूसरी तरह के थे और उनके साथ पुराने तरीक़े से बर्ताव नहीं किया जा सकता था। अधिकारियों ने यह बात मानी तो, मगर मौजूदा क़ायदों की जगह दूसरे क़ायदे न थे; और न पहले की कोई मिसालें थीं, न कोई पहले का तजुर्बा। मामूली कांग्रेसी क़ैदी न तो बहुत दब्बू था और न नरम। और जेल के अन्दर होते हुए भी अपनी तादाद ज्यादा होने से उसमें यह ख़याल भी आ गया था कि हममें कुछ ताक़त है। बाहर के आन्दोलन से, और जेलखानों के अन्दर के मामलों में पब्लिक की नई

दिलचस्पी पैदा हो जाने के कारण, यह और भी मज़बूत हो गया था। ऐसे कुछ-कुछ तेज़ रुख के होते हुए भी हमारी आम नीति जेल-अधिकारियों से सहयोग करने की थी। अगर हम लोग उनकी मदद न करते तो अफ़सरों की तक़लीफ़ें बहुत ज्यादा हो गई होती। जेलर अक्सर हमारे पास आया करता था, और कुछ बैरकों में, जिनमें हमारे स्वयंसेवक थे, चलकर उन्हें शान्त करने या किसी बात के लिए राज़ी करने को कहता था।

हम अपनी खुशी से जेल आये थे, और कई स्वयंसेवक तो प्रायः बिना बुलाये खुद जबरदस्ती भीतर घुस आये थे। इस तरह यह सवाल तो था ही नहीं कि कोई भाग जाने की कोशिश करता। अगर कोई बाहर जाना चाहता तो वह अपनी हरकत के लिए अफसोस ज़ाहिर करने पर या आयन्दा ऐसे काम में न पड़ने का इक़रार लिखने पर आसानी से बाहर जा सकता था। भागने की कोशिश करने से तो किसी हद तक बदनामी होती थी, और ऐसा काम सत्याग्रह जैसे राजनैतिक कार्य से अलग हो जाने के बराबर था। हमारे लखनऊ-जेल के सुपरिन्टेन्डेन्ट ने यह बात अच्छी तरह समझ ली थी, और वह जेलर से ( जो कि खानसाहब था ) कहा करता था कि अगर आप कुछ कांग्रेस-स्वयसेवकों को भाग जाने देने में कामयाब हो सके, तो मैं आपको खानबहादुर बनाने के लिए सरकार से सिफ़ारिश कर दूँगा।

हमारे साथ के ज्यादातर क़ैदी जेल के भीतरी चक्कर की बड़ी-बड़ी बैरकों मे रक्खे जाते थे। हममें से अठारह, को जिन्हे मेरे अनुमान से अच्छे बरताव के लिए चुना गया था, एक पुराने वीविंग-शेड में रक्खा गया था, जिसके साथ एक बड़ी खुली हुई जगह थी। मेरे पिताजी, मेरे दो चचेरे भाई और मैं, इन लोगों के लिए एक अलग सायबान था, जो क़रीब-क़रीब २०×१६ फीट था। हमें एक बैरक से दूसरी बैरक में जाने-आने की काफ़ी आज़ादी थी। बाहर के रिश्तेदारों से मुलाक़ात बहुत बार करने की इजाज़त थी। अखबार आते थे, और नई गिरफ्तारियों और हमारी लड़ाई की बढ़ती की ताज़ी घटनाओं की रोजाना खबरों से जोश का वातावरण रहता था। आपसी बातचीत और बहस में बहुत वक्त जाता था, और मैं पढ़ना या दूसरा ठोस काम कुछ नहीं कर पाता था। मैं सुबह का वक्त अपने सायबान को अच्छी तरह साफ़ करने और धोने में, पिताजी के और अपने कपड़े धोने में और चर्खा कातने में गुज़ारा करता था। वे जाड़े के दिन थे, जोकि उत्तर-हिन्दुस्तान का सबसे अच्छा मौसम है। शुरू के कुछ हफ्तों में हमें अपने स्वयंसेवकों के लिए, या उनमें से जो पढ़ना नहीं जानते थे उनके लिए हिंदी उर्दू और दूसरे प्रारम्भिक विषय पढ़ाने के लिए क्लास खोलने की इजाज़त मिल गई थी। तीसरे पहर हम वाली-बॉल खेला करते थे।[1]

१. **अखबारों में एक वाहियात खबर निकली है, और हालांकि उसका खण्डन**

धीरे-धीरे बन्धन बढ़ने लगे। हमें अपने अहाते से बाहर जाने और जेल के उस हिस्से में जहाँ हमारे ज्यादातर स्वयंसेवक रक्खे गये थे, पहुँचने से रोक दिया गया। तब पढ़ाई के क्लास अपने-आप बन्द हो गये। क़रीब-क़रीब उसी वक़्त मैं जेल से छोड़ दिया गया।

मैं मार्च के शुरू में बाहर निकला, और छः या सात हफ्ते बाद, अप्रैल में, फिर लौट आया। तब क्या देखता हूँ कि हालतें बहुत बदल गई थीं। पिताजी को बदलकर नैनीताल-जेल में भेज दिया गया था, और उनके जाने के बाद फ़ौरन ही नये क़ायदे लागू कर दिये गये थे। बड़े वीविंग शेड के, जहाँ पहले मैं रक्खा गया था, सारे क़ैदी भीतरी जेल में बदल दिये गये और वहाँ बैरकों में रख दिये गये थे। हरेक बैरक क़रीब-क़रीब जेल के अन्दर की जेल ही थी, और एक बैरक वालों को दूसरी बैरक वालों से मिलने-जुलने या बात-चीत करने की इजाज़त न थी। मुलाक़ात और ख़त अब कम किये जाकर महीने भर में एक कर दिये गये। खाना बहुत मामूली कर दिया गया, हालाँकि हमें बाहर से खाने की चीजें मंगाने की इजाज़त थी।

जिस बैरक में मैं रक्खा गया उसमें क़रीब पचास आदमी रहते होंगे। हम सबको एक-साथ ठूँस दिया गया, हमारे बिस्तरे एक-दूसरे से तीन-चार फ़ीट के फ़ासले पर थे। खुश-किस्मती से उस बैरक का क़रीब-क़रीब हरेक आदमी मेरा जाना हुआ था। और कई मेरे दोस्त भी थे। मगर दिन-रात एकान्त का बिलकुल न मिलना तो नागवार होता गया। हमेशा उसी झुण्ड को देखना-दिखाना, वही छोटे छोटे झगड़े-टंटे चलते रहना, और इन सबसे बचकर शान्ति का कोई कोना भी बिलकुल न मिलना। हम सबके सामने नहाते, सबके सामने कपड़े धोते, कसरत के लिए बैरकों के चारों तरफ़ चक्कर लगाकर दौड़ते, और बहस और बात-चीत इस हद तक करते कि जिससे दिमाग़ थक जाता और सोच-समझकर बात भी करने की ताक़त न रह जाती थी। यह कौटुम्बिक जीवन का एक नीरस—सौगुना नीरस दृश्य था, जिसमें उसका आनन्द, शोभा और सुख-सुविधा का अंश बहुत थोड़ा था; और यह सब ऐसे लोगों के साथ कि जो सब तरह के स्वभाव और रुचियों के थे। हम सबके मन

---

किया जा चुका है फ़िर भी वह समय-समय पर प्रकाशित होती रहती है। वह यह कि उस वक्त के यू० पी० के गवर्नर सर हारकोर्ट बटलर ने जेल में मेरे पिताजी के पास शेम्पेन शराब भेजी। सच तो यह है कि सर हारकोर्ट ने पिताजी के लिए जेल में कुछ नहीं भेजा। और न किसी दूसरे ने ही शेम्पेन या दूसरी कोई नशीली चीज़ भेजी। वास्तव में, कांग्रेस के असहयोग को अपना लेने के बाद, १९२० से उन्होंने शराब वगैरा पीना छोड़ दिया था, और उस वक्त वह कोई ऐसी चीज नहीं पीते थे।

में इस बात का बड़ा उद्वेग रहता था, और मैं तो अक्सर अकेला रहने के लिए तरसता रहता था। कुछ सालों के बाद तो जेल में मुझे खूब एकान्त और अकेलापन मिल गया, जबकि महीनों तक लगातार मुझे किसी-किसी जेल-अधिकारी के सिवा और किसी की सूरत दिखाई न देती थी। तब फिर मेरे मन में उद्वेग रहने लगा—मगर इस बार अच्छे साथियों की ज़रूरत महसूस करता था। अब मैं कभी-कभी १९२२ में लखनऊ-ज़िला-जेल में इकट्ठा रहने की हालत को रश्क के साथ याद करता था। फिर भी मैं यह खूब अच्छी तरह जानता था कि दोनों हालतों में से मुझे अकेलापन ही ज्याद पसन्द है, बशर्त्ते कि मुझे पढ़ने लिखने की सुविधा हो।

फिर भी मुझे कहना होगा कि उस वक्त के साथी निहायत अच्छे और खुश-मिजाज थे। और हम सबकी अच्छी बनी। मगर मेरा खयाल है कि हम सभी कभी-कभी एक-दूसरे से तंग-से आ जाते थे और अलहदा होकर कुछ एकान्त में रहना चाहते थे। ज्यादा-से-ज्यादा जो एकान्त मैं पा सकता था वह यही था कि मैं बैरक छोड़ कर अहाते के खुले हिस्से में आ बैठता था। इन दिनों बारिश का मौसम था और बादल होने के कारण बाहर बैठा जा सकता था। मैं गरमी का, और कभी कभी बूंदा-बूंदी का भी मुकाबिला कर लेता था, और ज्यादा-से-ज्यादा वक्त बैरक के बाहर बिताया करता था।

खुले हिस्से में लेटकर मैं आकाश और बादलों को निहारा करता था, और जितना पहले कभी नहीं किया इतना महसूस करने लगा कि ये बादल कितने गजब के सुन्दर-सुन्दर रंग बदलते हैं—

"अहो ! मेघमालाओं का यह
पल-पल रूप पलटना;
कितना मधुर स्वप्न है लेटे—
लेटे इन्हें निरखना !"[1]

लेकिन वह समय मेरे लिए सुख और आनन्द-मय न था, वह तो हमारे लिए भार-रूप था। मगर जो वक्त मैं इन बरसाती बादलों को, जो हमेशा बदलते रहते थे, देखने में गुज़ारता था वह आनन्द से भरा रहता था और मुझे राहत मालूम होती थी। मुझे ऐसा आनन्द होता मानों मैंने कोई आविष्कार किया हो, और ऐसी भावना पैदा होती मानों मैं क़ैद से छुटकारा पा गया हूँ ! मैं नहीं जानता कि ख़ास उसी बारिश ने मुझ पर इतना बड़ा असर क्यों डाला; इससे पहले या बाद की किसी साल की भी बारिश

१. अंग्रेज़ी में मूल पद्य इस प्रकार है—

"To watch the changing clouds, like clime in clime;
Oh ! sweet to lie and bless the luxury of time."

ने इस तरह मुझे प्रभावित नहीं किया। मैंने कई बार पहाड़ों पर और समुद्र पर सूर्योदय और सूर्यास्त के दृश्य देखे थे, उनकी शोभा की तारीफ़ की थी और उस समय का आनन्द लूटा था एवं उनकी महान् भव्यता और सुन्दरता से उस समय आन्दोलित हो उठता था। मगर मैं उनको देखकर यही ख़याल कर लेता कि ये तो रोज़ाना की बातें हैं, और दूसरी बातों की तरफ़ ध्यान देने लगता। मगर जेल में तो सूर्योदय और सूर्यास्त दिखाई ही नहीं देते थे। क्षितिज हम से छिपा हुआ था और सूरज देर से गरम किरणें लेकर हमारी रक्षक दीवारों के ऊपर से निकलता था। उसमें कहीं रंग का नामोनिशान नहीं होता था, और हमारी आँखे सदा उन्हीं मटमैली दीवारों और बैरकों का नज़ारा देखते-देखते पथरा गई थी। वे तरह-तरह के प्रकाश, छाया और रंगों को देखने के लिए भूखी थीं ही, और जब बारिश के बादल अठखेलियाँ करते हुए गुज़रने लगे, तरह-तरह की शक्लें बनाते हुए भिन्न-भिन्न प्रकार के रंगों के चमत्कार दिखाने लगे, तो मैं ताज्जुब और खुशी से उन्हें निहारने लगा और देखते-देखते मानों आनन्द में पागल हो जाता। कभी-कभी बादलों के बीच में से कुछ हिस्सा अलग हो जाता था और वर्षाऋतु का एक अद्भुत दृश्य दिखाई देता था। उस खाली जगह में से गहरा नीला आस्मान नज़र आता था जो कि अनन्त का ही एक हिस्सा मालूम होता था।

हमारे ऊपर रुकावटें धीरे-धीरे बढ़ने लगी, और ज्यादा-ज्यादा सख्त क़ायदे लागू किये जाने लगे। सरकार ने हमारे आन्दोलन की नाप कर ली थी, वह हमें यह महसूस करा देना चाहती थी कि उसका मुकाबिला करने की जुर्रत करने के सबब से वह हमपर किस क़दर नाराज़ है। नये क़ायदों के चालू करने या उनके अमल में लाने के तरीक़ों से जेल-अधिकारियों और राजनैतिक क़ैदियों के बीच झगड़े होने लगे। कई महीनों तक क़रीब-क़रीब हम सबने—हम लोग उसी जेल में कई सौ थे—विरोध के तौर पर मुलाक़ातें करना छोड़ दिया था। ज़ाहिरा यह ख़याल किया गया कि हममें से कुछ लोग झगड़ा खड़ा करानेवाले हैं, इसलिए हममें से सात आदमियों को जेल के एक दूर के हिस्से में बदल दिया गया जो कि खास बैरकों से बिलकुल अलहदा था। इस तरह जिन लोगों को अलग किया गया उनमें, मैं, पुरुषोत्तमदास टण्डन, महादेव देसाई, जार्ज जोसफ़, बालकृष्ण शर्मा और देवदास गांधी थे।

हमे एक छोटे अहाते में भेजा गया, और वहाँ रहने में कुछ तकलीफें भी थीं। मगर कुल मिलकर मुझे तो इस तब्दीली से खुशी ही हुई। यहाँ भीड़-भाड़ नहीं थी; हम ज्यादा शान्ति और ज्यादा एकान्त से रह सकते थे। पढ़ने या दूसरे काम के लिए वक्त ज्यादा मिलता था। हम जेल के दूसरे हिस्सों के अपने साथी-क़ैदियों से

अलहदा कर दिये गये और बाहरी दुनिया से भी अलहदा कर दिये गये; क्योंकि अब सब राजनैतिक कैदियों के लिए अखबार भी बन्द कर दिये गये थे।

हमारे पास अखबार नहीं आते थे, मगर बाहर से कोई-कोई खबर अन्दर टपक आती थी, जैसे कि जेलों में हमेशा टपका करती है। हमारी महावारी मुलाकातों और ख़तों से भी हमें बाज़-बाज़ ऐसी-वैसी खबरें मिल जाती थीं। हमको पता लगा कि हमारा आन्दोलन बाहर कमजोर हो रहा है। वह चमत्कार युग गुजर गया था और कामयाबी धुधले भविष्य में दूर जाती हुई मालूम हुई। बाहर, कांग्रेस में दो दल हो गये थे—परिवर्तनवादी और अ-परिवर्तनवादी। पहला दल, जिनके नेता देशबन्धु दास और मेरे पिताजी थे, चाहता था कि कांग्रेस अगले केन्द्रीय और प्रान्तीय कौंसिलों के चुनावों में हिस्सा ले और हो सके तो इन कौंसिलों पर क़ब्ज़ा कर ले; दूसरा दल, जिसके नेता राजगोपालाचार्य थे, असहयोग के पुराने कार्यक्रम में कोई भी परिवर्तन किये जाने के विरुद्ध था। उस समय गाँधीजी तो जेल में ही थे। आन्दोलन के जिन सुन्दर आदर्शों ने हमें ज्वार की लहरों की चोटी पर बैठे हुए की तरह आगे बढ़ाया था वे छोटे-छोटे झगड़ों और सत्ता प्राप्त करने की साज़िशों के द्वारा दूर उछाले जाने लगे। हमने यह महसूस किया कि जोश गुजर जाने के बाद रोजाना का काम चलाने की बनिस्बत उत्साह और जोश के वक्त में बड़े-बड़े और हिम्मत के काम कर जाना कितना आसान है। बाहर की खबरों से हमारा जोश ठण्डा होने लगा, और इसके साथ-साथ जेल से दिल पर जो अलग-अलग तरह के असर पैदा होते हैं उनके कारण हमारा वहाँ रहना और भी दूभर हो गया। मगर, फिर भी, हमारे अन्दर यह एक तसल्ली का खयाल रहा कि हमने अपने स्वाभिमान और गौरव को सुरक्षित रक्खा है, और हमने ठीक काम ही किया है, चाहे उसका नतीजा कुछ भी हो। आगे क्या होगा यह तो साफ़ दिखाई नही देता था, मगर आगे कुछ भी हो, हमें ऐसा मालूम होता था कि हम कईयों की किस्मतों में तो जिन्दगी का ज्यादा हिस्सा जेलों में गुजारना ही बदा है। इसी तरह की बातें हम आपस में किया करते थे, और मुझे ख़ास तौर पर याद है कि मेरी जार्ज जोसफ़ से एक बार बात-चीत हुई थी जिसमें हम इसी नतीजे पर पहुंचे थे। उन दिनों के बाद जोसफ़ हमसे दूर-ही-दूर होते चले गये हैं, और यहाँ तक कि हमारे कार्यों के एक जबरदस्त आलोचक भी बन गये हैं। क्या पता कि लखनऊ-जिला-जे के सिविल वार्ड में शरद-ऋतु की एक शाम की हुई उस बात-चीत की याद उनको कभी आती है या नहीं?

हम रोज़ाना कुछ काम और कसरत करने में जुट पड़े। कसरत के लिए हम उस छोटे-से अहाते के चारों तरफ दौड़कर चक्कर लगाया करते थे, या दो बैलों की तरह

से दो-दो आदमी मिलकर अपने सहन के कुएँ से एक बड़ा चमड़े का डोल खींचा करते थे। इस तरह हम अपने अहाते के एक छोटे-से शाक-भाजी के बाग में पानी दे देते थे। हममें से ज्यादातर लोग रोजाना थोड़ा-थोड़ा सूत कातते थे। मगर उन जाड़े के दिनों और लम्बी रातों में पढ़ना ही मेरा खास काम था। करीब-करीब हमेशा जब-जब सुपरिन्टेन्डेन्ट आता तो वह मुझे पढ़ता हुआ ही देखता था। यह पढ़ते रहने की आदत शायद उसे खटकी और उसने इसपर एक बार कुछ कहा भी। उसने यह भी कहा कि मैंने तो अपना साधारण पढ़ना बारह साल की उम्र में ही ख़त्म कर दिया था! बेशक, पढ़ना छोड़ देने से उस बहादुर अंग्रेज कर्नल को यह फ़ायदा ही हुआ कि उसे बेचैनी पैदा करनेवाले विचार आय ही नहीं, और शायद इसीसे बाद में उसे युक्त-प्रान्त की जेलों के इन्स्पेक्टर-जनरल की जगह पर तरक्क़ी पा जाने में मदद मिली।

जाड़े की लम्बी रातों और हिन्दुस्तान के साफ़ आस्मान ने हमारा ध्यान तारों की तरफ़ खींचा, और कुछ नक़्शों की मदद से हमने कई तारे पहचान लिये। हर रात हम उनके उगने का इन्तजार करते थे और अपने पुराने परिचितों के दर्शन के सतोष से उनका स्वागत करते थे।

इस तरह हम अपना वक्त गुजारते थे। दिन गुजरते-गुजरते हफ्ते हो जाते और हफ्ते महीने हो जाते। हम अपनी रोजमर्रा की रहन-सहन के आदी हो गये। मगर बाहर की दुनिया में असली बोझ तो हमारे महिला-वर्ग पर—हमारी माताओं, पत्नियों और बहिनों पर पड़ा। वे इन्तजार करते-करते थक गईं, और जब कि उनके प्यारे जेल के सीखचों में बन्द थे उन्हें अपनेको आजाद रखना एक लानत मालूम होती थी।

दिसम्बर १९२१ में, हमारी पहली गिरफ्तारी के बाद ही, इलाहाबाद के हमारे मकान, आनन्द-भवन, में पुलिसवालों ने अक्सर आना-जाना शुरू किया। वे उन जुर्मानों को वसूल करने आते थे, जो पिताजी पर और मुझपर किये गये थे। कांग्रेस की नीति यह थी कि जुर्माना न दिया जाय। इसलिए पुलिस रोज-रोज आती और कुछ-न-कुछ फर्नीचर कुर्क करके उठा ले जाती। मेरी चार साल की छोटी लड़की इन्दिरा इस बार-बार की लगातार लूट पर बहुत नाराज़ होती थी। उसने पुलिस का विरोध किया और अपनी सख्त नाराजगी जाहिर की। मुझे आशंका है कि ये शुरू की बातें आमतौर पर पुलिस-दल के बारे में भावी विचारों पर असर डाल सकती है।

जेल में पूरी कोशिश की जाती थी कि हमें मामूली गैर-राजनैतिक क़ैदियों से अलग रखा जाय। मामूली तौर पर राजनैतिक क़ैदियों के लिए अलग जेलें मखसूस कर दी जाती थीं। मगर पूरी तरह अलहदा किया जाना तो नामुमकिन था, और हम उन क़ैदियों से अक्सर मिल लेते थे, और उनसे तथा खुद तजुर्बे से हमने जान लिया

कि उन दिनों वास्तव में जेल की जिन्दगी कैसी होती थी। उसे मार-पीट और जोर की रिश्वतखोरी और भ्रष्टता की एक कहानी ही समझना चाहिए। खाना बिलकुल अजीब तौर पर खराब था; मैंने कई मर्त्तबा उसे खाने की कोशिश की मगर उसे बिलकुल न खाये जाने लायक़ पाया। कर्मचारी आमतौर पर बिलकुल अयोग्य थे और उन्हें बहुत कम तनख्वाहें मिलती थीं। मगर उनके लिए कैदियों या कैदियों के रिश्तेदारों से हर मुमकिन मौक़े पर रुपया ऐंठकर अपनी आमदनी बढ़ाने का रास्ता पूरी तरह खुला था। जेलर और उसके असिस्टेण्टों और वार्डरों के फ़र्ज़ और जिम्मेदारियाँ, जेल-मैनुअल में लिखे मुताबिक, इतनी ज्यादा और इतनी क़िस्म की थीं कि किसी भी आदमी के लिए उन्हें ईमानदारी या योग्यता के साथ पूरा करना नामुमकिन था। युक्तप्रान्त में (और सम्भवतः दूसरे प्रान्तों में भी) जेल-शासन की सामान्य नीति का कैदी के सुधार या उसे अच्छी आदतें या उपयोगी धन्धे सिखाने से कोई ताल्लुक़ न था। जेल की मशक़्क़त का मक़सद सज़ायाफ्ता आदमी को तंग करना था[1] और यह कि उसको इतना भयभीत कर दिया जाय और दबाकर पूरी तरह ताबे में कर लिया जाय, जिससे जब वह जेल से छूटे तो दिल में उसका डर और खौफ़ लेकर जावे और आयन्दा जुर्म करने और फिर जेल लौटने से बाज़ आवे।

पिछले कुछ बरसों में कुछ सुधार ज़रूर हुए हैं। खाना थोड़ा सुधरा है, और

१. युक्तप्रान्त के जेल-मैनुअल की धारा ६८७ में, जो अब नये संस्करण से हटा दी गई है, लिखा था:—

"जेल में मशक़्क़त करना, सिर्फ काम देने के लिए हो नहीं बल्कि खासकर सज़ा देने के लिए समझा जाना चाहिए। इसका भी ज्यादा खयाल न किया जाय कि उससे खूब पैसा पैदा किया जा सकता है। सब से ज्यादा जरूरी बात यह है कि जेल का काम तकलीफ़-देह और मेहनत का होना चाहिए और उससे बदमाशों को खौफ़ पैदा होना चाहिए।"

इसके मुकाबिले में रूस के एम० एफ़० एस० आर० की ताजीरात फौजदारी की नीचे लिखी धारा देखने योग्य है:—

धारा ६—"सामाजिक सुरक्षा के उपायों का यह मक़सद नहीं है कि शारीरिक यातनायें दी जायँ, न यह है कि मनुष्य के गौरव को गिराया जाय, और न यह मक़सद है कि बदला लिया जाय या दण्ड दिया जाय।"

धारा २६—"सज़ायें देना चूंकि सुरक्षा का ही एक उपाय है, वह तकलीफें देने के उसूल से बिलकुल बरी होना चाहिए, और उससे अपराधी को गैरज़रूरी या फालतू तकलीफ़ न पहुँचनी चाहिए।"

कपड़े वग़ैरा भी सुधरे हैं। यह भी ज्यादातर राजनैतिक क़ैदियों के छूटने के बाद उनके बाहर आन्दोलन करने के कारण हुआ है। असहयोग के कारण वार्डरों की तनख्वाहों में भी काफी तरक्की हुई है, ताकि वे 'सरकार' के वफादार बने रहें। लड़कों और छोटी उम्र के क़ैदियों को पढ़ना-लिखना सिखाने के लिए भी अब थोड़ी-सी कोशिश की जाती है। मगर अच्छे होते हुए भी, इन सुधारों से असली सवाल कुछ भी हल नहीं होता है और अब भी ज्यादातर वही पुरानी स्पिरिट चली आ रही है।

ज्यादातर राजनैतिक क़ैदियों को मामूली क़ैदियों के साथ किये जाने वाले इस नियमित व्यवहार को ही सहना पड़ा। उन्हें कोई विशेष अधिकार या व्यवहार नहीं मिला, मगर दूसरों से ज्यादा तेज़-तर्रार और समझदार होने के कारण उनसे आसानी से कोई बेजा फायदा नहीं उठा सकता था, न उनसे रुपया ऐंठा जा सका। इस सबब से आपही कर्मचारी उन्हें पसन्द नहीं करते थे, और जब मौक़ा आता तो उनमें किसी को भी जेल के कायदे टूटने पर सख्त सज़ा दी जाती थी। ऐसे ही क़ायदे तोड़ने के लिए एक छोटे लड़के को, जिसकी उम्र १५ या १६ साल की थी और जो अपने को 'आज़ाद' कहता था, बेंत लगाये जाने की सज़ा दी गई। वह नंगा किया गया और बेंत की टिकटी से बाँध दिया गया, और जैसे-जैसे बेंत उसपर पड़ते थे और उसकी चमड़ी फाड़कर घुस जाते थे, वह 'महात्मा गांधी की जय' चिल्लाता था, हर बेंत के साथ वह लड़का यही नारा लगाता रहा, जबतक कि वह बेहोश न हो गया। बाद में वही लड़का उत्तर भारत के आतंककारी कार्यों के दल का एक नेता बना।

# १४

## फिर बाहर

आदमी को जेल में कई बातों का अभाव मालूम होता है, मगर शायद स्त्रियों के बोलने और बच्चों के हँसने की आवाज़ का अभाव तो सबसे ज्यादा महसूस होता है। जो आवाज़ें वहाँ आम तौर पर सुनाई देती हैं वे कोई बड़ी खुशगवार नहीं होती हैं। वे ज्यादातर कठोर और डराने की होती हैं। भाषा जंगली होती है और उसमें गाली-गलौज भरी रहती है। मुझे याद है कि मुझे एकबार एक नया अभाव मालूम हुआ। मैं लखनऊ-ज़िला जेल में था और अचानक मुझे महसूस हुआ कि सात या आठ महीने से मैंने कुत्ते का भौंकना नहीं सुना है।

जनवरी १९२३ के आखरी दिन, लखनऊ-जेल के हम सब राजनैतिक क़ैदी छोड़ दिये गये। उस समय लखनऊ में एकसौ और दोसौ के बीच 'स्पेशल क्लास' के क़ैदी होंगे। दिसम्बर १९२१ या १९२२ के शुरू में जिन लोगों को एक साल या कम की सज़ा मिली थी, वे सब तो अपनी सज़ा पूरी करके चले गये थे; सिर्फ़ वे जिनकी लम्बी सज़ायें थीं, या जो दुबारा आ गये थे, रह गये थे। इस अचानक रिहाई से हम सबको बड़ा ताज्जुब हुआ; क्योंकि आम रिहाई की पहले से कोई ख़बर न थी। प्रान्तीय कौंसिल ने राजनैतिक क़ैदियों की आम रिहाई कर देने के पक्ष में एक प्रस्ताव भी पास किया था, मगर सरकार की कार्य-कारिणी ऐसी माँगों की सुनवाई बहुत कम करती है। लेकिन इस समय ऐसा हुआ कि सरकार की निगाह में यह वक़्त मौज़ूँ था। काँग्रेस सरकार के विरुद्ध कुछ नहीं कर रही थी, और काँग्रेसवाले आपसी झगड़ों में ही फँसे हुए थे। जेल में भी नामी-गिरामी काँग्रेसवाले ज्यादा नहीं थे, इसलिए यह रिहाई कर दी गई।

जेल के फाटक से बाहर निकलने में हमेशा राहत का भाव और आनन्दपूर्ण उत्साह रहता है। ताज़ी हवा और खुले मैदान, सड़कों पर के चलते हुए दृश्य, और पुराने मित्रों से मिलना-जुलना, ये सब दिमाग़ में भर आते हैं और कुछ-कुछ दीवाना बना देते हैं। बाहर की दुनिया को देखने से पहले-पहल जो असर होता है उसमें प्राय: पागलों कासा एक आनन्द छाया रहता है। हमारा दिल उछलने लगा, मगर यह भाव रहा थोड़ी देर के लिए ही, क्योंकि काँग्रेस-राजनीति की दशा काफ़ी निराशाजनक थी। ऊँचे आदर्शों की जगह षड्यंत्र होने लगे थे, और कई गुट उन सामान्य तरीक़ों से काँग्रेस-तन्त्र पर कब्ज़ा करने की कोशिश करने लगे थे, जिनसे कुछ भी मृदुल भावना रखनेवाले लोगों की निगाह में राजनीति एक घृणित शब्द बन गया है।

मेरे मन का झुकाव तो कौंसिल-प्रवेश के बिलकुल खिलाफ़ था, क्योंकि इसका ज़रूरी नतीजा यह मालूम होता था कि समझौता करने की चालें करनी पड़ेंगी और अपना लक्ष्य हमेशा नीचा करना पड़ेगा। मगर सच पूछो तो देश के सामने कोई दूसरा राजनैतिक प्रोग्राम ही न था। अपरिवर्तनवादी 'रचनात्मक कार्यक्रम' पर ज़ोर देते थे, जो कि दरअसल सामाजिक सुधार का कार्यक्रम था और जिसका मुख्य गुण यह था कि उससे हमारे कार्यकर्ताओं का जनता से सम्पर्क पैदा हो जाय। मगर इससे उन लोगों को तसल्ली नहीं हो सकती थी जो राजनैतिक कार्य में विश्वास करते थे, और यह कुछ अनिवार्य ही था कि सीधे संघर्ष की लहर के बाद, कि जो कामयाब न हुई हो, कौंसिल-प्रवेश का कार्यक्रम आगे आवे। यह कार्यक्रम भी देशबन्धु दास और मेरे पिताजी ने, जो कि इस नये आन्दोलन के नेता थे, सहयोग और रचना के लिए नहीं बल्कि बाधा डालने और मुकाबिला करने की दृष्टि से सोचा था।

देशबन्धु दास कौंसिल में भी राष्ट्रीय संग्राम को जारी रखने के उद्देश से वहाँ जाने के पक्ष में हमेशा रहे थे। मेरे पिताजी का भी लगभग यही दृष्टिकोण था। १९२० में जो उन्होंने कौंसिल का बहिष्कार मंजूर किया था, वह कुछ अंशों में अपने दृष्टिकोण को गांधीजी के दृष्टिकोण के अधीन कर देने के रूप में था। वह लड़ाई में पूरी तरह शामिल हो जाना चाहते थे, और उस समय ऐसा करने का एक ही रास्ता था कि गांधीजी के नुस्खे को सोलहों आना आजमाया जाय। कई नौजवानों के दिमाग़ में यह भरा हुआ था कि जिस तरह सिनफीन ने पार्लमेण्ट की सीटों पर क़ब्ज़ा कर लिया और फिर वे कामन्स-सभा में दाखिल नहीं हुए, उसी तरह यहाँ भी किया जाय। मुझे याद है कि मैंने १९२० की गर्मियों में गांधीजी पर बहिष्कार के इस तरीक़े को अख़्त्यार करने के लिए ज़ोर दिया था, मगर ऐसे मामलों में वह झुकने-वाले नहीं थे। मुहम्मदअली उन दिनों खिलाफ़त-सम्बन्धी एक डेपुटेशन के साथ योरप में थे। लौटने पर उन्होंने भी बहिष्कार के इस तरीक़े पर अफ़सोस ज़ाहिर किया था। उन्हें सिनफ़ीन-मार्ग ज्यादा पसन्द था। मगर दूसरे व्यक्ति इस मामले में क्या विचार रखते हैं, इस बात की कोई वक़त न थी; क्योंकि आखिरकार गांधीजी का दृष्टिकोण ही क़ायम रहने को था, वही आन्दोलन के जन्मदाता थे, इसलिए यह खयाल किया गया कि तफ़सील के मामले में उन्हींको पूर्ण स्वतन्त्रता रहनी चाहिए। सिनफ़ीन तरीक़े के बारे में उनके खास ऐतराज (हिंसा से उसका सम्बन्ध होने के अलावा) यह थे कि जनता यह सीधी बात ज्यादा आसानी से समझ सकती है कि वोट देने के मुकामों का और वोट देने का बहिष्कार कर दिया जाय, मगर सिनफ़ीन तरीक़े को मुश्किल से समझेगी। चुनाव करवा लेने और फिर कौंसिलों में न जाने से जनता के

दिमाग़ में उलझन पैदा हो जायगी। इसके सिवा, अगर एक बार हमारे लोग चुन दिये गये तो वे कौंसिलों की तरफ़ ही खिचेंगे और उन्हें उसके बाहर रहना मुश्किल होगा। हमारे आन्दोलन में इतना अनुशासन और शक्ति नहीं है कि देर तक उन्हें बाहर रक्खा जा सके, और धीरे-धीरे अपनी स्थितियों से गिरकर लोग कौंसिलों के ज़रिये सरकारी आश्रय का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से फ़ायदा उठाने लगेंगे।

इन दलीलों में सचाई काफ़ी थी, और सचमुच १९२४-२६ में जब स्वराज-पार्टी कौंसिलों में गई तब बहुत-कुछ ऐसा हुआ भी। फिर भी कभी-कभी विचार आ ही जाता है, कि अगर कांग्रेस १९२० में कौंसिलों पर कब्ज़ा करना चाहती तो क्या हुआ होता? इसमें शक नहीं हो सकता कि चूंकि उस समय खिलाफ़त-कमिटी भी साथ थी, वह प्रान्तीय तथा केन्द्रीय दोनों ही कौंसिलों की क़रीब-क़रीब हर सीट को जीत सकती थी। आज (अगस्त, १९३३ में) यह फिर चर्चा है कि कांग्रेस असेम्बली के लिए उम्मीदवार खड़े करे, और एक पार्लमेण्टरी-बोर्ड भी बन गया है। मगर १९२० के बाद से हमारे सामाजिक और राजनैतिक जीवन में कई बड़ी-बड़ी दरारें पड़ चुकी हैं, अतः अगले चुनाव में कांग्रेस को कितनी ही कामयाबी क्यों न मिले वह उतनी नहीं हो सकती जितनी १९२० में हो सकती थी।

जेल से छूटने पर कुछ दूसरे लोगों के साथ मैंने भी कोशिश की कि विरोधी दलों में कुछ समझौता हो जाय। किन्तु हमें कुछ भी सफलता न मिली, और मैं परिवर्तनवादी और अपरिवर्तनवादी झगड़ों से ऊब उठा। तब मैं तो युक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी के मन्त्री की हैसियत से कांग्रेस को संगठित करने के काम में लग गया। पिछले साल के धक्के के बाद करने के लिए काम बहुत था। मैंने बहुत मेहनत की, मगर उसमें मेरा कोई खास उद्देश न था। असल में मेरे दिमाग़ के लिए कोई काम न था। मगर जल्दी ही मेरे सामने एक नई तरह का काम आ खड़ा हुआ। मेरी रिहाई के कुछ हफ्तों के अन्दर ही मैं इलाहाबाद-म्युनिसिपैलिटी की सदारत पर बैठा दिया गया। यह चुनाव इतना अचानक हुआ कि घटना के पैंतालीस मिनट पहले तक इस बाबत किसीने भी मेरे नाम का ज़िक्र नहीं किया था, बल्कि मेरा खयाल तक नहीं किया था। मगर अन्तिम घड़ी में कांग्रेस-पक्ष ने यह अनुभव किया कि मैं ही उनके दल में एक ऐसा आदमी हूँ जिसका कामयाब होना निश्चित था।

उस साल ऐसा हुआ कि देशभर में बड़े-बड़े कांग्रेसवाले ही म्युनिसिपैलिटियों के प्रेसिडेन्ट बन गये। देशबन्धु दास कलकत्ता के पहले मेयर बने, विट्ठलभाई पटेल बम्बई-कार्पोरेशन के प्रेसिडेन्ट बने, सरदार वल्लभभाई अहमदाबाद के बने। युक्तप्रान्त में ज्यादातर बड़ी म्युनिसिपैलिटियों में कांग्रेसी ही चेयरमैन थे।

अब तो मुझे म्युनिसिपैलिटी के सभी मुख्तलिफ़ कामों में दिलचस्पी पैदा होने लगी और मैं उसमें ज्यादा-ज्यादा वक्त देने लगा। उसके कई सवालों ने तो मुझे लुभा ही लिया। मैंने इस विषय का खूब अध्ययन किया और म्युनिसिपैलिटी का सुधार करने के मैंने बहुत बड़े-बड़े मनसूबे बांधे। बाद में मुझे मालूम हुआ कि आजकल हिन्दुस्तानी म्युनिसिपैलिटियों की रचना जिस तरह की गई है उसके रहते हुए उनमें बड़े सुधारों या उन्नति के लिए बहुत कम गुंजाइश है। फिर भी काम करने के लिए और म्युनिसिपल-तंत्र को साफ़-सूफ करने और सुगम बनाने की गुंजाइश तो थी ही, और मैंने इसी बात के लिए काफ़ी मेहनत की। उन्ही दिनों मेरे पास कांग्रेस का काम भी बढ़ रहा था, और प्रान्तीय सेक्रेटरी के अलावा मैं अखिल-भारतीय सेक्रेटरी भी बना दिया गया था। इन मुख्तलिफ़ कामों के सबब अक्सर मुझे रोज़ाना पन्द्रह-पन्द्रह घंटे तक काम करना पड़ता था, और दिन ख़त्म होने पर मैं अपनेको बिलकुल थका हुआ पाता था।

जेल से घर लौटने पर मेरी आँखों के सामने जो पहला खत आया वह इलाहाबाद-हाइकोर्ट के तत्कालीन चीफ़ जस्टिस सर ग्रिमवुड मियर्स का था। यह खत मेरे छूटने से पहले लिखा गया था, मगर ज़ाहिरा यह जानते हुए लिखा गया था कि रिहाई होने वाली है। उनकी सौजन्यपूर्ण भाषा और उनसे अक्सर मिलते रहने के उनके निमन्त्रण से मुझे थोड़ा ताज्जुब-सा हुआ। मैं उन्हें नही जानता था। वह इलाहाबाद में अभी १९१९ में ही आये थे, जबकि मैं वकालत के पेशे से दूर होता जाता था। मेरा ख़याल है कि उनके सामने मैंने सिर्फ़ एक ही मुक़दमे की बहस की थी, और हाइकोर्ट में मेरा वह आखिरी ही मुक़दमा था। किसी-न-किसी कारण से, मुझे ज्यादा जाने-बूझे बिना ही, मेरी तरफ़ उनका कुछ अधिक झुकाव होने लगा। उनको यह आशा थी, उन्होंने मुझे बाद में बताया, कि मैं खूब तरक्क़ी करूंगा। और इसलिए मुझे अंग्रेज़ों के दृष्टि-कोण को समझाने में वह मुझपर अपनी नेक सलाह का असर डालना चाहते थे। वह बड़ी बारीकी से काम कर रहे थे। उनकी राय थी, और अब भी कई अंग्रेज ऐसा ही समझते है, कि हिन्दुस्तान के साधारण 'गरम' राजनीतिज्ञ ब्रिटिश-विरोधी इसलिए हो गये हैं कि सामाजिक दायरे में अंग्रेज़ों ने उनके साथ बुरा बर्ताव किया है। इसीसे नाराज़गी, कड़वापन, और 'गरम-पन' पैदा हो गया है। यह कहा जाता है, और इसे कई ज़िम्मेदार लोगों ने भी दोहराया है, कि मेरे पिताजी को एक अंग्रेज़ क्लब में नहीं चुना गया इसीसे वह ब्रिटिश-विरोधी और 'गरम' विचार के हो गये। यह बात क़तई बेबुनियाद है और एक बिलकुल दूसरी तरह की घटना का विकृत रूप है[१]। मगर कई

१. इस घटना का ज्यादा हाल जानने के लिए अध्याय ३८ का फ़ुटनोट देखिए।

अंग्रेज़ों को ऐसी मिसालें, चाहे वे सही हों या ग़लत राष्ट्रीय आन्दोलन की उत्पत्ति का सीधा और काफ़ी कारण मालूम होती हैं। दरहक़ीक़त, मेरे पिताजी को और मुझे इस मामले में कोई खास शिकायत थी ही नहीं। व्यक्तिगत रूप से अंग्रेज हमेशा हमसे शिष्टता से पेश आते थे और उनसे हमारी अच्छी बनती है, हालांकि सभी हिन्दुस्तानियों की तरह बेशक हमें अपनी जाति की गुलामी का भान रहा और वह हमें बहुत ज्यादा खटकती रही। मैं मानता हूँ कि आज भी मेरी अंग्रेज़ों से बहुत अच्छी पटती है, बशर्ते कि वह कोई अधिकारी न हो और मुझे बड़ा बनकर अपनाना न चाहता हो, और इतने पर भी हमारे सम्बन्धों में खुश-मिज़ाजी की कमी नहीं होती। शायद नरम दलवालों तथा अन्य लोगों की बनिस्बत, जो हिन्दुस्तान में अंग्रेजों से राजनैतिक सहयोग करते हैं, मेरा अंग्रेजों से ज्यादा मेल खाता है।

सर ग्रिमवुड का इरादा था कि दोस्ताना मेल-जोल, स्पष्टवादिता और शिष्टता-पूर्ण बर्ताव के द्वारा कटुता के इस मूल कारण को निकाल डालें। मेरी उनसे कई बार मुलाक़ात हुई। किसी-न-किसी म्यूनिसिपल टैक्स पर ऐतराज़ करने के बहाने वह मुझसे मिलने आया करते थे और दूसरी बातों पर बहस किया करते थे। एक मर्तबा उन्होंने हिन्दुस्तान के लिबरलों पर खूब हमला किया। वह उन्हें डरपोक ढीले, मौका-परस्त—जिनमें न चरित्र-बल है, न दमखम—कहने लगे, और उनकी भाषा में कठोरता और घृणा आ गई। उन्होंने कहा—"क्या आप समझते हैं कि हमारे दिल में उनके लिए कोई इज्ज़त है?" मुझे ताज्जुब होता था कि वह मुझसे इस तरह की बातें क्यों कर रहे हैं; शायद उनका खयाल था कि ऐसी बातों से मैं खुश होऊँगा। इसके बाद बात-चीत फेरकर वह नई कौंसिलों, उनके मंत्रियों और मंत्रियों को देश-सेवा करने का कितना बड़ा मौका हासिल है इन बातों की चर्चा करने लगे। देश के सामने सबसे ज़रूरी सवाल तालीम का है। क्या किसी शिक्षा-मंत्री को, जिसे अपनी इच्छा के अनुसार काम करने की आज़ादी हो, लाखों आदमियों की किस्मत सुधारने का मौका नहीं है, क्या यह जिन्दगी का सबसे बड़ा मौक़ा नहीं है? उन्होंने कहा फर्ज़ कीजिए कि आप जैसा कोई आदमी, जिसमें समझदारी, चरित्र-बल, आदर्श और आदर्शों को अमल में लाने की ताक़त हो, प्रान्त की शिक्षा का जिम्मेदार हो, तो क्या आप अद्भुत काम करके नहीं दिखा सकते? और उन्होंने कहा कि मैं हाल में ही गवर्नर से मिला हूँ, और विश्वास रखिए कि आपको अपनी नीति पर चलने की पूरी आज़ादी रहेगी। फिर, शायद यह अनुभव करके कि वह ज़रूरत से ज्यादा आगे बढ़ गये हैं, उन्होंने कहा कि वह सरकारी तौर पर किसी की तरफ़ से कोई वादा तो नहीं कर सकते, मगर जो तजवीज़ उन्होने रक्खी है वह उनकी जाती ही है।

सर ग्रिमवुड ने बड़ी सफ़ाई और टेढ़े-मेढ़े तरीक़े से जो प्रस्ताव रक्खा उसकी तरफ़ मेरा ध्यान तो गया। मगर सरकार का मन्त्री बनकर उसका साथ देने का विचार मैं कर भी नहीं सकता था। वास्तव में इस ख़याल से ही मैं नफ़रत करता था। मगर, उस समय और उसके बाद भी, कुछ ठोस, निश्चित और रचनात्मक काम करने का मौक़ा पाने की मैंने अक्सर तमन्ना की है। विध्वंस, आन्दोलन और असहयोग तो मानव-प्राणी की दैनिक प्रवृत्तियाँ नहीं हो सकतीं। फिर भी हमारी क़िस्मत में यही लिखा है कि हम संघर्ष और विनाश के रेगिस्तान में से गुजरने के बाद ही उस देश में पहुँच सकते हैं जहाँ हम रचना कर सकते हैं, और सम्भव है कि हममें से ज्यादातर लोग अपनी शक्तियों और जीवन को उन परिवर्तनशील रेगिस्तानों में से गुजरने की सख़्त जद्दोजहद करते हुए ही बिता देंगे, और रचना का काम हमारे बच्चों या बच्चों के बच्चों के हाथ से होगा।

उन दिनों, कम-से-कम युक्तप्रान्त में तो, मन्त्रि-पद बहुत सस्ते हो गये। दो नरम-दली मन्त्री, जो असहयोग के ज़माने में काम कर रहे थे, हट गये थे। जब काँग्रेस के आन्दोलन ने मौजूदा निज़ाम को तोड़ना चाहा, तब सरकार ने काँग्रेस से लड़ने के लिए नरम-दली मन्त्रियों से फायदा उठाने की कोशिश की। मन्त्रि-मण्डल के लोग उन दिनों उनको मान देते थे और उनके प्रति आदर प्रदर्शित करते थे, क्योंकि उस मुश्किल वक़्त में उन्हें सरकार का हिमायती बनाये रखने के लिए यह ज़रूरी था। शायद वे समझते थे कि यह मान और इज्ज़त उन्हें बतौर हक़ के दिये गये हैं, मगर वे नहीं जानते थे कि यह तो काँग्रेस से सामूहिक आक्रमण के परिणाम-स्वरूप सरकार की एक चालमात्र थी। जब वह आक्रमण हटा लिया गया, तो सरकार की निगाह में नरम-दली मन्त्रियों की क़ीमत बहुत गिर गई, और साथ ही वह मान और इज्ज़त भी जाती रही। मन्त्रियों को यह अखरा, मगर उनका कुछ बस न चला, और जल्दी ही उन्हें इस्तीफा दे देना पड़ा। तब नये मन्त्रियों के लिए तलाश होने लगी, और इसमें जल्दी कामयाबी नहीं हुई। कौंसिल में जो मुट्ठीभर नरम-दली लोग थे वे अपने साथियों की, जो बग़ैर किसी लिहाज़ के निकाल बाहर किये गये थे, हमदर्दी के सबब दूर ही रहे। दूसरे लोगों में से जो ज्यादातर जमींदार थे, शायद ही कुछ ऐसे हों जो मामूली तौर पर भी तालीम-याफ्ता कहे जा सकें। काँग्रेस द्वारा कौंसिलों का बहिष्कार होने से उनमें एक अजीब किस्म का गिरोह दाखिल हो गया था।

एक बात प्रसिद्ध है कि इसी समय, या कुछ वक्त बाद, एक शख़्स को मन्त्री बनने के लिए कहा गया। उसने जवाब दिया कि मैं बहुत होशियार आदमी होने का फ़ख़्र तो नहीं करता, मगर मैं अपने को मामूली समझदार और शायद औसत दर्जे

के लोगों से कुछ ज्यादा ही समझदार समझता हूँ, और मैं समझता हूँ कि मेरी ऐसी शोहरत भी है; क्या सरकार चाहती है कि मैं मन्त्री-पद मंजूर करलूँ और दुनिया में अपने-आपको सख्त बेवकूफ़ जाहिर करूँ ?

यह विरोध कुछ उचित भी था। नरम-दली मन्त्री संकुचित विचार के थे, राजनीति या सामाजिक मामलों में उनकी निगाह दूर तक नहीं जाती थी। मगर यह तो उनके बेकार उसूलों का क़ुसूर था। परन्तु एक पेशेवर की हैसियत से उनकी लियाक़त अच्छी थी, और अपने दफ्तर का रोजमर्रा का काम वे ईमानदारी से करते थे। उनके बाद जो मंत्री बने उनमें से कुछ जमींदार-वर्ग में से आये, और उनकी शिक्षा, जाब्ते के मानी में भी बहुत ही सीमित थी। मैं समझता हूँ कि उन्हें ठीक तौर पर सिर्फ़ साक्षर कह सकते थे, इससे ज्यादा नहीं। कभी-कभी ऐसा मालूम पड़ता था कि गवर्नर ने इन भले आदमियों को हिन्दुस्तानियों को बिलकुल नाक़ाबिल साबित करने के लिए ही चुना और ऊँची जगह पर मुक़र्रर कर दिया था। उनके बारे में यह कहना बिलकुल मुनासिब होगा कि :—

दिया भाग्य ने इसी हेतु तुझको यह ऊँचा उद्भव है,
जिससे दुनिया कहे भाग्य को कुछ भी नहीं असंभव है।[१]

तालीम-याफ्ता हों या नहीं, मगर इन मन्त्रियों की तरफ़ जमीदारों के वोट तो थे ही, और वे बड़े अफ़सरों को बढ़िया गार्डन-पार्टियां भी दे सकते थे। भूख से तड़पते हुए किसानों से जो रुपया उनके पास आता था, उसका इससे अच्छा इस्तैमाल और क्या हो सकता था !

१. रिचर्ड गार्नेट के एक पद्य का अनुवाद। मूल पद्य इस प्रकार है—

"Fortune advanced thee that all might aver
That nothing is impossible to her."

# १५

## सन्देह और संघर्ष

मैं बहुत-से कामों में लग गया, और इस तरह मैंने उन मसलों से बचने की कोशिश की जो मुझे परेशानी में डाले हुए थे। लेकिन उनसे बचना मुमकिन न था। जो सवाल बार-बार मेरे मन में उठते थे, और जिनका कोई संतोषजनक जवाब मुझे नहीं मिलता था, उनसे मैं कहाँ भाग सकता था? बात यह है कि वह १९२०-२१ की तरह मेरी आत्मा का सोलहों आने प्रतिबिम्ब नहीं था। इन दिनों जो काम मैं करता था वह सिर्फ इसलिए कि मैं अपने अन्तर्द्वन्द्व से बचना चाहता था। उस वक्त जो आवरण मुझपर पड़ा हुआ था अब उससे मैं निकल आया था, और अपने चारों तरफ़ हिन्दुस्तान में और हिन्दुस्तान से बाहर जो कुछ हो रहा था उसपर निगाह डाल रहा था। मैंने बहुत-से ऐसे परिवर्त्तन देखे जिनकी तरफ़ अभीतक मेरा खयाल ही नहीं गया था। मैंने नये-नये विचार देखे, और नये-नये संघर्ष, और मुझे प्रकाश की जगह उलटे बढ़ती हुई अस्पष्टता दिखाई दी। गांधीजी के नेतृत्व में मेरा विश्वास बना रहा, लेकिन उनके प्रोग्राम के कुछ हिस्सों की मैं बारीकी से छान बीन करने लगा। पर वह तो थे जेल में। हम लोग जब चाहते तब उनसे मिल नहीं सकते थे, और न उनकी सलाह ही ले सकते थे। उन दिनों जो दो पार्टियाँ—कौंसिल-पार्टी और अपरिवर्तनवादी—काम कर रही थीं उनमें से कोई भी मुझे अपनी तरफ़ नहीं खींच रही थी। कौंसिल-पार्टी ज़ाहिरा तौर पर सुधारवाद और विधानवाद की तरफ़ झुक रही थी, और मुझे लगा कि यह मार्ग तो हमें एक अन्धी गली में ले जाकर पटक देगा। अपरिवर्त्तनवादी गांधीजी के कट्टर अनुयायी माने जाते थे, लेकिन महान् पुरुषों के दूसरे सब अनुयायियों की तरह वे भी उनके उपदेशों के सार को न मानकर उनके अक्षरों के अनुसार चलते थे। उनमें सजीवता और संचालक-शक्ति नहीं थी, और अमल में उनमें से ज्यादातर लोग लड़ाकू नहीं थे और सीधे-सादे समाज-सुधारक थे। लेकिन उनमें एक गुण था। आम किसानों से उन्होंने अपना सम्बन्ध बनाये रक्खा था, जबकि कौंसिलों में जानेवाले स्वराजी सोलहों आने पार्लमेण्टों की पैंतरेबाजियों में ही लगे रहे।

मेरे जेल से छूटते ही देशबन्धु दास ने मुझे स्वराजियों के मत का बनाने की कोशिश की। यद्यपि मुझे दिखाई नहीं देता था कि मुझे क्या करना चाहिए, और उन्होंने अपनी वकालत खर्च करदी, तो भी मेरा दिल उनके अनुकूल न हुआ। यह बात विचित्र किन्तु ध्यान देने योग्य थी, जिससे कि मेरे पिताजी के स्वभाव का पता भी

लगता था, कि उन्होंने मुझपर कभी इस बात के लिए ज़ोर या असर डालने की कोशिश नहीं की कि मैं स्वराजी हो जाऊँ, यद्यपि वह खुद स्वराज-पार्टी के लिए उन दिनों बहुत उत्सुक थे। साफ़ ज़ाहिर है कि अगर मैं उनके आन्दोलन में उनके साथ हो जाता तो उन्हें बड़ी खुशी होती, लेकिन मेरे लिए उनके दिल में इतना ज्यादा ख़याल था कि जहाँतक इस मामले से ताल्लुक था उन्होंने सब कुछ मेरी मर्ज़ी पर ही छोड़ दिया; मुझसे कभी कुछ नहीं कहा।

इन्हीं दिनों में मेरे पिताजी और देशबन्धु दास में बहुत गहरी दोस्ती पैदा हो गई। यह दोस्ती राजनैतिक मित्रता से कहीं ज्यादा गहरी थी। इस दोस्ती में मैंने जो मुहब्बत की गहराई और अपना-पन देखा उसपर कम अचरज न हुआ, क्योंकि बड़ी उम्र में तो गहरी दोस्तियाँ शायद ही कभी पैदा होती हों। पिताजी के मेल-मुलाक़ातियों की तादाद बहुत बड़ी थी। उनके साथ हँस खेलकर ज़िन्दगी काटने का उनमें विशेष गुण था। लेकिन वह दोस्ती बहुत सोच-विचारकर ही करते थे, और जिन्दगी के पिछले सालों में तो वह जीवन के मांगल्य में विश्वास खो बैठे थे। लेकिन उनके और देशबन्धु के बीच में तो कोई बाधा न ठहर सकी, और दोनों एक-दूसरे को तहेदिल से चाहने लगे। मेरे पिताजी देशबन्धु से नौ बरस बड़े थे। फिर भी शारीरिक दृष्टि से वही ज्यादा ताक़तवर और तन्दुरुस्त थे। हालांकि दोनों की क़ानूनी शिक्षा और वकालत की कामयाबी का पिछला इतिहास एक-सा ही था, फिर भी दोनों में कई बातों में बड़ा फ़र्क़ था। देशबन्धु दास वकील होने पर भी कवि थे। उनका दृष्टिकोण भावुकता-मय—कवियों का सा—था। मेरा ख़याल है कि उन्होंने बंगाली में बहुत अच्छी कवितायें भी लिखी हैं। वह बड़े अच्छे वक्ता थे, तथा उनकी प्रकृति धार्मिक थी। मेरे पिताजी उनसे अधिक अमली और रूखे-से थे, उनमें संगठन करने की बहुत बड़ी शक्ति थी, और मज़हब का उनमें नामो-निशान भी न था। वह हमेशा लड़ाके रहे थे, हर वक्त चोट खाने और करने को तैयार। जिन लोगों को वह बेवकूफ़ समझते थे उनको क़तई बरदाश्त नहीं कर सकते थे। कम-से-कम खुशी से तो नहीं करते थे। और वह अपने विरोध को भी बरदाश्त नहीं कर सकते थे। कोई उनका विरोध करता तो उन्हें वह ऐसी चुनौती मालूम पड़ती जिसका बुरी तरह मुक़ाबिला करना ही चाहिए। मालूम होता था कि मेरे पिताजी और देशबन्धु यद्यपि कई बातों में एक-दूसरे से भिन्न थे, फिर भी एक-दूसरे के साथ अच्छा मेल खा गये। पार्टी के नेतृत्व के लिए इन दोनों का मेल बहुत ही उम्दा और कारगर साबित हुआ। इनमें हरेक, कुछ हद तक, दूसरे की कमी को पूरा करता था। दोनों को आपस में एक-दूसरे पर पूरा भरोसा था। यहाँतक कि दोनों ने एक-दूसरे को यह अख़्त्यार दे दिया

था कि किसी भी किस्म का बयान या ऐलान निकालते वक़्त दूसरे के नाम का इस्तैमाल कर सकते हैं। इसके लिए पहले से पूछने या सलाह लेने की कोई ज़रूरत न थी।

स्वराज-पार्टी को मज़बूती के साथ क़ायम करने में और देश में उसकी ताक़त और धाक जमाने में इस ज़ाती दोस्ती का बहुत कुछ हाथ था। शुरू से ही इस पार्टी में छिन्न-भिन्न होनेवाली प्रवृत्तियां थीं, क्योंकि कौंसिलों के ज़रिये अपनी ज़ाती तरक्क़ी की गुंजाइश होने की वजह से बहुत-से मौक़ा परस्त और ओहदों के भूखे लोग उसमें आ घुसे थे। उसमें कुछ असली माडरेट भी थे, जिनका झुकाव सरकार के साथ ज्यादा सहयोग करने की तरफ़ था। चुनाव के बाद ज्योंही ये प्रवृत्तियाँ सामने आने लगी, त्योंही पार्टी के नेताओं ने उनकी निन्दा की। मेरे पिताजी ने ऐलान किया कि मैं पार्टी के शरीर से सड़े हुए अंग को काटने में न हिचकूँगा, और उन्होंने अपने इसी ऐलान के अनुसार काम किया भी।

१९२३ से आगे अपने पारिवारिक जीवन में मुझे बहुत सुख व संतोष मिलने लगा, हालांकि मैं पारिवारिक जीवन के लिए बिलकुल वक्त न दे सकता था। अपने पारिवारिक संबंध में मैं बड़ा भाग्यशाली रहा हूँ। ज़बरदस्त कशमकश और मुसीबतों के वक्त में मुझे अपने परिवार में शान्ति और सान्त्वना मिली है। मैंने महसूस किया कि इस दिशा में मैं खुद कितना अपात्र निकला। यह सोचकर मुझे कुछ शर्म भी मालूम हुई। मैंने महसूस किया कि १९२० से लेकर मेरी पत्नी ने जो उत्तम व्यवहार किया उसका मैं कितना ऋणी हूँ। स्वाभिमानी और मृदुल स्वभाव की होते हुए भी उसने न सिर्फ मेरी सनकों ही को बरदाश्त किया, बल्कि जब-जब मुझे शान्ति और तसल्ली की सबसे ज्यादा ज़रूरत थी तब-तब वह उसने मुझे दी।

१९२० से हमारे रहन-सहन के ढंग में कुछ फ़र्क पड़ गया था। वह बहुत सादा हो गया था, और नौकरों की तादाद भी बहुत कम कर दी थी। फिर भी उससे किसी आवश्यक आराम में कोई कमी नही हुई थी। किसी हद तक तो ग़ैर-ज़रूरी चीज़ों को अलग करने के लिए, और कुछ हद तक चालू खर्च के लिए रुपया इकट्ठा करने के वास्ते, बहुत-सी चीज़ें, घोड़े-गाड़ियां और घर-गृहस्थी की वे सब चीज़ें जो हमारे रहन-सहन के नये ढंग के लिए मौज़ूं नहीं थीं, बेच दी गई थी। हमारे फ़र्नीचर का कुछ हिस्सा तो पुलिस ने ही लेकर बेच दिया था। इस फर्नीचर की और मालियों की कमी से घर की सफ़ाई और खूबसूरती जाती रही, और बाग़ जंगल-सा हो गया। कोई तीन साल तक घर व बाग़ की तरफ़ नही के बराबर ध्यान दिया गया था। बहुत हाथ खोलकर खर्च करने के आदी होने की वजह से पिताजी कई बातों की

किफ़ायतशारी को पसन्द नही करते थे। इसलिए उन्होंने तय किया कि वह, घर बैठे-बैठे, लोगों को क़ानूनी सलाह देकर कुछ आमदनी कर लिया करे।

जो वक़्त सार्वजनिक कामों से बचा रहता उसमें वह यह काम करते थे। उनके पास वक़्त बहुत कम बचता था, फिर भी इस हालत में भी काफ़ी कमा लेते थे।

ख़र्च के लिए पिताजी पर अवलम्बित रहने की वजह से मैं बहुत ही दुःख और ग्लानि महसूस करता था। जबसे मैंने वकालत छोड़ी थी, तबसे असल में मेरी कोई निजी आमदनी नहीं रही—सिर्फ़ उस न-कुछ आमदनी को छोड़कर, जो शेअरों के मुनाफ़े—डिवीडेण्ड—के रूप में मिलती थी। मेरा और मेरी पत्नी का ख़र्च ज्यादा न था। सच बात तो यह है कि मुझे यह देखकर काफ़ी अचरज हुआ कि हम लोग इतने कम ख़र्च में अपना काम चला लेते हैं। इसका पता मुझे १९२१ में लगा, और उससे मुझे बड़ी तसल्ली हुई। खादी के कपड़ों और रेल के तीसरे दर्जे के सफ़र में ज्यादा ख़र्च नहीं पड़ता। उन दिनों पिताजी के साथ रहने की वजह से मैं पूरी तरह यह महसूस नहीं कर सका कि इनके अलावा भी घर-गृहस्थी के ऐसे बहुत बे-शुमार ख़र्च हैं जिनका जोड़ बहुत ज्यादा बैठता है। कुछ भी हो, रुपया न रहने के डर ने मुझे कभी नही सताया। मेरा ख़याल है कि ज़रूरत पड़ने पर मैं काफ़ी कमा सकता हूँ, और हम लोग अपना काम अपेक्षाकृत कम ख़र्च में चला सकते हैं।

पिताजी के ऊपर हमारा कोई बहुत बड़ा बोझ नहीं था। इतना ही नही, अगर उनको इस बात का इशारा भी मिल जाता कि हम अपनेको उनपर एक बोझ समझते हैं तो उन्हें बड़ा दुःख होता। फिर भी मै जिस हालत में था उसको पसन्द नही करता था, और अगले तीन साल तक मैं इस मामले पर सोचता रहा, लेकिन मुझे उसका कोई हल नही मिला। मुझे ऐसा काम ढूँढ लेने में कोई मुश्किल न थी जिससे मै कमाई कर लेता, लेकिन ऐसा काम कर लेने के मानी थे कि पब्लिक का जो काम मैं कर रहा था उसे या तो बन्द कर दूं या कम कर दूँ। इस वक़्त तक मैं जितना समय दे सकता था वह सब मैंने कांग्रेस और म्युनि-सिपैलिटी के काम में लगाया। मुझे यह बात पसन्द नहीं आई कि मैं रुपया कमाने के लिए उस काम को छोड़ दूं। इसलिए बड़े-बड़े औद्योगिक फ़र्मों ने मुझे रुपये की दृष्टि से बड़े-बड़े लाभदायक काम सुझाये मगर उनको मैंने नामंजूर कर दिया। शायद वे इतना ज्यादा रुपया महज़ मेरी लियाक़त के ख़याल से उतना नही देना चाहते थे, जितना कि मेरे नाम का फ़ायदा उठाने की दृष्टि से। मुझे बड़े-बड़े उद्योग-धन्धे वलों के साथ इस तरह का सम्बन्ध करने की बात अच्छी नहीं लगी। मेरे लिए यह बात बिलकुल ग़ैर-मुमकिन थी कि मैं फिर से वकालत का पेशा अख़्त्यार

करता, क्योंकि वकालत के लिए मेरी अरुचि बढ़ गई थी, और वह बढ़ती ही चली गई।

१९२४ की काँग्रेस में एक बात यह उठी थी कि प्रधान-मन्त्रियों को तनख़्वाह दी जानी चाहिए। मैं उस वक्त भी काँग्रेस का एक प्रधान-मन्त्री था, और मैंने इस विचार का स्वागत किया था। मुझे यह बात बिलकुल ग़लत मालूम होती थी, कि किसीसे एक तरफ़ तो यह उम्मीद की जाय कि वह अपना पूरा वक्त देकर काम करे और दूसरी तरफ़ उसे कम-से-कम पेट भरने भर को भी कुछ न दिया जाय। नहीं तो हमें ऐसे ही आदमियों के भरोसे सार्वजनिक काम छोड़ना पड़ेगा, जिनके पास खर्चे का निजी इन्तजाम हो। लेकिन इस तरह की फ़ुरसत वाले लोग राजनैतिक दृष्टि से हमेशा वाञ्छनीय नहीं होते, और न आप उनको उनके काम के लिए जिम्मेदार ही ठहरा सकते हैं। मगर काँग्रेस ज्यादा नहीं दे सकती थी, क्योंकि हमारी वेतन की दर बहुत कम थी। लेकिन हिन्दुस्तान में सार्वजनिक फण्डों से तनख्वाह लेने के ख़िलाफ़ एक अजीब और बिलकुल अनुचित धारणा फैली हुई है, हालांकि सरकारी नौकरी के बाबत यह बात नहीं है, और इसलिए पिताजी ने इस बात पर बहुत ऐतराज किया कि मैं कॉग्रेस से तनख्वाह लूँ। मेरे सहकारी मंत्री महाशय को रुपयों की सख़्त ज़रूरत थी, लेकिन वह भी कॉग्रेस से तनख़्वाह लेना शान के खिलाफ़ समझते थे। इसलिए मुझे भी उसके बिना ही रहना पड़ा, हालांकि मैं उसमें कोई बेइज्जती की बात नहीं समझता था और सोलहों आने तनख्वाह लेने को तैयार था।

सिर्फ एक मर्त्तबा मैंने इस मामले में पिताजी से बातें कीं, और उनसे कहा कि रुपये के लिए परावलम्बी रहना मुझे कितना नापसन्द है। मैंने यह बात जहाँतक हो सकता था वहाँ तक बड़े संकोच से और घुमा-फिराकर कही, जिससे उन्हें बुरा न लगे। उन्होने मुझे बताया कि "तुम्हारे लिए अपना सारा या ज्यादातर वक्त पब्लिक के काम के बजाय थोड़ा-सा रुपया कमाने में लगाना बड़ी बेवकूफ़ी होगी, जबकि मैं (पिताजी) थोड़े दिनों की मेहनत से आसानी से उतना रुपया कमा सकता हूँ जितना तुम्हारे और तुम्हारी पत्नी के लिए सालभर काफ़ी होगा।" दलील ज़ोरदार थी, लेकिन उससे मुझे सन्तोष नहीं हुआ। फिर भी मैं उसके मुताबिक ही काम करता रहा।

इन कौटुम्बिक मामलों में और रुपये-पैसे की परेशानियों में १९२३ से लेकर १९२५ तक के साल बीत गये। इस बीच मे राजनैतिक हालत बदल रही थी, और करीब-करीब अपनी मर्जी के ख़िलाफ़ मुझे भिन्न-भिन्न समूहों में अपने को शामिल करना पड़ा, और काँग्रेस में भी मुझे ज़िम्मेदारी का पद लेना पड़ा। १९२३ में एक

अजीब हालत थी । देशबन्धु दास पिछले साल गया-कांग्रेस के सभापति थे। उस हैसियत से वह १९२३ के लिए अ० भा० काँग्रेस कमिटी के पदेन अध्यक्ष थे। लेकिन इस कमिटी में कसरत राय उनके व स्वराजी नीति के खिलाफ़ थी, यद्यपि वह बहुमत बहुत थोड़ा-सा था और दोनों दल क़रीब-क़रीब बराबर थे। १९२३ की गर्मियों में बम्बई में अ० भा० काँग्रेस कमिटी की बैठक में मामला यहाँ तक बढ़ गया कि देशबन्धु दास ने कमिटी की अध्यक्षता से इस्तीफ़ा दे दिया और एक छोटा-सा मध्यवर्ती दल आगे आया और उसीने नई कार्य-समिति बनाई। अ० भा० काँग्रेस कमिटी में इस मध्यवर्ती दल के कोई समर्थक न थे, और यह दो मुख्य पार्टियों में से किसी-न-किसी की कृपा पर ही जीवित रह सकता था। किसी भी एक दल से मिलकर वह दूसरे को थोड़े-से बहुमत से हरा सकता था। डॉक्टर अन्सारी नये अध्यक्ष बने और मैं एक मन्त्री।

फ़ौरन ही हमें दोनों तरफ़ से मुसीबतों का सामना करना पड़ा। गुजरात ने, जो उन दिनों अपरिवर्तनवादियों का एक मज़बूत क़िला था, केन्द्रीय कार्यालय की कुछ हिदायतों को मानने से इन्कार कर दिया। गर्मियों के अख़ीर में उसी साल नागपुर में अ० भा० काँग्रेस कमिटी की बैठक की गई। नागपुर में इन दिनों झण्डा-सत्याग्रह चल रहा था। यहीं हमारी कार्य-समिति का, जो अभागे मध्यवर्ती दल की प्रतिनिधि थी, थोड़े वक्त तक बदनाम ज़िन्दगी बिताने के बाद खातमा हो गया। इस समिति को इसलिए हटना पड़ा कि असल में खास तौर पर वह किसीकी भी प्रतिनिधि नहीं थी; और वह उन्हीं लोगों पर हुकूमत चलाना चाहती थी, जिनके हाथ में काँग्रेस-संगठन की असली ताक़त थी। कार्य-समिति के इस्तीफ़ा देने का कारण यह हुआ कि उसने केन्द्रीय कार्यालय का हुक्म न मानने के लिए गुजरात कमिटी पर लानत का जो प्रस्ताव रक्खा था वह गिर गया। मुझे याद है कि अपना इस्तीफ़ा देते हुए मुझे कितनी ख़ुशी हुई और मैंने कितने संतोष की साँस ली। पार्टी की पैंतरेबाज़ियों के इस थोड़े से ही अनुभव से मैं बिलकुल उकता गया, और मुझे यह देखकर बड़ा धक्का लगा कि कुछ मशहूर काँग्रेसी भी इस तरह साजिश कर सकते हैं।

इस मीटिंग में देशबन्धु दास ने मुझपर यह इलज़ाम लगाया कि तुम कठोर-हृदय हो। मैं समझता हूँ कि उनका खयाल सही था। तुलना के लिए जिस पैमाने से काम लिया जाय उसीपर सब कुछ निर्भर रहता है। अपने बहुत-से दोस्तों और साथियों के मुक़ाबले में मैं कठोर-हृदय हूँ। फिर भी मुझे अपने बाबत हर वक्त यह डर रहता है कि कहीं मैं भावुकता या क्रोध की लहर में डूब या बह न जाऊँ। बरसों मैंने इस बात की कोशिश की है कि मैं कठोर-हृदय हो जाऊँ। लेकिन मुझे डर है कि इस मामले में मुझे जो कामयाबी मिली वह सिर्फ़ ऊपरी रही है।

# १६

## नाभा का नाटक

स्वराजिस्टों और अपरिवर्तनवादियों की कशमकश चलती रही और स्वराजिस्टों की ताक़त धीरे-धीरे बढ़ती गई। १९२३ के सितम्बर में दिल्ली में काँग्रेस का जो खास अधिवेशन हुआ, उसमें स्वराजिस्टों का ज़ोर और बढ़ गया। इस काँग्रेस के बाद ही मेरे साथ एक ऐसी घटना हुई जो बड़ी अजीब थी और जिसकी मुझे कोई उम्मीद नहीं थी।

सिख, और उनमें से खासकर अकाली, पंजाब में बार-बार सरकार के संघर्ष मे आ रहे थे। उनमे एक धार्मिक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था, और उसने यह काम हाथ में लिया कि बदचलन महन्तों को निकालकर उपासना के स्थानों पर और उनकी सम्पत्ति पर कब्ज़ा करके गुरुद्वारों को इस खराबी से छुड़ाया जाय। सरकार ने इसमें दखल दिया और संघर्ष हो गया। गुरुद्वारा-आन्दोलन कुछ-कुछ असहयोग से उत्पन्न हुई जागृति के सबब से पैदा हुआ था, और अकालियों के तरीक़े अहिंसात्मक सत्याग्रह के ढंग पर बनाये गये थे। यों संघर्ष कई जगहों पर हुए, मगर सबसे बड़ी लड़ाई गुरु-का-बाग़ की थी, जहाँ बीसियों सिखों ने, जिनमें कई पहले फौज में काम किये हुए सिपाही भी शामिल थे, हाथ तक उठाये बिना या अपने कर्त्तव्य से पीठ फेरे बिना पुलिस की पाशविक मार का सामना किया। इस साबित-क़दमी और हिम्मत के अजीब दृश्य से सारा हिन्दुस्तान चकित हो उठा। सरकार ने गुरुद्वारा-कमिटी को ग़ैरक़ानूनी करार दे दिया, और यह लड़ाई कुछ बरसों तक जारी रही, और अन्त में सिख कामयाब हुए। स्वभावतः काँग्रेस की इसमें हमदर्दी थी, और उसने कुछ वक्त तक अमृतसर में अकाली-आन्दोलन से निकट सम्पर्क बनाये रखने के लिए बतौर माध्यम के खास कर्मचारी मुकर्रर किया था।

जिस घटना का मैं ज़िक्र करनेवाला हूँ उसका इस आम सिख आन्दोलन से कोई ताल्लुक नहीं था। मगर इसमें शक नहीं कि वह घटना इस सिख-हलचल के सबब से ही हुई। पंजाब की दो सिख रियासतों, पटियाला और नाभा, के नरेशों में बड़ा गहरा ज़ाती झगड़ा था, जिसका नतीजा यह हुआ कि भारत-सरकार ने महाराजा नाभा को गद्दी से उतार दिया। नाभा रियासत की हुकूमत करने को एक अंग्रेज एडमिनिस्ट्रेटर मुकर्रर कर दिया गया। सिखों ने महाराजा नाभा के गद्दी से उतारे जाने का विरोध किया, और उसके विरुद्ध नाभा में और बाहर दोनों जगह आन्दोलन उठाया। इस

आन्दोलन के बीच में, जैतो नामक स्थान पर, एक धार्मिक उत्सव को नये एडमिनिस्ट्रेटर ने रोक दिया। इसका विरोध करने के लिए, और रोके हुए उत्सव को जारी रखने के घोषित उद्देश से, सिखों ने जैतो को जत्थे भेजने शुरू किये। पुलिस इन जत्थों को रोकती, मारती, गिरफ्तार करती और आम तौर पर जंगल की एक बीहड़ जगह में ले जाकर छोड़ देती थी। मैं समय-समय पर इस मार का हाल पढ़ा करता था, जब मुझे दिल्ली में विशेष कांग्रेस के बाद ही मालूम हुआ कि दूसरा जत्था जा रहा है, और मुझे वहाँ चलने और वहाँ क्या होता है यह देखने का आमंत्रण मिला, तो मैंने खुशी से उसको मंजूर कर लिया। इसमें मेरा सिर्फ एक ही दिन खर्च होता था, क्योंकि जैतो दिल्ली के पास ही है। कांग्रेस के मेरे दो साथी भी—आचार्य गिडवानी और मद्रास के के० सन्तानम्—मेरे साथ गये। ज्यादातर फासला जत्थे ने क़ायदे से कतार में चलकर तय किया। यह सोचा गया था कि मैं नजदीक के रेलवे स्टेशन तक रेल से जाऊँ और फिर जैतो के पास नाभा की सरहद में, जिस वक़्त वहाँ जत्था पहुंचनेवाला हो, सड़क के रास्ते से पहुँच जाऊँ। हम एक बैलगाड़ी से आये और ठीक वक़्त पर पहुँचे, और जत्थे के पीछे-पीछे उससे अलग रहते हुए चले। जैतो पहुंचने पर जत्थे को पुलिस ने रोक दिया, और उसी वक़्त मुझे भी एक हुक्म मिला, जिसपर अंग्रेज़ एडमिनिस्ट्रेटर के दस्तख़त थे कि मैं नाभा के इलाक़े में दाखिल न होऊँ, और अगर मैं दाख़िल हो गया होऊँ तो फौरन वापस चला जाऊँ। गिडवानी और सन्तानम् को भी ऐसे ही हुक्म दिये गये, मगर उनमें उनके नाम नहीं लिखे हुए थे, क्योंकि नाभा के अधिकारियों को उनके नाम ही नहीं मालूम थे। मेरे साथियों ने और मैंने पुलिस-अफसर से कहा कि हम जत्थे में शामिल नहीं हैं, सिर्फ़ तमाशबीन की तरह हैं, और नाभा के किसी भी कानून को तोड़ने का हमारा इरादा नहीं है। इसके सिवा जब हम नाभा के इलाके में ही थे तो उसमें दाखिल न होने का सवाल ही नहीं हो सकता था, और स्पष्टतः हम उसे एकदम छोड़कर हवा में उड़कर सूक्ष्म रूपसे तो नहीं चले जा सकते। जैतो से दूसरी गाड़ी शायद कई घण्टे बाद जाती थी। इसलिए, हमने उससे कहा कि अभी तो हम यहीं रहना चाहते हैं। बस, हम फौरन गिरफ्तार कर लिये गये और हवालात में ले जाकर बन्द कर दिये गये। हमको हटाने के बाद, उस जत्थे का वही हाल हुआ जो और जत्थों का होता था।

सारे दिन हम हवालात में बन्द रक्खे गये और शाम को हमें विधिवत् स्टेशन ले जाया गया। सन्तानम् को और मुझको एक ही हथकड़ी डाली गई—उनकी बाईं कलाई मेरी दाहिनी कलाई से फांद दी गई थी, और हथकड़ी की जंजीर हमें ले चलनेवाले पुलिसवाले ने पकड़ ली। गिडवानी के भी हथकड़ी डाली गई और वह

हमारे पीछे-पीछे चले। जैतो के बाज़ारों में हमारे इस तरह चलने से मुझे बारबार कुत्तों के ज़ंजीर पकड़कर ले जाये जाने की याद आती थी। चलते वक्त ही पहले तो हम झल्ला उठे, मगर फिर हमें इस घटना की मज़ेदारी का ख़याल आया, और इसका भी हम मज़ा लेने लगे। उसके बाद की रात हमने अच्छी नहीं गुज़ारी। रात को हमारा कुछ वक्त तो धीमी चालवाली रेल के तीसरे दर्जे के डिब्बे में बीता जो ठसाठस भरा हुआ था। रास्ते में शायद आधी रात को गाड़ी भी बदलनी पड़ी थी। और रात का कुछ हिस्सा नाभा की एक हवालात में गुज़रा। इस सारे समय और अगले दिन तीसरे पहर तक, जबकि हम अन्त में नाभा-जेल में रख दिये गये, वह मुश्तर्का हथकड़ी और भारी ज़ंजीर हमारे साथ ही रही। हम दोनों में से एक भी दूसरे के सहयोग के बिना हिल-डुल नहीं सकता था। एक दूसरे आदमी के साथ सारी रात और दूसरे दिन काफ़ी देर तक हथकड़ी से जुड़ा रहना एक ऐसा अनुभव है जिसका अब फिर मज़ा लेना मैं पसन्द नहीं करूँगा।

नाभा-जेल में हम तीनों एक बहुत ही रद्दी और गन्दी कोठरी में रक्खे गये। वह छोटी-सी और सीलवाली कोठरी थी, जिसकी छत, इतनी नीची थी कि उस तक हमारा हाथ क़रीब-क़रीब पहुँच जाता था। हम ज़मीन पर ही सोये और मैं बीच-बीच में एकाएक हड़बड़ाकर जाग उठता था, और तब मालूम होता कि मेरे मुँह पर से कोई चूहा या चुहिया गुज़री थी।

दो-तीन दिन बाद अपने मुक़दमे के लिए हमें अदालत में ले जाया गया, और बहुत ही ऊटपटाँग ज़ाब्ते से वहाँ रोज़-रोज़ कार्रवाई चलने लगी। मजिस्ट्रेट या जज बिलकुल अपढ़ मालूम पड़ता था। निःसन्देह अंग्रेज़ी तो वह जानता ही न था, मगर मुझे शक है कि वह अपनी अदालत की ज़बान उर्दू लिखना भी शायद ही जानता हो। हम उसे एक हफ्ते से ज्यादा देखते रहे, और इस अर्से में उसने एक भी लाइन नहीं लिखी। अगर उसे कुछ लिखना होता था तो वह सरिश्तेदार से लिखवाता था। हमने कई छोटी-छोटी अर्जियाँ पेश कीं। वह उस वक्त उन पर कोई हुक्म नहीं लिखता था। वह उन्हें रख लेता था और दूसरे दिन उन्हें निकालता था। उनपर किसी और के ही लिखे हुए नोट रहते थे। हमने बाक़ायदा अपनी सफ़ाई नहीं दी। असहयोग-आन्दोलन में हमें अपनी पैरवी न करने की इतनी आदत हो गई थी, कि जहाँ पैरवी करने की छुट्टी थी वहाँ भी हमें सफ़ाई देने का ख़याल तक प्रायः बुरा लगता था। मैंने एक लम्बा बयान पेश किया, जिसमें मैंने सारे वाक़यात लिखे, और ख़ासकर एक अंग्रेज़ की अमलदारी होते हुए भी नाभा-रियासत के तरीक़े कैसे हैं इसपर अपनी राय भी ज़ाहिर की।

हमारा मुक़दमा दिन-ब-दिन बढ़ता ही गया, हालांकि वह एक काफ़ी सीधा

मामला था। अब अचानक एक नई बात और हुई। एक दिन शाम को, उस रोज़ की अदालत उठ जाने के बाद भी हमें उसी मकान में बिठा रक्खा। और बहुत देर में, क़रीब ७ बजे, हमें एक दूसरे कमरे में ले गये जहाँ एक शख़्स मेज़ के सामने बैठाथा। और वहाँ और भी कई लोग थे। एक आदमी—जो पुलिस का अफ़सर था और जिसने हमें जैतो में गिरफ्तार किया था—खड़ा हुआ और एक बयान देने लगा। मैंने पूछा कि यह कौन-सी जगह है और यहाँ क्या हो रहा है? मुझे इत्तला दी गई कि यह अदालत है और हमपर षड्यन्त्र करने का मुक़दमा चलाया जा रहा है। यह कार्रवाई उससे बिलकुल भिन्न थी जिसको अभीतक हम देखते थे, और जो नाभा में न दाखिल होने के हुक्म की उदूली के सिलसिले में चल रही थी। ज़ाहिरा यह सोचा गया कि इस हुक्म-उदूली की ज्यादा-से-ज्यादा सज़ा तो सिर्फ़ ६ माह ही है इसलिए यह हमारे लिए काफ़ी न होगी, लिहाजा और कुछ ज्यादा संगीन इलज़ाम लगाना ज़रूरी है। साफ़ है कि सिर्फ़ तीन आदमी षड्यन्त्र के लिए काफ़ी नहीं थे, इसलिए एक चौथे आदमी को जिसका हमसे क़तई कोई ताल्लुक़ न था गिरफ्तार किया गया और उसपर भी हमारे साथ ही मुक़दमा चलाया गया। इस अभागे आदमी को, जो एक सिख था, हम नही जानते थे, हाँ हमने उसे जैतो जाते वक़्त खेत में सिर्फ़ देखा भर था।

मेरे बैरिस्टरपन को यह देखकर बड़ा धक्का लगा। किस अचानक ढँग से एक षड्यन्त्र का मुक़दमा चलाया जा रहा है! मामला तो बिलकुल झूठा था ही, मगर शिष्टता का तक़ाज़ा था कि कुछ तो ज़ाब्ते की पाबन्दी होनी चाहिए। मैंने जज से कहा कि हमें इसकी पहले से कुछ भी इत्तला नहीं दी गई और हम अपनी सफ़ाई का इन्तज़ाम भी करना चाहेंगे। मगर इसकी उसने कुछ भी चिन्ता न की। यह नाभा का निराला तरीक़ा था। मगर हमें सफ़ाई के लिए कोई वकील करना हो तो वह नाभा का ही होना चाहिए। जब मैंने कहा कि मै बाहर का कोई वकील करना चाहूँगा, तो मुझे जवाब मिला कि नाभा के क़ायदों में इसकी इजाज़त नहीं है। इससे नाभा के ज़ाब्ते की विचित्रताओं का हमें और भी ज्ञान मिला। हमें एक तरह की नफ़रत हो गई, और हमने जज से कह दिया कि जो उसके जी में आवे करे, हम लोग इस कार्रवाई में कोई हिस्सा न लेंगे। किन्तु मैं इस निर्णय पर पूरी तरह जमा न रह सका। अपने बारे में अत्यन्त आश्चर्यजनक झूठी बातें सुनकर चुप रहना मुश्किल था, और इसलिए कभी-कभी हम गवाहों के बारे में मुख़्तसर तौर पर मगर बा-मौक़ा अपनी राय ज़ाहिर करते जाते थे। हमने अदालत को असली वाक़यात के बारे में एक तहरीरी बयान दिया। यह दूसरा जज, जो षड्यन्त्र का मुक़दमा चला रहा था, पहले से ज्यादा शिक्षित और समझदार था।

ये दोनों मुक़दमे चलते रहे, और हम दोनों अदालतों में जाने का रोज़ाना इन्तज़ार किया करते थे, क्योंकि इससे जेल की गंदी कोठरी से तबतक के लिए छुटकारा तो हो ही जाता था। इसी दर्मियान एडमिनिस्ट्रेटर की तरफ़ से जेल का सुपरिन्टेन्डेन्ट हमारे पास आया और उसने हमसे कहा कि अगर हम अफ़सोस ज़ाहिर करदें और नाभा से चले जाने का इक़रार लिख दें, तो हमपर से मुक़दमा उठा लिया जा सकता है। हमने कहा कि हम किस बात का अफ़सोस ज़ाहिर करें? हमने कोई ऐसी बात नहीं की है। बल्कि रियासत को हमसे माफ़ी मांगनी चाहिए। हम किसी किस्म का वादा करने को भी तैयार नहीं थे।

गिरफ्तारी के क़रीब दो हफ्ते बाद आखिर हमारे मुक़दमे खत्म हुए। यह सारा वक़्त इस्तगासे में ही लगा, क्योंकि हम तो अपनी पैरवी कर ही नहीं रहे थे। ज्यादा वक़्त तो देर-देर तक इन्तज़ार करने में गया, क्योंकि जहाँ कहीं ज़रा-सी भी कठिनाई पैदा होती थी वहीं कार्रवाई मुल्तवी करदी जाती थी या उसकी बाबत किसी अन्दरूनी अफ़सर से, जो शायद अंग्रेज एडमिनिस्ट्रेटर ही था, पूछने की ज़रूरत होती थी। आख़िरी दिन, जबकि इस्तग़ासे की तरफ़ से मामला खत्म किया गया, हमने भी अपने तहरीरी बयान दे दिये। पहले जज ने कार्रवाई खत्म करदी, और यह जानकर हमें बड़ा ताज्जुब हुआ कि वह थोड़ी ही देर में फिर वापस आ गया और उसके साथ उर्दू में लिखा हुआ एक बड़ा भारी फैसला था। यह ज़ाहिर है कि यह भारी फैसला इतने थोड़े से अरसे में ही नहीं लिखा जा सकता था। यह फैसला हमारे बयान देने के पहले ही तैयार हो गया था। फैसला पढ़कर सुनाया नहीं गया। हमें सिर्फ़ इतना कह दिया गया कि हमें नाभा इलाक़े में से चले जाने के हुक्म की उदूली करने के जुर्म में छः माह की सजा, जो इस जुर्म की ज्यादा-से-ज्यादा सज़ा थी, दी गई है।

उसी रोज षड़यन्त्र के मुक़दमे में भी हमें, ठीक-ठीक मैं भूल गया हूँ, या तो अठारह माह की या दो साल की सजा मिली। यह सज़ा छः माह की सज़ा के अलावा हुई। इस तरह हमें कुल दो या ढाई साल की सज़ा दे दी गई।

हमारे मुक़दमे के दौरान में बहुत बातें ध्यान देने लायक़ हुईं, जिनसे हमें देशी-रियासतों की तर्जे-हुकूमत या देशी रियासतों में अंग्रेज़ों की तर्जे-हुकूमत का कुछ हाल मालूम हुआ। सारी कार्रवाई एक स्वांग-जैसी थी। इसीसे शायद किसी अखबारवाले या बाहरवाले को अदालत में आने नहीं दिया गया। पुलिस जो चाहती थी करती थी और अक्सर जज या मजिस्ट्रेट की भी पर्वाह नहीं करती थी, और उसकी हिदायतों की सचमुच खिलाफ़-वर्ज़ी भी करती थी। बेचारा मजिस्ट्रेट तो यह सब बरदाश्त कर लेता था, मगर हम इसे बरदाश्त क्यों करते? कई मौक़ों पर मुझे खड़ा होना पड़ा

और ज़ोर देना पड़ा कि पुलिस को मजिस्ट्रेट के कहने के मुताबिक़ अमल करना चाहिए और उसका हुक्म मानना चाहिए। कभी-कभी पुलिस भद्दी तरह से कागज़ों को छीन लेती थी, और चूँकि मजिस्ट्रेट अपनी ही अदालत में उसपर कोई कार्रवाई करने या व्यवस्था क़ायम रखने में असमर्थ था, इसलिए हमें थोड़ा-थोड़ा उसका काम करना पड़ता था! बेचारा मजिस्ट्रेट बड़े पशोपेश में था। वह पुलिस से भी डरता था, और हमसे भी कुछ-कुछ डरा हुआ दिखाई देता था; क्योंकि अखबारों में हमारी गिरफ्तारी की खूब चर्चा हो रही थी। जब हमारे जैसे थोड़े-बहुत नामी राजनैतिक लोगों के साथ यह हाल हो सकता था, तो जो लोग कम प्रसिद्ध हैं उनके साथ तो क्या बर्ताव होता होगा ?

मेरे पिताजी को देशी रियासतों का हाल कुछ-कुछ मालूम था, इसलिए वह नाभा में मेरी यकायक गिरफ्तारी से बहुत परेशान हुए। उन्हें सिर्फ़ गिरफ्तारी का वाक़या मालूम हुआ; मगर इसके अलावा और कोई ख़बर बाहर न जा पाई। अपनी परेशानी में उन्होंने मेरे समाचार जानने के लिए वाइसराय को भी तार दे डाला। नाभा में मुझसे मिलने के बारे में उनके रास्ते में बहुत मुश्किलें खड़ी कर दी गईं। मगर आख़िर उन्हें जेल में मुझसे मुलाक़ात करने की इजाज़त मिल गई। परन्तु वह मेरी कोई मदद नहीं कर सकते थे, क्योंकि मैं अपनी सफ़ाई भी पेश नहीं कर रहा था और मैंने उनसे प्रार्थना की कि वह इलाहाबाद वापस चले जायँ और कोई चिन्ता न करें। वह लौट गये, लेकिन कपिलदेव मालवीय को, जो हमारे एक युवक साथी वकील हैं, नाभा में मुक़दमे की कार्रवाई पर ध्यान रखने को छोड़ गये। नाभा की अदालतों को थोड़े दिन देखकर कपिलदेव की क़ानून और जाब्ते सम्बन्धी जानकारी में काफ़ी इजाफ़ा हुआ होगा। पुलिस ने खुली अदालत में उनके कुछ काग़जात ज़बरदस्ती छीन लेने की भी कोशिश की थी।

ज्यादातर देशी-रियासतें पिछड़ी हुई हैं और उनकी हालत जागीरों की सी हो रही है, यह सब जानते हैं। वहाँ अकेला राजा सब कुछ कर सकता है। उनमें न तो क़ाबलियत होती है और न लोक-हित का भाव। वहाँ बड़ी-बड़ी अजीब बातें हुआ करती हैं, जो कभी प्रकाश में भी नहीं आतीं। मगर उनकी नाक़ाबलियत से ही किसी-न-किसी तरह यह बुराई कम हो जाती है, और उनकी बदक़िस्मत प्रजा का बोझ कुछ हलका हो जाता है। क्योंकि इस कारण से वहाँ के कार्यकारी मण्डल में भी कमज़ोरी रहती है, जिससे ज़ुल्म और बेइन्साफ़ी करने में भी नाक़ाबलियत से काम लिया जाता है। इससे ज़ुल्म ज्यादा बरदाश्त करने लायक़ नहीं हो जाता, बल्कि हाँ इससे वह कम गहरा और व्यापक हो जाता है। मगर देशी-रियासत में जब अंग्रेज़ी सरकार खुद

हुकूमत अपने हाथ में ले लेती है, तब उसका एक विचित्र नतीजा यह होता है कि यह हालत नहीं रहती। जागीर की सी दशा कायम रक्खी जाती है, एकतन्त्री-पन भी ज्यों-का-त्यों रहता है पुराने सब क़ानून और ज़ाब्ता ही रायज माना जाता है, व्यक्तिगत स्वतंत्रता, संगठन और मत-प्रकाश ( और इनमें सब कुछ शामिल है ) इनपर सारे बन्धन क़ायम रहते हैं, मगर एक तबदीली ऐसी हो जाती है जिससे सारी हालत बदल जाती है। कार्यकारिणी सत्ता ज्यादा मजबूत हो जाती है, और क़ायदे और उनकी पाबन्दी बढ़ जाती है। इससे जागीरों में और एकतन्त्री शासन में रहनेवाले सब बन्धन सख्त हो जाते हैं। धीरे-धीरे अँग्रेज़ी हुकूमत पुराने रिवाज़ों और तरीकों में बेशक कुछ परिवर्त्तन करती है, क्योंकि इनसे अच्छी तरह हुकूमत और व्यापारिक प्रवेश करने में रुकावटें आती हैं। मगर शुरू-शुरू में तो वह लोगों पर अपना प्रभुत्व मजबूत करने के लिए उन पुराने रिवाजों और तरीक़ों से पूरा फ़ायदा उठाती है। इधर लोगों को अब जागीर-तंत्रता और एकतन्त्रता ही नहीं, बल्कि एक मज़बूत कार्यकारिणी द्वारा उनकी सख्त पाबन्दी भी बरदाश्त करनी पडती है।

मैंने नाभा में कुछ ऐसा ही हाल देखा। रियासत का इन्तज़ाम एक अंग्रेज़ एडमिनिस्ट्रेटर के हाथ में था, जो इंडियन सिविल सर्विस का मेम्बर था, और उसे एकतन्त्री शासक के पूरे अख़्यारात थे। वह सिर्फ़ भारत-सरकार के मातहत था, और फिर भी हर मर्तबा हमें, अपने अत्यन्त सामान्य हक़ों के छीनने की पुष्टि में, नाभा के क़ायदे-क़ानूनों का हवाला दिया जाता था। हमें जागीरतंत्र और आधुनिक नौकरशाही-तंत्र के मिश्रण का मुक़ाबला करना पड़ा, जिसमें बुराइयाँ दोनों की शामिल थीं, लेकिन अच्छाइयाँ एक की भी न थीं।

इस तरह हमारा मुक़दमा ख़त्म हुआ और हमें सज़ा हो गई। फ़ैसलों में क्या लिखा था यह हमें मालूम नहीं, मगर इस सारभूत बात से कि हम लंबी सजा मिली है हमारी झल्लाहट कुछ कम हुई। हमने फ़ैसलों की नक़लें माँगी, मगर हमें जवाब मिला कि इसके लिए बाक़ायदा अर्ज़ी दो।

उसी शाम को जेल में सुपरिण्टेण्डेण्ट ने हमें बुलाया, और उसने हमें ज़ाब्ता-फ़ौजदारी की रू से एडमिनिस्ट्रेटर का एक आर्डर दिखाया जिसमें हमारी सजायें मुल्तवी कर दी गई थीं। उसमें कोई शर्त नहीं रक्खी गई थी, और इसका क़ानूनी नतीजा यह था कि जहाँतक हमारा ताल्लुक़ था हमारी सज़ायें खत्म हो गईं। फिर सुपरिण्टेण्डेण्ट ने एक दूसरा हुक्म, जिसका नाम एक्ज़ीक्यूटिव आर्डर था, दिखाया। यह भी एडमिनिस्ट्रेटर का जारी किया हुआ था। उसमें यह हिदायत थी कि हम नाभा छोड़कर चले जायँ, और खास इजाज़त लिये बिना रियासत में न लौटें। मैंने

दोनों हुक्मों की नकलें माँगी, मगर वे हमें नहीं दी गई। तब हमें रेलवे-स्टेशन भेज दिया गया, और हम वहाँ छोड़ दिये गये। नाभा में हम किसीको भी नहीं जानते थे, और रात को शहर के दरवाज़े भी बन्द हो गये थे। हमें पता लगा कि अभी अम्बाला को एक गाड़ी जानेवाली है और हम उसीमें बैठ गये। अम्बाला से मैं दिल्ली और वहाँ से इलाहाबाद चला गया।

इलाहाबाद से मैंने एडमिनिस्ट्रेटर को पत्र लिखा कि मुझे दोनों हुक्मों की नकलें भेज दीजिए, जिससे मुझे मालूम हो सके कि सचमुच वह किस तरह के हुक्म हैं, और साथ ही दोनों फ़ैसलों की नक़लें भी। उसने किसी चीज़ की भी नक़ल देने से इन्कार कर दिया। मैंने बताया कि शायद मुझे अपील करनी पड़े, मगर वह इन्कार ही करता रहा। कई बार कोशिश करने पर भी मुझे इन फ़ैसलों को, जिनके द्वारा मुझे और मेरे दो साथियों को दो या ढाई साल की सज़ा मिली, पढ़ने का मौक़ा नहीं मिला। क्योंकि मुझे जानना चाहिए कि ये सज़ायें अब भी मेरे नाम पर लिखी हुई होंगी, और जब कभी नाभा के अधिकारी या ब्रिटिश सरकार चाहें उसी वक्त मुझपर लागू की जा सकेंगी।

हम तीन तो इस तरह 'मौकूफ़ी' की हालत मे छोड़ दिये गये, मगर मै इस बात का पता नही लगा सका कि षड्यंत्र के चौथे आदमी, उस सिख का क्या हुआ, जो दूसरे मुक़दमे के लिए हमारे साथ जोड़ दिया गया था। बहुत मुमकिन है कि वह छोड़ा न गया हो। उनकी मदद में किसी ज़ोरदार दोस्त या पब्लिक की आवाज़ न थी, और कई दूसरे आदमियों की तरह रियासती जेल में जाकर वह अन्धकार में पड़ गया होगा। मगर हम उसे नही भूले। हमसे जो कुछ बना वह हम करते रहे, किन्तु उससे कुछ हुआ नहीं। मेरा ख़याल है कि गुरुद्वारा-कमिटी ने भी इस मामले में दिलचस्पी ली थी। हमें पता लगा कि वह पुराने 'कोमागाटा मारू' दल का एक आदमी था, और वह लम्बे अर्से तक जेल में रहकर हाल में ही छूटकर आया था। पुलिसवाले ऐसे आदमियों को बाहर रहने देने का उसूल नही मानते, और इसलिए उन्होंने बनावटी इलज़ाम में हमारे साथ उसे भी फाँस लिया।

हम तीनों—गिडवानी, सन्तानम् और मैं—नाभा-जेल की कोठरी से एक दुःखदायी साथी संग में ले आये। वह था विषमज्वर का कीटाणु, क्योंकि हम तीनों पर ही विषमज्वर का हमला हुआ। मेरी बीमारी ज़ोर की थी और शायद ख़तरनाक भी थी, मगर उसकी मियाद दोनों से कम थी, और मैं सिर्फ़ तीन या चार हफ्ते ही बिस्तर पर रहा। मगर बाक़ी दोनों तो लम्बे अरसे तक बहुत गंभीर हालत में बीमार पड़े रहे।

इस नाभा की घटना के बाद एक और भी बात हुई। शायद छः या ज्यादा महीने बाद गिडवानी अमृतसर में सिख-गुरुद्वारा-कमिटी से सम्पर्क रखने के लिए कांग्रेस-प्रतिनिधि का काम करते थे। कमिटी ने जैतो को पाँच सौ आदमियों का एक खास जत्था भेजा, और गिडवानी ने दर्शक की तरह से नाभा की सरहद तक उसके साथ-साथ जाने का निश्चय किया। नाभा की हद में दाखिल होने का उनका कोई इरादा न था। सरहद के पास जत्थे पर पुलिस ने गोली चलाई, और मेरे खयाल से बहुत आदमी घायल हुए और मरे। गिडवानी घायलों की मदद करने गये और पुलिस ने झटपट उनको पकड़ लिया और ले गई। उनके खिलाफ़ अदालत में कोई कार्रवाई न की गई। उन्हें क़रीब-क़रीब एक साल तक जेल में यों ही पटक रक्खा, और बाद में बहुत खराब तन्दुरुस्ती की हालत मे छोड़ दिये गये।

गिडवानी की गिरफ्तारी और उनका जेल में रक्खा जाना मुझे कार्य-कारिणी सत्ता का एक भयंकर दुरुपयोग मालूम हुआ। मैंने एडमिनिस्ट्रेटर को (जोकि वही अंग्रेज आई० सी० एस० था) खत लिखा, और उससे पूछा कि डिगवानी के साथ ऐसा क्यों किया गया ? उसने जवाब में लिखा कि उन्हें इसलिए गिरफ्तार किया गया था कि उन्होंने नाभा के इलाके में बिला इजाज़त न आने के आर्डर को तोड़ा था। मैंने चुनौती दी कि क़ानून के मुताबिक भी यह ठीक न था, और साथ ही लिखा कि घायलों को मदद देते हुए आदमी गिरफ्तार करना मुनासिब न था। और, मैंने उस आर्डर की नक़ल मुझे देने या आमतौर पर शाया कर देने के लिए भी एडमिनिस्ट्रेटर को लिखा। मगर उसने ऐसा करने से इन्कार किया। मेरा इरादा हुआ कि मैं खुद भी नाभा जाऊँ और एडमिनिस्ट्रेटर को मेरे साथ भी वही बर्ताव करने दूं जैसा गिडवानी के साथ हुआ। अपने साथी के साथ वफ़ादारी का तो यही तक़ाजा था। मगर मेरे कई दोस्तों ने ऐसी राय न दी और मेरा इरादा बदलवा दिया। सच तो यह है कि मैंने अपने दोस्तों की सलाह का बहाना ले लिया, और उसमें अपनी कमजोरी को छिपा लिया। क्योंकि आखिरकार यह मेरी अपनी कमजोरी और नाभा-जेल में दुबारा जाने की अनिच्छा ही थी जिसने मुझे वहाँ जाने से रोका, और मुझे अपने साथी को इस तरह छोड़ देने की कुछ-कुछ शर्म हमेशा रहती है। इस तरह, जैसा कि हम सब अक्सर करते हैं, अक़्लमंदी को बहादुरी पर तरजीह मिली।

## १७

# कोकनाडा और मुहम्मदअली

दिसम्बर १९२३ में काँग्रेस का सालाना अधिवेशन कोकनाडा (दक्षिण) में हुआ। मौलाना मुहम्मदअली उसके सदर थे, और जैसी कि उनकी आदत थी, सभापति की हैसियत से उन्होंने अपनी लम्बी-चौड़ी स्पीच पढ़ी। लेकिन वह थी दिलचस्प। उसमें उन्होंने यह दिखाया कि मुसलमानों में किस तरह राजनैतिक व साम्प्रदायिक भावना की वृद्धि होती गई। उन्होंने बताया कि १९०८ में आगाखां के नेतृत्व में जो डेपुटेशन वाइसराय से मिला था और जिसकी कोशिशों से ही सरकार ने पहली बार अलहदा निर्वाचन के हक में घोषणा की थी वह एक कैसी ज़बर्दस्त चाल थी जिसके मूल में खास सरकार का ही हाथ था।

मुहम्मदअली ने मुझे, मेरी इच्छा के बहुत खिलाफ़, अपनी सदारत के साल में अखिल-भारतीय काँग्रेस-कमिटी का सेक्रेटरी बनने के लिए राज़ी किया। भावी नीति के सम्बन्ध में मुझे साफ़-साफ़ पता न था, ऐसी हालत में मै नही चाहता था कि कोई व्यवस्था-सम्बन्धी ज़िम्मेदारी अपने ऊपर लूँ।

लेकिन मैं मुहम्मदअली को इन्कार नहीं कर सकता था; क्योंकि हम दोनों ने महसूस किया कि कोई दूसरा सेक्रेटरी शायद नये सदर के साथ उतनी अच्छी तरह से काम न कर सके जितना कि मैं। उनकी रुचि और अरुचि दोनों तेज थीं और सौभाग्य से मै उन लोगों में से था जो उनकी 'रुचि' में आते थे। हम दोनों प्रेम और परस्पर की गुणग्राहकता के धागे से बँधे हुए थे। वह प्रबल धार्मिक—और मेरी समझ से बुद्धि-विरुद्ध धार्मिक—थे और मैं वैसा नहीं था। मगर मैं उनकी सरगर्मी, अतिशय कार्य-शक्ति और प्रखर बुद्धि से आकर्षित था। वह बड़े चपल दिल्लगीबाज़ थे। लेकिन कभी-कभी उनका भयंकर व्यंग दिल को चोट पहुँचा देता था और इससे उनके बहुतेरे दोस्त कम हो गये थे। कोई बढ़िया टिप्पणी मन में आई तो उनके लिए उसे मन में रख लेना असंभव था—फिर उसका नतीजा चाहे कुछ हो।

उनके सभापति-काल में हम दोनों की गाड़ी ठीक ठीक चली—हालाँकि कई छोटी-छोटी बातों मे हमारा मतभेद रहता था। हमारे अखिल-भारतीय काँग्रेस-कमिटी के दफ्तर में मैंने एक नया रिवाज डाला था। किसीके भी नाम के आगे-पीछे कोई प्रत्यय या पदवी वगैरा न लिखी जाय। महात्मा, मौलाना, शेख, सैयद,

मुन्शी, मौलवी और आजकल के श्रीयुत और श्री और मिस्टर तथा एस्क्वायर वगै़रा जो बहुत-से ऐसे शब्द हैं और इनका प्रयोग इतना बहुतायत से और अक्सर ग़ैरजरूरी होता है कि मैं इसकी एक अच्छी मिसाल पेश करना चाहता था। लेकिन मैं ऐसा कर नहीं पाया। मुहम्मदअली ने बहुत बिगड़कर मुझे एक तार भेजा, जिसमें सदर की हैसियत से मुझे हिदायत दी थी कि मैं पुराने तरीक़े से ही काम लूं, और ख़ास तौर पर गांधीजी को हमेशा महात्मा लिखा करूँ।

एक और विषय था जिसमें अक्सर हमारी बहस हुआ करती, और वह था ईश्वर। मुहम्मदअली एक अजीब तरीक़े से अल्लाह का ज़िक्र काँग्रेस के प्रस्तावों में भी ले आया करते थे, या तो शुक्रिया अदा करने की शक्ल में या किसी क़िस्म की दुआ की शक्ल में। मैं इसका विरोध किया करता। वह ज़ोर से बिगड़ते और कहते, तुम बड़े नास्तिक हो। मगर फिर भी आश्चर्य है कि वह थोड़ी देर बाद मुझसे कहते कि एक मज़हबी आदमी के ज़रूरी गुण तुम में हैं, हालाँकि तुम्हारा जाहिरा बर्ताव और दावा इसके ख़िलाफ़ है। और मैंने कई बार मन में सोचा है कि उनका कहना कितना सच था। शायद यह इस बात पर हसर रखता है कि कोई मज़हब या मज़हबी के क्या मानी करता है।

मैं उनके साथ हमेशा मज़हब के मामले में बहस करना टालता था। क्योंकि मैं जानता था, इसका नतीजा यही होता कि हम दोनों एक-दूसरे पर चिढ़ उठते, और मुमकिन था कि उनका जी दुःख जाता। किसी भी मत के कट्टर माननेवाले से इस क़िस्म की बहस करना हमेशा मुश्किल होता है। बहुतसे मुसलमानों के लिए तो यह शायद और भी मुश्किल हो; क्योंकि उनके यहाँ विचारों की आज़ादी मज़हबी तौर पर नहीं दी गई है। विचारों की नज़र से देखा जाय तो उनका सीधा मगर तंग रास्ता है और उसका अनुयायी ज़रा भी दाहिने-बायें नहीं जा सकता। हिन्दुओं की हालत इससे कुछ अलग है, सो भी अक्सर नहीं। व्यवहार में चाहे वे कट्टर हों, उनके यहाँ बहुत पुराने बुरे और पीछे घसीटनेवाले रस्म-रिवाज़ माने जाते हैं, फिर भी वे हमेशा धर्म के विषय में निहायत क्रान्तिकारी और मौलिक विचारों की चर्चा करने के लिए भी हमेशा तैयार रहते हैं। मेरा ख़याल है कि आधुनिक आर्यसमाजियों की दृष्टि आम तौर पर इतनी विशाल नहीं होती। मुसलमानों की तरह वे अपने सीधे और तंग रास्ते पर ही चलते हैं। विद्या-बुद्धि में चढ़े-बढ़े हिन्दुओं के यहाँ ऐसी कुछ दार्शनिक परम्परा चली आ रही है जो धार्मिक प्रश्नों में भिन्न-भिन्न विचार-दृष्टियों को स्थान देती है, हालाँकि व्यवहार पर उसका कोई असर नहीं पड़ता। मैं समझता हूँ कि इसका आंशिक कारण यह है कि हिन्दू-जाति में तरह-तरह के और अक्सर परस्पर-

विरोधी प्रमाण और रिवाज़ पाये जाते हैं। इस सम्बन्ध में यहाँतक कहा जाता है कि हिन्दू-धर्म को साधारण अर्थ में मज़हब नहीं कह सकते। और फिर भी कितने गज़ब की दृढ़ता उसमें है ! अपने-आपको ज़िन्दा रखने की कितनी ज़बरदस्त ताक़त ! भलेही कोई अपनेको नास्तिक कहता हो, जैसा कि चार्वाक था, फिर भी कोई यह नहीं कह सकता कि वह हिन्दू नहीं रहा। हिन्दू-धर्म अपने बच्चों को उनके न चाहते हुए भी पकड़ रखता है। मैं एक ब्राह्मण पैदा हुआ था और मालूम होता है कि ब्राह्मण ही रहूँगा, फिर मैं धर्म और सामाजिक रस्म-रिवाज के बारे में कुछ भी कहता और करता रहूँ। हिन्दुस्तानी दुनियां के लिए मैं पण्डित ही हूँ, चाहे मैं इस उपाधि को नापसन्द ही करूँ। मुझे याद है कि एक बार मैं एक तुर्की विद्वान से स्वीज़रलैण्ड में मिला था। उन्हें मैंने पहले से ही एक परिचय-पत्र भेज दिया था, जिसमें मेरे लिए लिखा था—'पण्डित जवाहरलाल नेहरू।' लेकिन मिलने पर वह हैरान हुए और कुछ मायूस भी। क्योंकि उन्होंने मुझसे कहा, कि 'पण्डित' शब्द से मैं समझता था कि आप कोई बड़े विद्वान् धार्मिक वयोवृद्ध पण्डित होंगे।

हाँ तो, मुहम्मदअली और म मज़हब पर बहस नही करते थे। लेकिन उनमें ख़ामोश रहने का गुण न था। और कुछ साल बाद ( मैं समझता हूँ, १९२५ में या १९२६ के शुरू में) वह अपनेको ज्यादा न रोक सके। एक रोज़ जब मैं उनके घर, दिल्ली में, उनसे मिला तो वह भभक उठे और बोले कि मैं तुमसे मज़हब पर ज़रूर बहस करना चाहता हूँ। मैंने उन्हें समझाने की कोशिश की। कहा—आपके मेरे नुक्ते-निगाह एक-दूसरे से बहुत जुदा हैं और हम एक-दूसरे पर कोई ज्यादा असर न डाल सकेंगे। लेकिन वह कब सुनते ? उन्होंने कहा—"नहीं, हम बातें करही लें। मैं समझता हूँ, तुम मुझे कठमुल्ला मानते हो। मगर मैं तुम्हें बताना चाहता हूँ कि मैं ऐसा नहीं हूँ।" उन्होंने कहा कि मैंने मज़हब पर बहुतसी किताबें पढ़ी हैं और गहराई से सोचा है। उन्होंने आल्मारियाँ बताईं, जो अलग-अलग मज़हबों पर लिखी किताबों से और ख़ासकर इस्लाम और ईसाई धर्म-सम्बन्धी किताबों से भरी हुई थीं और जिनमें कुछ आधुनिक किताबें—जैसे एच. जी. वेल्स की 'गॉड, दि इनविज़िबल किंग'—भी थीं। महायुद्ध के दिनों में जब वह लम्बे अर्से तक नज़रबन्द रहे थे, उन्होंने कुरान के कई पारायण किये और कितने ही भाष्यों को पढ़ा। उन्होने कहा कि इस सारे अध्ययन के फल-स्वरूप मैंने देखा कि कुरान में जो कुछ लिखा गया है उसका ९७ फ़ीसदी युक्ति-संगत है, और कुरान को छोड़कर भी उसकी पुष्टि की जा सकती है। ३ फ़ीसदी यों सरेदस्त तो युक्ति-संगत नहीं दिखाई देता है मगर यह ज्यादा मुमकिन है कि जो कुरान ९७ फ़ीसदी बातों पर साफ़ तौर पर सही है वह बाक़ी ३ फ़ीसदी में भी सही होगा।

बजाय इसके कि मेरी दुर्बल तर्क-शक्ति सही हो और कुरान ग़लत, वह इस नतीजे पर पहुँचे कि कुरान के सही होने का पक्ष भारी है और इसलिए उन्होंने कुरान को १०० फ़ीसदी सही मान लिया।

इस दलील का तर्क स्पष्ट न था, लेकिन मैं बहस करना नहीं चाहता था। किन्तु इसके बाद जो-कुछ हुआ उसे देखकर तो मैं दंग रह गया। मुहम्मदअली ने कहा कि कोई भी कुरान को अपने दिमाग़ का दर्वाज़ा खोलकर और एक जिज्ञासु की भावना से पढ़ेगा तो ज़रूर ही वह उसकी सच्चाई का क़ायल हो जायगा। उन्होंने यह भी कहा कि बापू ( गांधीजी ) ने उसे बड़े ग़ौर से पढ़ा है और वह ज़रूर इस्लाम की सचाई के क़ायल हो गये होंगे। लेकिन उनके दिल की मग़रूरी उन्हें इसको ज़ाहिर करने से मना करती है।

मुहम्मदअली अपने इस साल के सभापति-काल के बाद से धीरे-धीरे काँग्रेस से दूर हटने लगे। या, जैसा कि वह कहते, काँग्रेस उनसे दूर हटने लगी। मगर यह हुआ बहुत धीरे-धीरे। कई साल आगे तक यों वह कॉंग्रेस में और अ० भा० काँग्रेस कमिटी में आते रहे और उनमें ज़ोर-शोर से हिस्सा लेते रहे, लेकिन खाई चौड़ी होती ही गई और अनबन बढ़ती ही गई। शायद किसी ख़ास व्यक्ति या व्यक्तियों पर इसका दोष नहीं लगाया जा सकता। मगर देश की वास्तविक परिस्थिति जैसी बन गई थी उसमें ऐसा हुए बिना रह नहीं सकता था। लेकिन यह हुआ बहुत ही बुरा। और इससे हम बहुतों के जी को बड़ा दुःख हुआ। क्योंकि जातिगत मामले में कैसा ही इख़्तलाफ़ रहा हो, राजनैतिक मामले में हमारा-उनका कम मतभेद था। भारतीय स्वाधीनता का विचार उन्हें भी बहुत भाता था। और चूंकि उनकी-हमारी राजनैतिक दृष्टि एक थी, इसलिए हमेशा इस बात की सम्भावना रहती थी कि जातिगत या यों कहें कि साम्प्रदायिक प्रश्न पर उनके साथ कोई ऐसी तजवीज हो सकती थी जो दोनों के लिए सन्तोषजनक हो। राजनैतिक दृष्टि से उन प्रतिगामी लोगों से जो अपने को जातिगत स्वार्थों के रक्षक लगाते हैं, उनकी कोई बात मेल नहीं खाती थी।

हिन्दुस्तान के लिए यह दुर्भाग्य की बात हुई कि १९२८ की गर्मियों में वह यहाँ से योरप चले गये। उस वक़्त इस जातिगत समस्या को सुलझाने के लिए बड़े ज़ोर की कोशिश की गई थी और वह क़रीब-क़रीब क़ामयाबी की हद तक जा पहुँची थी। अगर मुहम्मदअली यहाँ होते तो क़यास होता है कि मामला और ही शक्ल अख़्त्यार करता। लेकिन जबतक वह वापस लौटे तबतक यहाँ सब टूट-टाट चुका था; और लाज़िमी तौर पर उन्होंने अपनेको हमारे दूसरी तरफ़ पाया।

दो साल बाद, १९३० में जब सत्याग्रह-आन्दोलन ज़ोर पर था और हमारे

भाई-बहन धड़ाधड़ जेल जा रहे थे, मुहम्मदअली ने कांग्रेस के निर्णय की परवा न कर गोलमेज-परिषद् में जाना पसन्द किया। उनके जाने से मेरे जी को बड़ा दुःख हुआ। मैं मानता हूँ कि वह भी अपने दिल में दुःखी ही हुए होंगें। और लन्दन में उन्होंने जो कुछ किया उससे इसका काफ़ी सबूत मिलता है। उन्होंने महसूस किया कि उनकी असली जगह हिन्दुस्तान में और लड़ाई के मैदान में है, न कि लन्दन के कान्फ्रेन्स-भवन में। और अगर वह हिन्दुस्तान वापस आये होते तो मुझे यक़ीन है कि वह सत्याग्रह में शरीक हो गये होते। उनकी सेहत बहुत ही बिगड़ गई थी और बरसों से बीमारी उनपर हावी हो रही थी। लन्दन में जाकर उन्होंने बड़ी चिन्ता के साथ कुछ-न-कुछ काम की चीज़ पाने की जो कोशिश की, और ख़ासकर ऐसे समय जबकि उन्हें आराम और इलाज की ज़रूरत थी, उससे उनके आख़िरी दिन और नज़दीक आ गये। नैनी-जेल में मुझे उनके मरने की ख़बर से बड़ा धक्का लगा।

दिसम्बर १९२९ में लाहौर-कांग्रेस के वक़्त आखिरी दफ़ा में उनसे मिला था। मेरे सभापति-पद से दिये भाषण के कुछ हिस्से से वह नाराज़ थे और उन्होंने बड़े जोर से उसकी आलोचना भी की। उन्होंने देखा कि कांग्रेस सरपट दौड़ी जा रही है और राजनैतिक दृष्टि से बहुत तेज़ होती जा रही है। वह ख़ुद भी कम तेज़ न थे, और इसलिए ख़ुद पीछे रह जाना और दूसरे का मैदान में आगे बढ़ जाना उन्हें पसन्द न था। उन्होंने मुझे गम्भीर चेतावनी दी कि "जवाहर! मैं तुम्हें चेताये देता हूँ कि तुम्हारे आज के ये संगी-साथी सब तुमको अकेला छोड़ देंगे। जब कोई मुसीबत का और आन-बान का मौक़ा आयगा उसी वक़्त ये तुम्हारा साथ छोड़ देंगे। याद रखना, ख़ुद तुम्हारे कांग्रेसी ही तुम्हें फांसी के तख्ते पर भेज देंगे।" कैसी मनहूस भविष्यवाणी थी!

कोकनाडा-कांग्रेस (१९२३) में मेरे लिए एक ख़ास दिलचस्पी की बात थी; क्योंकि वहीं हिन्दुस्तानी-सेवादल की बुनियाद रक्खी गई। स्वयंसेवक-दल इससे पहले नहीं थे सो बात नहीं। वे इन्तज़ाम भी करते थे और जेल भी जाते थे। मगर उनमें अनुशासन और आन्तरिक एकता का भाव बहुत कम था। डॉक्टर नारायण सुब्बाराव हार्डीकर को यह बात सूझी कि राष्ट्रीय कार्यों के लिए क्यों न एक अच्छा अनुशासन-बद्ध स्वयंसेवक-दल बना लिया जाय, जो कांग्रेस की आम रहनुमाई में अपना काम करे? उन्होंने इसमें सहयोग देने के लिए मुझसे आग्रह किया और मैंने बड़ी ख़ुशी से उसे मंज़ूर किया; क्योंकि यह ख़याल मुझे जँच गया था। इसकी शुरुआत कोकनाड़ा में हुई। बाद को हमें यह जानकर आश्चर्य हुआ कि बड़े-बड़े कांग्रेसियों की तरफ़ से भी सेवादल के सवाल पर कैसा विरोध-भाव प्रकट हुआ था। कुछ लोगों ने कहा कि कांग्रेस के लिए ऐसा करना ख़तरनाक होगा। यह तो कांग्रेस में फ़ौजी शक्ति को घुसेड़ देना

है। और यह फ़ौजी शक्ति मुमकिन है कि कांग्रेस की मुल्की सत्ता को ही धर दबाये! दूसरे कुछ लोगों का यह ख़याल दिखाई दिया कि स्वयंसेवकों के लिए तो सिर्फ़ इतना ही अनुशासन काफ़ी है कि वे ऊपर से मिले आदेशों का पालन करते रहें। कुछ के ख़याल में उन्हें क़दम मिलाकर चलने की भी ऐसी ज़रूरत नहीं। कुछ लोगों के दिल में भीतर-भीतर यह ख़याल था कि तालीम और कवायद-याफ्ता स्वयंसेवकों का रखना एक तरह से कांग्रेस के अहिसा-सिद्धान्तों से मेल नही खाता है। लेकिन हार्डीकर इस काम में भिड़ ही गये और बरसों की मेहनत के बाद उन्होंने प्रत्यक्ष दिखला दिया कि ये तालीम-याफ्ता स्वयंसेवक कितने ज्यादा कार्यकुशल और अहिंसात्मक भी हो सकते हैं।

कोकनाडा से लौटने के बाद ही, जनवरी १९२४ में, मुझे इलाहाबाद में एक नये ढंग का तजुर्बा हुआ। मैं अपनी याददाश्त से यह लिख रहा हूँ और मुमकिन है कि तारीखों के सम्बन्ध में कुछ भूल और गड़बड हो जाय। मै समझता हूँ, वह कुम्भ या अर्द्धकुम्भ के मेले का साल था। लाखों यात्री संगम यानी त्रिवेणी नहाने आते हैं। गंगा-घाट यों कोई एक मील चौड़ा है, मगर जाड़े में धारा सिकुड़ जाती है, और दोनों तरफ़ बालू का बड़ा मैदान छोड़ देती है जोकि यात्रियों के ठहरने के लिए बड़ा उपयोगी हो जाता है। अपने इस बहाव-क्षेत्र मे गंगा अक्सर अपना रास्ता बदलती रहती है। १९२४ में गंगा की धारा इस तरह हो गई थी कि यात्रियों के लिए नहाना अवश्य ही खतरनाक था। कुछ पाबन्दियों और अहतियात लगाकर और एक वक़्त में नहानेवालों की संख्या मुकर्रर करके यह ख़तरा कम किया जा सका था।

मुझे इस मामले में किसी क़िस्म की दिलचस्पी न थी; क्योंकि ऐसे पर्वों के अवसर पर गंगा नहाकर मैं पुण्य कमाना तो चाहता ही न था। लेकिन मैंने अखबारों में पढ़ा कि इस मामले में पं० मदनमोहन मालवीय और प्रान्तीय सरकार के बीच एक बहस छिड़ गई है, क्योंकि प्रान्तीय सरकार ने एक ऐसा फ़रमान निकाल दिया था कि कोई संगम पर न नहाने पावे। मालवीयजी ने इसपर ऐतराज़ किया; क्योंकि धार्मिक दृष्टि से तो संगम पर नहाने का ही महत्त्व था। इधर सरकार का अहतियात रखना भी ठीक ही था कि जिससे जान का ख़तरा न रहे। लेकिन हस्ब-मामूल उसने निहायत ही बेवकूफ़ी और चिढ़ा देनेवाले ढंग से इस सम्बन्ध में कार्रवाई की थी।

कुम्भ के दिन सुबह ही मै संगम पर मेला देखने गया। मेरा कोई इरादा नहाने का न था। गंगा-किनारे पहुँचने पर मैंने सुना कि मालवीयजी ने ज़िला-मजिस्ट्रेट को

एक सौजन्य-पूर्ण आखिरी चेतावनी दे दी है, जिसमें त्रिवेणी में नहाने की इजाज़त माँगी गई है। मालवीयजी गरम हो रहे थे और वातावरण में क्षोभ फैला हुआ था। ज़िला-मजिस्ट्रेट ने इजाज़त नहीं दी तब मालवीयजी ने सत्याग्रह करने का निश्चय किया, और कोई दो सौ लोगों को साथ लेकर वह संगम की तरफ़ बढ़े। इन घटनाओं से मेरी दिलचस्पी थी, और मैं उसी वक्त जोश में आकर सत्याग्रही दल में शामिल हो गया। मैदान के उसपार लकड़ियों का एक ज़बरदस्त घेरा बना दिया गया था कि लोग संगम तक पहुँचने से बचें। जब हम ऊँचे घेरे तक पहुँचे तो पुलिस ने हमें रोका और एक निसैनी, जो हम साथ लिये हुए थे, छीन ली। हम तो थे अहिंसात्मक सत्याग्रही, इसलिए उस घेरे के पास बालू में शान्ति के साथ बैठ गये। सुबहभर और दोपहर के भी कुछ घण्टे हम उसी तरह बैठे रहे। एक-एक घण्टा बीतने लगा। धूप तेज़-तेज़ होने लगी। बालू गरमाने लगी, और इधर हम सबकी भूख भी बढ़ने लगी। पैदल और घुड़सवार पुलिस हमारे दोनों तरफ़ खड़ी थी। मैं समझता हूँ कि बाका-यदा घुड़-सेना भी वहाँ मौजूद थी। हम बहुतेरों का धीरज छूटने लगा, और हमने कहा कि अब तो कुछ-न-कुछ करना ही चाहिए। मैं मानता हूँ कि अधिकारी भी उकता उठे थे। और उन्होंने क़दम आगे बढ़ाने का निश्चय किया। घुड़-सेना को कुछ आर्डर दिया। इस समय मुझे लगा (मैं नहीं कह सकता कि वह सही था) कि वे हमपर घोड़े फेंकेंगे, और यों हमको बुरी तरह खदेड़ेंगे। घुड़सवारों से इस तरह पीटे जाने का खयाल मुझे अच्छा न लगा और वहाँ बैठे-बैठे मेरा जी भी उकता उठा था। मैंने झट से अपने नज़दीकवाले को सुझाया कि हम इस घेरे को ही क्यों न फांद जायँ! और मैं उसपर चढ़ गया। तुरन्त ही बीसों आदमी उसपर चढ़ गये और कुछ लोगों ने तो उसकी बल्लियाँ भी निकाल डालीं, जिससे एक खासा रास्ता बन गया। किसीने मुझे एक राष्ट्रीय झण्डा दे दिया। जिसे मैंने उस घेरे के सिरे पर खोंस दिया जहाँ कि मैं बैठा हुआ था। मैं अपने पूरे रंग में था और खूब मगन हो रहा था और लोगों को उसपर चढ़ते और उसके बीच में घुसते हुए और घुड़सवारों को उन्हें हटाने की कोशिश करते देख रहा था। यहाँ मुझे यह ज़रूर कहना चाहिए कि घुड़सवारों ने जितना हो सका इस तरह अपना काम किया कि किसीको चोट नहीं पहुँची। वे अपने लकड़ी के डण्डों को हिलाते थे और लोगों को उनसे धक्का देते थे। मगर किसीको चोट नहीं पहुँचाई। उस समय मुझे क्रान्तिकारियों के घेरे जाने के दृश्य का कुछ-कुछ स्मरण हो आया।

आखिर को मैं दूसरी तरफ़ उतर पड़ा। इतनी मेहनत के कारण गर्मी बढ़ गई थी, सो मैंने गंगा में गोता लगा लिया। जब वापस आया तो मुझे यह देखकर अचरज

हुआ कि मालवीयजी और दूसरे अब तक जहाँ-के-तहीं बैठे हुए हैं और घुड़सवार और पैदल पुलिस सत्याग्रहियों और घेरे के बीच कंधे-से-कंधा भिड़ाकर खड़ी हुई थी। सो मैं (जरा टेढ़े-मेढ़े रास्ते से निकलकर) फिर मालवीयजी के पास जा बैठा। हम कुछ देर तक बैठे रहे। मैंने देखा कि मालवीयजी मन-ही-मन बहुत भिन्नाये हुए थे और ऐसा मालूम होता था कि वह अपने मन को मसोस रहे थे। एकाएक बिना किसीको कुछ पता दिये उन पुलिसवालों और घोड़ों के बीच अद्भुत रीति से निकल कर उन्होंने गोता लगा लिया। यों तो किसी भी शख़्स के लिए इस तरह गोता लगाना आश्चर्य की बात होती, लेकिन मालवीयजी जैसे बूढ़े और दुर्बल-शरीर व्यक्ति के लिए तो ऐसा करना बहुत ही स्तम्भित कर देनेवाला था। ख़ैर, हम सबने उनका अनुकरण किया। हम सब पानी में कूद पड़े। पुलिस और घुड़सेना ने हमें पीछे हटाने की थोड़ी-बहुत कोशिश की, मगर बाद को ठहर गई और थोड़ी देर बाद वह वहाँ से हटा ली गई।

हमने सोचा कि शायद सरकार हमारे ख़िलाफ कोई कार्रवाई करेगी। मगर ऐसा कुछ नहीं हुआ। शायद सरकार मालवीयजी के ख़िलाफ कुछ करना नहीं चाहती थी, और इसलिए बड़े के पीछे हम छुटभैया भी अपने-आप बच गये।

# १८

# पिताजी और गांधीजी

१९२४ के शुरू में यकायक खबर आई कि गांधीजी जेल में बहुत ज्यादा बीमार हो गये हैं जिसकी वजह से वह अस्पताल पहुँचा दिये गये हैं और वहाँ उनका ऑपरेशन हुआ है। इस खबर को सुनकर चिन्ता के मारे हिन्दुस्तान सन्न हो गया। हम लोग डर से परेशान थे और दम-सा साधे खबरों का इन्तज़ार करते थे। अखीर में संकट गुजर गया और देश के तमाम हिस्सों से लोगों की टोलियाँ उन्हें देखने के लिए पूना पहुँचने लगीं। इस वक्त तक वह अस्पताल में ही थे। क़ैदी होने की वजह से उनके ऊपर गारद रहती थी, लेकिन दोस्तों को महदूद तादाद में उनसे मिलने की इजाज़त थी। मैं और पिताजी उनसे अस्पताल में ही मिले।

अस्पताल से वह वापस जेल नहीं ले जाये गये। जब उनकी कमजोरी दूर हो रही थी तभी सरकार ने उनकी बाक़ी सजा रद करके उन्हें छोड़ दिया। उस वक्त वह जो छः साल की सज़ा उन्हें मिली थी उसमें से क़रीब-क़रीब दो साल की काट चुके थे। अपनी तन्दुरुस्ती ठीक करने के लिए वह बम्बई के नजदीक समुद्र के किनारे जुहू चले गये।

हमारा परिवार भी जुहू जा पहुँचा और वहीं समुद्र के किनारे एक छोटे-से बंगले में रहने लगा। हम लोगों ने कुछ हफ्ते वहीं गुज़ारे और मुझे बहुत अर्से के बाद अपने मन के मुताबिक छुट्टी मिल गई, क्योंकि मैं वहाँ मज़े से तैर सकता था, और दौड़ सकता था और समुद्र-तट की बालू पर घुड़दौड़ कर सकता था। लेकिन हमारे वहाँ रहने का असली मतलब छुट्टियाँ मनाना नहीं था, बल्कि गांधीजी के साथ देश की समस्याओं पर चर्चा करना था। पिताजी चाहते थे कि गाँधीजी को यह बता दें कि स्वराजी क्या चाहते हैं और इस तरह वह गांधीजी की सक्रिय हमदर्दी नहीं तो कम-से-कम उनका निष्क्रिय सहयोग ज़रूर हासिल कर लें। मैं भी इस बात से चिन्तित था कि जो मामले मुझे परेशान कर रहे हैं उन पर कुछ रोशनी पड़ जाय। मैं यह जानना चाहता था कि उनका आगे का कार्यक्रम क्या होगा।

जहाँतक स्वराजियों से ताल्लुक़ है वहाँतक उनको जुहू की बात-चीत से गांधीजी को अपनी तरफ कर लेने में या किसी हद तक भी उनपर असर डालने में कोई कामयाबी नहीं मिली। यद्यपि बात-चीत बड़े दोस्ताना ढंग से और बहुत ही शराफ़त के साथ होती थी, लेकिन यह बात तो रही ही कि आपस में कोई समझौता नहीं हो

सका। यह तय रहा कि उनकी राय एक-दूसरे से नही मिलती और इसी मतलब के बयान अखबारों में छपा दिये गये।

मैं भी जुहू से कुछ हद तक मायूस होकर लौटा; क्योंकि गाँधीजी ने मेरे एक भी शक को दूर नहीं किया। अपने मामूली तरीक़े के मुताबिक उन्होंने भविष्य की बात सोचने या बहुत लम्बे अर्से के लिए कोई कार्यक्रम बनाने से साफ़ इनकार कर दिया। उनका कहना था कि हमें धीरज के साथ लोगों की सेवा का काम करते रहना चाहिए, काँग्रेस के रचनात्मक और समाज-सुधार करनेवाले कार्यक्रम को पूरा करना चाहिए और लड़ाकू काम के वक्त का रास्ता देखना चाहिए। लेकिन हमारी असली मुश्किल तो यह थी कि ऐसा वक्त आने पर कहीं चौरीचौरा जैसा काण्ड तो नहीं हो जायगा, जो सारा तख़्ता ही उलट दे और हमारी लड़ाई को रोक दे! इस वक्त गाँधीजी ने हमारे इस शक का कोई जवाब नही दिया। न वह हमारे मक़सद—ध्येय—के बारे में ही पूरी तरह निश्चित थे। हममें से बहुत से अपने मन में यह बात साथ-साथ जान लेना चाहते थे कि आखिर हम जा कहाँ रहे है! फिर चाहे काँग्रेस इस मामले पर कोई बाज़ाब्ता ऐलान करे या न करे। हम जानना चाहते थे कि क्या हम लोग आज़ादी के लिए, और कुछ हद तक समाज-रचना में हेर-फेर के लिए अड़ेंगे या हमारे नेता इससे बहुत कम किसी बात पर राज़ीनामा कर लेंगे! कुछ ही महीने पहले संयुक्त-प्रान्त की सूबा कान्फ्रेन्स में अपने उस भाषण में, जो मैंने सदर की हैसियत से दिया था, मैंने आज़ादी पर जोर दिया था। यह कान्फ्रेन्स १९२३ के वसन्त में मेरे नाभा से लौटने के कुछ दिन बाद हुई थी। उन दिनों मैं उस बीमारी से ठीक हो ही रहा था जो नाभा ने मेरी भेंट की थी, इस लिए मैं कान्फ्रेन्स में शामिल नहीं हो सका, लेकिन मेरा वह भाषण जो मैंने चारपाई पर बुख़ार में पड़े हुए लिखा था वहीं भेज दिया था।

जबकि हम कुछ लोग काँग्रेस में आज़ादी के मसले को साफ़ करा लेना चाहते थे तब हमारे लिबरल दोस्त हम लोगों से इतनी दूर बह गये थे—या शायद हमी लोगों ने उन्हें दूर बहा दिया था—कि वे सरेआम साम्राज्य की ताक़त और उसकी शानोशौक़त पर नाज़ करते थे; फिर चाहे वह साम्राज्य हमारे देशभाइयों के साथ पापोश का-सा बर्ताव करे और उसके उपनिवेश या तो हमारे भाइयों को अपना गुलाम बनाकर रक्खे या उनको अपने मुल्क में घुसने ही न दें। श्री शास्त्री शाही राजदूत बन गये थे और सर तेजबहादुर सप्रू ने १९२३ में लंदन में होनेवाली इम्पीरियल कान्फ़्रेन्स में बड़े फख्र के साथ कहा था, कि "मैं अभिमान के साथ कह सकता हूँ कि वह मेरा ही मुल्क है जो साम्राज्य को साम्राज्य बनाये हुए है।"

एक बहुत बड़ा समुद्र हमें इन लिबरल लीडरों से अलग किये हुए था। हम लोग अलग-अलग दुनिया में रहते थे, अलग-अलग भाषाओं में बात करते थे और हमारे ख़्वाबों में, अगर लिबरल कभी ख़्वाब देखते हों तो, कोई चीज़ ऐसी न थी जो एक-सी हो। तब क्या यह ज़रूरी न था कि हम अपने मक़सद की बाबत साफ़ और सही फ़ैसला करलें?

लेकिन उस वक़्त ऐसे ख़यालात थोड़े ही लोगों तक महदूद थे। ज्यादातर आदमी बहुत साफ़ और ठीक-ठीक सोचना पसन्द नहीं करते थे—ख़ास तौर पर किसी राष्ट्रीय हलचल में, जोकि अपनी प्रकृति से ही कुछ हदतक अस्पष्ट और रहस्यमय होती है। १९२४ के शुरू के महीनों में जनता का ख़याल ज्यादातर उन स्वराजियों की तरफ़ था जो सूबे की कौंसिलों और असेम्बली में गये थे। भीतर से विरोध करने और कौंसिलों को तोड़ने की लम्बी-चौड़ी बातें मारने के बाद यह दल क्या करेगा? हाँ, कुछ मज़ेदार बातें तो हुईं। असेम्बली ने उस साल का बजट ठुकरा दिया, हिन्दुस्तान की आज़ादी की शर्तें तय करने के लिए गोलमेज़ में बहस करने की माँग करनेवाला प्रस्ताव पास हो गया। देशबन्धु के नेतृत्व में बंगाल-कौंसिल ने भी बहादुरी के साथ सरकारी खर्चों की मांगों को ठुकरा दिया। लेकिन असेम्बली और सूबे की कौंसिलों में, दोनों में ही, वाइसराय और गवर्नर ने बजट पर सही करदी, जिससे वे कानून बन गये। कुछ व्याख्यान हुए, कौंसिलों में कुछ उत्तेजना पैदा हुई, स्वराजियों में थोड़ी देर के लिए अपनी फ़तह पर ख़ुशी छा गई, अख़बारों में अच्छे-अच्छे हेडिंग आये, लेकिन इनके अलावा और कुछ नहीं हुआ। इससे ज्यादा वे कर ही क्या सकते थे? ज्यादा-से-ज्यादा वे फिर यही काम करते, लेकिन उनका नयापन चला गया था। जोश ख़त्म हो गया था और लोग बजटों और कानूनों को वाइसराय या गवर्नरों द्वारा सही होते देखने के आदि हो गये थे। इसके बाद का क़दम अवश्य ही कौंसिलों में जो स्वराजी मेम्बर थे उनकी पहुँच के बाहर था। वह तो कौंसिल-भवन से बाहर का था।

इस साल १९२४ के बीच में किसी महीने में अहमदाबाद में अखिल-भारतीय कांग्रेस कमिटी की बैठक हुई। इस बैठक में, आशा से बाहर, स्वराजियों में और गांधीजी में बहुत गहरी खटपट हो गई और कुछ अचानक विलक्षण हालात पैदा हो गये। शुरुआत गांधीजी की तरफ़ से हुई। उन्होंने कांग्रेस के विधान में एक ख़ास परिवर्त्तन करना चाहा। वह वोट देने के हक़ को और मेम्बरी से ताल्लुक रखने वाले नियम को बदल देना चाहते थे। इस वक़्त तक जो कोई कांग्रेस-विधान की पहली धारा को, जिसमें यह लिखा हुआ था कि कांग्रेस का उद्देश शान्तिमय उपायों से स्वराज लेना है, मंजूर करता और चार आने देता वही मेम्बर हो जाता था। अब गांधीजी

चाहते थे कि सिर्फ वही लोग मेम्बर हो सकें जो चार आने के बजाय निश्चित मिकदार में अपने हाथ का कता हुआ सूत दें। इससे वोट देने का हक़ बहुत कम हो जाता था और इसमें कोई शक नहीं कि अ० भा० कांग्रेस कमिटी को कोई हक न था कि वह इस हक़ को इस हद तक कम करती। लेकिन जब विधान के अक्षर गांधीजी की मर्ज़ी के खिलाफ़ पड़ते हैं तब वह उन हरफों की शायद ही कभी परवा करते हों। मैं इसे विधान के साथ इतनी ज़बरदस्त ज्यादती समझता था कि उसे देखकर मुझे बड़ा धक्का लगा और मैंने कार्य-समिति से कहा कि मँत्री-पद से मेरा इस्तीफा ले लीजिए। लेकिन इसी बीच में कुछ नई बातें और हो गईं जिनकी वजह से मैंने इसपर ज़ोर नहीं दिया। अ० भा० काँग्रेस कमिटी की बैठक में देशबन्धु दास और पिताजी ने ज़ोर-शोर से इस प्रस्ताव का विरोध किया और अखीर में वे उसके ख़िलाफ अपनी पूरी नाराज़गी ज़ाहिर करने की गरज से वोट होने से कुछ पहले अपने अनुयायियों की काफी तादाद के साथ उठकर चले गये। उसके बाद भी कमिटी में कुछ लोग ऐसे रह गये जो उस तजवीज के खिलाफ़ थे। प्रस्ताव कमरत राय से पास हो गया, लेकिन बाद में वह वापस ले लिया गया, क्योंकि पिताजी और देशबन्धु के अटल विरोध से और स्वराजियों के उठकर चले जाने से गांधीजी पर बड़ा भारी असर पड़ा, उनकी भावुकता जग गई और एक मेम्बर की किसी बात से वह इतने विचलित हो गये कि अपनेको सम्हाल न सके। यह ज़ाहिर था कि उनको बहुत गहरी तकलीफ़ हुई थी। उन्होंने बड़ी भावुकता के साथ कमिटी के सामने अपने ख़यालात ज़ाहिर किये, जिन्हें सुनकर बहुत-से मेम्बर रोने लगे। यह एक असाधारण और दिल हिला देने वाला दृश्य था। [१]

१. यह सब हाल जेल में याददाश्त के भरोसे लिखना पड़ा था। अब मुझे मालूम हुआ है कि मेरी याददाश्त ग़लत निकली और अ० भा० कांग्रेस कमिटी में जिन बातों पर बहस हुई उनमें से एक ख़ास बात को मैं भूल गया और इस तरह वहाँ जो कुछ हुआ उसकी बाबत मैंने ग़लत धारणा पैदा कर दी। जिस बात से गांधीजी विचलित हुए थे वह तो एक नौजवान बंगाली (आतंकवादी) गोपीनाथ साहा से ताल्लुक रखनेवाला वह प्रस्ताव था जो मीटिंग में पेश हुआ और आखिर में गिर गया। जहाँ तक मुझे याद है, उस तजवीज में उसके हिंसात्मक काम की तो निन्दा की गई थी लेकिन उसके उद्देश के साथ हमदर्दी ज़ाहिर की गई थी। तजवीज से भी ज्यादा रंज गांधीजी को उन तक़रीरों से हुआ जो उस तजवीज़ के सिलसिले में दी गई। उनसे गांधीजी को यह ख़याल हो गया कि कांग्रेस में भी बहुत-से लोग अहिंसा के मामले में संजीदा नहीं हैं और इसी ख़याल से वह दुःखी हुए। इसके बाद फौरन ही 'यंग इण्डिया' में इस मीटिंग

मैं यह कभी नहीं समझ सका कि गांधीजी हाथ-कते सूत पर ही वोट का हक़ देनेवाली उस अनोखी बात के बारे में इतनी हठ क्यों करते थे ? क्योंकि वह यह तो ज़रूर ही जानते होंगे कि उसकी बुरी तरह मुखालिफत की जावेगी। शायद वह यह चाहते थे कि कांग्रेस में सिर्फ़ ऐसे शख्स रहें जो उनके खादी वगैरा के रचनात्मक कार्यक्रम में ऐतबार रखते हों और दूसरों के लिए वह या तो यह चाहते थे कि वे लोग भी उस कार्यक्रम को मान लें नहीं तो कांग्रेस से निकाल दिये जायँ। लेकिन अगर्चे कसरत राय उनके साथ थी फिर भी उन्होंने अपना संकल्प ढीला कर दिया और दूसरे दल से समझौता करने लगे। मुझे यह देखकर हैरत हुई कि अगले तीन-चार महीनों में इस मामले में उन्होंने कई बार अपनी राय बदली। ऐसा मालूम पड़ता था कि खुद उनकी समझ में कुछ नहीं आता था कि वह कहाँ हैं और किधर जाना चाहते हैं ? उनके बारे में मैं ऐसा खयाल कभी नहीं करता था कि उनकी भी कभी ऐसी हालत हो सकती है। इसीलिए मुझे अचम्भा हुआ। मेरी राय में वह मामला खुद

---

की बाबत लिखते हुए उन्होंने कहा—"चारों प्रस्तावों पर मेरे साथ बहुमत ज़रूर था, लेकिन वह इतना कम था कि मुझे तो उस कसरत राय को भी कम राय मानना चाहिए। असल में दोनों दल क़रीब-क़रीब बराबर थे। गोपीनाथ साहा वाले प्रस्ताव से मामला संजीदा हो गया। उसपर जो तक़रीरें हुईं, उसका जो नतीजा हुआ और उसके बाद मैंने जो बातें देखीं उन सबसे मेरी आँखें खुल गईं।······गोपीनाथ साहा वाली तजवीज के बाद शराफत बिदा हो गई। ऐसे मौके पर मुझे अपना अखिरी प्रस्ताव पेश करना पड़ा। ज्यों-ज्यों कार्रवाई होती गई त्यों-त्यों मैं और भी संजीदा होता गया। मेरे जी में ऐसी आई कि इस दुःखमय दृश्य से मैं भाग जाऊँ। मुझे जो प्रस्ताव मेरे सुपुर्द था उसे पेश करते हुए डर लगता था······मैं नहीं जानता कि मैंने यह बात साफ़ करदी थी या नहीं कि किसी वक्ता के प्रति मेरे दिल में मैल या दुश्मनी नहीं थी। लेकिन मेरे दिल में जिस बात का रंज था वह कांग्रेस के ध्येय या अहिंसा की नीति के प्रति लोगों की उपेक्षा और उनकी वह अनजाने गैर-जिम्मेदारी थी········ऐसे प्रस्ताव का समर्थन करने को कांग्रेस में सत्तर मेम्बर तैयार थे, यह एक ऐसी बात थी कि जिसे देखकर मैं दंग रह गया।" गांधीजी के भाष्य के साथ यह वाक़या बहुत ही पुरमाने है। उससे उस अत्यन्त महत्व का पता चलता है जो गांधीजी अहिंसा को देते हैं और इस बात का भी पता चलता है कि उसमें गड़बड़ करने की, अनजान में, अप्रत्यक्ष रूप से की गई कोशिश का भी उनपर कैसा बुरा असर होता है। इसके बाद उन्होंने जो बहुत-सी बातें कीं वे भी गालिबन तह में इसी तरह के ख़यालों की वजह से कीं। उनके तमाम कामों और उनकी तमाम कार्य-नीति की जड़ असल में अहिंसा ही थी और अहिंसा ही है।

कोई ऐसा बहुत ज़रूरी नहीं था। वोट देने का अख़्तियार हासिल करने के लिए कुछ मशक्कत कराने का ख़याल बहुत अच्छा था, लेकिन वह जिस संकुचित रूप में लोगों के सामने आया उससे उसका कुछ मतलब ख़ब्त हो गया।

मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि गांधीजी को इन मुश्किलों का सामना इसलिए करना पड़ा कि वह अजनबी हालत में गुज़र रहे थे। सत्याग्रह की सीधी लड़ाई के खास मैदान मे उनका मुक़ाबिला कोई नहीं कर सकता था। उस मैदान में उनकी अचूक सहज-बुद्धि उन्हें सही क़दम रखने के लिए प्रेरित किया करती थी। जनता में सामाजिक सुधार कराने के लिए चुपचाप ख़ुद काम करने और दूसरों से काम कराने में भी वह बहुत होशियार थे। वह दिल खोल लड़ाई या सच्ची शान्ति को समझ सकते थे। इन दोनों के बीच की हालत को वह नहीं समझ सकते थे।

कौंसिलों के भीतर विरोध करने और लड़ाई लड़ने के स्वराजी प्रोग्राम से वह बिलकुल उदासीन थे। उनकी राय थी कि अगर कोई कौंसिलों में जाना चाहते हैं तो वे वहाँ सरकार की मुखालिफत करने न जायें, बल्कि बेहतर कानून बनवाने वग़ैरा के लिए सरकार से सहयोग करने के लिए जायँ। अगर वे ऐसा नहीं करना चाहते तो बाहर ही रहें। स्वराजियों ने इनमें से एक भी सूरत अख़्तियार नहीं की। और इसीलिए उनके साथ व्यवहार करने में मुश्किल पड़ती थी।

लेकिन आखिर में गांधीजी ने स्वराजियों से अपना ठीक-ठाक कर लिया। कता हुआ सूत भी, चार आने के साथ-साथ, वोट का हक़ हासिल करने का एक साधन मान लिया गया। उन्होंने कौंसिलों में स्वराजियों के काम को लगभग अपना आशीर्वाद दे दिया। लेकिन वह ख़ुद उससे बिलकुल अलग रहे। यह कहा जाता था कि वह तो राजनीति से अलहदा हो गये हैं और ब्रिटिश सरकार और उसके अफ़सर यह समझते थे कि उनकी लोकप्रियता कम हो रही है और उनकी ताक़त खत्म हो चुकी है। यह कहा जाता था कि दास और नेहरू ने गांधीजी को पीछे भगा दिया है; वे ही राजनैतिक मैदान पर काबू किये हुए मालूम होते थे। पिछले पंद्रह बरसों में, इस तरह की बातें समय के अनुसार मौज़ूं हेर-फेर के साथ बार-बार दुहराई गई हैं और उन्होंने हर मर्त्तबा यह दिखा दिया है कि हमारे शासक हिन्दुस्तानी लोगों के खयालों के बारे में कितनी कम जानकारी रखते हैं। जबसे गांधीजी हिन्दुस्तान के राजनैतिक मैदान में आये तबसे उनकी लोकप्रियता में कभी कमी नहीं आई, कम-से-कम जहाँ-तक आम लोगों का ताल्लुक है उनकी लोकप्रियता बराबर बढ़ती चली गई है। और यह सिलसिला अभीतक ज्यों का त्यों जारी है। लोग गांधीजी की इच्छाओं को पूरा भले ही न कर सकें, क्योंकि आदमी की तबीयत अक्सर कमज़ोर होती है, लेकिन उनके

दिलों में गांधीजी के लिए मुहब्बत भरी ही हुई है। जब मुल्क के हालात मुआफिक होते हैं तब लोग विशाल जन-साधारण के आन्दोलनों के रूप में उठ खड़े होते हैं, नहीं तो चुपचाप मुँह छिपाये पड़े रहते हैं। नेता का काम यह नही है कि वह न-कुछ में जादू की-सी लकड़ी फेरकर जनता की हलचलें पैदा करदे। हाँ, जब हालत ऐसी पैदा हो जाय तो वह उनका फायदा उठा सकता है, उन हालातों से फायदा उठाने के लिए तैयारी कर सकता है लेकिन वह उन हालातों को पैदा नहीं कर सकता।

लेकिन यह बात सच है कि पढ़े-लिखे लोगों में गाँधीजी की लोकप्रियता घटती-बढती रहती है। जब आगे बढने का जोश आता है तब वे उनके पीछे-पीछे चलते हैं। और जब उसकी लाजिमी प्रतिक्रिया होती है तब वे गांधीजी की नुक्ताचीनी करने लगते हैं। लेकिन इस हालत में भी उनकी बहुत ज्यादा तादाद गांधीजी के सामने सिर झुकाती है। कुछ हद तक तो यह बात इसलिए है कि कोई दूसरा कारगर प्रोग्राम ही नही है। लिबरलों या उन्हींसे मिलते-जुलते दूसरे उन जैसे प्रतिसहयोगी वग़ैरा को कोई पूछता नहीं, और जो लोग आतंक-कारी हिंसा में विश्वास रखते हैं उनका आजकल की दुनिया में कोई स्थान न रहा। उन्हें लोग बेकार तथा पुराने और पिछड़े हुए समझते है। इधर समाजवादी कार्यक्रम को लोग अभी बहुत कम जानते हैं और इससे कांग्रेस मे ऊँची श्रेणियों के जो लोग हैं उनको डर मालूम होता है।

१९२४ के बीच में थोडे वक्त के लिए जो राजनैतिक अनबन हो गई थी उसके बाद मेरे पिताजी और गाँधीजी में पुरानी दोस्ती फिर क़ायम हो गई और वह और भी ज्यादा बढ़ गई। एक-दूसरे से उनकी राय चाहे कितनी ही खिलाफ़ होती लेकिन दोनों के दिल में एक दूसरे के लिए ज्यादा खयाल और इज्ज़त थी। दोनों में आखिर ऐसी क्या बात है, जिसकी दोनों इज्जत करते थे ? 'विचार-प्रवाह' (Teought-Currents) नाम की एक पुस्तिका में गांधीजी के लेखों का संग्रह छापा गया था। इस पुस्तिका की भूमिका पिताजी ने लिखी थी। उस भूमिका में हमें उनके मन की झलक मिल जाती है। उन्होंने लिखा है कि:—

"मैंने महात्माओं और महान् पुरुषों की बाबत बहुत सुना है, लेकिन उनसे मिलने का आनन्द मुझे कभी नहीं मिला। और मैं यह मंजूर करता हूँ कि मुझे उनकी असली हस्ती के बारे में भी कुछ शक है। मैं तो मनुष्यों में और मनुष्योचित गुणों तथा कार्यों में विश्वास करता हूँ। इस पुस्तिका में जो विचार-प्रवाह सकलित किये गये हैं वे एक ऐसे ही मनुष्य के दिमाग से निकले हैं और मनुष्योचित है। वे मानव-प्रकृति के दो बड़े गुणों के नमूने हैं—यानी श्रद्धा और बल के·········

"जिस आदमी में न श्रद्धा है न बल, वह पूछता है, इस सबका नतीजा क्या

होगा ? यह जवाब कि मौत होगी या जीत, उसे अपील नहीं करता·········इस बीच में वह विनीत और छोटा-सा व्यक्ति, अजेय शक्ति और अचल श्रद्धा के मज़बूत पैतानों पर सीधा खड़ा हुआ, अपने देश के लोगों को मातृभूमि के लिए अपनी कुर्बानी करने और तकलीफ सहने का अपना संदेश देता चला जा रहा है। लाखों लोगों के हृदयों में इस संदेश की प्रतिध्वनि आती है।·········"

उन्होने स्विनबर्न की नीचे लिखी पंक्तियां देकर अपनी भूमिका ख़त्म की है:—

नही हमारे पास रहे क्या मानव ऊँचे नामी—
मानव, जोकि परिस्थितियों के हों शासक औ' स्वामी ! [1]

ज़ाहिर है कि वह इस बात पर ज़ोर देना चाहते थे कि वह गांधीजी की तारीफ़ इसलिए नहीं करते कि वह कोई साधु या महात्मा हैं, बल्कि इसलिए कि वह मनुष्य हैं। वह ख़ुद मज़बूत तथा कभी न झुकनेवाले थे, इसलिए गांधीजी की आत्म-शक्ति की तारीफ़ करते थे। क्योंकि यह साफ़ मालूम होता था कि दुबले-पतले शरीरवाले एक छोटे-से आदमी में इस्पात की-सी मज़बूती भी है, कुछ चट्टान जैसी चीज़ है जो शारीरिक ताक़तों के सामने नहीं झुकती, फिर चाहे ये ताक़तें, कितनी ही बड़ी क्यों न हों, और यद्यपि उनकी शक्ल-सूरत, उनका नंगा शरीर, उनकी छोटी धोती, ऐसी न थी कि किसी पर बहुत धाक जमे, लेकिन उनमें कुछ शाहीपन और ऐसी बादशाहियत ज़रूर है जो दूसरों को ख़ुशी-ख़ुशी से उनका हुक्म बजा लाने को मजबूर कर देती है। यद्यपि वह जान-बूझकर नम्र और विनीत रहने की निश्चित कोशिश करते थे, फिर भी शक्ति व अधिकार उनमें लबालब भरे हुए थे और वह इस बात को जानते भी थे, और कभी-कभी तो वह ऐसे शाही हो जाते थे कि जो हुक्म निकालते वह पूरा ही करना पड़ता। उनकी शान्त लेकिन गहरी आँखें आदमी को जकड़ लेतीं और उसके दिल के भीतर तक की बातें खोज लेतीं। उनकी साफ-सुथरी आवाज़ मीठी गूँज के साथ दिल के अन्दर धुसकर, हमारे भावों को जगाकर अपनी तरफ़ खींच लेती। उनकी बात सुननेवाला चाहे एक शख्स हो या हजार हों, उनका चुम्बक का-सा आकर्षण उन्हें अपनी तरफ़ खीचे बिना नहीं रहता और हरेक सुननेवाला बोलनेवाले के साथ एक-सा हो जाने का अनुभव करता है। इस भाव का दिमाग़ से बहुत कम ताल्लुक़ होता था। गांधीजी दिमाग़ को अपील करने की बिलकुल उपेक्षा करते हों सो बात नहीं, फिर भी इतना निश्चित है कि दिमाग़ व

१. मूल पद्य इस प्रकार है:—

"Have we not men with us Royal,
Men the masters of things ?...."

तर्क को दूसरा नम्बर मिलता था। मन्त्र-मुग्ध करने का यह जादू न तो वाग्मिता के बल से होता था और न रेशमी मुलायम वाक्यावली के मोहक प्रभाव से। उनकी भाषा हमेशा सरल होती थी, और साथ ही विषय से ताल्लुक रखनेवाली भी। ग़ैर-ज़रूरी शब्दों का इस्तैमाल शायद ही कभी होता हो। महज उनकी सोलहों आने पूरी सच्चाई और उनका व्यक्तित्व ही दूसरों को जकड़ लेता है। उनसे मिलने पर यह ख़याल जम जाता है कि उनके भीतर प्रचण्ड शक्ति का भंडार भरा हुआ है। शायद यह भी हो कि उनके चारों तरफ़ उनकी बाबत जो धारणायें बन गई हैं वे भी उचित आबोहवा पैदा करने में मदद देती हैं। हो सकता है कि कोई अजनबी आदमी, जिसे उन धारणाओं का पता न हो और गांधीजी के आसपास की हालतों से जिसका मेल न खाता हो, वह उनके जादू के असर में न आवे या इस हद तक न आवे; लेकिन फिर भी गांधीजी के बारे में सबसे ज्यादा कमाल की बात यही थी और यही है कि वह अपने मुखालिफ़ों को या तो सोलहों आने अपनी तरफ़ कर लेते हैं या कम-से-कम उनको निःशस्त्र ज़रूर कर देते है।

यद्यपि गांधीजी प्राकृतिक सौन्दर्य की बहुत तारीफ़ करते है, लेकिन मनुष्य की बनाई चीज़ों में वह कला या खूबसूरती नही देख सकते। उनके लिए ताजमहल जबर-दस्ती ली हुई बेगार की प्रतिमूर्ति के सिवा और कुछ नहीं। उनमें सूँघने की शक्ति भी बहुत कम है। फिर भी उन्होने अपने तरीक़े से उन्हींमें जीवन-यापन की कला खोज निकाली है और अपनी ज़िन्दगी को कला-मय बना दिया है। उनका हरेक इशारा सार्थक और ख़ूबी लिये हुए होता है, और ख़ूबी यह है कि बनावट का नामो-निशान नहीं। उनमें न कहीं नुकीलापन है, न कटीलापन। उनमें उस गँवारूपन या साधारणपन का निशान तक नहीं जिसमें दुर्भाग्य से, हमारे बीच के दर्जे के लोग डूबे रहते हैं। भीतरी शान्ति हासिल करके वह दूसरों को भी शान्ति देते हैं और ज़िन्दगी के कँटीले रास्ते पर मजबूत और निडर क़दम रखते हुए चले जाते हैं।

मगर मेरे पिताजी गांधीजी से कितने भिन्न थे! लेकिन उनमें भी व्यक्तित्व का बल था और बादशाहियत की मात्रा थी। स्विनबर्न की वे पंक्तियाँ उनके लिए भी लागू होती हैं। जिस किसी समाज में वह जा बैठते उसके केन्द्र और धुरीण वही बन जाते। जैसाकि एक अंग्रेज जज ने पीछे कहा था, वह जहाँ-कहीं भी जाकर बैठते वहीं मुखिया बन जाते। वह न तो नम्र ही थे न मुलायम ही, और गांधीजी के उलटा, वह उन लोगों की ख़बर लिये बिना नहीं रहते थे जिनकी राय उनके ख़िलाफ़ होती थी। उन्हें इस बात का भान रहता था कि उनका मिज़ाज शाही है। वह अपने ख़िलाफ़ या तो पूरी भक्ति पैदा करते थे या कड़ा विरोध। उनसे

कोई शख्स उदासीन या तटस्थ नहीं रह सकता था। हरेक को उन्हें पसन्द या नापसन्द करना पड़ता। चौड़ा ललाट, चुस्त होठ और सुनिश्चित ठोड़ी। इटली के अजायबघरों में रोमन शहंशाहों की जो अर्द्ध-मूर्त्तियां हैं उनसे उनकी शक्ल बहुत काफ़ी मिलती थी। इटली में बहुत से मित्रों ने जो उनकी तस्वीर देखी तो उन्होंने भी इस मेल का ज़िक्र किया था। ख़ास तौर पर उनकी ज़िन्दगी के पिछले सालों में जबकि उनका सिर सफ़ेद बालों से भर गया था, उनमें एक खास क़िस्म की शानो-शौक़त और भव्यता आ गई थी जो इस दुनिया में आजकल बहुत ही कम दिखाई देती है। वह मेरी तरह न थे, उनके सिर के बाल अख़ीर तक बने रहे।

मैं समझता हूँ कि शायद मैं उनके साथ पक्षपात कर रहा हूँ, लेकिन इस ओछेपन और कमज़ोरी से भरी हुई दुनिया में उनकी शरीफ़ाना हस्ती की रह-रहकर याद आती है। मैं अपने चारों तरफ़ उनकी-सी अजीब ताक़त और उनकी-सी शानो-शौक़त को खोजता हूँ, लेकिन बेकार।

मुझे याद है कि १९२४ में मैंने गांधीजी को पिताजी का एक फोटो दिया था। इन दिनों गांधीजी की और स्वराजियों की रस्साकशी हो रही थी। इस फोटो में पिताजी के मूछें न थीं और उस वक्त तक गांधीजी ने उन्हें हमेशा सुन्दर मूछों-सहित देखा था। इस फोटो को देखकर गांधीजी चौंक गये और बहुत देर तक उसे देखते रहे, क्योंकि मूछें न रहने से मुँह व ठोड़ी की कठोरता और भी प्रकट हो गई थी, और कुछ सूखी-सी हंसी हंसते हुए उन्होंने कहा कि अब मैंने यह जान लिया कि मुझे किसका मुकाबिला करना है। उनकी आंखों ने और निरन्तर हँसी ने चेहरे पर जो रेखायें बना दी थीं उन्होंने चेहरे की कठोरता को कम कर दिया था फिर भी कभी-कभी आंखें चमक उठती थीं।

पिताजी असेम्बली के काम में उसी तरह तैरने लगे जैसे बतक पानी में। वह उनकी क़ानूनी और विधान-ज्ञान-सम्बन्धी तालीम के लिए मौज़ूँ था। सत्याग्रह तथा उसकी शाखाओं के खेल के नियम तो वह नहीं जानते थे, लेकिन इस खेल के नियम-उपनियमों से पूरी तरह वाक़िफ थे। उन्होंने अपनी पार्टी में कठोर अनुशासन रक्खा और दूसरे दलों और व्यक्तियों को भी इस बात के लिए राज़ी कर लिया कि वे स्वराज-पार्टी की मदद करें। लेकिन जल्दी ही उन्हें अपने ही लोगों से मुसीबत का सामना करना पड़ा। स्वराज-पार्टी को अपने शुरू के दिनों में काँग्रेस में ही अ-परिवर्तनवादियों से लड़ना पड़ा था, और इसलिए काँग्रेस के भीतर पार्टी की ताक़त बढ़ाने के लिए बहुतसे ऐसे-वैसे लोग भर्ती कर लिये गये थे। इसके बाद चुनाव हुआ, जिसके लिए रुपये की जरूरत थी। रुपये पैसेवालों से ही आ सकते थे, इसलिए इन

पैसेवालों को खुश करना पड़ता था। उनमें से कुछ को तो स्वराजी उम्मीदवार होने के लिए भी कहा गया था। एक अमेरिकन समाजवादी ने कहा है कि राजनीति वह नाज़ुक कला है जिस के ज़रिये गरीबों से वोट और अमीरों से चुनाव के लिए रुपये यह कहकर लिये जाते हैं कि हम तुम्हारी एक-दूसरे से रक्षा करेंगे!

इन सब बातों से पार्टी शुरू से ही कमजोर हो गई थी। कौंसिल और असेम्बली के काम में इस बात की रोज़ ही जरूरत पड़ती थी कि दूसरों से और ज्यादातर माडरेट दलों के साथ समझौते किये जायँ। और कोई भी उसूल या प्रचार की प्रचंड आकांक्षा इन समझौतों से सुरक्षित नहीं रह सकती थी। धीरे-धीरे पार्टी का मिज़ाज और उसका अनुशासन बिगड़ने लगा और उसके कमज़ोर तथा मौक़े से फायदा उठानेवाले मेम्बर मुश्किलें पैदा करने लगे। स्वराज-पार्टी खुल्लम-खुल्ला यह ऐलान करके कौंसिलों में गई थी कि हम "भीतर जाकर मुखालिफ़त करेंगे।" लेकिन इस खेल को तो दूसरे भी खेल सकते थे और सरकार ने स्वराजी मेम्बरों में फूट व विरोध पैदा करके इस खेल में अपना हाथ डालने की ठान ली। पार्टी के कमज़ोर भाइयों के रास्ते में तरह-तरह के तरीक़ों से खास रिआयतों और ऊँचे ओहदों के लालच दिये जाने लगे। उन्हें सिर्फ इन चीजों में से जिसे वे चाहें उसे चुन लेना था। उनकी लियाक़त, उनकी मीठी विवेकशीलता तथा उनकी राजनीति-चतुरता आदि गुणों की तारीफें होने लगीं। उनके चारों तरफ एक आनन्द-मय तथा सुखप्रद वातावरण पैदा कर दिया गया, जो खेतों व बाज़ार की धूल और शोरोगुल से बिलकुल जुदा था।

स्वराजियों का आम लहज़ा नीचे गिर गया। कोई शख्स किसी सूबे में से तो कोई असेम्बली में से विरोधी पक्ष की तरफ़ खिसकने लगे। पिताजी बहुत चिल्लाये और गरजे। उन्होंने कहा, मैं सड़े हुए अंग को काट फेंकूंगा। लेकिन जब सड़ा हुआ अंग खुद ही शरीर छोड़कर चले जाने को उत्सुक हो तब इस धमकी का कोई बड़ा असर नहीं हो सकता था। कुछ स्वराजिस्ट मिनिस्टर हो गये और कुछ बाद को सूबों में कार्यकारिणी के मेम्बर। उनमें से कुछने अपना अलग दल बना लिया और अपना नाम रक्खा प्रति-सहयोगी। इस नाम को शुरू में लोकमान्य तिलक ने बिलकुल दूसरे मानी में इस्तैमाल किया था। इन दिनों में तो इसके मानी यही थे कि मौक़ा मिलते ही जो ओहदा मिले उसे हड़प लो और उससे जितना फायदा उठा सकते हो उठाओ। इन लोगों के धोखा दे जाने पर भी स्वराज-पार्टी का काम चलता रहा। लेकिन घटना-चक्र ने जो शक्ल अख़्त्यार की उससे पिताजी व देशबंधुदास को कुछ हदतक नफ़रत हो गई। कौंसिलों और असेम्बली के अन्दर उन्हें अपना काम बेफायदा-सा मालूम होने लगा, जिसकी वजह से वे उससे ऊबने लगे। मानों उनकी

इस ऊब को बढ़ाने के लिए उत्तरी हिन्दुस्तान में हिन्दू-मुस्लिम झगड़ा बढ़ रहा था, जिसकी वजह से कभी-कभी दंगे भी हो जाते थे।

कुछ कांग्रेसी जो हमारे साथ १९२१ और २२ में जेल गये थे, अब सूबे की सरकारों में मिनिस्टर हो गये थे या दूसरे ऊँचे ओहदों पर पहुँच गये थे। १९२१ में हमें इस बात का फ़ख़ू था कि हमें एक ऐसी सरकार ने ग़ैर-क़ानूनी क़रार दिया है और वही हमें जेल भेज रही है, जिसके कुछ सदस्य लिबरल थे जो पुराने कांग्रेसी भी थे। भविष्य में हमें यह तसल्ली और होने को थी कि कम-से-कम कुछ सूबों में हमारे अपने पुराने साथी ही हमें ग़ैर-क़ानूनी क़रार देकर जेल में भेजेंगे। ये नये मिनिस्टर और कार्यकारिणी के मेम्बर इस काम के लिए लिबरलों से कहीं ज्यादा कुशल थे। वे हमें जानते थे, हमारी कमज़ोरियों को जानते थे और यह भी जानते थे कि उनसे कैसे फायदा उठाया जाय। वे हमारे तरीक़ों से भलीभांति वाक़िफ थे तथा जन-समूहों और उनके मनोभावों का भी उन्हें कुछ तजुर्बा ज़रूर था। दूसरी तरफ़ जाने से पहले उन्होंने नाज़ियों की तरह क्रान्तिकारी हलचल के साथ नाता जोड़ा था। और कांग्रेस के अपने पुराने साथियों का दमन करने में वे इन तरीक़ों से अनभिज्ञ पुराने हाकिमों या लिबरल मिनिस्टरों से कहीं ज्यादा क्षमतापूर्वक अपने इस ज्ञान का उपयोग कर सकते थे।

दिसम्बर १९२४ में कांग्रेस का जलसा बेलगांव में हुआ और गांधीजी उसके सभापति थे। उनके लिए कांग्रेस का सभापति होना तो एक भोण्डी-सी बात थी, क्योंकि वह तो बहुत अर्से से उसके स्थायी सभापति से भी बढ़कर थे। उनका सदर की हैसियत से दिया हुआ भाषण मुझे पसन्द नहीं आया। मुझे उसमें ज़रा भी स्फूर्ति नहीं मिली। जलसा ख़त्म होते ही, गांधीजी के कहने पर, मैं फिर अगले साल के लिए अ० भा० कांग्रेस कमिटी का कार्यकारी मंत्री चुन लिया गया। मेरी इच्छाओं के बावजूद धीरे-धीरे मैं कांग्रेस का अर्द्ध-स्थायी मंत्री बनता जा रहा था।

१९२५ की गर्मियों में पिताजी बीमार थे। उनका दमा बहुत ज्यादा तकलीफ़ दे रहा था। वह परिवार के साथ हिमालय में डलहौज़ी चले गये। बाद को कुछ अर्से के लिए मैं भी उन्हींके पास जा पहुँचा। हम लोगों ने हिमालय के भीतर डलहौज़ी से चम्बा तक का सफर किया। जब हम लोग चम्बा पहुँचे तब जून का कोई दिन था, और हम लोग पहाड़ी रास्तों पर सफ़र करके कुछ थक गये थे। इसी समय एक तार आया, उससे मालूम हुआ कि देशबंधु मर गये। बहुत देर तक पिताजी शोक के भार से झुककर बैठे रहे, उनके मुँह से एक शब्द तक न निकला। यह आघात उनके लिए बहुत ही निर्दयता-पूर्ण था। मैंने उन्हें इतना दुःखी होते हुए कभी नहीं देखा था। वह

एक शख्स जो उनके लिए दूसरे सब लोगों से ज्यादा घनिष्ठ और प्यारा साथी हो गया था, यकायक उन्हें छोड़कर चला गया और सारा बोझ उनके कन्धों पर छोड़ गया ! वह बोझा वैसे ही बढ़ रहा था और वह तथा देशबंधु दोनों ही उससे तथा लोगों की कमज़ोरियों से ऊब रहे थे। फ़रीदपुर-कान्फ्रेन्स में देशबंधु ने जो आख़िरी भाषण दिया वह एक थके हुए-से शख्स का भाषण था।

हम दूसरे ही दिन सुबह चम्बा से चल दिये और पहाड़ों पर चलते-चलाते डलहौज़ी पहुंचे, वहाँ से कार द्वारा रेलवे स्टेशन पर, फिर इलाहाबाद और वहाँ से कलकत्ता ।

# १९

# साम्प्रदायिकता का दौरदौरा

नाभा-जेल से लौटने पर १९२३ की वसन्त-ऋतु में मैं बीमार पड़ गया। मियादी बुख़ार से मेरी यह कुश्ती मेरे लिए एक नया तजुर्बा था। मुझे शारीरिक कमज़ोरी से या बुख़ार से चारपाई पर पड़ा रहने या बीमार पड़ने की आदत न थी। मुझे अपनी तन्दुरुस्ती पर कुछ घमण्ड था और हिन्दुस्तान में आम तौर पर जो बीमार बने रहने का रिवाज-सा पड़ा हुआ था उसके मैं ख़िलाफ़ था। अपनी जवानी और अच्छे शरीर की वजह से मैंने बीमारी पर पार पा लिया, लेकिन संकट के टल जाने पर मुझे कमज़ोरी की हालत में चारपाई पर पड़े रहना पड़ा और अपनी तन्दुरुस्ती भी धीरे-धीरे हासिल करनी पड़ी। इन दिनों मैं अपने आस-पास की चीज़ों और अपने रोज़-मर्रा के कामों से अजीब विराग-सा महसूस करता था और उन्हें काफ़ी दूरी से देखता रहता था। मुझे ऐसा मालूम पड़ता था कि जंगल में मैं पेड़ों की आड़ में से बाहर निकल आया हूँ और अब तमाम जंगल को अच्छी तरह देख सकता हूँ। मेरा दिमाग़ जितना साफ़ और ताक़तवर इन दिनों था उतना पहले कभी न था। मैं समझता हूँ कि यह तजुर्बा या इस तरह का कोई दूसरा तजुर्बा उन सब लोगों को हुआ होगा जिन्हें सख्त बीमारी में होकर गुज़रना पड़ा है। लेकिन मेरे लिए तो वह एक तरह का आध्यात्मिक अनुभव-सा हुआ। मैं आध्यात्मिक शब्द का इस्तेमाल उसके संकीर्ण धर्म के मानी में नहीं करता। इस तजुर्बे का मुझपर बहुत काफ़ी असर पड़ा। मैंने महसूस किया कि मैं अपनी राजनीति के भावुकता-मय वायुमण्डल से ऊपर उठ गया हूँ, और जिन ध्येयों तथा शक्तियों ने मुझे कार्य के लिए प्रेरित किया उन्हें ज्यादा स्पष्टता के साथ देख सकता हूँ। इस स्पष्टता के फलस्वरूप मेरे दिल में तरह-तरह के तर्क-वितर्क उठने लगे, जिनका कोई माक़ूल जवाब नहीं मिलता था। लेकिन मैं ज़िन्दगी और राजनीति दोनों मामलों को मज़हबी निगाह से देखने के दिन-पर-दिन ज्यादा ख़िलाफ होता गया। मैं अपने उस तजुर्बे की बाबत ज्यादा नहीं लिख सकता। वह एक ऐसा ख़याल था जिसे मैं आसानी से ज़ाहिर नहीं कर सकता। यह बात ग्यारह वर्ष पहले हुई थी और अब तो उसकी मेरे मन पर बहुत ही हलकी छाप रह गई है। लेकिन इतनी बात मुझे अच्छी तरह याद है कि मेरे ऊपर और मेरे विचार करने के तरीक़े पर उसका टिकाऊ असर पड़ा और अगले दो या तीन साल मैंने अपना काम कुछ हद तक उसी विरक्त भाव से किया।

हाँ, बेशक कुछ हद तक तो यह बात उन घटनाओं की वजह से हुई जो बिलकुल मेरी ताक़त के बाहर थीं और जिनमें मैं फिट नहीं होता था। कुछ राजनैतिक परिवर्त्तनों का ज़िक्र मैं पहले ही कर चुका हूँ। उससे भी ज्यादा असल बात थी हिन्दू-मुसलमानों के ताल्लुक़ात में दिन-पर-दिन ज्यादा बढ़नेवाली खराबी, जो खास तौर पर उत्तरी हिन्दुस्तान में अपना असर दिखा रही थी। बड़े-बड़े शहरों में कई दंगे हुए, जिनमें हद दर्जे की पशुता और क्रूरता दिखाई दी थी। शक और ग़ुस्से की आबोहवा ने ऐसे नये-नये झगड़े पैदा कर दिये जिनके नाम भी हममें से ज्यादातर लोगों ने पहले कभी नहीं सुने थे। इससे पहले झगड़ा पैदा करनेवाली वजह थी गो-कुशी और वह भी ख़ासकर बकरीद के दिन। हिन्दू और मुसलमानों के त्योहारों के भिड़ जाने पर भी तनातनी हो जाती थी। मसलन्, जब मुहर्रम उन्हीं दिनों आ पड़ें जिनमें रामलीला होती थी तो झगड़े का अन्देशा हो जाता था। मुहर्रम पिछले रंज की याद दिलाता था जिससे रंज और आँसू पैदा होते थे। रामलीला ख़ुशी का त्योहार था जिसमें बुराई के ऊपर भलाई की विजय का उत्सव मनाया जाता था। दोनों एक-दूसरे से चस्पा नहीं हो सकते थे, लेकिन खुश-क़िस्मती से ये त्योहार तीस साल में सिर्फ़ एक दफ़ा साथ-साथ पड़ते थे। रामलीला तो सौर मास के अनुसार नियत चैत बदी ९ को मनाई जाती है जब कि मुहर्रम चन्द्रमास के मुताबिक़ कभी इस महीने में और कभी उस महीने में मनाये जाते हैं।

लेकिन अब तो झगड़े का एक सबब ऐसा पैदा हो गया जो हमेशा मौजूद रहता था और हमेशा खड़ा हो सकता था। यह था मसजिदों के सामने बाजा बजाने का सवाल। नमाज के वक़्त बाजा बजाने या ज़रा भी आवाज़ आने पर मुसलमान ऐतराज करने लगे—कहते, इससे नमाज़ में खलल पड़ता है। हर शहर में बहुत-सी मसजिदें हैं और उनमें हर रोज़ पाँच मर्तबा नमाज़ पढ़ी जाती है और शहरों में जलूसों की, जिनमें शादी वग़ैरा के जलूस भी शामिल हैं, तथा दूसरे शोरोगुल की कमी नहीं। इसलिए झगड़ा होने का अन्देशा हर वक़्त मौजूद रहता था। ख़ास तौर पर जब मसजिदों में शाम को होनेवाली नमाज़ के वक़्त जलूस निकलते और बाजों का शोरगुल होता तब ऐतराज किया जाता था। इत्तिफ़ाक़ से यही वह वक़्त है जबकि हिन्दुओं के मन्दिर में शाम की पूजा यानी आरती होती है और शंख बजाये जाते हैं तथा मन्दिरों के घंटे बजते हैं। इसी आरती-नमाज़ के झगड़े ने बहुत बड़ा रूप धारण कर लिया।

यह बात अचंभे की-सी मालूम होती है कि जो सवाल एक-दूसरे के जजबात का आपस में थोड़ा-सा ख़याल करके और उसके मुताबिक़ थोड़ा-सा इधर-उधर कर

देने से तय हो सकता है, उसकी वजह से इतना कड़वापन पैदा हो और दंगे हों; लेकिन मज़हबी जोश तर्क, विचार या आपसी ख़याल से कोई ताल्लुक़ नहीं रखता, और जब दोनों को क़ाबू करनेवाली एक तीसरी पार्टी एकको दूसरे के खिलाफ़ भिड़ा सकती है तब उस जोश को भड़काना बहुत ही आसान होता है।

उत्तरी हिन्दुस्तान के थोड़े-से शहरों में होनेवाले इन दंगों को ज़रूरत से ज्यादा महत्त्व दे दिया जाता है; क्योंकि हिन्दुस्तान के ज्यादातर शहरों और सूबों में और तमाम गाँवों में हिन्दू-मुसलमान अमन के साथ रहते रहे थे; उनके ऊपर इन दंगों का कोई कहने लायक़ असर नहीं पड़ा। लेकिन अख़बारों ने स्वभावतः ही मामूली-से-मामूली और टुच्चे-से-टुच्चे झगड़े को भी बहुत ज्यादा शोहरत दी। हाँ, यह बिलकुल सच है कि शहरों के आम लोगों में भी फिरक़ेवाराना तनातनी और कटुता बढ़ती गई। चोटी के फिरक़ेदाराना लीडरों ने उसे और भी बढ़ाया और वह साम्प्रदायिक राजनैतिक माँगों की कड़ाई के रूप में जाहिर हुई। हिन्दू-मुसलिम झगड़े से मुसलमानों के दक़ियानूसी लीडर, जो राजनीति में प्रतिगामी-दल के हैं और जो असहयोग के इतने बरसों से कोनों में पीछे पड़े हुए थे, बाहर निकले और इस प्रतिक्रिया में सरकार ने उनकी मदद की उनकी तरफ़ से रोज-ब-रोज नई-नई और पहले से ज्यादा दूर तक जानेवाली साम्प्रदायिक माँगें पेश होती जो हिन्दुस्तान की आज़ादी और क़ौमी एकता की जड़ को काटती थीं। हिन्दुओं की तरफ़ भी जो लोग राजनीति में प्रतिगामी थे वे ही हिन्दुओं के साम्प्रदायिक नेता थे और हिन्दुओं के हक़ों की रखवाली करने के बहाने वे निमित्त-रूप से सरकार के हाथों की कठपुतली बन गये। उन्होंने जिन बातों पर ज़ोर दिया उन्हें हासिल करने में उन्हें कोई कामयाबी नहीं मिली। जिन तरीक़ों से वे काम ले रहे थे उनसे वे लाख कोशिश करने पर भी काम-याब नहीं हो सकते थे। हाँ, उन्होंने मुल्क का फिरक़ेवाराना मिज़ाज बिगाड़ने में ज़रूर कामयाबी हासिल की।

काँग्रेस बड़े असमंजस में पड़ गई। वह तो क़ौमी जज़बात की प्रतिनिधि-स्वरूप थी, उन्हींका उसे ख़याल रहता था, इसलिए इस साम्प्रदायिक मनमुटाव का उसपर असर पड़ना लाज़िमी था। कई काँग्रेसी राष्ट्रीयता की चादर ओढ़े हुए सम्प्रदायवादी साबित हुए। लेकिन काँग्रेस के नेता मज़बूत बने रहे और कुल मिलाकर उन्होंने किसी की भी तरफ़दारी करने से साफ़ इन्कार कर दिया। हिन्दू-मुसलमानों के मामलों में ही नहीं बल्कि और फिरक़ों के मामलों में भी, क्योंकि अब तो सिख वग़ैरा कम तादाद वाली जातियाँ भी ज़ोर-ज़ोर से अपनी माँगें पेश कर रही थीं। लाज़िमी तौर पर इस बात का नतीजा यह हुआ कि दोनों तरफ़ के सिरे के लोग काँग्रेस की बुराई करने लगे।

बहुत दिन पहले असहयोग के शुरू होते ही या उससे भी पहले गांधीजी ने हिन्दू-मुस्लिम मसले को हल करने की तदबीर बताई थी। उनका कहना था कि यह मसला तो तभी हल हो सकता है जब बड़ी जाति उदारता और सद्भावना से काम ले। इसलिए वह मुसलमानों की हरेक माँग को पूरा करने को राजी थे। वह उनसे सौदा नहीं करना चाहते बल्कि उन्हें अपनी तरफ़ पूरी तरह मिला लेना चाहते हैं। चीजों की क़ीमतों को ठीक-ठीक कूतकर उन्होंने दूरदर्शिता के साथ जो असली काम की बात थी उसे पकड़ लिया। लेकिन दूसरे लोग, जो समझते थे कि वे हरेक चीज़ का बाजार-भाव जानते हैं लेकिन असल में किसी भी जिंस की सही क़ीमत से वाक़िफ़ न थे, बाजार के सौदा करने के तरीक़े से चिपके रहे। उन्हें वह खर्च तो साफ़-साफ़ दिखाई दिया जो असली जिंस को खरीदने में देना पड़ रहा था, और उससे उन्हें दर्द भी होता था, लेकिन जिस जिंस को वे शायद खरीद लेते उसकी असली क़ीमत की वे कुछ भी क़द्र नहीं कर सकते थे।

दूसरों की नुक्ताचीनी करना और उनपर दोष मढ़ देना आसान है और अपनी तदबीरों की नाकामयाबी के लिए कोई-न-कोई बहाना ढूँढ़ने के लिए तो दूसरों के सिर क़सूर थोपने के लालच को रोकना प्रायः दुश्वार ही हो जाता है। हम कहते हैं—क़सूर हमारे खयाल का या काम में किसी क़िस्म की ग़लती का थोड़े ही था, वह तो दूसरे लोगों ने जान-बूझकर जो रोड़े अटकाये उनका था। हमने सरकार को और फिरक़ेदाराना लीडरों को दोष दिया। फिरक़ेवाराना लीडरों ने हमारा क़सूर बताया। इसमें कोई शक नहीं कि हम लोगों के रास्ते में सरकार तथा उसके साथियों ने अड़चनें डालीं,और जान-बूझकर लगातार रोड़े अटकाये। इसमें भी कोई शक नहीं कि ब्रिटिश-सरकार ने क्या पहले से और क्या अब, अपनी कार्य-नीति का आधार हम लोगों में फूट पैदा करने पर ही रक्खा है। 'फूट डालकर राज्य करो,' यह हमेशा से साम्राज्यों का तरीक़ा रहा है, और उनकी इस नीति की कामयाबी की मात्रा से, जिन लोगों का वे उससे शोषण करते हे उनके ऊपर, शासकों की उच्चता की मात्रा साबित होती है। हमें इस बात की कोई शिकायत नहीं होनी चाहिए। कम-से कम हमें उसपर कोई अचम्भा नहीं होना चाहिए। उसकी उपेक्षा करनी या पहले से ही उसका इन्तजाम न कर लेना, खुद हमारे विचारों की ही एक ग़लती है।

लेकिन हम उसका भी क्या इन्तजाम करें? यह तो तय है कि दूकानदारों की तरह से सौदा करने और आम तौर पर उन्हींकी चालों से काम लेने से कुछ फ़ायदा नहीं हो सकता; क्योंकि हम कितना भी क्यों न दें, हमारी बोली कितनी भी ज्यादा क्यों न हो, एक ऐसा तीसरा दल हमेशा मौजूद है जो हमसे ज्यादा बोली बोल

सकता है और इससे भी ज्यादा यह कि वह जो कुछ कहता है उसे पूरा कर सकता है। अगर हम लोगों में कोई एक राष्ट्रीय या सामाजिक दृष्टिकोण नहीं है तो हम अपने समान बैरी पर सब मिलकर एक साथ चढ़ाई नहीं कर सकते। अगर हम मौजूदा राजनैतिक और आर्थिक ढांचे की भाषा में ही सोचें और तय करें कि उसी में सिर्फ़ इतना ही इधर-उधर कुछ हेर-फेर कर लेंगे, उसका सुधार या 'भारतीयकरण' कर लेंगे, तो फिर संयुक्त प्रहार के लिए असली प्रलोभन का अभाव ही रहेगा। क्योंकि उस हालत में हमारा मक़सद जो कुछ पल्ले पड़े उसके बटवारे का रह जाता है, जिसमें तीसरी और हमपर क़ाबू रखनेवाली पार्टी या शक्ति का लाज़िमी तौर पर बोलबाला रहता है और वही जिसे इनाम देना पसन्द करती है उसको जो इनाम चाहती है देती है। हाँ, लेकिन एक बिलकुल दूसरे ढंग के राजनैतिक ढाँचे की बात सोचने पर और इससे भी ज्यादा बिलकुल दूसरे सामाजिक ढांचे की बात सोच-कर ही हम संयुक्त उपाय की मजबूत नींव डाल सकते हैं। हमारी आज़ादी की माँग की तह में जो खयाल काम कर रहा था वह यह था कि हम लोगों को यह महसूस करा दें कि हम मौजूदा व्यवस्था का वह हिन्दुस्तानी-संस्करण नहीं चाहते, जिसमें परदे के पीछे ब्रिटेन का ही नियन्त्रण रहे, और 'डोमीनियन स्टेटस' के मानी यही हैं। लेकिन हम लोग तो बिलकुल ही दूसरी क़िस्म के राजनैतिक ढाँचे के लिए लड़ रहे हैं। इसमें कोई शक नहीं कि राजनैतिक स्वाधीनता के मानी तो राजनैतिक आज़ादी ही थे। उसमें आम लोगों के लिए कोई आर्थिक या सामाजिक रद्दोबदल शामिल न थी, लेकिन उसके यह मानी ज़रूर थे कि रुपये-पैसे-सम्बन्धी आर्थिक ज़ंजीरें, जो हमें लन्दन शहर से जकड़े हुए हैं, दूर हो जायँगी और उनके दूर हो जाने पर हमारे लिए सामाजिक ढाँचे को बदलना बहुत आसान हो जायगा। उन दिनों मैं ऐसा सोचता था। अब मैं इसमें इतना और बढ़ा देना चाहता हूँ कि मेरे ख़याल में राजनैतिक आज़ादी भी हमें अकेली नहीं मिलेगी, जब वह हमें हासिल होगी तब वह अपने साथ बहुत-कुछ सामाजिक आज़ादी को भी लेती आवेगी। लेकिन हमारे क़रीब-क़रीब सभी नेता मौजूदा राजनैतिक और, बिलाशक, सामाजिक ढाँचे के फौलादी चौखटे के तंग दायरों में ही सोचते रहे। साम्प्रदायिक या स्वराज्य-सम्बन्धी हरेक मसले का सामना करते समय उनके पीछे यही खयाल होता था। इसीसे वे लाज़िमी तौर पर ब्रिटिश सरकार से मात खाते रहे। क्योंकि उस ढाँचे पर तो उस सरकार का पूरा-पूरा क़ाबू था। लेकिन वे इसके अलावा और कुछ कर भी नहीं सकते थे। क्योंकि सीधी लड़ाई का प्रयोग करने के बावजूद अभी भी उनका तमाम दृष्टिकोण क्रान्तिकारी न होकर मुख्यतः सुधारवादी था, और वह समय

बहुत पहले चला गया जब हिन्दुस्तान में कोई भी राजनैतिक या आर्थिक या फिरकेवाराना मसला सुधारवादी तरीक़ों में सन्तोष-जनक रूप से हज़म हो सकता था। हालात की माँग थी कि क्रान्तिकारी दृष्टिकोण से, योजना निर्माण करके, क्रान्तिकारी उपाय किया जाय। लेकिन नेताओं में ऐसा कोई न था जो इन मांगों को पूरा करता।

इसमें कोई शक नहीं कि हमारी आज़ादी की लड़ाई में स्पष्ट आदर्शों और ध्येयों की कमी ने साम्प्रदायिक ज़हर को फैलाने में मदद दी। जनता को स्वराज्य की लड़ाई का उनकी रोज़मर्रा की तकलीफों से कोई ताल्लुक़ दिखाई नहीं दिया। वे कभी-कभी अपनी सहज-बुद्धि से प्रेरित होकर खूब लड़े। लेकिन वह हथियार इतना कमज़ोर था कि उसे आसानी से कुण्ठित किया जा सकता था और दूसरी तरफ दूसरे कामों के लिए भी उसका इस्तैमाल किया जा सकता था। उसके पीछे कोई तर्क तथा विवेक न था और प्रतिक्रिया के समय में फिरकेवाराना लीडरों को इस काम में कोई मुश्किल नहीं पड़ती थी कि वे इसी जज़बे को मज़हब के नाम पर उभाड़कर उसका इस्तैमाल करें। ताहम यह बात बड़ी अचम्भे की ह कि हिन्दू और मुसलमान दोनों में बुर्जुआ यानी मध्यम श्रेणी के लोगों को मज़हब के नाम पर उन प्रोग्रामों और माँगों के लिए भी जनता की हमदर्दी काफ़ी हद तक मिल गई, जिनका जनता से ही नहीं, निचली मध्यम श्रेणी के लोगों से भी कोई ताल्लुक़ न था। हरेक फिरकेवाराना जमात जनता से ही जो भी फिरकेवाराना माँग पेश करती है उसकी जाँच किये जाने पर अख़ीर में यही मालूम होता है कि वह माँग नौकरियों की मांग है और ये नौकरियाँ तो मध्यम-श्रेणी के मुट्ठी-भर ऊपर के लोगों को ही मिल सकती है। बेशक, यह माँग भी की जाती है कि कौंसिलों में, जोकि राजनैतिक ताक़त का मुक़ाम है, स्पेशल और ज्यादा जगहें दी जाँय, मगर इस माँग का भी यही मतलब है कि इससे खासकर दूसरों से बड़े बनकर उन्हें अपनाने की सत्ता मिलेगी। इन छोटी राजनैतिक माँगों से ज्यादा-से-ज्यादा मध्यम-श्रेणी के ऊपरी तह के थोड़े-से लोगों को कुछ फायदा पहुँचता था। लेकिन उनसे अक्सर राष्ट्रीय उन्नति और एकता के रास्ते में नई अड़चनें पैदा होती थीं। फिर भी बड़ी चालाकी के साथ इन माँगों को अपने मज़हबी फिरके के आम लोगों की माँग के रूप में दिखाया जाता था। असल में उनका नंगापन छिपाने के लिए उनपर मज़हबी जोश की चादर लपेट दी जाती थी।

इस तरह जो लोग राजनीत में प्रतिगामी थे, वे ही साम्प्रदायिक नेताओं का रूप धरकर राजनैतिक मैदान में आये और उन्होंने जो बहुत-सी कार्रवाइयाँ कीं वे असल में जातिगत पक्षपात से प्रेरित होकर उतनी नहीं कीं जितनी राजनैतिक तरक्क़ी को रोकने के लिए कीं। राजनैतिक मामलों में उनसे हमें हमेशा मुख़ालफ़त की ही

उम्मीद थी, लेकिन फिर भी बुरी हालत का यह खासतौर पर दर्दनाक पहलू था कि लोग स्वराज के विरोध में इस हद तक जा सकते हैं। मुस्लिम फिरकेवाराना लीडरों ने तो सबसे ज्यादा विचित्र और आश्चर्यजनक बातें कहीं और कीं। ऐसा मालूम होता था कि हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता की, उसकी आजादी की, उन्हें जरा भी परवाह नहीं है। हिन्दुओं के साम्प्रदायिक नेता यद्यपि जाहिरा तौर पर राष्ट्रीयता के नाम पर बोलते थे लेकिन असल में उनका उनसे कोई ताल्लुक़ नहीं था। चूंकि वे कोई असली उपाय नही कर सकते थे, इसलिए उन्होंने सरकार की खुशामद करके उसे राजी करने की कोशिश की, लेकिन वह भी बेकार गई। हिन्दू-मुसलमान दोनों के नेता साम्यवाद या ऐसी ही "सत्यानासी" हलचलों की बुराई करते थे। स्थापित स्वार्थों के हक़ों में खलल डालने वाली हर तजवीज के मामले में इनकी एक राय देखते बनती थी। मुसलमानों के फिरकेवाराना नेताओं ने ऐसी बहुत-सी बातें कहीं और बहुत-सी हरकतें कीं जिनसे राजनैतिक और आर्थिक स्वाधीनता को नुकसान पहुँचता था। लेकिन व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों रूप में उनका व्यवहार पब्लिक और सरकार के सामने कुछ थोड़ा बहुत गौरव लिये हुए होता था। लेकिन हिन्दू साम्प्रदायिक नेताओं की बाबत यह बात नहीं कही जा सकती।

कांग्रेस में बहुत-से मुसलमान थे। उनकी तादाद बहुत बड़ी थी, जिनमें बहुत-से क़ाबिल लोग भी थे। इतना ही नहीं, हिन्दुस्तान के सबसे ज्यादा मशहूर और सबसे ज्यादा लोकप्रिय मुसलमान नेता कांग्रेस में शामिल थे। उनमें से बहुत-से कांग्रेसी मुसलमानों ने नेशनलिस्ट मुस्लिम पार्टी नाम का एक दल बनाया और उन्होंने फिरकेवाराना मुसलमान नेताओं का मुक़ाबिला किया। शुरू में तो उन्हें इस काम में कामयाबी भी मिली, और ऐसा मालूम पड़ता था कि पढ़े-लिखे मुसलमानों का बहुत बड़ा हिस्सा उनके साथ था, लेकिन ये सब-के-सब मध्यम वर्ग की ऊपरी श्रेणी के लोगों में से थे और उनमें कोई ऐसा प्रचण्ड व्यक्तित्व न था। वे अपने-अपने काम धन्धों में लग गये और आम लोगों से सम्बन्ध हट गया! बल्कि सच तो यह है कि वे लोग अपनी क़ौम के आम लोगों के पास कभी गये ही नहीं। उनका तरीक़ा अच्छे-अच्छे कमरों में बैठकर मीटिंगें करके आपस में राजीनामा कर लेने और पैक्ट करने का तरीक़ा था और इस खेल में उसके रक़ीब यानी फिरक़ेवाराना नेता उनसे कहीं ज्यादा होशियार थे। इन फिरक़ेवाराना नेताओं ने नेशनलिस्ट मुसलमानों को धीरे-धीरे एक स्थिति से हटाकर दूसरी स्थिति पर लगाया और इसी तरह एक-के-बाद-एक स्थिति से वे उन्हें हटाते गये और जिन उसूलों के लिए वे शुरू में अड़े थे उनको वे इन से एक-एक करके छुड़वाते गये। नेशनलिस्ट मुसलमान हमेशा, कभी पीछे न ज्याद

हटना पड़े इस डर से, खुद-ब-खुद कुछ पीछे हटते गये और 'कम बुराई' को चुनने की नीति को अख्त्यार करके अपनी हालत मजबूत करने की कोशिश करते रहे। लेकिन इस नीति का नतीजा हमेशा यही हुआ कि उन्हें हमेशा पीछे हटना पड़ा और हमेशा 'कम बुराई' के बाद उससे ज्यादा बुरी दूसरी 'कम बुराई' मंजूर करनी पड़ी। फलस्वरूप ऐसा वक़्त आ गया कि उनके पास कोई ऐसी चीज़ नहीं रह गई जिससे वे अपनी कह सकते। उनके आधारभूत सिद्धान्तों में भी एक के सिवा और कोई बाकी नहीं रहा। यह एक उसूल हमेशा से उनकी जमात का लंगर रहा है और वह है सम्मिलित चुनाव। लेकिन 'कम बुराई' को चुनने की नीति ने फिर उनके सामने यही घातक चुनाव पेश कर दिया और उस अग्नि-परीक्षा से तो वे बच आये लेकिन अपना लंगर वहीं छोड़ गये। इसलिए आज उनकी यह हालत है कि जिन उसूलों या अमल की बुनियाद पर उन्होंने अपनी जमात बनाई थी उन सबको वे खो बैठे। इन्हीं उसूलों और अमल को उन्होंने पहले बड़े फ़ख्र के साथ अपने जहाज़ के मस्तूल पर लगाया था, लेकिन अब उनमें से उनके पास उनके नाम के सिवा और कुछ नहीं रहा।

शख्सी हैसियत से तो ये लोग, बिला शक, अब भी कांग्रेस के अहम नेताओं में से हैं, लेकिन जमात की हैसियत से नैशनलिस्ट मुसलमानों के गिरने और मिटने की कहानी बहुत ही दयनीय है। इसमें बहुत बरस लगे और उस कहानी का अखीरी अध्याय पिछले साल, १९३४ में, ही लिखा गया है। १९२३ में और उसके बाद उनकी जमात बहुत मजबूत थी और वे फिरकेवाराना लोगों के मुक़ाबले में लड़ाकू ढंग भी अख्त्यार किया करते थे, और सच बात तो यह है कि कई मौक़ों पर गांधीजी तो सम्प्रदायवादी मुसलमानों की कुछ माँगों को सख्त नापसन्द करते हुए भी पूरा करने को तैयार हो जाते थे लेकिन उनके साथी नेशनलिस्ट मुसलमान नेता गांधीजी को ऐसा करने से रोकते और उन माँगों की मुखालफ़त बड़ी सख्ती के साथ करते थे।

१९२० से लेकर १९२९ तक के बीच के सालों में आपस में बातचीत और बहस-मुबाहिसा करके हिन्दू-मुस्लिम मसले को हल करने की कई कोशिशें की गईं। ये कोशिशें एकता-सम्मेलनों के नाम से मशहूर हैं। इन सम्मेलनों में सबसे ज्यादा मशहूर वह था जो १९२४ में मौलाना मुहम्मदअली ने कांग्रेस के सदर की हैसियत से बुलाया और जो गांधीजी के इक्कीस दिन के अनशन की छाया में दिल्ली में हुआ। इन सम्मेलनों में बहुत-से भले और सच्चे आदमी शरीक हुए थे और उन्होंने समझौता करने की बहुत सख्त कोशिश की, कुछ अच्छे व भले प्रस्ताव भी पास किये गये लेकिन असली मसला हल हुए बिना ही रह गया। वे सम्मेलन उस मसले को हल कर ही नहीं सकते थे; क्योंकि समझौता बहुमत से नहीं हो सकता था। वह तो

वास्तविक एक-राय से ही तय हो सकता है और किसी-न-किसी दल में एसे कट्टर लोग हमेशा मौजूद रहते थे जो समझते थे कि समझौता तभी हो सकता है जब सब लोग सोलहों आने हमारी बात मान लें। सचमुच कभी-कभी तो यह शक होने लगता था कुछ नामी-नामी फिरकेवाराना नेता वाक़ई निपटारा चाहते भी हैं या नहीं ? उनमें बहुत-से राजनैतिक मामलों में प्रतिगामी थे और उनमें तथा उन लोगों में जो राजनीति में काया-पलट चाहते थे, कोई भी बात सामान्य न थी।

लेकिन असली मुश्किलें तो ज्यादा गहरीं थीं और वे महज़ शख्सों की खराबी की वजह से ही नहीं थीं! अब तो सिक्ख भी अपने फिरके की मांगे ज़ोर-शोर से माँगने लगे थे, जिसकी वजह से पंजाब में भी एक ग़ैर मामूली विकट तिकोना खिंचाव पैदा हो गया था। सचमुच पंजाब ही तमाम मामले की जड़ बन गया और वहाँ हरेक फिरके में दूसरे के डर की वजह से जोश और दुर्भाव का वायु-मण्डल बन गया। कुछ सूबों में किसान और ज़मींदारों के व बंगाल में हिन्दू-जमींदार और मुसलमान-किसानों के किस्से फिरकेवाराना बुरके में सामने आये। पंजाब और सिंध मे साहूकार और रुपयेवाले लोग आम तौर पर हिन्दू हैं और कर्ज़ से दबे हुए लोग मुसलमान खेती-हर। वहाँ कर्ज़ से दबे हुए लोगों में उनकी जान के गाहक बोहरों से खिलाफ़ जो भाव होते हैं उन तमाम भावों ने साम्प्रदायिक लहर को बढ़ाया। आम तौर पर मुसल-मान ग़रीब थे और मुसलमानों के फिरकेवाराना लीडरों ने ग़रीबों में अमीरों के खिलाफ जो बुरे भाव होते हैं, उनका इस्तैमाल अपने साम्प्रदायिक हेतुओं के लिए किया। यद्यपि आश्चर्य की बात तो यह है कि इन हेतुओं से ग़रीबों की भलाई का क़तई कोई ताल्लुक न था, लेकिन इसकी वजह से फिरकेवाराना मुसलमान लीडर कुछ हद तक जरूर आम लोगों के प्रतिनिधि थे और इसकी वजह से उन्हें ताक़त भी मिली। आर्थिक दृष्टि से हिन्दुओं के साम्प्रदायिक नेता अमीर साहूकारों और पेशेवर लोगों के प्रतिनिधि थे—इसलिए हिन्दू जन-साधारण में उनकी पीठ पर कोई न था यद्यपि कुछ मौक़ों पर जन-साधारण की सहानुभूति उन्हें मिल जाती थी।

इसलिए यह मसला कुछ हद तक आर्थिक फिरकाबन्दी के मसलों में हिलता-मिलता जा रहा है, हलाँकि रंज की बात यह है कि लोगों ने अभी इस बात को महसूस नहीं किया। हो सकता है कि यह बात बढकर स्पष्ट रूप से आर्थिक वर्गों के झगड़ों की शक्ल अख़्त्यार करले, लेकिन अगर वह वक्त आया तो आजकल के फिरकेवाराना लीडर, जो फिरके के अमीरों के प्रतिनिधि हैं, दौड़कर अपने भेदभाव को मिटा देंगे जिससे कि वे मिलकर अपने वर्ग के बैरी का मुकाबला कर सकें। यों तो जुदा हालतों में भी इन जातिगत झगड़ों को निपटकर राजनैतिक एकता कर लेना उतना मुश्किल

न होना चाहिए, बशर्ते—लेकिन बहुत बड़ी शर्त है—कि तीसरी पार्टी न मौजूद हो।

दिल्ली का 'एकता-सम्मेलन' मुश्किल से ख़त्म हो पाया था कि इलाहाबाद में हिन्दू-मुसलमानों में दंगा हो गया। यों और दंगों को देखते हुए यह दंगा कोई बड़ा दंगा न था, क्योंकि उसमें हताहतों की तादाद बहुत न थी, लेकिन अपने घर के शहर में इस तरह के दंगे के होने से मुझे रंज ज़रूर होता था। मैं दूसरे लोगों के साथ इलाहाबाद दौड़ पड़ा। लेकिन यहाँ पहुँचते-पहुँचते मालूम हुआ कि दंगा ख़त्म हो गया। हाँ, उसके फल-स्वरूप जो आपसी बैर-भाव बढ़ा और मुकदमेबाज़ी चली वह बहुत दिनों तक बनी रही। म यह भूल गया हूँ कि यह झगड़ा क्यों हुआ? उस साल या शायद उसके बाद इलाहाबाद में रामलीला के उत्सव के सिलसिले में भी कुछ टण्टा हो गया था। रामलीला के उत्सव में बड़े भारी-भारी जुलूस भी निकला करते थे—लेकिन चूँकि मसजिदों के सामने बाजा बजाने में कुछ बन्धन लगा दिये गये, उसके विरोध-स्वरूप-लोगों ने रामलीला मनाना ही छोड़ दिया। क़रीब-क़रीब आठ वर्ष से इलाहाबाद में रामलीला नहीं हुई है। यह त्यौहार इलाहाबाद ज़िले के लाखों लोगों के लिए साल-भर में सबसे बड़ा त्यौहार था। लेकिन अब वहाँ उसकी दुःखद याद-भर रह गई है। बचपन में जब मैं रामलीला देखने जाया करता था तबकी याद मुझे अच्छी तरह बनी हुई है। उसको देखकर हम लोगों को कितनी खुशी, कितना जोश होता था और ज़िले-भर से तथा दूसरे कस्बों से लोगों की भारी भीड़ें उसे देखने को आती थीं। त्यौहार हिन्दुओं का था, लेकिन वह खुलेआम मनाया जाता था इसलिए मुसलमान भी उसे देखने के लिए भीड़ में शामिल हो जाते थे और चारों तरफ़ सब लोग खूब खुशियाँ मनाते और मौज करते थे। व्यापार चमक उठता था। इसके बहुत दिनों बाद बड़ा हो जाने पर जब मैं रामलीला देखने गया तो मुझे कोई जोश न आया तथा जुलूस और स्वाँगों से मेरा जी ऊब गया। कला और आमोद-प्रमोद के बारे में मेरी रुचि का पैमाना ऊँचा हो गया था। लेकिन उस वक़्त भी मैंने यह देखा कि आदमियों की भारी भीड़ उसको देखकर बहुत खुश होती थी और उसे पसन्द करती थी। उनके लिए तो वह वक़्त मौज करने का वक़्त था, और अब आठ या नौ बरसों से इलाहाबाद के बच्चों को—बच्चों को ही क्यों, बड़े लोगों को भी—उस उत्सव को देखने का कोई मौक़ा नहीं मिलता। उनकी जिन्दगी मे रोजमर्रा के नीरस काम से खुशी के जोश का जो एक उज्वल दिन साल में उन्हें मिल जाया करता था वह भी न रहा, और यह सब बिलकुल नाचीज़ बेकार के झगड़े-टण्टों की वजह से। बेशक मज़हब और मज़हब की स्पिरिट को ऐसी बहुतसी बातों के लिए ज़वाबदेह होना पड़ेगा। ओफ़, वे कितने आनन्द-नाशक साबित हुए हैं!

## २०

# म्युनिसिपैलिटी का काम

दो साल तक मैं इलाहाबाद म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन की हैसियत से काम करता रहा। लेकिन रोज़-ब-रोज़ इस काम से मेरी तबीयत उचटती सी जाती थी। मेरी चेयरमैनी की मियाद कायदे से दो-तीन साल की थी, लेकिन दूसरा साल अच्छी तरह शुरू ही हुआ था कि मैंने उस जिम्मेदारी से अपना पिण्ड छुड़ाने की कोशिश शुरू करदी। मैं उस काम को पसन्द करता था और उसमें मैंने अपना क़ाफ़ी वक़्त और काफ़ी ध्यान लगाया था। कुछ हद तक उसमें मुझे कामयाबी भी मिली और अपने साथियों का भी सद्भाव मैंने प्राप्त किया था। सूबे की सरकार ने भी मेरे म्युनिसिपैलिटी-सम्बन्धी कुछ कामों को इतना पसन्द किया कि उसने मेरे राजनैतिक कामों की वजह से अपनी नाराज़गी को भूलकर उनकी तारीफ़ की। लेकिन फिर भी मैं यह पाता था कि मैं चारों तरफ़ से घिरा हुआ हूँ और कोई वाक़ई कहने लायक काम करने से मुझे रोका जाता है तथा मेरे रास्ते में अड़चनें डाली जाती हैं।

इसके मानी यह नहीं हैं कि कोई साहब जान-बूझकर मेरे काम में अड़ंगे लगाते थे, बल्कि सच बात तो यह है कि लोगों ने राज़ी-खुशी से मुझे जितना सहयोग दिया वह आश्चर्यजनक था। लेकिन एक तरफ़ सरकारी मशीन थी और दूसरी तरफ़ म्युनिसिपैलिटी के मेम्बरों और पब्लिक की उदासीनता थी। सरकार ने म्युनिसिपैलिटी के शासन का फौलादी चौखटे में जैसा ढाँचा बनाया वह आमूल परिवर्तन या नवीन सुधारों को रोकने वाला था। राजस्व-सम्बन्धी नीति ऐसी थी कि म्युनिसिपैलिटी को हमेशा सरकार के भरोसे रहना पड़ता था। मौजूदा म्युनिसिपल क़ानूनों के मुताबिक सामाजिक विकास की और टैक्स लगाने सम्बन्धी कायापलट करनेवाली योजनाओं की इजाज़त न थी। जो योजनायें क़ानून के मुताबिक की जा सकती थी उनपर अमल करने के लिए भी सरकार की स्वीकृति लेनी पड़ती थी, और उस स्वीकृति को वही लोग माँग सकते थे तथा वही उसकी राह देख सकते थे जो बड़े आशावादी हों और जिनके सामने बहुत बड़ी जिन्दगी पड़ी हो। मुझे यह देखकर हैरत हुई कि जब कोई सामाजिक पुनस्ससंघटन का या राष्ट्र-निर्माण का मामला आ पड़ता है तब सरकारी मशीन कितनी धीरे-धीरे, मार-मारकर और ढील-पोल के साथ चलती है, लेकिन जब किसी राजनैतिक मुख़ालिफ़ को दबाना हो या गिराना हो तब ज़रा भी ढील और गलती नहीं रहती। इन दोनों कामों में सरकार के रुख़ की दुभाँत देखने लायक़ होती थी।

स्थानीय स्वराज्य से ताल्लुक़ रखने वाली सूबे की सरकार के महकमे मिनिस्टर के मातहत होते हैं, लेकिन आम तौर पर ये मिनिस्टर देवता म्युनिसिपैलिटी के मामलों में ही नहीं बल्कि पब्लिक मामलों में भी बिलकुल कोरे थे। सच बात तो यह है कि उनको कोई पूछता ही न था। खुद उनके महकमे के कारकुन ही उनका कोई खयाल नहीं करते थे। उसे तो इंडियन सिविल सर्विस के स्थायी हाकिम चलाते थे और इन हाकिमों पर हिन्दुस्तान के ऊँचे हाकिमों की इस प्रचलित धारणा का बहुत असर था कि सरकार का काम तो खास तौर पर पुलिस का यानी अमन-चैन रखने का काम है। अधिकारी-पन और माँ-बाप-पन के थोड़े-से ख़याल ने भी इस धारणा पर कुछ हद तक असर डाला था। लेकिन बड़े पैमाने पर सामाजिक सेवा के कार्यों की ज़रूरत को कोई भी महसूस नहीं करता था।

म्युनिसिपैलिटियाँ हमेशा ही सरकार के कर्ज़ से दबी रहती हैं और इसलिए पुलिस की निगाह के अलावा सरकार जिस दूसरी निगाह से म्युनिसिपैलिटी को देखती है वह है क़र्ज़ देने वाले बोहरे की निगाह। आया क़र्ज़ की क़िस्तें वायदे पर अदा हो रही हैं? आया म्युनिसिपैलिटी क़र्ज़ अदा करने की ताक़त भी रखती है? उसके पास काफ़ी रोकड़-बाक़ी है या नहीं? ये सब सवाल ज़रूरी और माकूल हैं, लेकिन अक्सर यह बात भुला दी जाती है कि म्युनिसिपैलिटी को कुछ ख़ास काम भी करने हैं—जैसे तालीम, सफाई वग़ैरा, और वह महज़ एक ऐसी संस्था नहीं है जिसका काम रुपये क़र्ज़ लेकर उन्हें तयशुदा मियादों पर अदा करते रहना हो। हिन्दुस्तान की म्युनिसि-पैलिटियाँ शहर की भलाई के लिए जो काम करती हैं वे वैसे ही बहुत कम हैं, लेकिन वे थोड़े-से काम भी रुपये की तंगी होते ही फौरन कम कर दिये जाते हैं और आम तौर पर सबसे पहले यह बला शिक्षा के ऊपर पड़ती है। म्युनिसिपैलिटी के मदरसों में हाकिम लोगों की कोई ज़ाती दिलचस्पी नहीं, उनके बाल-बच्चे तो उन बिलकुल अप-टू-डेट और खर्चीले प्राइवेट स्कूलों में पढ़ते हैं जिन्हें अक्सर सरकार से ग्राण्ट मिलती है।

ज्यादातर हिन्दुस्तानी शहरों को दो हिस्सों में बांटा जा सकता है। एक तो बना बसा हुआ ख़ास शहर, दूसरा लम्बा-चौड़ा फैला हुआ बाग़-बंगलोंवाला रकबा। इन हरेक बगलों में काफी बड़ा अहाता या बाग़ भी होते हैं। इस रकबे को अंग्रेज़ आम तौर पर 'सिविल लाइन' कहकर पुकारते हैं। अंग्रेज़ अफ़सर और व्यापारी तथा ऊपरी मध्यम श्रेणी के पेशेवर और हाकिमों के दर्जे के हिन्दुस्तानी इन्हीं सिविल-लाइनों में रहते हैं। म्युनिसिपैलिटी की आमदनी ज्यादातर शहर खास से होती है न कि सिविल-लाइन से। लेकिन म्युनिसिपैलिटियाँ खर्च जितना शहर खास पर करती हैं उससे कहीं

ज्यादा सिविल-लाइनों पर करती हैं; क्योंकि सिविल-लाइनों के कहीं बड़े रकबे में ज्यादा सड़कों की ज़रूरत होती है। इन सड़कों की सफ़ाई और उनपर छिड़काव कराना होता है। उनपर रोशनी का इन्तज़ाम करना होता है तथा उनकी मरम्मत भी करानी पड़ती है। इसी तरह उनमें नालियों का, पानी पहुँचाने का और सफ़ाई का इन्तज़ाम भी ज्यादा जगह में करना होता है। मगर शहर खास की हमेशा बुरी तरह से लापरवाही की जाती है और, बिला शक, शहर के गरीबों की गलियों की तो अक्सर कोई परवाह ही नहीं की जाती। शहर खास में अच्छी सड़कें तो बहुत ही कम होती हैं और उसकी तंग गलियों में रोशनी का इन्तज़ाम ज्यादातर बहुत नाकाफी होता है। उसमें नालियों और सफाई का भी काफी माकूल इन्तज़ाम नहीं होता। शहर खास के लोग बेचारे धीरज के साथ इन सब बातों को बरदाश्त कर लेते हैं। कभी कोई शिकायत नहीं करते, और जब वे शिकायत करते हैं तब भी ऐसा कोई नतीजा नहीं निकलता, क्योंकि क़रीब-क़रीब सभी बड़े और छोटे-छोटे शोर मचानेवाले लोग तो सिविल-लाइनों में ही रहते हैं।

टैक्स के बोझ को कुछ दिन तक ग़रीबों और अमीरों पर बराबर-बराबर डालने के लिए और कुछ सुधारों के कुछ काम करने के लिए मैं ज़मीनों की क़ीमत के आधार पर टैक्स लगाना चाहता था। लेकिन ज्योंही मैंने यह तजवीज़ पेश की त्योंही एक सरकारी अफ़सर ने उसकी मुखालफ़त की। मैं समझता हूँ कि वह अफ़सर ज़िला मजिस्ट्रेट था जिसने यह कहा कि ऐसा करना ज़मीन के कब्जे के बारे में जो बहुत-सी शर्तें व क़ानून हैं उनके ख़िलाफ़ पड़ेगा। ज़ाहिर है कि ऐसा टैक्स सिविल-लाइन के बंगलों में रहनेवालों को ज्यादा देना पड़ता। लेकिन सरकार उस चुंगी को बहुत पसन्द करती है जिससे व्यापार कुचला जाता है, तमाम चीज़ों की—जिनमें खाने की चीजें भी शामिल हैं—कीमतें बढ़ जाती हैं और जिसका बहुत ज्यादा बोझ ग़रीबों पर आकर पड़ता है। और सामाजिक दृष्टि से सबसे ज्यादा अनुचित और हानिकारक यह टैक्स हिन्दुस्तान की ज्यादातर म्युनिसिपैलिटीयों की आमदनी की खास बुनियाद है—यद्यपि मैं समझता हूँ, वह धीरे-धीरे बड़े-बड़े शहरों से उठता जाता है।

म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन की हैसियत से मुझे इस तरह एक हृदयहीन सत्तावादी सरकारी मशीन से काम लेना पड़ता था जो बड़ी मशक्कत के साथ पुरानी लीक पर चर्र-मर्र करती चलती थी और अड़ियल टट्टू की तरह ज्यादा तेज़ी से या दूसरी तरफ़ चलने से इन्कार करती थी। दूसरी तरफ़ मेरे साथी मेम्बर लोग थे। उनमें से ज्यादातर लीक-लीक ही चलना पसन्द करते थे। उनमें से कुछ तो आदर्शवादी थे। इन लोगों ने अपने काम में उत्साह दिखाया। लेकिन कुल मिलाकर मेम्बरों में न तो

कल्पना-शक्ति ही थी, न तबदीली या बेहतरीन करने की धुन। पुराने तरीक़े काफ़ी अच्छे हैं, फिर क्या ज़रूरत है कि ऐसे प्रयोगों से काम लिया जाय जो मुमकिन है कि पूरे न पड़ें ? आदर्शवादी और जोशीले मेम्बर भी धीरे-धीरे उन नीरस रोज़मर्रा की बातों के नशीले असर के शिकार हो गये। लेकिन हाँ, एक बात ऐसी ज़रूरी थी जिस-पर हमेशा यह भरोसा किया जा सकता था कि वह मेम्बरों में नया जोश पैदा कर देगी; और वह थी नौकरियों तथा ठेके वग़ैरा देने के मामले। लेकिन इसमें दिलचस्पी रखने से हमेशा ही काम में अच्छाई नहीं बढ़नी थी।

हर साल सरकारी प्रस्ताव, हाकिम लोग और कुछ अखबार म्युनिसिपैलिटियों और ज़िला-बोर्डों की नुक़ताचीनी करते हैं और उनकी बहुत-सी कमियों की तरफ इशारा करते हैं, और इससे यह नतीजा निकाला जाता है कि लोक-तन्त्री संस्थायें हिन्दुस्तान के लिए मौज़ूँ नही हैं। उनकी कमियाँ तो ज़ाहिर हैं, लेकिन उस ढांचे की तरफ़ क़तई ध्यान नहीं दिया जाता, जिसके अन्दर उन्हें अपना काम करना पड़ता है ! यह ढांचा न तो लोक-तन्त्री ही है न एक-तन्त्री। वह तो इन दोनों की दोग़ली औलद है और उसमें दोनों की ख़राबियाँ मौजूद हैं। यह बात तो मंजूर की जा सकती है कि केन्द्रीय-सरकार को मुकामी या स्थानिक संस्थाओं पर देखभाल तथा नियन्त्रण करने के कुछ अख़्त्यार ज़रूर होने चाहिएँ, लेकिन स्थानीय लोक-संस्थाओं के लिए यह तभी लागू हो सकता है जब केन्द्रीय सरकार खुद लोक-तन्त्री और पब्लिक की ज़रूरतों का खयाल रखनेवाली हो। जहाँ ऐसा न होगा, वहाँ या तो केन्द्रीय सरकार और स्थानीय शासन-संस्था में रस्साकशी होगी या मुकामी संस्था चुपचाप केन्द्रीय सरकार के हुक्म बजाया करेगी। इस तरह केन्द्रीय सरकार ही असल में स्थानिक संस्थाओं से जो चाहेगी सो करायगी। लेकिन तारीफ़ यह है कि वह जो कुछ करेगी उसके लिए ज़िम्मेदार नहीं होगी ! अख़्त्यार तो उसीको होंगे, लेकिन जवाबदेही उसकी न होगी ! जाहिर है कि यह हालत सन्तोष-जनक नहीं कही जा सकती; क्योंकि उससे पब्लिक के नियन्त्रण की वास्तविकता जाती रहती है। म्युनिसिपल बोर्डों के मेम्बर केन्द्रीय सरकार को खुश रखने के लिए जितनी कोशिश करते हैं उतनी पब्लिक के अपने चुननेवालों को खुश रखने की नहीं; और जहाँतक पब्लिक से ताल्लुक है, वह अक्सर बोर्ड के कामों की तरफ़ से बिलकुल उदासीन रहती है। समाज की भलाई से असली ताल्लुक रखनेवाले मामले तो बोर्ड के सामने मुश्किल से ही कभी आते हैं—ख़ास तौर पर इसलिए, क्योंकि वे बोर्ड के काम के दायरे से बाहर हैं, और बोर्ड का सबसे ज्यादा ज़ाहिर काम है पब्लिक से टैक्स वसूल करना। और यह काम उसे ऐसा ज्यादा लोकप्रिय नहीं बना सकता।

स्थानिक संस्थाओं के लिए वोट देने का हक़ भी थोड़े ही लोगों तक महदूद है। वोट देने का यह अख़्त्यार और भी ज्यादा बढ़ाया जाना चाहिए, जो वोटर होने की योग्यता को घटाकर किया जा सकता है। बम्बई-कार्पोरेशन जैसे बड़े-बड़े शहरों के कार्पोरेशन तक के मेम्बरों का चुनाव भी बहुत महदूद वोटरों द्वारा होता है। कुछ समय पहले खुद कार्पोरेशन में वोट देने का अख़्त्यार ज्यादातर लोगों को देने का प्रस्ताव गिर गया था। ज़ाहिर है कि ज्यादातर मेम्बर अपनी हालत से खुश थे और वे उसमें हेर-फेर करने या उसे ख़तरे में डालने की कोई ज़रूरत नहीं समझते थे।

वजह कुछ भी हो, लेकिन यह बात ज़रूर है कि हमारी स्थानिक संस्थायें आम तौर पर कामयाबी और क्षमता के चमकते हुए नमूने नहीं हैं, यद्यपि वे जैसी हैं वैसी हालत में भी बहुत आगे बढ़े हुए लोकतन्त्री देशों की कुछ म्युनिसिपैलिटियों से टक्कर ले सकती हैं। आमतौर पर उनमें भ्रष्टता नहीं है। महज सुव्यवस्था की कमी है। उनकी खास कमज़ोरी है पक्षपात, और उनके दृष्टिकोण सब ग़लत हैं। यह सब स्वाभाविक है, क्योंकि लोकतन्त्र तो तभी कामयाब हो सकता है जब उसके पीछे सुविज्ञ लोकमत और ज़िम्मेदारी का भान हो। उसकी जगह पर हमें हुकूमत का सर्व-व्यापी वायूमण्डल मिलता है और लोकतन्त्र के साथ जिन बातों की ज़रूरत है वे नहीं पाई जातीं। आम जनता को तालीम देने का कोई इंतिज़ाम नहीं है; न इस बात की कभी कोशिश की गई है कि जानकारी की बुनियाद पर पब्लिक की राय बनाई जाय। लाज़िमी तौर पर ऐसी हालत में पब्लिक का खयाल शख़्सी या फिरकेवाराना या टुच्चे-टुच्चे मामलों की तरफ़ चला जाता है।

म्युनिसिपैलिटी के इंतज़ाम में सरकार की दिलचस्पी इस काम में रहती है कि राजनीति उससे बाहर रक्खी जाय। अगर राष्ट्रीय हलचल से हमदर्दी रखनेवाला कोई प्रस्ताव पास किया जाता है तो सरकार की त्योरियाँ चढ़ जाती हैं। जिन पाठ्य पुस्तकों में राष्ट्रीयता की बू हो उन्हें म्युनिसिपैलिटी के मदरसों में नहीं पढ़ाने दिया जाता। इतना ही नहीं, उनमें राष्ट्रीय नेताओं की तस्वीरें भी नहीं लगाने दी जाती। म्युनिसिपैलिटियों से राष्ट्रीय झण्डा उतारना पड़ता है, न उतारें तो म्युनिसिपैलिटी तोड़ दी जाती है। ऐसा मालूम होता है कि हाल ही में कई सूबों की सरकारों ने इस बात की कोशिश की है कि कार्पोरेशन और म्युनिसिपैलिटियों में जितने काँग्रेसी नौकर हों उन सबको निकाल बाहर किया जाय। मामूली तौर पर इस मतलब को पूरा कराने के लिए इन संस्थाओं पर सरकारी दबाव काफ़ी होता है; क्योंकि उसके साथ-साथ यह धमकी भी दी जाती है कि उन्हें न निकाला गया तो सरकार म्युनिसिपैलिटियों को तालीम वग़ैरा के लिए जो मदद देती है उसे बन्द कर देगी। लेकिन

कहीं-कहीं तो—ख़ास तौर पर कलकत्ता-कार्पोरेशन के लिए तो—क़ानून ही ऐसा बना दिया है जिससे उन सब लोगों को, जो असहयोग या सरकार के खिलाफ किसी और राजनैतिक हलचल में जेल गये, नौकरी न मिलने पावे। इस मामले में सरकार का मतलब महज़ राजनैतिक होता है। काम के लिए उस शख़्स की लायक़ी या नालायक़ी का कोई सवाल नहीं।

इन थोड़ी-सी मिसालों से यह ज़ाहिर हो जाता है कि हमारी म्युनिसिपैलिटियों और हमारे ज़िला-बोर्डों को कितनी आज़ादी मिली हुई है और उसमें लोकतन्त्रता की कितनी कमी है। यह तो तय ही है कि वे लोग सीधी सरकारी नौकरी नहीं चाहते। ऐसी हालत में अपने इस राजनैतिक मुख़ालिफ़ों को तमाम म्युनिसिपल और ज़िला-बोर्डों की नौकरी से अलग रखने की जो कोशिश हो रही है उसपर कुछ ग़ौर करने की ज़रूरत है। यह अंदाज़ लगाया गया है कि पिछले चौदह बरसों में क़रीब तीन लाख लोग जुदा-जुदा मौक़ों पर जेल हो आये हैं और यदि राजनैतिक दृष्टि से न देखें तो इसमें किसीको शक नही हो सकता कि इन तीन लाख लोगों में हिन्दुस्तान के सबसे ज्यादा सज्जन और आदर्शवादी, सबसे ज्यादा सेवा-वृती और स्वार्थ-हीन शख़्स शामिल हैं। इन लोगों में जोश है, आगे बढ़ने की ताक़त है और किसी उद्देश की पूर्ति के लिए सेवा का आदर्श है। इस तरह किसी भी पब्लिक महकमे या सार्वजनिक हित की संस्था के लिए अपने काम के लिए आदमी ढूँढने का सबसे अच्छा सामान इन्हींमें मिल सकता था। फिर भी सरकार ने क़ानून बनाकर इस बात की पूरी-पूरी कोशिश की है कि वे लोग नौकर न होने पावें, जिससे न सिर्फ उन्हींको सज़ा मिले बल्कि उन लोगों को भी सज़ा मिल जाय, जो उनसे हमदर्दी रखते हैं। सरकार खुद ऐसे लोगों को पसन्द करती है और आगे बढाती हं जो बिलकुल जी-हुज़ूर हों, और उसके बाद यह शिकायत करती है कि हिन्दुस्तान की स्थानिक संस्थायें ठीक तरह से काम नहीं करतीं; और यद्यपि यह कहा जाता है कि राजनीति स्थानिक संस्थाओं के काम की हद से बाहर है, फिर भी सरकार को इस बात में कोई एतराज़ नहीं कि वे सरकार की मदद के लिए राजनीति में हिस्सा लें। स्थानीय बोर्डों के स्कूलों के मास्टरों को यह डर दिखा-कर, कि उन्हें नौकरी से निकाल दिया जायगा, मजबूर किया गया कि गाँवों में जाकर सरकार के पक्ष में प्रचार करें।

पिछले पन्द्रह वर्षों में कांग्रेस-कार्यकर्त्ताओं को कई मुश्किलों का सामना करना पड़ा है। उन्हें बड़ी भारी-भारी ज़िम्मेदारियां झेलनी पड़ी हैं और आखिर उन्होंने ऐसी सरकार से टक्कर ली जो बड़ी ताक़तवर और सुरक्षित है। और यह नहीं कि उसमें उन्हें कामयाबी भी न मिली हो। लेकिन तालीम के इस कड़े क्रम ने उन्हें

आत्म-निर्भरता, प्रबन्ध-पटुता और डटे रहने की ताक़त दी है। जिन गुणों को एक हुकूमत की स्पिरिट से भरी हुई सरकार की लम्बी और नामर्द करनेवाली तालीम ने छीन लिया था उन्हींको हमारी हलचलों ने हिन्दुस्तानियों में फिर से डाल दिया है। हाँ, निस्सन्देह, तमाम सार्वजनिक आन्दोलनों की तरह कांग्रेस की हलचलों में भी बहुत-से नामाक़ूल, बेवकूफ़, निकम्मे और इससे भी बदतर लोग आये और हैं। लेकिन इस बात में भी मुझे कोई शक नहीं है कि औसतन कांग्रेस-कार्यकर्ता अपनी बराबर योग्यता रखनेवाले किसी दूसरे शख्स के मुक़ाबिले में ज्यादा होशियार और सजीव साबित होगा।

इस मामले का एक और भी पहलू है, जिसको शायद सरकार और उसके सलाहकारों ने नही समझ पाया है। वह यह है कि असली क्रान्तिकारी तो इस बात का ख़ुशी से स्वागत करते हैं जो सरकार कांग्रेस-कार्यकर्ताओं को ही कोई नौकरी नहीं मिलने देती और उनके लिए काम तथा नौकरी के तमाम रास्तों को रोक देती है। औसत कांग्रेसी इस बात के लिए बदनाम हैं कि वे क्रान्तिकारी नही होते और कुछ वक़्त अर्ध-क्रान्तिकारी काम करने के बाद वे अपनी उसी पुराने ढर्रे की ज़िन्दगी और हालतों को शुरू कर देते हैं। वे फिर अपने धंधे या पेशे या मुकामी राजनैतिक मामलों में फँस जाते हैं। बड़े-बड़े मामले उनके दिमाग़ से ओझल होने लगते हैं और उनमें जो थोड़ा-बहुत क्रान्तिकारी जोश था वह ठंडा पड़ जाता है। उनके पुट्ठों पर चरबी चढ़ने लगती है और उनकी आत्मा सुरक्षितता चाहती है। मध्यमश्रेणी के कार्यकर्ताओं के इस लाज़िमी झुकाव की वजह से ही आगे बढ़े हुए तथा क्रान्तिकारी खयालों के कांग्रेसियों ने हमेशा से इस बात की कोशिश की है कि उनके साथी स्थानीय बोर्डों और कौंसिलों के विधानों के जंजाल में पूरे समय के कामों में न फँसने पावें जो उन्हें कांग्रेस का कारगर काम करने से रोकते हों।

मगर अब खुद सरकार ही कुछ हद तक मदद कर रही है; क्योंकि वह कांग्रेसियों के लिए कोई काम पाना मुश्किल बनाये दे रही है, जिससे यह मुमकिन है कि उनके क्रान्तिकारी उत्साह का कुछ हिस्सा ज़रूर क़ायम रहेगा या हो सकता है कि बढ़ भी जाय।

एक साल या उससे कुछ ज्यादा दिनों तक म्युनिसिपैलिटी का काम करने के बाद मैं यह महसूस करने लगा कि मैं यहां अपनी शक्तियों का सबसे अच्छा उपयोग नहीं कर रहा हूँ। मैं ज्यादा-से-ज्यादा जो कुछ कर सकता था वह यह था कि काम जल्दी निबटे और वह पहले से ज्यादा होशियारी के साथ किया जाय। मैं कोई कहने लायक तबदीली तो करा नहीं सकता था। इसलिए मैं चेयरमैनी से इस्तीफ़ा देना

चाहता था। लेकिन बोर्ड के तमाम मेम्बरों ने मुझपर ज़ोर दिया कि मैं चैयरमैन बना रहूँ। मेरे इन साथियों ने मेरे साथ हमेशा शराफ़त व मेहरबानी का बर्ताव किया था। इस कारण मेरे लिए उनकी बात न मानना मुश्किल हो गया। लेकिन अपनी चेयरमैनी के दूसरे साल के अख़ीर में मैंने इस्तीफ़ा दे ही दिया।

यह १९२५ की बात है। उस साल वसन्त-ऋतु में मेरी पत्नी बहुत बीमार पड़ गई। कई महीनों तक वह लखनऊ के अस्पताल में पड़ी रही। उस साल काँग्रेस कानपुर में हुई थी। मुझे मुद्दत तक दुःखी दिल के साथ कभी इलाहाबाद, कभी कानपुर और कभी लखनऊ तथा वहाँ से वापस चक्कर लगाने पड़े थे। (मैं इन दिनों भी काँग्रेस का प्रधान-मंत्री था।)

डाक्टरों ने सिफ़ारिश की कि कमला का इलाज स्वीज़रलैण्ड में कराया जाय। मुझे यह बात पसंद आई; क्योंकि मैं खुद भी हिन्दुस्तान से बाहर चला जाना चाहता था। मेरा दिमाग़ साफ़ नहीं था। कोई साफ़ रास्ता नहीं दिखाई देता था। मैंने सोचा कि अगर मैं हिन्दुस्तान से दूर पहुँच जाऊँ तो चीज़ों को और अच्छी दृष्टि से देख सकूंगा और अपने दिमाग़ के अन्धेरे कोनों में रोशनी पहुँचा सकूंगा।

मार्च १९२६ के शुरू में हम लोग जहाज में बम्बई से वेनिस के लिए रवाना हुए। मैं, मेरी पत्नी और हमारी बेटी। उसी जहाज में हमारे साथ मेरी बहन और बहनोई रणजीत एस० पण्डित भी गये। उन लोगों ने अपनी योरप-यात्रा का इंतज़ाम हम लोगों के योरप जाने का सवाल पैदा होने से बहुत पहले ही कर रक्खा था।

# २१

## योरप में

मुझे योरप छोड़े तेरह साल से भी ज्यादा हो चुके थे और ये साल लड़ाई और क्रान्ति तथा भारी परिवर्तन के साल थे। जिस पुरानी दुनिया को मैं जानता था वह लड़ाई के खून और उसकी बीभत्सता में डूब चुकी थी और एक नई दुनिया मेरा रास्ता देख रही थी। मुझे उम्मीद थी कि योरप में छः या सात महीना या ज्यादा-से-ज्यादा साल के अखीर तक रह पाऊँगा। लेकिन दरअसल हम लोग वहाँ ठहरे एक साल और नौ महीने।

यह वक्त मेरे शरीर और दिमाग़ दोनों के लिए चैन व आराम का वक़्त था। ज्यादातर हमने यह वक्त स्वीज़रलैण्ड के जिनेवा में और मोन्टाना के पहाड़ी सेनेटोरियम में बिताया था। मेरी छोटी बहन कृष्णा भी १९२६ की गर्मियों के शुरू में हिन्दुस्तान से हमारे पास आ गई और जबतक हम लोग योरप में रहे तबतक हमारे साथ रही। मैं अपनी पत्नी को ज्यादा अर्से के लिए नहीं छोड़ सकता था, इसलिए दूसरी जगहों में मैं बहुत थोड़े वक्त के लिए ही जा सका। कुछ दिनों बाद जब मेरी पत्नी की तबियत कुछ ठीक हो गई तब हम लोगों ने कुछ दिनों तक फ्रांस, इंग्लैण्ड और जर्मनी की सैर की। जिस पहाड़ी की चोटी पर हम लोग ठहरे थे उसके आस-पास चारों ओर बरफ़ थी। वहाँ मैं यह महसूस करता था कि मैं हिन्दुस्तान तथा यूरोपियन संसार से बिलकुल अलहदा हो गया हूँ। हिन्दुस्तान में होनेवाली बातें ख़ास तौर पर बहुत दूर मालूम होती थीं। मैं महज़ दूर से देखने वाला एक तमाशबीन बन गया था जो अखबार पढ़ता था, जो बातें होती थीं उन्हें समझकर उनपर ग़ौर करता था, नये योरप तथा उसकी राजनीति और उसके अर्थशास्त्र तथा उसके कहीं ज्यादा आज़ादाना मानव-सम्बन्धों को देखा करता था। जब मैं जिनेवा में था तब स्वभावतः मुझे राष्ट्र-संघ के कामों में और अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर-दफ्तर में भी दिलचस्पी रही थी।

लेकिन जाड़ा आते ही, जाड़े के खेलों में मेरा मन लग गया। कुछ महीने तक इन खेलों में ही मेरी ख़ास दिलचस्पी रही और इन्हींमें मैं लगा रहा। बरफ़ पर एक क़िस्म के खड़ाऊँ पहनकर तो मैं पहले भी चलता तथा खिसकता था, लेकिन लकड़ी के आठ फीट लम्बे और चार इंच चोड़े ज़ोड़े को पैरों से बाँध कर बरफ़ पर चलने का तजुर्बा मेरे लिए बिलकुल नया था और मैं उसपर मुग्ध हो गया। बहुत दिनों तक तो

मुझे इस खेल में काफी तकलीफ़ मालूम हुई, लेकिन बार-बार गिरने पर भी मैं हिम्मत के साथ जुटा रहा और अखीर में मुझे खूब मज़ा आने लगा।

सब मिलाकर इन दिनों हमारी जिन्दगी में कोई खास घटना नहीं हुई। दिन बीतते गये और धीरे-धीरे मेरी पत्नी ताक़त व तन्दुरुस्ती हासिल करती गई। वहां हम लोगों को बहुत कम हिन्दुस्तानियों से मिलने का मौक़ा मिला। सच बात तो यह है कि उस पहाड़ी बस्ती में रहनेवाले थाड़े-से लोगों को छोड़कर और किसीसे हमें मिलने का मौक़ा नहीं मिला। लेकिन हम लोगों ने योरप में जो एक और तीन-चौथाई साल बिताया उसमें हमें बहुत-से ऐसे पुराने क्रान्तिकारी और हिन्दुस्तान से निकाले हुए भाई मिले जिनके नामों से मैं वाकिफ़ था।

उनमें से श्यामजी कृष्ण वर्मा जिनेवा में एक मकान की सबसे ऊँची मंजिल पर अपनी बीमार पत्नी के साथ रहते थे। ये दोनों बुड्ढे मियाँ-बीबी अकेले ही रहते थे। उनके साथ दिन-भर रहकर काम करनेवाले नौकर न थे, इसलिए उनके कमरे गन्दे पड़े रहते थे, जिनमें दम-सा घुटता था। हर चीज़ के ऊपर धूल की मोटी तह जमी हुई थी। श्यामजी के पास काफ़ी रुपया था, लेकिन वह रुपया खर्च करने में विश्वास नहीं करते थे। वह ट्राम में बैठकर जाने के बदले कुछ पैसे बचा लेना ज्यादा पसन्द करते थे। जो कोई उनसे मिलने जाता उसको वह शक की निगाह से देखते थे और जबतक इसकी उलटी बात साबित न हो जाय तबतक यही मान बैठते थे कि आनेवाले महाशय या तो ब्रिटिश सरकार के एजेन्ट हैं या उनके धन के गाहक हैं। उनकी जेबें उनके 'इण्डियन सोशियॉलोजिस्ट' नाम के अखबार की पुरानी कापियों से भरी रहती थीं। वह उन्हें खींच-कर निकालते और कुछ जोश के साथ उन लेखों को दिखाते जो उन्होंने कोई बारह बरस पहले लिखे थे। वह ज्यादातर पुराने वक्तों की बातें किया करते थे। हैम्स्टीड में इण्डिया-हाउस में क्या हुआ, ब्रिटिश सरकार ने उनके भेद लेने के लिए कौन-कौन शख्स भेजे और उन्होंने किस तरह उन्हें पहचानकर उनको चकमा दिया, आदि। उनके कमरों की दीवारें पुरानी किताबों से भरी अलमारियों से सटी हुई थीं। उन किताबों को पढ़ता-पढ़ाता कोई नहीं था, इसलिए उनपर धूल जमी हुई थी और वे जो कोई वहाँ जा पहुँचता उसकी तरफ़ दुःखभरी निगाहों से देखती-सी मालूम होती थीं। किताबें और अखबार फर्श पर भी इधर-उधर पड़े रहते थे। ऐसा मालूम पड़ता था मानों वे कई दिनों और हफ्तों से, मुमकिन है महीनों से, इसी तरह पड़े हुए हैं। उस तमाम जगह में शोक़ की छाप-सी, ह्रास की हवा-सी छाई हुई थी। जिन्दगी वहाँ ऐसी मालूम पड़ती थी जैसे कोई अनचाहा अजनबी घुस आया हो। अंधेरे और सूनसान बरामदों में चलते हुए ऐसा डर-सा मालूम पड़ता था कि किसी कोने में कहीं

मौत की छाया तो नहीं छिपी हुई है। जानेवाले उस मकान में से निकलकर आराम की लम्बी साँस लेते और बाहर की हवा से खुश होते थे।

श्यामजी अपनी दौलत की बाबत कुछ इन्तज़ाम, पब्लिक के कामों के लिए कोई ट्रस्ट, कर देना चाहते थे। शायद वह विदेशों में शिक्षा पाने वाले हिन्दुस्तानियों के लिए कुछ इन्तज़ाम करना पसन्द करते थे। उन्होंने मुझसे कहा कि मैं भी उनके उस ट्रस्ट का एक ट्रस्टी हो जाऊँ। लेकिन मैंने उस ज़िम्मेदारी को अपने ऊपर लेने की कोई ख्वाहिश नहीं ज़ाहिर की। मैं नहीं चाहता था कि मैं उनके आर्थिक मामलों के चक्कर में फँसूं। इसके अलावा मैंने यह भी महसूस किया कि अगर मैंने कहीं ज़रूरत से ज्यादा दिलचस्पी ज़ाहिर की तो उन्हें फौरन ही यह शक हो जायगा कि उनकी दौलत पर मेरा दाँत है। यह तो किसीको नहीं मालूम था कि उनके पास कितनी दौलत है। यह अफ़वाह भी उड़ी थी कि जर्मनी में सिक्के की क़ीमत गिरने पर उनको बहुत नुक़सान हुआ था।

कभी-कभी नामी-गरामी हिन्दुस्तानी जिनेवा में होकर गुज़रते थे। जो लोग राष्ट्र-संघ में शामिल होने के लिए आते थे, वे तो हाक़िमी क़िस्म के लोग होते थे और यह ज़ाहिर है कि श्यामजी ऐसे लोगों के पास तक नहीं फटक सकते थे। लेकिन मजदूर-दफ्तर में कभी-कभी नामी ग़ैर-सरकारी हिन्दुस्तानी आ जाते थे, जिनमें मशहूर कांग्रेसी भी होते थे। श्यामजी इन लोगों से मिलने की कोशिश करते। श्यामजी से मिलकर उन लोगों पर जो असर होता वह बड़ा ही दिलचस्प होता था। लाज़िमी तौर पर श्यामजी से मिलते ही ये लोग घबरा उठते थे और न सिर्फ़ पब्लिक में ही उनसे मिलने से बचने की कोशिश करते थे, बल्कि खानगी में भी उनसे मिलने के लिए किसी-न-किसी बहाने से माफ़ी माँग लेते थे। वे लोग समझते थे कि श्यामजी से ताल्लुक़ रखने या उनके साथ देखा जाने में खैर नहीं है।

इसलिए श्यामजी और उनकी पत्नी को एकाकी ज़िन्दगी बितानी पड़ती थी। उनके न तो बाल-बच्चे ही थे, न कोई रिश्तेदार या दोस्त ही; उनका कोई साथी भी नहीं था। शायद किसी भी मनुष्य-प्राणी से उनका सम्पर्क नहीं था। वह तो पुराने ज़माने की एक यादगार थे। सचमुच उनका ज़माना गुज़र चुका था। मौजूदा ज़माना उनके लिए मौज़ूं नहीं था। इसलिए दुनिया उनकी तरफ़ से मुंह फेरकर मजे से चली जा रही थी। लेकिन फिर भी उनकी आँखों में पुराना तेज था, और यद्यपि उनमें और मुझमें एक-सी कोई चीज़ नहीं फिर भी उनके प्रति मैं अपनी हमदर्दी व इज्ज़त को नहीं रोक सकता था।

हाल ही में अख़बारों में खबर छपी कि वह मर गये और उनके कुछ दिन बाद

ही वह भली गुजराती महिला भी, जो दूसरे मुल्कों में देश-निकाले में भी ज़िन्दगी-भर उनके साथ रही थी, मर गई। अखबारों की खबरों में यह भी कहा गया था कि उन्होंने (उनकी पत्नी ने) विदेशों में हिन्दुस्तान की औरतों की तालीम के लिए बहुत-सा रुपया छोड़ा है।

एक और मशहूर शख़्स जिनका नाम मैंने अक्सर सुना था लेकिन जो मुझे पहले-पहल स्वीज़रलैण्ड में मिले, राजा महेन्द्रप्रताप थे। उनकी आशावादिता आनन्ददायिनी थी। मेरा ख़याल है कि अब भी वह आशावादी हैं। वह बिलकुल हवा में रहते हैं और असली हालत से क़तई कोई ताल्लुक़ रखने से इन्कार करते हैं। मैंने जब उन्हें पहले-पहल देखा तो थोड़ा-सा चौंक पड़ा। वह एक अजीब तरह की पोशाक पहने हुए थे, जो तिब्बत के ऊँचे मैंदानों के लिए भले ही मौज़ूँ हो या साइबेरिया के मैंदानों में भी, लेकिन वह उन दिनों की गर्मियों में वहां बिलकुल बेमौज़ूँ थी। वह पोशाक एक क़िस्म की आधी फौज़ी पोशाक सी ी। वह ऊँचे रूसी बूट पहने हुए थे और उनके कोट में बहुत-सी बड़ी-बड़ी जेबें थीं जो फोटो तथा अखबार इत्यादि से भरी हुई थी। इन चीज़ों में जर्मनी के चान्सलर बेथमैन हॉलवेग का एक खत था। क़ैसर की एक तस्वीर थी, जिसपर उसके अपने दस्तखत थे। तिब्बत के दलाई लामा का लिखा हुआ भी एक खूबसूरत खर्रा था। इसके अलावा अनगिनत काग़ज़ात और तस्वीरें थीं। उन जेबों में कितनी चीज़ें भरी हुई थीं, यह देखकर हैरत होती थी। उन्होंने हमसे कहा कि एक दफ़ा चीन में उनका एक डिस्पैच-बक्स खो गया, जिसमें उनके बड़े क़ीमती काग़ज़ात भरे हुए थे, तबसे उन्होंने इसीमें ज्यादा सुरक्षितता समझी है कि वह हमेशा अपने काग़ज़ात को अपनी जेबों में ही रखें। इसीसे उन्होंने इतनी ज्यादा जेबें बनवाई थीं।

महेन्द्रप्रतापजी के पास जापान, चीन, तिब्बत और अफ़ग़ानिस्तान की और उन यात्राओं में जो घटनायें हुई उनकी कहानियों की भरमार थी। उनको अपनी ज़िन्दगी तरह-तरह की हालतों में बितानी पड़ी, जिनका हाल बड़ा दिलचस्प था। उस वक्त उनको सबसे ज्यादा जोश "आनन्द-समाज" ( A Happiness Society ) के लिए था, जो खुद उन्होंने क़ायम की थी और जिसका मूल-मंत्र था—"खुश रहो"। मालूम पड़ता है कि इस संस्था को लटाविया ( या लिथुवानिया ) में बहुत कामयाबी मिली।

उनका प्रचार का तरीक़ा यह था कि वह वक्तन-फवक्तन जिनेवा या दूसरी जगह होनेवाली कान्फ्रेन्सों के मेम्बरों के पास पोस्टकार्ड पर छपे हुए अपने बहुत-से सन्देश भेज दिया करते थे। इन पोस्टकार्डों पर उनके दस्तख़त रहते थे, लेकिन जो

नाम रहता था वह विचित्र, लम्बा और विविध। महेन्द्रप्रताप को तो उन्होंने म० प्र० यही रहने दिया था, लेकिन उसके साथ और बहुत-से नाम जोड़ दिये गये थे, जो ज़ाहिरा तौर पर जिन देशों की उन्होंने सैर की थी उनमें से उनके मनचाहे देश के नाम के द्योतक थे। इस तरह वह इस बात पर ज़ोर देते थे कि वह अपने को जाति, मज़हब और क़ौम के बन्धनों से ऊपर समझते हैं। इस विचित्र नाम के नीचे आखिरी विशेषता "मनुष्य-जाति का सेवक" बिलकुल मौजूं था। महेन्द्रप्रताप की बातों को ज्यादा महत्व देना मुश्किल था। वह तो मध्यकालीन उपन्यासों के एक पात्र-से, डॉन क्विज़ोट-से, मालूम होते थे, जो ग़लती से बीसवीं सदी में आ भटके थे। लेकिन वह थे सोलहों आने सच्चे और अपनी धुन के पक्के।

पेरिस में हमने बुढ़िया मैडम कामा को भी देखा। जब हमारे पास आकर उन्होंने हमारे चेहरे की तरफ ग़ौर से देखा, और हमारी तरफ उँगली उठाकर एका-एक हमसे यह पूछा कि आप कौन हैं, तब वह कुछ-कुछ खूँखार और डरावनी-सी मालूम हुई। आपके जवाब से उनके ऊपर कोई असर नहीं पड़ता; शायद उनको इतना ऊँचा सुनाई देता है कि वह आपकी बात सुन ही नहीं पातीं। वह अपनी धारणायें बना लेती हैं, और फिर उन्ही पर अड़ी रहती हैं चाहे वाक्यात उन धारणाओं के खिलाफ़ ही हों।

इनके अलावा मौलवी उबेदुल्ला थे, जो मुझे कुछ वक्त के लिए इटली में मिले। वह मुझे चालाक जँचे, लेकिन उनकी लियाक़त पुराने ज़माने की राजनैतिक चालबाज़ियों में जो होशियारी होती थी वैसी थी। वह नये विचारों के सम्पर्क में न थे। हिन्दुस्तान के 'संयुक्त राज्यों, या 'हिन्दुस्तान के संयुक्त प्रजातन्त्र' की उन्होंने एक स्कीम बनाई थी, जो हिन्दुस्तान की साम्प्रदायिक समस्या को हल करने की एक काफी अच्छी कोशिश थी। उन्होंने इस्ताम्बूल में, जो उन दिनों तक कुस्तुन्तुनिया ही कहलाता था, अपनी कुछ पुरानी हलचलों की बाबत भी मुझसे कुछ कहा, लेकिन उनको मैंने इतना महत्व नहीं दिया, इसीलिए मै जल्दी ही उन सब बातों को भूल गया। कुछ महीने बाद वह लाला लाजपतराय से मिले और ऐसा मालूम पड़ता है कि उन्हें भी उन्होंने वही बातें कह सुनाई। लालाजी पर उनका बहुत असर पड़ा, उससे वह बहुत ही चिन्तित हो गये थे। यहाँतक कि उस साल हिन्दुस्तान की कौंसिलों के चुनाव में उन बातों का बड़ा अहम हिस्सा रहा। उनके बिलकुल अनुचित विचित्र नतीजे तथा मतलब निकाले गये। इसके बाद मौलवी उबेदुल्ला हेजाज चले गये और कई पिछले सालों से मुझे उनकी बाबत कोई खबर नहीं मिली।

उनसे बिलकुल दूसरी क़िस्म के मौलवी बरक़तउल्ला साहब थे। उनसे मैं बर्लिन

मिला। वह बड़े मज़ेदार और बूढ़े थे। बड़े उत्साही और बहुत ही भले। वह बेचारे कुछ सीधे-सादे थे, बहुत तीव्र-बुद्धि न थे। फिर भी वह नये ख़यालात को अपनाने और आजकल की दुनिया को समझने की कोशिश करते थे। १९२७ में सेनफ़्रान्सिसको में उनकी मौत हुई जबकि हम लोग स्वीज़रलैंड में थे। उनकी मौत की ख़बर सुनकर मुझे बहुत रंज हुआ।

बर्लिन में ऐसे बहुत-से लोग थे जिन्होंने लड़ाई के वक्त में हिन्दुस्तानियों का एक दल बना लिया था। वह दल तो बहुत पहले ही टुकड़े-टुकड़े हो गया। उन लोगों की आपस में नहीं बनी और वे एक-दूसरे से लड़ पड़े, क्योंकि हर शख्स दूसरे पर विश्वास-घात करने का शक करता था। ऐसा मालूम होता है कि सब जगह देश से निकाले हुए राजनैतिक कार्यकर्ताओं का यही हाल होता है। बर्लिन के इन हिन्दुस्तानियों में से बहुत-से तो मध्यमश्रेणी के लोगों के उन बैठे-बिठाये पेशों में लग गये। महायुद्ध के बाद जर्मनी में इस तरह के पेशे अक्सर नहीं मिल सकते थे। अब जो उनमें हिलग गये उनमें क्रान्तिकारी-पन का कोई चिन्ह नहीं रहा। यहाँतक कि वे राजनीति से भी दूर रहने लगे।

लड़ाई के ज़माने के इस पुराने दल की कहानी मनोरंजक है। इनमें ज्यादातर तो वे लोग थे जो १९१४ की उन मनहूस गर्मियों में जर्मनी के जुदा-जुदा विश्वविद्यालयों में पढ़ रहे थे। ये लोग जर्मनी के विद्यार्थियों के साथ उन्हींकी-सी जिन्दगी बिताते थे, उनके साथ बियर ( शराब ) पीते थे और उनकी ( जर्मनी की ) संस्कृति को सहानुभूति तथा सम्मान के साथ देखते थे। लड़ाई से उनको कुछ मतलब न था, लेकिन उस वक्त जर्मनी के ऊपर राष्ट्रीय उन्माद का जो तूफान आया उससे वे विचलित हुए बिना नहीं रह सके। उनकी भावना तो वास्तव में ब्रिटिश-विरोधी थी, न कि जर्मनों की पक्षपाती। अपने हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता ने उन्हें ब्रिटेन के दुश्मनों की ओर झुका दिया। लड़ाई शुरू होने के बाद फ़ौरन ही कुछ और थोड़े-से हिन्दुस्तानी, जो इनसे कहीं ज्यादा क्रान्तिकारी थे, स्वीज़रलैंड से जर्मनी में जा पहुँचे। इन लोगों ने अपनी एक कमिटी बना ली और हरदयाल को बुला भेजा। वह उन दिनों संयुक्त राज्य अमेरिका के पश्चिमी किनारे पर थे। हरदयाल कुछ महीने पीछे आ गये, लेकिन इस वक्त तक यह कमिटी काफ़ी महत्त्वपूर्ण हो गई थी। कमिटी पर यह महत्त्व जर्मन-सरकार ने लाद दिया था। जर्मन-सरकार क़ुदरतन यह चाहती थी कि वह तमाम ब्रिटिश-विरोधी जज़बात को अपने फ़ायदे के लिए इस्तैमाल करे। उधर हिन्दुस्तानी यह चाहते थे कि वे अपने क़ौमी मक़सदों को पूरा करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का फ़ायदा उठावें। वें यह नहीं चाहते थे कि महज़ जर्मनी के ही फ़ायदे के लिए अपनेको इस्तै-

माल होने दें। इस मामले में उनकी बहुत चल नहीं सकती थी, लेकिन यह महसूस करते थे कि उनके पास कोई ऐसी चीज़ ज़रूर है जिसे लेने के लिए जर्मन-सरकार बहुत उत्सुक है। इस बात से उन्हें जर्मन-सरकार से सौदा करने को एक हथियार मिल गया। उन्होंने इस बात पर बहुत ज़ोर दिया कि हिन्दुस्तान की आज़ादी का जर्मन-सरकार अहद करे और इत्मीनान दिलाये कि उस अहद पर कायम रहेगी। ऐसा मालूम होता है कि जर्मनी के वैदेशिक दफ्तर ने इन लोगों से बाक़ायदा सुलहनामा किया, जिसमें उन्होंने यह वादा किया कि अगर जर्मन लोगों की फतह हुई तो जर्मन-सरकार हिन्दुस्तान की आज़ादी को मंजूर कर लेगी। इसी अहद और इसी शर्त तथा कई छोटी शर्तों की बुनियाद पर इस हिन्दुस्तानी दल ने यह वादा किया कि हम लड़ाई में जर्मनी की मदद करेंगे। जर्मनी की सरकार हर तरह से इस कमिटी की इज्ज़त करती थी, और उसके प्रतिनिधियों के साथ क़रीब-क़रीब विदेशी राजदूतों की बराबरी का बर्ताव किया जाता था।

बेतजुर्बा नौजवानों के इस छोटे-से दल को यकायक जो इतना महत्व मिल गया, उससे उनमें से कई का सिर फिर गया। वे यह महसूस करने लगे कि हम कोई बहुत बड़ा ऐतिहासिक कार्य कर रहे हैं, वे बहुत ही बड़ी और युगान्तरकारी कार्रवाइयों में लगे हुए हैं। उनमें से बहुतों को बड़े जोशीले मौक़ों का सामना करना पड़ा और वे बाल-बाल बचे। लेकिन लड़ाई के पिछले हिस्से में उनकी अहमियत खुल्लम-खुल्ला कम होने लगी, और उनकी उपेक्षा शुरू हो गई। हरदयाल को, जो अमेरिका से आये थे, बहुत पहले ही सलाम कर लिया गया था। कमिटी से उनकी बिलकुल नहीं बनी, और कमिटी तथा जर्मन सरकार दोनों ही उनको विश्वास पात्र नहीं मानते थे, उन्होंने उन्हें चुपचाप खिसका दिया। कई साल बाद जब १९२६ और १९२७ में मैं योरप में था, तब मुझे यह देखकर अचम्भा हुआ कि योरप में रहनेवाले ज्यादातर हिन्दुस्तानियों के दिलों में हरदयाल के खिलाफ़ कितनी कटुता और कितनी नाराज़गी है। उन दिनों वह स्वीडन में रहते थे। मैं उनसे नहीं मिला।

लड़ाई खत्म होते ही बर्लिनवाली हिन्दुस्तानी कमिटी का बुरी तरह खात्मा हो गया। उन लोगों की तमाम उम्मीदों पर पानी फिर गया था, जिससे उनके लिए जिन्दगी बिलकुल नीरस हो गई थी। उन्होंने बहुत बड़ा जुआ खेला था, और उसमें हार गये थे। लड़ाई के सालों में उन्हें जो महत्त्व मिला, और जैसे बड़े-बड़े वाक़यात हुए, उनके बाद तो हर हालत में जिन्दगी भारभूत मालूम होती। लेकिन उन बेचारों को तो मुंह-मांगे इस तरह की बेफ़िक्री की जिन्दगी भी नहीं नसीब हो सकती थी। वे हिन्दुस्तान में लौट नहीं सकते थे, और लड़ाई के बाद के हारे हुए जर्मनी में रहने के

लिए कोई आराम की जगह थी नही। उन बेचारों को बड़ी मुश्किल का सामना करना पड़ा। उनमें से कुछेक को ब्रिटिश सरकार ने बाद में हिन्दुस्तान में आने की इजाज़त दे दी, लेकिन बहुतों को तो जर्मनी में ही रहना पड़ा। उनकी हालत बड़ी नाज़ुक थी। ज़ाहिर है कि वे किसी भी राज्य के नागरिक न थे। उनके पास वाजिब पासपोर्ट तक नहीं थे। जर्मनी के बाहर तो सफ़र करना मुमकिन था ही नहीं, जर्मनी में रहने में भी बहुतसी मुश्किलें थीं, वे वहाँ की पुलिस की मेहरबानी से ही रह सकते थे। उनकी ज़िन्दगी बहुत ही चिन्ता और मुसीबत से भरी थी। रोज़-बरोज़ उन्हें कोई-न-कोई फ़िक्र सवार रहती थी। हर वक्त उन्हें इसी बात के लिए परेशान रहना पड़ता था, कि क्या खायँ और कैसे जियें ?

१९३३ के शुरू से नाज़ियों के दौर-दौरे ने उनकी बदनसीबी को और भी बढ़ा दिया। अगर वे सोलहों आने नाज़ियों के मत को मान लें तो दूसरी बात है। जो लोग नॉर्डिक नही हैं, और खास तौर पर एशियाई है, ऐसे विदेशियों का आजकल जर्मनी में स्वागत नही होता। उन लोगों को ज्यादा-से-ज्यादा उस वक्त तक वहाँ ठहरने भर दिया जाता है जब तक कि वे ठीक तरह से रहें। हिटलर ने कई बार यह ऐलान किया है कि वह हिन्दुस्तान में ब्रिटेन के साम्राज्यवादी शासन का तरफ़दार है। इसमें शक नही कि यह बात वह ब्रिटेन की सद्भावना प्राप्त करने को कहता है, इसीलिए वह ऐसे किसी हिन्दुस्तानी को शह नहीं देना चाहता जिसने ब्रिटिश सरकार को नाराज़ कर दिया हो।

बर्लिन में हमें जो देश-निकाले हुए हिन्दुस्तानी मिले उनमें से एक चम्पकरमन पिल्ले थे। वह पुराने युद्धकालीन दल के एक मशहूर मेम्बर थे। वह कुछ धूमधाम-पसन्द थे, और नौजवान हिन्दुस्तानियों ने उन्हें एक बुरासा खिताब दे रक्खा था। वह सिर्फ़ राष्ट्रीयता की भाषा में ही सोच सकते थे। किसी भी सवाल को उसके सामाजिक और आर्थिक पहलू से देखने से वह दूर भागते थे। जर्मनी के राष्ट्रवादी 'स्टील हेलमेट्स' से उनकी खूब पटती थी। वह जर्मनी में उन थोड़े-से हिन्दुस्तानियों में से थे, जिनकी नाज़ियों से खूब छनती थी। कुछ महीने हुए, जेल में मैंने खबर पढ़ी कि बर्लिन में उनका देहान्त हो गया।

हिन्दुस्तान के एक मशहूर घराने के वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय बिलकुल दूसरी किस्म के आदमी थे। आम तौर पर लोग उन्हें चट्टो के नाम से जानते थे। वह बहुत ही क़ाबिल और बड़े मज़े के आदमी थे। हमेशा मुसीबतों में रहते। उनके कपड़े बिलकुल फटे-पुराने थे, और अक्सर उन्हें अपने खाने का इन्तजाम करना बहुत ही मुश्किल हो जाता था। लेकिन उनके मज़ाक और उनकी खुशदिली ने उनका साथ कभी नहीं

छोड़ा। जब मैं इंग्लैण्ड में पढ़ रहा था, तब वह मुझसे कुछ साल आगे थे। जब मैं हैरो में दाखिल हुआ, तब वह ऑक्सफोर्ड में थे। तबसे वह कभी हिन्दुस्तान को नहीं लौटे। कभी-कभी घर की याद उनको सताने लगती और वह हिन्दुस्तान को लौटने के लिए व्याकुल हो उठते। उनके तमाम पारिवारिक बन्धन ख़त्म हो चुके थे। और यह तय है कि अगर वह कभी हिन्दुस्तान आये तो फ़ौरन ही वह दुःखी होने लगेंगे, और यह पावेंगे कि यहाँ उनका मेल नहीं मिलता। लेकिन इतने वर्षों के बीत जाने और लम्बे-लम्बे सफ़र करने के बावजूद घर का खिचाव तो रहता ही है। देश से निकाला हुआ कोई भी शख्स अपनी इस बीमारी से, जिसे मैज़िनी आत्मा का तपेदिक' कहता था, नहीं बच सकता।

मैं यह ज़रूर कहूंगा कि मुझे दूसरे मुल्कों में जितने देश-निकाले हुए हिन्दुस्तानी मिले, उनमें ज्यादातर लोगों का मेरे ऊपर अच्छा असर नही पड़ी, यद्यपि मैं उनकी कुर्बानियों की तारीफ़ करता था और जिन वाक़ई और असली मौजूदा मुसीबतों में वे फँसे हुए थे और उन्होंने जो तकलीफ़ें सही थीं और जो सहनी पड़ रही थीं, उनसे मेरी पूरी हमदर्दी थी। मैं उनमें से ज्यादा लोगों से नहीं मिला, क्योंकि उनकी तादाद बहुत काफ़ी है और वे दुनिया-भर में फैले हुए हैं। उनमें से नाम भी तो हमने बहुत कम के सुने हैं, बाक़ी तो हिन्दुस्तान की दुनिया से बिलकुल अलग हो गये हैं और अपने जिन हिन्दुस्तानी भाइयों की खिदमत करने की उन्होंने कोशिश की वे उन्हें भूल गये हैं। उनमें से जिन थोड़े-से लोगों से मैं मिला उनमें वीरेन्द्र चट्टोपाध्याय और एम० एन० राय के बुद्धि-वैभव का मुझपर अच्छा असर पड़ा। राय से मैं कोई आध घण्टे तक मास्को में मिला था। उन दिनों वह प्रमुख कम्यूनिस्ट थे, लेकिन कम्यूनिस्ट इंटर-नेशनल ब्रांड के कट्टर कम्यूनिज्म से बाद के उनके कम्यूनिज्म में फर्क़ हो गया था। मैं समझता हूं कि चट्टो बाकायदा कम्यूनिस्ट न थे, सिर्फ उनका झुकाव कम्यूनिज्म की तरफ था। अब तो राय को हिन्दुस्तानी जेलों में पड़े हुए तीन साल से भी ज्यादा हो गये हैं।

इनके अलावा और भी बहुत-से हिन्दुस्तानी थे जो योरप के मुल्कों में घूमते-फिरते थे। ये लोग क्रान्तिकारियों की ज़बान में बात-चीत करते, बड़े-बड़े जीवट की और अजीब बातें सुझाते, कौतूहल-भरे विचित्र सवाल पूछते। ऐसा मालूम पड़ता था कि इन लोगों पर ब्रिटिश सीक्रेट सर्विस ( खुफिया महकमे ) की छाप लगी हुई थी।

हाँ, हम बहुतसे यूरोपियनों और अमेरिकनों से भी मिले। जिनेवा से हम कई बार वील न···व में रोमा रोलां को देखने के लिए विला ऑल्गा गये। उनके पास पहली मर्त्तबा जाते वक़्त हम गांधीजी से परिचय-पत्र लेते गये थे। एक नौजवान जर्मन कवि

और नाटककार की याद भी मैं बहुत बहुमूल्य समझता हूँ। इसका नाम था अर्न्स्ट टॉलर। अब नाज़ियों के शासन में वह जर्मन नहीं रहा। यही बात न्यूयार्क के नागरिक-स्वाधीनता-संघ के रोजर बाल्डविन के लिए है। जिनेवा में नामी लेखक धनगोपाल मुकर्जी से भी हमारी दोस्ती हो गई थी। वह अमेरिका में बस गये हैं।

योरप जाने से पहले मैं हिन्दुस्तान में फ़्रेंक बुशमैन से मिला था। यह आक्सफोर्ड-ग्रूप-मूवमेंट के हैं। इन्होंने अपनी हलचल के सम्बन्ध में कुछ साहित्य मुझे दिया। उसे पढ़कर मुझे बड़ा अश्चर्य हुआ। यकायक मज़हब बदल देना या गुनाहों का इक़बाल करते फिरना और आम तौर पर धर्म का पुनरुद्धार करना मेरी निगाह में ऐसी बातें हैं जिनका बुद्धि-वाद के साथ मेल नहीं खाता। मैं यह नहीं समझ सका कि जो शख़्श ज़ाहिरा तौर पर साफ़-साफ़ बुद्धिमान मालूम होते थे वे ऐसे अजीब मनोभावों के शिकार कैसे हो जाते हैं। और उनपर इन मनोविकारों का इस हद तक असर कैसे पड़ जाता है? मेरा कौतूहल बढ़ा। जिनेवा में फ़्रेंक बुशमैन मुझे फ़िर मिले और उन्होंने मुझे न्यौता दिया कि रूमानिया में उनकी जो अन्तर्राष्ट्रीय गृह-पार्टी होनेवाली है उसमें मैं शामिल होऊँ। मुझे अफसोस है कि मैं वहाँ नहीं जा सका और नज़दीक से इस नई भावपूर्णता को नही देख सका। इस तरह मेरा कौतूहल अभीतक अतृप्त ही है और मैं इस आक्सफोर्ड-ग्रूप-मूवमेंट की बढ़ती की जितनी खबरें पढ़ता हूँ उतना ही आश्चर्य करता हूँ।

# २२

## आपसी मतभेद

हमारे स्वीज़रलैण्ड में पहुँचने के बाद फ़ौरन ही इंग्लैण्ड में आम अड़ताल हो गई थी, जिससे मुझे बहुत उत्तेजना हुई। मेरी हमदर्दी पूरी तरह हड़तालियों के साथ थी। कुछ दिनों के बाद जब हड़ताल बुरी तरह खत्म हुई तब मुझे ऐसा मालूम पड़ा मानों खुद मुझपर चोट पड़ी है। कुछ महीने बाद मुझे कुछ दिनों के लिए इंग्लैण्ड जाने का मौका मिला। वहाँ कोयले की खानों के मज़दूरों की लड़ाई अभीतक चल रही थी और रात में लन्दन आधे अन्धेरे-से में रहता था। एक खान में भी मैं कुछ समय के लिए गया। मेरा ख़याल है कि वह जगह डरबीशायर में होगी। मर्दों, औरतों और बच्चों के पीले और पिचके हुए चेहरे मैंने अपनी आंखों से देखे। इससे भी ज्यादा आंखें खोलनेवाली बात यह हुई कि मैंने हड़ताल करनेवाले मज़दूरों और उनकी औरतों पर मुकामी और काउण्टी की आदालतों में मुक़दमे चलते हुए देखे। इन अदालतों के मजिट्रेट खुद उन कोयलों की खानों के डायरेक्टर या मैनेजर थे। उन्हीं-की अदालतों में मज़दूरों का मुक़दमा हुआ और उन्हें ज़रा-ज़रा-से जुर्मों के लिए कुछ खास तौर पर बनाये गये क़ानूनों के मुताबिक़ सजा दे दी जाती थी। एक मुक़दमे से मुझे खास तौर पर गुस्सा आया। अदालत के कटघरे में तीन या चार औरतें ऐसी लाई गई जिनकी गोद में बच्चे थे। उनका जुर्म यह था कि उन्होने हड़ताल करनेवालों की जगह पर काम करने आनेवाले मज़दूर-द्रोहियों को धिक्कारा था। ये नौजवान मातायें और उनके नन्हें-नन्हें बच्चे दुखी हैं और उन्हें भरपेट भोजन नहीं मिलता, यह बात साफ़-साफ़ दिखाई देती थी। लम्बी लड़ाई से वे बहुत ही कमज़ोर हो गई थी। उनकी हालत बहुत बिगड़ गई थी। उनमें उन मज़दूर-द्रोहियों के प्रति कटुता आ गई थी जो उनके मुंह का कौर छीनते हुए मालूम होते थे।

अमीर श्रेणी के लोग ग़रीब दर्जे के लोगों के साथ कैसा इन्साफ़ करते हैं इसकी बाबत अक्सर हम लोग बहुत-सी बातें पढ़ा करते हैं; और हिन्दुस्तान में तो इस तरह के इन्साफ़ों के किस्से रोज़मर्रा की बातें है। लेकिन, किसी वजह से हो, मैं यह उम्मीद नहीं करता था कि इंग्लैण्ड में भी ऐसे 'इन्साफ' का इतना बुरा नमूना मुझे देखने को मिलेगा। इस वजह से उससे मेरे मन में भारी धक्का लगा। एक और बात जिसे देखकर मुझे कुछ अचरज हुआ यह थी कि हड़ताल करनेवालों में भय का वातावरण फैला हुआ था। निश्चित रूप से पुलिस और हाकिमों ने उन्हें बुरी तरह डरा

दिया था जिससे वे बेचारे सब बातों को, मैं समझता हूँ कि उनके साथ जो बेइज्जती का वर्ताव किया जाता था उसे भी, चुपचाप सह लेते थे। यह सही है कि एक लम्बी लड़ाई के बाद वे बुरी तरह थक गये थे। उनकी हिम्मत उनका साथ छोड़ने को ही थी। दूसरे मज़दूर-संघों के उनके साथी मज़दूरों ने उनका साथ छोड़ ही दिया था। लेकिन ग़रीब हिन्दुस्तानी मज़दूरों के मुक़ाबिले में फिर भी दुनिया-भर का फ़र्क़ था। ब्रिटिश खानों के मज़दूरों का संगठन तो अभीतक बहुत मज़बूत था। सचमुच मुल्क-भर के मज़दूरों की ही नहीं, दुनिया-भर के मज़दूर-संघों की हमदर्दी उनके साथ थी। उनके विषय में काफ़ी प्रचार हो रहा था। इसके अलावा भी उनके पास तरह-तरह के साधन थे। हिन्दुस्तानी मज़दूरों को इनमें से एक भी बात नसीब नहीं। लेकिन फिर भी दोनों मुल्कों के मज़दूरों की उस डर-भरी, भयभीत, निगाह में अजीब एकसापन था।

उस साल हिन्दुस्तान में असेम्बली और प्रान्तीय कौंसिलों का हर तीसरे साल होनेवाला चुनाव था। मुझे उन चुनावों में कोई दिलचस्पी नही थी, लेकिन वहाँ जो घमासान वाग्युद्ध हुआ उसकी कुछ आवाज़ें स्वीज़रलैण्ड में भी पहुँच गई। स्वराज-पार्टी इन दिनों तक कौंसिलों में बाक़ायदा कांग्रेस-पार्टी हो गई थी। इसकी मुखालिफत करने के लिए, मुझे मालूम हुआ कि, पं० मदनमोहन मालवीय और लाला लाजपतराय ने एक नई पार्टी बनाई थी। इस पार्टी का नाम रक्खा गया था नेशनलिस्ट-पार्टी। मेरी समझ में यह नहीं आया और अभीतक मैं नहीं समझ सका कि नई पार्टी और पुरानी पार्टी में किन बुनियादी उसूलों का फ़र्क था। सच बात तो यह है कि आजकल कौंसिलों की ज्यादातर पार्टियो में कोई कहने लायक फ़र्क नहीं है—उतना ही फ़र्क है जितना ईसरी और ईमरिया के नामों में। कोई असली उसूल उन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं करता था। स्वराज-पार्टी ने पहले-पहल कौंसिलों में एक नया और लड़ाकू रुख अख़्त्यार किया और दूसरों के मुक़ाबिले में वह ज्यादा गरम नीति से काम लेने की पक्ष-पाती थी। लेकिन यह फ़र्क तो मात्रा का फ़र्क था, क़िस्म का नही।

नई नेशनलिस्ट-पार्टी अधिक माडरेट यानी नरम दृष्टि-कोण की प्रतिनिधि थी। वह निश्चित रूपसे स्वराज-पार्टी से ज्यादा सरकार की ओर झुकी हुई थी इसके अलावा वह सोलहों आने हिन्दू-पार्टी भी थी, जो हिन्दू-सभा के घनिष्ठ सहयोग के साथ काम करती थी। पं० मालवीयजी का इस पार्टी का नेतृत्व करना तो आसानी से समझ में आ सकता था, क्योंकि वह उनके सार्वजनिक रुख को अधिक-से-अधिक प्रदर्शित करती थी। पुराने ताल्लुक़ात की वजह से वह कांग्रेस में जरूर बने हुए थे, लेकिन उनका दिमाग़ी दृष्टि-कोण लिबरलों या माडरेटों के दृष्टि-कोण

से ज्यादा भिन्न न था। कांग्रेस ने असहयोग और सीधी लड़ाई के जो नये ढ़ंग अख्त्यार किये थे, वे उन्हें पसंद न थे। कांग्रेस की नीति को तय करने में भी उनका कोई खास हाथ न था। यद्यपि लोग उनकी बड़ी इज्जत करते थे और कॉंग्रेस में हमेशा उनका स्वागत किया जाता था, लेकिन दरअसल वह नई काग्रेस के नही थे। वह उसकी छोटी कार्य-कारिणी,—कार्य-समिति—के मेम्बर नहीं थे और वह काग्रेस के आदेशों पर भी अमल नहीं करते थे, खासकर उन आदेशों पर जो कौसिलों के बारे में दिये जाते थे। वह हिन्दू-सभा के सबसे ज्यादा लोकप्रिय नेता थे, और हिन्दू-मुसलमानों के मामलों में उनकी नीति कांग्रेस की नीति से जुदा थी। कांग्रेस के प्रति उनको वैसी ही भावुकता-पूर्ण आसक्ति थी, जैसी किसी एक संस्था से किसीका करीब-करीब शुरू से ही सम्बन्ध होने पर हो जाती है। कुछ हद तक इसलिए भी उन्हें कॉंग्रेस से प्रेम था, क्योंकि आजादी की लड़ाई की दशा में भी उनकी भावुकता उन्हें खीच ले जाती थी और वह यह देखते थे कि कॉंग्रेस ही एक ऐसी संस्था है जो उसके लिए कोई कारगर काम कर रही है। इन वजहों से उनका दिल अक्सर कॉंग्रेस के साथ रहता था, खास तौर पर लड़ाई के वक्त में; लेकिन उनका दिमाग दूसरे कैम्पों में था। लाज़िमी तौर पर इसका नतीजा यह हुआ कि खुद उनके भीतर लगातार एक अन्तर्द्वन्द्व होता रहता था। कभी-कभी वह एक-दूसरे के खिलाफ़ दिशाओं में, पूर्व-पश्चिम दोनों तरफ़, एकसाथ चलने की कोशिश करते थे। नतीजा यह होता था कि लोगों की बुद्धि गड़बड़ी में पड़ जाती थी। लेकिन राष्ट्रीयता ऐसी गोलमालों की खिचड़ियों से ही भरी हुई है और मालवीयजी केवल नेशनलिस्ट है, सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों से उनका कोई वास्ता नहीं। वह पुराने कट्टर पंथ के समर्थक थे और हैं। सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से वह सनातनधर्म के माननेवाले हैं। हिन्दुस्तानी राजे, ताल्लुक़ेदार तथा बड़े-बड़े ज़मींदार ठीक ही उन्हें अपना हितचिन्तक और मित्र समझते है। वह सिर्फ एक ही तब्दीली चाहते हैं, पर उसे ज़रूर तेहेदिल से चाहते हैं। वह है हिन्दुस्तान से विदेशी शासन का क़तई हट जाना। उन्होने अपनी जवानी में जो कुछ पढ़ा और जो राजनैतिक तालीम पाई थी उसका अब भी उनके दिमाग़ पर बहुत असर है और वह लड़ाई के बाद की, बीसवीं सदी की, सजीव और क्रान्तिकारी दुनिया को अर्ध स्थिर उन्नीसवीं सदी के चश्मे से, टी० एच० ग्रीन और जान स्टुअर्ट मिल और ग्लैडस्टन व मॉर्ले की निगाहों से तथा हिन्दू-संस्कृति और समाज-विज्ञान के तीन-चार वर्ष पुराने पृष्ठ-भाग से, देखते हैं। यह एक विचित्र मेल है, जिसमें परस्पर-विरोधी बातें भरी हुई है। लेकिन परस्पर-विरोधी बातों को हल करने की अपनी खुद की शक्ति में उनका विश्वास आश्चर्य-जनक है। उठती जवानी

से ही विविध क्षेत्रों में उनके द्वारा भारी सार्वजनिक सेवायें होती आई हैं। काशी-हिन्दू-विश्व-विद्यालय जैसी विशाल संस्था क़ायम करने में उन्होंने कामयाबी हासिल की है। उनकी सचाई और उनकी लगन बिलकुल साफ़ दिखाई देती है। उनकी भाषण-शक्ति बहुत ही बा-असर है। उनका स्वभाव मीठा है और उनका व्यक्तित्व दिल को अपनी तरफ़ कर लेनेवाला है। इन सब बातों से हिन्दुस्तान के लोगों को, खास तौर पर हिन्दुओं को, वह बहुत प्यारे हैं, और यद्यपि बहुत-से लोग राजनीति में उनसे सहमत नहीं हैं, न उनके पीछे ही चलते हैं, लेकिन वह उनसे प्रेम तथा उनकी इज्ज़त ज़रूर करते हैं। अपनी अवस्था और बहुत लम्बी सार्वजनिक सेवा की वजह से वह हिन्दुस्तान की राजनीति के नेस्टर या वृद्ध वशिष्ठ हैं, लेकिन ऐसे, जो समय से पीछे मालूम देते हैं और जो आजकल की दुनिया से बिलकुल अलग-से हैं। उनकी आवाज़ की तरफ़ लोगों का ध्यान अब भी जाता है, लेकिन वह जो भाषा बोलते हैं उसे अब बहुत से लोग न तो समझते ही हैं न उसकी परवाह ही करते हैं।

इन बातों से मालवीयजी के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह स्वराज-पार्टी में शामिल न होते। वह पार्टी राजनैतिक दृष्टि से उनके लिए बहुत ज्यादा आगे बढ़ी हुई थी, और उसमें कांग्रेस की नीति पर डटे रहने का कड़ा अनुशासन ज़रूरी था। वह चाहते थे कि कोई ऐसी पार्टी हो जो ज्यादातर उग्र न हो और जिसमें राजनैतिक और फिरकेवाराना दोनों मामलों में मन-मुताबिक काम करने की ज्यादा छूट मिले। ये दोनों बातें उन्हें उस नई पार्टी में मिल गई जिसके वह जन्मदाता और नेता थे।

लेकिन यह बात आसानी से समझ में नहीं आती कि लाला लाजपतराय क्यों नई पार्टी में शामिल हुए, यद्यपि उनका झुकाव भी कुछ-कुछ नरम और ज्यादा फिरकेवाराना नीति की तरफ़ था। उस साल गर्मियों में मैं जिनेवा में लालाजी से मिला था और मुझसे उनकी जो बातें वहाँ हुई उनसे तो यह नहीं मालूम पड़ता था कि वह कांग्रेस-पार्टी के खिलाफ़ लड़ाकू रुख अख्त्यार करेंगे। यह क्यों हुआ, इस बात का अभीतक मुझे कुछ पता नही। लेकिन चुनाव की लड़ाई के दौरान में उन्होंने कुछ स्पष्ट इलज़ाम लगाये, जिनसे यह पता चल जाता है कि उनके मन में क्या-क्या चल रहा था। उन्होंने कांग्रेस के नेताओं पर यह इलज़ाम लगाया कि वे हिन्दुस्तान से बाहर के लोगों के साथ साजिश कर रहे हैं। उन्होंने एक इलज़ाम यह भी लगाया कि काबुल में कांग्रेस की शाखा खोलकर इन्होंने कुछ साजिश की है। मेरा ख़याल है कि उन्होंने अपने इन इलज़ामों की बाबत कोई खास बात कभी नहीं बताई। बार-बार प्रार्थना करने पर भी वह तफ़सील में कोई सबूत न दे सके।

मुझे याद है कि जब मैंने स्वीज़रलैण्ड में हिन्दुस्तानी अखबारों में लालाजी के

इलज़ामों को पढ़ा तो मैं दंग रह गया। कांग्रेस के मंत्री की हैसियत से मैं कांग्रेस की बाबत सब बातें जानता था। काबुल की कांग्रेस-कमिटी का कांग्रेस से सम्बन्ध कराने मे मेरा अपना हाथ था। उसकी शुरुआत देशबन्धु दास ने की थी। यद्यपि मुझे उस वक्त यह नही मालूम था, अब भी नही मालूम है, कि लालाजी के पास उन इलज़ामों की क्या तफसील थी, फिर भी मैं उनके स्वरूप को देखकर यह कह सकता हूँ कि जहाँतक कांग्रेस से ताल्लुक है इन इलज़ामों की कोई बुनियाद नहीं हो सकती। मैं नहीं जानता कि इस मामले में लालाजी कैसे गुमराह हो गये। मुमकिन है कि तरह-तरह की अफ़वाहों का उन्होंने एतबार कर लिया हो, और मेरा ख़याल है कि हालही में मौलवी उबेदुल्ला के साथ उनकी जो बातचीत हुई थी उससे उनके ऊपर ज़रूर असर पड़ा होगा। हालाकि उस बातचीत में मुझे कोई बात ऐसी गैर-मामूली नहीं मालूम होती थी, लेकिन चुनाव के वक्त मे ग़ैरमामूली हालत पैदा हो जाती है। उनमें एक ऐसी अजीब बात होती है कि लोगों का मिज़ाज बिगड़ जाता है और वे मामूली पैमानों के मुताबिक काम नही करते। इन चुनावों को मैं जितना ही ज्यादा देखता हूँ उतनी ही ज्यादा मेरी हैरत बढ़ती जाती है, और मेरे मन में उनके खिलाफ़ एक ऐसी अरुचि पैदा हो रही है जो लोकतंत्री भाव के क़तई खिलाफ है।

लेकिन, शिकायतों की बात जाने दीजिए, मुल्क के बढ़ते हुए फिरकेवाराना मिज़ाज को देखकर, नैशनलिस्ट-पार्टी का या ऐसी ही किसी और पार्टी का खड़ा होना लाज़िमी था। एक तरफ मुसलमानों के दिलों में हिन्दुओं की ज्यादा तादाद का डर था, दूसरी तरफ हिन्दुओं के दिलों में इस बात पर बहुत नाराज़गी थी कि मुसलमान उनपर धौस जमाते है। बहुत-से हिन्दू यह महसूस करते थे कि मुसलमानो का रुख बहुत-कुछ 'जो-कुछ पास पल्ले है उसे रख दे नही तो ठीक कर दूँगा' जैसा है और वे दूसरी तरफ़ सरकार की तरफ़ मिलने की धमकी देकर ज़बरदस्ती खास रिआयतें ले लेने की भी बहुत ज्यादा कोशिश करते थे। इसी वजह से हिन्दू-महासभा को कुछ अहमियत मिल गई, क्योंकि वह हिन्दू-राष्ट्रीयता की प्रतिनिधि थी। अब हिन्दुओं की हिन्दू-साम्प्रदायिकता मुसलमानों की साम्प्रदायिकता के मुक़ाबिले पर आ डटी थी। महासभा की लड़ाकू हरकतों का यह नतीजा हुआ कि मुसलमानों की यह साम्प्रदायिकता और भी ज़ोर पकड़ गई। इसी तरह घात-प्रतिघात होता रहा और इस प्रक्रिया में मुल्क का फिरकेवाराना पारा बहुत चढ़ गया। ख़ास तौर पर यह सवाल देश के अल्पसंख्यक दल और बहुसंख्यक दल क झगड़े का सवाल था। लेकिन अजीब बात तो यह थी कि मुल्क के कुछ हिस्सों में बात बिलकुल उलटी थी। पंजाब और सिन्ध में हिन्दू और सिक्ख दोनों की तादाद मिलकर भी मुसलमानों से कम थी। और इन सूबों के अल्प-

संख्यक हिन्दू और सिक्खों को भी वैर-भाव रखनेवाली बहुसंख्या से कुचले जाने का उतना ही डर था जितना मुसलमानों को हिन्दुस्तान के दूसरे सूबों में। या अगर बिलकुल ठीक-ठीक बात कही जाय तो यों कहिए कि दोनों दलों के मध्यश्रेणी वाले नौकरी की फिराक में लगे हुए लोगों को यह डर था कि कहीं ऐसा न हो जाय कि नौकरियाँ मिलने ही न पावें; और कुछ हद तक स्थापित स्वार्थ रखनेवाले ज़मीदारों और साहूकारों वगैरा को यह डर था कि कहीं ऐसे आमूल परिवर्तन न कर दिये जायँ जिसमें हमारे स्वार्थों का सत्यानाश हो जाय।

साम्प्रदायिकता की इस बढ़ती से स्वराज-पार्टी को बहुत नुकसान पहुँचा। उसके कुछ मुसलमान मेम्बर उसे छोड़कर चले गये ओर मुसलमानों की फिरके-वाराना जमातों में जा मिले, और उसके कुछ हिन्दू मेम्बर खिसककर नैशनलिस्ट-पार्टी में जा मिले। जहाँतक हिन्दू लीडरों से ताल्लुक़ था, मालवीयजी और लाला लाजपतराय का मेल बहुत ताक़तवर मुक़ाबिला था और साम्प्रदायिकता के तूफ़ान के केन्द्र पंजाब में उनका बहुत असर था। स्वराज-पार्टी या कांग्रेस की तरफ़ चुनाव लड़ने का खास बोझ मेरे पिताजी के ऊपर पड़ा। उस बोझ को उनसे बँटाने के लिए देशबन्धु दास भी अब नहीं रहे थे। उन्हें लड़ाई में मज़ा आता था। किसी भी हालत में वह लड़ाई से जी नहीं चुराते थे, और मुखालिफ़ की ताक़त को बढ़ते हुए देखकर उन्होंने चुनाव की लड़ाई में अपनी तमाम ताक़त लगा दी। उन्होंने गहरी चोटें खाई और दी। दोनों पार्टियों में से किसीने भी किसीका कुछ लिहाज़ नहीं किया। शिष्टता भी छोड़ दी। इस चुनाव के पीछे भी उसकी याद बड़ी कड़वी बनी रही।

नैशनलिस्ट पार्टी को बहुत काफी मात्रा में कामयाबी मिली। लेकिन इस काम-याबी ने निश्चित रूप से असेम्बली के राजनैतिक लहजे को नीचा कर दिया। आकर्षण-केन्द्र और भी ज्यादा नरम पक्ष की ओर चला गया। स्वराज-पार्टी खुद कांग्रेस का नरम पक्ष था। अपनी ताक़त बढ़ाने के लिए उसने बहुत-से संदिग्ध लोगों को पार्टी में घुस आने दिया। इस वजह से उसकी श्रेष्ठता में कमी हो गई। नैशनलिस्ट-पार्टी ने और भी नीचे जाकर उसी नीति से काम लिया। ख़िताबधारी लोगों, बड़े ज़मीदारों, मिल-मालिकों तथा दूसरे लोगों का एक अजीब भानमती का पिटारा उसमें आ इकट्ठा हुआ। इन लोगों का भला राजनीति से क्या ताल्लुक़?

उस साल १९२६ के अख़ीर में हिन्दुस्तान में एक भारी दुःखद घटना से अंधेरा-सा छा गया। इस घटना से हिन्दुस्तान भर घृणा व रोष से काँप उठा। उससे पता चलता था कि फिरकेवाराना जोश हमारे लोगों को कितना नीचे गिरा सकता था। स्वामी श्रद्धानन्द को, जबकि वह बीमारी से चारपाई पर पड़े हुए थे,

एक मज़हब के अन्धे ने क़त्ल कर दिया। जिस पुरुष ने गोरखों की संगीनों के सामने अपनी छाती खोल दी थी और उनकी गोलियों का सामना किया था उसकी ऐसी मौत ! क़रीब-क़रीब आठ बरस पहले इसी आर्य-समाजी नेता ने दिल्ली की विशाल जामा मसजिद की वेदी पर खड़े होकर हिन्दुओं और मुसलमानों की एक बहुत बड़ी जमात को एके का और हिन्दुस्तान की आज़ादी का उपदेश दिया था। उस विशाल भीड़ ने 'हिन्दू-मुसलमानों की जय' के शोर से उनका स्वागत किया था और मसजिद से बाहर गलियों में उन्होंने उस ध्वनि को अपने खून की एक शामिल मुहर लगादी थी। और अब अपने ही देश-भाई द्वारा मारे जाकर उनके प्राण पखेरू उड़ गये ! हत्यारा यह समझता था कि वह एक ऐसा अच्छा काम कर रहा है जो उसे बहिश्त को ले जायगा।

विशुद्ध शारीरिक साहस का, किसी भी अच्छे काम में शारीरिक तकलीफ़ सहने और मौत तक की परवाह न करनेवाली हिम्मत का, मैं हमेशा से प्रसंशक रहा हूँ। मेरा ख़याल है कि हममें से ज्यादातर लोग उस तरह की हिम्मत की तारीफ़ करते हैं। स्वामी श्रद्धानन्द में इस निडरता की मात्रा आश्चर्यजनक थी। लम्बा क़द, शाही शक्ल, संन्यासी के वेश में बहुत उमर हो जाने पर भी बिलकुल सीधी चमकती हुई आँखे और चेहरे पर कभी-कभी दूसरों की कमज़ोरियों पर आनेवाली चिड़चिड़ाहट या गुस्से की छाया का गुजरना, मैं इस सजीव तस्वीर को कैसे भूल सकता हूँ ? अक्सर वह मेरी आँखों के सामने आ जाती है।

# २३

## ब्रसेल्स में पीड़ितों की सभा

१९२६ के अखीर में मैं इत्तिफ़ाक़ से बर्लिन में था और वहीं मुझे यह मालूम हुआ कि हाल ही में ब्रसेल्स शहर में पददलित क़ौमों की एक कान्फ्रेंस होनेवाली है। यह खयाल मुझे बहुत पसन्द आया और मैंने घर यानी हिन्दुस्तान को लिखा कि कांग्रेस को ब्रसेल्स-काँग्रेस में अधिकारी-रूप से हिस्सा लेना चाहिए। कांग्रेस ने मेरी यह बात पसन्द की और मुझे ब्रसेल्स-कान्फ्रेंस के लिए हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय महासभा का प्रतिनिधि बना दिया गया।

ब्रसेल्स की यह कांग्रेस १९२७ की फरवरी के शुरू में हुई। मुझे पता नहीं कि यह खयाल पहले-पहल किसको सूझा ? उन दिनों बर्लिन एक ऐसा केन्द्र था जो देशनिकाले हुए राजनैतिक लोगों और दूसरे मुल्कों के उग्र विचार के लोगों को अपनी तरफ खींचता था। इस मामले में बर्लिन धीरे-धीरे पेरिस के बराबर पहुँच रहा था। वहाँ कम्यूनिस्ट-दल भी काफ़ी मज़बूत था। पददलित कौमों में आपस में तथा इन कौमों में और मज़दूर उग्र-दलों में एक-दूसरे के साथ मिलकर सयुक्त रूप से कुछ काम करने का खयाल उन दिनों लोगों में फैला हुआ था। लोग अधिकाधिक यह महसूस करते जाते थे कि साम्राज्य वाद नाम की चीज़ के खिलाफ़ आज़ादी की लड़ाई सबके लिए एक-सी है, इसलिए यह मुनासिब मालूम होता है कि इस लड़ाई की बाबत मिलकर ग़ौर किया जाय और जहाँ हो सके वहाँ मिलकर काम करने की कोशिश भी की जाय। इंग्लैण्ड, फ्रान्स, इटली वग़ैरा जिन राष्ट्रों के पास उपनिवेश थे वे कुदरतन इस बात के ख़िलाफ़ थे कि ऐसी कोई कोशिश की जाय। लेकिन लड़ाई के बाद जर्मनी के पास तो उपनिवेश रहे नहीं थे, इसलिए जर्मनी की सरकार दूसरी ताक़तों के उपनिवेशों और आधीन देशों में आन्दोलन की इस बढ़ती को एक हितैषी की तटस्थता से देखती थी। यह उन कारणों में से एक था जिसने बर्लिन को एक केन्द्र बना दिया था। उन लोगों में सब से ज्यादा मशहूर व क्रियाशील वे चीनी थे जो वहाँ क्यूमिनटेंग-पार्टी के गरमदल के थे। यह पार्टी उन दिनों चीन में तूफान की तरह जीतती जा रही थी और उसकी बेरोक गति के आगे पुराने ज़माने की ज़मींदारियाँ वग़ैरा ज़मीन में लुढ़कती नज़र आ रही थीं। चीन के इस नये चमत्कार के सामने साम्राज्यवादी ताक़तों ने भी अपनी तानाशाही आदतों को और धौंस-डपट को छोड़ दिया था। ऐसा मालूम पड़ता था कि अब चीन के एके और उसकी आज़ादी के मसले के हल हो जाने में ज्यादा देर नहीं

लगेगी। क्यूमिनटेंग खुशी से फूलकर कुप्पा हो गई थी। लेकिन उसके सामने जो मुश्किलें आने को थीं उन्हें भी वह जानती थी। इसलिए वह अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार द्वारा अपनी ताक़त बढ़ाना चाहती थी। ग़ालिबन इस पार्टी के बायें दल के लोगों ने ही जो दूसरे मुल्कों के क़म्यूनिस्टों या कम्यूनिस्टों से मिलते-जुलते लोगों से मिलकर काम करते थे इस तरह के प्रचार पर ज़ोर दिया था, जिससे वे दूसरे मुल्कों में चीन की राष्ट्रीय परिस्थिति को और घर पर पार्टी में अपनी स्थिति को मज़बूत कर सकें। उस वक्त पार्टी ऐसे दो या तीन परस्पर प्रतिस्पर्धी और कट्टर शत्रु-दलों में नहीं बँट गई थी। उस वक्त वह बाहर से देखनेवाले सब लोगों को संयुक्त सामना करती हुई मालूम होती थी।

इसलिए क्यूमिनटेंग के यूरोपियन प्रतिनिधियों ने पद-दलित कौमों की कान्फ्रेंस करने के ख़याल का स्वागत किया, शायद उन्होंने ही कुछ और लोगों से मिलकर इस ख़याल को पहले-पहल जन्म दिया। कुछ कम्यूनिस्ट और कम्यूनिस्टों से मिलते-जुलते लोग भी शुरू से इस ख़याल के समर्थक थे, लेकिन कुल मिलाकर कम्यूनिस्ट लोग कान्फ्रेंस के मामले में अलग, पीछे ही रहे। लेटिन अमेरिका से भी क्रियात्मक मदद और सहायता आई, क्योंकि उन दिनों वह संयुक्तराज्य के आर्थिक साम्राज्यवाद के मारे कुड़मुड़ा रहा था। मैक्सिको की नीति उग्र थी उसका सभापति भी उग्र दल का था। वह इस बात के लिए उत्सुक था कि संयुक्तराज्य के ख़िलाफ़ लेटिन अमेरिका के गुट्ट की रहनुमाई करे। इसलिए मैक्सिको ने ब्रसेल्स कांग्रेस में बड़ी दिलचस्पी ली। वहाँकी सरकार एक सरकार की हैसियत से तो कांग्रेस में हिस्सा नहीं ले सकती थी, लेकिन उसने अपने एक प्रमुख राजनीतिज्ञ को भेजा कि वहाँ वह एक हितैषी दर्शक ही हैसियत से मौजूद रहे।

ब्रसेल्स में जावा, इण्डो चाइना, फिलस्तीन, सीरिया, मिश्र, उत्तरी अफ्रीका के अरब और अफ्रीका के हब्शी लोगों की कौमी संस्थाओं के प्रतिनिधि भी मौजूद थे। इसके अलावा बहुत-से मज़दूरों के उग्रदलों ने भी अपने प्रतिनिधि भेजे थे। बहुत से ऐसे लोग भी जिन्होंने एक युग से मज़दूरों की लड़ाइयों में ख़ास हिस्सा लिया था, वहाँ मौजूद थे। कम्यूनिस्ट भी वहाँ थे। उन्होंने कांग्रेस की कारवाई में काफी हिस्सा लिया, लेकिन वे वहाँ कम्यूनिस्टों की हैसियत से न आकर कई मज़दूर संघ या वैसी ही संस्थाओं के प्रतिनिधि होकर आये।

जार्ज लेन्सबरी उस काँग्रेस के सभापति चुने गये और उन्होंने बहुत ही ज़ोरदार भाषण दिया। यह बात इस बात का सबूत थी कि काँग्रेस कोई ऐसी-वैसी सभा न थी और न उसने अपना भाग्य ही कम्यूनिस्टों के साथ जोड़ दिया था। लेकिन इस बात में

कोई शक नहीं कि वहाँ एकत्र लोग कम्यूनिस्टों के प्रति मित्र-भाव रखते थे और यद्यपि उनमें और कम्यूनिस्टों में कई बातों में समझौता भले ही न हो सकता हो फिर भी काम करने के लिए कई बातें ऐसी भी थीं जिनमें मिलकर काम किया जा सकता था ।

वहाँ जो स्थायी संस्था साम्राज्यवाद-विरोधी लीग क़ायम की गई उसका भी सभापतित्व लेन्सबरी साहब ने स्वीकार कर लिया, लेकिन फौरन ही उन्हें अपनी इस जल्दबाज़ी पर पछताना पड़ा, या शायद ब्रिटिश मजदूर-दल के उनके साथियों ने उनकी इस बात को पसन्द नहीं किया । उन दिनों यह मजदूर-दल 'सम्राट का विरोधी दल' था और जल्दी ही बढ़कर 'सम्राट-सरकार' बनने को था । अब भला मंत्रि-मण्डल के भावी सदस्य ख़तरनाक और क्रान्तिकारी राजनीति में कैसे पैर फँसा सकते थे ? मिस्टर लेन्सबरी ने पहले तो काम में बहुत मशगूल रहने का बहाना करके लीग की सदारत से इस्तीफा दे दिया, बाद को उन्होंने उसकी मेम्बरी भी छोड़ दी । मुझे इस बात से बहुत अफ़सोस हुआ कि जिस शख़्स के व्याख्यान की दो-तीन महीने पहले मैंने इतनी तारीफ़ की थी उसमें यकायक ऐसी तबदीली हो गई ।

कुछ भी हो, काफ़ी प्रतिष्ठित व्यक्ति साम्राज्य-विरोधी लीग के संरक्षक हैं । उनमें एक तो आइन्स्टीन साहब हैं और दूसरी श्रीमती सनयातसेन, और मेरा ख़याल है कि रोमा रोलाँ भी । कई महीने बाद आइन्स्टीन ने इस्तीफ़ा दे दिया, क्योंकि फिलस्तीन में अरबों और यहूदियों के जो झगड़े हो रहे थे उनमें लीग ने अरबों का पक्ष लिया था और यह बात उन्हें नापसन्द थी ।

ब्रसेल्स-कांग्रेस के बाद लीग की कमिटियों की कई मीटिंगें समय-समय पर जुदी-जुदी जगहों में हुई । इन सबसे मुझे अधीनस्थ और औपनिवेशिक प्रदेशों की कुछ समस्याओं को समझने में बड़ी मदद मिली । उनकी वजह से पश्चिमी संसार में मज़दूरों के जो भीतरी संघर्ष चल रहे हैं उनकी तह तक पहुँचने में भी मुझे आसानी हुई । उनकी बाबत मैंने बहुत-कुछ पढ़ा था, और कुछ तो मैं पहले से ही जानता था, लेकिन मेरे उस ज्ञान के पीछे कोई असलियत नहीं थी, क्योंकि उनसे मेरा कोई ज़ाती ताल्लुक नहीं पड़ा था । लेकिन अब मैं उनके सम्पर्क में आया और कभी-कभी मुझे उन मसलों का भी सामना करना पड़ा जो इन भीतरी संघर्षों में प्रकट होते हैं । दूसरी इंटरनेशनल और तीसरी इंटरनेशनल नाम की मज़दूरों की जो दो दुनिया हैं उनमें मेरी हमदर्दी तीसरी के साथ थी । लड़ाई से लेकर अबतक दूसरी इंटरनेशनल ने जो कुछ किया उससे मुझे अरुचि हो गई और हमको तो हिन्दुस्तान में इस इंटरनेशनल के सबसे जबर्दस्त हिमायती ब्रिटिश मज़दूर दल के तरीक़ों का ज़ाती तजुर्बा हो चुका

था। इसलिए लाज़िमी तौर पर कम्यूनिज्म की बाबत मेरा ख़याल अच्छा हो गया; क्योंकि उसमें कितने भी ऐब क्यों न हों, कम्यूनिस्ट कम-से-कम साम्राज्यवादी और पाखण्डी तो न थे। कम्यूनिज्म से मेरा यह सम्बन्ध उसके सिद्धान्तों की वजह से नहीं था, क्योंकि मैं कम्यूनिज्म की कई सूक्ष्म बातों की बाबत ज्यादा नहीं जानता था। उस वक्त उससे मेरी जान-पहचान सिर्फ उसकी मोटी-मोटी बातों तक ही महदूद थी। ये बातें और वे भारी-भारी परिवर्तन जो रूस में हो रहे थे मुझे आकर्षित कर रहे थे। लेकिन अक्सर कम्यूनिस्टों से मैं उनके डिक्टेटराना ढंग तथा उनके नये लड़ाकू और कुछ हदतक गँवारू तरीक़े से और जो लोग उनसे सहमत न हों उन सबकी बुराई करने की उनकी आदतों की वजह से चिढ़ जाता था। उनके कहने के मुताबिक तो मेरा यह मनोभाव मेरी बुर्जुआओं की-सी, अमीराना तालीम और लालन-पालन की वजह से था।

एक अजीब बात यह थी कि साम्राज्य-विरोधी लीग की कमिटियों की बैठकों में बहस के छोटे-छोटे मामलों में मैं मामूली तौर पर एंग्लो-अमेरिकन मेम्बरों की तरफ़ रहता था। किस तरीक़े से काम किया जाय, कम-से-कम इस मामले में तो हम लोगों के दृष्टि-कोण एक-से ही थे। मैं और वे लोग ऐसी सब तजवीजों के खिलाफ़ थे जो लम्बी-चौड़ी और अलंकारिक हों और जो घोषणापत्रों जैसी मालूम पड़ती हों। हम लोग तो छोटी-सी और सीधी-सादी-सी चीज़ चाहते थे। लेकिन यूरोपीय महाद्वीप के देशों के परम्परा इसके खिलाफ़ थी। अक्सर कम्यूनिस्टों में और ग़ैर-कम्यूनिस्टों में भी मत-भेद हो जाया करता था। मामूली तौर पर हम लोग समझौते पर राजी हो जाते थे। इसके बाद हममें से कुछ लोग अपने-अपने घर लौट आये और उसके बाद होनेवाली कमिटियों की मीटिंगों में शामिल नहीं हो सके।

साम्राज्यवादी शक्तियों के वैदेशिक और औपनिवेशिक दफ्तर ब्रसेल्स-कांग्रेस से कुछ खौफ़ खाते थे। ब्रिटिश वैदेशिक विभाग के नामी लेखक 'अंगुर' (?) ने अपनी एक किताब में इस कान्फ्रेंस का कुछ सनसनीदार और कहीं कहीं हास्यास्पद हाल दिया है। ग़ालिबन खुद कांग्रेस में खुफियाओं की भरमार थी। बहुत-से प्रतिनिधि भी कई खुफिया दलों के प्रतिनिधी थे। इसकी हमें एक मजेदार मिसाल मिली। मेरे एक अमेरिकन दोस्त उन दिनों पेरिस में रहते थे। उनसे एक दिन फ़्रांस की खुफिया पुलिस के एक साहब मिलने के लिए आये। वह महज़ कुछ मामलों की बाबत दोस्ताना तरीक़े से कुछ बातें पूछना चाहते थे। जब वह साहब अपनी बातें पूछ चुके तब उन अमेरिकन सज्जन से बोले—आपने मुझे पहचाना या नहीं, मैं तो आपसे पहले भी मिल चुका हूँ। अमेरिकन ने उन्हें बड़े ग़ौर से देखा; लेकिन उन्हें यह मंजूर

करना पड़ा कि मुझे याद नहीं आता कि मैंने आपको कब और कहाँ देखा। तब खुफिया पुलिस के उन साहब ने उन्हें बताया, कि मैं आपसे ब्रसेल्स-कांग्रेस में नीग्रो प्रतिनिधि की हैसियत से मिला था, उस वक़्त मैंने अपना चेहरा और अपने हाथ वग़ैरा सब बिलकुल काले कर लिये थे।

साम्राज्य-विरोधी-संघ की एक बैठक कोलोन में हुई और मैं भी उसमें शामिल हुआ। जब कमिटी की बैठक ख़त्म हो गई तब हमसे यह कहा गया कि नज़दीक ही डुसेल्डॉर्फ में सेक्को-वेन्ज़ेटी के सिलसिले में जो जलसा हो रहा है वहाँ चला जाय। जब हम उस सभा से वापस आ रहे थे तब हमसे कहा गया कि पुलिस को अपने-अपने पासपोर्ट दिखाइए। हममें से ज्यादातर लोगों के पास अपना-अपना पासपोर्ट था, लेकिन मैं अपना पासपोर्ट कोलोन के होटल में छोड़ आया था। क्योंकि हम लोग डुसेल्डॉर्फ तो सिर्फ़ कुछ घण्टों के लिए ही आये थे। इस पर मुझे पुलिस-थाने में ले जाया गया। मेरी खुशकिस्मती से इस मुसीबत में मुझे दो साथी भी मिल गये। वह थे एक अंग्रेज़ और उनकी बीवी। ये दोनों भी अपने पासपोर्ट कोलोन में छोड़ आये थे। हमें वहाँ कोई एक घण्टा ठहरना पड़ा होगा, इस बीच में शायद फोन से सब बातें दर्याफ्त कर ली गई। इसके बाद पुलिसवालों ने बड़ी महरबानी के साथ हमें जाने की इजाज़त दी।

पिछले सालों में यह साम्राज्य-विरोधी लीग कम्यूनिज्म की तरफ़ ज्यादा झुक गई। लेकिन जहाँतक मुझे मालूम है, उसने किसी भी वक़्त अपनी अलग हस्ती को नहीं खोया। मैं तो उसके साथ अपना सम्पर्क दूर से पत्रों द्वारा ही रख सकता था। १९३१ में कांग्रेस और सरकार के बीच दिल्ली में जो समझौता हुआ और उसमें मैंने जों हिस्सा लिया उसकी वजह से यह लीग बहुत ज्यादा नाराज़ हो गई और उसने मुझे बिलकुल निकाल बाहर किया, या ठीक-ठीक यों कहिए कि उसने मुझे निकालने के लिए एक प्रस्ताव भी पास किया। मैं यह मंज़ूर करता हूँ कि मैंने उसे नाराज़ी का काफ़ी मसाला दिया था, लेकिन फिर भी वह मुझे स्थिति साफ़ करने का कुछ मौक़ा दे सकती थी।

१९२७ की गर्मियों में मेरे पिताजी योरप आये। मैं उनसे वेनिस में मिला और उसके बाद के कुछ महीनों तक अक्सर हम लोग साथ-साथ रहे। हब सब लोगों ने—मेरे पिताजी, पत्नी, छोटी बहन और मैंने—नवम्बर में थोड़े दिनों के लिए मास्को की यात्रा की। उन दिनों सोवियट सरकार की दसवीं सालगिरह मनाई जा रही थी। हम लोग मास्को में बहुत ही थोड़े दिनों के लिए, सिर्फ़ तीन-चार दिन के ही लिए, गये थे; क्योंकि हमने यकायक वहाँ जाना तय किया था। लेकिन हमें इस बात की

ख़ुशी है कि हम वहां गये; क्योंकि उसकी इतनी झाँकी भी काफ़ी थी। इतनी जल्दी में किया गया वह दौरा हमें नये रूस की बाबत न तो ज्यादा सिखा ही सकता था न उसने सिखाया ही, लेकिन उसने हमें अपने अध्ययन के लिए एक बुनियाद दे दी। पिताजी के लिए ये सब सोवियट और समष्टिवादी विचार बिलकुल नये थे। उनकी तमाम तालीम क़ानूनी और विधान-सम्बन्धी थी और वे उस ढांचे में से आसानी से नहीं निकल सकते थे। लेकिन मास्को में उन्होने जो कुछ देखा उसका उनके ऊपर निश्चित रूप से असर पड़ा था।

जब पहले-पहल साइमन-कमीशन की बाबत ऐलान हुआ तब हम लोग मास्को में ही थे। हमने उसकी बाबत पहले-पहल मास्को के एक अख़बार में पढ़ा। इसके कुछ दिनों के बाद पिताजी लन्दन में—प्रिवी-कौंसिल में—हिन्दुस्तान के एक मामले की अपील में सर जान साइमन के साथ-साथ वकील थे। यह एक पुरानी जमीदारी का मुकदमा था जिस में शुरू-शुरू में बहुत साल पहले मैंने भी पैरवी की थी। उस मुक़दमे में मुझे कुछ दिलचस्पी नहीं थी। लेकिन एक मर्त्तबा मै सर जान साइमन के कहने पर पिताजी के साथ-साथ कुछ सलाह-मशवरे में शामिल होने के लिए साइमन साहब के चेम्बर में गया था।

१९२७ का साल भी ख़त्म हो रहा था, और योरप में हम बहुत ज्यादा ठहर चुके थे। अगर पिताजी योरप न आते तो शायद हम पहले ही घर लौट गये होते। हमारा एक इरादा यह भी था कि घर लौटते वक़्त कुछ समय दक्षिण-पूर्वी योरप, टर्की और मिश्र में भी बितावें। लेकिन उस वक़्त उसके लिए समय नहीं रहा था और मैं इस बात के लिए उत्सुक था कि काँग्रेस का जो अगला जलसा मदरास में बड़े दिन की छुट्टियों में होने को था उसमें शामिल हो सकूं। इसलिए मै, मेरी पत्नी, मेरी बहन व मेरी पुत्री दिसम्बर के शुरू में मारसेलीज़ से कोलम्बो के लिए रवाना हो गये। पिताजी तीन महीने और योरप में ही रहे।

# २४

## हिन्दुस्तान में वापसी और फिर राजनीति में

योरप से मैं बहुत अच्छी शारीरिक और मानसिक हालत देकर लौट रहा था। मेरी पत्नी अभी पूरी तरह चंगी तो नहीं हुई थीं, लेकिन वह पहले से बहुत बेहतर थी। इसलिए मुझे उनकी तरफ से किसी किस्म की फिक्र नहीं रही थी। मैं ऐसा महसूस करता था कि मुझमें शक्ति और जीवन लबालब भरा हुआ है; और इससे पेश्तर भीतरी द्वन्द्व ओर मनसूबों के बिगड़ जाने का जो खयाल मुझे अक्सर परेशान करता रहता था, वह इस वक्त न रहा था। मेरा दृष्टि-बिन्दु व्यापक हो गया था और बज़ात खुद राष्ट्रीयता का मक़सद मुझे निश्चित रूप से तंग और नाकाफ़ी मालूम होता था। इसमें कोई शक नहीं कि राजनैतिक स्वतन्त्रता, आज़ादी, लाज़िमी थी, लेकिन वह तो सही दिशा में क़दमभर है। जबतक सामाजिक आज़ादी न होगी और समाज का तथा राज का बनाव समाजवादी न होगा तबतक न तो मुल्क ही ज्यादा तरक़्क़ी कर सकता है, न उसमें रहनेवाले लोग ही। मैं यह महसूस करने लगा कि मुझे दुनिया के मामले ज्यादा साफ़ दिखाई दे रहे हैं। आजकल की दुनिया को जोकि हर वक्त बदलती रहती है, मैंने अच्छी तरह समझ लिया है। चालू मामलों और राजनीति के बारे में ही नहीं, लेकिन सांस्कृतिक और वैज्ञानिक तथा और भी ऐसे विषयों पर जिनमें मेरी दिलचस्पी थी, मैंने खूब पढ़ा। योरप और अमेरिका में जो बड़े-बड़े राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तन हो रहे थे उनके अध्ययन में मुझे बड़ा लुत्फ़ आता था। यद्यपि सोवियट रूस के कई पहलू अच्छे नहीं मालूम होते थे, फिर भी वह मुझे जोरों से अपनी ओर खीचता था ओर ऐसा मालूम होता था कि वह दुनिया की आशा का सन्देश दे रहा है। १९२५ के आसपास योरप एक तरीके से एक जगह जमकर बैठने की कोशिश कर रहा था। महान् आर्थिक संकट तो उसके बाद ही आने को था। लेकिन मैं वहाँ से यह विश्वास लेकर लौटा कि जमकर बैठने की यह कोशिश तो ऊपरी है और निकट-भविष्य में योरप में और दुनिया में भारी उथल-पुथल होनेवाली है, तथा बड़े-बड़े विस्फोट होनेवाले हैं।

मुझे फ़ौरन ही सबसे पहले करने का काम यह दिखाई देता था कि हम देश को दुनिया में होनेवाली इन घटनाओं के लिए शिक्षित व उद्यत करें, उसे उनके लिए जहाँतक हमसे हो सके वहाँतक तैयार रक्खें। यह तैयारी ज्यादातर खयालों की तैयारी थी, जिसमें सबसे पहली बात तो यह थी कि हमारी राजनैतिक आज़ादी के

मक़सद के बारे में किसीको कुछ शक नहीं होना चाहिए । यह बात सबको साफ़-साफ़ समझ लेनी चाहिए कि हमारे लिए सम्भवनीय एकमात्र राजनैतिक ध्येय यही हो सकता है और यह औपनिवेशिक-पद के बारे में जो अस्पष्ट और गोलमोल बातें की जाती हैं उससे बिलकुल जुदा है । इसके अलावा सामाजिक ध्येय भी था । मैंने महसूस किया कि कांग्रेस से यह उम्मीद करना कि अभी इस तरफ़ वह ज्यादा दूर जा-सकेगी बहुत ज्यादा होगा । कांग्रेस तो महज़ एक राजनैतिक राष्ट्रीय संस्था है जिसे दूसरे तरीकों पर सोचने का अभ्यास न था । लेकिन फिर भी, इस दिशा में भी शुरूआत की जा सकती है । कांग्रेस से बाहर मजदूर-मंडलों में और नौजवानों में ये खयालात कांग्रेस से ज्यादा दूर तक फैलाये जा सकते थे । इसके लिए मैं अपनेको कांग्रेस के दफ्तर के काम से अलग रखना चाहता था । इसके अलावा मेरे मन में कुछ-कुछ यह खयाल भी था कि मै कुछ महीने सुदूर भीतर के गाँवों में रहकर उनकी हालत का अध्ययन करने में बिताऊँ । लेकिन होनहार ऐसा न था और घटनाओं ने तय कर लिया था कि वे मुझे कांग्रेस की राजनीति में घसीट लेंगी ।

हम लोगों के मदरास में पहुँचने के बाद फ़ौरन ही मै कांग्रेस के भँवर में फँस गया । कार्य-समिति के सामने मैंने कई प्रस्ताव पेश किये । आज़ादी के बारे में, लड़ाई के खतरे के बारे में, साम्राज्य-विरोधी-संघ के बारे में और ऐसे ही कुछ और प्रस्ताव पेश किये । क़रीब-क़रीब ये सब प्रस्ताव मंजूर हुए और वे कार्य-समिति के सरकारी प्रस्ताव बना लिये गये । कांग्रेस के खुले अधिवेशन में भी वे प्रस्ताव मुझे ही पेश करने पड़े और मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वे सब-के-सब क़रीब-क़रीब एक राय से पास हो गये । आज़ादी के प्रस्ताव का तो मिसेज़ एनी बेसेण्ट तक ने समर्थन किया । इस चारों ओर के समर्मन से मुझे बड़ी खुशी हुई, लेकिन मेरे दिल में यह खयाल बेचैनी पैदा करता था कि या तो लोगों ने उन प्रस्तावों को समझा ही नही है कि वे क्या हैं या उन्होंने उनके मानी तोड़-मरोड़कर बिलकुल दूसरे लगा लिये हैं । कांग्रेस के बाद फ़ौरन ही आज़ादी के प्रस्ताव के बारे में जो बहस उठ खड़ी हुई उससे यह जाहिर हो गया कि असल में यही बात थी ।

मेरे ये प्रस्ताव कांग्रेस के हस्बमामूल प्रस्तावों से कुछ भिन्न थे । वे एक नये दृष्टिकोण को व्यक्त करते थे । इसमें शक नही कि बहुत से कांग्रेसी उन्हें पसन्द करते थे, कुछ लोग कुछ हद तक उन्हें नापसन्द करते थे लेकिन इतना नापसन्द नहीं करते थे कि उनकी मुखालिफ़त करें । ग़ालिबन ये पिछले लोग यह समझते थे कि प्रस्ताव महज़ तात्विक हैं, उनके पास होने न होने से कोई खास फ़र्क़ नहीं पड़ता, और उनसे पिण्ड छुड़ाने का सबसे अच्छा तरीक़ा यही है कि उनको पास कर दिया जाय और और

ज्यादा महत्वपूर्ण काम की तरफ ध्यान दिया जाय। इस तरह उन दिनों आज़ादी का प्रस्ताव कांग्रेस में उठनेवाले एक सजीव और अदम्य प्रेरणा को व्यक्त नहीं करता था जैसा कि उसने एक दो साल बाद किया। उस वक्त तो वह एक बहु-व्यापी और बढ़ते जानेवाले भाव को ही व्यक्त करता था।

गाँधीजी मदरास में ही थे। वह कांग्रेस के खुले अधिवेशन में आते थे, लेकिन उन्होंने कांग्रेस के नीति-निर्माण में कोई हिस्सा नहीं लिया। वह जिस कार्य-समिति के मेम्बर थे उसकी बैठकों तक में भी शामिल न हुए। जबसे कांग्रेस में स्वराज-पार्टी का जोर हुआ तबसे कांग्रेस के प्रति उनका अपना राजनैतिक रुख यही रहता था। लेकिन हाँ, उनसे समय-समय पर सलाह ली जाती थी और कोई भी महत्वपूर्ण बात उनको बताये बिना नही की जाती थी। मुझे नही मालूम कि मैंने कांग्रेस में जो प्रस्ताव पेश किये उन्हें वह कहाँ तक पसन्द करते थे। मेरा झुकाव तो इस खयाल की तरफ है कि वह उन्हें नापसन्द करते थे—उन प्रस्तावों में जो कुछ कहा गया था उसकी वजह से उतना नही जितना उनकी आम प्रवृत्ति और दृष्टिकोण की वजह से। लेकिन उन्होंने किसी भी अवसर पर उनकी नुक्ताचीनी नही की। मेरे पिताजीजी तो उन दिनों योरप ही थे।

आज़ादी के प्रस्ताव की अवास्तविकता तो कांग्रेस की उसी बैठक में उसी वक़्त ज़ाहिर हो गई थी जबकि साइमन-कमीशन की निन्दा और उसके बायकट के लिए अपील करने सम्बन्धी दूसरे प्रस्ताव पर विचार हुआ। इस प्रस्ताव के फलस्वरूप यह तजवीज़ की गई कि सब दलों की एक कान्फ्रेन्स बुलाई जाय, जो हिन्दुस्तान के लिए एक शासन-विधान बनावे। यह ज़ाहिर था कि जिन माडरेट दलों का सहयोग लेने की कोशिश की गई थी. वे आजादी के लिहाज़ से कभी बातों को देख ही नही सकते थे। वे तो ज्यादा-से-ज्यादा उपनिवेशों के-से पद के किसी स्वरूप तक जा सकते थे।

मुझे फिर कांग्रेस का सेक्रेटरी होना पड़ा। इसके कुछ कारण तो जाती थे। उस साल के प्रेसिडेंट डॉक्टर अन्सारी मेरे पुराने और प्यारे दोस्त थे। उनकी ख्वाहिश थी कि मै ही सेक्रेटरी बनूँ और मुझे भी यह खयाल था कि जब मेरे इतने प्रस्ताव पास हुए हैं तब मेरा फ़र्ज़ है कि मैं यह देखूँ कि उनके मुताबिक़ काम हो। यह सच है कि सर्व-दल-सम्मेलन के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव पास हुआ था उसने कुछ हद तक मेरे प्रस्तावों के असर को मार दिया था, फिर भी बहुत कुछ रह गया था। इसके आलावा मेरे मन्त्रि-पद मंजूर कर लेने का असली कारण यह डर था कि कांग्रेस सब दलों की कान्फ्रेंस के ज़रिये या दूसरी वजह से कहीं माडरेट स्थिति की तरफ़, राजीनामे और समझौते की तरफ, न झुक जाय। उन दिनों ऐसा मालूम होता था कि कांग्रेस

दुविधा में पड़ी हुई है, कभी वह उग्रता की तरफ़ बढ़ती तो कभी नरमी की तरफ़ हटती। मैं चाहता था कि जहाँतक मुझसे हो सके वहाँतक इस दुविधा में झूलती हुई कांग्रेस को नरमी की तरफ़ न झुकने दूँ और उसे आजादी के ध्येय पर डटाये रहूँ।

राष्ट्रीय कांग्रेस के सालाना जलसों के मौक़ों पर बहुत-से दूसरे जलसे भी हमेशा हुआ करते हैं। मदरास में इस तरह का एक जलसा 'रिपब्लिकन कान्फ्रेन्स' नाम का हुआ। इसका पहला (व आख़िरी) जलसा उसी साल वहीं हुआ। मुझसे कहा गया कि मैं उसका सभापति बन जाऊँ। मुझे यह ख़याल पसन्द आया, क्योंकि मैं अपने-को रिपब्लिकन (प्रजातन्त्र-वादी) समझता हूँ। लेकिन मुझे झिझक इस बात की थी कि मुझे यह नहीं मालूम था कि इस कान्फ्रेन्स को करानेवाले कौन साहब हैं और मैं यों ही बरसाती मेंढकों की तरह पैदा होनेवाली चीज़ों से अपना सम्बन्ध नहीं करना चाहता था। अख़ीर में जाकर मैं उनका सभापति बना। लेकिन बाद को मुझे इसके लिए पछताना पड़ा; क्योंकि ऐसे बहुत-से मामलों की तरह यह रिपब्लिकन कान्फ्रेन्स भी मरी हुई पैदा होनेवाली साबित हुई। कई महीनों तक मैंने इस बात की कोशिश की कि उसने जो प्रस्ताव पास किये थे उनकी प्रतियाँ मुझे मिल जायँ। लेकिन मेरी सब कोशिश बेकार गई। यह देखकर हैरत होती है कि हमारे कितने ही लोग नई-नई चीज़ें क़ायम करना पसन्द करते हैं और फिर उनकी तरफ़ से उदासीन होकर उन्हें उनके भाग्य के भरोसे छोड़ देते हैं। इस समालोचना में बहुत-कुछ सचाई है कि हम लोग किसी काम को उठाकर उसे पूरा करना, उसपर डटे रहना, नहीं जानते।

कांग्रेस के बाद हम लोग मदरास से रवाना नहीं हो पाये थे कि खबर मिली कि दिल्ली में हक़ीम अजमलख़ाँ की मृत्यु हो गई। कांग्रेस के भूतपूर्व सभापति की हैसियत से वह उसके बुज़ुर्ग राजनीतिज्ञों में से थे। लेकिन वह उसके अलावा कुछ और भी थे। कांग्रेस के नेताओं में उनकी अपनी खास जगह थी। यद्यपि जिस पुराने अनुदार तरीक़े से उनका लालन-पालन हुआ, उसमें नयेपन का तो कहीं पता तक न था और मुग़लों के ज़माने की शाही दिल्ली की संस्कृति में वह सराबोर थे, फिर भी उनकी शराफ़त को देखकर, उनकी आहिस्ता-आहिस्ता बातें सुनकर, और उनके रूखे-सूखे मज़ाकों को सुनकर तबियत खुश हो जाती थी। अपने शिष्टाचार में वह पुराने ज़माने के रईसों के नमूने थे। उनकी नज़र और उनके तौर-तरीक़े शाही थे। उनका चेहरा भी मुगल-साम्राटों की मूर्तियों से बहुत-कुछ मिलता-जुलता था। ऐसे शख़्स मामूली तौर पर राजनीति की धक्का-मुक्की में शामिल नहीं होते और जबसे आन्दोलनकारियों की नई नस्ल ने उन्हें परेशान करना शुरू किया तबसे हिन्दुस्तान में रहनेवाले अंग्रेज़ इस पुराने ढर्रे के लोगों की याद कर-करके लम्बी साँसें लेते हैं। अपनी शुरू की ज़िन्दगी

में हकीम अजमलखाँ का भी राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं था। वह हकीमों के एक नामी परिवार के मुखिया थे, इसलिए वह अपने पेशे में बहुत मशगूल रहते थे। लेकिन लड़ाई के पिछले सालों के ज़माने की घटनाओं और उनके पुराने दोस्त और साथी डॉक्टर एम० ए० अन्सारी का असर उन्हें काँग्रेस की तरफ़ ढकेल रहा था। उसके बाद की घटनाओं ने, पंजाब के मार्शल-लॉ और खिलाफ़त के सवाल ने, तो उनके ऊपर गहरा असर डाला और वह राज़ी-खुशी से गांधीजी के असहयोग के नये तरीक़े के हामी हो गये थे। काँग्रेस में अपने साथ वह एक निराला गुण तथा कई बहुमूल्य खूबियाँ लाये। वह पुराने ढर्रे के लोगों और नये लोगों के बीच में दोनों को मिलानेवाली कड़ी बन गये, और उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को पुराने ढर्रे के लोगों की मदद दिला दी। इस तरह उन्होंने नयों और पुरानों में एक तरह का मेल मिला दिया और आन्दोलन की आगे बढ़नेवाली टुकड़ी को ताक़त और मजबूती पहुँचाई। हिन्दू और मुसलमानों को भी उन्होंने एक-दूसरे के बहुत नज़दीक ला दिया; क्योंकि दोनों ही उनकी इज्ज़त करते थे और दोनों पर ही उनकी मिसाल का असर पड़ता था। गांधीजी के लिए तो वह एक ऐसे विश्वास-पात्र मित्र हो गये, जिनकी सलाह हिन्दू-मुसलमानों के मामले में उनके लिए 'ब्रह्म-वाक्य' थी। मेरे पिताजी और हकीमजी कुदरतन् एक-दूसरे के दोस्त हो गये।

पिछले साल हिन्दू-महासभा के कुछ नेताओं ने मुझपर यह इलज़ाम लगाया था कि अपनी सदोष शिक्षा तथा फ़ारसी संस्कृति के असर के कारण मैं हिन्दुओं के भावों से अनभिज्ञ हूँ। मैं किस संस्कृति से सम्पन्न हूँ या मेरे पास कोई संस्कृति है भी या नहीं, यह कहना मेरे लिए कुछ मुश्किल है। बदक़िस्मती से फ़ारसी ज़बान को तो मैं जानता भी नहीं। लेकिन यह सही है कि मेरे पिताजी हिन्दुस्तानी-फ़ारसी संस्कृति की आबोहवा में बड़े हुए थे। यह संस्कृति उत्तरी भारत को दिल्ली के पुराने दरबार से विरासत में मिली थी और इन बिगड़े हुए दिनों में भी दिल्ली और लखनऊ उसके ख़ास केन्द्र हैं। कश्मीरी ब्राह्मणों में समय के अनुकूल हो जाने की अद्भुत शक्ति है। हिन्दुस्तान के मैदान में आने पर जब उन्होंने उन दिनों यह देखा कि ऐसी संस्कृति का बोलबाला है, तो उन्होंने उसे अख़्त्यार कर लिया और उनमें फ़ारसी और उर्दू के भारी पण्डित पैदा हुए। उसके बाद उन्होंने उतनी ही तेज़ी के साथ बढ़नेवाली व्यवस्था के अनुसार भी अपनेको बदल लिया। जब अंग्रेज़ी भाषा का जानना और यूरोपियन संस्कृति के अंशों को ग्रहण करना ज़रूरी हो गया तब उन्होंने उन्हें भी ग्रहण कर लिया। लेकिन अब भी हिन्दुस्तान में कश्मीरियों में फ़ारसी के कई नामी विद्वान हैं। इनमें से दो के नाम लिये जा सकते हैं, सर तेजबहादुर सप्रू और राजा नरेन्द्रनाथ।

इस तरह मेरे पिताजी और हकीमजी में ऐसी बहुत-सी बातें थीं जो एक-दूसरे से मिलती-जुलती थी। इतना ही नहीं, उन्होंने पुराने खानदानी रिश्ते भी ढूंढ निकाले। उन दोनों में गहरी दोस्ती हो गई। वे एक-दूसरे को 'भाई साहब' कहकर पुकारते थे। राजनीति तो उनके बहुत-से प्रेम-बन्धनों में से सिर्फ़ एक और सबसे कम बन्धन था। अपनी घर-गृहस्थी की आदतों में हकीमजी बहुत ही पुराण-पंथी थे। वह या उनके परिवार के लोग पुरानी आदतों को नहीं छोड़ सकते थे। उनके परिवार में जैसा विकट परदा किया जाता था वैसा मैंने कभी कहीं नहीं देखा था। फिर भी हकीम-साहब को इस बात का पूर्ण विश्वास था कि जबतक किसी मुल्क की औरतें अपनी आज़ादी हासिल न करलें तबतक वह मुल्क हरगिज़ तरक्क़ी नहीं कर सकता। मेरे सामने वह इस बात पर बहुत ज़ोर देते थे और कहते थे कि टर्की की आज़ादी की लड़ाई में वहाँ की औरतों ने जो हिस्सा लिया है उसे मैं बहुत ही क़ाबिल-तारीफ़ समझता हूँ। उनका कहना था कि ख़ास तौर पर टर्की की औरतों की बदौलत ही कमालपाशा को कामयाबी मिली।

हकीम अजमलख़ाँ के शरीरान्त से काँग्रेस को भारी धक्का लगा। उसके मानी थे कि काँग्रेस का एक सबसे ताक़तवर मददगार जाता रहा। तबसे लेकर अबतक हम सब लोगों को दिल्ली जाने पर वहाँ किसी चीज़ की कमी मालूम होती है; क्योंकि हमारी दिल्ली का हकीम साहब से और बिल्लीमारान में उनके मकान से बहुत गहरा सम्बन्ध था।

राजनैतिक दृष्टि से १९२८ का साल एक भरा-पूरा साल था। देशभर में तरह-तरह की हलचलों की भरमार थी। ऐसा मालूम पड़ता था कि एक नई प्रेरणा, एक नया जीवन, जो तरह-तरह के सभी समूहों में एक-सा मौजूद था, लोगों को आगे की तरफ़ बढ़ा रहा है। जिन दिनों मैं देश से बाहर था शायद उन दिनों धीरे-धीरे यह तबदीली हो रही थी और मेरे लौटने पर मुझे वह बहुत बड़ी तबदीली मालूम हुई। १९२६ के शुरू में हिन्दुस्तान जैसा-का-तैसा शान्त और निष्कर्म बना हुआ था। शायद उस वक्त तक उसकी १९२१–२२ की मेहनत की थकान दूर नहीं हुई थी। १९२८ में वह तरोताज़ा, क्रियाशील और रुकी हुई शक्ति से पूर्ण है, इस बात का सबूत हर जगह मिलता था। कारख़ानों के मज़दूरों में भी और किसानों में भी। मध्यमवर्ग के नौजवानों में भी और आम तौर पर पढ़े-लिखे लोगों में भी।

मज़दूर-संघों की हलचल बहुत ज्यादा बढ़ गई थी। सात-आठ साल पहले जो आल-इंडिया ट्रेड-यूनियन कांग्रेस क़ायम हुई थी वह एक मज़बूत और प्रातिनिधिक जमात थी। न सिर्फ़ उसकी तादाद और उसके संगठन में ही काफ़ी तरक्क़ी हुई थी,

बल्कि उसके विचार भी ज्यादा लड़ाकू और ज्यादा गरम हो गये थे। हड़तालें अक्सर होती थीं और मज़दूरों में वर्ग-चेतनता का ख़याल ज़ोर पकड़ रहा था। कपड़े की मिलों में और रेलों में काम करनेवाले मज़दूर सबसे ज्यादा संगठित थे और इनमें से भी सबसे ज्यादा मज़बूत और सबसे ज्यादा संगठित संघ थे बम्बई की गिरनी-कामगार-यूनियन और जी० आई० पी० रेलवे-यूनियन। मज़दूरों के संगठन के बढ़ने के साथ-साथ लाज़िमी तौर पर पश्चिम से घरेलू लड़ाई-झगड़ों के बीज भी आये। हिन्दुस्तान के मज़दूर-संघों की हलचल को क़ायम हुए देर न हुई कि वे आपस में होड़ करने और दुश्मनी रखनेवाले दलों में बँट गये। कुछ लोग दूसरी इंटरनेशनल के हामी थे; कुछ तीसरी इंटरनेशनल के क़ायल। यानी एक दल का दृष्टिकोण नरमी की तरफ, सुधार-वादी, था और दूसरा दल वह था जो खुल्लम-खुल्ला क्रांतिकारी था तथा आमूल परिवर्तन चाहता था। इन दोनों के बीच में कई किस्म की रायें थी, जिनमें मात्रा का भेद था, और जैसा कि आम जनता के संगठन में होता है इसमें मौक़ा-परस्ती भी आ घुसी थी।

किसान भी करवट बदल रहे थे। उनकी यह जागृति संयुक्त प्रान्त में और ख़ासतौर पर अवध में दिखाई देती थी, जहाँ अपने ऊपर होनेवाले अन्यायों का विरोध करने के लिए किसानों की बड़ी-बड़ी सभायें आये दिन होने लगी थी। लोग यह महसूस करने लगे थे कि अवध के जोत-सम्बन्धी जिस क़ानून ने किसानों को हीन-हयाती मौरूसी दी थी और जिससे बहुत ज्यादा उम्मीद की जाती थी उससे किसानों की दुःखमय ज़िन्दगी में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा था। गुजरात के किसानों ने तो एक बड़े पैमाने पर संघर्ष शुरू कर दिया, क्योंकि गवर्नमेन्ट ने यह चाहा कि मालगुज़ारी बढ़ा दी जाय। गुजरात में किसान ख़ुद अपनी ज़मीन के मालिक हैं, जहाँ सरकार सीधे किसानों से ताल्लुक रखती है। यह संघर्ष, सरदार वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में हुआ, बारडोली का सत्याग्रह था। इस लड़ाई में किसानों की बहादुरी की विजय हुई, जिसे देखकर तमाम हिन्दुस्तान वाह-वाह करने लगा। बारडोली के किसानों को बहुत काफी कामयाबी मिली। लेकिन उनकी लड़ाई की असली कामयाबी तो इस बात में थी कि उसने हिन्दुस्तान-भर के किसानों पर बड़ा अच्छा असर डाला। हिन्दुस्तान के किसानों के लिए बारडोली आशा और शक्ति और विजय का प्रतीक और चिन्ह हो गई।

१९२८ के हिन्दुस्तान की एक और ख़ास बात थी नौजवानों के आन्दोलन की बढ़ती। हर जगह युवक-संघ क़ायम हो रहे थे और युवक-कान्फ़्रेन्सें की जा रही थीं। ये संघ और कान्फ़्रेन्स तरह-तरह के थे। कोई अर्द्ध-धार्मिक थे तो कोई क्रान्तिकारी विचारों और उनके शास्त्रों पर विचार करनेवाले। लेकिन उनकी

उत्पत्ति कुछ भी हो, और उनका आधिपत्य किसीके हाथ में हो, युवकों की ऐसी सभायें हमेशा अपने-आप आजकल की सजीव सामाजिक और आर्थिक समस्याओं पर विचार करने लगती थीं और आम तौर पर उनका झुकाव यही था कि एकदम काया-पलट करदी जाय।

महज़ राजनैतिक विचार से देखा जाय तो यह साल साइमन-कमीशन के बायकाट के लिए और ( बायकाट के रचनात्मक पहलू के नाम से पुकारे जानेवाले ) सर्व-दल-सम्मेलन के लिए मशहूर है। इस बायकाट में नरम-दलवालों ने कॉंग्रेस का साथ दिया और उसमें गज़ब की क़ामयाबी हुई। जहाँ-जहाँ कमीशन गया वहाँ-वहाँ विरोधी जन-समूहों ने "साइमन गो बैक" ( साइमन लौट जाओ ) के नारे लगाकर उसका स्वागत किया और इस तरह हिन्दुस्तान के तमाम लोगों की बहुत बड़ी तादाद न सिर्फ़ सर जॉन साइमन का नाम ही जान गई बल्कि अंग्रेज़ी के "गो बैक" ये दो शब्द भी उसे मालूम हो गये। बस, अंग्रेज़ी के इन्हीं दो शब्दों में उनका ज्ञान ख़तम हो जाता है। ऐसा मालूम पड़ता है कि इन शब्दों से कमीशन के मेम्बरों के कान भड़कते थे और अपनी उसी भड़कन की वजह से ये चौंक पड़ते थे। कहते हैं कि एक मर्त्तबा जब वे नई दिल्ली के वेस्टर्न होस्टल में ठहरे हुए थे तब उन्हें रात के अंधेरे में "साइमन गो बैक" का नारा सुनाई देने लगा। इस तरह रात में भी पीछा किये जाने पर मेम्बर लोग बहुत चिढ़े, जबकि असल बात यह थी कि वह आवाज़ उन गीदड़ों की थी जो शाही राजधानी के ऊजड़ प्रदेशों में रहते हैं।

विधान के ख़ास-ख़ास उसूलों के तय करने में सर्व-दल-सम्मेलन को कुछ भी मुश्किल नहीं हुई। ये उसूल लोकतंत्रीय पार्लमेन्टरी ढंग के थे और कोई भी उनकी रूप-रेखा बना सकता था। असली मुश्किल और एकमात्र कठिनाई तो साम्प्रदायिक या अल्पमतवाली क़ौमों के सवाल की वजह से पैदा हुई और चूँकि कान्फ्रेन्स में तमाम कट्टर-से-कट्टर फ़िरकेवाराना जमात के नुमाइन्दे थे, उसमें किसी तरह का राज़ीनामा निहायत ही मुश्किल हो गया। असल में वह पुरानी और बेकार कान्फ्रेंन्सों की तरह ही थी। पिताजी जो उस वक्त योरप से लौटे थे, उन्होंने इस सम्मेलन में बड़ी दिलचस्पी ली। अन्त में आख़िरी तरकीब के तौर पर एक छोटी-सी कमिटी मुकर्रर कर दी गई। पिताजी इस कमिटी के सभापति बनाये गये। इस कमिटी का काम था कि वह विधान का मसविदा तैयार करे और साम्प्रदायिक प्रश्न पर पूरी रिपोर्ट दे। इस कमिटी को लोग 'नेहरू-कमिटी' कहने लगे और कमिटी की रिपोर्ट 'नेहरू-रिपोर्ट' के नाम से पुकारी जाने लगी। सर तेजबहादुर सप्रू भी इस कमिटी के मेम्बर थे, और वह उसकी रिपोर्ट के एक हिस्से के लिए ज़िम्मेदार भी थे।

मैं इस कमिटी का मेम्बर नहीं था, लेकिन कांग्रेस के मंत्री की हैसियत से मुझे इसके लिए बहुत काम करना पड़ा। मैं बड़े असमंजस में था, क्योंकि मैं समझता था कि जब असली सवाल सत्ता को जीतने का हो तब तफ़सीलवार काग़ज़ी विधान तैयार करना बिलकुल बेकार बात है। मेरी दूसरी मुश्किल यह थी कि इस खिचड़ी कमिटी ने हमारा ध्येय लाज़मी तौर पर 'डोमीनियन स्टेटस' तक ही महदूद कर दिया था, और दरअसल तो वह ध्येय इससे भी कम था। मेरी नजर में तो कमिटी की असली अहमियत इस बात में थी कि वह साम्प्रदायिक उलझन में से निकलने का कोई रास्ता ढूँढ निकाले। मुझे यह उम्मीद नहीं थी कि किसी पैक्ट या समझौते द्वारा यह सवाल हमेशा के लिए हल हो जायगा। यह सवाल तो तभी हो सकेगा जबकि लोगों का ध्यान इधर से हटकर सामाजिक और आर्थिक मसलों की तरफ़ लग जाय। लेकिन इस बात की सम्भावना थी कि अगर दोनों तरफ़ के लोगों की काफ़ी तादाद थोड़े वक्त के लिए भी कोई पैक्ट करले तो हालत कुछ सुधर जाती और लोगों का ध्यान दूसरे मसलों की तरफ़ लग जाता। इसलिए मैंने कमिटी के काम में रोड़े अटकाने के बजाय उसको जितनी मदद मैं दे सकता था उतनी मदद दी।

एक बार तो यह मालूम पड़ा कि अब कामयाबी मिली। सिर्फ दो-तीन बात तय करने को रह गई थीं और इसमें असली महत्वपूर्ण सवाल पंजाब का था, जहाँ हिन्दू-मुस्लिम और सिक्खों का तिकोना तनाव था। कमिटी ने अपनी रिपोर्ट में पंजाब के सवाल पर बिलकुल नये ढँग से गौर किया और उसने इस मामले में जो सिफ़ारिशें की उनकी पुष्टि जन-संख्या के बँटवारे सम्बन्धी कुछ नये अँकों से की। लेकिन यह सब बिलकुल बेकार था। दोनों तरफ़ डर और शक का राज रहा और दोनों में जो थोड़ा-सा फ़र्क रह गया था उसे पूरा करने के लिए दो-एक क़दम आगे तक नहीं बढ़ा गया।

अपनी कमिटी की रिपोर्ट पर विचार करने के लिए सर्व-दल-सम्मेलन लखनऊ में हुआ। इसमें हम लोग फिर एक दुविधा में पड़ गये; क्योंकि इधर तो हम यह चाहते थे कि हमारी वजह से फिरकेवाराना सवाल के हल होने में किसी किस्म की अड़चन न पड़े, बशर्ते कि वह सवाल हल हो सकता हो और उधर हम इस बात के लिए तैयार न थे कि आज़ादी के सवाल पर झुक जायँ। हमने अर्ज़ किया कि सम्मेलन इस सवाल के बारे में अपने हरेक अंग को पूरी आज़ादी दे दे, जिससे इस मामले में जिसका जो जी चाहे सो करें। कांग्रेस आज़ादी पर डटी रहे, और जो लोग उससे अपनी नीति के अनुसार काम लेना चाहते हैं वे 'डोमीनियन स्टेटस' पर। लेकिन पिताजी रिपोर्ट को पास कराने पर तुले हुए थे। वह ज़रा भी दबने को तैयार न थे। शायद उन परिस्थितियों में वह झुकना चाहते तो भी नहीं झुक सकते थे। सम्मेलन

में आज़ादी चाहनेवालों का एक बड़ा दल था। इस दल ने मुझसे कहा कि मैं दल की तरफ़ से सम्मेलन में एक बयान दूँ, जिस में यह कहूँ कि आज़ादी के ध्येय को कम करने के लिए जो कुछ भी किया जायगा उस सबसे हमारा कोई सरोकार न रहेगा। लेकिन हमने यह बात भी और साफ़ कर दी कि हम सम्मेलन के रास्ते में रोड़े न अटकावेंगे; क्योंकि हम फिरकेवाराना समझौते के रास्ते में अड़चनें नहीं डालना चाहते थे।

ऐसे बड़े सवाल पर इस तरह का रुख़ अख़्यार करना बहुत कारगर नहीं साबित हो सकता था। ज्यादा-से-ज्यादा यह रुख़ नकारात्मक था। हमने उसी दिन हिन्दुस्तान का आज़ादी-संघ (इंडिपेण्डेन्स फार इण्डिया लीग) क़ायम करके अपने इस रुख़ को विधेयात्मक स्वरूप भी दे दिया।

प्रस्तावित विधान में जो मौलिक अधिकार क़ायम किये गये, उनमें अवध के ताल्लुक़दारों के कहने पर एक धारा यह भी रख दी गई कि उनके ताल्लुक़ों में उनके स्थापित अधिकारों की गारण्टी रहेगी कि वे नहीं छीने जायँगे। सर्व-दल-सम्मेलन की इस बात से मुझे एक और ज्यादा बड़ा धक्का लगा। इसमें कोई शक ही नहीं कि तमाम विधान व्यक्तिगति सम्पत्ति के ख़याल की बुनियाद पर बनाया गया था, लेकिन बड़ी-बड़ी अर्द्ध-सामन्ती-सी रियासतों में उनकी मिलकियत के हक़ों को विधान की अटल धारा बना देना मुझे बहुत ही बुरा मालूम हुआ। इससे बात साफ़ हो गई कि कांग्रेस के नेता और उनसे भी ज्यादा ग़ैर-कांग्रेसी अपने ही साथियों में सामाजिक दृष्टि से जो ज्यादा आगे बढ़े हुए समूह थे उनके मुकाबिले में बड़े-बड़े ज़मींदारों का साथ पसन्द करते थे! यह साफ़ था कि हमारे नेताओं के और हमारे बीच में एक बहुत बड़ी खाई है। और ऐसी हालत में मुझे अपने लिए यह बात बहुत ही बेहूदा मालूम होती थी कि मैं प्रधान-मंत्री का काम करता रहूँ। मैंने इस बुनियाद पर अपना इस्तीफ़ा दे देना चाहा कि मैं हिन्दुस्तान की आज़ादी के लिए जो संघ क़ायम किया गया है उसके संचालकों में से एक हूँ। लेकिन कार्य-समिति इस बात से सहमत न हुई। उसने मुझसे और सुभाष बाबू से, जिन्होंने मेरे साथ-साथ उसी बिना पर इस्तीफा दे देना चाहा था, यह कहा कि हम लोग संघ का काम मज़े से कर सकते हैं, उस काम में और कांग्रेस की नीति में कोई विरोध नहीं है। सच बात तो यह है कि कांग्रेस ने तो पहले ही आज़ादी के ध्येय का ऐलान कर दिया है। इसपर मैं फिर राज़ी हो गया। यह बात आश्चर्यजनक है कि उन दिनों मुझे अपना इस्तीफ़ा वापस करने के लिए कितनी जल्दी राज़ी कर लिया जाता था। यह बात कई मर्त्तबा हुई और क्योंकि कोई भी पार्टी वास्तव में एक-दूसरे से अलग हो जाने के ख़याल को पसन्द नहीं करती थी, इसलिए उससे बचने के लिए हमें जो बहाना मिलता उसीका हम आश्रय ले लेते।

गांधीजी ने इन तमाम पार्टियों की कान्फ्रेन्सों और कमिटियों की मीटिंगों में कोई हिस्सा नहीं लिया था। यहाँतक कि वह लखनऊ-कान्फ्रेन्स के वक्त वहाँ मौजूद भी नहीं थे।

इस बीच में साइमन-कमीशन हिन्दुस्तान में दौरा कर रहा था और काले झंडे लिये हुए "गो बैक" के नारे लगानेवाली मुख़ालिफ़ भीड़ हर जगह उसका स्वागत कर रही थी। कभी-कभी भीड़ और पुलिस में मामूली झगड़ा भी हो जाता था। लाहौर में बात बहुत बढ़ गई और यकायक मुल्क भर में गुस्से की लहर-सी दौड़ गई। लाहौर में साइमन-विरोधी जो प्रदर्शन हुआ वह लाल लाजपतराय के नेतृत्व में हुआ। जब वह सड़क के किनारे हज़ारों प्रदर्शन-कारियों के आगे खड़े हुए थे तब एक नौजवान अँग्रेज़ पुलिस अफ़सर ने उनपर हमला किया और उनकी छाती पर डंडे लगाये। भीड़ की तरफ़ से किसी क़िस्म का झगड़ा खड़ा करने की कोई कोशिश नहीं हुई थी। लालाजी की तो बात ही क्या, फिर भी जबकि वह एक तरफ़ शान्ति से खड़े हुए थे तब पुलिस ने उनको और उनके कई साथियों को बहुत बुरी तरह मारा। गलियों में अथवा सड़कों पर होनेवाले आम प्रदर्शनों में हिस्सा लेनेवाले हर शख़्स को यह ख़तरा रहता है कि पुलिस से मुठभेड़ हो जायगी और यद्यपि हमारे प्रदर्शन क़रीब-क़रीब हमेशा ही सोलहों आने शान्त होते थे फिर भी लालाजी इस ख़तरे को ज़रूर जानते होंगे और उन्होंने जान-बूझकर वह ख़तरा उठाया होगा, लेकिन फिर भी जिस ढँग से उनपर हमला किया गया उससे और उस हमले की अनावश्यक पाशविकता से हिन्दुस्तान के करोड़ों लोगों को धक्का लगा। वे दिन वे थे जब हम पुलिस द्वारा लाठियों की मार खाने के आदी न थे। उस वक्त तक इस प्रकार बार-बार होनेवाली पाशविकता के आदी न होने के कारण हम उससे बहुत बुरा मानते थे। हमारे सबसे बड़े नेता, पंजाब के सबसे बड़े और सबसे ज्यादा लोकप्रिय व्यक्ति के साथ ऐसे बुरे व्यवहार का होना बिलकुल पैशाचिकता मालूम पड़ी और उस व्यवहार को देखकर हिन्दुस्तान-भर में, ख़ासकर उत्तरी हिन्दुस्तान में एक निर्जीव क्रोध फैल गया। हम लोग कितने असहाय और कितने घृणा-योग्य हैं, कि हम अपने नेताओं की इज्ज़त की भी रक्षा नहीं कर सकते!

लालाजी को शारीरिक चोट भी कम भीषण नहीं लगी, क्योंकि उनकी छाती पर लाठियाँ मारी गई थीं और वह बहुत दिनों से दिल की बीमारी से पीड़ित थे। ग़ालिबन अगर ये चोट किसी तन्दुरुस्त नौजवान के लगी होतीं तो इतनी घातक न साबित होतीं। लेकिन लालाजी न तो नौजवान थे न तन्दुरुस्त ही। कुछ हफ्तों बाद लालाजी की जो मौत हुई उसपर इन शारीरिक चोटों का क्या असर पड़ा, निश्चित रूप से यह बताना

तो मुमकिन नहीं है, हालांकि उनके डाक्टरों की यह राय थी कि इन चोटों के कारण उनकी मृत्यु जल्दी हो गई। लेकिन मैं समझता हूं कि इस बात में कोई शक नहीं है कि शारीरिक चोटों की अपेक्षा लालाजी को जो मानसिक आघात पहुँचा उसका उनके ऊपर बहुत ज्यादा असर पड़ा। वह बहुत ही नाराज़ और सन्तप्त हो गये—इसलिए नहीं कि उनका ज़ाती अपमान हुआ था, बल्कि इसलिए कि उनपर किये गये हमले में राष्ट्रीय अपमान सम्मिलित था।

हिन्दुस्तान के मन में इसी राष्ट्रीय अपमान का ख़याल काम कर रहा था और जब उसके कुछ दिनों बाद ही लालाजी की मृत्यु हुई तब लोगों ने लाज़िमी तौर पर उसका ताल्लुक उनपर किये गये हमले से जोड़ा और इस ख़याल से लोगों के दिलों में जो ग़ुस्सा और रोष आया वह खुद-ब-खुद एक प्रकार के अभिमान के रूप में बदल गया। इस बात को समझ लेना ज़रूरी है, क्योंकि इस बात को समझकर ही हम पीछे होने वाली बातों को, भगतसिंह की कहानी, उत्तरी भारत में भगतसिंह को यकायक जो आश्चर्यजनक लोकप्रियता मिली, उसको, समझ सकेंगे। उन कामों की तह में जो मूल स्रोत होते हैं, उनको जो बातें प्रेरित करती हैं, उनको समझ लेने की कोशिश किये बिना किसी शख़्स या किसी काम की निन्दा करना बहुत ही आसान और वाहियात है। इससे पहिले भगतसिंह को लोग अच्छी तरह नहीं जानते थे और उन्हें जो लोकप्रियता मिली वह कोई हिंसात्मक या आतंकवाद का काम करने की वजह से नहीं मिली। आतंकवादी तो हिदुन्स्तान में क़रीब-क़रीब तीस बरस से रह-रह कर अपना काम कर रहे हैं और बंगाल में आतंकवाद के शुरू के दिनों को छोड़कर और कभी किसी भी आतंकवादी को, भगतसिंह को जो लोक-प्रियता हासिल हुई उसका सौवां हिस्सा भी नहीं मिला। यह एक ऐसी ज़ाहिर बात है जिससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। उसे तो मानना ही पड़ेगा! इसी तरह साफ़ और ज़ाहिर बात यह है कि यद्यपि आतंकवाद बीच-बीच में कभी-कभी जोर पकड़ जाता है, फिर भी हिदुस्तान के नौजवानों के लिए अब उसमें कोई आकर्षण नहीं रहा। पन्द्रह बरस तक अहिंसा पर ज़ोर दिये जाने से हिन्दुस्तान का सारा वातावरण बदल गया है, जिसके फल-स्वरूप अब जन-साधारण राजनैतिक लड़ाई के साधन के तौर पर आतंकवाद के ख़याल के पहले से कहीं ज्यादा उदासीन या विरोधी तक हो गये हैं। जिस दर्जे के लोगों में से आम तौर पर आतंकवादी निकलते हैं। उस दर्जे के लोगों पर यानी निचली सतह के मध्यम श्रेणी के लोगों पर और पढ़े-लिखों पर भी हिंसा के साधन के खिलाफ़ कांग्रेस ने जो प्रचार किया है उसका भारी असर पड़ा है। उनकी वे क्रियाशील और उतावली शक्तियां जो क्रान्तिकारी काम करने की ही बातें सोचा करती हैं, अब

यह पूरी तरह महसूस करने लगी हैं कि क्रान्ति आतंकवाद के ज़रिये नहीं हो सकती और आतंकवाद तो एक ऐसा बेकार और जर्जरित तरीक़ा है जो असली क्रान्तिकारी लड़ाई के रास्ते में रोड़े अटकाता है। हिन्दुस्तान में और दूसरे मुल्कों में भी अब तो आतंकवाद मरा-सा हो रहा है। और वह सरकारी दमन की वजह से नहीं, बल्कि आधारभूत कारणों और संसारव्यापी घटनाओं की वजहों से। सरकारी दमन तो सिर्फ दबाना या बोतल में बन्द कर देनाभर जानता है, वह जड़ से उखाड़कर नहीं फेंक सकता। मामूली तौर पर आतंकवाद किसी देश में होनेवाली क्रान्तिकारी प्रेरणा के बचपन का द्योतक होता है। वह अवस्था गुज़र जाती है और उसके साथ-साथ अहम घटना के रूप में आतंकवाद भी गुज़र जाता है। मुकामी कारणों या वैयक्तिक ज्यादतियों के कारण कभी-कभी कुछ आतंकवादी कार्य भले ही होते रहें। बिलाशक हिन्दुस्तान की क्रान्ति का बचपन बीत चुका और इसमें कोई शक नहीं कि उनके फलस्वरूप यहाँ कभी-कभी हो जानेवाली आतंकवादी घटनायें भी धीरे-धीरे बन्द हो जायँगी। लेकिन इसके मानी यह नहीं हैं कि हिन्दुस्ताम में सब लोगों ने हिंसात्मक साधन में विश्वास करना छोड़ दिया है। यह ठीक है कि उनमें से ज्यादातर लोग अब वैयक्तिक हिंसा और आतंकवाद में विश्वास नहीं करते, लेकिन इसमें भी कोई शक नहीं कि बहुत-से अब भी यह सोचते हैं कि एक समय ऐसा आ सकता है जब संगठित हिंसात्मक साधनों से काम लेना आज़ादी हासिल करने के लिए ज़रूरी हो जाय—ठीक वैसे ही जैसे कि दूसरे मुल्कों में ज़रूरी हो गया था। आज तो यह सवाल महज एक तात्त्विक विवाद का सवाल है। समय ही उसे कसौटी पर कस सकता है। जो हो; आतंकवादी साधनों से इसका कोई सरोकार नहीं।

इस तरह भगतसिंह ने अपने हिंसात्मक कार्य के लिए लोकप्रियता प्राप्त नहीं की, बल्कि इसलिए प्राप्त की कि कम-से-कम उस समय लोगों को ऐसा मालूम हुआ कि उसने लालाजी की और लालाजी के रूप में क़ौम की इज्ज़त रक्खी है। भगतसिंह एक प्रतीक बन गये। उनके काम को लोग भूल गये, केवल प्रतीक उनके मन में रह गया, जिसके फलस्वरूप पंजाब के हरेक गाँव व क़स्बे में और उससे कुछ कम बाकी के उत्तरी भारत में उनका नाम घर-घर में गूँजने लगा। उनकी बाबत बेशुमार गीत बने और उन्होंने जो लोकप्रियता पाई वह सचमुच अजीब थी।

साइमन-कमीशन के विरुद्ध प्रदर्शन में होनेवाली मार-पीट के कुछ दिनों के बाद लाला लाजपतराय दिल्ली में अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस कमिटी की एक बैठक में शामिल हुए। उनके शरीर पर चोटों के निशान बने हुए थे और उनसे होनेवाली तकलीफ़ों को वह भुगत रहे थे। यह मीटिंग लखनऊ के सर्व-दल-सम्मेलन के बाद हुई

थी और किसी-न-किसी रूप में उसमें आज़ादी के सवाल पर बहस उठ खड़ी हुई थी। मुझे यह याद नहीं रहा कि ठीक-ठीक बहस किस बात पर उठ खड़ी हुई थी, लेकिन मुझे यह याद है कि मैं वहाँ देर तक बोला और मैंने यह कहा कि अब समय आ गया है जब कांग्रेस को यह तय कर लेना चाहिए कि वह उस क्रान्तिकारी दृष्टिकोण को पसन्द करती है जिसमें हमारे राजनैतिक और सामाजिक भवन में कायापलट करने की ज़रूरत है, या सुधारवादियों के ध्येय और साधनों को। इस भाषण में ऐसी कोई महत्त्व की बात नहीं थी। मैं उस भाषण की बात को भूल भी गया होता, लेकिन वह इसलिए याद बनी रही कि लालाजी ने कमिटी में मेरे उस भाषण का जवाब दिया और उसके कुछ हिस्सों की नुक्ताचीनी की। उन्होंनें एक चेतावनी इस आशय की दी कि हम लोगों को ब्रिटिश मज़दूर-दल से कोई उम्मीद नहीं रखनी चाहिए। जहाँतक मुझसे ताल्लुक़ है, इस चेतावनी की कोई ज़रूरत न थी; क्योंकि मैं ब्रिटिश मज़दूरों के जो अधिकारी नेता हैं उनका प्रशंसक नहीं हूँ। अगर मैं उन्हें हिन्दुस्तान की आज़ादी की लड़ाई का समर्थन करते या साम्राज्यवाद-विरोधी कोई ऐसा कारगर काम करते देखता जो समाजवाद की तरफ़ ले जानेवाला होता तो मुझे तो आश्चर्य होता।

कांग्रेस कमिटी की बैठक में मैंने जो भाषण दिया था, लाहौर लौटकर लालाजी ने उसकी समालोचना शुरू कर दी। उन्होंने अपने हफ्तेवार अख़बार 'पीपुल' में मेरी स्पीच से उठनेवाली बहुत-सी बातों के सम्बन्ध में एक लेखमाला लिखनी शुरू की। इस लेखमाला का सिर्फ़ एक ही लेख छपा था, दूसरा लेख दूसरे हफ्ते के अंक में छपने से पहले ही उनकी मृत्यु हो गई। उनका वह पहला अधूरा लेख, जो शायद छापने के लिए लिखा गया उनका अन्तिम लेख था, मेरे लिए एक शोकपूर्ण दिलचस्पी का विषय था।

## २५

# लाठी-प्रहारों का अनुभव

लाला लाजपतराय पर हमला और बाद में उनकी मृत्यु हो जाने से साइमन-कमीशम आगे जहाँ-जहाँ गया वहाँ-वहाँ उसके खिलाफ़ प्रदर्शनों का ज़ोर और भी बढ़ गया। वह लखनऊ में आनेवाला था, और वहाँ भी कांग्रेस-कमिटी ने उसके 'स्वागत' की भारी तैयारियाँ की थीं। कई दिन पहले से ही बड़े-बड़े जुलूस, सभायें और प्रदर्शन किये गये, जो प्रचार के लिए और असली प्रदर्शन से पहले रिहर्सल के तौर पर थे। मैं भी लखनऊ गया और इनमें से कई कार्यों में मौजूद भी रहा। इन प्रारंभिक प्रदर्शनों की, जो पूरी तरह से व्यवस्थित और शान्त थे, कामयाबी ने अधिकारियों को झुंझला दिया और उन्होंने खास-खास जगहों में जुलूसों को रोकना और उनके निकाले जाने के खिलाफ़ हुक्म देना शुरू किया। इसी सिलसिले में मुझे नया अनुभव हुआ, और मेरे शरीर पर भी पुलिस के डण्डे और लाठी की मार पड़ी।

जुलूस, आमद-रफ्द में रुकावट पड़ने न देने का सबब ज़ाहिर करके, बन्द किये गये थे। हमने फैसला किया कि इस मामले में शिकायत का कोई मौक़ा न दिया जाय, और जहाँतक मुझे याद है, सोलह-सोलह आदमियों की छोटी-छोटी टुकड़ियाँ बनाकर उन्हें अलग-अलग एकान्त रास्तों से सभा की जगह पर भेजने का इन्तज़ाम किया। क़ानून की बारीकी से देखा जाय तो बेशक यह हुक्म का तोड़ना ही था, क्योंकि झण्डा लेकर सोलहों आदमियों का निकालना एक जुलूस ही था। सोलह आदमियों के एक झुण्ड के आगे-आगे मैं था, और एक बड़े फ़ासले के बाद ऐसा ही एक और दल आया, जिसके नेता मेरे साथी गोविन्दवल्लभ पन्त थे। वह सड़क सुनसान-सी थी। मेरा दल शायद दोसौ गज़ ही गया होगा, कि हमने अपने पीछे घोड़ों के टापों की टपटपाहट सुनी। जब हमने पीछे मुँह किया तो देखा कि घुड़सवारों का एक दल जिसमें शायद दो या तीन दर्जन व्यक्ति थे, हमारे ऊपर तेज़ी से चढ़ा चला आ रहा है। वे फ़ौरन ठीक हमारे पास आ पहुँचे, और उनके घोड़ों की जुड़ी हुई कतार ने सोलह आदमियों के हमारे छोटे-से झुण्ड को तितर-बितर कर दिया। फिर घुड़सवारों ने हमारे स्वयं-सेवकों को बड़े डण्डों से मारना शुरू किया, और स्वयंसेवक सहसा सड़क की बाजू की तरफ़ भागे, और कुछ तो छोटी दुकानों में भी घुस गये। सवारों ने उनका पीछा किया, और उन्हें पीट-पाटकर गिरा दिया। जब मैंने घोड़ों को ऊपर चढ़ते हुए देखा, तब मेरी भी स्वाभाविक वृत्ति ने मुझे प्रेरित किया कि मैं बच जाऊँ। वह हिम्मत

तोड़नेवाला दृश्य था। मगर फिर, मेरा ख़याल है कि, किसी दूसरी स्वाभाविक वृत्ति ने मुझे अपनी जगह पर ही खड़ा रक्खा, और मैं पहले हमले को बरदाश्त कर गया, जिसे मेरे पीछे के स्वयंसेवकों ने रोक लिया था। अचानक मैंने देखा कि मैं सड़क के बीच में अकेला हूँ; मुझसे कुछ ही गज़ की दूरी पर सब तरफ़ पुलिसवाले थे, जो हमारे स्वयंसेवकों को पीट गिराते थे। अपने-आप ही मैं, कम नुमायाँ होने के ख़ातिर, सड़क की बाज़ू की तरफ़ धीरे-धीरे चलने लगा। मगर मैं फिर रुक गया और मैंने अपने दिल में कुछ विचार किया, और यह फ़ैसला किया कि हट जाना मेरे लिए अच्छा न होगा। यह सब सिर्फ़ कुछ ही पल में हो गया, मगर मुझे उस समय के विचार-संघर्ष और निर्णय का अच्छी तरह स्मरण है। यह निर्णय मेरी राय में मेरे उस स्वाभिमान का परिणाम था जो मुझे कायर की तरह काम करते नहीं देख सकता था। फिर भी कायरता और हिम्मत के बीच की रेखा बहुत बारीक थी, और मैं कायरता की तरफ़ भी जा सकता था। मैंने ऐसा निर्णय किया ही था कि मैंने मुड़कर देखा कि एक घुड़सवार मेरे ऊपर घोड़ा छोड़ता चला आ रहा है और अपना नया लम्बा डण्डा घुमा रहा है। मैंने उससे कहा—'बढ़े जाओ', और अपना सिर ज़रा हटा लिया। यह भी सिर और मुँह को बचाने की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति ही थी। उसने मेरी पीठ पर धमाधम दो प्रहार किये। मुझे चक्कर आने लगा और मेरा सारा शरीर थरथराने लगा, मगर मुझे यह जानकर आश्चर्य और सन्तोष हुआ कि मैं फिर भी खड़ा ही रहा। फौरन ही पुलिस-दल पीछे हटा लिया गया, और उसे हमारे सामने सड़क रोकने को कहा गया। हमारे स्वयंसेवक फिर इकट्ठे हो गये, जिनमें से कई के ख़ून निकल रहा था और कई की खोपड़ियाँ फूटी हुई थीं। हमसे पन्त और उनका दल भी आ मिला, वह भी पीटा गया था। अब हम सब पुलिस के सामने बैठ गये। इस तरह लगभग एक घण्टे तक बैठे रहे और अँधेरा हो गया। एक तरफ़ तो कई बड़े-बड़े अफ़सर इकट्ठे हो गये, और दूसरी तरफ़ जैसे-जैसे ख़बर फैली वैसे-वैसे लोगों की बड़ी भीड़ इकट्ठी होने लगी। आख़िरकार अधिकारी हमें अपने रास्ते से जाने देने पर राज़ी हो गये, और उसी रास्ते से हम गये, और हमारे आगे-आगे हमराह की तरह से पुलिस के घुड़सवार भी चले, जिन्होंने हम पर हमला किया था और हमें मारा था।

इस छोटी-सी घटना का हाल मैंने कुछ तफ़सील से लिखा है, क्योंकि इसका मुझपर ख़ास असर हुआ। मुझे जो शारीरिक कष्ट हुआ वह मेरी इस ख़ुशी के ख़याल के आगे याद ही नहीं रहा कि मैं भी लाठी के प्रहारों को बरदाश्त करने और उनके सामने टिके रहने के लायक़ मज़बूत हूँ। और जिस बात से मुझे ताज्जुब हुआ वह यह कि इस सारी घटना में, और जबकि मैं पीटा जा रहा था तब भी मेरा दिमाग़ ठीक-

ठीक काम करता रहा, और मैं अपने अन्दर की भावनाओं का ज्ञानपूर्वक विश्लेषण करता रहा ! इस रिहर्सल ने मुझे दूसरे दिन सवेरे बड़ी मदद दी, जबकि हमारा और भी सख्त इम्तिहान होनेवाला था। क्योंकि दूसरे दिन सवेरे ही साइमन-कमीशन आनेवाला था, और उसी वक्त हमारा बड़ा प्रदर्शन होनेवाल था।

उस समय मेरे पिताजी इलाहाबाद में थे, और मुझे अंदेशा था कि जब वह दूसरे दिन सवेरे अख़बारों में मुझपर होनेवाले हमले का हाल पढ़ेंगे तो वह और परिवार के दूसरे लोग भी चिन्तित होजावेंगे। इसलिए मैंने रात को उन्हें टेलीफोन कर दिया कि सब ख़ैरियत है और आप लोग किसी क़िस्म की फ़िक्र न करें। मगर उन्हें फ़िक्र तो हुई। और जब वह चैन से न रह सके तो, आधी रात के क़रीब, उन्होंने लखनऊ आना तय किया। आख़िरी ट्रेन छूट चुकी थी, इसलिए वह मोटर से रवाना हुए। रास्ते में मोटर में कुछ गड़बड़ हो गई, और वह १४६ मील का सफ़र पूरा करके सवेरे क़रीब ९ बजे बिलकुल थके-माँदे लखनऊ पहुँचे।

यह क़रीब-क़रीब वह वक्त था जबकि हम जुलूस में स्टेशन जाने की तैयारी कर रहे थे। हमारे कुछ भी करने से जितना लखनऊ उभड़ न सकता था, उतना कल की घटनाओं से उभड़ गया, और सूरज उगने से भी पहले बड़ी तादाद में लोग स्टेशन पर पहुँच गये। शहर के मुख्तलिफ़ हिस्सों से बेशुमार छोटे-छोटे जुलूस आये, और कांग्रेस-आफ़िस से बड़ा जुलूस चार-चार की लाइनों में रवाना हुआ, जिसमें कई हज़ार आदमी थे। हम बड़े जुलूस में थे। ज्योंही हम स्टेशन के पास पहुँचे, हमें पुलिस ने रोक दिया। वहाँ स्टेशन के सामने क़रीब आध मील लम्बा और इतना ही चौड़ा बड़ा भारी खुला मैदान था ( यहाँ अब नया स्टेशन बन गया है ), और उस मैदान की एक बाज़ू पर हमें क़तार से खड़ा कर दिया गया। हमारा जुलूस वहीं खड़ा रहा, हमने आगे बढ़ने की बिलकुल कोशिश नहीं की। उस जगह सब दूर पैदल और घुड़सवार पुलिस, और फ़ौज भी, आकर भर गई थी। हमदर्दी रखनेवाले तमाशबीनों की भीड़ भी बढ़ गई थी, और कई जगह दो-दो तीन-तीन आदमी खुली जगह में जा खड़े हुए थे। अचानक दूर पर हमें एक दल आता हुआ दिखाई दिया। वह घुड़सवारों की दो या तीन लम्बी लाइनें थीं, जो सारे मैदान को घेरे हुए थीं और हमारी तरफ़ दौड़ रही थीं, और मैदान में जो कई लोग खड़े हुए थे उन्हें मारती-कुचलती हुई आ रही थीं। घोड़े को छोड़ते हुए सवारों का हमला एक बड़ा अच्छा दृश्य था, बशर्ते कि रास्ते में खड़े हुए बेचारे बेख़बर तमाशबीनों के साथ, जो घोड़ों के पैरों-तले आ गये, दर्दनाक वाक़या न हो जाता। इस हमला करनेवाली लाइनों के पीछे वे लोग ज़मीन पर पड़े हुए थे, जिनमें कुछ तो उठ भी नहीं सकते थे और दर्द से कराह रहे थे।

उस मैदान का सारा नज़ारा जंग के मैदान का-सा हो गया था। मगर उस नज़ारे को देखने या कुछ सोच-विचार करने का हमें ज्यादा वक्त नहीं मिला; घुड़सवार फौरन हमारे ऊपर आ गये और उनकी आगे की कतार हमारे जुलूस के आगे खड़े हुए लोगों से एक ही छलाँग में टकरा गई। वह वहीं डटे रहे, और चूँकि हम हटते हुए नहीं दिखाई दिये, उन्हें उसी दम घोड़ों को रोक देना पड़ा। घोड़े पिछले पैरों पर खड़े रह गये, उनके अगले पैर हमारे सिरों पर लटकते हुए हिल रहे थे। और फिर हमपर पैदल और घुड़सवार दोनों की मार और लाठियां खटा-खट पड़ने लगीं। वह बहुत भयंकर मार थी, और पिछले दिन जो मेरे दिमाग़ की विचार-शक्ति कायम रही थी वह जाती रही। मुझे सिर्फ़ इतना औसान रहा कि मुझे अपनी जगह पर ही खड़ा रहना चाहिए, और गिरना या पीछे हटना नहीं चाहिए। मार से मैं आधा अन्धा-सा हो गया और कभी-कभी मन-ही-मन में गुस्सा और उलटकर मारने का ख़याल भी मुझको आया। मैंने सोचा कि अपने सामने के पुलिस-अफसर को गिराकर घोड़े पर खुद चढ़ जाऊँ। यह कितना आसान है। मगर लम्बे अर्से की तालीम और अनुशासन ने काम दिया, और मैंने अपने सिर को मार से बचाने के सिवा, हाथ तक नहीं उठाया। इसके अलावा, मैं अच्छी तरह जानता था कि अगर हमारी तरफ़ से कुछ भी मुकाबिला हुआ तो एक भीषण दुर्घटना हो जायगी, जिसमें हमारे आदमी बड़ी तादाद में गोलियों से भून दिये जायँगे।

हमें वह समय भयंकर रूप से लम्बा मालूम पड़ा, मगर शायद वह सिर्फ़ कुछ ही मिनटों का खेल था। उसके बाद धीरे-धीरे एक-एक क़दम हमारी लाइन, बग़ैर टूटे, पीछे हटने लगी। इससे मैं कुछ-कुछ अलग और दोनों तरफ़ से ज्यादा खुला हुआ रह गया। मुझ पर और मार पडी और फिर मैं अचानक पीछे से उठा लिया गया और वहाँ से दूर ले जाया गया, जिससे मुझे बड़ी झुंझलाहट हुई। मेरे कुछ नौजवान साथियों, ने यह क़यास करके कि मुझपर घातक हमला किया जा रहा है, मुझे इस तरह एकाएक बचा लेना तय कर लिया था।

हमारे जुलूस के लोग अपनी असली लाइन से क़रीब एक सौ फ़ीट पीछे फिर कतार से खड़े हो गये। पुलिस भी पीछे हट गई और हमसे पचास फ़ीट के फ़ासले पर एक लाइन में खड़ी हो गई। इस तरह हम खड़े रहे, और साइमन-कमीशन जो इस सारे झगड़े की जड़ था, हमसे बहुत दूर करीब आधे मील की दूरी पर स्टेशन से चुपचाप निकल गया। इतना करने पर भी वह काले झंडों का प्रदर्शन करनेवालों से बचकर न निकल सका। इसके बाद ही, हम पूरा जुलूस बनाकर कांग्रेस-दफ्तर आये, और वहां से अलग-अलग चले गये। मैं अपने पिताजी के पास गया, जो बड़ी चिन्ता से मेरा इन्तज़ार कर रहे थे।

अब जबकि सामयिक उत्तेजना चली गई थी तो मुझे सारे शरीर में दर्द और भारी थकान मालूम होने लगी। जिस्म का क़रीब-क़रीब हर हिस्सा दर्द करता था, और सब जगह अंधी चोटों और मार के निशान हो गये थे। मगर ख़ैर थी कि मेरे किसी नाज़ुक जगह पर चोट नहीं आई थी। परन्तु हमारे कई साथी इतने ख़ुशकिस्मत न थे। उन्हें बुरी तरह चोटें आई थीं। गोविन्दवल्लभ पन्त पर, जो मेरे पास खड़े थे, ज्यादा मार पड़ी, क्योंकि वह छ: फीट से भी ज्यादा ऊँचे-पूरे थे, और उस वक़्त जो चोटें उनके आई उनके सबब से बहुत अर्से तक उन्हें इतना दर्द और तकलीफ़ रही कि वह कमर भी सीधी नहीं कर सकते थे और न कुछ ज्यादा काम-काज ही कर सकते थे। उसके बाद मुझे अपनी जिस्मानी हालत और बरदाश्त की ताक़त का कुछ ज्यादा घमण्ड हो गया। मगर मार पड़ने की याद से ज्यादा तो मुझे कई मारनेवाले पुलिस-वालों, खासकर अफसरों, के चेहरों की याद बनी हुई है। ज्यादातर असली ठोक-पीट तो यूरोपियन सारजेण्टों ने की;—हिन्दुस्तानी मामूली सिपाही तो हलके-हलके ही काम चला रहे थे—उन चेहरों में हिक़ारत और खून की प्यास करीब-करीब पागलपन की हद तक भरी हुई थी, और उनमें हमदर्दी या इन्सानियत का नामोनिशान भी न था। ठीक उसी वक्त, शायद, हमारी तरफ़ के चेहरे भी देखने में उतने ही नफ़रत-भरे होंगे, और हमारे ज्यादातर अहिंसात्मक होने से, हमारे विरोधियों के लिए हमारे दिल और दिमाग़ में कोई प्रेम भर नहीं गया होगा, और न हमारे चेहरों की सुन्दरता बढ़ गई होगी। लेकिन फिर भी एक-दूसरे के खिलाफ़ हमें कोई शिकायत न थी; हमारा कोई ज़ाती झगड़ा न था, न कोई दुर्भाव था। उस वक्त हम अजीब और ज़बरदस्त ताकतों के प्रतिनिधि थे, जो हमें अपने अधीन बनाये हुए थीं और जो हमें इधर और उधर फेंकती जाती थीं और जिन्होंने हमारे दिलों और दिमाग़ों पर बड़ी खूबी से क़ब्ज़ा करके हमारी अभिलाषाओं और भावनाओं को उभाड़ दिया था और हमें अपना अन्धा हथियार बना लिया था। हम अन्धे की तरह जद्दोजहद करते थे, और यह नहीं जानते थे कि यह किस लिए करते हैं या कहाँ चले जा रहे हैं? कार्य की उत्तेजना ने हमें टिकाये रक्खा था, मगर जब वह चली गई तो फ़ौरन यह सवाल पैदा हुआ कि आखिर यह सब किसलिए किया जा रहा है?—किस मक़सद के लिए?

# २६

# ट्रेड यूनियन काँग्रेस

उस साल देश की राजनीति में ज्यादातर साइमन-कमीशन के बायकाट और सर्वदल-सम्मेलन का ही बोलबाला रहा। लेकिन मेरी अपनी दिलचस्पी ज्यादातर दूसरी तरफ़ रही और मैंने काम भी ज्यादातर उन्हीं दिशाओं में किया। काँग्रेस के कार्यवाहक प्रधान-मंत्री की हैसियत से मैं उसके संगठन की देखभाल करने और उसे मज़बूत बनाने में लगा रहा। ख़ास तौर पर मेरी दिलचस्पी इस बात में थी कि मैं लोगों का ध्यान सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों की तरफ़ खींचूं। आजादी के सिलसिले में मदरास में हम जिस हद तक पहुँच गये थे उस स्थिति को भी पुष्ट रखना था। ख़ास तौर पर इसलिए कि सर्व-दल-सम्मेलन का तमाम झुकाव हम लोगों को पीछे खींचने की तरफ़ था। इस उद्देश को सामने रखकर मैंने देश में बहुत सफ़र किया और कई बड़ी-बड़ी आम सभाओं में व्याख्यान दिये। मेरा खयाल है कि १९२८ में मैं चार सूबों की राजनैतिक कान्फ्रेन्सों का सभापति बना। ये सूबे थे दक्षिण में मलाबार और उत्तर में पंजाब, दिल्ली और संयुक्तप्रान्त। इसके अलावा बम्बई और बंगाल में मैं युवक-संघों और विद्यार्थियों की कान्फ्रेन्सों का सभापति बना। वक्तन-फवक्तन मैं संयुक्तप्रान्त के देहात में भी गया और कभी-कभी कारख़ानों के मज़दूरों की सभाओं में भी मैंने व्याख्यान दिये। मेरे व्याख्यानों में सार तो हमेशा ज्यादातर एक ही रहता था, यद्यपि उसका रूप मुकामी हालतों के मुताबिक बदल जाता था, और जिन बातों पर मैं ज़ोर देता था वे उस तरह की होती थीं कि जिस किस्म के लोग सभाओं में आते थे। हर जगह मैंने राजनैतिक आज़ादी और सामाजिक स्वाधीनता पर ज़ोर दिया और यह कहा कि राजनैतिक आज़ादी सामाजिक स्वाधीनता की सीढ़ी है। यानी आर्थिक स्वाधीनता हासिल करने के लिए यह ज़रूरी है कि पहले राजनैतिक आज़ादी हो। ख़ास तौर से काँग्रेस के कार्यकर्त्ताओं और पढ़े-लिखे लोगों में मैं समाजवाद की विचार-धारा फैलाना चाहता था। क्योंकि ये लोग ही राष्ट्रीय आन्दोलन की असली रीढ़ थे और यही ज्यादातर निहायत संकुचित राष्ट्रीयता की बात सोचा करते थे। इनके व्याख्यानों में प्राचीन काल के गौरव पर बहुत ज़ोर दिया जाता था, और इस बात पर भी कि विदेशी सरकार ने हमें क्या-क्या भौतिक और आध्यात्मिक हानियाँ पहुँचाई हैं। हमारे लोगों को घोर कष्ट सहने पड़ रहे हैं, हमारे ऊपर दूसरों का राज्य रहना बड़ी बेइज्ज़ती की बात है; इसलिए हमारी क़ौमी इज्ज़त यह चाहती है कि हम आजाद हों और हमारे

लिए आवश्यक है कि हम लोग मातृभूमि की वेदी पर अपनी बलि चढ़ावें। ये बातें सुपरिचित थीं। हर हिन्दुस्तानी के दिल में उनकी आवाज गूंज उठती थी। मेरे मन में भी राष्ट्रीयता का यह भाव भड़क उठता था और मैं उससे गद्गद् हो जाता था—यद्यपि मैं हिन्दुस्तान के ही नहीं, कहीं के भी पुराने जमाने का अन्धा प्रशंसक कभी नहीं रहा। लेकिन उनमें सच्चाई भी बार-बार इस्तैमाल में आने की वजह से वे बासी और लचर होती जाती थीं और उनको लगातार बार-बार दुहराते रहने का नतीजा यह होता था कि हम अपनी लड़ाई के सबसे ज्यादा ज़रूरी पहलुओं तथा दूसरे मसलों पर ग़ौर नहीं कर पाते थे। इन बातों से जोश ज़रूर आता था, लेकिन उनसे विचारों को प्रोत्साहन नहीं मिलता था।

हिन्दुस्तान में मैं समाजवाद के मैदान में सबसे पहले नहीं आया, बल्कि सच बात तो यह है कि मैं कुछ पिछड़ा हुआ रहा। जहाँ और बहुत-से लोग सितारे की तरह चमकते आगे बढ़ गये, वहाँ मैं तो बहुत-सी तकलीफ़ के साथ क़दम-क़दम आगे बढ़ा। विचार-धारा की दृष्टि से मजदूरों की ट्रेड यूनियनों का आन्दोलन निश्चित रूप से समाजवादी था और ज्यादातर युवक-संघों की भी यही बात थी। जब मैं दिसम्बर १९२७ में योरप से लौटा तब एक क़िस्म का अस्पष्ट और गोल-मोल समाजवाद हिन्दुस्तान की आबोहवा का एक हिस्सा बन चुका था और व्यक्तिगत समाजवादी तो उससे भी पहले हिन्दुस्तान में बहुत-से थे। ये लोग ज्यादातर स्वप्नदर्शी थे। लेकिन धीरे-धीरे उनपर मार्क्स के उसूलों का असर बढ़ता जाता था और उनमें से कुछ तो अपने को सौ फीसदी मार्क्सवादी समझते थे। योरप और अमेरिका की तरह हिन्दुस्तान में भी, सोवियट यूनियन में जो कुछ हो रहा था उससे और खासकर पाँच-साला योजना से, इस प्रवृत्ति को बहुत बल मिला।

एक समाजवादी कार्यकर्त्ता की हैसियत से मेरी अहमियत सिर्फ़ इस बात में थी कि मैं एक मशहूर कांग्रेसी था और कांग्रेस में बड़े ओहदों पर था। मेरे अलावा और भी बहुत-से कांग्रेसी थे जो मेरी ही तरह सोचने लग गये थे। यह प्रवृत्ति सबसे ज्यादा युक्तप्रान्त की सूबा कांग्रेस कमिटी में पाई जाती थी, जिसमें हमने १९२६ में ही एक नरम समाजवादी कार्यक्रम बनाने की कोशिश की थी। हमारे सूबे में जमींदारी और ताल्लुक़ेदारी प्रथा है, इसलिए सबसे पहले हमें जिस सवाल का सामना करना पड़ा वह था ज़मीन का सवाल। हम लोगों ने ऐलान किया कि मौजूदा जमींदारी-प्रथा रद होनी चाहिए और सरकार और काश्तकार के बीच में किसी दूसरे की कोई ज़रूरत नहीं है। हम लोगों को फूंक-फूंककर क़दम रखना पड़ा, क्योंकि हमें एक ऐसी आबोहवा में काम करना था जो उस वक्त तक इस तरह के ख़यालात की आदी नहीं थी।

इसके बाद, १९२९ में, युक्तप्रान्त की सूबा कांग्रेस कमिटी एक क़दम और आगे बढ़ गई और उसने निश्चित रूप से समाजवाद के ढंग पर अ० भा० कांग्रेस कमिटी से एक सिफारिश की, जिसके फल-स्वरूप जब १९२९ की गर्मियों में बम्बई में अ० भा० कांग्रेस-कमिटी की बैठक हुई तब उसमें युक्तप्रान्त की तजवीज का दीबाचा मंजूर कर लिया गया और इस तरह उस तजवीज़ में समाजवाद का जो उमूल मौजूद था वह भी मंजूर कर लिया गया। युक्तप्रान्त की तजवीज़ में जो तफसीलवार कार्यक्रम दिया गया था उसपर विचार करने की बात अगली बैठकों के लिए मुल्तवी करदी गई। ऐसा मालूम पड़ता है कि ज्यादातर लोग अ० भा० कांग्रेस-कमिटी और संयुक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी के इन प्रस्तावों को बिलकुल भूल ही गये और वे यह समझ बैठे हैं कि पिछले एक-दो सालों से साम्यवाद की चर्चा कांग्रेस में यकायक उठ खड़ी हुई है। फिर भी इतना तो सही ही है कि अ० भा० कांग्रेस-कमिटी ने उस प्रस्ताव पर अच्छी तरह विचार किये बिना ही उसे पास कर दिया था और ज्यादातर मेम्बरों ने शायद यह महसूस नहीं कर पाया कि वे क्या कर रहे हैं?

'इण्डिपेण्डेन्स फॉर इण्डिया लीग' (हिन्दुस्तान की आज़ादी चाहनेवालों का संघ) की संयुक्तप्रान्त वाली शाखा में सूबे के खास-खास कांग्रेसियों के अलावा और कोई न था और यह शाखा निश्चित रूप से समाजवाद को माननेवाली थी; इसलिए वह साम्यवाद की तरफ़ और कांग्रेस-कमिटी से, जिसमें सब तरह के लोग थे, कुछ आगे चली गई। बल्कि सच बात तो यह है कि 'आज़ादी-संघ' का एक ध्येय यह भी था कि सामाजिक स्वाधीनता होनी चाहिए। हम लोग हिन्दुस्तान-भर में संघ को मजबूत बनाकर यह चाहते थे कि आज़ादी और समाजवाद का प्रचार करने में उस संगठन से काम लिया जाय। दुर्भाग्य से कुछ हद तक युक्त-प्रान्त को छोड़कर और कहीं संघ का कार्य ठीक तौर से नहीं चला और इससे मुझे बहुत मायूसी हुई। इसका सबब यह नहीं था कि देश में हमारे मददगारों की कमी थी, बल्कि बात यह थी कि हमारे ज्यादातर कार्यकर्त्ता कांग्रेस में भी प्रमुख कार्य करनेवाले थे और चूंकि कांग्रेस ने कम-से-कम उसूलन् तो आजादी को अपना ध्येय बना लिया था इसलिए वे अपना काम कांग्रेस के संगठन के जरिये कर सकते थे। दूसरा सबब यह था कि जिन लोगों ने शुरू-शुरू में आजादी-संघ क़ायम किया उनमें से कुछ ने गंभीरता पूर्वक यह नहीं सोचा कि संस्था के रूप में हमें इस संघ को मजबूत बनाना है; वे तो यह समझते थे कि यह संस्था तो महज़ इसलिए है कि कांग्रेस-कार्य-समिति पर इसका दबाव पड़ता रहे और कार्य-समिति के चुनाव पर असर डालने के लिए भी इसका इस्तैमाल किया जाय। इसलिए 'आज़ादी-संघ' मुरझा गया और ज्यों-ज्यों कांग्रेस ज्यादा लड़ाकू होती गई त्यों-त्यों उसने तमाम

ज़िन्दा-दिल लोगों को अपनी ओर खींच लिया और संघ कमज़ोर होता गया। १९३० में जब सत्याग्रह की लड़ाई आई तब यह संघ कांग्रेस में मिलकर ग़ायब हो गया।

१९२८ के पिछले छः महीनों में और १९२९ में मेरी गिरफ्तारी की चर्चा अक्सर होती रहती थी। मुझे पता नहीं कि इस सिलसिले में अख़बारों में जो कुछ छपता था उसके पीछे, और ऐसे दोस्तों से जो मालूम पड़ता था कि जिस बात को वे कहते हैं उसके बाबत अच्छी तरह जानते हैं, मुझे जो निजी चेतावनियाँ मिला करती थीं उनके पीछे, असलियत क्या थी। लेकिन इन चेतावनियों ने मेरे दिल में एक क़िस्म की अनिश्चितता पैदा कर दी, और मैं यह महसूस करने लगा कि मैं किसी भी वक्त गिरफ्तार किया जा सकता हूँ। मुझे ख़ास तौर पर दूसरी कोई चिन्ता न थी; क्योंकि मैं यह जानता था कि भविष्य में मेरे लिए कुछ भी हो, लेकिन मेरी ज़िन्दगी रोज़मर्रा के कामों की निश्चित ज़िन्दगी नहीं हो सकती। इसलिए मैं सोचता था कि मैं अनिश्चितता का और एकाएक होनेवाले हेर-फेरों का, जेल जाने का जितनी जल्दी आदी हो जाऊँ उतना ही अच्छा है। और मेरा ख़याल है कि कुल मिलाकर मैं इस ख़याल का आदी होने में सफल हुआ। मेरे घरवालों ने भी इस ख़याल के आदी होने में कामयाबी हासिल की, हालाँकि जितनी कामयाबी मुझे मिली उन्हें उससे बहुत कम मिली। इसीलिए जब-जब मैं गिरफ्तार हुआ, तब-तब मुझे उसमें ख़ास बात मालूम नहीं हुई। हाँ, अगर मैं एकाएक गिरफ्तार होने के ख़याल का आदी न हो जाता तो ऐसा न होता। इस तरह गिरफ्तारी की खबरों में नुकसान-ही-नुकसान न था, फ़ायदा भी था। उन्होंने मेरी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में कुछ जोश और तीखापन पैदा कर दिया। आज़ादी का हरेक दिन बेशक़ीमत मालूम होने लगा, मानों वह एक दिन मुनाफे में मिला हो। सच बात तो यह है कि १९२८ और १९२९ में मैं जी भरकर काम करता रहा और अख़ीर में मेरी गिरफ्तारी १९३० के अप्रैल में जाकर हुई। उसके बाद जेल से बाहर जो थोड़े-से दिन मैंने कई बार बिताये उनमें अवास्तविकता की काफ़ी मात्रा थी। मुझे ऐसा मालूम पड़ता था कि मैं अपने ही घर में एक अजनबी हूँ, जो थोड़े दिनों के लिए वहाँ आया हूँ। इसके अलावा मेरे हर काम में अनिश्चितता रहने लगी, क्योंकि कोई यह नहीं कह सकता था कि मेरे लिए कल क्या होनेवाला है। यह आशंका तो हर वक्त बनी रहती थी कि न जाने जेल में वापस जाने का बुलावा कब आ जाय।

ज्यों-ज्यों १९२८ का अख़ीर आता गया, त्यों-त्यों कलकत्ता-कांग्रेस नज़दीक आती गई। उसके सभापति मेरे पिताजी चुने गये थे। उनका दिलो-दिमाग़ उस वक्त सर्व-दल-सम्मेलन तथा उसके लिए उन्होंने जो रिपोर्ट तैयार की थी उससे सराबोर

था। वह चाहते थे कि उसे काँग्रेस से पास करा लिया जाय। वह यह जानते थे कि मैं उनकी इस बात से सहमत न था, क्योंकि मैं आज़ादी के प्रश्न पर कोई समझौता करने को राज़ी न था। इस बात पर वह नाराज़ थे। इस मामले पर हम लोगों ने बहुत बहस नहीं की। लेकिन हम दोनों के मन में मानसिक संघर्ष का भाव निश्चित-रूप से काम कर रहा था और हम लोग यह जानते थे कि हम एक-दूसरे के खिलाफ़ जा रहे हैं। मत-भेद तो हम लोगों में इससे भी पहले अक्सर हुआ करता था, ऐसा भारी मत-भेद कि जिसके फल-स्वरूप हम अलग-अलग पक्षों में रहते थे, लेकिन मेरा ख़याल है कि इससे पहले या इसके बाद भी और किसी भी मौक़े पर हम लोगों में इतनी तनातनी नहीं हुई जितनी कि इस वक्त थी।

हम दोनों ही इस बात से कुछ हद तक दुःखी थे। कलकत्ते में तो मामला इस हद तक बढ़ गया कि पिताजी ने यह बात साफ़-साफ़ कहदी कि अगर काँग्रेस में उनकी बात नहीं चली, यानी अगर काँग्रेस ने, सर्व-दल-सम्मेलन की रिपोर्ट के पक्ष में जो तजवीज पेश की जायगी उसे, कसरत राय से मंजूर नहीं किया, तो वह काँग्रेस का सभापति रहने से इन्कार कर देंगे। यह बात बिलकुल वाजिब थी और बिधान की दृष्टि से उन्हें यह तरीक़ा अख्त्यार करने का पूरा हक़ था। फिर भी उनके बहुत-से उन मुख़ालिफों के लिए वह बहुत ही परेशानी की बात थी जो यह नहीं चाहते थे कि इस बात के लिए मामला इस हद तक बढ़ जाय। मेरा खयाल है कि काँग्रेस में और दूसरी संस्थाओं में भी अक्सर यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि लोग नुक्ताचीनी और बुराई तो करते हैं, लेकिन खुद ज़िम्मेदारी लेने से जी चुराते हैं। हमें हमेशा यह उम्मीद बनी रहती है कि हमारी नुक्ताचीनी की वजह से दूसरी पार्टी हमारे माफिक अपनी नीति बदल देगी और नाव को खेने की ज़िम्मेदारी हमारे सिर नहीं पड़ेगी। जहाँ ज़िम्मेदारी हम लोगों को सौंपी ही नहीं जाती और जहाँ कार्य-कारिणी को न तो हम हटा ही सकते हैं न उससे जवाब तलब ही कर सकते हैं, जैसा कि आजकल हिन्दुस्तान की सरकार के मामले में है, वहाँ बिलाशक सीधी मार को छोड़कर हमारे पास सिवा नुक्ताचीनी करने के कोई मार्ग नहीं और वह नुक्ताचीनी लाज़िमी तौर पर नकारात्मक होगी; फिर भी अगर हम इस नकारात्मक आलोचना को कारगर बनाना चाहते हैं तो उसके पीछे हमारे मन में यह इरादा होना चाहिए, हमें इस बात के लिए तैयार रहना चाहिए, कि जब-कभी हमें मौक़ा मिलेगा तब सब इन्तज़ाम और ज़िम्मेदारी हम अपने हाथ में ले लेंगे--फिर चाहे वे महकमे मुल्की हों या फ़ौजी, भीतरी हों या बाहरी। महज़ आंशिक अख्त्यार माँगना, जैसा कि लिबरल लोग फ़ौज के मामले में करते हैं, इस बात का इक़बाल करना है कि हम सरकार का

काम नहीं चला सकते । इस इक़बाल से हमारी नुक्ताचीनी का वज़न घट जाता है ।

गांधीजी के आलोचकों में यह बात अक्सर पाई जाती है कि वे उनकी नुक्ताचीनी करते हैं, बुराई करते हैं, लेकिन जब उनसे उनके फलस्वरूप यह कहा जाता है कि फिर लीजिए इस काम को आप ही चलाइए, तब उनके पैर उखड़ जाते हैं। कांग्रेस में ऐसे बहुत-से शख्स रहे हैं जो उनके बहुत-से कामों को नापसंद करते है और इसलिए बड़े जोरों के साथ उनकी नुक्ताचीनी करते हैं, लेकिन जो इस बात के लिए तैयार नहीं हैं कि उन्हें कांग्रेस से निकाल दें। यह रुख़ समझ में तो आसानी से आ जाता है, लेकिन यह किसी भी पक्ष के साथ इंसाफ नही करता ।

कलकत्ता-कांग्रेस में भी कुछ-कुछ इसी किस्म की मुश्किल पैदा हुई। दोनों दलों में समझौते की बात-चीत चली और यह ज़ाहिर किया गया कि समझौते का एक रास्ता निकल आया है, लेकिन अख़ीर में वह गिर गया । ये सब बातें बड़े गोल-माल में डालनेवाली थीं और बहुत अच्छी भी नहीं थीं। कांग्रेस के खास प्रस्ताव में, जैसा कि वह अख़ीर में पास हुआ, सर्वदल-सम्मेलन की रिपोर्ट को मंजूर कर लिया गया; लेकिन उसमें ब्रिटिश सरकार से भी यह कह दिया गया कि अगर उसने एक साल के अन्दर इस विधान को मंजूर नहीं किया तो कांग्रेस फिर अपने आज़ादी के ध्येय को ग्रहण कर लेगी । असल में इस प्रस्ताव ने सरकार को एक शाइस्ता चुनौती देकर उसे साल-भर की मियाद दी थी । इसमें कोई शक नहीं कि यह प्रस्ताव हमें आजादी के ध्येय से नीचे घसीट लाया था, क्योंकि सर्वदल-सम्मेलन की रिपोर्ट ने तो पूरे डोमिनियन स्टेटस की भी माँग नहीं की थी। फिर भी यह प्रस्ताव इस अर्थ में बुद्धिमत्तापूर्ण था कि उसने एक ऐसे वक्त में कांग्रेस में फूट नहीं होने दी जब कि कोई भी फूट के लिए तैयार न था और उसने १९३० में जो लड़ाई शुरू हुई उसके लिए सब कांग्रेसियों को एकसाथ रक्खा। यह बात तो बिलकुल साफ थी कि ब्रिटिश सरकार सालभर के अन्दर सब दलों द्वारा बनाये गये विधान को मंजूर नहीं करेगी। सरकार से लड़ाई होना लाज़िमी था और उस वक़्त मुल्क की जैसी हालत थी उसमें सरकार से किसी किस्म की लड़ाई उस वक़्त तक कारगर नहीं हो सकती थी जबतक उसे गांधीजी की रहनुमाई न मिले ।

मैंने कांग्रेस के खुले जलसे में इस प्रस्ताव का विरोध किया था। यद्यपि यह मुख़ालिफ़त मैंने कुछ-कुछ बेमन से की थी, ताहम इस बार भी मुझे प्रधानमंत्री चुना गया । कुछ भी हो, मैं मँत्री-पद पर बना रहा और कांग्रेस के क्षेत्र में ऐसा मालूम पड़ता था कि मैं वही काम कर रहा हूँ जो ब्रे का नामी 'विकर' करता था। कांग्रेस की गद्दी परकोई भी सभा-पति बैठे, मैं हमेशा उस संगठन को सम्हालने के लिए उसका मंत्री बनाया जाता था।

झरिया कोयले की खानों के क्षेत्र के बीचों-बीच है। कलकत्ता-कांग्रेस से कुछ दिन पहले यहीं हिन्दुस्तान-भर की ट्रेड यूनियन कांग्रेस हुई। उसके पहले दो दिन मैंने उसमें हाज़िर रहकर उसकी कार्रवाई में भाग लिया और उसके बाद मुझे कलकत्ते चले आना पड़ा। मेरे लिए ट्रेड यूनियन-कांग्रेस में शामिल होने का यह पहला ही मौक़ा था और मैं वस्तुतः एक नया आदमी था, यद्यपि किसानों में मैंने जो काम किया था और हाल ही में मज़दूरों में जो काम मैंने किये थे उनकी वजह से मैं जनता में काफ़ी लोक-प्रिय हो गया था। वहाँ जाकर मैंने देखा कि सुधारवादियों में और उनसे आगे बढ़े हुए तथा क्रान्तिकारी लोगों में पुरानी कशमकश जारी है। बहस की खास बातें ये थीं कि किसी इन्टरनेशनल से तथा साम्राज्य-विरोधी संघ से और अखिल-विश्व-शान्ति-संघ से अपना ताल्लुक़ जोड़ा जाय या न जोड़ा जाय और जिनेवा में अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर आफिस की जो कान्फ्रेन्स होने जा रही है उसमें अपने प्रतिनिधि भेजना मुनासिब होगा या नहीं ? इन सवालों से भी कहीं ज्यादा ज़रूरी यह बात थी कि कांग्रेस के दोनों हिस्सों के दृष्टिकोण में बहुत भारी फर्क था। एक हिस्सा तो मज़दूर-संघ के पुराने लोगों का था, जो राजनीति में माडरेट था और जो सचमुच इस बात को शक की निगाह से देखता था कि उद्योग-धन्धों के, मज़दूरों और मिल-मालिकों के, झगड़ों में राजनीति को मिलाया जाय। उनका विश्वास था कि मज़दूरों को अपनी शिकायतें दूर करने से आगे नहीं जाना चाहिए और उसके लिए भी उन्हें फूंक-फूंक कर क़दम रखना चाहिए। इन लोगों का उद्देश्य यह था कि धीरे-धीरे मज़दूरों की हालत को सुधारा जाय। इस दल के नेता थे एन० एम० जोशी, जोकि जिनेवा में अक्सर हिन्दुस्तान के मज़दूरों के प्रतिनिधि बनाकर भेजे जा चुके थे। दूसरा दल इनसे कहीं ज्यादा लड़ाकू था। राजनैतिक लड़ाई में उसका विश्वास था और वह खुल्लमखुल्ला अपने क्रान्तिकारी दृष्टिकोण का ऐलान करता था। कुछ कम्यूनिस्टों का या कम्यूनिस्टों से मिलते-जुलते लोगों का इस दल पर असर था। हाँ, यह दल उनके नियंत्रण में नहीं था। बंबई में कपड़ों के कारखानों के मज़दूर इस दल के हाथ में थे। और उनकी रहनुमाई में बम्बई के कपड़े के कारखानों में मज़दूरों की एक बहुत बड़ी हड़ताल हुई थी, जो कुछ हद तक कामयाब भी हुई थी। बम्बई में गिरनी कामगार यूनियन नाम की एक नई और जबरदस्त यूनियन कायम हुई थी, जिसका बम्बई के मज़दूरों पर प्राधान्य था। आगे बढ़े हुए दल के असर में एक और ताक़तवर संघ जी० आई० पी० रेलवे के मज़दूरों का था।

जबसे ट्रेड यूनियन कांग्रेस क़ायम हुई है तभीसे उसकी कार्यकारिणी और उसका दफ्तर एन० एम० जोशी और उनके नज़दीकी साथियों के हाथ में रहा है और

मजदूर-संघों के आन्दोलन को पैदा करने का श्रेय उन्हींको है। यद्यपि उग्र दल का मजदूर जनता पर ज्यादा जोर है, पर ऊपर से दल की नीति पर असर डालने का उन्हें कोई मौक़ा नहीं मिला। यह हालत संतोशजनक नहीं कही जा सकती और न उससे सच्चे हालात का पता ही चल सकता है। इनके आपस में बड़ा असन्तोष और झगड़ा था और उग्र दल के लोग चाहते थे कि वे ट्रेड यूनियन-कांग्रेस की ताक़त को अपने काबू में करलें। इसके साथ ही साथ मामलों को बहुत ज्यादा बढ़ाने की अनिच्छा भी थी, क्योंकि लोगों में फूट हो जाने का डर था। ट्रेड यूनियन-आन्दोलन हिन्दुस्तान में अभी अपनी जवानी की तरफ़ बढ़ रहा था। वह कमज़ोर था और जो लोग उसे चला रहे थे उनमें से ज्यादातर खुद मजदूर नहीं थे। ऐसी हालतों में हमेशा बाहरवालों में यह प्रवृत्ति होती है कि मज़दूरों को इस्तैमाल करके अपना मतलब गांठें। हिन्दुस्तान की ट्रेड यूनियन कांग्रेस में और मज़दूर-संघों में यह प्रवृत्ति साफ़-साफ़ दिखाई देती थी। ताहम, सालों काम करके एन० एम० जोशी ने यह साबित कर दिया था कि वह मज़दूर-संघों के सच्चे और उत्साही हितैषी हैं और जो लोग राजनैतिक दृष्टि से उन्हें नरम और फिसड्डी समझते थे वे भी यह मानते थे कि हिन्दुस्तान के मज़दूरों के आन्दोलन में उन्होंने जो सेवायें की हैं वे क़द्र के लायक़ हैं। नरम या आगे बढ़े हुए दोनों दलों में से बहुत ही कम आदमियों के लिए यह बात कही जा सकती थी।

झरिया में मेरी अपनी हमदर्दी आगे बढ़े हुए दल के साथ थी। लेकिन मैं नया-नया ही वहाँ पहुँचा था इसलिए ट्रेड यूनियन कांग्रेस की इस घरेलू लड़ाई में मेरा दिमाग़ चकराता था, अतएव मैंने यही तय किया कि मैं इन झगडों से अलग रहूँ। मेरे झरिया से चले आने के बाद ट्रेड यूनियन कांग्रेस के ओहदेदारों का सालाना चुनाव हुआ और कलकत्ते में मुझे यह मालूम हुआ कि अगले साल के लिए मैं उसका सभापति चुना गया हूँ। मेरा नाम नरल दलवालों ने पेश किया था, ग़ालिबन इसलिए कि जिस दूसरे उम्मीदवार का नाम उग्र दल ने पेश किया था उसको हराने का सबसे ज्यादा मौक़ा मेरा नाम पेश करने में ही था। इन महाशय ने रेलों के कर्मचारियों में वास्तविक काम किया था, इसलिए अगर मैं चुनाव के दिन झरिया में मौजूद होता तो मुझे विश्वास है कि मै उन कार्यकर्त्ता उम्मीदवार के मुकाबिले में अपना नाम वापस लेलेता। मुझे यह बात खास तौर पर बेजा मालूम होती थी कि एक ऐसे शख्स को जिसने कुछ काम नहीं किया और नया-नया ही आया यकायक सभापति की गद्दी पर पटक दिया जाय। यह बात खुद ही इस बात की सबूत थी कि हिन्दुस्तान में मज़दूर-संघ का आन्दोलन अभी अपने बचपन में है और कमजोर है।

१९२८ के साल में मज़दूरों के झगड़ों और हड़तालों की भरमार रही। १९२९ में

भी यही हाल रहा। बम्बई के कपड़ों के कारखानों के मजदूर बहुत दुःखी और लड़ाकू थे। उन्होंने इन हड़तालों की रहनुमाई की। बंगाल के जूट के कारख़ानों में भी एक बहुत बड़ी हड़ताल हुई। जमशेदपुर के लोहे के कारखानों में, और मेरा ख़याल है कि रेलों के मजदूरों में भी, हड़तालें हुई। जमशेदपुर के टीन की चद्दरों के कारख़ानों में तो बहुत दिनों झगड़ा रहा। यह हड़ताल मजदूरों ने बहादुरी के साथ कई महीनों तक चलाई। यद्यपि इन मजदूरों के साथ लोगों की बहुत ज्यादा हमदर्दी थी, फिर भी जो जबरदस्त कम्पनी इन कारखानों की मालिक थी उसने मज़दूरों को कुचल दिया। इस कम्पनी का ताल्लुक बर्मा की तेल-कम्पनी से था।

सब मिलाकर ये दोनों साल मजदूरों में बेचैनी के साल थे और मजदूरों की हालत दिन-पर-दिन खराब होती जा रही थी। हिन्दुस्तान में लड़ाई के बाद के साल यहाँ के उद्योग-धन्धों के लिए मौज के साल थे। इन दिनों उन्होंने अनाप-शनाप मुनाफ़ा कमाया। सन या रुई के कारखानों ने पाँच या छः साल तक अपने हिस्सेदारों को जो मुनाफ़ा बाँटा वह सौ फ़ीसदी सालाना था—अक्सर वह डेढ़ सौ फ़ीसदी सालाना तक पहुँचा। ये अनाप-शनाप मुनाफे सबके सब कारख़ानों के मालिकों और हिस्सेदारों की जेब में गये। मज़दूरों की हालत जैसी-की-तैसी बनी रही। उनकी मज़दूरी में जो थोड़ी-बहुत तरक्क़ी हुई, वह आम तौर पर चीज़ों की कीमतें बढ़ जाने से बराबर हो गई। इन दिनों में जब लोग धड़ाधड़ कमा रहे थे तब भी ज्यादातर मजदूर बहुत ही बुरे घरों में रहते थे और उनकी औरतों को कपड़ा तक पहनने को नहीं मिलता था। बम्बई के मजदूरों की हालत बहुत बुरी थी, लेकिन जूट के कारखानों में काम करनेवाले उन मजदूरों की हालत तो और भी बुरी थी, जिनके पास आप मोटर में कलकत्ते के महलों से घंटेभर के अन्दर पहुँच सकते थे। वहाँ बाल बिखेरे और फटे-पुराने मैले-कुचैले कपड़े पहने हुए अधनंगी औरतें महज रोटियों पर काम करती थीं, इसलिए कि दौलत का एक लम्बा-चौड़ा दरिया लगातार ग्लासगो और डंडी की तरफ़ बहता रहे और उसमें से कुछ हिस्सा कुछ हिन्दुस्तानियों की जेबों में भी चला जाय।

तेज़ी के इन सालों में कारख़ाने मज़े से चलते रहे, यद्यपि मज़दूरों की हालत पहले-जैसी ही बनी रही और उन्हें कुछ भी फ़ायदा नहीं हुआ। लेकिन जब धूम का वक्त चला गया और अनाप-शनाप मुनाफ़ा कमाना उतना आसान नहीं रह गया तब सारा बोझ मज़दूरों के सिर पटक दिया गया। कारख़ाने के मालिक पुराने मुनाफ़े को भूल गये। उसे तो वे खा चुके थे और अब अगर उन्हें काफ़ी मुनाफ़ा नहीं होता है तो यह रोज़-गार किस तरह चले? इसीके फल-स्वरूप मज़दूरों में बेचैनी फैली, झगड़े खड़े हुए और बम्बई में ऐसी भारी-भारी हड़तालें हुईं कि देखनेवाले दंग रह गये और जिनसे

कारखानों के मालिक और सरकार दोनों ही डर गये। मज़दूरों के आन्दोलन में वर्ग-चेतनता आने लगी थी और विचार-धारा तथा संगठन दोनों ही दृष्टियों से वह लड़ाकू और खतरनाक होता जा रहा था। इधर राजनैतिक हालत भी तेज़ी के साथ बिगड़ रही थी और यद्यपि मज़दूरों का आन्दोलन और राजनैतिक हलचल एक-दूसरे से अलग थे, उनका आपस में कोई संबन्ध न था, फिर भी वे कुछ हद तक एक-दूसरे के साथ-साथ चलते थे, इसलिए सरकार भविष्य को आशंका-रहित नहीं समझती थी।

मार्च १९२९ में सरकार ने आगे बढ़े हुए दल में से उनके कई सबसे ज्यादा नामी-नामी कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार करके संगठित मज़दूरों पर एकाएक हमला कर दिया। बम्बई की गिरनी कामगार यूनियन के नेता तथा बंगाल, युक्तप्रान्त और पंजाब के मज़दूर-नेता गिरफ्तार कर लिये गये। इनमें से कुछ कम्यूनिस्ट थे, कुछ कम्यूनिस्टों से मिलते-जुलते और बाकी महज मज़दूर-संघोंवाले थे। यह उस नामी मेरठ-केस की शुरुआत थी जो साढ़े चार वर्ष के क़रीब चला।

मेरठ के मुल्ज़िमों की मदद के लिए एक सफाई-कमिटी बनी। मेरे पिताजी इस कमिटी के सभापति थे तथा डॉक्टर अन्सारी, मैं तथा कुछ और लोग उसके मेम्बर थे। हम लोगों का काम मुश्किल था। मुक़दमे के लिए रुपया इकट्ठा करना आसान न था। ऐसा मालूम होता था कि पैसेवाले लोगों को कम्यूनिस्टों और समाजवादी आन्दोलन करनेवालों से कोई हमदर्दी नहीं थी, और वकील लोग पूरा महनताना लिये बिना काम करने को तैयार न थे, जो कि किसीका खून चूसकर ही दिया जा सकता था। हमारी कमिटी में कई नामी वकील थे, जैसे पिताजी तथा दूसरे लोग। ये हर वक्त हमें सलाह देने और रास्ता दिखाने को तैयार थे। उसमें हमारा कुछ भी खर्च नहीं पड़ता था। लेकिन उनके लिए यह मुमकिन न था कि वे महीनों लगातार मेरठ में ही बने रहें। उनके अलावा जिन वकीलों के पास हम गये थे, मालूम होता है, यह समझते थे कि यह मुकदमा हमारे लिए ज्यादा-से-ज्यादा रुपये कमाने का एक ज़रिया है।

मेरठ के मुकदमे के अलावा कुछ और डिफेंस कमिटियों से भी मेरा ताल्लुक रहा है—जैसे एम० एन० राय के तथा दूसरे मुकदमों में। हर मौके पर मुझे अपने पेशे के लोगों के लालचीपन को देखकर हैरत हुई है। इस सिलसिले में मुझे सबसे पहला बड़ा धक्का उस वक्त लगा जब १९१९ में पंजाब में फ़ौजी क़ानून की रू से मुक़दमे चल रहे थे। उन दिनों वकीलों के एक बहुत बड़े लीडर ने इस बात पर ज़िद की कि उन्हें पूरी फ़ीस दी जाय। यह रक़म बहुत बड़ी थी। उन्होंने इस बात का कोई खयाल नहीं किया कि उनके मुवक्किल वे लोग हैं जो फ़ौजी कानून के शिकार हुए हैं और उनमें उनका साथी एक वकील भी है। इनमें से बहुत-से लोगों को कर्ज़ लेकर या अपनी

जायदादें बेच-बेचकर इन वकील साहब की फ़ीस देनी पड़ी। इसके बाद मुझे जो तजुर्बे हुए वे तो और भी दुःखदायी थे। हम लोगों को ग़रीब-से-ग़रीब लोगों से तांबे के पैसे ले-लेकर रुपये इकट्ठे करने पड़ते थे और वे बड़े-बड़े चैकों के रूप में वकीलों को दे देने पड़ते थे। यह बात हमें बहुत ही अखरती थी। और फिर यह सब काम बिलकुल बेकार मालूम पड़ता था; क्योंकि एक राजनैतिक मामले में या मज़दूरों के मामले में हम सफ़ाई दें या न दें, नतीजा ग़ालिबन वही होता है। लेकिन मेरठ के मुक़दमे जैसे मुक़दमे में, बिलाशक, सफ़ाई देना कई दृष्टियों से लाज़िमी था।

मेरठ-षड़यन्त्र-डिफेन्स-कमिटी की मुल्ज़िमों के साथ आसानी से नहीं पटी। इन मुल्ज़िमों में तरह-तरह के लोग थे, जिनकी सफ़ाई भी अलग-अलग किस्म की थी, और कभी-कभी तो उनमें आपसी मेल क़तई ग़ायब रहता था। कुछ महीनों के बाद हमने बाक़ायदा कमिटी को तोड़ दिया और अपनी ज़ाती हैसियत से मदद करते रहे। राजनैतिक हालात जिस तरह बदलते जा रहे थे उसकी तरफ हमारा ध्यान अधिकाधिक खिंचने लगा और १९३० में तो हम सबके सब जेलों में बन्द हो गये।

# २७

## विक्षोभ का वातावरण

१९२९ की कांग्रेस लाहौर में होनेवाली थी। वह दस साल के बाद फिर पंजाब में आई थी, और लोग दस वर्ष पहले की बातें याद करने लगे—१९१९ की घटनायें, जलियाँवालाबाग़, फौजी कानून और उसके साथ होनेवाली बेइज्ज़तियाँ, अमृतसर का कांग्रेस-अधिवेशन, और उसके बाद असहयोग की शुरूआत। इन दस बरसों में बहुत घटनायें हुई थीं और हिन्दुस्तान की सूरत ही बदल गई थी, मगर फिर भी उस समय में और इस समय में समानताओं की कमी न थी। राजनैतिक विक्षोभ बढ़ रहा था, संघर्ष का वातावरण तेज़ी से बनता जा रहा था। आनेवाले संघर्ष की लम्बी छाया पहले से ही देश पर पड़ रही थी।

असेम्बली और प्रान्तीय कौंसिलों में बहुत समय से लोगों की दिलचस्पी न रही थी, सिवा उन मुट्ठीभर लोगों के जो उनके पवित्र घेरों में ही चक्कर काटा करते थे। ये असेम्बली और कौंसिलें अपनी लकीर पीटा करती थीं, जिनसे सरकार को सत्ता-परस्ती और स्वेच्छाचारी स्वरूप को ढकने के लिए एक टूटा-फूटा सहारा मिल जाता था, और लोगों को हिन्दुस्तान की पार्लमेन्ट होने और उसके मेम्बरों को भत्ता मिलने की बात करने का एक बहाना। असेम्बली का आखरी सफ़ल कार्य, जिसकी तरफ लोगों का ध्यान लगा, १९२८ में हुआ था, जबकि उसने साइमन-कमीशन से सहयोग न करने का प्रस्ताव पास किया था।

इसके बाद असेम्बली के प्रेसीडेण्ट और सरकार के बीच में एक संघर्ष भी हुआ था। विट्ठलभाई पटेल, जो असेम्बली के स्वराजिस्ट प्रेसीडेण्ट थे, अपनी स्वतंत्र वृत्ति के कारण सरकार के दिल में काँटे की तरह खटकते थे और उनके पर काट देने की बहुत कोशिशें की गई। ऐसी बातों की तरफ़ ध्यान तो जाता था, मगर आम तौर पर जनता का ध्यान बाहर की घटनाओं की ही तरफ लगा हुआ था। मेरे पिताजी को अब कौंसिलों के बारे में कोई भ्रम नहीं रह गया था और वह अक्सर यह राय ज़ाहिर करते थे कि इस अवस्था में अब कौंसिलों से ज्यादा फायदा नहीं उठाया जा सकता। अगर कोई मुनासिब मौक़ा आ जावे तो वह उनमें से खुद भी बाहर निकल आना चाहते थे। हालाँकि उनका दिमाग़ वैधानिक था और कानूनी तरीकों और ज़ाब्तों का आदी था, मगर हालात से मजबूरन उन्हें यही नतीजा निकालना पड़ा कि हिन्दुस्तान में तो वैधानिक कहे जानेवाले तरीक़े बेकार और फ़ुजूल हैं। वह अपने कानूनी दिमाग को

यह कहकर तसल्ली दे देते थे कि हिन्दुस्तान में विधान ही नहीं है, और न दरहक़ीकत यहाँ कानून की हुकूमत ही है, जबकि यहाँ किसी एक व्यक्ति या दल की मर्जी पर ही, जिस तरह जादूगर के पिटारे में से अचानक कबूतर निकल पड़ते हैं, उसी तरह आर्डिनेन्स वग़ैरा निकल पड़ते हैं। तबीयत और आदत से वह क्रान्तिकारी बिलकुल न थे, और अगर मध्यम-वर्गीय प्रजातन्त्रवाद जैसी कोई चीज़ होती तो वह बिलाशक विधान के बड़े भारी स्तम्भ होते। मगर, जैसी कि हालत थी, हिन्दुस्तान में नकली पार्लमेण्ट का नाटक होने के कारण, यहाँ वैधानिक आन्दोलन करने की चर्चा से वह ज्यादा-ज्यादा चिढ़ने लगे थे।

गांधीजी अब भी राजनीति से अलग ही रह रहे थे, सिवाय इसके कि कलकत्ता-काँग्रेस में उन्होंने हिस्सा लिया था। मगर वह सब घटनाओं की जानकारी रखते थे, और काँग्रेस-नेता उनसे अक्सर सलाह-मशवरा किया करते थे। कुछ वर्षों से उनका ख़ास काम खादी-प्रचार हो गया था, और इसके लिए उन्होंने सारे हिन्दुस्तान में लम्बे चौड़े दौरे किये थे। उन्होंने बारी-बारी से एक-एक प्रान्त को लिया, और वह उसके हर ज़िले और क़रीब-करीब हर महत्वपूर्ण कस्बे में गये, और दूर के और देहाती हिस्सों में भी गये। हर जगह उनके लिए लोगों की भारी-भारी भीड़ जमा होती थी और उनका कार्य-क्रम पूरा करने के लिए पहले से बहुत तैयारी करनी पड़ती थी। इस तरह से उन्होंने बार-बार हिन्दुस्तान का दौरा किया है, और उत्तर से दक्षिण तक और पूर्वी पहाड़ों से पश्चिमी समुद्र तक इस विशाल देश के एक-एक कोने को उन्होंने देख लिया है। मैं नहीं समझता कि और किसी इन्सान ने कभी हिन्दुस्तान में इतना सफर किया होगा।

प्राचीन काल में बड़े-बड़े भ्रमण करनेवाले थे, जो हमेशा घूमते ही रहते थे और सैलानी तबीयत के यात्री थे, मगर उनके यात्रा के साधन बहुत धीमे थे। और इस तरह जीवन-भर का भ्रमण भी एक साल के रेल और मोटर के सफ़र का मुका-बिला नहीं कर सकेगा। गांधीजी रेल और मोटर से जाते थे, मगर वह सिर्फ़ उन्हीसे बँधे हुए नहीं थे; वह पैदल भी चलते थे। इस तरह उन्होंने हिन्दुस्तान और यहाँ के लोगों का अद्भुत ज्ञान प्राप्त किया, और इसी तरीके से करोड़ों लोगों ने उन्हें देखा और उनके व्यक्तिगत सम्पर्क में आये।

वह १९२९ में अपने खादी-सम्बन्धी दौरे में युक्तप्रान्त में आये, और उन्होंने निहायत गरम मौसम में इस प्रान्त में कई हफ्ते बिताये मैं कभी-कभी उनके साथ कई दिनों तक लगातार रहता, और हालांकि उनके आने पर इससे पहले भी बड़ी-बड़ी भीड़ देख चुका था, मगर फिर भी उनके लिए एकत्र इन भीड़ों को देखकर ताज्जुब किये बग़ैर न रहता। यह हाल गोरखपुर जैसे पूर्वी ज़िलों में

ख़ास तौर पर देखा जाता था, जहाँ कि आदमियों का मजमा देखकर टिड्डी-दल की याद आ जाती थी। जब हम देहात में मोटर से गुज़रते थे, तो कुछ-कुछ मीलों के फ़ासले पर ही दस हज़ार से लेकर पच्चीस हज़ार तक की भीड़ हमें मिला करती थी, और सभाओं में तो अक्सर लाख-लाख से भी ज्यादा तादाद हो जाती थी। सिवाय किसी-किसी बड़े शहर के, सभाओं में लाउड स्पीकरों का इन्तजाम न था, और ज़ाहिरा सब आदमियों को भाषण सुनाई देना नामुमकिन था। शायद वे कुछ सुनने की उम्मीद भी नहीं करते थे; वे महात्माजी के दर्शन करके ही संतुष्ट हो जाते थे। गांधीजी अपने पर आवश्यक बोझ न पड़ने देते हुए, आम तौर पर, छोटा-सा भाषण देते थे। नहीं तो, इस तरह हर घण्टे और हर रोज काम चलाना बिलकुल असम्भव हो जाता।

मैं सारे युक्तप्रान्त के दौरे में उनके साथ न रहा, क्योंकि मेरा उनको कोई ख़ास उपयोग नहीं हो सकता था, और दौरे के दल में मेरे एक के और बढ़ जाने से कोई मतलब न था। यों मजमों से मुझे परहेज़ न था, मगर गांधीजी के साथ चलनेवालों का आम तौर पर जैसा हाल होता है, यानी धक्का खाना और अपने पैर कुचलवाना, ये मुझे ललचाने को काफ़ी न थे। मेरे पास करने को दूसरा काम काफ़ी था, और सिर्फ़ खादी के प्रचार में ही, जो मुझे बढ़ती हुई राजनैतिक हालत में एक अपेक्षाकृत छोटा ही काम नज़र आता था, लग जाने की मेरी इच्छा न थी। किसी हद तक मैं ग़ैर-राजनैतिक कामों में लगे रहने से नाराज़ था, और मैं उनके विचारों का आधार कभी नहीं समझ सका। उन दिनों वह खादी-कार्य के लिए धन इकट्ठा कर रहे थे, और वह अक्सर कहते थे कि उन्हें 'द्ररिद्र-नारायण' अर्थात् 'ग़रीबों के नारायण' या 'ग़रीबों में रहनेवाले नारायण' के लिए धन चाहिए। उनका यह मतलब था कि उससे वह ग़रीबों की मदद करेंगे, उन्हें घरेलू धन्धों द्वारा काम दिलायेंगे। मगर इससे अप्रत्यक्ष रूप से दरिद्रता—ग़रीबी—का गौरव बढ़ता दिखाई देता था, क्योंकि नारायण ख़ासकर ग़रीबों का नारायण है, ग़रीब उसके प्यारे हैं। मैं समझता हूँ कि सब जगह धार्मिक भावना यही है। मैं इस बात को पसन्द नहीं कर सकता था; क्योंकि मुझे तो द्ररिद्रता एक घृणित चीज़ मालूम होती थी, जिससे लड़कर उसे उखाड़ फेंकना चाहिए, न कि उसे किसी तरह बढ़ावा देना चाहिए। इसके लिए लाज़िमी तौर पर उस प्रणाली पर हमला करना चाहिए जो दरिद्रता को बरदाश्त करती और पैदा करती है, और जो लोग ऐसा करने से झिझकते हैं उन्हें मजबूरन दरिद्रता को किसी-न-किसी तरह उचित ठहराना ही पड़ता था। वे यही विचार कर सकते थे कि दुनिया में सदा चीज़ों की कमी ही रहेगी, और ऐसी दुनिया की कल्पना नहीं कर सकते थे कि जिसमें सबको

जीवन की आवश्यक चीज़ें भरपूर मिल सकें। शायद उनके विचारानुसार हमारे समाज में ग़रीब और अमीर तो हमेशा ही बने रहेंगे।

जब कभी मुझे इस बारे में गांधीजी से बहस करने का मौक़ा मिला तभी वह इस बात पर ज़ोर देते थे कि अमीर लोगों को अपनी दौलत जनता की धरोहर की तरह समझनी चाहिए। यह दृष्टिकोण काफ़ी पुराना है और यह हिन्दुस्तान में, और मध्यकालीन योरप में भी, अक्सर पाया जाता है। किन्तु मैं तो बिलकुल इस बात को नहीं समझ सका हूँ कि कोई भी शख़्स ऐसा हो जाने की कैसे उम्मीद कर सकता है, या यह कैसे कल्पना कर लेता है, कि इसीसे समाज की समस्या हल हो जायगी ?

असेम्बली, जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, सुस्त और सोती रहनेवाली हो गई थी और उसकी बेलुत्फ़ कार्रवाइयों में शायद ही कोई दिलचस्पी लेता हो। जब भगतसिंह और बी० के० दत्त ने दर्शकों की गैलरी से उस सभा-भवन के फ़र्श पर दो बम फेंक दिये, तब एक दिन एक झटके की तरह एकाएक उसकी नींद खुली। किसीको सख़्त चोट नहीं आई, और शायद बम इसी इरादे से फेंके गये थे, जैसा कि मुल्ज़िम ने बाद में बयान किया था, कि शोर और खलबली पैदा की जाय, न कि किसीको चोट पहुँचाई जाय।

उनसे सचमुच असेम्बली में और बाहर खलबली मच गई। आतंककारियों के दूसरे काम इतने निरापद न थे। एक नौजवान अंग्रेज़ पुलिस अफ़सर को, जिसके बारे में कहा गया है कि उसने लाला लाजपतराय को पीटा था, लाहौर में गोली से मार दिया गया। बंगाल और दूसरी जगहों पर ऐसा मालूम होने लगा कि आतंककारियों की हलचलें फिर से शुरू हो गई। षड्यन्त्र के बहुत-से मुक़दमे चलाये गये, और नज़रबंदों की—यानी बग़ैर मुक़दमा चलाये और सज़ा सुनाये जेल में रक्खे जानेवाले या दूसरी तरह से रोके हुए लोगों की—तादाद जल्दी बढ़ गई।

लाहौर-षड्यन्त्र के मुक़दमे में अदालत में पुलिस ने कई आसाधारण काम किये, और इस कारण भी इस मुक़दमे की तरफ़ लोगों का ध्यान बहुत गया। अदालत और जेल में मुल्ज़िमों के साथ जो बर्त्ताव किया जा रहा था, उसके विरोध-स्वरूप ज्यादातर क़ैदियों ने भूख-हड़ताल करदी। वह ठीक किन कारणों से शुरू हुई, यह तो मैं भूल गया हूँ, मगर अन्त में यह बड़ा सवाल बन गया कि क़ैदियों, ख़ासकर राजनैतिक क़ैदियों, के साथ आम तौर पर कैसा बर्ताव होना चाहिए। यह हड़ताल हफ्तों तक बढ़ती गई, और इससे सारे देश में खलबली मच गई। मुल्ज़िमों की शारीरिक कमज़ोरी के सबब से उन्हें अदालत में न ले जाया जा सकता था, और बार-बार कार्रवाई मुल्तवी करनी पड़ी। इसपर भारत-सरकार ने ऐसा क़ानून बनाने का सूत्रपात किया, जिससे

मुल्ज़िम या उनके पैरोकारों की ग़ैर मौजूदगी में भी अदालत अपनी कार्रवाई जारी रख सके। उन्हें जेल के बर्ताव के प्रश्न पर भी ग़ौर करना पड़ा।

जब हड़ताल एक महीने तक चल चुकी थी, उस वक्त मैं इत्तफ़ाक़ से लाहौर पहुँचा। मुझे कुछ कैदियों से जेल में मिलने की इजाज़त देदी गई, और मैंने इसका फ़ायदा उठाया। भगतसिंह से यह मेरी पहली मुलाक़ात थी। मैं जतीन्द्रनाथ दास वग़ैरा से भी मिला। भगतसिंह का चेहरा आकर्षक था और उससे बुद्धिमत्ता टपकती थी। वह निहायत गम्भीर और शान्त था। उसमें गुस्सा नहीं दिखाई देता था। उसकी दृष्टि और बात-चीत में बड़ी मृदुता थी। मगर मेरा ख़याल है कि कोई भी शख़्स जो एक महीने तक उपवास करेगा, आध्यात्मिक और मृदुल दिखाई देने लगेगा। जतीन्द्र दास तो और भी मृदुल, एक कन्या की तरह कोमल और मुलायम, मालूम पड़ा। जब मैं उससे मिला, उसे काफ़ी दर्द हो रहा था। बाद में वह, उपवास से ही, भूख-हड़ताल के ६१ वें रोज़ मर गया।

भगतसिंह की ख़ास हसरत, अपने चाचा सरदार अजीतसिंह से, जो १९०७ में लाला लाजपतराय के साथ ज़िला-वतन कर दिये गये थे, मिलना या कम-से-कम उनकी खबर पाना मालूम हुई। वह कई बरसों तक विदेशों में जिला-वतन रहे। कुछ-कुछ यह भी सुना गया था कि वह दक्षिण अमेरिका में बस गये हैं मगर मुझे ख़याल नहीं है कि उनके बारे में कोई भी निश्चित ख़बर हो। मुझे यह भी पता नहीं कि वह मर गये या जीते हैं।

जतीन्द दास की मृत्यु से सारे देश में सनसनी पैदा हो गई। इससे राजनैतिक क़ैदियों के बर्तात का सवाल आगे आगया, और इसपर सरकार ने एक कमिटी मुकर्रर करदी। इस कमिटी के विचारों के फलस्वरूप नये क़ायदे जारी किये गये, जिनसे कैदियों के तीन दर्जे कर दिये गये। इन कायदों से कुछ सुधार होने की सूरत नज़र आई, मगर असल में कुछ भी फ़र्क़ नहीं पड़ा, और हालत अत्यन्त असन्तोषजनक रही, और अब भी है।

धीरे-धीरे गरमी और बरसात की ऋतु बीतकर ज्योंही शरद-ऋतु आई, प्रान्तीय काँग्रेस कमिटियाँ काँग्रेस के लाहौर-अधिवेशन के लिए अध्यक्ष चुनने के काम में लग गईं। इस चुनाव की एक लम्बी कार्रवाई होती है, जो अगस्त से अक्तूबर तक चलती रही है। १९२९ में गांधीजी को अध्यक्ष बनाने के पक्ष में क़रीब-क़रीब एकमता था। उन्हें दूसरी बार सभापति बनाने की इस इच्छा से, वास्तव में, काँग्रेस के नेताओं में उनका पद और ऊँचा नहीं हो जाता था, क्योंकि वह तो कई बरसों से एक तरह के सभापतियों के दादा बने हुए थे। उस वक्त सबको यही लगा कि चूँकि लड़ाई

अनक़रीब है और उसकी सारी बागडोर यों भी उन्हींके हाथों में रहनेवाली है, तो फिर कांग्रेस के 'विधियुक्त' नेता भी उस वक्त के लिए उन्हींको क्यों न बनाया जाय ? इसके सिवा, इतना बड़ा और कोई आदमी सामने न था जो उस समय सभापति बनाया जाता।

इसलिए प्रान्तीय कमिटियों ने सभापति-पद के लिए गांधीजी की सिफ़ारिश की। मगर उन्होंने मंजूर न किया। हालाँकि उन्होंने जोर के साथ इन्कार किया था, मगर उसमें दलील करने की गुंजाइश रही हुई मालूम हुई और यह उम्मीद की गई कि वह उसपर दुबारा ग़ौर कर लेंगें। लखनऊ में इसका आख़िरी फ़ैसला करने के लिए अखिल-भारतीय कांग्रेस-कमिटी की मीटिंग की गई, और आख़िरी घड़ी तक क़रीब-क़रीब हम सभी का यह खयाल था कि वह राज़ी हो जायँगे। मगर ऐसा न हुआ और आख़िरी घड़ी में उन्होंने मेरा नाम पेश किया और उसपर जोर दिया। उनके आख़िरी इन्कार से अखिल-भारतीय कांग्रेस-कमिटी के लोग तो कुछ-कुछ भौंचक्के रह गये, और इस विषम स्थिति में डाले जाने से कुछ-कुछ नाराज भी हुए। किसी दूसरे शख़्स के उपलब्ध न होने की दशा में, लाचारी के भाव से, उन्होंने आख़िर मुझको चुन लिया।

मुझे तबतक कभी इतनी झुंझलाहट और ज़िल्लत महसूस नहीं हुई जितनी इस चुनाव पर। यह बात नहीं थी कि मुझे यह इज्ज़त बख़्शे जाने का—क्योंकि यह एक बड़ी भारी इज्ज़त की बात है—अहसास न हो, अगर मैं मामूली तरीक़े से चुना जाता तो मुझे खुशी भी हुई होती। मगर मुझे यह इज्ज़त तो सीधे रास्ते या बग़ल के रास्ते से भी नहीं मिली, मैं तो गोया किसी पोशीदा रास्ते से आ खड़ा हुआ और अचानक लोगों को मुझे मंज़ूर कर लेना पड़ा। उन्होंने किसी तरह इसे बरदाश्त किया, और दवा की गोली की तरह मुझे निगल लिया। इससे मेरे स्वाभिमान को चोट पहुँची, और मुझे क़रीब क़रीब यह महसूस हुआ कि मैं इस इज्ज़त को लौटा दूँ। मगर खुश-क़िस्मती से मैंने अपने भावों को प्रकट करने से अपने-आपको रोक लिया, और भारी कलेजा लिए हुए वहाँ से चुपचाप चला आया।

इस फ़ैसले पर जिसको सबसे ज्यादा खुशी हुई वह शायद मेरे पिताजी थे। वह मेरी राजनीति को पसन्द नहीं करते थे, मगर वह मुझे तो काफ़ी ज्यादा चाहते थे, और मेरे लिए कुछ भी अच्छी बात होने से उन्हें खुशी होती थी। अक्सर वह मेरी नुक्ताचीनी करते थे और मुझसे कुछ रुखाई से बोला करते थे, मगर कोई भी आदमी, जो उनकी सदिच्छा बनाये रखने की परवा करता हो, उनके सामने मेरे ख़िलाफ़ कुछ कह नहीं सकता था।

मेरा चुनाव मेरे लिए एक बड़ी इज्ज़त और जिम्मेदारी की बात थी; और

यह चुनाव खुसूसियत इसलिए रखता था कि अध्यक्ष-पद पर बाप के बाद फौरन ही बेटा आ रहा था। यह अक्सर कहा गया कि मैं काँग्रेस का सबसे कम-उम्र सभापति था—उस वक्त मेरी उम्र ठीक चालीस की थी। मगर यह ग़लत है। मेरा ख़याल है कि गोखले की भी क़रीब-क़रीब यही उम्र थी, और मौलाना अबुलकलाम आज़ाद (हालाँकि वह मुझसे कुछ बड़े हैं) की उम्र तो शायद चालीस से भी कम थी जबकि वह सभापति बने थे। मगर गोखले, जबकि वह ३५–४० के अन्दर ही थे, तब भी योग्यता के लिहाज़ से बड़े राजनीतिज्ञों में माने जाते थे, और अबुलकलाम आज़ाद की सूरत-शक्ल ऐसी बन गई थी जो उनकी विद्वत्ता के अनुकूल आदरणीय थी। अब चूँकि मुझमें राजनीतिज्ञता का गुण शायद ही कभी माना गया हो, और मुझपर कभी बड़ा विद्वान् होने का इलज़ाम भी किसीने नहीं लगाया, इसलिए मैं बड़ी उम्र के होने के इलज़ाम से बच गया हूँ—भले ही मेरे बाल पक गये हों और मेरा चेहरा भी उसकी चुग़ली खा देता हो।

लाहौर-काँग्रेस नज़दीक आती जाती थी। इस बीच घटनायें एक-एक करके ऐसी घटती जाती थीं, जिनसे मालूम होता था कि वे खुद अपनी ही किसी ताक़त से आगे बढ़ती जा रही हैं। व्यक्ति कितने ही बड़े क्यों न थे, मगर उनका बहुत ही थोड़ा भाग था। व्यक्ति को यही मालूम होता था कि वह किसी बड़ी मशीन के अन्दर, जो बेरोक आगे बढ़ती हुई चली जा रही थी, सिर्फ एक पुर्ज़े की तरह ही है।

भाग्य की इस प्रगति को शायद, रोकने की आशा से ब्रिटिश सरकार एक कदम आगे बढ़ी, और वाइसराय लार्ड अर्विन ने एक गोल-मेज़-कान्फ़्रेन्स करने की बाबत ऐलान किया। उस ऐलान के शब्द बड़ी चालाकी-भरे थे, जिनका मतलब 'बहुत कुछ' भी और 'कुछ नहीं' भी हो सकता था, और हम कईको तो यह साफ मालूम होता था कि 'कुछ नहीं' ही निकलेगा। और अगर उसमें ज्यादा मतलब भी होता, तो भी हम जो कुछ चाहते थे उसके क़रीब तक भी वह नहीं पहुँच सकता था। वाइसराय के इस ऐलान के निकलते ही फौरन, और बड़ी जल्दी से, दिल्ली में 'लीडरों की कान्फ़्रेन्स' बुलाई गई, और कई दलों के लोग उसमें बुलाये गये। उसमें गांधीजी, मेरे पिताजी और विट्ठलभाई पटेल भी (जो उस समय तक असेम्बली के प्रेसीडेण्ट ही थे) मौजूद थे, और तेजबहादुर सप्रू वग़ैरा नरम दल के नेता भी थे। सबकी सहमति से एक संयुक्त प्रस्ताव या वक्तव्य तैयार किया गया, जिसमें वाइसराय का ऐलान कुछ शर्तों के साथ, जिनके बारे में लिख दिया गया कि ये ज़रूरी हैं और पूरी की जानी चाहिएँ, मंजूर किया गया। अगर इन शर्तों को सरकार मंजूर कर लेती तो सहयोग

दिया जाता। ये शर्तें [१] काफ़ी वज़नदार थीं, और उनसे कुछ तो फ़र्क़ होता ही।

नरम और प्रगतिशील सभी दलों के द्वारा ऐसा प्रस्ताव मंजूर किया जाना एक बड़ी विजय ही थी। मगर कांग्रेस के लिए तो यह नीचे गिरना था। हाँ, सबके बीच में एक सर्वसम्मत बात के रूप में वह ऊंची चीज़ थी। मगर उसमें एक घातक पकड़ भी थी। उन शर्तों को देखने के कम-से-कम दो भिन्न-भिन्न दृष्टि-कोण थे। कांग्रेस के लोग तो उन्हें सारभूत अनिवार्य मानते थे, जिनके पूरा हुए बिना कोई सहयोग नहीं हो सकता था। उनकी निगाह से वे कम-से-कम शर्तें थीं। यह बात कांँग्रेस-कार्य समिति की एक बाद की बैठक में साफ कर दी गई और उसमें यह भी कह दिया गया कि यह तजवीज़ सिर्फ़ अगली कांँग्रेसतक के ही लिए है। मगर नरमदलों के लिए ये ज्यादा-से-ज्यादा माँगें थीं, जिनका बयान किया जाना अच्छा था मगर जिन पर इतना ज़ोर नहीं दिया जा सकता था कि सहयोग तक से इन्कार कर दिया जाय। उनकी दृष्टि में वे शर्तें, महत्वपूर्ण कहलाते हुए भी, वास्तव में कोई शर्तें नहीं थीं। और बाद में हुआ भी यह कि, जबकि इनमें से एक भी शर्त पूरी नहीं की गई और हममें से ज्यादातर लोग बीसियों हज़ार दूसरे आदमियों के साथ जेल में पड़े हुए थे, उस वक़्त हमारे नरमदली और सहयोगी मित्र, जिन्होंने उस वक्तव्य पर हमारे साथ दस्तखत किये थे, हमें जेल में डालनेवालों को सहयोग दे रहे थे।

हममें से ज्यादातर लोगों को अन्देशा तो था कि ऐसी बात होगी—मगर यह उम्मीद नहीं थी कि इस हद तक होगी। लेकिन हमें कुछ-कुछ यह भी उम्मीद थी कि इस संयुक्त कार्य से, जिसमें कांँग्रेस के लोगों ने अपने-आपको इतना दबाया है, यह भी नतीजा होगा कि लिबरल और दूसरे लोग ब्रिटिश सरकार को मनमाना और एक-सा सहयोग देने की आदत से बाज आवेंगे। हम कई लोगों की निगाह में तो, जो इस समझौताकारी प्रस्ताव को दिल से नापसन्द करते थे, इसका ज्यादा ज़बरदस्त कारण यह था कि इससे हमारे कांँग्रेस के लोगों को आपस में एक बनाये रक्खा जाय। एक बड़ी लड़ाई की शुरुआत में हम कांँग्रेस में फूट होना बरदाश्त नहीं कर सकते थे।

१. शर्तें ये थीं:—

**(१) प्रस्तावित कान्फ्रेन्स में सारी बातचीत हिन्दुस्तान के लिए पूर्ण औपनिवेशिक-पद के आधार पर होनी चाहिए।**

**(२) कान्फ्रेन्स में कॉंग्रेस के लोगों का सबसे ज्यादा प्रतिनिधित्व होना चाहिए।**

**(३) राजनैतिक कैदियों की आम रिहाई हो।**

**(४) अभी से आगे हिन्दुस्तान का शासन, मौजूदा हालात में जहाँतक मुमकिन है, उपनिवेश-शासन की लाइन पर चलना चाहिए।**

यह तो अच्छी तरह मालूम था कि हमारी पेश हुई शर्तों को सरकार नहीं मान सकेगी, और इस तरह हमारी स्थिति और भी मज़बूत हो जायगी, और हम अपने बहुमत को भी अपने साथ आसानी से ले चल सकेंगे। यह सिर्फ़ कुछ ही हफ़्तों का सवाल था। दिसम्बर आया, कि लाहौर-कांग्रेस नज़दीक आई।

फिर भी वह संयुक्त वक्तव्य हममें से कुछ लोगों के लिए एक कड़वी घूंट थी। स्वाधीनता की माँग को छोड़ देना, चाहे सिर्फ़ कल्पना में ही और सिर्फ़ थोड़ी देर के लिए क्यों न हो, एक ग़लत और ख़तरनाक बात थी। इसका मतलब यह था कि स्वाधीनता की बात सिर्फ़ एक चाल थी, जिसकी बिना पर कुछ सौदा किया जा सके; वह कोई सारभूत चीज़ न थी, जिसके बग़ैर हमें कभी तसल्ली ही न हो सके। इसलिए मैं दुविधा में पड़ गया और मैंने वक्तव्य पर दस्तख़त नहीं किये ( सुभाष बोस ने तो निश्चित-रूप से दस्तख़त करने से इन्कार कर दिया ); मगर, जैसा कि मुझसे अक्सर होता है, बहुत कहने-सुनने पर मैं नरम पड़ गया और मैंने दस्तख़त कर दिये। मगर फिर भी मैं बड़ी बेचैनी लेकर आया, और दूसरे ही दिन मैंने कांग्रेस के सभापति-पद से अलग हो जाने का विचार किया और अपना यह इरादा गाँधीजी को लिख भेजा। मैं नहीं समझता कि मैंने यह गम्भीरता से लिखा था, हालांकि मैं विक्षुब्ध तो काफ़ी हो गया था। फिर गांधीजी का एक सान्त्वनाप्रद पत्र आने और तीन दिन तक सोचते रहने से अन्त को मैं शान्त हो गया।

लाहौर-कांग्रेस से कुछ ही समय पहले, कांग्रेस और सरकार के बीच में समझौते का कोई आधार ढूंढने की एक आख़िरी कोशिश की गई। वाइसराय लार्ड अर्विन के साथ एक मुलाक़ात का इन्तज़ाम किया गया। मुझे नहीं मालूम कि इस मुलाक़ात के इन्तज़ाम में पहला क़दम किसने उठाया, मगर मेरा अन्दाज़ है कि विट्ठलभाई पटेल ने ही यह ख़ास तौर पर किया होगा। इस मुलाक़ात में गाँधीजी और मेरे पिताजी कांग्रेस का दृष्टिकोण प्रकट करने के लिए मौजूद थे, और मेरे ख़याल से जिन्ना साहब, सर तेजबहादुर सप्रू और प्रेसीडेण्ट पटेल भी थे। इस मुलाक़ात का कुछ नतीजा न निकला। सहमत होने का कोई सामान्य आधार हाथ न आया, और यह पाया गया कि दो ख़ास पार्टियाँ, सरकार और कांग्रेस, एक-दूसरे से बहुत फ़ासले पर थीं। इसलिए अब इसके सिवा कुछ बाक़ी न रहा कि कांग्रेस अपना क़दम आगे बढ़ावे। कलकत्ते में दी हुई एक साल की मियाद ख़तम हो रही थी; अब कांग्रेस का आदर्श हमेशा के लिए स्वाधीनता घोषित होने को था, और उसे प्राप्त करने के लिए आवश्यक कार्रवाइयाँ करने को थीं।

लाहौर-कांग्रेस से पहले के इन आख़िरी हफ़्तों में मुझे एक दूसरे क्षेत्र में भी जरूरी

काम करना था। ट्रेड यूनियन कांग्रेस नागपुर में होनेवाली थी, और इस साल उसका प्रेसीडेण्ट होने के कारण मुझे उसका सभापतित्व करना था। यह बहुत ही ग़ैरमामूली बात थी कि एक ही आदमी राष्ट्रीय कांग्रेस और ट्रेड यूनियन कांग्रेस दोनों का ही, कुछ हफ्तों के अन्तर पर, सभापतित्व करे। परन्तु मैंने यह उम्मीद की थी कि मैं दोनों कांग्रेसों को जोड़नेवाली कड़ी बन जाऊँगा, और दोनों को ज्यादा नज़दीक ले आऊँगा, जिससे राष्ट्रीय कांग्रेस तो ज्यादा समाजवादी और ज्यादा श्रमिक-पक्षीय हो जावे और संगठित मज़दूर-पक्ष राष्ट्रीय संग्राम में साथ दे।

मगर शायद यह उम्मीद झूठी थी, क्योंकि राष्ट्रीयता समाजवादी और श्रमिकपक्षीय दिशा में दूर तक तभी जा सकती है जब वह राष्ट्रीयता न रहे। फिर मुझे लगा कि हालांकि कांग्रेस का दृष्टिकोण मध्यमवर्गीय है, फिर भी देश में वही एक कारगर क्रान्तिकारी ताक़त है। इस हालत में मज़दूर-वर्ग को उसकी मदद करनी चाहिए, उसके साथ सहयोग करना चाहिए, और उसको अपने असर में लाना चाहिए, मगर साथ ही उसको अपनी हस्ती और अपनी विचार-धारा अलग क़ायम रखनी चाहिए। मुझे उम्मीद थी कि जैसे-जैसे घटनायें घटती जायँगी और कांग्रेस सीधे संघर्ष में पड़ती जायगी, वैसे-वैसे वह अपने-आप लाज़िमी तौर पर ज्यादा उग्र आदर्श या दृष्टिकोण पर आती जायगी और सामाजिक और आर्थिक प्रश्नों को अपने हाथ में लेती जायगी। पिछले बरसों में कांग्रेस का काम किसानों और गाँवों की तरफ़ बढ़ा है। अगर इसी तरफ़ इसका क़दम बढ़ता रहा तो किसी दिन यह किसानों का एक बड़ा संगठन बन जायगी, वर्ना ऐसा संगठन तो हो ही जायगी जिसमें किसान-वर्ग प्रधान हो। युक्त-प्रान्त की कई ज़िला-कमिटियों में इस वक्त भी किसानों की तादाद बहुत थी, हालांकि नेतृत्व मध्यमवर्ग के पढ़े-लिखे लोगों ने अपने हाथ में ले रक्खा था।

इस तरह से देहात और शहरों के निरन्तर संघर्ष का राष्ट्रीय कांग्रेस के और ट्रेड-यूनियन कांग्रेस ( टी० यू० सी० ) के सम्बन्ध पर असर होने की सम्भावना थी। मगर यह सम्भावना दूर थी, क्योंकि मौजूदा राष्ट्रीय कांग्रेस मध्यमवर्गीय लोगों के हाथों में है और उसपर शहरवालों का कब्ज़ा है, और जबतक राष्ट्रीय स्वाधीनता का सवाल हल नहीं हो जाता है तबतक उसकी राष्ट्रीयता ही मैदान में प्रधान रहेगी और वही देश की सबसे ज़बरदस्त भावना रहेगी। फिर भी मुझे यही दिखाई दिया कि कांग्रेस को संगठित मज़दूर-वर्ग के नज़दीक लाना स्पष्ट तौर पर अच्छा है, और युक्तप्रान्त में तो हमने अपनी प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी में ट्रे० यू० काँ० की प्रान्तीय शाखा से प्रतिनिधि बुलाये थे। कांग्रेस के कई लोगों ने भी मज़दूरों की हलचलों में बड़ा हिस्सा लिया था।

मगर मज़दूरों के कुल आगे बढ़े हुए दल राष्ट्रीय कॉंग्रेस से झिझकते थे। वे इस के नेताओं पर अविश्वास करते थे और इसके आदर्श को मध्यमवर्गीय और प्रतिगामी समझते थे, और मज़दूर दृष्टिकोण से सचमुच ऐसा था भी। जैसाकि इसके नाम से ज़ाहिर होता है, कॉंग्रेस तो एक राष्ट्रीय संगठन था।

१९२९ भर हिन्दुस्तान के मज़दूर-संघ एकन ये सवाल पर, यानी हिन्दुस्तानी मज़दूरों के विषय में नियुक्त रायल कमीशन पर, जिसका नाम व्हिटले-कमीशन था, बहुत विक्षुब्ध रहे थे। उग्र-पक्ष कमीशन का बहिष्कार करने की राय रखता था, और नरम पक्ष सहयोग देने की तरफ़ था; और चूँकि नरम पक्ष के कुछ नेताओं को कमीशन में मेम्बर बना दिया गया था, इसलिए यह कुछ व्यक्तिगत मामला भी बन गया था। और कई बातों की तरफ़ इस बात में भी मेरी हमदर्दी उग्र-पक्ष की तरफ थी, और ख़ासकर इसलिए भी कि यही राष्ट्रीय कॉंग्रेस की भी नीति थी। जबकि हम सीधे हमले की लड़ाई चला रहे हैं या चलानेवाले हैं उस वक्त सरकारी कमीशनों से सहयोग करना निरर्थक बात मालूम हुई।

नागपुर ट्रे० यू० कॉंग्रेस में व्हिटले-कमीशन के बहिष्कार का यह सवाल एक बड़ा सवाल बन गया, और इसपर और दूसरे भी कई बहस-तलब सवालात पर उग्र-पक्ष को कामयाबी मिली। इस कॉंग्रेस में मैंने बहुत ही कम नुमायां हिस्सा लिया। मैं मज़दूर-क्षेत्र में बिलकुल नया था। अभी मै रास्ता ढूँढ रहा था, इसलिए मैं थोड़ा झिझकता रहा। आम तौर पर मै अपनी राय ज्यादा आगे बढ़े हुए दलों की तरफ़ ज़ाहिर करता था, मगर मैंने किसी भी जमात के साथ होजाने से अपनेको बचाया। मैंने संचालन करनेवाले अध्यक्ष की बनिस्बत एक निष्पक्ष 'स्पीकर' की तरह से ज्यादा काम किया। इस तरह ट्रे० यू० कां० के टुकड़े हो जाने और एक नये नरम संगठन के क़ायम हो जाने में मैं प्रायः एक ख़ामोश तमाशबीन बना रहा। ज़ाती तौर पर मुझे यह महसूस हुआ कि नरम पक्ष के दलों का अलग हो जाना मुनासिब न था, मगर उग्र पक्ष के कुछ नेताओं ने ही इस काम को जल्दी करवा दिया और उन्हें अलग हो जाने का पूरा-पूरा बहाना दे दिया। नरम और उग्र पक्षों के झगड़ों में बीच के एक बड़े दल को कुछ-कुछ बेबसी मालूम हुई। अगर इस दल का पथ-प्रदर्शन ठीक तरह किया गया होता तो शायद इसने उन दोनों दलों को संयम में रक्खा होता और ट्रे० यू० कां० में फूट पड़ने से बचा ली होती, और अगर अलग-अलग टुकड़े भी होते तो उसके इतने खराब नतीजे न होते जितने कि हुए।

उस समय जो कुछ हुआ उससे मज़दूर-संगठन के आन्दोलन को एक जबरदस्त धक्का लगा, जिससे वह अभीतक सम्हल नहीं सका है। सरकार ने मज़दूर-आन्दोलन

के आगे बढ़े हुए दलों पर पहले से ही हमला शुरू कर दिया था, और उसका पहला फल हुआ मेरठ वाला मुक़दमा। सरकार का हमला जारी रहा। मालिकों ने भी देखा कि अपनी लाभ-पूर्त्ति के लिए यही ठीक मौका है। १९२९-३० के जाड़े में संसार-व्यापी मन्दी शुरू हो ही गई थी। आर्थिक मन्दी के धक्के से, सब तरफ़ से हमला किये जाने से, और अपने ट्रेड-यूनियन-संगठन की हालत उस समय बहुत ही कमज़ोर होने के कारण, हिन्दुस्तान के मज़दूर-वर्ग के लिए बड़ी कठिनाई का ज़माना आ गया। वे लाचार होकर देख रहे थे कि उनकी हालत दिन-ब-दिन गिरती जा रही है। इसके बाद ही पहले या दूसरे साल एक और टुकड़ा—कम्यूनिस्ट हिस्सा—ट्रेड यूनियन-कांग्रेस से अलहदा हो गया। इस तरह उसूलन हिन्दुस्तान में मज़दूर-संघों के तीन संगठन बन गये—एक नरम दल, एक मुख्य टी० यू० सी० दल, और कम्यूनिस्ट दल। अमली शक्ल में ये सभी कमज़ोर और बेकार हो गये,और उनके आपसी झगड़ों से आम कारीगर ऊब उठे थे। १९३० के बाद से मैं इन सबसे अलग था, क्योंकि मैं तो ज्यादातर जेल में रहा, जब कभी बीच-बीच में मैं जेल से बाहर आता था तो मुझे मालूम होता था कि सबमें एकता होने की कोशिशें की जा रही हैं। मगर वे कामयाब न हुईं[1]। नरम दल के यूनियनों के साथ रेलवे कारीगरों के रहने से उनकी ताक़त बढ़ गई। दूसरे दलों के मुकाबिले में उनको एक फायदा यह था कि सरकार उनको तसलीम करती थी, और जिनेवा की मज़दूर-कान्फ्रेन्सों के लिए उनकी सिफ़ारिशों को मंज़ूर कर लेती थी। जिनेवा जाने के लालच से भी कुछ मज़दूर-नेता उनकी तरफ़ खिंच गये, और वे अपने साथ अपनी यूनियनों को भी उधर खींच ले गये।

१. इसके बाद ट्रेड यूनियनों में एकता पैदा करने की कोशिश ज्यादा कामयाब हुई है, और मुख्तलिफ दल अब आपस में एक तरह के सहयोग से काम कर रहे हैं।

# २८

## स्वाधीनता और उसके बाद

मेरी स्मृति में लाहौर-कांग्रेस की तस्वीर आज भी साफ़ खिंची हुई है। यह क़ुदरती भी है, क्योंकि मैंने उसमें सबसे बड़ा हिस्सा लिया था, और थोड़ी देर के लिए तो मैं रंग-मंच के केन्द्र में ही था, और उन भीड़-भम्भड़ के दिनों में मेरे दिल में जो-जो भावनायें पैदा हुईं उनपर खयाल करना कभी-कभी मुझे अच्छा लगता है। लाहौर के लोगों ने मेरा जैसा शानदार स्वागत किया, जो लोगों की तादाद और दिल की गहराई दोनों में बहुत बढ़ा-चढ़ा था, उसे मैं कभी नहीं भूल सकता। मैं अच्छी तरह जानता था कि यह अथाह उत्साह मेरे लिए व्यक्तिगत नहीं था, बल्कि एक प्रतीक के लिए, एक आदर्श के लिए था। मगर किसी आदमी के लिए यह भी कोई कम बात नहीं है कि वह, थोड़े समय के लिए ही सही, बहुत लोगों की आँखों में और दिलों में वैसा प्रतीक बन जाय और मैं अपनेको बड़ा आनंदित और उठा हुआ अनुभव कर रहा था। मगर मुझपर क्या असर हुआ, इसकी कोई अहमियत नहीं है। क्योंकि वहाँ तो बड़े-बड़े सवालात सामने थे। सारा वातावरण जोश से भरा हुआ था और अवसर की गम्भीरता का खयाल सब ओर छाया हुआ था। हमें सिर्फ़ नुक्ताचीनी या विरोध या राय के इज़हार के ही ठहराव नहीं करने थे, मगर हमें ऐसी लड़ाई का आवाहन करना था जिससे सारा देश हिल जानेवाला था और जिसका असर लाखों की ज़िन्दगी पर पड़नेवाला था।

दूर भविष्य में हमारे और हमारे देश के लिए क्या होनेवाला है, यह तो कोई भी नहीं कह सकता था; मगर निकट-भविष्य में क्या होगा, यह तो साफ़ दिखाई देता था। हमारे लिए और हमारे प्रिय व्यक्तियों के लिए लड़ाई और तकलीफें सामने नज़र आती थीं। इस खयाल ने हमारे उत्साह में गम्भीरता ला दी थी, और हमें अपनी जिम्मेदारी से बहुत आगाह कर दिया था। हमने जो हरेक वोट दिया वह अपने आराम और सुख और पारिवारिक आनन्द और मित्रों से मिलने-जुलने को बिदाई का पैगाम था, और थी एकान्त के दिनों और रातों और शारीरिक और मानसिक कष्टों को दावत।

स्वाधीनता और स्वाधीनता की लड़ाई चलाने के लिए किये जानेवाले काम के मुताल्लिक खास ठहराव तो क़रीब-क़रीब एकमत से पास हो गया, कई हज़ारों में से मुश्किल से बीस आदमियों ने उसके खिलाफ़ वोट दिया था, मगर असली वोटिंग एक

छोटे मामले पर हुआ, जो एक तरमीम की शकल में आया था। यह तरमीम गिर गई और दोनों तरफ़ की रायों की तादाद ज़ाहिर कर दी गई। खास ठहराव इत्तिफ़ाक से ३१ दिसम्बर की आधीरात के घंटे की चोट के साथ, जबकि पिछला साल गुज़रकर उसकी जगह नया साल आ रहा था, मंज़ूर हुआ। इस तरह ज्योंही कलकत्ता-कांग्रेस की दी हुई एक साल की मोहलत खत्म हुई त्योंही नया फैसला किया गया और लड़ाई की तैयारियां शुरू की गई। चक्र तो चल गया, मगर फिर भी हम यह नहीं जानते थे कि हमें कैसे और कब शुरुआत करनी चाहिए। अ० भा० कांग्रेस कमिटी को हमारी लड़ाई की योजना बनाने और उसको चलाने का अख़्त्यार दिया गया, मगर सब जानते थे कि असली फैसला तो गांधीजी के हाथ है।

लाहौर-कांग्रेस में नज़दीक के ही सीमाप्रान्त से बहुत लोग आये थे। इस प्रान्त से व्यक्तिगत प्रतिनिधि तो कांग्रेस की बैठकों में हमेशा आया ही करते थे। पिछले कुछ बरसों से खान अब्दुलग़फ़्फ़ारखां हमारे अधिवेशनों में आया और हिस्सा लिया करते थे। मगर लाहौर में पहली बार सीमा-प्रान्त से सच्चे नौजवानों का एक बड़ा दल आकर अखिल-भारतीय राजनैतिक लहर के सम्पर्क में आया। उनके ताज़ा दिमाग़ों पर बड़ा असर पड़ा, और वे यह खयाल और जोश लेकर गये कि वे आज़ादी की लड़ाई में सारे हिन्दुस्तान के साथ है। वे सीधे-सादे मगर बड़ा काम करनेवाले लोग थे। उन्हें हिन्दुस्तान के दूसरे प्रान्तों के लोगों की तरह महज़ बातचीत करने और बाल की खाल खींचने की आदत कम थी। उन्होंने अपने लोगों को संगठित करना और उनमें नये खयालात फैलाना शुरू किया। उन्हें कामयाबी भी मिली, और सीमा-प्रान्त के स्त्री-पुरुष, जोकि हिन्दुस्तान की लड़ाई में सबसे पीछे शामिल हुए थे, १९३० से नुमायां और बड़ा हिस्सा लेने लगे।

लाहौर-कांग्रेस के बाद ही, और उसकी हिदायत के मुताबिक़, मेरे पिताजी ने असेम्बली के कांग्रेसी मेम्बरों को अपनी-अपनी जगह से इस्तीफ़ा दे देने को कहा। क़रीब-क़रीब सभी एक-साथ बाहर आ गये। कुछ इने-गिने लोगों ने ही बाहर आने से इन्कार किया, हालांकि इससे उनके चुनाव के इकरारों की खिलाफ़वर्ज़ी होती थी।

फिर भी आगे के बारे में हमें कुछ साफ़ सूझता न था। हालांकि कांग्रेस-अधिवेशन में बड़ा जोश दिखाई देता था, मगर किसीको मालूम न था कि देश लड़ाई के कार्यक्रम का कहांतक साथ देगा। हम इतने आगे बढ़ गये थे कि अब पीछे नहीं जा सकते थे। मगर देश का रुख क्या होगा, इसका क़रीब-क़रीब बिलकुल पता न था। अपनी लड़ाई को शुरू करने के लिए और देश की नब्ज़ भी पहचानने की दृष्टि से २६ जनवरी को आज़ादी-दिवस मनाना तय हुआ। इस दिन देशभर में आज़ादी की प्रतिज्ञा ली जानेवाली थी।

इस तरह अपने कार्यक्रम के बाबत शंकाशील मगर कुछ-न-कुछ कारगर काम करने की इच्छा और उत्साह से हम घटनाओं के इन्तज़ार में रहे। जनवरी के शुरू में मैं इलाहाबाद में था; मेरे पिताजी ज्यादातर बाहर थे। यह एक बड़े भारी सालाना मेले—माघ मेले—का वक्त था। शायद वह खास कुंभ का साल था, और लाखों स्त्री-पुरुष लगातार इलाहाबाद में, या यात्रियों की भाषा में प्रयागराज में आ रहे थे। वे सब तरह के लोग थे। ख़ासकर किसान थे, और मज़दूर, दूकानदार, कारीगर, व्यापारी, औद्योगिक और ऊँचे पेशेवाले लोग भी थे। वास्तव में हिन्दुओं में से सभी तरह के लोग आये थे। जब मैं इस बड़ी भीड़ को और नदी पार जाते और आते हुए लोगों की अटूट धारा को देखता, तो मैं सोचा करता कि लोग सत्याग्रह और शान्तिपूर्ण सीधे हमले की पुकार का कितना साथ देंगे? इनमें से कितने लोग लाहौर के ठहरावों को जानते हैं या उनकी परवा करते हैं? उनका वह विश्वास कितना आश्चर्यं-जनक और मज़बूत था कि जिससे वे और उनके बुज़ुर्ग हज़ारों बरसों से हिन्दुस्तान के हर हिस्से से पवित्र गंगा में स्नान करने के लिए चले आते थे। क्या वे इस बेहद ताक़त को अपनी ही जिन्दगी सुधारने के लिए राजनैतिक और आर्थिक कार्य में नहीं लगा सकते? या क्या उनके दिमाग़ों में अपने धर्म का ताना-बाना और परम्परा इतनी भर चुकी है कि उसमें दूसरे ख़यालात की गुंजाइश ही नहीं रही? मैं तो यह जानता ही था कि ये दूसरे ख़यालात उनमें पहुँच चुके हैं, जिनसे सदियों की शान्त निश्चिन्तता में खलबली पैदा हो गई है। इन अस्पष्ट विचारों और आकांक्षाओं की हलचल के जनता में फैलने से ही पिछले बारह बरसों में बड़े-बड़े उतार-चढ़ाव आये थे, जिनसे हिन्दुस्तान की सूरत ही बदल गई है। इन विचारों के अस्तित्व के विषय में और उनकी बड़ी भारी ताक़त के बारे में कोई शक़ ही न था। मगर फिर भी शक पैदा होता, और सवालात उठते थे, जिनका तत्काल कोई जवाब न था। ये ख़यालात कितने फैल चुके हैं? उनके पीछे कितनी ताक़त है, संगठित काम करने की कितनी क़ाबलियत है, लम्बे धैर्य की कितनी शक्ति है?

हमारे घर को देखकर यात्रियों के झुण्ड आ जाते थे। वह एक तीर्थ-स्थान, भारद्वाज-आश्रम, के पास ही पड़ता था, जहाँ पुराने ज़माने में एक विश्वविद्यालय था। मेले के दिनों में सुबह से शाम तक बेशुमार लोग हमसे मिलने को आते रहते थे। मेरे ख़याल से ज्यादातर लोग कुतूहल से, और जिन बड़े आदमियों का नाम उन्होंने सुन रक्खा है उन्हें, खासकर मेरे पिताजी को, देखने की इच्छा से आते थे। मगर आनेवालों में ऐसे भी बहुत-से-लोग थे जिनका झुकाव राजनीति की तरफ था, और वे कांग्रेस के बारे में, उसमें क्या तय हुआ, और आगे क्या होने वाला है, ये

सवालात पूछते थे। वे अपनी आर्थिक कठिनाइयाँ सुनाते थे और पूछते थे कि उनकी बाबत उन्हें क्या करना चाहिए? हमारे राजनैतिक नारे उन्हें खूब याद थे, और सारे दिन मकान उन्हींसे गूँजता रहता था। उस दिन मैंने पहले तो, जैसे-जैसे बीस-पचास या सौ आदमियों का झुण्ड एक के बाद एक आता था, हरेक से थोड़े शब्द कहना शुरू किया। मगर जल्दी ही यह काम असम्भव हो गया, और फिर वे जब आते थे तो मैं चुपचाप नमस्कार कर लेता था। मगर इसकी भी हद थी। फिर तो मैंने छिप जाने की कोशिश की। मगर यह सब फ़िजूल था। नारे ज्यादा-ज्यादा तेज़ लगने लगे, मकान के बरामदे इन मिलनेवाले लोगों से भर गये और हरेक दरवाज़े और खिड़की में से बहुत-से लोग हमें झाँकने लगे। कुछ काम करना या बात-चीत करना या भोजन करना भी मुश्किल हो गया। इससे सिर्फ़ परेशानी ही नहीं होती थी बल्कि झुंझलाहट और चिढ़ भी होती थी। मगर फिर भी वे लोग तो आते ही थे। वे अपनी प्रेम-भरी चमकती आँखों से देख रहे थे, जिनमें पीढ़ियों की ग़रीबी और मुसीबतें झलक रही थीं, और हमारे ऊपर अपनी श्रद्धा और प्रेम बरसा रहे थे, और उसके बदले में सिवा भ्रातृ-भाव और सहानुभूति के कुछ नहीं माँगते थे। इस प्रेम और श्रद्धा की प्रचुरता से नम्र और भयभीत हुए बिना रहना असम्भव था।

एक महिला, जो हमारी प्रिय मित्र थीं, उस वक्त हमारे यहाँ ठहरी हुई थीं। अक्सर उनसे बातचीत करना भी कठिन हो गया था, क्योंकि चार-चार पाँच-पाँच मिनट मुझे आये हुए झुंड को कुछ-न-कुछ कहने के लिए बाहर जाना पड़ता था, और बीच-बीच में हमें बाहर के नारे और शोरगुल सुनाई देता था। मेरी परेशानी में उन्हें कुछ हँसी-सी आई, और साथ ही, मेरा ख़याल है यह समझकर कि मैं जनता में बहुत लोक-प्रिय हूँ, वह प्रभावित भी हुईं। (सच बात तो यह थी कि लोग खासकर मेरे पिताजी को देखने के लिए आते थे, मगर चूँकि वह बाहर गये हुए थे, मुझे ही लोगों के सामने जाना पड़ता था) उन्होंने अचानक मेरी तरफ़ मुड़कर मुझसे पूछा, कि मैं इस वीर-पूजा को कैसा पसन्द करता हूँ और क्या इसका मुझे फ़ख्र नहीं होता? जवाब देने से पहले मैं झिझका और इससे उन्होंने समझा कि शायद इस बिलकुल ज़ाती सवाल से उन्होंने मुझे परेशानी में डाल दिया है। उन्होंने इसके लिए माफ़ी चाही। उनके सवाल से मुझे परेशानी बिलकुल नहीं हुई, मगर मुझे सवाल का जवाब ढूँढना बड़ा मुश्किल मालूम हुआ। मेरा दिमाग़ बहुत बातें सोचने लगा और मैं अपनी भावनाओं और विचारों का विश्लेषण करने लगा। वे अनेक प्रकार के थे। यह सच था कि, प्रायः इत्तिफ़ाक़ से ही, मैं जनता में बड़ा लोकप्रिय हो गया था। पढ़े-लिखे लोगों में मेरी क़दर होती थी। नौजवान स्त्री-पुरुषों का तो एक प्रकार से

में वीर—सूरमा—बन गया था और उनकी निगाह में मेरे आसपास कुछ अद्भुतता दिखाई पड़ती थी। मेरे बारे में गाने तैयार हो गये थे और ऐसी-ऐसी अनहोनी कहानियाँ घड़ ली गई थीं जिन्हें सुनकर हँसी आती थी। मेरे विरोधी भी अक्सर मेरे लिए अच्छी राय ज़ाहिर करते थे, और बुजुर्गाना ढंग से कहते थे कि मुझमें क़ाबलियत या ईमानदारी की कमी नहीं है।

शायद किसी महात्मा या बड़े भारी हैवान पर ही इन सब बातों का असर नहीं हो सकेगा। मगर मैं तो अपनेको दोनों में से एक भी नहीं मानता। बस, ये बातें मेरे दिमाग़ में बैठ गईं। उन्होंने मुझपर थोड़ा नशा चढ़ा दिया और मुझको हिम्मत और ताक़त दी। मेरा यह अन्दाज़ है, ( क्योंकि बाहर से अपने-आपको समझ लेना मुश्किल काम है, ) कि मै अपने काम-काज में थोड़ा एक-तन्त्री और कुछ हाकिमाना बन गया। मगर फिर भी, मेरा ख़याल है कि, मेरा ग़रूर कुछ ज्यादा नहीं बढ़ा। मुझे ख़याल हुआ कि मुझमें भी काफ़ी बातों की लियाक़त है और उनके सम्बन्ध में मैं ऐसा नाचीज़ नहीं हूँ। मगर मैं यह भी ख़ूब जानता था कि यह कोई विलक्षण बात नहीं है, और मुझे अपनी कमज़ोरियों का भी बहुत ख़याल था। आत्म-निरीक्षण की आदत ने ही शायद मुझे ठिकाने रखने में मदद दी और इसीसे मैं अपने सम्बन्ध की कई घटनाओं पर अनासक्त दृष्टि से ग़ौर कर सकता था। सार्वजनिक जीवन के तजुर्बे ने मुझे बता दिया कि लोकप्रियता तो अक्सर अवाञ्छनीय व्यक्तियों के पास रहती है; वह यक़ीनन भलाई या अक्लमन्दी का ही आवश्यक चिन्ह नहीं होती। तो क्या मै अपनी कमज़ोरियों के सबब से लोकप्रिय था, या अपने गुणों के सबब से ? मैं लोकप्रिय हुआ ही क्यों ?

इसका सबब मुझमें दिमाग़ी क़ाबलियत का होना नहीं था। क्योंकि मुझमें दिमाग़ी क़ाबलियत कोई ग़ैरमामूली नहीं थी और कम-से-कम इसीसे ही लोकप्रियता नहीं मिलती; और 'क़ुर्बानी' कहे जानेवाले कामों से भी मेरी लोकप्रियता नहीं थी, क्योंकि यह सभी जानते हैं कि हमारे ही समय में हिन्दुस्तान में सैकड़ों और हज़ारों आदमियों ने मुझसे बेहद ज्यादा तकलीफ़ें उठाई हैं और आख़िरी क़ुर्बानी तक की है। मैं बड़ा वीर या सूरमा हूँ, यह शोहरत बिलकुल झूठी है। मैं अपने-आपको वीरोचित बिलकुल नहीं समझता और जीवन में वीरों का-सा ढंग या उसकी नकल और दिखावा करना मुझे बिलकुल वाहियात बात मालूम होती है। अद्भुतता के बारे में तो मुझे कहना पड़ेगा कि मैं सबसे कम अद्भुत व्यक्ति हूँ। यह सही है कि मुझमें कुछ शारीरिक और दिमाग़ी हिम्मत है, मगर उसकी बुनियाद तो है शायद ग़रूर—अपना, अपने समूह का और अपने राष्ट्र का ग़रूर, और किसीके दबाव से कुछ करने की अनिच्छा।

मुझे अपने सवाल का सन्तोषजनक जवाब नहीं मिला। तब मैं दूसरे ही तरह उसकी खोज में लग गया। मुझे पता लगा कि मेरे पिताजी और मेरे बारे में एक बहुत प्रचलित कथा यह है कि हम हर हफ्ते अपने कपड़े पैरिस की किसी लॉण्ड्री में धुलने को भेजते थे। हमने इसकी कई बार तरदीद की है, फिर भी यह बात प्रचलित ही है। इससे ज्यादा अजीब और वाहियात बात की कल्पना भी मैं नहीं कर सकता। अगर कोई इतना मूर्ख हो कि वह ऐसे झूठे बड़प्पन के लिए इस तरह की फ़िज़ूलखर्ची करे, तो मैं समझता हूँ कि वह अव्वल दर्जे का उल्लू ही समझा जायगा।

इसी तरह से एक दूसरी दन्तकथा, जो कि तरदीद करने पर भी प्रचलित है, यह है कि मैं प्रिंस ऑफ वेल्स के साथ स्कूल में पढ़ता था। यह भी कहा जाता है कि जब १९२१ में वह हिन्दुस्तान आये तब उन्होंने मुझे बुलाया था, पर उस वक्त मैं जेल में था। सच बात तो यह है कि मैं न तो स्कूल में ही उनके साथ पढ़ा हूँ, न मुझे उनसे मिलने या बात करने का ही मौक़ा हुआ है।

मेरे कहने का मतलब यह नहीं कि मेरी शोहरत या लोक-प्रियता इन या ऐसी कहानियों के बदौलत ही है। उसकी ज्यादा मज़बूत बुनियाद भी हो सकती है। मगर इसमें शक नहीं कि इसमें बड़प्पन की बात बहुत शामिल है, जैसा कि इन कहानियों से ज़ाहिर है। कुछ भी हो। भावना यह है कि पहले मैं बड़े-बड़े लोगों से मिलता-जुलता था, और बड़े ऐश-आराम की ज़िन्दगी गुजारता था, और फिर मैंने वह सब त्याग दिया। हिन्दुस्तानी दिमाग़ त्याग को बहुत अच्छा समझता है। मगर इस कारण से मेरी शोहरत हो, यह मुझे बिलकुल अच्छा नही लगता। मुझे निष्क्रिय गुणों की बनिस्बत सक्रिय गुण ज्यादा पसन्द हैं, और केवल त्याग और बलिदान को मैं अच्छा नहीं समझता। मैं उनकी दूसरे ही दृष्टिकोण से क़दर करता हूँ—यानी मानसिक और आध्यात्मिक तालीम के तौर पर, जैसे कि कसरती आदमी को अच्छी तन्दुरुस्ती रखने के लिए सादा और नियमित जीवन रखना ज़रूरी है। और जो लोग महान् कार्यों में पड़ना चाहते हैं उनमें सख़्त आघातों के होने पर भी सहन और धैर्य की क्षमता होना ज़रूरी है। मगर जीवन के त्यागमय दृष्टिकोण, जीवन के निषेध, उसके आनन्दों और अनुभूतियों से भयपूर्वक दूर रहने की तरफ़ मुझे रुचि या आकर्षण नहीं है। मैंने किसी भी चीज़ को, जिसका मैंने वास्तव में महत्त्व समझा, जानबूझकर नहीं छोड़ा है; मगर, हाँ, चीज़ों का मूल्य अलबत्ते बदलता रहता है।

उन महिला-मित्र ने मुझसे जो सवाल पूछा था उसका जवाब फिर भी नहीं मिला क्या मैं भीड़ की इस वीर-पूजा से गर्व अनुभव नहीं करता? मैं तो इसे नापसन्द करता था, और इससे दूर भाग जाना चाहता था। मगर फिर भी मैं इसका आदी हो गया था।

और जब यह बिलकुल न होती थी तो इसका अभाव भी मालूम होता था। दोनों ही तरह से मुझे तसल्ली नहीं थी। मगर कुल मिलाकर, भीड़ ने मेरी एक अन्दरूनी जरूरत पूरी कर दी। मैं उनपर असर डाल सकता हूँ और उनसे काम करवा सकता हूँ, इस ख़याल से मुझमें उनके दिल और दिमाग़ पर अधिकार होने की एक भावना आ गई थी। इससे किसी हद तक मेरी सत्ता की इच्छा पूरी होती थी। और वे लोग तो अपनी तरफ़ से मुझपर एक अजीब तरह का जुल्म करते थे, क्योंकि उनके विश्वास और प्रेम से मेरा अन्तस्तल हिल जाता था, और उसके जवाब में मेरे दिल में भी भावुकता का संचार हो जाता था। हालाँकि मैं व्यक्तिवादी हूँ, मगर कभी-कभी मेरे व्यक्तिवाद की दीवारें भी टूट-सी जाती थीं, और मुझे ऐसा लगता था कि इन दुखिया लोगों के साथ-साथ मुसीबतों में रहना, अलग रहकर बचे रहने की बनिस्बत, अच्छा है। मगर वे दीवारें हटनेवाली न थीं, और मैं उन्हीके ऊपर से आश्चर्य-भरी आँखों से इस दृश्य की तरफ देखा करता था, जिसे मैं समझ न सकता था।

अभिमान की तह आदमी पर, चर्बी की तरह, धीरे-धीरे अनजाने चढ़ती है। यह जिस आदमी पर चढ़ती है उसे पता नहीं पड़ता कि रोजाना कितनी चढ़ती जाती है। मगर खुशकिस्मती से इस पागल दुनिया की सख्त चोटों से वह कम भी हो जाती है या बिलकुल उतर भी जाती है। हिन्दुस्तान में तो पिछले बरसों में हम पर इन सख़्त चोटों की कोई कमी नहीं रही है। जिन्दगी का स्कूल हमारे लिए बहुत सख़्त रहा है, और कष्ट-सहन दरअसल बड़ा सख्त काम लेनेवाला मास्टर है।

एक दूसरी बात में भी मैं खुशकिस्मत रहा हूँ। मेरे परिवार के लोग, दोस्त और साथी ऐसे रहे हैं, जिन्होंने मुझे ठीक निगाह रखने में और अपना दिमाग बिगड़ने न देने में मदद दी है। सार्वजनिक उत्सवों, म्युनिसिपैलिटियों, स्थानिक बोर्डों और दूसरी सार्वजनिक संस्थाओं की तरफ़ से अभिनन्दनों और जुलूसों वग़ैरा से मेरे दिमाग़, मेरी विनोद-प्रियता और वास्तविकता की भावना पर बड़ा बोझ पड़ता था, इन मौक़ों पर बहुत लम्बी-चौड़ी और शानदार भाषा इस्तैमाल होती थी, और हरेक आदमी इतना गंभीर और पुण्यात्मा बनता था कि इस सबको देखकर मेरी यह ज़बरदस्त ख्वाहिश होती थी कि मैं हँस पड़ूँ या अपनी ज़बान बाहर निकाल दूँ या सिर के बल उलटा खड़ा हो जाऊँ, सिर्फ इसलिए कि उस गंभीर सम्मेलन में लोगों के चेहरों पर इसका कैसा धक्का लगता और क्या असर होता है यह मैं देखूँ और इसका मज़ा लूँ। मगर खुशकिस्मती से अपनी शोहरत के सबब से, और इसलिए कि हिन्दुस्तान के सार्वजनिक जीवन में गंभीरता ही आदरणीय समझी जाती है, मैं अपनी इस अनियंत्रित इच्छा को रोक लेता था, और आम तौर पर ठीक औचित्य से ही बर्ताव करता था। मगर, हमेशा नहीं। किसी-किसी भारी

मीटिंग में, या ज्यादातर अक्सर जुलूसों में, जिनसे मैं बहुत परेशान हो जाता हूँ, मैंने कभी-कभी कोई प्रदर्शन कर दिया है। कभी-कभी हमारे सम्मान में निकाले जानेवाले जुलूसों को मैं अचानक छोड़ देता था और भीड़ में अनजाने शामिल हो जाता था। मैं अपनी पत्नी को या और किसीको जुलूस की गाड़ी में ही बैठा छोड़ देता था।

अपनी भावनाओं को हमेशा दबाये रखने की इस कोशिश और लोगों के सामने किसी खास ढंग से बर्ताव करने के कारण दिमाग़ पर बड़ा ज़ोर पड़ता है, और नतीजा यह होता है कि सार्वजनिक मौकों पर आदमी गंभीर चेहरा बनाये रहता है। शायद इसी लिए एक हिन्दी मासिक-पत्रिका के लेख में एक दफा लिखा गया था कि मैं हिन्दू-विधवा की तरह हूँ। हालाँकि मैं पुराने ढंग की हिन्दू विधवा की बड़ी इज्जत करता हूँ,फिर भी मुझे इस वर्णन से धक्का लगा। लेखक का ज़ाहिरा मतलब यह था कि उसके ख़याल से मुझमें अपने-आपको नम्रता-पूर्वक समर्पित कर देने, त्याग, और बिना कभी हँसी-मज़ाक किये हमेशा काम में लगे रहने के कुछ गुण थे, जिनकी वह तारीफ़ करता था। मेरा तो ख़याल था कि, मुझमें अधिक क्रियाशीलता और तेज़ी है, और मज़ाक करने और हँसने की योग्यता भी है। और निःसंदेह मैं चाहता हूँ कि ये गुण हिन्दू-विधवाओं में भी होने चाहिएँ। गांधीजी ने एक बार एक मिलनेवाले से कहा था, कि अगर मुझमें विनोद का माद्दा न होता तो शायद खुदकुशी या ऐसा ही कुछ कर गुजरता। मैं इतनी हद तक तो जाना नहीं चाहता, मगर जिन्दा रहना मेरे लिए तो प्रायः असह्य हो जाता, अगर मेरी जिन्दगी में कुछ लोग हँसी-मज़ाक की कुछ मात्रा न डालते रहते।

मेरी लोकप्रियता पर और बड़े-बड़े मान-पत्रों पर, जो मुझे मिला करते थे, जिनमें ( जैसा कि वास्तव में हिन्दुस्तान के सभी मान-पत्रों में होता है ) बड़ी चुनी हुई और लच्छेदार भाषा और लम्बी-चौड़ी तारीफ़ भरी रहती थी, मेरे परिवार के और मित्र-मण्डली के लोग बड़ा मज़ाक उड़ाया करते थे। राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रमुख आदमियों के लिए जैसे ऊँचे और शानदार लफ्ज़ और अलकाब अक्सर इस्तैमाल होते हैं, वैसे शब्दों को मेरी पत्नी और बहनें और दूसरे लोग पकड़ लेते थे और उनका मौके-बेमौके मेरा किसी तरह लिहाज़ किये बिना प्रयोग करते रहते थे। वे मुझे 'भारत-भूषण' और 'त्याग-मूर्त्ति' आदि कहा करते थे, और इस विनोद-पूर्ण प्रयोग से मुझे भी तसल्ली मिलती थी, और उन गंभीर सार्वजनिक सभाओं की, जहाँ मुझे बहुत शिष्टता का बर्ताव कर दिखाना पड़ता था, थकावट धीरे-धीरे दूर हो जाती थी। इस मज़ाक में मेरी छोटी-सी लड़की भी शामिल हो जाती थी। सिर्फ़ मेरी माताजी ही इस बात पर ज़ोर दिया करती थीं कि मुझसे गंभीरता का व्यवहार किया जाय। अपने प्यारे पुत्र के साथ ज्यादा मज़ाक या दिल्लगी होने का वह कभी पूरा समर्थन

नहीं करती थीं। इससे मेरे पिताजी का भी कुछ मनोरंजन हो जाता था। वह अपने विचारों और भावों को चुपचाप प्रदर्शित करने का एक खास तरीक़ा रखते थे।

मगर इन नारे लगानेवाले मजमों, बेलुत्फ़ और थकानेवाले सार्वजनिक उत्सवों और अनन्त बहसों और राजनीति के धूम-धड़क्कों का मुझपर सिर्फ़ ऊपरी असर होता था, हालांकि यह असर भी कभी-कभी तेज और गहरा होता था। मगर मेरा असली संघर्ष मेरे अन्दर चल रहा था। मेरे विचारों और इच्छाओं और निष्ठाओं में संघर्ष चल रहा था। मेरे मस्तिष्क की अन्तर्भावनायें बाहरी परिस्थितियों से झगड़ रही थीं। मेरी आन्तरिक भूख बुझी न थी। मैं एक लड़ाई का मैदान बन गया था, जहां तरह-तरह की ताक़तें एक-दूसरे को जीत लेने की कोशिश कर रही थीं। मैं इससे छुटकारा चाहता था। मैंने सामञ्जस्य और चित्त की समता ढूंढने की कोशिश की, और इसी प्रयत्न में लड़ाई में कूद पड़ा। इससे मुझे शान्ति मिली। बाहरी संघर्ष ने भीतरी संघर्ष की तेज़ी को कम कर दिया।

मैं जेल में बैठा हुआ यह सब क्यों लिख रहा हूँ? मैं चाहे जेल में होऊँ या जेल के बाहर, लेकिन मेरी तलाश फिर भी वही है, और मैं अपने पिछले विचार और अनुभव इस आशा से लिख रहा हूँ कि इससे मुझे शान्ति और मानसिक संतोष मिल सके।

## २६

# सविनय भंग शुरू

स्वाधीनता-दिवस, २६ जनवरी १९३०, आया और बिजली की चमक की तरह से उसने हमें बता दिया कि देश में सरगर्मी और उत्साह है। उस दिन हर जगह बड़ी-बड़ी सभायें हुई जिनमें बग़ैर भाषणों या विवेचनों के, शान्ति और गंभीरता से, लोगों ने आज़ादी की प्रतीज्ञा[1] ली। सभायें और जुलूस बड़े प्रभावशाली थे। गाँधीजी को इस दिवस से आवश्यक बल मिल गया, और जनता की नब्ज़ की ठीक पहचान रखने के कारण उन्होंने समझ लिया कि लड़ाई छेड़ने का यह ठीक वक़्त है। इसके बाद तो घटनायें एक के बाद एक जल्दी-जल्दी घटित होने लगीं, जैसाकि क़िसी नाटक में रस की पराकाष्ठा होते समय होता है।

जैसे-जैसे सविनय भंग नज़दीक आता गया और लोगों में जोश बढ़ता गया, वैसे-वैसे हमारे ख़यालात इस बात की तरफ़ गये कि किस तरह १९२१-२२ का, आन्दोलन चला था और चौरीचौरा के बाद वह यकायक मुल्तवी कर दिया गया था। तबसे अब देश में अनुशासन ज्यादा था और सब लोग ज्यादा साफ़ तौर पर समझ गये थे कि यह लड़ाई किस क़िस्म की है। उसका तरीक़ा तो किसी हद तक समझ ही लिया गया था। मगर हर आदमी ने यह भी पूरी तरह महसूस कर लिया कि गांधीजी अहिंसा पर भयंकर रूप से ज़ोर देते हैं, और यह बात गाँधीजी के दृष्टिकोण से ज्यादा ज़रूरी थी। दस साल पहले कुछ लोगों के दिमाग़ों में शायद इस बाबत शक रहा हो, मगर अब तो वैसा शक नहीं हो सकता था। फिर भी, हमें इसका पक्का विश्वास कैसे हो सकता था कि किसी स्थान पर अपने-आप या किसी साज़िश से हिंसा का कोई काण्ड न हो जायगा? और अगर ऐसी घटना हुई, तो उसका हमारे सविनय भंग-आन्दोलन पर क्या असर होगा? क्या वह पहले की ही तरह अचानक बन्द कर दिया जायगा? यही सम्भावना सबसे ज्यादा बेचैन कर रही थी।

गाँधीजी ने भी शायद इस सवाल पर अपने ख़ास ढंग से विचार किया, हालाँकि जिस समस्या की उन्हें चिन्ता मालूम होती थी, जहाँतक मैं कभी-कभी बातचीत करके समझ सका, वह दूसरे ही ढंग से उनके सामने उपस्थित थी।

सुधार करने के लिए अहिंसात्मक ढंग की लड़ाई करना ही उनकी निगाह में सच्चा तरीक़ा था, और अगर ठीक तरह से उसपर अमल किया जाय तो वही अचूक

१—यह प्रतिज्ञा परिशिष्ट नं० १ में दी हुई है।

भी है। तो क्या यह कहा जाना चाहिए कि इस तरीके को अमल में लाने और कामयाब बनाने के लिए खास तौर पर कोई बहुत अनुकूल वातावरण चाहिए, और अगर बाहरी हालतें इसके माफ़िक न हों तो इसको काम में नहीं लाना चाहिए ? इससे तो यह नतीजा निकलता है कि अहिंसात्मक तरीक़ा हर हालत के लिए ठीक नहीं है, और इस तरह यह न तो सार्वभौम तरीक़ा रह जाता है, न अचूक। मगर यह नतीजा गांधीजी के लिए असह्य था, क्योंकि उनका पक्का विश्वास था कि यह तरीक़ा सार्वभौम भी है और अव्यर्थ भी। इसलिए बाहरी हालत के नामाफ़िक होने पर भी, और झगड़ों और हिंसा के होते रहते भी, यह तरीका अवश्य काम में आ सकता है। बदलती हुई हालतों में उसके अमल का ढंग भी बदलता रह सकता है, मगर उसका बन्द किया जाना तो खुद उस तरीक़े की विफलता को मान लेना होगा।

शायद वह इस प्रकार से सोचते होंगे, मगर मैं उनके विचारों को निश्चय से नहीं कह सकता। उन्होंने हमें यह तो कुछ-कुछ बता ही दिया कि अब उनकी विचार-पद्धति में थोड़ा फ़र्क़ हो गया है, और जब सविनय-भंग आवेगा तो किसी एकाध हिंसात्मक काण्ड से उसका बन्द किया जाना जरूरी नही है। मगर यदि हिंसा किसी आन्दोलन का ही हिस्सा बन जायगी, तो वह शान्तिपूर्ण सविनय-भंग-आन्दोलन न रहेगा और उसकी हलचलों को बन्द करना या बदलना पड़ेगा। इस आश्वासन से हम बहुतेरों को बहुत हद तक संतोष हुआ। अब सबके सामने बड़ा सवाल यह था, कि यह किया कैसे जाय ? शुरूआत किस तरह हो ? किस प्रकार का सविनय-भंग हम चलावें, जो कारगर हो, परिस्थिति के अनुकूल हो और जनता में लोकप्रिय हो ? लेकिन गांधीजी ने ही इसकी तरकीब बताई।

नमक अचानक एक रहस्यपूर्ण शब्द, एक बलपूर्ण शब्द बन गया। नमक-कर पर हमला करना चाहिए। नमक-क़ानून को तोड़ना चाहिए। हम हैरत में पड़ गये। नमक का राष्ट्रीय संग्राम हमें कुछ अटपटा मालूम हुआ। दूसरी आश्चर्य में डालनेवाली बात हुई गांधीजी का अपने ११ मुद्दों का प्रकाशित करना। कुछ राजनैतिक और सामाजिक सुधारों की, चाहे वे अच्छे ही क्यों न हों, फ़ेहरिस्त उस समय पेश करना जब कि हम आजादी की दृष्टि से बात कर रहे थे, क्या मतलब रखता था ? गांधीजी जब 'आज़ादी' शब्द कहते थे तो क्या उनका वही अर्थ था जो हमारा था, या क्या हम लोग अलग-अलग भाषाओं का प्रयोग कर रहे थे ? मगर हमें बहस करने का मौक़ा न था, क्योंकि घटनायें तो आगे जा रही थीं। वे हिन्दुस्तान में तो हमारी निगाहों के सामने राजनैतिक रूप में दिन-ब-दिन आगे बढ़ ही रही थीं; मगर, शायद, हम नहीं जानते थे कि वे दुनिया में भी तेजी से बढ़ रही थीं और दुनिया को एक भयंकर मन्दी

में जकड़े हुए थी। चीज़ों के भाव गिर रहे थे, और शहर के रहनेवालों ने समझा कि अब सम्पन्नता का ज़माना आ रहा है। मगर किसानों ने तो इसमें खतरा ही देखा।

इसके बाद गांधीजी का वाइसराय से पत्र-व्यवहार हुआ, और साबरमती-आश्रम से दाण्डी की नमक-यात्रा शुरू हुई। दिन-ब-दिन इस यात्रा-दल के बढ़ने का हाल जैसे-जैसे लोग पढ़ते थे, देश में जोश का पारा बढ़ता जाता था। अहमदाबाद में अ० भा० कांग्रेस कमिटी की बैठक इस लड़ाई की बाबत, जो प्राय: हमारे सिर पर आ चुकी थी, आखिरी व्यवस्था करने के लिए हुई। इस बैठक में हमारे संग्राम का नेता मौजूद नहीं था, क्योंकि वह तो अपने यात्री-दल के साथ समुद्र की ओर जा रहा था, और उसने वहाँ से लौटने से इन्कार कर दिया। अ० भा० कां० कमिटी ने योजना बनाई कि अगर गिरफ्तारियाँ हों तो क्या-क्या किया जाना चाहिए, और यदि यह कमिटी फिर बैठक न कर सके तो उसकी तरफ़ से कार्य समिति के गिरफ्तार-शुदा लोगों की जगह खुद नये मेम्बर नियुक्त कर देने और अपने स्थान पर ऐसे ही अख़्त्यारात रखनेवाले दूसरे शख़्स को नामज़द कर देने के बड़े-बड़े अधिकार सभापति को दिये गये। प्रान्तीय और स्थानीय कांग्रेस कमिटियों ने भी अपने-अपने सभापतियों को ऐसे ही अख़्त्यार दे दिये।

इस तरह से वह ज़माना शुरू हुआ जब कि 'डिक्टेटर' कहे जानेवाले लोग क़ायम हो गये और उन्होंने कांग्रेस की तरफ से संग्राम का सचालन किया। इसपर भारत-मंत्री और वाइसराय और गवर्नरों ने बड़ी नफ़रत ज़ाहिर की और वे चीख-चीख कर कहने लगे कि कांग्रेस कितनी खराब और पतित हो गई है कि वह डिक्टेटरों को मानने लगी है, जबकि, वे खुद तो मानों प्रजातन्त्र-वाद के पक्के माननेवाले ही थे! कभी-कभी हिन्दुस्तान के नरम-दली अखबारों ने भी हमें प्रजातन्त्र के लाभों का उपदेश दिया। हम यह सब खामोशी से ( क्योंकि हम तो जेल में थे ) और हैरत में होकर सुनते थे। बेशर्मी और मक्कारी इससे ज्यादा क्या हो सकती थी? इधर तो हिन्दुस्तान पर एकतन्त्री डिक्टेटर द्वारा बलपूर्वक शासन हो रहा था, जिसमें आर्डिनेन्स कानून बन रहे थे और हर तरह की नागरिक स्वतन्त्रता दबाई जा रही थी, और उधर हमारे शासक नफरत दिखाकर प्रजातन्त्रवाद की बातें कर रहे थे! और क्या, मामूली हालत में भी, हिन्दुस्तान में प्रजातन्त्र की छाया भी कहीं थी? अंग्रेज़ी हुकूमत अपनी ताक़त और हिन्दुस्तान में स्थापित स्वार्थों की हिफ़ाज़त करे और उसकी सत्ता को हटानेवालों का दमन करे, यह तो बेशक उसके लिए कुदरती बात थी। मगर उसका यह कहना कि यह सब प्रजातन्त्री तरीक़ा था, ऐसी बात है जो अगली पीढ़ियों के ग़ौर करने और तारीफ़ करने के लिए लिखकर रख ली जाय!

कांग्रेस ऐसी हालत में जानेवाली थी कि जब उसका मामूली ढंग पर काम करना

ग़ैर-मुमकिन हो जायगा; जब वह ग़ैर-क़ानूनी क़रार देदी जायगी, और गुप्त रूप के सिवा और किसी ढंग से उसकी कमिटियां किसी परामर्श या किसी काम के लिए इकट्ठा न हो सकेंगी। हमने पोशीदगी को बढ़ावा नही दिया, क्योंकि हम अपनी लड़ाई को बिलकुल खुली रखना चाहते थे, जिससे कि हमारा तर्ज ऊँचा रहे और हम जनता पर असर डाल सकें। पोशीदगी से ज्यादा काम नहीं चल सकता। केन्द्र में, प्रान्तों में और स्थानीय हल्कों में हमारे सब बड़े बड़े स्त्री-पुरुष तो गिरफ्तार होनेवाले ही थे। फिर कौन आगे काम चलाता? इस सूरत में हमारे सामने एक ही रास्ता था, जिस तरह जंग करती हुई फ़ौज में होता है, कि पुराने सेना-नायकों के हटते ही नये सेना-नायक बनाने की व्यवस्था करना। लड़ाई के मैदान में बैठकर कमिटियों की बैठकें करना हमारे लिए नामुमकिन था। वास्तव में, कभी-कभी हमने ऐसा किया भी था, मगर इसका उद्देश्य और अनिवार्य नतीजा यह होता था कि सारी कमिटी एक-साथ गिरफ्तार हो जाती। हमें यह भी सुभीता नहीं था कि लड़नेवाली लाइनों के पीछे जनरल स्टाफ़ सुरक्षित बैठा रहता, या कहीं दूसरी जगह और भी ज्यादा हिफ़ाज़त से मुल्की मंत्रि-मंडल बैठा रहता। यह लड़ाई ही इस तरह की थी कि हमारे कर्मचारियों और मंत्रि-मण्डलों को अपने-आपको सबसे आगे और खुली जगहों में रखना पड़ता था, और वे तो सब शुरू में ही गिरफ्तार कर लिये गये। और हमने अपने 'डिक्टेटरों' को भी क्या सत्ता देदी थी? राष्ट्रीय संग्राम चलाने को दृढ़ निश्चय के संकेत-रूप में उन्हें यह सम्मान दिया जाता था। मगर असल में तो उन्हें ज्यादातर खुद जेल में चले जाने की ही सत्ता मिली थी। वे तभी काम करते थे जबकि किसी बड़ी और अबाध सत्ता के कारण उनकी कमिटी, जिसके वह प्रतिनिधि थे, मीटिंग नही कर सकती थी; और जब या जहां उस कमिटी की बैठक हो सकती, तो डिक्टेटर को जो कुछ भी सत्ता थी वह अपने-आप नहीं रहती थी। डिक्टेटर किसी बुनियादी सवाल या उसूल के बारे में कुछ फैसला नही कर सकता था, वह तो आन्दोलन की छोटी-छोटी और ऊपरी बातों के विषय में ही कुछ कर सकता था। कांग्रेस की 'डिक्टेटरशिप' तो वास्तव में जेल पहुँचने की सीढ़ी थी। और रोज़-ब-रोज़ वही बात होती रही। पुराने लोग हटते जाते थे और उनकी जगह नये लोग आते जाते थे।

इस तरह, अपनी आख़िरी तैयारियां करके, अहमदाबाद में हमने अ० भा० कांग्रेस कमिटी के अपने साथियों से विदा माँगी; क्योंकि यह किसीको मालूम न था कि आगे हम कब और कैसे इकट्ठे हो सकेंगे, या इकट्ठे हो भी सकेंगे या नहीं। हम अपनी-अपनी जगहों पर जाकर अ० भा० कां० कमिटी की हिदायतों के मुताबिक अपने-अपने मुक़ामी इन्तिज़ाम को आख़िरी तौर पर ठीक-ठीक करने और, जैसा कि

सरोजिनी नायडू ने कहा, जेल-यात्रा के लिए बिस्तर बाँधने को जल्दी-जल्दी चल दिये।

लौटते वक़्त पिताजी और मैं गांधीजी से मिलने गये। वह अपने यात्री-दल के साथ जम्बूसर में थे। वहाँ हम उनके साथ कुछ घण्टे रहे, और फिर वह अपने दल के साथ समुद्र-यात्रा के दूसरे पड़ाव के लिए पैदल चल पड़े। वह हाथ में डण्डा लिये हुए, अपने अनुयायियों के आगे-आगे, जा रहे थे; उनके क़दम मज़बूत थे और उनका चेहरा शान्तिपूर्ण किन्तु निर्भयता लिये हुए था। इस तरह उस समय मैंने उनके आखिरी दर्शन किये। वह एक दिल हिला देनेवाला दृश्य था।

जम्बूसर में मेरे पिताजी ने गांधीजी से सलाह करके यह तय किया था कि वह इलाहाबाद का अपना पुराना मकान राष्ट्र को दान कर देंगे, और उसका नाम बदलकर स्वराज-भवन रख देंगे। इलाहाबाद लौटकर उन्होंने इसकी घोषणा कर दी, और कांग्रेसवालों को उसका कब्ज़ा भी दे दिया। उस बड़े मकान का एक हिस्सा अस्पताल बना दिया गया। उस वक्त तो वह उसकी क़ानूनी कार्रवाई पूरी न कर सके, पर डेढ़ साल बाद मैंने उनकी इच्छा के मुताबिक़ उस मकान का एक ट्रस्ट बना दिया।

अप्रैल आया। गाँधीजी समुद्र-तट पर पहुँच गये और हम नमक-क़ानून को तोड़कर सविनय भंग करने की उनकी हिदायत का इन्तज़ार करने लगे। कई महीनों से हम अपने स्वयंसेवकों को क़वायद की तालीम दे रहे थे, और कमला और कृष्णा (मेरी पत्नी और बहन) भी उनमें शामिल हो गई थीं और उन्होंने इस काम के लिए मर्दाना ड्रेस पहन लिया था। स्वयंसेवकों के पास कोई भी हथियार, लाठियाँ तक, न था। उनको तालीम देने का मकसद यह था कि वे अपने काम में ज्यादा योग्य और कुशल हो जायँ और बड़ी-बड़ी भीड़ों को नियंत्रण में रख सकें। राष्ट्रीय सप्ताह, १९१९ के सत्याग्रह-दिवस से लेकर जलियांवाला बाग़ तक की घटनाओं की यादगार में, हर साल मनाया जाता है, और ६ अप्रैल इसी सप्ताह का पहला दिन था। इसी दिन गांधीजी ने दाँडी में समुद्र के किनारे नमक-कानून को तोड़ा, और तीन-चार दिन बाद सारे कांग्रेस-संगठनों को इजाज़त दे दी गई कि वे भी नमक-क़ानून तोड़ें और अपने-अपने क्षेत्र में सविनय भंग शुरू करें।

ऐसा मालूम हुआ कि कोई बटन अचानक दबा दिया गया, और सारे देश में, शहरों में और गाँवों में, जिधर देखो रोज़ नमक बनाने की ही चर्चा थी। नमक बनाने के लिए कई अजीब-अजीब तरकीबें निकाली गईं। इस बारे में हमारी जानकारी बहुत ही थोड़ी थी, इसलिए जहाँ इस बारे में कुछ भी लिखा मिला वह हमने पढ़ डाला, और इस बाबत हिदायतें देने के लिए कई पत्रिकायें प्रकाशित कीं, और बर्तन और कढ़ाइयाँ इकट्ठी कीं और अन्त में एक भद्दी सी चीज़ बना ही डाली, जिसे हम

बड़ी बहादुरी से उठाकर दिखाते थे और अक्सर बहुत ऊँची क़ीमत पर नीलाम भी करते थे। वह चीज़ अच्छी है या बुरी, इसका तो सचमुच कोई महत्त्व न था; क्योंकि ख़ास चीज़ तो उस बेहूदे नमक-क़ानून को तोड़ना था। इसमें हम ज़रूर कामयाब हुए, चाहे हमारा बनाया हुआ नमक कितना भी ख़राब क्यों न हो। जब हमने देखा कि लोगों में उत्साह उमड़ रहा है, और नमक बनाना जंगली आग की तरह चारों तरफ़ फैल रहा है, तो हमें कुछ शर्म मालूम हुई; क्योंकि जब गाधीजी ने इस तरीक़े की तजवीज़ पहले-पहल रक्खी थी तब हमने उसकी कामयाबी के बाबत शक किया था। हमें ताज्जुब होता था कि इस व्यक्ति में लोगों पर असर डालने और उनसे संगठित रूप में काम करवाने की कितनी अद्भुत सूझ है!

मैं १४ अप्रैल को गिरफ्तार हो गया, जबकि मैं रायपुर (मध्यप्रान्त) की एक कान्फ्रेन्स में शामिल होने के लिए रेलगाड़ी में सवार हो रहा था। उसी दिन जेल में मेरा मुक़दमा भी हो गया, और मुझे नमक-क़ानून के मातहत छः महीने की सज़ा दी गई। अपनी गिरफ्तारी की सम्भावना से मैंने (अ० भा० काँग्रेस कमिटी द्वारा दी गई नई सत्ता के अनुसार) पहले ही मेरी ग़ैरहाज़िरी में काँग्रेस के सभापति की जगह के लिए गांधीजी को नामज़द कर दिया था, मगर, अगर वह मंजूर न करें तो, मेरी दूसरी नामज़दगी पिताजी के लिए थी। जैसा कि मेरा ख़याल था, गांधीजी राज़ी न हुए, और इसलिए पिताजी ही काँग्रेस के स्थानापन्न सभापति बने। उनकी तन्दुरुस्ती ठीक नहीं थी, फिर भी वह बड़े ज़ोर-शोर से लड़ाई में कूद पड़े। उन शुरू के महीनों में उनके ज़बरदस्त संचालन और अनुशासन से आन्दोलन को बहुत लाभ हुआ। आन्दोलन को तो बहुत लाभ हुआ, मगर इससे उनकी रही-सही तन्दुरुस्ती और शक्ति बिलकुल चली गई।

उन दिनों बड़ी सनसनी पैदा करनेवाले समाचार आया करते थे—जुलूसों का निकलना, लाठी-प्रहारों का होना और गोलियाँ चलना, नामी-नामी आदमियों की गिरफ्तारियों पर अक्सर हड़तालें होना, पेशावर-दिवस, गढ़वाली-दिवस आदि का ख़ास तौर पर मनाया जाना वग़ैरा। उस वक़्त तक तो विदेशी कपड़े और तमाम अंग्रेज़ी माल का बहिष्कार पूरा-पूरा हो गया था। जब मैंने सुना कि मेरी बूढ़ी माताजी और बहनें भी गरमी की तेज़ धूप में विदेशी कपड़े की दूकानों के सामने धरना देने के लिए खड़ी रहती हैं, तो इसका मेरे दिल पर बड़ा गहरा असर हुआ। कमला ने भी यह काम किया। मगर उसने कुछ और ज्यादा भी किया। मेरा ख़याल था कि कितने बरसों से मैं उसे बहुत अच्छी तरह जानता हूँ, मगर उसने इस आन्दोलन के लिए इलाहाबाद शहर और ज़िले में इतनी शक्ति और निश्चय से काम किया कि मैं भी

दंग रह गया। उसने अपने गिरते हुए स्वास्थ्य की बिलकुल परवा नहीं की। वह सारे दिन धूप में घूमा करती थी और उसने संगठन की बड़ी योग्यता का परिचय दिया। मैंने इसका कुछ-कुछ हाल जेल में सुना था। बाद में जब पिताजी भी वहाँ मेरे पास आ गये तब उन्होंने मुझे बताया कि वह कमला के काम की, खासकर उसकी संगठन-शक्ति की, कितनी ज्यादा क़दर करते थे। पिताजी मेरी माताजी का या लड़कियों का तेज धूप में इधर-उधर जाना पसन्द नहीं करते थे, मगर सिवा सिर्फ़ कभी-कभी जबानी मना करने के उन्होंने उन्हें रोका नही।

उन शुरू के दिनों में जो खबरें हमारे पास आया करती थी, उनमें से सबसे बड़ी खबर २३ अप्रैल की पेशावर की घटना और बाद में सारे सीमा-प्रान्त में होनेवाली घटनायें थी। हिन्दुस्तान में कहीं भी मशीन-गनों की गोलियों के सामने इस प्रकार अनुशासन-पूर्ण और शान्ति-पूर्ण हिम्मत बताई जाती, तो उससे सारा देश थर्रा उठता। मगर सीमा प्रान्त के लिए तो यह घटना और भी ज्यादा महत्व रखती थी, क्योंकि पठान लोग हिम्मत के लिए मशहूर थे मगर शान्ति-पूर्ण स्वभाव के लिए मशहूर नही थे। इन्हीं पठानों ने वह मिसाल क़ायम कर दी जो हिन्दुस्तान में अद्वितीय थी। सीमा-प्रान्त में ही वह मशहूर घटना हुई जिसमें गढ़वाली सिपाहियों ने निःशस्त्र जनता पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया। उन्होने इसलिए इन्कार कर दिया कि सिपाहियों को निहत्थी भीड़ पर गोली चलाना नापसन्द होता है, और इसलिए भी कि लोगों से उन्हें हमदर्दी थी। मगर सिर्फ हमदर्दी ही आम तौर पर सिपाही को अपने अफ़सर की हुकुम-उदूली जैसी खतरनाक कार्रवाई के लिए प्रेरित नही कर सकती। क्योंकि इसका बुरा नतीजा उसे मालूम रहता है। गढ़वालियों ने यह बात शायद इसलिए की कि उन्हें (और दूसरी भी कुछ रेजीमेण्टों को, जिनकी हुकुम-उदूली की खबर फैल नहीं पाई) यह ग़लत खयाल हो गया था कि अंग्रेजों की हुकूमत तो अब जाने ही वाली है। जब सिपाहियों में ऐसा खयाल पैदा हो जाता है तभी वे अपनी सहानुभूति और इच्छा के अनुसार काम करने की हिम्मत दिखाते हैं। शायद कुछ दिनों या हफ्तों तक आम हलचल और सविनय-भंग से लोगों में यह ख़याल पैदा हो गया था कि अंग्रेजी हुकूमत के आख़िरी दिन आ गये है, और इसका असर कुछ फ़ौज पर भी पड़ा, मगर जल्दी ही यह भी जाहिर हो गया कि निकट-भविष्य में ऐसा होने की सूरत नहीं है, और फिर फ़ौज में हुकुम-उदूली नही हुई। फिर तो इस बात का भी ख़याल रक्खा गया कि सिपाहियों को ऐसी दुविधा में डाला ही न जाय।

उन दिनों बड़ी-बड़ी आश्चर्यजनक बातें हुईं, मगर सबसे ज्यादा ताज्जुब की बात थी स्त्रियों का राष्ट्रीय संग्राम में हिस्सा लेना। स्त्रियाँ बड़ी तादाद में अपने घर के

घेरों से बाहर निकल आईं, और हालाँकि उन्हें सार्वजनिक कार्यों का अभ्यास न था फिर भी वे लड़ाई में पूरी तरह कूद पड़ीं। विदेशी कपड़े और शराब की दुकानों पर धरना देने का काम तो उन्होंने बिलकुल अपना ही कर लिया। सभी शहरों में सिर्फ़ स्त्रियों के ही भारी-भारी जुलूस निकाले गये, और आम तौर पर स्त्रियाँ पुरुषों की बनिस्बत ज्यादा मज़बूत साबित हुई। अक्सर प्रान्तों में या स्थानीय क्षेत्रों में वे कांग्रेस-'डिक्टेटर' भी बनती थी।

अकेला नमक-क़ानून ही नहीं तोड़ा गया बल्कि दूसरी दिशाओं में भी सविनय-भंग होने लगा। वाइसराय-द्वारा कई आर्डिनेन्सों के, जिनमें कई कामों की मुमानियत की गई थी, निकाले जाने से भी इस काम में मदद मिली। जैसे-जैसे ये आर्डिनेन्स और मुमानियतें बढ़ती गईं। वैसे-वैसे उन्हें तोड़ने के मौके भी बढ़ते गये। और सविनय भंग की यह हालत हो गई कि आर्डिनेन्स से जिस काम की मुमानियत की जाती थी वही काम किया जाता था। प्रारम्भिक सूत्रपात करना निश्चित रूप से कांग्रेस और लोगों के हाथ में रहा था, और जब एक आर्डिनेन्स से गवर्नमेण्ट की निगाह में परिस्थिति न सम्हली तब वाइसराय ने और नये-नये आर्डिनेन्स निकाले। कांग्रेस-कार्य-समिति के कई मेम्बर गिरफ्तार कर लिये गये थे, मगर उनकी जगह नये मेम्बर नियुक्त कर लिये गये, और इस तरह वह काम करती रही। हर सरकारी आर्डिनेन्स के मुकाबिले में कार्य समिति अपना प्रस्ताव पास करती थी, और उस आर्डिनेन्स के लिए क्या करना चाहिए, ऐसी हिदायतें जारी करती थी। इन हिदायतों पर देश में आश्चर्यजनक समानता से अमल होता था। हाँ, अलबत्ता, अख़बारों के प्रकाशन-सम्बन्धी हिदायत पर पूरा अमल नहीं हुआ।

जब प्रेस को ज्यादा नियन्त्रित करने और अख़बारों से जमानत माँगने के बारे में आर्डिनेन्स निकला, तब कार्य-समिति ने राष्ट्रीय अखबारों से यह कहा कि वे जमानत देने से इनकार कर दें और यदि आवश्यक हो तो प्रकाशन ही बन्द कर दें। अख़बारवालों के लिए तो यह एक कड़वी घूंट थी, क्योंकि उसी समय तो लोगों में अखबारों की बहुत माँग थी। फिर भी कुछ नरम-दल के अखबारों को छोड़कर ज्यादातर अखबारों ने अपना प्रकाशन बन्द कर दिया, और नतीजा यह हुआ कि तरह तरह की अफ़वाहें फैलने लगीं। मगर वे ज्यादा वक्त तक न टिक सके, प्रलोभन बहुत भारी था, और अपना धन्धा नरम-दल के अखबार छीने लिये जा रहे हैं यह देखकर उन्हें बुरा भी मालूम हुआ। इसलिए उनमें से ज्यादातर फिर अपना प्रकाशन करने लगे।

गांधीजी ५ मई को गिरफ्तार कर लिये गये थे। उनकी गिरफ्तारी के बाद

समुद्र के पश्चिम किनारे पर नमक के कारखानों और गोदामों पर धावे किये गये। इन धावों में पुलिस की बेरहमी की बहुत दर्दनाक घटनायें हुईं। उन दिनों भारी-भारी हड़तालों, जुलूसों और लाठी-प्रहारों के कारण बम्बई सबसे ज्यादा प्रसिद्ध हो रहा था। इन लाठी-प्रहारों के घायलों के इलाज के लिए कई आरज़ी अस्पताल क़ायम हो गये थे। बम्बई में कई बातें ऐसी हुईं जो मार्के की थीं, और बड़ा शहर होने के कारण बम्बई में प्रकाशन की सुविधा भी थी। छोटे कस्बों और देहाती हिस्सों में भी ऐसी ही बातें हुईं, मगर वे सब प्रकाश में न आ पाईं।

जून के अन्त में मेरे पिताजी बम्बई गये और उनके साथ माताजी और कमला भी गईं। उनका वहाँ बड़ा स्वागत किया गया। जब वह वहाँ ठहरे हुए थे, तभी कुछ बहुत ज़बरदस्त लाठी-प्रहार हुए। वास्तव मे, यह तो बम्बई मे मामूली बात सी हो गई थी। करीब दो हफ्ते बाद ही वहाँ सारी रात एक असाधारण अग्नि-परिक्षा हुई, जबकि मालवीयजी और कार्य-समिति के मेम्बर एक बड़ी भारी भीड़ के साथ पुलिस के सामने, जिसने कि उनका रास्ता रोक रक्खा था, सारी रात डटे रहे।

बम्बई से लौटने पर ३० जून को पिताजी गिरफ्तार कर लिये गये, और उनके साथ सैयदमहमूद भी पकड़े गये। वे कार्य समिति के, जो ग़ैरक़ानूनी क़रार दे दी गई थी, स्थानापन्न अध्यक्ष और मंत्री की हैसियत से गिरफ्तार हुए। दोनों को छः-छः महीने की सज़ा मिली। मेरे पिताजी की गिरफ्तारी शायद एक बयान प्रकाशित करने पर हुई थी, जिसमें उन्होंने सैनिकों या पुलिसमैनों को निहत्थी जनता पर गोली चलाने की आज्ञा मिलने की सूरत मे उनका क्या फर्ज़ है यह बताया था। यह बयान सिर्फ कानूनी था, और उसमें बताया गया था कि मौजूदा ब्रिटिश इण्डियन कानून में इस बाबत क्या लिखा है। मगर फिर भी वह भड़कानेवाला और खतरनाक समझा गया।

बम्बई जाने से पिताजी को बहुत मेहनत करनी पड़ी। बड़े सवेरे से बहुत रात तक उन्हे काम करना पड़ता था और हर ज़रूरी काम का फैसला उन्हें ही करना पड़ता था। वह बहुत दिनों से बीमार-से तो थे ही, अब वह बिलकुल ही थककर लौटे, और अपने डाक्टरों की ज़रूरी सलाह से उन्होने फ़ौरन पूरी तरह आराम लेने का फैसला कर लिया। उन्होंने मसूरी जाने की तैयारी की, और सामान वग़ैरा बँधवा लिया; मगर जिस दिन वह मसूरी जाना चाहते थे उससे एक दिन पहले ही वह नैनी सेन्ट्रल जेल की हमारी बैरक में हमारे सामने आ पहुँचे।

# ३०

## नैनी-जेल में

मैं क़रीब सात साल के बाद फिर जेल गया था, और जेल-जीवन की स्मृतियाँ कुछ-कुछ धुंधली हो गई थीं। मैं नैनी सेण्ट्रल जेल में रक्खा गया था, जोकि प्रान्त का एक बड़ा जेलखाना है। वहाँ मुझे अकेले रहने का नया अनुभव मिला। मेरा अहाता बड़े अहाते से, जिसमें कि २२०० या २३०० क़ैदी थे, अलग था। वह एक छोटा-सा गोल घेरा था, जिसका व्यास लगभग एक-सौ फ़ीट था और जिसके चारों तरफ़ करीब पंद्रह फीट ऊँची गोल दीवार थी। उसके बीचोबीच एक मटमैली और भद्दी-सी इमारत थी, जिसमें चार कोठरियाँ थीं। मुझे इनमें से दो कोठरियाँ जो एक-दूसरे से मिली हुई थीं, दी गईं। एक में नहाने-धोने वग़ैरा की जगह थी। दूसरी कोठरियाँ कुछ वक़्त तक खाली रहीं।

मेरे बाहर के विक्षोभ और सक्रिय जीवन के बाद, यहाँ मुझे कुछ अकेलापन और उदासी मालूम हुई। मैं इतना थक गया था कि दो-तीन दिन तक तो मैं बहुत सोता रहा। गरमी का मौसम शुरू हो गया था, और मुझे रात को अपनी कोठरी के बाहर, अन्दर की इमारत और अहाते की दीवार के बीच की तंग जगह में, खुले में सोने की इजाज़त मिल गई थी। मेरा पलंग भारी-भारी ज़ंजीरों से कस दिया गया था, ताकि मैं कहीं उसे लेकर भाग न जाऊँ, या शायद इसलिए कि पलंग कहीं अहाते की दीवार पर चढ़ने की सीढ़ी न बना लिया जाय। रातभर अजीब तरह की आवाज़ें आया करती थीं। ख़ास दीवार की निगरानी रखनेवाले कनविक्ट ओवरसियर अक्सर एक-दूसरे को तरह-तरह की आवाज़ें लगाया करते थे। कभी-कभी वे ऐसी लंबी आवाज़ें लगाते थे जो अन्त में दूर पर चलती हुई तेज़ हवा के कहराने की-सी आवाज़ मालूम होती थीं। बैरकों के अन्दर से चौकीदार बराबर ज़ोर-ज़ोर से अपने क़ैदियों को गिनते थे और कहते थे कि सब ठीक है। रात में कई बार कोई-न-कोई जेल-अफ़सर अपना राउण्ड लगाता हुआ हमारे अहाते में भी आ जाता था, और जो वार्डर ड्यूटी पर होता था उससे यहाँ का हाल पूछता था। चूंकि मेरा अहाता दूसरे अहातों से कुछ दूर था, ये आवाज़ें ज्यादातर साफ़ सुनाई न देती थीं, और पहले-पहल मैं समझ न सका कि ये क्या हैं। पहले-पहल तो मुझे ऐसा लगा कि मैं किसी जंगल के पास हूँ और किसान लोग अपने खेतों से जंगली जानवरों को भगाने के लिए चिल्ला रहे हैं; और कभी-कभी ऐसा मालूम होता था कि मानों रात को जंगल के और रात के जानवर सब एक-साथ गला फाड़-फाड़कर अलाप रहे हैं।

मैं सोचता हूँ कि आया यह मेरा महज़ ख़याल ही है, या यह सचाई है, कि चौकोनी दीवार की बनिस्बत गोलाईदार दीवार में आदमी को अपने क़ैद होने का ज्यादा भान होता है ? कोनों और मोड़ों के न होने से यह भाव हमारे मन में और भी बढ़ जाता है, कि हम यहाँ दबाये जा रहे हैं। दिन के वक्त वह दीवार आस्मान को भी ढक लेती थी और उसके एक छोटे हिस्से को ही देखने देती थी। मैं :—

उस नन्हें नील वितान पर
  जिसे कहें बंदी आकाश—
उड़ते हुए मेघ-खडों पर
  जिनमें रजत-ऊर्मि-आभास;[१]

अपनी उदास और चिन्तित निगाह डाला करता था। रात को वह दीवार मुझे और भी ज्यादा घेर लेती थी, और मुझे ऐसा लगता था कि मैं किसी कुएँ के तले में हूँ। कभी-कभी तारों से भरा हुआ आस्मान का जितना हिस्सा मुझे दिखाई देता था वह मुझे असली नहीं मालूम होता था। वह नमूने के, बनावटी तारामण्डल का एक हिस्सा लगता था।

मेरी बैरक और अहाता, आम तौर पर, सारे जेल में कुत्ताघर कहलाता था। यह एक पुराना नाम था और इसका मुझसे कोई ताल्लुक़ नहीं था। यह छोटी बैरक, सबसे अलग इसलिए बनाई गई थी कि इसमें खास तौर पर खतरनाक अपराधी, जिन्हें अलग रखने की ज़रूरत हो, रक्खे जायँ। बाद में वह राजनैतिक क़ैदियों, नज़र-बन्दों वग़ैरा को रखने के काम में लिया जाने लगा, जोकि यहाँ सारे जेल से अलग रक्खे जा सकते थे। अहाते के सामने कुछ दूरी पर एक ऐसी चीज़ थी जिसे पहले-पहल अपनी बैरक से देखकर मुझे बड़ा धक्का-सा लगा। वह एक बड़ा भारी पिंजरा-सा था, जिसके अन्दर आदमी गोल-गोल चक्कर काट रहे थे। बाद में मुझे पता लगा कि यह पानी खींचने का पम्प था, जिसे आदमी चलाते थे और जिसमें एकसाथ सोलह आदमी लगते थे। देखते-देखते आदमी के लिए हर चीज़ मामूली हो जाती है। इसीलिए मैं भी उसके देखने का आदी हो गया। मगर हमेशा वह मुझे मनुष्य-शक्ति के उपयोग का बिलकुल मूर्खता-पूर्ण और जंगली तरीक़ा मालूम हुआ है, और जब कभी मैं उसके पास से गुजरता तो मुझे किसी पशु-प्रदर्शिनी की याद आ जाती।

१. मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है :—

"Upon that little tent of blue
  Which prisoners call the sky,
And at every drifting cloud that went
  With sails of silver by."

कुछ दिनों तक तो मुझे कसरत या दूसरे किसी मतलब से अपने अहाते के बाहर जाने की इजाजत न मिली। बाद में मुझे बडे सवेरे, जबकि प्रायः अँधेरा ही रहता था, आधा घंटा बाहर निकलने और मुख्य दीवार के सहारे-सहारे अन्दर घूमने या दौड़ लगाने की इजाज़त मिल गई। यह बड़ी सुबह का वक्त मेरे लिए इसलिए तजवीज़ किया गया था कि मैं दूसरे क़ैदियों के सम्पर्क में न आ सकूँ, या वे मुझे देख न लें। मुझे उस समय बड़ी तरो-ताज़गी आ जाती थी। मुझे मिले हुए इस थोड़े-से वक़्त में ज्यादा-से-ज्यादा खुला व्यायाम करने की ग़रज़ से मैं दौड़ लगाया करता था। दौड के अभ्यास को मैंने धीरे धीरे बढ़ा लिया था, और मैं रोज़ दो मील से ज्यादा दौड़ लिया करता था।

मैं सवेरे बहुत जल्दी, करीब चार या साढ़े तीन बजे ही जबकि बिलकुल अधेरा रहता था, उठ जाया करता था! कुछ तो जल्दी सोने से भी जल्दी उठना हो जाता था, क्योंकि मुझे जो रोशनी मिली थी वह ज्यादा पढ़ने के लिए ठीक नहीं थी। मुझे तारों को देखते रहना अच्छा लगता था, और कुछ प्रसिद्ध तारा-गण की स्थिति देखकर मुझे समय का अन्दाज़ हो जाता था। जहाँ मैं लेटता था वहाँ से मुझे ध्रुवतारा दीवार के ऊपर झांकता हुआ दिखाई देता था, और उससे असाधारण शान्ति मिलती थी। उसके चारों तरफ़ का आसमान गोल चक्कर काटता था, मगर वह वहीं क़ायम था। वह मुझे प्रसन्नता-पूर्ण अचलता और दृढ़ता का प्रतीक मालूम होता था।

एक महीने तक मेरे पास कोई साथी न था, मगर फिर भी मैं अकेला नही था, क्योंकि मेरे अहाते में वार्डर और कनविक्ट ओवरसियर व रसोई और सफाई करने-वाला एक क़ैदी था। कभी-कभी किसी काम के लिए दूसरे क़ैदी, ज्यादातर कनविक्ट ओवरसियर—सी० ओ०—लोग भी, जो लम्बी सजायें भुगत रहे थे, आ जाते थे। इनमें जन्म-क़ैदी, आजीवन सज़ा पाये हुए क़ैदी, ज्यादा थे। आम तौर पर समझा जाता था कि जन्म-क़ैद बीस साल या कम में खत्म हो जाती है, मगर जेल में ऐसे बहुत क़ैदी थे जिन्हें बीस साल से भी ज्यादा हो गये थे। नैनी में मैंने एक बड़ी अजीब मिसाल देखी। कैदियों के कंधों पर कपड़ों में लगी हुई लकड़ी की एक पट्टी रहती है, जिनमें उनकी सज़ाओं का हाल और रिहाई की तारीख लिखी रहती है। एक क़ैदी की पट्टी पर मैंने पढ़ा कि उसकी रिहाई १९९६ में होगी! १९३० में ही उसको कई साल हो चुके थे, और उस समय वह अधेड़ था। शायद उसे कई सजायें दी गई थीं और वह सब एक के बाद एक जोड़ दी गईं थीं। शायद कुल मिलाकर उसे पचहत्तर साल की सज़ा थी!

बरसों बीत जाते हैं और कई जन्म-क़ैदी तो किसी बच्चे या स्त्री या जानवरों को भी नहीं देख पाते। उनका बाहरी दुनिया से सम्बन्ध बिलकुल टूट जाता है, और

कोई मानवी सम्पर्क नहीं रहता। वे मन-ही-मन हमेशा कुछ घुटघुटाया करते है, और उनका दिमाग़ भय, बदले और नफ़रत के रोषपूर्ण विचारों से भर जाता है। वे दुनिया की भलाई, दयालुता और आनन्द को भूल जाते है, और सिर्फ़ बुराई में ही जीवन बिताते है। फिर धीरे-धीरे उनमें से नफ़रत की तेजी चली जाती है, और जीवन एक जड़ यन्त्रवत् बन जाता है। अपने-आप चलनेवाले यन्त्रों की तरह वे अपने दिन गुज़ारते हैं, जोकि सब बिलकुल एक-से ही गुज़रते हैं। उन्हें एक भय के सिवा और कोई भावना भी नही होती! वक्तन-फवक्तन क़ैदियों की तुलाई और नाप होती है। मगर मस्तिष्क और हृदय की भावना को भी, जो अत्याचार के इस भयंकर वातावरण में मुरझाकर सूख जाती है, कोई तोलता है? लोग मौत की सजा के ख़िलाफ़ दलीलें देते है और वे मुझे बहुत जँचती है। मगर जब मैं जेल का लम्बा यातना-पूर्ण जीवन देखता हूँ, तो सोचता हूँ कि आदमी को घुला-घुलाकर मारने के बजाय तो मौत की सजा ही अच्छी है। एक दफ़ा एक जन्म-क़ैदी मेरे पास आकर मुझसे पूछने लगा—"हम जन्म-क़ैदियों का क्या होगा? क्या स्वराज हमें इस नरक में से निकाल देगा?"

और ये जन्म-क़ैदी कौन होते है? इनमें से बहुतेरे तो मजमूई मुकदमों में आते है, जिनमें कि बहुत लोगों को, कभी-कभी पचास-पचास या सौ-सौ आदमियों को, एक-साथ सजायें होती है। इनमें कई तो शायद क़ुसूरवार होते हैं, मगर ज्यादातर लोग सचमुच क़ुसूरवार होते है इसमें मुझे सन्देह है। ऐसे मुकदमों में लोगों को फँसा देना बड़ा आसान है। किसी मुख़बिर की शहादत और थोडी शनाख़्त हो जानी चाहिए, बस इतना ही ज़रूरी है आजकल डकैतियाँ बढ़ रही है, और जेल की आबादी हर साल ज्यादा हो जाती है। जबकि लोग भूखों मर रहे हैं, तो वे क्या करें? जज और मजिस्ट्रेट लोग अपराधों की बढ़ती पर कहते नही थकते। मगर उनकी निगाह जाहिरा आर्थिक कारणों पर नहीं जाती।

इनके अलावा काश्तकार लोग आते है। किसी जमीन के टुकड़े की बाबत गाँव में झगड़ा हो जाता है, लाठियाँ चल जाती हैं, और कोई मर जाता है—नतीजा यह होता है कि जन्मभर या लंबी मियादों के लिए कई आदमी जेल भेज दिये जाते हैं। अक्सर किसी घर के सारे पुरुष क़ैद कर दिये जाते हैं और पीछे स्त्रियाँ रह जाती हैं, जो जैसे-तैसे करके पेट पालती है। इनमें एक भी व्यक्ति जरायम-पेशा नहीं होता। साधारणतः ये लोग शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियों से अच्छे युवक, औसत देहाती से कहीं ऊपर उठे हुए, होते है। यदि इन्हें थोड़ी तालीम मिले, और दूसरी बातों और कामों की तरफ़ इनकी रुचि थोड़ी बदल दी जाय, तो यही लोग देश के क़ीमती धन बन सकते हैं।

बेशक हिन्दुस्तान की जेलों में पक्के मुजरिम भी हैं, जिनमें सामाजिकता के भाव नहीं होते हैं और जो समाज के लिए बहुत खतरनाक हैं। मगर मुझे जेल में ऐसे लड़के और आदमी बहुत मिले हैं जो अच्छे नमूने के थे, और जिनपर मैं बिला झिझक विश्वास कर सकता हूँ। मुझे यह नही मालूम कि असली जरायमपेशा और ग़ैर-जरायमपेशा क़ैदी कितने-कितने अनुपात में है, और शायद इस तरह विभाजन करने का ख़याल तक जेल-महकमे में किसीको नहीं आया होगा। न्यूयार्क के सिंगसिंग-जेल के वार्डन लीविस ई० लावेज ने इस विषय के कुछ दिलचस्प आँकड़े दिये हैं। वह अपने जेल के क़ैदियों के बारे में कहता है कि मेरी राय में ५० फीसदी तो बिलकुल जरायम-मनोवृत्ति के नहीं हैं; २५ फीसदी परिस्थितियों और मजबूरियों के कारण अपराधी बने हैं; और बाकी २५ फीसदी में से शायद आधे, यानी १२½ फ़ीसदी, ही समाज में न रहने लायक है। यह तो सभी जानते हैं कि असली अपराधी-वृत्ति बड़े शहरों और आधुनिक सभ्यता के केन्द्रों में ज्यादा होती है, और पिछड़े हुए इलाकों में कम होती है। अमेरिका की जरायमपेशा टोलियाँ तो मशहूर हैं, और सिंगसिंग-जेल भी खास तोर पर मशहूर है, जहाँ कुछ भयंकर-से-भयंकर मुजरिम भेजे जाते हैं। मगर, उसके वर्डन की राय के मुताबिक, उसके सिर्फ १२½ फ़ीसदी क़ैदी ही सचमुच बुरे हैं। मेरे खयाल से यह बड़ी अच्छी तरह कहा जा सकता है कि हिन्दुस्तान की जेलों में तो यह अनुपात इससे भी बहुत कम होगा। आर्थिक नीति थोड़ी और अच्छी हो जाय, लोगों को रोज़गार कुछ ज्यादा मिलने लगे, और शिक्षा कुछ बढ़ जाय तो हमारी जेलें खाली की जा सकती हैं। मगर इसको कामयाब बनाने के लिए एक बिलकुल मौलिक योजना की, जिससे हमारी सारी सामाजिक रचना बदल जाय, जरूरत है। इसके सिवा दूसरा असली उपाय वही जो ब्रिटिश-सरकार कर रही है— हिन्दुस्तान में पुलिस की तादाद और जेलों का बढ़ाना। हिन्दुस्तान में कितनी तादाद में लोग जेल भेजे जाते हैं, यह देखकर सिर ठनकने लगता है। अखिल भारतीय क़ैदी-सहायक समिति के मंत्री की एक हाल की रिपोर्ट में कहा गया है कि १९३३ में सिर्फ़ बम्बई प्रान्त में ही १,२८,००० लोग जेल भेजे गये, और उसी साल बंगाल की संख्या १,२४,००० थी।[1] मुझे सब प्रान्तों के आंकड़े तो मालूम नहीं, किन्तु यदि दो प्रान्तों का जोड़ ढाई लाख है, तो बहुत संभव है कि सारे हिन्दुस्तान का जोड़ करीब दस लाख तो होगा। मगर इसे वास्तव में जेल में हमेशा रहनेवालों की तादाद नहीं कह सकते, क्योंकि बहुत लोगों को तो थोड़ी-थोड़ी सजायें मिलती हैं। स्थाई रहनेवालों की तादाद इससे बहुत कम होगी, मगर फिर भी वह एक बड़ी

१. 'स्टेट्समैन', ११ दिसम्बर, सन् १९३४।

भारी संख्या होगी। हिन्दुस्तान के कुछ बड़े प्रान्तों की जेल-व्यवस्था संसार की सबसे बड़ी जेल-व्यवस्था समझी जाती है। युक्तप्रान्त भी ऐसे प्रान्तों में माना जाता है, जिसे यह गौरव—यदि इसे गौरव कहा जाय—प्राप्त है और, बहुत संभवतः, यहाँ संसार का सबसे पिछड़ा हुआ और प्रतिगामी प्रबन्ध है या था। क़ैदी को एक व्यक्ति, एक मानव-प्राणी, समझने और उसके मस्तिष्क को सुधारने या उसकी चिन्ता रखने की कुछ भी कोशिश नहीं की जाती है। युक्तप्रान्त का जेल-प्रबन्ध जिस बात में सबसे बड़ा-चढ़ा है वह है अपने क़ैदियों को सुरक्षित रखना। वहाँ भागने की कोशिश बहुत ही कम होती है और दस हज़ार में से शायद ही एकाध कोई भागने में सफल होता होगा।

जेलखानों की एक निहायत दुःख-जनक बात है, वहाँ १५ साल या इससे ज्यादा उनके लड़कों का बडी तादाद में होना। इनमें से ज्यादातर तो तेज़ और होशियार दिखनेवाले लड़के होते है, कि जो अगर मौक़ा मिले तो बड़ी आसानी से अच्छे बन सकते है। कुछ अर्से से इन्हें मामूली पढ़ना-लिखना सिखाने की कुछ शुरुआत की गई है, मगर, कि जैसा कि हमेशा होता है, वह बिलकुल ही नाकाफ़ी और बेकार है। खेल कूद या दिल-बहलाव का बहुत कम मौक़ा आता होगा, किसी किस्म के भी अखबार की इजाजत नहीं है, और न किताबें पढ़ने का प्रोत्साहन दिया जाता है। बारह घण्टे या इससे भी ज्यादा देर तक सब क़ैदियों को उनकी बैरकों या कोठरियों में ताले में बन्द रक्खा जाता है, और लम्बी-लम्बी शाम का वक्त काटने के लिए उनके पास कोई काम नहीं रहता।

मुलाकातें तीन महीने में एक दफ़ा हो सकती है। यही खतों का भी हाल है। यह मियाद अमानुषिक रूप से लम्बी है इसपर भी कई क़ैदी तो इससे भी लाभ नहीं उठा सकते। अगर वे बे-पढ़े होते है, जैसाकि ज्यादातर होते ही है, तो वे किसी जेल-अफ़सर से ही चिट्ठी लिखवाते हैं, और ये लोग चूंकि अपना काम और बढ़ाना नहीं चाहते इसलिए चिट्ठी लिखना अक्सर टालते रहेते है, अगर चिट्ठी लिखी भी गई तो पता ठीक-ठीक नहीं दिया जाता, और वह ठिकाने पर नही पहुँचती। मुलाक़ात करना तो और भी मुश्किल है। क़रीब क़रीब, अनिवार्य रूप से, किसी-न-किसी जेल-कर्मचारी को कुछ नाजराना-शुक्रियाना देने से ही मुलाकात हो सकती है। अक्सर क़ैदी दूसरे-दूसरे जेलों में बदल दिये जाते हैं, और उनके घर के लोगों को उनका पता नहीं लगता। मुझे कई ऐसे क़ैदी मिले हैं, जिनका ताल्लुक अपने परिवार से बरसों से छूट चुका था, और उन्हें मालूम नही था कि उनका क्या हुआ होगा। तीन या अधिक महीनों के बाद जब मुलाक़ातें होती भी हैं तो वे अजीब तरह से होती हैं। जंगले के

दोनों तरफ़ आमने-सामने बहुत-से क़ैदी और उनके मुलाक़ाती खड़े कर दिये जाते हैं, और वे सब एक-साथ बात-चीत करने की कोशिश करते हैं। एक-दूसरे से बहुत जोर से चिल्ला-चिल्लाकर बोलना पड़ता है, और मुलाक़ात में जो थोड़ा-बहुत मानवी-सम्पर्क हो सकता है वह भी नहीं रहता!

हज़ार में से किसी एकाध क़ैदी को (यूरोपियनों को छोड़कर) अच्छा खाना मिलने या जल्दी-जल्दी मुलाक़ात करने या खत लिखने की खास सुविधा भी मिल जाती है। राजनैतिक आन्दोलनों में, जबकि लाखों राजनैतिक क़ैदी जेल जाते हैं, इन विशेष दर्जे के क़ैदियों की तादाद कुछ थोड़ी-सी बढ़ जाती है, मगर फिर भी वह बहुत थोड़ी ही रहती है। इन राजनैतिक स्त्री और पुरुष क़ैदियों में से ९५ फीसदी क़ैदियों के साथ मामूली ढंग का ही बर्ताव किया जाता है और उन्हें ऐसी सुविधायें भी नहीं मिलतीं।

कई व्यक्ति, जिन्हें क्रान्तिकारी हलचलों के कारण आजन्म या लम्बी सजायें दी जाती हैं, लम्बे अर्से तक तनहाई कोठरियों में रक्खे जाते हैं। मेरा खयाल है कि यू० पी० में तो ऐसे सब व्यक्ति आम तौर पर सीधे तनहाई कोठरियों में बन्द रक्खे जाते हैं। यों तो तनहाई जेल के किसी कुसूर के लिए सज़ा के तौर पर ही दी जाती है, मगर इन लोगों को तो, जो आम तौर पर नवयुवक होते हैं, शुरू से तनहाई में ही रक्खा जाता है, चाहे उनका बर्ताव जेल में बहुत अच्छा ही क्यों न हो। इस तरह अदालत की सज़ा के अलावा, जेल महक़मा उसमें बग़ैर किसी सबब के एक और भयंकर सज़ा बढ़ा देता है। यह बड़ी असाधारण बात है, और क़ानून की किसी दफ़ा के अनुसार नहीं है। थोड़े वक़्त के लिए भी तनहाई में बन्द रक्खा जाना एक बड़ी दर्दनाक बात है, फिर जब यह बरसों तक रहे तब तो कितनी खतरनाक होजाती है! इससे मस्तिष्क की शक्ति धीरे-धीरे लगातार घटती जाती है, जो अन्त में पागलपन की हद तक पहुँच जाती है, और क़ैदी का चेहरा विचार-शून्य या भयभीत पशु जैसा दिखने लगता है। यह मनुष्य की स्पिरिट को धीमे-धीमे खत्म करना या उसकी आत्मा को धीरे-धीरे हलाल करना है। अगर आदमी जिन्दा बचता भी है तो वह एक विलक्षण जीव और दुनिया के लिए बे-मौज़ूं बन जाता है। और यह सवाल तो हमेशा उठता ही रहता है कि क्या वह व्यक्ति वास्तव में किसी कार्य या अपराध का गुनहगार भी था? हिन्दुस्तान में पुलिस के तरीक़े अर्से से सन्देह की दृष्टि से देखे जाते हैं, और राजनैतिक मामलों में तो वे बहुत ही ज्यादा सन्देहास्पद हैं।

यूरोपियन या यूरेशियन क़ैदियों को, चाहे उन्होंने कोई भी अपराध किया हो या उनकी कैसी भी हैसियत हो, अपने-आप ऊँचे दर्जे में रख दिया जाता है, और उन्हें

ज्यादा अच्छा भोजन, हलका काम और जल्दी-जल्दी खत और मुलाक़ात की सुविधायें दी जाती हैं। हर हफ्ते पादरी के आने से वे बाहर की बातों के सम्पर्क में बने रहते हैं। पादरी उनके लिए सचित्र और हँमी-मज़ाक के विदेशी अखबार ले आता है, और जब ज़रूरत होती है तब उनके घरवालों से खतो-किताबत करता रहता है।

यूरोपियन क़ैदियों को ये सुविधायें क्यों मिलती हैं इसकी किसीको शिकायत नहीं है, क्योंकि उनकी तादाद थोड़ी ही है, मगर दूसरे—स्त्री और पुरुष—क़ैदियों के प्रति व्यवहार में मनुष्यता का बिलकुल अभाव देखकर ज़रूर रंज होता है। क़ैदी को एक व्यक्ति, एक मानव प्राणी नहीं समझा जाता, और इसलिए उसके साथ वैसा बर्ताव भी नहीं किया जाता। जेल को तो सरकारी तन्त्र द्वारा बुरे-से बुरे दमन का अमानुषिक पहलू समझना चाहिए। यह एक ऐसा यन्त्र है जो बेरहमी से, बिना सोचे, काम करता रहता है, और उसकी पकड़ में जो कोई आ जाता है उसे कुचल डालता है। जेल के क़ायदे इसी यन्त्र को दिखाने के लिए खास तौर पर बनाये गये हैं। जब भावना-शील स्त्री या पुरुष यहाँ आते हैं, तो यह हृदय-हीन शासन उनके मन को एक यातना और पीड़ा प्रतीत होता है। मैंने देखा है कि कभी-कभी लम्बी मियाद के क़ैदी जेल की उदासी से ऊबकर फूट-फूटकर बच्चे की तरह रोने लगते हैं, और सहानुभूति और प्रोत्साहन के थोड़े-से शब्दों से, जोकि इस वातावरण में बहुत दुर्लभ होते हैं, उनके चेहरे खुशी और अहसानमन्दी से चमक उठते हैं।

इतना होने पर भी क़ैदियों में एक-दूसरे के प्रति उदारता और अच्छी मित्रता के कई हृदय-स्पर्शी उदाहरण भी दिखाई देते थे। एक बार एक अन्धा दुबारा क़ैदी तेरह साल के बाद रिहा हुआ। इस लम्बे अर्से के बाद वह बाहर जा रहा था, जहाँ न उसके पास कोई साधन थे, न दोस्त। उसके साथी क़ैदी उसकी इमदाद करना चाहते थे, लेकिन वे ज्यादा नहीं कर सकते थे। एकने जेल दफ्तर में जमा की हुई अपनी कमीज़ दी, दूसरे ने कोई और कपड़ा दिया। एक तीसरे को उसी दिन सवेरे चप्पल की जोड़ी मिली थी, जिसे उसने कुछ अभिमान से मुझे दिखाया था। जेल में यह चीज़ मिलना बड़ी भारी बात है। मगर जब उसने देखा कि उसका कई साल का साथी यह अन्धा नंगे-पैर बाहर जा रहा है तो उसने खुशी से उसे अपने नये चप्पल दे दिये। उस समय मैंने सोचा कि शायद जेल के अन्दर बाहर से ज्यादा दानशीलता है।

१९३० का वह साल आश्चर्यजनक परिस्थितियों और स्फूर्तिदायक घटनाओं से भरा हुआ था। गांधीजी की सारे राष्ट्र में स्फूर्ति और उत्साह भर देने की अद्भुत शक्ति से मुझे सबसे ज्यादा आश्चर्य हुआ। उनकी शक्ति में एक मोहनी-सी मालूम होती थी, और उनके बारे में जो बात गोखले ने कही थी वह हमें याद आई—"उनमें मिट्टी से

सूरमा बना लेने की ताक़त है। शान्ति-पूर्ण सविनय भंग महान् राष्ट्रीय उद्देशों को पूर्ण करने के लिए, लड़ाई के शस्त्र और शास्त्र दोनों तरह से, काम में आ सकता है, यह बात सच मालूम हुई। और देश में, मित्रों और विरोधियों दोनों को, बिलकुल भरोसा-सा होने लगा कि हम कामयाबी की तरफ़ जा रहे हैं। आन्दोलन में क्रियात्मक रूप से काम करनेवालों में एक अजीब उत्साह भर गया, और थोड़ा-थोडा जेल के भीतर भी आ पहुँचा। मामूली क़ैदी भी कहते थे कि "स्वराज आ रहा है!" और इस उम्मीद से कि उससे उन्हें भी कुछ फायदा हो जायगा, वे आतुरता से उसका इन्तज़ार करते थे। बाज़ार की बात-चीत सुन-सुनाकर वार्डर लोग भी उम्मीद करते थे कि स्वराज नज़दीक ही है। इससे जेल के छोटे-छोटे अफ़सर कुछ और घबराहट में पड़ गये।

जेल में हमें दैनिक अख़बार नहीं मिलता था, मगर एक हिन्दी साप्ताहिक अखबार से हमें कुछ ख़बरें मिल जाया करती थीं। और ये ख़बरें ही अक्सर हमारी कल्पनाओं को तेज़ कर दिया करती थी। रोज़ाना लाठी-प्रहार होना, किसी-किसी दिन गोली चलना, शोलापुर में फौज़ी क़ानून जारी होना, जिसमें राष्ट्रीय झण्डा ले जाने के लिए ही दस साल की सजा दी गई थी, ऐसी ख़बरें आती थीं। सारे देश में हमें अपने लोगों, ख़ासकर स्त्रियों, पर बड़ा अभिमान होने लगा। मुझे तो मेरी माताजी, पत्नी और बहनों तथा दूसरी चचेरी बहनों और महिला-मित्रों के कार्यों के कारण विशेष सन्तोष हुआ। और हालाँकि मैं उनसे दूर था, और जेल में था, फिर भी मुझे ऐसा लगा कि हम सब एक ही महान् कार्य में साथ-साथ कार्य करने के नये नाते से एक-दूसरे के बहुत नज़दीक आ गये हैं। परिवार तो, उससे भी बड़े समुदाय में ऐसा मालूम होने लगा, मानो लुप्त हो गया है। मगर फिर भी उसमें पुरानी मधुरता और निकटता बनी रही। कमला ने तो मुझे आश्चर्य में ही डाल दिया, क्योंकि उसकी क्रिया-शीलता और उत्साह ने उसकी बीमारी को दबा दिया, और कम-से-कम कुछ समय के लिए तो वह बहुत ज्यादा काम-काज करते रहने पर भी चंगी बनी रही।

जिस वक्त बाहर दूसरे लोग ख़तरे का मुक़ाबिला कर रहे हैं, और कष्ट उठा रहे हैं, उस वक्त मैं जेल में आराम से समय बिता रहा हूँ, यह ख़याल मुझे दिक़ करने लगा। मैं बाहर जाने की इच्छा करता था, किन्तु नहीं जा सकता था। इसलिए मैंने अपना जेल-जीवन बड़ा सख़्त, कार्यमय, बना लिया। मैं अपने चर्खे पर रोज़ाना करीब तीन घंटे सूत कातता था। इसके अलावा दो या तीन घंटे में निवाड़ बुनता, जो मैंने जेल अधिकारियों से ख़ास तौर पर माँग ली थी। मैं इन कामों को पसन्द करता था इनमें न ज्यादा ज़ोर पड़ता था न थकावट होती थी, और मेरा समय काम में लग जाता था। इससे मेरे दिमाग़ का बुखार भी शान्त हो जाता था। मैं बहुत पढ़ता रहता

था, या सफ़ाई करने या कपड़े धोने वगैरा में लगा रहता था। मैं मशक्कत अपनी खुशी से ही करता था, क्योंकि मुझे 'सादी' सज़ा मिली थी।

इस तरह, बाहर की घटनाओं और अपने जेल-कार्यक्रम का विचार करते-करते, मैं नैनी-जेल में अपने दिन गुज़ारने लगा। हिन्दुस्तान के इस जेल की कार्य-प्रणाली देख कर मुझे यह प्रतीत हुआ कि वह हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी सरकार की प्रणाली से भिन्न नहीं है। सरकार का शासन-तन्त्र बहुत सुव्यवस्थित है, जिसके फलस्वरूप देश पर सरकार का क़ब्ज़ा मज़बूत होता है मगर जिसमें देश की मानव-सामग्री की चिन्ता बहुत थोड़ी, या बिलकुल नहीं, की जाती है। ऊपर से तो यही दिखना चाहिए कि जेल का प्रबन्ध सुचारु रूप से हो रहा है और यह किसी हदतक ठीक भी है। मगर शायद कोई भी यह ख़याल नहीं करता कि जेल का खास लक्ष्य होना चाहिए, उसमें आनेवाले अभागे लोगों को सुधारना और उनकी सहायता करना। यहां तो बस यह ख़याल है कि उनको कुचल डालो, ताकि जबतक वे बाहर निकलें तबतक उनमें ज़रा-सी भी हिम्मत बाकी न रहे। और जेल का प्रबन्ध-सञ्चालन किस तरह होता है, क़ैदियों को कैसे क़ाबू में रक्खा जाता है, और कैसे दण्ड दिया जाता है? यह सब ज्यादातर क़ैदियों की सहायता से ही होता है। क़ैदियों में से ही कुछ लोग कनविक्ट-वार्डर (सी० डबल्यू०) या कनविक्ट-ओवरसियर (सी० ओ०) बना दिये जाते हैं, और वे खौफ़ से या इनामों या छूट के प्रलोभन से अधिकारियों के साथ सहयोग करने लगते हैं। तनख्वाहदार वार्डर वैसे थोड़े ही होते हैं। जेल के अन्दर की ज्यादातर हिफ़ाजत और चौकीदारी कनविक्ट-वार्डर और कनविक्ट-ओवरसियर ही करते हैं। जेल में मुखबिरी का भी ख़ूब ज़ोर रहता है। क़ैदियों को एक-दूसरे की चुगली और मुखबिरी करने को उत्साहित किया जाता है, और क़ैदियों को एका करने या कोई भी संयुक्त कार्य करने की तो इजाज़त ही नहीं रहती है। यह सब आसानी से समझ में आ सकता है, क्योंकि उनमें फूट रखने से ही वे क़ाबू में रक्खे जा सकते हैं।

जेल से बाहर, हमारे देश के शासन में भी, यही प्रणाली एक व्यापक लेकिन कम ज़ाहिर रूप में दिखाई देती है। मगर यहाँ सी० डबल्यू० और सी० ओ० लोगों का नाम बदल गया है। उनके बड़े-बड़े शानदार नाम हैं, और उनकी वर्दियाँ ज्यादा तड़क-भड़कदार हैं। और अपने तर्ज़ की पाबन्दी के लिए, जेल की ही तरह, उनके पीछे हथियारबन्द सशस्त्र दल रहता है।

आधुनिक राज्यों के लिए जेलखाना कितना ज़रूरी और लाज़िमी है? कम से कम क़ैदी तो यही सोचने लगता है। सरकार के प्रबन्ध आदि विषयक विविध कार्य तो जेल, पुलिस और फ़ौज के मौलिक कार्यों के मुकाबिले में थोथे मालूम होने लगते

हैं। जेल में आदमी मार्क्स के इस सिद्धान्त की क़दर करने लगता है, कि राज्य तो वास्तव में उस दल की, कि जिसके हाथ में शासन है, इच्छा को कार्यान्वित करने का एक बल-प्रयोजक साधन है।

एक महीने तक तो मैं अपनी बैरक में अकेला ही रहा। फिर एक साथी—नर्मदाप्रसादसिंह—आ गये, और उनके मिलने से बड़ी राहत मिली। इसके ढाई महीने बाद, जून १९३० की आख़िरी तारीख को, हमारे अहाते में असाधारण खलबली मच गई। अचानक बड़े सवेरे मेरे पिताजी और डॉ० सैयदमहमूद वहाँ लाये गये। वे दोनों आनन्द-भवन में, जबकि अपने बिस्तरों में सोये हुए थे, गिरफ्तार किये गये थे।

## ३१

# यरवडा में संधि-चर्चा

पिताजी की गिरफ्तारी के साथ ही, या उसके फ़ौरन बाद ही, कार्य-समिति ग़ैर-क़ानूनी क़रार दे दी गई। इससे एक नई स्थिति पैदा हो गई—यदि कमिटी अपनी मीटिंग करे तो सब-के सब मेम्बर एकसाथ गिरफ्तार हो सकते थे। इसलिए कार्यवाहक सभापतियों को जो अख्त्यार दे दिया गया था उसके मुताबिक स्थानापन्न मेम्बर उसमें और जोड़े गये और इस सिलसिले में कई स्त्रियाँ भी मेम्बर बनीं। कमला भी उनमें थी।

पिताजी जब जेल आये तो उनकी तन्दुरुस्ती बहुत खराब थी और वह जिन हालतों में वहाँ रक्खे गये थे उनमें उन्हें बड़ी तकलीफ़ थी। सरकार ने जान बूझकर यह स्थिति पैदा नहीं की थी, क्योंकि वह अपनी तरफ़ से तो उनकी तकलीफ कम करने की भरसक कोशिश करने को तैयार थी, परन्तु नैनी-जेल में वह अधिक कुछ नहीं कर सकी। मेरी बैरक की ४ छोटी-छोटी कोठरियों में हम चार आदमियों को एक-साथ रख दिया गया। जेल के सुपरिन्टेन्डेन्ट ने सुझाया भी कि पिताजी को किसी दूसरी जगह रख दें, जहाँ उन्हें कुछ ज्यादा जगह मिल जाय, लेकिन हम लोगों ने एक-साथ रहना ही बेहतर समझा, क्योंकि इससे हम कोई-न-कोई उनकी सम्हाल रख सकते थे।

बारिश शुरू ही हुई थी पर कोठरी के अन्दर की जमीन मुश्किल से सूखी रहती थी, क्योंकि छत से पानी जगह-जगह टपकता रहता था। रात के वक्त रोज़ यह सवाल उठता कि पिताजी का बिछौना हमारी कोठरी से सटे उस छोटे-से बरामदे में, जो १० फीट लम्बा और ५ फीट चौड़ा था, कहाँ लगाया जाय, जिससे पानी से बचाव हो सके? कभी-कभी उन्हें बुखार आ जाता था। आखिर जेल-अधिकारियों ने हमारी कोठरी से लगा हुआ एक और अच्छा बड़ा बरामदा बनवाना तय किया। बरामदा बन तो गया और उससे आराम भी ज्यादा मिलता, मगर पिताजी को उसका कुछ फ़ायदा न मिला, क्योंकि उसके तैयार होने के बाद शीघ्र ही उन्हें रिहा कर दिया गया। तब हममें से जो लोग वहाँ पीछे रह गये थे और रहे उन्होंने उससे पूरा फ़ायदा उठाया।

जुलाई के अखीर-अखीर में यह चर्चा बहुत सुनाई दी कि सर तेजबहादुर सप्रू और श्री० जयकर इस बात की कोशिश कर रहे है कि कांग्रेस और सरकार के दर्म्यान

सुलह हो जाय। हमने यह खबर एक दैनिक अखबार में पढ़ी जो पिताजी को खास तौर पर बतौर रिआयत के दिया जाता था। उसीमें हमने वह सारी खतो-किताबत पढ़ी जो वाइसराय लॉर्ड अर्विन और सर सप्रू तथा श्री जयकर के बीच हुई थी। और बाद में हमें यह भी मालूम हुआ कि हमारे ये 'शांतिदूत" गांधीजी से भी मिले थे। हमारी समझ में यह नहीं आता था कि आखिर इनको सुलह की इतनी क्यों पड़ी है, या ये इससे क्या नतीजा निकालना चाहते हैं? बाद को हमें उनसे मालूम हुआ कि उन्हें इस बात का उत्साह मिला है पिताजी के एक छोटे-से बयान से, जो उन्होंने बम्बई में अपनी गिरफ्तारी से कुछ पहले दिया था। वक्तव्य का खर्रा मि० स्लोकॉम्ब का (लन्दन के 'डेली हेरल्ड' के संवाददाता, जो उन दिनों हिन्दुस्तान में थे) बनाया हुआ था, जो पिताजी से बातचीत करके तैयार किया गया था और जिसे उन्होंने पसन्द भी कर लिया था। इस वक्तव्य[1] में यह बताया गया था कि अगर सरकार कुछ शर्तें मान ले तो सम्भव है कि कांग्रेस सत्याग्रह को वापस ले ले।

यह एक गोल-मोल और कच्ची बात थी और उसमें भी यह साफ़ कह दिया गया था कि उन अस्पष्ट शर्तों पर भी तबतक विचार नहीं किया जा सकेगा, जबतक पिताजी गांधीजी और मुझसे मशवरा न करलें। मुझसे सलाह की ज़रूरत इसलिए पड़ती

१. यह वक्तव्य २५ जून १९३० को दिया गया था—"यदि किन्हीं हालतों में ब्रिटिश-सरकार और भारत-सरकार, हालांकि इसका पहले से अन्दाज नहीं किया जा सकता कि गोल-मेज़-कान्फ्रेन्स अपनी खुशी से क्या सिफ़ारिशें करेगी या ब्रिटिश पार्लमेण्ट का उन सिफ़ारिशों के बारे में क्या रुख रहेगा, खानगी तौर पर यह आश्वासन दें या किसी तीसरे जिम्मेदार शख्स के मार्फत यह इशारा मिले कि ऐसा आश्वासन मिल जायगा कि हम भारत के लिए पूर्ण उत्तरदायी शासन की मांग का समर्थन करेंगे, बशर्तेकि दोनों में आपसी घटा-बढ़ी से काम लिया जाय और सत्ता को हस्तान्तर करने की शर्तें वे हों जो हिन्दुस्तान की ख़ास ज़रूरतों और अवस्थाओं के लिए और ग्रेटब्रिटेन के साथ उसका पुराना सम्बन्ध होने के कारण ज़रूरी हों और जिनका निर्णय गोलमेज-कान्फ्रेन्स करे, तो पण्डित मोतीलाल नेहरू यह जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लेते हैं कि वह खुद इस तरह का आश्वासन गांधीजी या पण्डित जवाहरलाल नेहरू तक ले जावेंगे। यदि ऐसा आश्वासन मिला और मंजूर कर लिया गया तो इससे सुलह का रास्ता खुल जायगा, जिसके मानी यह होंगे कि इधर सविनय भंग-आन्दोलन बन्द किया जायगा और साथ ही उधर सरकार की मौजूदा दमन-नीति भी खत्म हो जायगी, राजनैतिक कैदियों की आम रिहाई होगी और इसके बाद कांग्रेस उन शर्तों पर, जो आपस में तय हो जायँगी, गोलमेज़ कान्फ्रेन्स में शरीक होगी।"

थी कि मैं उस साल कांग्रेस का सदर था। मुझे याद है कि अपनी गिरफ्तारी के बाद पिताजी ने इसका ज़िक्र नैनी में मुझसे किया था, और उन्हें इस बात पर दु:ख ही रहा कि उन्होंने जल्दी में ऐसा गोल-मोल वक्तव्य दे डाला और सम्भव था कि उसका ग़लत अर्थ लगाया जाय। और दरअसल ऐसा हुआ भी, क्योंकि जिन लोगों की विचार-धारा हमसे बिलकुल जुदा है उनके द्वारा तो बिलकुल स्पष्ट और यथार्थ वक्तव्यों का भी ग़लत अर्थ लगाये जाने की सम्भावना रहती ही है।

२७ जुलाई को सर तेजबहादुर सप्रू और श्री० जयकर अचानक नैनी-जेल में हमसे मिलने आ पहुँचे। वे गांधीजी का एक पत्र साथ लाये थे। उस दिन तथा दूसरे दिन हम लोगों मे बड़ी देर तक बातचीत हुई। पिताजी को हरारत थी। इस बातचीत से वह बहुत थक गये। हमारी बातचीत और बहस घूम-घामकर वहीं आ जाती थी जहां से शुरू होती थी। हम लोगों के राजनैतिक दृष्टि-बिन्दु इतने जुदा-जुदा थे कि हम मुश्किल से एक-दूसरे की भाषा और भावों को समझ पाते थे। हमें यह साफ़ दिखाई देता था कि मौजूदा हालत में कांग्रेस और सरकार के बीच सुलह होने का कोई मौक़ा नहीं है। हमने अपने साथियों—कार्य-समिति के सदस्यों—और खासकर गांधीजी से सलाह किये बिना अपनी तरफ़ से कुछ भी कहने से इन्कार कर दिया, और हमने इस आशय की एक चिट्ठी गांधीजी को लिख भी दी।

ग्यारह दिन बाद, ८ अगस्त को, डॉक्टर सप्रू वाइसराय का जवाब लेकर फिर हमसे मिलने आये। वाइसराय को इस बात पर कोई ऐतराज़ न था कि हम लोग यरवडा जावें (यरवडा पूना के पास है और यहीकी जेल में गांधीजी रक्खे गये थे); लेकिन वह तथा उनकी कौंसिल हमें सरदार वल्लभभाई, मौलाना अबुलकलाम आज़ाद और कार्य-समिति के दूसरे मेम्बरों से मिलने की इजाज़त नही दे सकती थी, जोकि बाहर थे और सरकार के खिलाफ़ क्रियात्मक आन्दोलन कर रहे थे। डॉक्टर सप्रू ने हमसे पूछा कि ऐसी हालत में आप लोग यरवडा जाने को तैयार है या नहीं ? हमने कहा कि हमें तो कभी भी गांधीजी से मिलने जाने में कोई उज्र नहीं है, न हो सकता है; लेकिन जबतक हम अपने दूसरे साथियों से न मिललें तबतक किसी अंतिम निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सकेगा। इत्तिफ़ाक़ से उसी दिन या शायद एक दिन पहले के अखबार में खबर पढ़ी कि बम्बई में भयंकर लाठी-चार्ज हुआ और सरदार वल्लभभाई, मालवीयजी, तसद्दुक शेरवानी वग़ैरा कार्य-समिति के स्थायी या स्थानापन्न मेम्बर गिरफ्तार कर लिये गये हैं। हमने डॉक्टर सप्रू से कहा कि इस घटना से मामला सुधरा नहीं है और हमने उनसे कह दिया कि वह सारी स्थिति वाइसराय के सामने साफ़ करदें। फिर भी डॉक्टर सप्रू ने कहा कि गांधीजी से तो जल्दी मिलने में

हर्ज ही क्या है ? हमने उन्हें यह बात पहले ही कह दी थी कि यदि हमारा जाना यरवडा हुआ तो हमारे साथी डा० सैयदमहमूद भी, जो हमारे साथ नैनी में ही थे, बहैसियत कांग्रेस सेक्रेटरी हमारे साथ चलेंगे।

दो दिन बाद, १० अगस्त को, हम तीनों—पिताजी, महमूद और मैं—एक स्पेशल ट्रेन में नैनी से पूना भेजे गये। हमारी गाड़ी बड़े-बड़े स्टेशनों पर नहीं ठहरी, हम उन्हें झपाटे से पार करते हुए चले गये, कहीं-कहीं छोटे और किनारों के स्टेशनों पर ट्रेन ठहराई गई। फिर भी हमारे जाने की खबरें हमसे आगे दौड़ गई और लोगों की बड़ी भीड़ स्टेशनों पर—जहाँ हम ठहरे वहाँ भी और जहाँ नहीं ठहरे वहाँ भी—इकट्ठी हो गई। हम ११ की बड़ी रात को पूना के नजदीक खिड़की स्टेशन पर पहुँचे।

हमने उम्मेद तो यह की थी कि हम गाँधीजी की ही बैरक में ठहराये जायँगे, या कम-से-कम उनसे जल्दी ही मुलाक़ात हो जायगी। यरवडा के सुपरिटेंडेंट ने तो यही तजवीज़ कर रक्खी थी, लेकिन ऐन वक्त पर उन्हें अपना प्रबन्ध बदल देना पड़ा। जो पुलिस अफ़सर हमारे साथ नैनी से आया था उसके द्वारा यरवडावालों को इसी तरह की कुछ हिदायत मिली थी। सुपरिटेंडेंट कर्नल मार्टिन ने तो हमें इस रहस्य का पता न दिया, परन्तु पिताजी ने कुछ ऐसे मार्मिक प्रश्न किये जिनसे यह मालूम हो गया कि हमें गांधीजी से ( कम-से-कम पहली बार तो ) सप्रू और जयकर साहब के रूबरू ही मिलने दिया जायगा। यह अन्देशा किया गया था कि अगर हम पहले मिल लेंगे तो हमारा रुख कड़ा हो जायगा और हम सब और भी मज़बूत हो जायँगे। लिहाज़ा वह सारी रात और दूसरे दिन भर तथा रात भर हम दूसरी बैरक में रक्खे गये। इस पर पिताजी को बहुत बुरा मालूम हुआ। वहाँ लेजाकर गांधीजी से न मिलने देना, जिनसे मिलने के लिए हम इतनी दूर नैनी से लाये गये, गोया हमें तरसाना और तड़पाना था। आखिर १३ को दोपहर के पहले हमें खबर की गई कि सर सप्रू और श्री० जयकर तशरीफ़ ले आये हैं और गांधीजी भी जेल के दफ्तर में उनके साथ मौजूद हैं और आप सबको वहीं बुलाया है। पिताजी ने जाने से इन्कार कर दिया और जब जेलवालों की तरफ़ से बहुतेरी सफाइयाँ दी गईं और माफियाँ माँगी गई और यह तय पाया कि हम पहले अकेले गांधीजी से ही मिलाये जायँगे तब वह वहाँ जाने को राजी हुए। आगे चलकर हम सबके सम्मिलित अनुरोध पर सरदार पटेल और जयरामदास दौलतराम, जो दोनों यरवडा ले आये गये थे, और सरोजिनी नायडू भी, जो हमारे सामने ही स्त्री-बैरक में रक्खी गई थीं, हमारे साथ बातचीत में शरीक किये गये। उसी रात पिताजी, महमूदऔर मैं तीनों गांधीजी के अहाते में ले जाये गये और यरवडा से रवाना होने तक हम वहीं

रहे। वल्लभभाई और जयरामदास भी वहाँ लाये गये और वे भी वहीं रक्खे गये, जिससे हमारे आपस में सलाह-मशवरा किया जा सके।

१३, १४ और १५ अगस्त तक सप्रू और श्री० जयकर से हमारा मशवरा जेल के दफ्तर में होता रहा और हमने आपस मे चिट्ठी-पत्री के द्वारा अपने-अपने विचार भी प्रदर्शित कर दिये, जिनमें हमारी तरफ से वे कम-से-कम शर्तें बता दी गई जिनके पूरा होने पर सविनय-भंग वापस लिया जा सकता था और सरकार के साथ सहयोग किया जा सकता था। बाद को ये चिट्ठियां अखबारों में भी छाप दी गई थी।[१]

इन बातचीतों का पिताजी के शरीर पर बुरा असर हुआ और १६ ता० को एकाएक उन्हे ज़ोर का बुखार आ गया। इससे हमारा जाना रुक गया और हम १९ की रात को रवाना हो पाये—फिर उसी तरह स्पेशल ट्रेन से। बंबई-सरकार ने सफ़र में हर तरह से पिताजी के आराम का ख़याल रक्खा और यरवडा-जेल में भी उनके आराम का पूरा-पूरा प्रबन्ध किया गया था। जिस रात हम यरवडा पहुँचे उस दिन एक मज़ेदार घटना हुई, जो मुझे अबतक याद है। सुपरिंटेंडेंट कर्नल मार्टिन ने पिताजी से पूछा, कि आप किस तरह का खाना पसन्द करेंगे? पिताजी ने कहा कि मैं बहुत सादा और हलका खाना खाता हूँ, और उन्होंने सुबह की चाय से लेकर रात के खाने तक की सब ज़रूरी चीज़ें गिनादी। (नैनी मे रोज़ हम लोगों के घर से खाना आता था) पिताजी ने सरल भाव से जो-जो चीज़ें लिखाई वे थी तो सब सादी और हलकी ही, मगर उन्हें देखकर कर्नल मार्टिन दंग रह गये। बहुत मुमकिन था कि रिज और सेवॉय होटल में वे चीज़ें सादा और हलकी समझी जाती हों, जैसा कि खुद पिताजी भी समझते थे; लेकिन यरवडा-जेल में ये अजीब और बेतुकी दिखाई दी। महमूद और मैं बड़ी रंगत के साथ उस समय कर्नल मार्टिन के चेहरे के उतार-चढ़ाव देखते रहे, जबकि पिताजी भोजन की उन कई तरह की और खर्चीली चीज़ों के नाम सुनाते जा रहे थे। क्योंकि कई दिनों से उनके यहाँ जो भारत का सबसे बड़ा और बहुत नामी नेता रक्खा गया था और उसकी भोजन-सामग्री तो थी सिर्फ बकरी का दूध, खजूर, और शायद कभी-कभी नारंगियां। मगर जो यह नया नेता उनके सामने आया उसका ढंग कुछ और ही था।

पूना से नैनी लौटते समय भी हम बड़े-बड़े स्टेशन छलांगते गये और ऐसी-वैसी मामूली जगह गाड़ी ठहरती रही। मगर भीड़ अबकी और ज्यादा थी, प्लेटफार्म भरे हुए थे और कही-कहीं तो रेल्वे लाइन पर भी भीड़ जम गई थी—खासकर हरदा, इटारसी और सोहागपुर में। यहाँतक कि दुर्घटनायें होते-होते बचीं।

१. जिन चिट्ठियों में ये शर्तें दी गई थीं वे परिशिष्ट 'ख' में दी गई हैं।

पिताजी की हालत तेज़ी से गिरने लगी । कितने ही डाक्टर उन्हें देखने आये—खुद उनके डाक्टर भी और प्रान्तीय सरकार की तरफ से भेजे हुए डाक्टर भी । ज़ाहिर था कि जेल उनके लिए सबसे खराब जगह थी और वहाँ किसी तरह माक़ूल इलाज नही हो सकता था । मगर फिर भी किसी मित्र ने अखबार में लिखा कि बीमारी के सबब से उन्हें रिहा कर देना चाहिए, तो पिताजी बहुत बिगड़े और उन्होने कहा कि लोग समझेंगे कि मेरी तरफ़ से यह इशारा कराया गया है । यहाँतक कि उन्होने लॉर्ड अर्विन को तार दिया कि मैं खास मेहरबानी कराके नही छूटना चाहता । लेकिन उनकी हालत दिन-ब-दिन खराब ही होती गई । वजन तेज़ी से गिरता जा रहा था, और उनका शरीर एक छाया या ढाँचा मात्र रह गया था । आखिर ८ सितम्बर को, ठीक १० सप्ताह बाद वह रिहा कर दिये गये ।

उनके चले जाने से हमारी बैरक से मानो जीवन और आनन्द चला गया जब वह हमारे पास थे तो उनके लिए न जाने क्या-क्या करना पड़ता था, उनके आराम के लिए छोटी-छोटी बातों का भी ध्यान रखना पड़ता था । और हम सब—महमूद, नर्मदाप्रसाद और मैं—बड़ी खुशी-खुशी उनकी सेवा में दिन बिताते थे । मैने निवाड़ बुनना छोड़ दिया था । कातना बहुत कम कर दिया था, और न किताबें पढ़ने का ही वक्त मिलता था । जब वह चले गये तो फिर हमें उन्ही कामों को शुरू करना पड़ा, मगर दिल पर भार बना रहता था और वह आनन्द नहीं रहता था । उनके रिहा होने पर तो दैनिक अखबार भी मिलना बंद हो गया था । ४-५ दिन बाद मेरे बहनोई रणजीत पंडित गिरफ्तार हुए और हमारी बैरक में ही रक्खे गये ।

१ महीने बाद, ११ अक्तूबर को, मेरी छः महीने की सजा पूरी हो जाने पर, मैं छोड़ दिया गया । मै जानता था कि मै थोड़े ही दिन आजाद रह सकूँगा, क्योंकि लड़ाई बहुत जमती और तेज़ होती जा रही थी । 'शान्ति-दूतों'—सप्रू और जयकर साहबान—की कोशिशें बेकार हो चुकी थीं । उसी दिन, जिस दिन मैं छूटा, दो और आर्डिनेन्स जारी किये गये थे । ऐसे वक्त पर छूटने से मुझे खुशी हुई और मै इस बात के लिए उत्सुक था कि जितने दिन आज़ाद रहूँ कुछ अच्छा और ज़ोरदार काम कर जाऊँ ।

उन दिनों कमला इलाहाबाद थी और वह कांग्रेस के काम में जुट पड़ी थी । पिताजी मसूरी में इलाज करा रहे थे और माँ तथा बहनें उनके साथ थी । कमला को साथ लेकर मसूरी जाने से पहले कोई डेढ़ दिन तक मैं इलाहाबाद में ही मशगूल रहा । उन दिनों हमारे सामने जो बड़ा सवाल था वह यह कि आया देहात में करबन्दी-आन्दोलन शुरू किया जाय या नहीं ? लगान-वसूली का वक्त नज़दीक आ रहा था और यों भी

लगान वसूल होने में दिक़्क़त आनेवाली थी; क्योंकि नाज के भाव बुरी तरह गिर गये थे। संसारव्यापी मंदी का प्रभाव हिन्दुस्तान-भर में दिखाई दे रहा था।

लगानबन्दी-आन्दोलन के लिए इससे बढ़कर उपयुक्त अवसर नहीं दिखाई देता था—दोनों तरह से, सविनय भंग-आन्दोलन के सिलसिले में भी और यों स्वतन्त्र रूप से भी। ज़ाहिरा भी यह असम्भव था कि जमींदार और काश्तकार उस साल की पैदावार से पूरा-पूरा लगान चुका दें। उन्हें तो पिछले साल की बचत, अगर कुछ हो तो उसका, या क़र्ज़ का सहारा लिये बिना चारा न था। ज़मींदार के पास तो यों भी कुछ-न-कुछ सहारा रहता ही है, और उसे क़र्ज़ भी आसानी से मिल सकता है; मगर एक औसत किसान का तो, जो अमूमन भूखा-नंगा और कंगाल होता है, कोई सहारा नहीं होता। किसी भी प्रजातन्त्र देश में, या उस जगह जहाँ किसानों का अच्छा संगठन और प्रभाव है, इन परिस्थितियों में, किसानों से ज्यादा वसूल करना असंभव होता। लेकिन भारत में उनका प्रभाव नाममात्र का है—सिवा इसके कि कहीं-कहीं कांग्रेस उनकी हिमायत करती है और उनका साथ देती है। हाँ, एक बात और भी है। सरकार को यह डर ज़रूर लगा रहता है कि जब किसानों के लिए हालत असहनीय हो जायगी तो वे उठ खड़े होंगे और बुरी तरह उभड़ पड़ेंगे। लेकिन, उन्हें तो युगों से यह तालीम मिलती चली आ रही है कि जो कुछ विपत्ती आवे उसे बिना चूँ तक किये करम पर हाथ रखकर बरदाश्त करते चले जाओ।

गुजरात तथा दूसरे प्रान्तों में उस समय करबन्दी-आन्दोलन चल रहे थे, लेकिन वह प्रायः सब राजनैतिक स्वरूप के थे और सविनय भंग-आदोलन से जुड़े हुए थे। इन प्रान्तों में रैयतवारी तरीक़ा था और किसानों का ताल्लुक सीधा सरकार से था। उनके लगान न देने का असर तुरंत सीधा सरकार पर पड़ता था। मगर युक्त-प्रांत की हालत उनसे जुदी थी। क्योंकि हमारा इलाक़ा ज़मींदारी और ताल्लुक़ेदारी है और काश्तकार तथा सरकार के बीच एक तीसरी जमात भी है। अगर काश्तकार लगान देना बन्द करदे तो उसका सीधा असर ज़मींदार पर होता है; इससे वह एक वर्ग का प्रश्न बन जाता है। इधर कांग्रेस कुल मिलाकर एक राष्ट्रीय संस्था है और उसमें कितने छोटे-मोटे तथा कुछ बड़े ज़मींदार भी शामिल थे। उसके नेता इस बात से बुरी तरह भय खाते थे कि कहीं कोई वर्ग का प्रश्न न बन जाय, या ज़मींदार लोग न बिगड़ बैठें। इस कारण सविनय भंग शुरू होने से ठेठ छः महीने तक वे देहात में करबन्दी-आन्दोलन शुरू करने से बचते रहे, हालाँकि मेरी राय में उसके लिए बहुत ही अनुकूल अवसर था। मैं इस वर्गवाद के सवाल से तो इस तरह या और किसी तरह क़तई नहीं घबराता था, लेकिन इतना ज़रूर महसूस करता था कि कांग्रेस

अपनी मौजूदा हालत में वर्ग-संघर्ष को नहीं अपना सकती। हाँ, वह दोनों से—काश्तकार और जमींदार से—कह सकती थी कि लगान मत दो। फिर भी औसत जमींदार बहुत करके मालगुज़ारी दे देते; लेकिन उस दशा में क़ुसूर उनका होता।

अक्तूबर में जब मैं जेल से छूटा तो क्या राजनैतिक और क्या आर्थिक दोनों दशायें मुझे ऐसी मालूम हुई मानों वे देहात में करबन्दी-आन्दोलन छेड़ देने के लिए पुकार-पुकार के कह रही हों। किसानों की आर्थिक कठिनाइयाँ तो ज़ाहिर ही थी। राजनैतिक क्षेत्र में, हमारा सविनय भंग-आन्दोलन यद्यपि सब जगह फल-फूल रहा था, तो भी कुछ-कुछ धीमा पड़ गया था। हालांकि लोग थोड़े-थोड़े करके और कहीं-कहीं बड़े दल बनाकर भी जेल जाते थे, तो भी वातावरण में वह तेज़ी और गर्मी नहीं दिखाई देती थी। शहर और मध्यम श्रेणी के लोग हड़तालों और जुलूसों से कुछ थक-से गये थे। साफ़ यह दिखाई देता था कि कुछ ज़िंदगी डालने की, नया खून लाने की, ज़रूरत है। किसान-समुदाय के अलावा यह और कहाँ से आ सकता था? और यह खज़ाना तो अभी अखूट भरा पड़ा है। यह फिर जनता का एक आन्दोलन हो जायगा, जिससे जनता के गहरे हितों का सम्बन्ध होगा, और मुझे जो सबसे मार्के की बात मालूम होती थी वह तो यह कि इसके बदौलत समाज-व्यवस्था-संबंधी प्रश्न उठ खडे होंगे।

उस थोड़े समय में जब मैं इलाहाबाद रहा, हमारे साथियों ने और मैंने इन विषयों पर खूब ग़ौर किया। जल्दी ही हमने प्रान्तीय कांग्रेस की कार्यकारिणी की मीटिंग बुलाई और बहुत बहस-मुबाहसे के बाद करबन्दी-आन्दोलन की मंजूरी देदी और हर ज़िले को उसे शुरू करने का अधिकार दे दिया। हमने खुद सूबे के किसी हिस्से में उसे शुरू नहीं किया, और कार्यकारिणी ने उसे जमींदार और काश्तकार दोनों पर लागू किया, जिससे उसके वर्गवाद-संबंधी प्रश्न बन जाने की सम्भावना न रह जाय। हाँ यह तो हम जानते ही थे कि इसमें मुख्य सहयोग किसानों की ही तरफ़ से मिलेगा।

जब इस तरह आगे क़दम बढ़ाने की छुट्टी मिल गई, तो हमारे इलाहाबाद ज़िले ने पहला क़दम उठाना चाहा। हमने एक सप्ताह बाद ज़िले के किसानों का एक सम्मेलन करके इस नये आन्दोलन को आगे ठेलने का निश्चय किया। मेरे मन को इस बात से तसल्ली हुई कि जेल से छूटते ही पहले दिन मैंने ठीक-ठीक काम कर लिया। सम्मेलन के साथ ही मैंने इलाहाबाद में एक बड़ी आम सभा का भी आयोजन किया। इसमें मैंने एक लम्बी तक़रीर की। इसी तकरीर पर बाद को मुझे फिर सज़ा दी गई थी।

इसके बाद १३ अक्तूबर को कमला और मैं तीन दिन के लिए पिताजी से मिलने मसूरी गये। वह कुछ-कुछ अच्छे हो रहे थे और मुझे यह देखकर तसल्ली हुई कि अब उन्होंने करवट बदली है और चंगे हो रहे हैं। वे तीन दिन बड़ी शान्ति और बड़े आनन्द में बीते उसकी मुझे अबतक याद आती है। फिर से अपने परिवार के साथ आकर रहना कितना अच्छा लगता था! मेरी लडकी इंदिरा और मेरी तीन नन्हीं-नन्हीं भानजियाँ भी वहीं थीं। मैं इन बच्चों के साथ खेलता, कभी-कभी हम एक शाही जुलूस बनाकर घर के आस-पास बड़ी शान से घूमते। सबसे छोटी लड़की जो शायद ३–४ साल की थी, हाथ में राष्ट्रीय झण्डा लिये 'झण्डा ऊँचा रहे हमारा' यह झण्डा-गान गाती हुई सबके आगे-आगे चलती। पिताजी के साथ मेरे ये तीन दिन बस आखिरी दिन थे, क्योंकि इसके बाद उनकी बीमारी असाध्य हो गई और उन्हें हमसे छीनकर ले ही गई।

पिताजी ने एकाएक इलाहाबाद आने का निश्चय कर लिया—शायद इस अन्देशे से कि शीघ्र ही मेरी गिरफ्तारी हो जायगी, या इसलिए कि वह मेरी परिस्थिति को और अच्छी तरह देख सकें। १९ को इलाहाबाद में किसान-सम्मेलन होनेवाला था, इसलिए कमला और मैं १७ को मसूरी से चलनेवाले थे। पिताजी ने हमारे जाने के दूसरे दिन, १८ को और लोगों के साथ रवाना होने की तजवीज़ की।

कमला और मेरे दोनों के लिए यह यात्रा जरा उत्तेजना-पूर्ण रही। देहरादून में, ज्योंही मैं रवाना होने लगा, ज़ाब्ता फ़ौजदारी की १४४ दफ़ा के मुताबिक मुझपर एक नोटिस तामील किया गया। लखनऊ में हम कुछ ही घण्टों के लिए ठहरे थे, कि मालूम हुआ कि वहाँ भी १४४ दफ़ा का एक नोटिस हमारी राह देख रहा है। लेकिन वह तामील न हो सका, क्योंकि भीड़ के कारण पुलिस अफ़सर मुझतक पहुँच नहीं पाया। म्यूनिसिपैलिटी की तरफ़ से मुझे एक मानपत्र दिया गया और फिर हम मोटर से इलाहाबाद चले गये। रास्ते में जगह-जगह ठहरकर किसानों की सभाओं में व्याख्यान भी देते जाते थे। इस तरह करते-करते १८ की रात को हम इलाहाबाद पहुँचे।

१९ को सुबह होते ही १४४ दफ़ा का एक और नोटिस मुझे मिला। सरकार मेरे पीछे पड़ी थी, और मैं कुछ घण्टों का ही मेहमान था। मैं उत्सुक था कि गिरफ्तारी के पहले किसान-सम्मेलन में हो आऊँ। इस सम्मेलन को हम खानगी कहते थे और इसमें सिर्फ़ प्रतिनिधियों को ही बुलाया गया था; और ऐसा ही यह था भी। किसी बाहरी आदमी के आने की इजाज़त इसमें न थी। इलाहाबाद ज़िले के बहुत प्रतिनिधि इसमें आये थे, और जहाँतक मुझे याद है उनकी संख्या १६०० के लगभग थी।

सम्मेलन ने बड़े उत्साह के साथ अपने ज़िलों में करबन्दी शुरू करने का फैसला किया। हाँ, कुछ मुख्य कार्यकर्ताओं को जरूर हिचकिचाहट थी। इस बात में उन्हें कुछ शक था कि कामयाबी होगी या नहीं, क्योंकि किसानों को डराने-दबाने के साधन ज़मींदारों के पास बहुत थे और सरकार उनकी पीठ पर थी। उन्हें यह भी अन्देशा था कि किसान इन सब कठिनाइयों में कहांतक टिक सकेंगे। लेकिन उन भिन्न-भिन्न श्रेणी के १६०० प्रतिनिधियों के दिलों में, जो वहां मौजूद थे, ऐसी कोई हिचक या सन्देह न था, कम-से-कम वहां तो दिखाई नहीं देता था। सम्मेलन में मैंने भी एक भाषण किया था। लेकिन मैं नहीं कह सकता कि मैंने १४४ दफ़ा का उल्लंघन किया या नहीं, जो कि मुझपर सार्वजनिक सभा में न बोलने के लिए लगाई गई थी।

वहां से मैं, पिताजी और घर के दूसरे लोगों को लिवाने के लिए, स्टेशन गया। गाड़ी लेट थी और उनके उतरते ही मैं उन्हें वहीं छोड़कर एक सभा के लिए रवाना हो गया। इसमें शहर और आसपास के देहात के लोग भी आनेवाले थे। ८ बजे के बाद रात को मैं और कमला थके-मांदे सभा से घर लौट रहे थे। मैं पिताजी से बातें करने के लिए उत्सुक हो रहा था, और मैं जानता था कि वह भी मेरी राह देख रहे होंगे; क्योंकि उनके आने के बाद हमें शायद ही बात-चीत करने का मौक़ा मिला हो। पर रास्ते में हमारी मोटर रोक ली गई—वहां से हमारा घर दिखाई दे रहा था, और मैं गिरफ्तार करके जमना-पार नैनी की अपनी पुरानी बैरक में पहुँचा दिया गया। कमला अकेली आनन्द-भवन गई और उसने पिताजी तथा घर के दूसरों लोगों को इस नई घटना की ख़बर सुनाई और उधर नौ का घण्टा बजते-बजते मैंने फिर उसी नैनी-जेल के फाटक में प्रवेश किया।

# ३२

## युक्तप्रान्त में कर-बन्दी

आठ दिन की ग़ैरहाज़िरी के बाद मैं फिर नैनी आ गया और सैयदमहमूद, नर्मदाप्रसाद और रणजीत पण्डित के साथ उसी पुरानी बैरक में आ मिला। कुछ दिनों के बाद जेल में ही मेरा मुक़दमा चला। मुझपर कई दफ़ायें लगाई गई थी, जिनका आधार था मेरा वह भाषण जो मैंने अपने छूटने के बाद इलाहाबाद में दिया था। उसीके अलग-अलग हिस्सों को लेकर जुदा-जुदा इलज़ाम लगाये गये थे। हस्ब-मामूल मैंने कोई सफ़ाई पेश नहीं की, सिर्फ़ थोड़े में अपना एक लिखित बयान अदालत में पेश किया। दफ़ा १२४ की रू से राजद्रोह के अपराध में मुझे १८ मास की सख़्त क़ैद और ५००) जुरमाना, १८८२ के नमक-क़ानून के मुताबिक ६ महीने की क़ैद और १००) जुरमाना तथा १९३० के आर्डिनेन्स ६ के मातहत ( मैं भूल गया हूँ कि यह आर्डिनेन्स किस विषय का था ) ६ मास कैद और १००) जुरमाना की सजायें दी गईं। पिछली दोनों सज़ायें एक-साथ चलनेवाली थीं, इसलिए कुल मिलाकर मुझे २ साल की क़ैद हुई और जुरमाना न देने की हालत में ५ महीने और। यह मेरी पांचवीं बार जेल-यात्रा थी।

मेरी फिर से गिरफ्तारी और सजायाबी का सविनय-भंग-आन्दोलन की गति पर कुछ समय के लिए अच्छा ही असर हुआ। उससे उसमें एक नया जीवन और अधिक बल आ गया। इसका अधिकांश श्रेय पिताजी को है। जब कमला से उनको मेरी गिरफ्तारी की ख़बर मिली तो उन्हें एक बुरा-सा धक्का लगा, मगर फ़ौरन ही उन्होंने अपनी शक्तियों को बटोरा और सामने पड़ी हुई मेज़ को ठोक कर कहा—अब मैंने निश्चय कर लिया है कि इस तरह बीमार बनकर पड़ा नहीं रहूँगा; अब अच्छा होकर एक जवांमर्द की तरह काम करूँगा और बीमारी को मुफ्त में अपने पर हावी न होने दूँगा। यह निश्चय तो जवांमर्दों का-सा ही था। मगर अफ़सोस है कि उनका यह सारा संकल्प-बल भी उस गहरी बीमारी को, जो उनके शरीर को कुतर-कुतरकर खा रही थी, न दबा पाया। फिर भी, कुछ दिनों तक तो उनके स्वास्थ्य में साफ़-साफ़ तबदीली दिखाई देने लगी—इतनी कि जिसको देखकर लोगों को आश्चर्य होता था। कुछ महीने पहले से, जबसे वह यरवडा गये थे, उनके बलगम में ख़ून आने लगा था। उनके इस निश्चय के बाद ही वह यकायक बन्द हो गया और कुछ दिन तक बिलकुल नहीं दिखाई दिया। इससे उन्हें ख़ुशी हुई थी, और जब वह मुझसे जेल में मिलने आये

तो उन्होंने मुझसे इस बात का ज़िक्र कुछ फ़ख्र के साथ किया। लेकिन बदक़िस्मती से यह तसल्ली थोड़े ही दिन रही और आगे चलकर बीमारी फिर बढ़ गई और ख़ून ज्यादा मिक़दार में आने लगा। इस अवधि में उन्होंने अपने पुराने ही जोश-खरोश से काम किया और देशभर में सविनय-भंग-आन्दोलन को एक ज़ोर का सहारा दिया। जगह-जगह के लोगों से वह बातचीत करते और उन्हें ब्यौरेवार हिदायतें भेजते। उन्होने एक दिन मुकर्रर किया ( यह नवम्बर में मेरा जन्म-दिन था ) जो सारे हिन्दुस्तान में उत्सव के रूप में मनाया जाय और उस दिन मेरे भाषण के वे अंश सभाओं मे पढ़े जायँ जिनपर मुझे सज़ा दी गई थी। उस दिन कई जगह लाठी-चार्ज हुए, जुलूस और सभायें बलपूर्वक तितर-बितर की गई और यह अन्दाज़ किया गया था कि उस एक दिन सारे देशभर में कोई पाँच हज़ार गिरफ्तारियाँ हुईं। वह अपने ढंग का एक अनोखा जन्मोत्सव था।

बीमार तो वह थे ही, तिसपर यह जिम्मेदारी और उसमें इतनी ज्यादा ताक़त का सर्फ होना उनकी तन्दुरुस्ती के लिए बहुत मुज़िर हुआ और मैंने उनसे आग्रह किया कि वह बिलकुल आराम ही करें। मैंने सोचा कि हिन्दुस्तान में तो उनको ऐसा विश्राम मिलेगा नहीं, क्योंकि यहाँ उनका दिमाग़ लड़ाई के उतार-चढ़ाव में लगा रहेगा और लोग उनके पास सलाह-मशवरा लेने के लिए आये बिना न रहेंगे; इसलिए मैंने उन्हें सुझाया कि वह रंगून, सिंगापुर, और डच-इंडीज़ की तरफ़ छोटी-सी समुद्र-यात्रा कर आवें और उन्हें यह विचार पसन्द भी आया था। यह भी तजवीज़ की गई थी कि कोई डाक्टर मित्र यात्रा में साथ रहें। इस ग़रज़ से वह कलकत्ता गये भी, मगर वहाँ उनकी तबीयत और भी ख़राब होती गई और वह आगे न बढ़ सके। कलकत्ते से बाहर एक स्थान में सात हफ्ते तक रहे। कमला को छोड़कर हमारे घर के सब लोग उनके साथ थे। कमला इलाहाबाद में बहुत अर्से तक कांग्रेस का काम करती रही।

मेरी गिरफ्तारी इतनी जल्दी शायद इसलिए हुई कि मैं करबन्दी-आन्दोलन के सिलसिले में काम कर रहा था, मगर सच पूछिए तो मेरी गिरफ्तारी से बढ़कर उस आन्दोलन को बढ़ानेवाली और कोई घटना नहीं हो सकती थी—खासकर उस दिन गिरफ्तारी से जबकि किसान-सम्मेलन खतम ही हुआ था और उसके प्रतिनिधि इलाहाबाद में ही मौजूद थे। इससे उनका उत्साह बहुत बढ़ गया और वे ज़िले के करीब-करीब हर गांव में सम्मेलन का फैसला अपने साथ लेते गये। दो-एक दिन में ही ज़िले-भर में खबर फैल गई कि करबन्दी-आन्दोलन शुरू हो गया है और हर जगह लोग खुशी-खुशी उसमें शरीक होने लगे।

उन दिनों हमारी सबसे बड़ी मुश्किल खबर पहुँचाने की थी—लोगों

को यह बतलाने की कि हम क्या कर रहे हैं और उनसे क्या कराना चाहते हैं। अखबार हमारी खबरों को छापने के लिए तैयार नही थे, इस डर से कि सरकार उनको सज़ा देगी और दबा देगी; छापाखाने हमारे इश्तिहार और पत्रिकायें छापने को तैयार नही थे; पत्रों और तारों को काट-छांट दिया जाता था और अक्सर रोक भी लिया जाता था। खबरें पहुँचाने का क़ाबिल-इत्मीनान तरीक़ा जो हमारे पास बाक़ी था वह यह था कि हम हरकारों के मार्फत अपनी खबरें भेजें। इसमें भी हमारे हरकारों को कभी-कभी गिरफ्तार कर लिया जाता था। यह तरीका खर्चीला था, और इसमें बड़े संगठन की भी ज़रूरत थी। लेकिन इसमें कुछ सफलता मिली। प्रान्तीय कार्यालय प्रधान कार्यालय के निरन्तर सम्पर्क में रहते थे और अपने खास-खास ज़िला-केन्द्रों के सम्पर्क में भी। शहरों मे कोई खबर फैलाना मुश्किल नहीं था। कई शहरों में ग़ैर-क़ानूनी खबरे रोज़ाना या हफ्तेवार साइक्लोस्टाइल के ज़रिये प्रकाशित होती रहती थीं और ऐसी खबरों की माँग बहुत रहती थी। आम लोगों में इत्तिला करने के लिए शहर में डोंडी पिटवाने का भी एक तरीक़ा था। इसमें अक्सर इत्तिला करनेवाले की गिरफ्तारी हो जाती थी। मगर इसकी कुछ परवा नही थी, क्योंकि लोग गिरफ्तारी को तो पसन्द ही करते थे, उससे बचना नहीं चाहते थे। ये सब तरीक़े शहरों में अनुकूल पड़ते थे, परन्तु गाँवों में आसानी के साथ काम में नहीं लाये जा सकते थे। हरकारों और साइक्लोस्टाइल से छापे हुए इश्तिहारों के ज़रिये से खास खास गाँवों के केन्द्रों से किसी-न-किसी तरह का ताल्लुक तो रक्खा ही जाता था, परन्तु यह सन्तोषजनक नही था; क्योंकि दूर के गाँवों में हमारी सूचनाओं को पहुँचाने में काफ़ी समय लग जाया करता था।

इलाहाबाद के किसान-सम्मेलन से यह कठिनाई दूर हो गई। ज़िले के प्रायः हर खास-खास गाँव से डेलीगेट आये थे और जब वे वापस गये तब अपने साथ किसानों से सम्बन्ध रखनेवाले ताज़ा फैसलों और उनके कारण हुई मेरी गिरफ्तारी की खबर को ज़िले के हरेक हिस्से में ले गये। वे लोग, जिनकी कि तादाद सोलह सौ थी, करबन्दी-आन्दोलन के प्रभावशाली और जोशीले प्रचारक बन गये। इस प्रकार आन्दोलन की प्रारम्भिक सफलता का विश्वास हो गया, और इसमें कोई शक नहीं था कि शुरू में उस प्रदेश के आम किसान लगान देना बन्द कर देंगे, और उस वक़्त तक बिलकुल नहीं देंगे जबतक कि उनको देने के लिए और दबाया-डराया नहीं जायगा। निस्सन्देह कोई नहीं कह सकता था कि ज़मींदारों और अहलकारों की हिंसावृत्ति और भय के बमुक़ाबले उनकी सहन-शक्ति कितनी टिक सकेगी।

करबन्दी करने की अपील हमने ज़मींदारों और किसानों दोनों से की थी।

सिद्धान्त की दृष्टि से वह अपील किसी एक वर्ग के लिए नहीं थी। मगर अमली रूप में कई ज़मीदारों ने अपना कर दे दिया और राष्ट्रीय संग्राम के प्रति जिनकी सहानुभूति थी ऐसे भी कई लोगों ने कर दे दिया। उनपर दबाव बहुत भारी था और उनके बहुत नुक्सान उठाने की सम्भावना थी। जहाँतक किसानों का सवाल है, वे तो मज़बूत रहे। उन्होंने लगान नहीं दिया और इस प्रकार हमारा आन्दोलन एक करबन्दी-आन्दोलन ही हो गया। इलाहाबाद जिले से वह संयुक्तप्रान्त के कुछ दूसरे जिलों में भी फैल गया। कई ज़िलों में उसको बाज़ाब्ता अख़्त्यार नहीं किया गया न उसका ऐलान ही किया गया, परन्तु वास्तव में किसानों ने कर देना रोक लिया और कई जगह तो भाव के गिर जाने के कारण वे दे ही नहीं सके। इसपर कई महीनों तक न तो सरकार ने और न बड़े ज़मीदारों ने उन बाग़ी किसानों को भयभीत करने के लिए कोई बड़ी कार्रवाई की। उन्हें अपनी कामयाबी पर भरोसा नहीं था; क्योंकि एक तरफ़ तो सविनय भंग-आन्दोलन के सहित राजनैतिक संग्राम था और दूसरी तरफ़ आर्थिक मन्दी का प्रश्न था, जिससे कि किसान दु:खी थे। इन दोनों कठिनाइयों का समावेश एक-दूसरे में हो गया और सरकार को बराबर यह डर रहा कि कहीं किसानों में कोई तूफान न उठ खड़ा हो। उधर लंदन में गोलमेज़-कान्फ़्रेंस हो रही थी। इसलिए इधर भारतवर्ष में सरकार अपनी तक़लीफ़ें नहीं बढ़ाना चाहती थी, और न "ज़ोरदार' हुकूमत का प्रभावशाली प्रदर्शन ही करना चाहती थी।

जहाँतक इस प्रान्त का सम्बन्ध है, करबन्दी-आन्दोलन का एक ख़ास नतीजा दिखाई दिया। इससे हमारे संग्राम का आकर्षण-केन्द्र शहरी इलाक़े से हटकर देहाती इलाक़ों में चला गया, जिससे कि आन्दोलन में नवजीवन आ गया और जिसने उसकी बुनियाद को अधिक व्यापक और मज़बूत बना दिया। यद्यपि हमारे शहरी लोग इससे हैरान हो गये और थक गये और हमारे मध्यम-श्रेणी के लोग किसी हदतक हतोत्साह हो गये, परन्तु संयुक्तप्रान्त में आन्दोलन मज़बूत था और पहले किसी भी समय किये गये आन्दोलन से मजबूत रहा। शहर से देहात की तरफ़ परिवर्त्तन और राजनैतिक से आर्थिक समस्याओं की तरफ़ परिवर्त्तन दूसरे प्रान्तों में इतनी हदतक नहीं हुआ और फलत: उनमें शहरों की प्रधानता बनी रही और वे मध्यम-वर्ग के लोगों की थकावट से ज्यादा-से ज्यादा नुक़सान उठाते रहे। बम्बई शहर में भी, जो कि शुरू से अख़ीर तक आन्दोलन में खूब भाग लेता रहा, कुछ-निरुत्साह फैलने लगा। बम्बई में और दूसरी जगह भी हुकूमत की अवहेलना और गिरफ्तारियाँ भी जारी रहीं, परन्तु यह सब किसी क़दर बनावटी दिखाई देता था। उसका सजीव तत्त्व जाता रहा था। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि जन-समूह को लम्बे समय तक

किसी क्रान्ति की स्थिति में रखना असम्भव है। आम तौर पर तो ऐसी स्थिति कुछ दिनों तक ही टिका करती है, परन्तु सविनय भंग की यह अद्भुत शक्ति है कि जिससे यह कई महीनों तक जारी रहे और उसके पश्चात् भी मन्दगति से अमर्यादित समय तक चलता रह सकता है।

सरकारी दमन बढ़ा। स्थानीय कांग्रेस कमिटियाँ, यूथ-लीग, आदि जोकि अभी तक आश्चर्य के साथ चलती रही थी, ग़ैर-कानूनी क़रार दे दी गई और दबा दी गई। जेलों में राजनैतिक क़ैदियों के साथ ज्यादा बुरा बर्ताव होने लगा। सरकार खास करके इससे चिढ़ गई, कि लोग जेल से छूट जाने के बाद तुरन्त ही फिर जेल में चले जाते थे। सज़ा के बावजूद भी सत्याग्रहियों को झुकाने में असफल होने के कारण शासकों का हौसला ढीला हो गया। ज़ाहिरा तौर पर जेल-शासन-सम्बन्धी अपराधों के कारण संयुक्तप्रान्त मे नवम्बर या दिसम्बर १९३० के शुरू में कुछ राजनैतिक क़ैदियों को बेंत की सज़ा दी गई थी। इसकी ख़बर हमको नैनी-जेल मे पहुँची। उससे हम क्षुब्ध हो उठे—तबसे हम हिन्दुस्तान मे इसके तथा इससे भी ख़राब दृश्यों और घटनाओं के आदी हो गये हैं—क्योंकि बेत लगाना बुरे-से-बुरे और जेल-जीवन के आदी क़ैदियों के लिए भी मुझे एक अवाञ्छनीय यातना मालूम हुई, और नौजवान कोमल-हृदय बच्चों के लिए और सो भी नाममात्र के नियम-भंग के क़ुसूर में तो बेंत की सज़ा को बिलकुल जंगली ही कहना चाहिए। हमारी बैरक के हम चारों ने सरकार को इसकी बाबत लिखा, और जब दो हफ्ते तक उसका कोई जवाब न आया तो हमने इस बेंत लगाने के विरोध में और इस बर्बरता के शिकार होनेवालों के प्रति हमदर्दी में कोई निश्चित कार्रवाई करना तय किया। हमने तीन दिन—७२ घंटे—का पूरा उपवास किया। उपवास के लिहाज़ से यह कोई बडी बात न थी, मगर हमें उपवास का अभ्यास नही था और न यही जानते थे कि हम उसमें कितने टिक सकेंगे। इससे पहले २४ घंटे से ज्यादा का उपवास मैंने शायद ही कभी किया हो।

हमें उपवास के दिनों में कोई ज्यादा तकलीफ नही हुई, और मुझे यह जानकर खुशी हुई कि उसमें वैसी सख्त तकलीफ़ की कोई बात नही थी जैसा कि डर था। मगर एक बेवक़ूफ़ी मैंने की। उपवास भर मैंने अपनी कड़ी कसरत भी जारी रक्खी थी; जैसे दौड़ना और हाथ-पाँव को झटके देने की कसरत वग़ैरा। मैं नहीं समझता कि उससे मुझे कोई ज्यादा फ़ायदा हुआ। खासकर उस हालत में जबकि मेरी तबीयत पहले से ही कुछ अलील थी। इन तीन दिनों में हम सबका वज़न ७ से ८ पौण्ड तक घटा। इससे पहले महीने में कोई १५ से २६ पौण्ड तक वज़न हम हरेक का घट चुका था सो अलग।

हमारे उपवास के अलावा, बाहर भी, बेंत लगाने के खिलाफ़ खासा आन्दोलन हो रहा था, और मैं समझता हूँ कि युक्तप्रान्तीय सरकार ने महकमा जेल को ऐसी हिदायतें भेजी थी कि आयन्दा बेंत न लगाये जायँ। मगर ये आज्ञायें ज्यादा दिन क़ायम नहीं रहने को थीं और कोई १ साल के बाद युक्तप्रान्त की और दूसरे प्रान्तों की जेलों में बेंतों की सज़ा फिर दी जाने लगी।

बीच-बीच में यदि ऐसी उत्तेजक घटनाओं से खलल न पड़ा होता तो हमारा जेल-जीवन शान्तिपूर्ण रहता। मौसम अच्छा था और जाड़ा तो इलाहाबाद में बहुत ही मज़ेदार होता है। रणजीत पण्डित क्या आये, हमारी बैरक को अलभ्य लाभ मिल गया; क्योंकि वह बाग़बानी बहुत कुछ जानते थे और शीघ्र ही वह हमारा वीरान अहाता फूलों और तरह-तरह के रंगों से गुलज़ार हो गया। उन्होंने तो उस तंग और थोड़ी जगह में छोटे पैमाने पर गोल्फ खेलने की सुविधा भी कर दी थी।

नैनी-जेल में हमारे सिर पर से हवाई-जहाज़ उडकर आया करते थे और यह हमारे लिए एक आनन्द और मनोरंजन का विषय हो गया था। पूर्व और पश्चिम को आने-जानेवाले बड़े-बड़े हवाई जहाज़ों के लिए इलाहाबाद एक खास स्टेशन है और आस्ट्रेलिया, जावा और फ्रेंच इन्डोचायना को जानेवाले बड़े-बड़े जहाज़ सीधे हमारे सिर पर से गुजरा करते थे। उनमें सबसे बडे और शाही थे डच जहाज़, जो बटेविया आते-जाते थे। कभी-कभी इत्तिफाक़ से और हमारी खुशक़िस्मती से जाड़े में बड़े सबेरे जबकि कुछ-कुछ अंधेरा रहता था और तारे चमकते दिखाई देते थे, कोई जहाज़ ऊपर से गुज़रता था। उसमें खूब रोशनी की जगमगाहट रहती थी और उसके दोनों सिरों पर लाल रोशनी होती थी। प्रातःकाल के स्वच्छ नीलाकाश में जब वह जहाज़ ऊपर उड़ता तो उसका दृश्य बड़ा ही सुन्दर मालूम होता था।

पंडित मदनमोहन मालवीय भी, किसी दूसरी जेल से, नैनी भेज दिये गये थे। वह हमसे अलग दूसरी बैरक में रक्खे गये थे, लेकिन हम रोज़ उनसे मिलते थे और शायद बाहर की बनिस्बत वहाँ मैं उनका अधिक परिचय कर पाया। वह बड़े खुश-मिज़ाज साथी थे। जीवनी-शक्ति से भरे-पूरे और हर बात में एक युवक की तरह दिलचस्पी लेनेवाले। रणजीत की सहायता से उन्होंने जर्मन पढ़ना शुरू किया और उस सिलसिले में उन्होंने अपनी विलक्षण स्मरण-शक्ति का परिचय दिया। जब यह बेंतें लगाने की खबर मिली तब वह नैनी में ही थे और यह खबर सुनकर बहुत बिगड़े थे और उन्होंने हमारे सूबे के कार्यवाहक गवर्नर को इसके विषय में लिखा भी था। इसके बाद ही वह बीमार हो गये। जेल की सर्दी उन्हें बरदाश्त न हुई। उनकी बीमारी चिन्ताजनक होती गई और वह शहर के अस्पताल में भेज दिये गये और कुछ दिन बाद

मियाद से पहले ही वहां से रिहा कर दिये गये। खुशी की बात है कि अस्पताल जाकर वह चंगे हो गये।

१ जनवरी १९३१ को, अंग्रेज़ी साल के नये दिन, कमला की गिरफ्तारी की ख़बर हमें मिली। मुझे इसमे खुशी हुई, क्योंकि वह बहुत दिनों से अपने दूसरे साथियों की तरह जेल जाने को बहुत उत्सुक थी। यों तो अगर वह मर्द होती तो वह और मेरी बहन दोनों तथा और भी दूसरी स्त्रियां बहुत पहले ही गिरफ्तार हो गई होती, मगर उस वक्त सरकार जहांतक हो सकता था स्त्रियों को गिरफ्तार करना टालती थी और इसीसे वह इतने अर्से तक बच रही और अब जाकर उसके मन की मुराद बर आई। मैंने सोचा, सचमुच उसे कितनी खुशी हुई होगी! मगर साथ ही मुझे एक खोफ भी हुआ, क्योंकि उसकी तन्दुरुस्ती हमेशा खराब रहती थी और मुझे अंदेशा था कि जेल में कही उसे बहुत ज्यादा तकलीफ न हो।

गिरफ्तारी के वक्त एक पत्र-प्रतिनिधि वहां मौजूद था और उसने उससे एक संदेश मांगा। उसी क्षण झट से उसने एक छोटा-सा संदेश दिया, जो उसके स्वभाव के अनुकूल ही था—"आज मुझे बेहद खुशी है और मुझे फख्र है कि मै अपने पति के पद-चिन्हों पर चल सकी हूँ। मुझे उम्मीद है कि आप लोग इस ऊंचे उठायें झंडे को नीचे न झुकने देंगे।' मुमकिन था कि अगर वह कुछ सोच पाती तो ऐसा संदेश न देती; क्योंकि वह अपनेको पुरुषों के जुल्मों से स्त्रियों के अधिकारों की रक्षा करने का बानी-मुबानी समझती थी। लेकिन उस समय हिन्दू स्त्रीत्व के संस्कार उसमें प्रबल हो उठे और उनके प्रवाह मे मर्दों के जुल्म न जाने कहां बह गये।

पिताजी कलकता थे और उनकी हालत सन्तोषजनक न थी। लेकिन कमला की गिरफ्तारी और सज़ा के समाचार सुनकर वह उद्विग्न हो गये और उन्होने इलाहाबाद लौटना तय किया। फौरन ही मेरी बहन कृष्णा को उन्होने इलाहाबाद रवाना किया और खुद घर के और लोगो के साथ कुछ दिन बाद चले। १२ जनवरी को वह मुझसे मिलने नैनी आये। मैंने उन्हे कोई दो महीने बाद देखा था, और उन्हें देखकर मेरे दिल को जो धक्का लगा उसे मैं मुश्किल से छिपा सका। उनके चेहरे को देखकर मेरे दिल में जो दहशत बैठ गई उससे वह अनजान मालूम हुए; क्योंकि उन्होंने मुझसे कहा कि कलकत्ते की बनिस्बत अब तो मै बहुत अच्छा हूँ। उनके चेहरे पर वरम आगया था और वह शायद यह समझते थे कि यह तो यों ही आ गया है।

उनके उस चेहरे का मुझे रह-रहकर खयाल हो आता था। वह किसी तरह उनके चेहरे जैसा न रहा था। अब पहली मर्त्तबा मेरे दिल में यह डर पैदा हुआ कि उनके लिए खतरा सामने खड़ा है। मैंने हमेशा उनकी कल्पना बल और स्वास्थ्य के

साथ ही की थी और उनके सम्बन्ध में मौत का ख़याल कभी मन में नहीं आता था। मौत के खयाल पर वह हमेशा हँस दिया करते थे--उसे हँसी में उड़ा दिया करते थे, और हमसे कहा करते थे कि मैं तो अभी बहुत दिन जीऊँगा! लेकिन इधर बाद में मै देखता था कि जब कभी कोई उनका जवानी के दिनों का साथी मर जाता तब वह अपने को अकेला-सा, अटपटे साथियों और लोगों में छूट गया-सा और मृत्यु के आने का इशारा-सा होता हुआ अनुभव करते थे। लेकिन आम तौर पर यह भाव आकर चला जाता था और उनकी ओत-प्रोत जीवनी-शक्ति अपना ज़ोर जमाती। हम परिवार के लोग उनके इस बहु-सम्पन्न व्यक्तित्व के और उनके सर्वव्यापी उत्साह-प्रद स्नेह-पान के इतने आदी हो गये थे कि उनके बिना दुनिया की कल्पना करना हमारे लिए कठिन था।

उनके चेहरे को देखकर मुझे बड़ा दुःख हुआ और मेरे मन में तरह-तरह की आशंकायें छा गईं। ताहम मुझे यह खयाल नही हुआ था कि खतरा इतना नज़दीक आ पहुँचा है। ठीक उन्हीं दिनों, पता नहीं क्यों, ख़ुद मेरी भी तन्दुरुस्ती अच्छी नहीं रहती थी।

पहली गोलमेज-कान्फ़ेन्स के वे आखिरी दिन थे और उसके अन्तिम इशारे और हाव-भाव हमारे मनोरंजन का विषय बन गये थे, और मुझे कहना होगा कि उस मनोरंजन में कुछ हिक़ारत का भाव भी था। वहाँ के भाषण और लंबी-चौड़ी बातें और वादविवाद हमें अवास्तविक और व्यर्थ मालूम होते थे; पर हाँ, एक वास्तविकता साफ़ दिखाई पड़ती थी-- वह यह कि देश की कठिन परीक्षा के अवसर पर और जब कि हमारे भाइयों और बहनों ने अपने आचरण से सबको इतना आश्चर्य में डाल दिया तब भी हमारे देश में ऐसे लोग थे जो हमारे संग्राम की अवहेलना करते थे और हमारे विपक्षियों की तरफ़ अपना नैतिक बल लगाते थे। यह बात हमे पहले से भी ज्यादा साफ़ नज़र आ गई कि राष्ट्रीयता की धोखे की टट्टी में विरोधी आर्थिक हित अपना काम कर रहे हैं और किस तरह स्थापित स्वार्थ उसी राष्ट्र-धर्म के नाम पर भविष्य के लिए अपनी रक्षा करने की चेष्टा कर रहे हैं। गोलमेज-कान्फ्रेन्स इन स्थापित स्वार्थों के प्रतिनिधियों का ही एक सम्मेलन था। उनमे से कितनों ही ने हमारे संग्राम का विरोध किया था, कुछ खामोश होकर एक तरफ़ खड़े देखते थे--हाँ, समय-समय पर हमें इस बात की याद भी दिलाया करते थे कि "जो खड़े होकर इन्तज़ार करते है वे एक तरह की सेवा ही करते हैं।" लेकिन ज्योंही लन्दन से डोर हिली, इस इन्तज़ारी का यकायक अन्त आ गया और वे अपने विशेष हितों की रक्षा के लिए और जो कुछ टुकड़े और मिल सकते हैं उनमें हिस्सा बँटाने के लिए एकके बाद एक दौड़ पड़े। लन्दन में यह जमीयत और भी जल्दी इसलिए की गई कि कांग्रेस

तेजी के साथ उग्र पक्ष की ओर जा रही थी और उसपर जनता का अधिकाधिक प्रभाव पड़ता जा रहा था। यह सोचा गया कि अगर भारत में आमूल राजनैतिक परिवर्त्तन का दौर आ गया तो इसके मानी होंगे जनता की भिन्न-भिन्न शक्तियों या अंशों का प्राधान्य हो जाना, या कम-से-कम महत्वपूर्ण बन बैठना। और ये लाज़िमी तौर पर आमूल सामाजिक परिवर्त्तन पर ज़ोर देंगे और इस तरह स्थापित स्वार्थों को धक्का पहुँचा जावेंगे। हिन्दुस्तानी स्थापित स्वार्थवाले इस आनेवाली आफ़त को देख कर सहम गये और इसके कारण उन्होंने दूरगामी राजनैतिक परिवर्तनों का विरोध किया। उन्होंने चाहा कि ब्रिटिश लोग यहाँ वर्तमान सामाजिक ढांचे को और स्थापित स्वार्थों को क़ायम रखने के लिए अन्तिम निर्णायक-शक्ति के तौर पर क़ायम रहें। औप-निवेशिक पद पर जो इतना ज़ोर दिया गया उसके मूल में यही धारणा काम कर रही थी। एक दफ़ा तो एक मशहूर हिन्दुस्तानी लिबरल नेता मुझपर इस बात के लिए बिगड़ पड़े थे कि मैंने ग्रेट ब्रिटेन के साथ होनेवाले समझौते के अंग-रूप ब्रिटिश फ़ौज के हिन्दुस्तान से तुरन्त हटा दिये जाने और उसकी जगह हिन्दुस्तानी फ़ौज के लोकतन्त्र के मातहत कर दिये जाने पर ज़ोर दिया था। वह तो यहांतक आगे बढ़ गये थे कि बोले—"अगर ब्रिटिश सरकार इस बात पर रजामंद हो भी जाय तो मैं अपनी पूरी ताक़त से इसका विरोध करूँगा।" किसी भी तरह की क़ौमी आज़ादी के लिए यह मांग बहुत ज़रूरी थी। फिर भी उन्होंने इसका जो विरोध किया वह इसलिए नहीं कि मौजूदा हालत में वह पूरी नहीं की जा सकती थी, बल्कि इसलिए कि वह अवाञ्छनीय समझी गई। इसका आंशिक कारण तो शायद यह डर हो कि बाहरी शक्तियाँ हमारे देश पर धावा बोल देंगी, और वह समझते थे कि ब्रिटिश फौज उस समय हमारी रक्षा के काम आवेगी! मगर ऐसे किसी हमले की सम्भावना हो या न हो, इसके अलावा भी किसी भी जानदार हिन्दुस्तानी के लिए यह ख़याल ही कितना ज़लील करनेवाला है कि वह किसी बाहरी आदमी से अपनी रक्षा करने के लिए कहे। मगर अँग्रेजों की सबल बाहु को हिन्दुस्तान में कायम रखने की ख्वाहिश की तह में असली बात यह नहीं थी। अँग्रेजों की ज़रूरत तो समझी गई थी ख़ुद हिन्दुस्तानियों से, लोकतन्त्र से और जनता की आगे बढ़ती हुई लहर के प्रभाव से, हिन्दुस्तानी स्थापित स्वार्थों की रक्षा के लिए।

इसलिए गोलमेज़ के प्रसिद्ध प्रतिगामी और साम्प्रदायिक ही नहीं बल्कि वे प्रतिनिधि भी जो अपनेको उन्नतिशील और राष्ट्रवादी कहते थे, आपस में तथा ब्रिटिश सरकार के और अपने बीच अपने समान-हित की बहुत बातें पाते थे। राष्ट्र-धर्म सचमुच हमें बहुत व्यापक और भिन्न-भिन्न अर्थ रखनेवाला शब्द मालूम हुआ—

एक तरफ़ उसमें जहाँ वे लोग शामिल थे जो आज़ादी की लड़ाई में जूझते हुए जेल गये थे, तो दूसरी तरफ उसमें उन लोगों का भी समावेश होता था जो हमें जेल भेजनेवालों से हाथ मिलाते थे, उनकी क़तार में खड़े होते थे और उनके साथ बैठकर एक कार्य-नीति बनाने का आयोजन करते थे। एक दूसरे लोग भी हमारे देश में थे— बहादुर राष्ट्रवादी, जो धारा-प्रवाह व्याख्यान झाड़ते थे, जो हर तरह से स्वदेशी-आन्दोलन को बढ़ावा देते थे। वे हमसे कहते थे कि इसीमें स्वराज का सार छिपा हुआ है। इसलिए क़ुरबानी करके भी स्वदेशी को अपनाओ; और तक़दीर से इस आन्दोलन की बदौलत उन्हें कुछ त्याग नहीं करना पड़ा। उलटा उनकी तिज़ारत और मुनाफ़ा बढ़ गया। और जब एक तरफ़ कितने ही लोग जेल गये और लाठी-प्रहार का मुक़ाबिला किया, तो दूसरी तरफ़ वे अपनी दुकानों में बैठ-बैठकर रुपये गिन रहे थे। बाद को जब राष्ट्रवाद ने ज़रा उग्र रूप धारण किया और उसमें ज्यादा जोखिम दिखाई दी तो उन्होंने अपने भाषणों का लहजा नीचा कर दिया, गरम दलवालों को बुरा कहने लगे और मुखालिफ़ों के साथ राज़ीनामे और ठहराव कर लिये।

हमें सचमुच इसका कुछ खयाल या परवा नहीं थी कि गोलमेज़-कान्फ़्रेन्स ने क्या किया। वह हमसे बहुत दूर, अवास्तविक और खोखली थी और लड़ाई यहाँ हमारे कस्बों और गाँवों में हो रही थी। हमें इस बात में कोई भ्रम नहीं था कि हमारी लड़ाई जल्द ही खत्म हो जायगी, या ख़तरा सामने खड़ा है, मगर फिर भी १९३० की घटनाओं ने हमें अपने राष्ट्रीय बल और दमख़म का इत्मीनान करा दिया और उस इत्मीनान के भरोसे हमने भावी का मुकाबिला किया।

दिसम्बर या जनवरी के शुरू की एक घटना से हमें बहुत दुःख पहुँचा। श्री श्रीनिवास शास्त्री ने एडिनबरो (जहाँ मैं समझता हूँ कि उन्हें 'फ्रीडम आफ दि सिटी' की उपाधि प्रदान की गई थी) के अपने एक भाषण में उन लोगों के प्रति नफरत के भाव ज़ाहिर किये जो सविनय भंग-आन्दोलन के सिलसिले में जेल जा रहे थे। उस भाषण ने और खासकर जिस मौक़े पर वह दिया गया उसने हमारे दिलों को ज़ख्मी कर दिया। क्योंकि यद्यपि राजनीति में शास्त्रीजी से हमारा बहुत मतभेद था, तोभी हम उनकी इज्ज़त करते थे।

रैम्ज़े मैकडानल्ड साहब ने, हमेशा की तरह, एक सद्भावपूर्ण भाषण के द्वारा गोलमेज़-कान्फ़्रेन्स का उपसंहार किया। उसमें कांग्रेसियों से ऐसी अपील की हुई दिखाई दी कि वे बुरे मार्ग को छोड़ दें और भले आदमियों की टोली में मिल जायँ। ठीक इसी समय—१९३१ की जनवरी के मध्य में—इलाहाबाद में कांग्रेस की कार्य-समिति की एक बैठक हुई और दूसरी बातों के साथ-साथ इस भाषण और उसमें की गई

अपील पर भी विचार किया गया। उस वक्त मैं नैनी-जेल में था और रिहा होने पर ही मैंने उसकी कार्रवाई का हाल सुना। पिताजी हाल ही कलकत्ते से लौटे थे और हालाँकि वह बहुत बीमार थे तोभी उन्होने इस बात पर बहुत ज़ोर दिया कि उनकी रोगशय्या के पास ही मेंबर लोग आकर चर्चा करें। किसीने यह सुझाया कि मि० मैकडानल्ड की अपील के जवाब में हमारी तरफ़ से भी कोई इशारा किया जाय और सविनय भंग कुछ ढीला कर लिया जाय। इससे पिताजी बहुत उत्तेजित हो गये, अपने बिछौने पर उठ बैठे और कहा कि मैं तबतक समझौता न करूँगा जबतक कि राष्ट्रीय ध्येय प्राप्त नहीं हो जाता और अगर मैं अकेला ही रह गया तो भी मैं लड़ाई जारी रक्खूँगा। यह उत्तेजना उनके लिए बहुत बुरी थी। उनका तापमान बढ़ गया। आखिर डाक्टरों ने किसी तरह उन्हें राज़ी करके मेहमानों को वहाँ से हटाकर उन्हें अकेला रहने दिया।

बहुत कुछ उन्हींके आग्रह से कार्य-समिति ने एक ऐसा प्रस्ताव पास किया था, जिसके अनुसार समझौता नही हो सकता था। उसके अख़बारों में छपने के पहले ही सर तेजबहादुर सप्रू और श्रीनिवास शास्त्री का एक तार पिताजी को मिला, जिसमें उनकी मार्फ़त कांग्रेस से यह दरख्वास्त की गई थी कि वह इस विषय पर तबतक कोई फैसला न करे जबतक कि उन्हें बात-चीत करने का एक मौक़ा न दिया जाय। वे लन्दन से बिदा हो चुके थे। उन्हें इस आशय का जवाब दिया गया कि कार्य-समिति ने एक प्रस्ताव तो पास कर दिया है, लेकिन जबतक आप दोनों यहाँ न आ जायँगे और आपसे बात-चीत न हो जायगी तबतक वह प्रकाशित न किया जायगा।

बाहर यह जो कुछ हो रहा था उसका हमें जेल में कुछ पता न था। हम इतना ही जानते थे कि कुछ होनेवाला है और इससे हम कुछ चिन्तित हो गये थे। हमें जिस बात का सबसे अधिक ख़याल था, वह तो था २६ जनवरी के स्वतंत्रता-दिवस का प्रथम वार्षिकोत्सव; और हम सोचते थे कि देखें यह किस तरह मनाया जाता है। बाद को हमने सुना कि वह सारे देश में मनाया गया। सभायें की गईं और उनमें स्वाधीनता के प्रस्ताव का समर्थन किया गया और सब जगह वह एकसा पास किया गया, जिसे 'स्मारक प्रस्ताव'[१] कहा जाता था। इस उत्सव का संगठन एक तरह की करामात ही थी। क्योंकि न तो अख़बार, न छापेखाने ही सहायता करते थे, न तार व डाक से ही काम लिया जा सकता था। लेकिन फिर भी एक ही प्रस्ताव अपनी-अपनी प्रान्तीय भाषा में, कई बड़ी-बड़ी सभायें करके, क़रीब-क़रीब एक ही समय देशभर में, क्या देहात और क्या कस्बे सब जगह, पास किये गये। बहुतेरी सभायें तो क़ानून की अवहेलना करके की गईं और पुलिस के द्वारा बलपूर्वक तितर-बितर की गईं थीं।

१. यह प्रस्ताव परिशिष्ट ग में दिया गया है।

२६ जनवरी ने हमको नैनी-जेल में गुजिश्ता साल का सिंहावलोकन करते हुए और आगामी वर्ष को आशा की दृष्टि से देखते हुए पाया। इतने ही में दोपहर को एकाएक मुझे कहा गया कि पिताजी की हालत बहुत नाजुक हो गई है और मुझे फ़ौरन घर जाना होगा। पूछने पर पता चला कि मैं रिहा किया जा रहा हूँ। रणजीत भी मेरे साथ थे।

उस शाम को हिन्दुस्तान की कितनी ही जेलों से बहुत-से दूसरे लोग भी छोड़े गये। ये लोग थे कार्य-समिति के मूल और स्थानापन्न सदस्य। सरकार हमें आपस में मिलकर हालात पर ग़ौर करने का मौक़ा देना चाहती थी। इसलिए, मैं उसी शाम को हर हालत में छूट जाता। पिताजी की तबीयत की वजह से कुछ घण्टे पहले रिहाई हो गई। २६ दिन का जेल-जीवन बिताकर कमला भी उसी दिन लखनऊ-जेल से छोड़ दी गई। वह भी कार्य-समिति की एक स्थानापन्न मेंबर थी।

# ३३

## पिताजी का देहान्त

पिताजी को मैंने दो हफ्ते बाद देखा। १२ जनवरी को नैनी में जब वह मिलने आये थे तब उनका चेहरा देखकर मेरे दिल को एक धक्का लगा था। तबसे अब उनकी तबीयत और ज्यादा खराब हो गई थी और उनके चेहरे पर ज्यादा वरम आ गया था। बोलने में कुछ तकलीफ़ होती थी और दिमाग़ पर पूरा-पूरा क़ाबू नहीं रहा था; लेकिन फिर भी उनकी संकल्प-शक्ति वैसी ही क़ायम रही थी और वह उनके शरीर और दिमाग़ को काम करने में ताक़त देती रही।

मुझे और रणजीत को देखकर वह खुश हुए। एक या दो रोज़ बाद रणजीत (वह कार्य-समिति के सदस्यों की श्रेणी में नहीं आते थे इसलिए) वापस नैनी भेज दिये गये। इससे पिताजी को बहुत बुरा मालूम हुआ और वह बार-बार उनको याद करते थे और शिकायत करते थे, कि जब इतने सारे लोग मुझसे दूर-दूर से मिलने आते हैं तब मेरा दामाद ही मुझसे दूर रक्खा जाता है! उनके इस आग्रह से डॉक्टर लोग चिन्तित थे और यह जाहिर था कि उससे पिताजी को कोई फ़ायदा नहीं हो रहा था। ३ या ४ दिन बाद, मैं समझता हूँ डॉक्टरों के कहने से, युक्त-प्रान्त की सरकार ने रणजीत को छोड़ दिया।

२६ जनवरी को, उसी दिन जिस दिन मैं छोड़ा गया, गांधीजी भी यरवडा-जेल से रिहा कर दिये गये। मैं उत्सुक था कि वह इलाहाबाद आवें, और जब मैंने उनके छूटने की खबर पिताजी को दी तो मैंने देखा कि वह उनसे मिलने के लिए आतुर थे। एक ज़बर्दस्त जन-समूह के द्वारा जैसा कि बम्बई में पहले कभी नहीं देखा गया, स्वागत हो जाने के बाद दूसरे ही दिन गांधीजी बम्बई से चल पड़े। वह इलाहाबाद रात को देर से पहुँचे। लेकिन पिताजी उनसे मिलने की इन्तज़ारी में जग रहे थे, और उनके आने से और उनके कुछ शब्द सुनने से पिताजी को बडी शान्ति मिली। उनके आने से मेरी माँ को भी बहुत शान्ति और तसल्ली रही।

अब कार्य-समिति के जो मूल और स्थानापन्न मेम्बर रिहा किये गये थे, वे इस बीच में असमंजस में पड़े हुए, मीटिंग के लिए सूचनाओं का इन्तज़ार कर रहे थे। कितने ही लोग पिताजी की बाबत चिन्तित थे और तुरन्त ही इलाहाबाद आ जाना चाहते थे। इसलिए यह तय हुआ कि उन सबको फ़ौरन मीटिंग के लिए इलाहाबाद बुला लिया जाय। दो दिन के बाद ३० या ४० लोग आ गये और हमारे मकान के

पास ही स्वराज-भवन में उनकी मीटिंगें होने लगीं। कभी-कभी मैं इन मीटिंगों में चला जाता था। लेकिन मैं अपनी चिन्ताओं में इतना मुब्तिला रहता था कि उनमें कोई उपयोगी हिस्सा नही लेता था और इस समय मुझे कुछ याद नही है कि वहाँ क्या-क्या निर्णय हुए थे। मेरा ख़याल है कि वे सविनय-भंग-आन्दोलन को जारी रखने के हक़ में हुए थे।

ये मित्र और साथी लोग, जिनमें से बहुतेरे तो हाल ही जेल से छूटे थे और फिर शीघ्र ही जेल जाने की आशा लगाये बैठे थे, पिताजी से मिलना चाहते थे और उनके अन्तिम दर्शन करके अन्तिम विदा लेना चाहते थे। सुबह-शाम उनमें से दो-तीन आते और पिताजी अपने इन पुराने साथियों का स्वागत करने के लिए आराम-कुर्सी पर बैठने का आग्रह करते थे। उनका डीलडौल तो बड़ा था मगर चेहरा भाव-शून्य दिखाई देता था; क्योंकि वरम आ जाने के कारण चेहरे पर भाव प्रकट नहीं हो पाते थे। लेकिन जैसे-जैसे एक के बाद एक साथी आते और जाते थे, तैसे-तैसे उन्हें पहचान-पहचानकर उनकी आँखों में चमक आ जाती थी। उनका सिर कुछ झुकता जाता था और नमस्कार के लिए हाथ जुड़ जाते थे। हालाँकि वह ज्यादा नही बोल सकते थे, कभी-कभी कुछ शब्द बोलते थे, मगर फिर भी उनका पुराना हँसी-मज़ाक क़ायम था। वह एक बूढ़े शेर की तरह, जिसका शरीर बुरी तरह ज़ख़्मी हो गया हो और जिसकी ताक़त शरीर से क़रीब-क़रीब चली गई हो, बैठे थे, लेकिन उस हालत में भी उनकी शान तो सिंहों या राजाओं जैसी ही थी। जब-जब मैं उनकी तरफ़ देखता, तो मैं सोचता कि उनके दिमाग में क्या-क्या ख़याल आते होंगे? क्या वह हम लोगों के काम-काज में दिलचस्पी लेने की हालत में नही रहे हैं? यह साफ़ मालूम होता था कि वह अक्सर अपने-आपसे लड़ते थे। चीज़ें उनकी पकड़ से निकलना चाहती थीं और वह उनपर क़ाबू पाने की कोशिश करते थे। अख़ीर तक यह लड़ाई जारी रही, मगर वह हारे नहीं। जब-तब बड़ी ही स्पष्टता के साथ हमसे बातें करते थे—यहाँ तक कि जब गले की सिकुड़न से उनके मुँह से शब्द निकलना मुश्किल हो गया था तो वह कागज़ पर लिख-लिखकर अपना आशय ज़ाहिर करते थे।

कार्य-समिति की बैठकों में, जोकि हमारे पड़ोस में ही हो रही थीं, उन्होंने, कहना चाहिए कि, कुछ भी दिलचस्पी नही ली। १५ रोज़ पहले इनसे उनका उत्साह ज़रूर बढ़ा होता, मगर अब शायद उन्होंने महसूस किया कि अब वह उससे बहुत दूर निकल गये हैं। उन्होने गांधीजी से कहा—"महात्माजी! मैं जल्दी ही चला जानेवाला हूँ, स्वराज देखने के लिए ज़िन्दा नहीं रहूँगा। लेकिन मैं जानता हूँ कि आपने स्वराज फतह कर लिया है और जल्दी ही उसे पा लेंगे।"

जो दूसरे शहरों और सूबों से लोग आये थे उनमें से बहुतेरे चले गये। गांधीजी रह गये। कुछ और घनिष्ठ मित्र, क़रीबी रिश्तेदार और तीन नामी डाक्टर भी, जो उनके पुराने मित्र थे और जिनको वह कहा करते थे कि मैंने अपना शरीर आपके हाथ में महफ़ूज रखने के लिए सौंप दिया है। वे थे डाक्टर अन्सारी, विधानचन्द्र राय और जीवराज मेहता। ४ फरवरी को उनकी हालत कुछ अच्छी दिखाई पड़ी और इसलिए यह तय किया कि उससे फायदा उठाकर उन्हें लखनऊ ले जाया जाय, जहाँ कि 'डीप एक्स-रे' द्वारा इलाज की सुविधायें हैं। उसीदिन उन्हें हम मोटर से ले गये। गांधीजी और कुछ और लोग भी साथ गये। हम गये तो धीरे-धीरे, लेकिन फिर भी वह बहुत थक गये। दूसरे दिन थकावट दूर होती हुई मालूम हुई। लेकिन फिर भी कुछ चिन्ताजनक लक्षण दिखाई पड़ते थे। दूसरे दिन सुबह यानी छ. फरवरी को मैं उनके बिछौने के पास बैठा हुआ उन्हें देख रहा था। रात उनकी तकलीफ और बेचैनी में बीती थी। यकायक मैंने देखा, उनका चेहरा शान्त हो गया और लड़ने की शक्ति खत्म हो गई। मैंने समझा कि उन्हें नींद लग गई है और इससे मुझे खुशी भी हुई। मगर मां की निगाह तेज़ थी। वह रो पड़ीं। मैंने उसकी तरफ़ देखा और कहा कि उन्हें नींद लग गई है, वह जाग जायँगे। मगर वह नीद उनकी आख़िरी नीद थी और उसके बाद फिर जगना नहीं हो सकता था।

उसी दिन हम उनके शव को मोटर से इलाहाबाद लाये। मैं उसके साथ बैठा। रणजीत हांक रहे थे और पिताजी का पुराना नौकर हरि भी साथ था। उसके पीछे दूसरी मोटर थी जिसमें मां और गांधीजी थे और उसके बाद दूसरी मोटरें थीं। मैं दिन भर भौंचक्का-सा रहा। यह अनुभव करना मुश्किल था कि क्या घटना हुई है और एक के बाद एक हुई घटनाओं और बड़ी-बड़ी भीड़ों के कारण मैं कुछ सोच ही न सका। खबर मिलते ही लखनऊ में बड़ी भीड़ जमा हो गई। वहाँ से शव को लेकर इलाहाबाद आये। शव हमारे राष्ट्रीय झंडे में लपेटा हुआ था और ऊपर एक बड़ा झंडा फहरा रहा था। मीलों तक ज़बरदस्त भीड़ उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करने जमा हुई थी। घर पर कुछ अंतिम विधियां की गईं और फिर गंगा-यात्रा को चले। ज़बरदस्त भीड़ साथ थी। जाड़े के दिन थे। संध्या की किरणें गंगा-तट पर छिटक रही थीं। और चिता की ऊँची-ऊँची लपटों ने उस शरीर को खाक कर दिया, जिसका हमारे लिए और उनके इष्ट मित्रों के लिए और हिन्दुस्तान के लाखों लोगों के लिए इतना मूल्य और महत्व था। गांधीजी ने लोगों को कुछ हृदयस्पर्शी शब्द सुनाये और फिर हम सब लोग चुपचाप घर चले आये। जब हम उदास और सुनसान होकर लौट रहे थे, तब आकाश में तारे तेज़ी से चमक रहे थे।

मां को और मुझे हजारों सहानुभूति के सन्देश मिले। लॉर्ड और लेडी अर्विन ने भी मां को एक सौजन्यपूर्ण संदेश भेजा। इस बहुत भारी सद्भावना और सहानुभूति ने हमारे दुःख और शोक की तीव्रता को कम कर दिया था। लेकिन सबसे ज्यादा और आश्चर्य-जनक शान्ति और तसल्ली तो मिली गांधीजी के वहां मौजूद रहने से, जिसने कि मां को और हम सब लोगों को हमारे जीवन के उस विपतकाल का सामना करने का बल दिया।

मेरे लिए यह अनुभव करना मुश्किल था कि पिताजी अब नहीं हैं। तीन महीने बाद मैं, अपनी पत्नी और लड़की सहित, लंका गया था। हम लोग वहां नुवारा एलीया में शान्ति और अराम से कुछ दिन गुजार रहे थे। वह जगह मुझे बहुत पसन्द आई और मुझे एकाएक खयाल हुआ कि पिताजी को यह जगह जरूर माफिक होगी। तो उन्हें यहां क्यों न बुला लूं? वह बहुत थक गये होंगे और यहां आराम से उनको जरूर फ़ायदा होगा। मैंने उन्हें इलाहाबाद तार देने की तैयारी करली थी।

लंका से इलाहाबाद लौटते समय डाक से मुझे एक अजीब चिट्ठी मिली। लिफ़ाफे पर पिताजी के हस्ताक्षर से पता लिखा हुआ था और उसपर न जाने कितने निशान और डाकखानों की मोहरें लगी हुई थीं। मैंने उसे खोला तो देखकर आश्चर्य हुआ कि वह सचमुच पिताजी का लिखा हुआ था, लेकिन तारीख़ उसपर पड़ी थी २८ फ़रवरी १९२६ की। वह मुझे १९३१ की गर्मियों में दिया गया था। इस तरह वह कोई साढ़े पाँच साल तक इधर-उधर सफ़र करता रहा। १९२६ में मैं जब कमला के साथ योरप रवाना हुआ तब पिताजी ने अहमदाबाद से वह खत लिखा था। इटालियन लॉयड स्टीमर के पते पर, जिससे कि मैं यात्रा करनेवाला था, वह बम्बई भेजा गया था। यह साफ़ है कि वह उस वक्त मुझे नहीं मिला और बहुतेरे स्थानों में भ्रमण करता रहा और शायद कितने ही डाकघरों में हवा खाता रहा; अन्त को किसी मनचले आदमी ने उसे मुझे भेज दिया। कैसा अजीब संयोग है कि वह बिदाई का पत्र था!

## ३४

# दिल्ली का समझौता

जिस दिन और जिस वक्त मेरे पिताजी की मृत्यु हुई उसी दिन और प्रायः उसी समय बम्बई में गोलमेज-कान्फ्रेन्स के कुछ हिन्दुस्तानी मेम्बर जहाज़ से उतरे। श्री श्रीनिवास शास्त्री और सर तेजबहादुर सप्रू और शायद दूसरे कुछ लोग, जिनका ख़याल अब मुझे नहीं है, सीधे इलाहाबाद आये। गांधीजी तथा कार्य-समिति के कुछ और सदस्य वहाँ पहले ही मौजूद थे। हमारे मकान पर खानगी मीटिंगें हुईं, जिनमें यह बताया गया कि गोलमेज़-कान्फ़ेन्स में क्या-क्या हुआ? मगर शुरू में ही एक छोटी-सी घटना हुई। श्री श्रीनिवास शास्त्री ने ख़ुद-बख़ुद अपने एडिनबरोवाले भाषण के सम्बन्ध में खेद प्रकट किया। उन्होंने यह भी कहा कि अपने आसपास के वातावरण का मुझपर हमेशा असर हो जाता है और मैं अत्युक्ति और शब्दाडम्बर में बह जाता हूँ।

इन प्रतिनिधियों ने हमें गोलमेज़-कान्फ़ेन्स के सम्बन्ध में ऐसी कोई मार्के की बात नहीं कही, जिसे हम पहले से नहीं जानते हों। हाँ, उन्होंने यह अलबत्ते बताया कि वहाँ परदे के पीछे कैसी-कैसी साजिशें हुईं, और फ़लां 'लॉर्ड' या फ़लां 'सर' ने खानगी में क्या क्या किया। हमारे हिन्दुस्तानी लिबरल दोस्त हमेशा सिद्धान्तों की और हिन्दुस्तान की परिस्थिति की वास्तविकताओं की बनिस्बत इस बात को ज्यादा महत्व देते हुए दिखाई देते हैं कि बड़े अफ़सरों ने खानगी बातचीत में या गप-शप में क्या क्या कहा। लिबरल नेताओं के साथ हमारी जो कुछ बातचीत हुई, उसका कोई नतीजा न निकला। हमारी पिछली राय ही और मज़बूत हो गई कि गोलमेज़-कान्फ़ेन्स के निर्णयों की कुछ भी वक़त नहीं है। किसीने सुझाया—मैं उनका नाम भूल गया हूँ—कि गांधीजी वाइसराय को मुलाक़ात के लिए लिखें और उनके साथ खुलकर बातचीत करलें। वह इसपर रजामन्द हो गये। हालांकि मैं नहीं समझता कि उन्होंने फल-प्राप्ति की कोई आशा की हो। मगर अपने उसूल को सामने रखते हुए वह हमेशा मुखालिफों के साथ, कुछ क़दम आगे जाकर भी, मिलने और बातचीत करने को तैयार रहते हैं। उन्हें चूंकि अपने पक्ष की सत्यता का पूरा विश्वास रहता है, इसलिए वह दूसरे पक्ष के लोगों को भी क़ायल करने की आशा रखते थे। मगर जो वह चाहते थे वह बौद्धिक विश्वास से शायद कुछ ज्यादा था। वह हमेशा मानसिक परिवर्तन की कोशिश करते हैं। राग-द्वेष के बन्धनों को तोड़कर दूसरे की सदिच्छा और उच्च-भावनाओं तक

पहुचने की कोशिश करते हैं। वह जानते थे कि यदि यह परिवर्त्तन हो गया तो विश्वास का आना आसान हो जायगा, या अगर विश्वास न भी आ सका तो विरोध ढीला हो जायगा और संघर्ष की तीव्रता कम हो जायगी। अपने व्यक्तिगत व्यवहारों में अपने विरोधियों पर उन्होंने इस तरह की बहुतेरी विजय प्राप्त की हैं, और यह ध्यान देने योग्य बात है कि वह महज़ अपने व्यक्तित्व के ज़ोर पर किसी विरोधी को कैसे अपनी तरफ़ कर लेते हैं। कितने ही आलोचक और निन्दक उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उनके प्रशंसक बन गये, और हालांकि वह नुक्ताचीनी करते रहते हैं, मगर उसमें कहीं उपहास या खिल्ली उड़ाने का नामोनिशान नहीं रहता।

चूंकि गांधीजी को अपने सामर्थ्य का पता है, वह हमेशा उन लोगों से मिलना पसन्द करते हैं जो उनसे मत-भेद रखते हैं। मगर किसी व्यक्तिगत या छोटे मामलों में व्यक्तियों से व्यवहार करना एक बात है और ब्रिटिश-सरकार जैसी, जो विजयी साम्राज्यवाद की प्रतिनिधि है, अमूर्त वस्तु से व्यवहार करना बिलकुल दूसरी बात है; इस बात को जानते हुए, गांधीजी कोई बड़ी आशा लेकर लार्ड अर्विन से मिलने नहीं गये थे। सविनय भंग-आन्दोलन अब भी चल रहा था। मगर वह ढीला पड़ गया था; क्योंकि उधर सरकार से 'सुलह' करने की बातों का बड़ा ज़ोर था।

बातचीत का इन्तज़ाम फ़ौरन हो गया और गांधीजी दिल्ली रवाना हुए। हमसे कहते गये कि अगर वाइसराय से कामचलाऊ समझौते के बारे में कोई बातचीत संजीदा तौर पर हुई तो मैं कार्य-समिति के मेम्बरों को बुला लूँगा। कुछ ही दिनों बाद हमें दिल्ली का बुलावा आया। तीन हफ्ते तक वहां रहे। रोज़ मिलते और लम्बी-लम्बी बहस करते-करते थक जाते। गांधीजी कई वार लार्ड अर्विन से मिले। मगर कभी-कभी बीच में तीन-चार रोज़ खाली भी जाते। शायद इसलिए कि भारत-सरकार लन्दन में इण्डिया-आफिस से सलाह-मशवरा किया करती थी। कभी-कभी देखने में ज़रा-ज़रा सी बात या कुछ शब्दों के कारण ही गाड़ी रुक जाती। एक ऐसा लफ्ज़ था सविनय-भंग को स्थगित कर देना। गांधीजी बराबर इस बात को स्पष्ट करते रहे कि सविनय-भंग आखिरी तौर पर न तो बन्द ही किया जा सकता है न छोड़ा ही जा सकता है; क्योंकि यही एक मात्र हथियार हिन्दुस्तान के लोगों के हाथ में है। हां, वह स्थगित किया जा सकता है। लार्ड अर्विन को इस बात पर आपत्ति थी। वह ऐसा शब्द चाहते थे, जिसका अर्थ निकलता हो सविनय-भंग छोड़ दिया गया। लेकिन यह गांधीजी को मंजूर नहीं होता था। आखिर 'रोक देना' शब्द इस्तैमाल किया गया। विदेशी कपड़े और शराब की दूकानों पर धरना देने की बाबत भी लम्बी-चौड़ी बहस हुई। हमारा बहुतेरा समय समझौते की अस्थायी तजवीज़ों पर ग़ौर करने में

लगा और मूलभूत बातों पर कम ध्यान दिया गया । शायद यह सोचा गया कि जब यह कामचलाऊ समझौता हो जायगा और रोज़-रोज़ की लड़ाई रोक दी जायगी तब अधिक अनुकूल वातावरण में आधार-भूत बातों पर ग़ौर किया जा सकेगा । हम उस बातचीत को एक आरजी सुलह तक ले जानेवाली मान रहे थे, जिसके बाद असली विषयों पर आगे और बातचीत की जायगी ।

उन दिनों दिल्ली में हर तरह के लोग खिच-खिचकर आते थे । बहुत-से विदेशी, ख़ासकर अमेरिकन, अखबार-नवीस थे और वे हमारी ख़ामोशी पर कुछ नाराज़-से थे । वे कहते कि आपकी बनिस्बत तो हमें गांधी-अर्विन-बातचीत के बारे में नई दिल्ली के सेक्रेटरिएट से ज्यादा खबरें मिल जाती हैं । और यह बात सही थी । इसके बाद बड़े-बड़े अल्काबधारी लोग थे जो गांधीजी के प्रति अपना सम्मान प्रदर्शित करने के लिए दौड़ आते थे । क्योंकि अब तो महात्माजी का सितारा बुलंद जो हो गया था । उन लोगों को जो अबतक गांधीजी से और कांग्रेस से दूर रहे और जब तब उनकी बुराई करते रहे, अब उसका प्रायश्चित्त करने के लिए आते देखना मज़ेदार लगता था । कांग्रेस का बोलबाला होता हुआ दिखाई देता था, और क़ौन जाने आगे क्या-क्या होकर रहे, इसलिए बेहतर यही है कि कांग्रेस और उसके नेताओं के साथ मेलजोल करके रहा जाय । एक साल के बाद ही उनमें दूसरे परिवर्तन की लहर आई दिखाई दी । वे कांग्रेस के प्रति तथा उसके तमाम कार्यों के प्रति जोरों के साथ अपनी घृणा प्रदर्शित करते और कहते थे कि हमसे-इनसे कोई वास्ता नहीं है ।

फ़िरकापरस्त लोग भी इन घटनाओं से जगे और उन्हें यह आशंका पैदा हुई कि कहीं ऐसा न हो कि आनेवाली व्यवस्था में उनके लिए कोई ऊँचा स्थान न रह जाय, और इसलिए कई लोग गांधीजी के पास आये और उनको यकीन दिलाया कि क़ौमी मसले पर हम समझौता करने को बिलकुल रजामन्द हैं । अगर आप शुरुआत भी कर दें तो समझौते में कोई दिक़्क़त पेश न आयगी ।

ऊँची और नीची सभी श्रेणियों के लोगों का सतत प्रवाह डा० अन्सारी के बंगले की ओर हो रहा था, जहाँकि गांधीजी और हममें से बहुतेरे लोग ठहरे थे, और फुरसत के वक्त हम उन्हें दिलचस्पी से देखते और फ़ायदा भी उठाते थे । कुछ सालों से हम ख़ास करके कस्बों में और देहात में रहनेवाले गरीबों के और उन लोगों के जो जेलों में ठूंस दिये गये थे संपर्क में आते रहते थे; लेकिन धनी-मानी और खुशहाल लोग जो गांधीजी से मिलने आते थे, मानव-प्रकृति का दूसरा पहलू सामने रखते थे । वह पहलू जो घटनाओं और स्थितियों के साथ अपना मेल मिलाना जानता है । क्योंकि जहाँ कहीं उन्हें सत्ता और सफलता दिखाई दी वे उसी तरफ़ झुक गये और अपनी मधुर

मुस्कान से उसका स्वागत करने लगे। उनमें कितने ही हिन्दुस्तान में ब्रिटिश-सरकार के मज़बूत स्तम्भ थे। यह जानकर तसल्ली होती थी कि वे भारत में जो भी अन्य कोई सरकार कायम होगी उसके भी उतने ही सुदृढ़ स्तम्भ बन जायँगे।

उन दिनों अक्सर मैं सुबह गांधीजी के साथ नई दिल्ली में घूमने जाया करता था। यही एक ऐसा वक्त था कि मामूली तौर पर कोई आदमी उनसे बात करने का मौक़ा पा सकता था; क्योंकि उनका बाक़ी सारा समय बंटा हुआ था। एक-एक मिनट किसी काम या किसी व्यक्ति के लिए नियत था। यहाँतक कि सुबह के घूमने का वक्त भी किसीको बात-चीत के लिए, मामूली तौर पर किसी विदेश से आये हुए या किसी मित्र को, जो उनसे व्यक्तिगत सलाह-मशवरे के लिए आते थे, दे दिया जाता था। हमने बहुत-से विषयों पर बात-चीत की। गुजिश्ता जमाने पर भी और मौजूदा हालत पर भी; और खासकर भविष्य पर भी। मुझे याद है कि उन्होंने किस तरह कांग्रेस के भविष्य के बारे में अपने एक विचार से मुझे आश्चर्य में डाल दिया। मैंने तो खयाल कर रक्खा था कि आजादी मिल जाने पर कांग्रेस की हस्ती अपने-आप मिट जायगी। लेकिन उनका विचार था कि कांग्रेस बदस्तूर रहेगी—सिर्फ एक शर्त होगी, कि वह अपने लिए एक आर्डिनेन्स पास करेगी, जिसके मुताबिक उसका कोई भी मेम्बर राज्य में वैतनिक काम न कर सकेगा और अगर राज्य में हुकूमत का पद ग्रहण करना चाहे तो उसे कांग्रेस छोड़ देनी होगी। मुझे इस समय यह तो याद नहीं है कि उन्होंने अपने दिमाग़ में उसका कैसा ढांचा बिठाया था; मगर उसका तात्पर्य यह था कि कांग्रेस इस प्रकार अपनी अनासक्ति और निःस्वार्थ भाव के कारण सरकार के प्रबन्ध तथा दूसरे विभागों पर जबर्दस्त नैतिक दबाव डाल सकेगी और उन्हें ठीक रास्ते पर क़ायम रख सकेगी।

यह एक अनोखी कल्पना है, जिसे समझ लेना मुश्किल है और जिसमें बेशुमार दिक्कतें पेश आती हैं। मुझे यह दिखाई पड़ता है कि यदि ऐसी किसी सभा की कल्पना की भी जाय तो किसी स्थापित स्वार्थ के द्वारा उसका दुरुपयोग किया जायगा। मगर उसकी व्यावहारिकता को एक तरफ़ रख दें, तो इससे गांधीजी के विचारों का कुछ आधार समझने में जरूर मदद मिलती है। यह आधुनिक दल-व्यवस्था की कल्पना के बिलकुल विपरीत है; क्योंकि आधुनिक व्यवस्था तो किसी पूर्व-निश्चित कल्पना के मुताबिक राजनैतिक और आर्थिक ढांचे को बनाने के लिए राज्यसत्ता पर कब्जा करने के खयाल पर बनी हुई है। यह उस दल-व्यवस्था के भी विरुद्ध है, जोकि आज-कल अक्सर पाई जाती है और जिसका कार्य श्री आर० एच० टानी के शब्दों में "ज्यादा-से-ज्यादा गधों को ज्यादा-से-ज्यादा गाजरें खिलाना" है।

गांधीजी के लोक-तंत्र का खयाल निश्चित रूप से आध्यात्मिक है। मामूली अर्थ में उसका तादाद से या बहुमत से या प्रतिनिधित्व से कोई वास्ता नहीं। उसकी बुनियाद है सेवा और त्याग और वह नैतिक दबाव से काम लेता है। हाल ही प्रकाशित अपने एक वक्तव्य में (१७ सितम्बर १९३४) लोकतंत्र की उन्होंने व्याख्या दी है। वह अपनेको 'पैदाइशी लोकतंत्र-वादी' मानते हैं और कहते हैं कि अगर 'मनुष्यजाति के निहायत ग़रीब-से-ग़रीब के साथ अपने-आपको बिलकुल मिला देने से, उनसे बेहतर हालत में अपनेको न रखने की उत्कंठा से और उनके समतल तक पहुँचने के जागृत प्रयत्न से किसीको इस दावे का अधिकार मिल सकता है, तो मैं अपने लिए यह दावा करता हूँ।' आगे चलकर वह लोकतन्त्र की विवेचना इस प्रकार करते हैं:—

"हमें यह बात जान लेनी चाहिए कि कांग्रेस के अपने लोकतन्त्री-स्वरूप और प्रभाव की इज्जत उसके वार्षिक अधिवेशन में खिंच आनेवाले प्रतिनिधियों या दर्शकों की तादाद के कारण नहीं, बल्कि उसकी की हुई सेवा के कारण है जिसकी मात्रा रोज-ब-रोज बढ़ती जा रही है। पश्चिमी लोकतंत्र अगर अबतक विफल नहीं हुआ है तो कम-से-कम वह आजमाइश पर जरूर है। ईश्वर करे कि हिन्दुस्तान में प्रत्यक्ष सफलता के प्रदर्शन के द्वारा लोकतन्त्र के सच्चे विज्ञान का विकास हो!

"नीति-भ्रष्टता और दम्भ लोकतंत्र के अनिवार्य फल न होने चाहिएँ जैसे कि वे निःसंदेह हाल में हो रहे हैं, और न बड़ी संख्या लोकतन्त्र की सच्ची कसौटी है। यदि थोड़ेसे व्यक्ति जिनके प्रतिनिधि बनने का दावा करते हैं उनकी स्पिरिट, आशा और हौसले का प्रतिनिधित्व करते हैं, तो वह लोकतंत्र के सच्चे भाव से असंगत नहीं है। मेरा यह मत है कि लोकतंत्र का विकास बल-प्रयोग करके नहीं किया जा सकता। लोक-तंत्र की भावना बाहर से नहीं लादी जा सकती; वह तो अंदर से ही लाई जा सकती है।"

यह निश्चय ही पश्चिमी लोकतंत्र नहीं है, जैसा कि वह खुद कहते हैं। बल्कि कौतूहल की बात तो यह है कि वह कम्यूनिस्टों के लोकतत्र की धारणा से मिलता-जुलता है; क्योंकि उसमें भी आध्यात्मिकता की झलक है। थोड़े-से कम्यूनिस्ट जनता की असली आकांक्षाओं और आवश्यकताओं के प्रतिनिधित्व का दावा कर सकते हैं, चाहे जनता को इसका पता न भी हो। जनता उनके लिए एक आध्यात्मिक वस्तु हो जायगी और वे इसका प्रतिनिधित्व करने का दावा करते हैं। फिर भी वह समानता थोड़ी ही है और हमको बहुत दूर तक नहीं ले जाती। जीवन को देखने और उसतक पहुंचने के साधनों में बहुत ज्यादा मतभेद है—मुख्यतः उसे प्राप्त करने के साधन और बल के सम्बन्ध में।

गांधीजी चाहे लोकतंत्री हों या न हों, वह भारत की किसान-जनता के प्रतिनिधि

अवश्य हैं। वह उन करोड़ों की जाग्रत और सुप्त इच्छा-शक्ति के सार-रूप हैं। यह शायद उनका प्रतिनिधित्व करने से कहीं ज्यादा है; क्योंकि वह करोड़ों के आदर्शों की सजीव मूर्ति हैं। हां, वह एक औसत किसान नहीं हैं। वह एक अत्यन्त कुशाग्र-बुद्धि, उच्च भावना और सुरुचि तथा व्यापक दृष्टि रखनेवाले पुरुष हैं—बहुत सहृदय, फिर भी आवश्यक रूप से एक तपस्वी, जिन्होंने अपने विकारों और भावनाओं का दमन करके उन्हें दिव्यत्व प्रदान किया है और आध्यात्मिक मार्गों में प्रेरित किया है। उनका एक ज़बरदस्त व्यक्तित्व है जो चुम्बक की तरह हरेक को अपनी ओर खींच लेता है और अपने प्रति भयंकर वफादारी और ममता को दूसरों के हृदय में उमड़ाता है। यह सब एक किसान से कितना भिन्न और कितना परे है? और इतना होने पर भी वह एक महान् किसान हैं जो बातों को एक किसान दृष्टि-बिंदु से देखते हैं और जीवन के कुछ पहलुओं के बारे में एक किसान की ही तरह अन्धे हैं। लेकिन भारत किसान-भारत है, और वह अपने भारत को अच्छी तरह जानते हैं और उसके हलके-से-हलके कम्पनों का भी उनपर तुरन्त असर होता है। वह स्थिति को ठीक-ठीक और प्रायः सहज-स्फूर्ति से जान लेते हैं और ऐन मौक़े पर काम करने की अद्भुत सूझ रखते हैं।

ब्रिटिश सरकार ही के लिए नहीं, बल्कि खुद अपने लोगों और नज़दीकी साथियों के लिए भी वह एक पहेली और एक समस्या बने हुए हैं। शायद दूसरे किसी भी देश में आज उनका कोई स्थान न होता। मगर हिन्दुस्तान, आज भी ऐसा मालूम होता है, पैग़म्बरों जैसे धार्मिक पुरुषों को, जो पाप और मुक्ति और अहिंसा की बातें करते हैं, समझ लेता है या कम-से-कम उनकी क़दर करता है। भारत का धार्मिक साहित्य बड़े-बड़े तपस्वियों की कथाओं से भरा पड़ा है, जिन्होंने घोर त्याग और तप के द्वारा बहुत पुण्य का संचय करके छोटे-छोटे देवताओं के प्राधान्य को हिला दिया तथा प्रचलित व्यवस्था को उलट-पलट दिया। जब कभी मैंने गांधीजी की अक्षय आध्यात्मिक भण्डार से बहनेवाली विलक्षण कार्य-शक्ति और आन्तरिक बल को देखा है, तो मुझे अक्सर ये कथायें याद आ जाया करती हैं। वह स्पष्टतः दुनिया के मामूली नमूने के नहीं हैं। वह तो बिरले और और ही तरह के सांचे में ढाले गये हैं और उनकी आंखों से मानों एक अज्ञात हमारी तरफ़ घूरता रहता है।

हिन्दुस्तान पर, कस्बों के हिन्दुस्तान पर ही नहीं, नये औद्योगिक हिन्दुस्तान पर भी, किसानपन की छाप लगी हुई है और उसके लिए यह स्वाभाविक था कि वह अपने इस पुत्र को अपने ही लायक़ और फिर भी अपनेसे इतना भिन्न एक देव-मूर्ति और एक प्रिय नेता बनावे। उन्होंने पुरानी और धुंधली स्मृतियों को फिर ताज़ा किया और

उसको खुद अपनी ही आत्मा की झलकें दिखलाईं। वर्तमान काल की घोर मुसीबतों से कुचली जाने के कारण उसे भूतकाल के असहाय गीत गाने और भविष्य के गोल-मोल स्वप्न देखने में तसल्ली मालूम होती थी। मगर वह आया और उसने हमारे दिलों को आशा और हमारे जीर्ण शीर्ण शरीर को बल दिया और भविष्य हमारे लिए एक मनो-मोहक बन गया। इटालियनों के दोमुहे देवता जेनस की तरह भारत पीछे भूतकाल की तरफ़ और आगे भविष्यकाल की तरफ देखने लगा और दोनों के समन्वय की कोशिश करने लगा।

हममें से कितने ही इस किसान दृष्टिकोण से कटकर अलग हो गये थे और पुराने आचार विचार और धर्म हमारे लिए विदेशी से बन गये थे। हम अपनेको नई रोशनी का कहते थे और प्रगति, उद्योगीकरण, ऊँचे रहन-सहन और समष्टीकरण की भाषा में सोचते थे। किसान के दृष्टिबिन्दु को हम प्रतिगामी समझते थे और कुछ लोग, जिनकी संख्या बढ़ रही है, समाजवाद और कम्यूनिज्म को अनुकूल दृष्टि से देखते थे। ऐसी दशा में यह प्रश्न है कि हमने कैसे गांधीजी की राजनीति में उनका साथ दिया और किस तरह बहुतसी बातों में उनके भक्त और अनुयायी बन गये? इस सवाल का जवाब देना मुश्किल है और जो गांधीजी को नहीं जानता है उसे उस जवाब से तसल्ली न हो सकेगी। बात यह है कि व्यक्तित्व एक ऐसी चीज़ है जिसकी व्याख्या नहीं हो सकती। वह एक अजीब बल है जिसका मनुष्य के अन्तःकरण पर अधिकार हो जाता है। और गांधीजी के पास यह शक्ति बहुत बड़ी तादाद में है और जो लोग उनके पास आते हैं उन्हें वह अक्सर मुख्तलिफ रूप में दिखाई पड़ते हैं। यह ठीक है कि वह लोगों को आकर्षित करते हैं, मगर लोग जो उनतक गये हैं और जाकर ठहर गये हैं सो तो अखीर में अपने बौद्धिक विश्वास के कारण ही। यह ठीक है कि वे उनके जीवन-सिद्धान्त से या उनके कितने ही आदर्शों से भी सहमत न थे; कई बार तो वे उन्हें समझते भी न थे; मगर जिस कार्य को करने का उन्होंने आयोजन किया वह एक मूर्त्त और प्रत्यक्ष वस्तु थी, जिसको बुद्धि समझ सकती थी और उसकी क़द्र कर सकती थी। हमारी निष्क्रियता और अकर्मण्यता की लंबी परम्परा के बाद, जोकि हमारी मुर्दा राज-नीति में पोषित चली आ रही थी, किसी भी कार्य का स्वागत ही हो सकता था। फिर एक बहादुराना और कारगर कार्य का तो, जिसके कि आसपास नैतिकता का तेजोवलय भी जगमगा रहा हो, पूछना ही क्या! बुद्धि और भावना दोनों पर उसका असर हुए बिना नहीं रह सकता था। फिर धीरे-धीरे उन्होंने अपने कार्य के सही होने का भी कायल हमें कर दिया और हम उनके साथ हो लिये, हालांकि हमने उनके जीवन-तत्त्व को स्वीकार नहीं किया। कार्य को उसके मूलभूत विचार से अलग रखना कदाचित्

उचित विधि नहीं है और उससे आगे चलकर तकलीफ और मानसिक संघर्ष हुए बिना नहीं रह सकता। हमने मोटे तौर पर यह उम्मीद की थी कि गांधीजी चूंकि एक कर्मयोगी हैं और बदलनेवाली हालतों का उनपर बहुत जल्दी असर होता है, इसलिए उस रास्ते पर आगे बढ़ेंगे जोकि हमें सही दिखाई देता था, और हर हालत में वह रास्ता जिसपर वह चल रहे थे अबतक तो सही ही था, और अगर आगे चलकर हमें जुदे-जुदे रास्ते चलना पड़े तो उसका पहले से खयाल बनाना बेवकूफी होगी।

इस सबसे यह जाहिर होता है कि न तो हमारे विचार सुलझे हुए थे और न निश्चित। हमेशा हमारे दिल में यह भावना रही कि हमारा मार्ग चाहे अधिक तर्क-शुद्ध हो मगर गांधीजी हिन्दुस्तान को हमसे कहीं ज्यादा अच्छी तरह जानते हैं, और जो शख्स इतनी जबरदस्त श्रद्धा-भक्ति का अधिकारी बन जाता है उसके अन्दर कोई ऐसी बात अवश्य होनी चाहिए जो जनता की आवश्यकताओं और उच्च आकांक्षाओं के माफिक हो। हमने सोचा कि यदि हम उनको अपने विचारों का कायल कर सके तो हम जनता को भी अपने मत का बना सकेंगे, और हमें यह संभवनीय दिखाई पड़ता था कि हम उनको कायल कर सकेंगे। क्योंकि उनके किसान दृष्टिकोण के रहते हुए भी वह एक पैदायशी बाग़ी हैं, एक क्रान्तिकारी हैं, जो भारी-भारी परिवर्त्तनों के लिए कमर कसे रहते हैं और परिणाम की आशंकायें जिन्हें रोक नहीं सकतीं।

किस तरह उन्होंने इन सुस्त और पस्तहिम्मत लोगों को एक अनुशासन में बाँधकर काम में जोत दिया—बल-प्रयोग करके या दुनयवी लालच देकर नहीं बल्कि महज मीठी निगाह, कोमल शब्द और इनसे भी बढ़कर खुद अपने उदाहरण के द्वारा! सत्याग्रह के शुरुआत के दिनों में, ठेठ १९१९ में, मुझे याद है कि बम्बई के उमर सोभानी उन्हें 'प्यारा स्लेव ड्राइवर' कहा करते थे। अब इस एक युग में तो हालत और भी बदल गई है। उमर उन परिवर्त्तनों को देखने के लिए मौजूद नहीं हैं। मगर हम जो ज्यादा खुशक़िस्मत रहे, १९३१ के शुरू महीनों से पीछे के जमानों को देखते है तो दिल उमंग और अभिमान से भर जाता है। १९३१ का साल सचमुच हमारे लिए एक आश्चर्य का साल था और ऐसा मालूम होता था कि गांधीजी ने अपनी जादू की लकड़ी से हमारे देश का नकशा ही बदल दिया है। कोई ऐसा मूर्ख तो नहीं था जो यह समझता हो कि हमने ब्रिटिश सरकार पर आखिरी विजय पा ली है। हमें जो अभिमान होता था उसका सरकार से कोई ताल्लुक नहीं है। हमें तो अपने लोगों, अपनी बहनों, अपने नौजवानों और बच्चों पर, इस आन्दोलन में जिस तरह उन्होंने योग दिया उसपर, फ़ख्र था। वह एक आध्यात्मिक लाभ था जोकि किसी भी समय और किन्हीं भी लोगों के लिए क़ीमती था। मगर हमारे लिए तो, जोकि गुलाम और दलित

हैं, दुहेरा उपकारी था, और हमें इस बात की चिन्ता थी कि कोई ऐसी बात न हो जाय कि जिससे यह लाभ हमसे छिन जाय।

खास मुझपर तो गांधीजी ने असाधारण कृपा और उदारता दिखाई है और मेरे पिताजी की मृत्यु ने तो उन्हें खास तौर पर मेरे नजदीक ला दिया है। मुझे जो कुछ कहना होता था उसको वह बहुत धीरज के साथ सुनते थे और मेरी इच्छाओं को पूरा करने के लिए उन्होंने हर तरह की कोशिश की है। इससे अवश्य ही मैं यह सोचने लगा था कि यदि मैं और कुछ दूसरे साथी उनपर लगातार अपना असर डालते रहे तो सम्भव है उन्हें समाजवाद की ओर प्रेरित कर सकेंगे, और उन्होंने खुद भी यह कहा था कि जैसे-जैसे मुझे रास्ता दिखाई देगा मै एक-एक क़दम बढ़ता जाऊँगा। उस वक़्त मुझे यह लाज़िमी-सा दिखाई देता था कि वह समाजवाद के मूल सिद्धान्त या स्थिति को स्वीकार कर लेंगे; क्योंकि मुझे तो मौजूदा समाज-व्यवस्था से हिंसा, बेइन्साफ़ी, खराबी और नाश से बचने का दूसरा कोई रास्ता दिखाई नहीं देता था। मुमकिन है कि साधनों से उनका मतभेद हो, मगर आदर्श से नहीं। उस वक़्त मैंने यही खयाल किया था। मगर अब मैं महसूस करता हूँ कि गांधीजी के आदर्शों में और समाजवाद के ध्येय में मूल भेद है।

अब हम फिर फ़रवरी १९३१ की दिल्ली में चलें। गाँधी-अर्विन-बातचीत होती रहती थी। वह एकाएक रुक गई। कई दिनों तक वाइसराय ने गाँधीजी को नहीं बुलाया और हमें ऐसा लगा कि बात-चीत टूट गई। कार्य-समिति के सदस्य दिल्ली से अपने-अपने सूबों में जाने की तैयारी कर रहे थे। जाने से पहले हम लोगों ने आपस में भावी कार्य की रूप-रेखाओं और सविनय भंग पर (जोकि अभी उसूलन जारी था) विचार-विनिमय किया। हमें यक़ीन था कि ज्योंही बातचीत के टूटने की बात पक्के तौर पर ज़ाहिर हो जायगी त्योंही हमारे सबके लिए मिलकर बातचीत करने का मौक़ा नहीं रह जायगा।

हम गिरफ्तारियों की अपेक्षा रखते थे। हमसे कहा गया था और यह सम्भव भी दीखता था कि अबके सरकार कांग्रेस पर ज़ोर का धावा बोलेगी। वह अबतक के दमन से बहुत भयंकर होगा। सो हम आपस में आखिरी तौर पर मिल लिये और हमने आन्दोलन को भविष्य में चलाने के विषय में कई प्रस्ताव किये। एक प्रस्ताव खास तौर पर मार्के का था। अबतक रिवाज यह था कि कार्यवाहक सभापति अपने गिरफ्तार होने पर अपना वारिस मुक़र्रर करदे और कार्य-समिति में जो स्थान खाली हों उनके लिए भी मेम्बरों को नामज़द करदे। स्थानापन्न कार्य-समितियों की शायद ही कभी बैठकें होती थीं और उन्हें किसी भी विषय में नई बात करने की बहुत कम सत्ता थी। वे सिर्फ़ जेल जाने भर को थीं। और इसमें एक जोखम हमेशा ही लगी रहती

थी। वह यह कि लगातार स्थानापन्न बनाने की कार्रवाई से सम्भव था कि कांग्रेस की स्थिति थोड़ी विषम हो जाय। इसमें स्पष्ट खतरे भी थे। इसलिए दिल्ली में कार्य-समिति ने यह तय किया कि अब आगे से कार्यवाहक सभापति और स्थानापन्न सदस्य नामजद न किये जाने चाहिएँ। जबतक मूल कमिटी के कुछ मेम्बर जेल के बाहर रहेंगे तबतक वही पूरी कमिटी की हैसियत में काम करेंगे। जब सब मेम्बर जेल चले जायँगे तब कोई कमिटी नहीं रहेगी। और, हमने ज़रा बढ़-चढ़कर कहा कि, कार्य-समिति की सत्ता उस अवस्था में देश के प्रत्येक स्त्री-पुरुष के पास चली जायगी; और हम उनको आवाहन करते हैं कि वे बिना किसी समझौते की भावना के लड़ाई को जारी रक्खें।

यह प्रस्ताव क्या था, संग्राम को जारी रखने का वीरोचित मार्ग इसमें दिखाया गया था और इसमें समझौते के लिए कोई गली-कूँचा नहीं रक्खा गया था। इसके द्वारा यह बात भी मंजूर की गई थी कि प्रधान कार्यालय के लिए दिन-पर-दिन यह मुश्किल होता जाता था कि वह देश के हर हिस्से से अपना सम्पर्क रक्खे और नियमित रूप से हिदायतें भेजे। यह लाज़िमी था। क्योंकि हमारे बहुतेरे कार्यकर्त्ता मशहूर स्त्री-पुरुष थे और वे खुल्लमखुल्ला काम करते थे। वे कभी भी गिरफ्तार हो सकते थे। १९३० में छिपे तौर पर हिदायतें भेजने, रिपोर्टें मँगवाने और देखभाल करने के लिए कुछ आदमी भेजे जाते थे। व्यवस्था चली तो अच्छी और उसने यह दिखा दिया कि हम गुप्त खबरें देने के काम को बड़ी सफलता के साथ कर सकते हैं; लेकिन कुछ हद तक वह हमारे खुले आन्दोलन के साथ मेल नहीं खाती थी और गांधीजी उसके खिलाफ़ थे। फलतः प्रधान कार्यालय से हिदायतें मिलने के अभाव में हमें काम की ज़िम्मेदारी मुक़ामी लोगों पर ही छोड़नी पड़ी। क्योंकि ऐसा न करते तो वे ऊपर से हिदायतें आने की राह देखते बैठते और कुछ काम नहीं करते। हाँ, जब-जब मुमकिन होता हिदायतें भी भेजी जाती थीं।

इस तरह हमने यह तथा दूसरे प्रस्ताव पास किये (इनमें से कोई न तो प्रकाशित किया गया और न उनपर अमल ही किया गया। क्योंकि बाद को हालात बदल गये थे) और जाने के लिये बिस्तर बाँध लिये। ठीक इसी वक्त लार्ड अर्विन की तरफ़ से बुलावा आया और बातचीत फिर शुरू हो गई। ४ मार्च की रात को हम आधीरात तक गांधीजी के वायसराय-भवन से लौटने का इन्तजार कर रहे थे। वह रात को कोई २ बजे आये, और हमें जगा कर कहाकि राज़ीनामा होगया है। हमने मसविदा देखा। बहुतेरी कलमों को तो मैं जानता था, क्योंकि अक्सर उनपर चर्चा होती रहती थी। लेकिन कलम नं० २ [1] जोकि ऊपर-ही-ऊपर थी और जो संरक्षण

[1] दिल्ली-समझौते की कलम नं० २ (५ मार्च, १९३१) यह हैः—"विधान-सम्बंधी प्रश्न

आदि के बारे में थी, उसे देखकर मुझे जबरदस्त धक्का लगा। मैं उसके लिए कतई तैयार न था। मगर मैं उस वक्त कुछ न बोला और हम सब सो गये।

अब कुछ कहने की गुंजायश भी कहां रह गई थी? बात तो हो चुकी थी। हमारे नेता अपना वचन दे चुके थे और अगर हम राजी न भी हों तो कर क्या सकते थे? क्या उनका विरोध करें? क्या उनसे अलहदा हो जायें? अपने मतभेद की घोषणा करदें? हो सकता है कि इससे किसी व्यक्ति को अपने लिए सन्तोष हो जाय। परन्तु अन्तिम फैसले पर उसका क्या असर पड़ सकता था? कम-से-कम अभी कुछ समय के लिए तो सविनयभंग-आन्दोलन खतम हो चुका था। अब जबकि सरकार यह घोषित कर सकती थी कि गांधीजी समझौता कर चुके हैं, तो कार्य-समिति तक उसे आगे नही बढ़ा सकती थी।

मैं इस बात के लिए तो बिलकुल रजामंद था, जैसे कि मेरे दूसरे साथी भी थे, कि सविनय भंग स्थगित कर दिया जाय और सरकार के साथ अस्थायी समझौता कर लिया जाय। हममें से किसीके लिए यह आसान बात न थी कि अपने साथियों को वापस जेल भेज दें या जो कई हजार लोग पहले से जेलों में पड़े हुए हैं उनको वहीं पड़ा रहने देने के साधन बनें। जेलखाना ऐसी जगह नहीं है जहां हम अपने दिन और रात गुजारा करें, हालांकि हम बहुतेरे अपनेको उसके लिए तैयार करते हैं और उसके कुचल डालनेवाले दैनिक क्रम के बारे में बड़े हलके दिल से बातें करते हैं। इसके अलावा तीन हफ्ते से ज्यादा दिन गांधीजी और लार्ड अर्विन के बीच जो बातें चलीं उनसे लोगों के दिलों में ये आशायें बँध गई कि समझौता होनेवाला है और अब अगर उसके आखिरी तौर पर टूट जाने की खबर मिली तो उससे उनको निराशा होगी। यह सोचकर कार्य-समिति के हम सब मेम्बर अस्थायी समझौते के (क्योंकि इससे अधिक वह हो भी नहीं सकता था) हक़ में थे, बशर्तें कि उसके द्वारा हमें अपनी कोई अत्यन्त महत्व की बात न छोड़नी पड़ती हो।

जहांतक मुझसे ताल्लुक है, जिन दूसरी मदों पर काफ़ी बहस-मुबाहिसा हुआ उनसे मुझे इतनी ज्यादा दिलचस्पी नहीं थी; मुझे सबसे ज्यादा खयाल दो बातों का था।

---

पर, सम्राट्-सरकार की अनुमति से, यह तय हुआ है कि हिन्दुस्तान के वैध-शासन की उसी योजना पर आगे विचार किया जायगा जिसपर गोलमेज-कान्फ्रेंस में पहले विचार हो चुका है। वहां जो योजना बनी थी, संघ-शासन उसका एक अनिवार्य अंग है, इसी प्रकार भारतीय-उत्तरदायित्व और भारत के हित की दृष्टि से रक्षा (सेना), वैदेशिक मामले, अल्प-संख्यक जातियों की स्थिति, भारत की आर्थिक साख और जिम्मेदारियों की अदायगी जैसे विषयों के प्रतिबन्ध या संरक्षण भी उसके आवश्यक भाग हैं।"

एक तो यह कि हमारा स्वतंत्रता का ध्येय किसी भी क़दर नीचा न किया जाय, और दूसरा यह कि समझौते का युक्तप्रान्त के किसानों की स्थिति पर क्या असर होगा ? हमारा लगानबन्दी-आन्दोलन अबतक बहुत कामयाब रहा था, और कुछ इलाकों में तो मुश्किल से लगान वसूल होने पाया था। किसानों ने खूब मज़बूती दिखाई थी, और संसार की कृषि सम्बन्धी अवस्थायें और चीज़ों के भाव बहुत खराब थे, जिससे उनके लिए लगान अदा करना और मुश्किल हो गया था। हमारा करबन्दी-आन्दोलन राजनैतिक और आर्थिक दोनों तरह का था। अगर सरकार के साथ कोई आरज़ी समझौता हो जाता है तो सविनय-भंग वापस ले लिया जायगा और उसका राजनैतिक आधार निकल जायगा। लेकिन उसके आर्थिक पहलू के, भावों की इतनी गिरावट के और किसानों की मुकर्ररा किस्त के मुक़ाबिले में कुछ भी देने की असमर्थता के विषय में क्या होगा ? गांधीजीने लार्ड अर्विन से यह मुद्दा बिलकुल साफ़ कर लिया था। उन्होंने कहा था कि यद्यपि करबन्दी-आन्दोलन बन्द कर दिया जायगा, तो भी हम किसानों को यह सलाह नहीं दे सकते कि वे अपनी ताक़त या हैसियत से ज्यादा दें। चूंकि यह प्रान्तीय मामला था, भारत-सरकार के साथ इसकी ज्यादा चर्चा नहीं हो सकी थी। हमें यह यक़ीन दिलाया गया था कि प्रान्तीय-सरकार इस विषय में खुशी के साथ हमसे बातचीत करेगी और अपने बस-भर किसानों की तकलीफ़ दूर करने की कोशिश करेगी। यह एक गोल-मोल आश्वासन था। लेकिन उन हालात में इससे ज्यादा पक्की बात होना मुश्किल था। इस तरह यह मामला उस वक्त के लिए तो खत्म ही कर दिया गया था।

अब हमारी स्वाधीनता का अर्थात् हमारे मकसद का महत्वपूर्ण प्रश्न बाकी रहा और समझौते की कलम नम्बर २ से मुझे यह मालूम पड़ा कि यह भी खतरे में जा पड़ा है। क्या इसीलिए हमारे लोगों ने एक साल तक अपनी बहादुरी दिखाई ? क्या हमारी बड़ी-बड़ी ज़ोरदार बातों और कामों का खात्मा इसी तरह होना था ? क्या कांग्रेस का स्वाधीनता-प्रस्ताव और २६ जनवरी की प्रतिज्ञा इसीलिए की गई थी ? इस तरह के विचारों में डूबा हुआ मैं मार्च की उस रातभर पड़ा रहा और अपने दिल में ऐसा खालीपन महसूस करने लगा कि मानों उसमें से कोई क़ीमती चीज़ सदा के लिए निकल गई हो।

तरीक़ा यह दुनिया का देखा सही—<br>गरजते बहुत वे बरसते नहीं। [1]

१. मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है:—

"This is the way the world ends,<br>Not with a bang, but a whimper."

# ३५

## कराची-कॉंग्रेस

गांधीजी ने किसीसे मेरी मानसिक व्यथा का हाल सुना और दूसरे दिन सुबह घूमने के वक़्त अपने साथ चलने के लिए मुझे कहा। बड़ी देर तक हमने बात-चीत की, जिसमें उन्होंने मुझे यह विश्वास दिलाने की कोशिश की कि न तो कोई अत्यन्त महत्व की बात खो दी गई है और न सिद्धान्त ही छोड़ा गया है। उन्होंने कलम नम्बर २ का एक ख़ास अर्थ लगाया, जिससे वह हमारी स्वतंत्रता की मांग से मेल खा सके। उनका आधार था खासकर ये शब्द—"भारत के हित में"। यह अर्थ मुझे खींचातानी का मालूम हुआ। मैं उसका क़ायल तो न हुआ, लेकिन उनकी बात-चीत से मुझे कुछ तसल्ली ज़रूर हुई। तो भी मैंने उनसे कहा कि समझौते के गुण-दोष को एक तरफ़ रख दें, एकाएक कुछ कर डालने के आपके तरीक़े से मैं डर गया था। आपमें कुछ ऐसी अज्ञात वस्तु है जिसे चौदह साल के निकट-सम्पर्क के बाद भी मैं कतई नहीं समझ सका हूँ और उसने मेरे मन में भय पैदा कर दिया है। उन्होंने अपने अन्दर ऐसे अज्ञात तत्त्व का होना तो स्वीकार किया, मगर कहा कि मैं खुद भी इसका जवाब नहीं दे सकता, न यही पहले से बता सकता हूँ कि यह हमें किस ओर ले जायगा।

एक-दो दिन तक मैं बड़ी दुविधा में पड़ा रहा। समझ न सका कि क्या करूँ? अब समझौते के विरोध का या उसे रोकने का तो कोई सवाल ही नहीं था। वह वक़्त गुजर चुका था और मैं जो-कुछ कर सकता था वह यह कि अमलन उसे मंजूर करते हुए उसूलन अपनेको उससे अलग रक्खूं। इससे मेरे अभिमान को कुछ सान्त्वना मिल जाती; लेकिन हमारे बड़े प्रश्न पर इसका क्या असर पड़ सकता था? तब क्या यह अच्छा न होगा कि मैं उसे खूबसूरती के साथ मंजूर कर लूँ और उसका अधिक-से-अधिक अनुकूल अर्थ लगाऊँ जैसा कि गांधीजी ने किया? समझौते के बाद ही फ़ौरन् अखबारवालों से बात-चीत करते हुए गांधीजी ने उसी अर्थ पर ज़ोर दिया था और कहा कि हम स्वतंत्रता के प्रश्न पर पूरे-पूरे अटल हैं। वह लॉर्ड अर्विन के पास गये और इस बात को बिलकुल स्पष्ट कर दिया जिससे कि उस समय या आगे कोई ग़लतफ़हमी न होने पावे। उन्होंने उनसे कहा कि यदि कांग्रेस गोलमेज-कान्फ्रेंस में अपना प्रतिनिधि भेजे, तो उसका आधार एकमात्र स्वतंत्रता ही हो सकता है और उसे बढ़ाने के लिए ही वहाँ जाया जा सकता है। अवश्य ही लॉर्ड अर्विन इस दावे को

मान तो नहीं सकते थे, लेकिन उन्होंने यह मंजूर किया कि हां, कांग्रेस को उसे पेश करने का हक़ है।

इसलिए मैंने समझौते को मान लेना और तहेदिल से उसके लिए काम करना तय किया। यह बात नहीं कि ऐसा करते हुए मुझे बहुत मानसिक और शारीरिक क्लेश न हुआ हो। मगर मुझे बीच का कोई मार्ग नहीं दिखाई देता था।

समझौते के पहले तथा बाद में लॉर्ड अर्विन के साथ बात-चीत के दर्म्यान गांधीजी ने सत्याग्रही क़ैदियों के अलावा दूसरे राजनैतिक क़ैदियों की रिहाई की भी पैरवी की थी। सत्याग्रही क़ैदी तो समझौते के फल-स्वरूप अपने-आप रिहा हो जाने-वाले ही थे। लेकिन दूसरे ऐसे हजारों क़ैदी थे जो मुक़दमा चलाकर जेल भेजे गये थे और ऐसे नज़रबन्द भी थे जो बिना मुक़दमा चलाये, बिना इलज़ाम लगाये या सज़ा दिये ही जेलों में भर दिये गये थे। इनमें से कितने ही नज़रबन्द वर्षों से वहां पड़े हुए थे और उनके बारे में सारे देश में नाराज़गी फैली हुई थी—खासकर बंगाल में जहां कि बिना मुक़दमा चलाये क़ैद कर देने के तरीक़े से बहुत ज्यादा काम लिया गया। पोलीन टापू के ( या शायद ड्रेफस के मामले में ) जनरल स्टाफ के मुखिया की तरह भारत-सरकार का भी मन्तव्य था कि सबूत का न होना ही बढ़िया सबूत का होना है। सबूत न होना तो ग़ैर-साबित किया ही नहीं जा सकता। नज़रबन्दों पर सरकार का यह आरोप था कि वे हिंसात्मक प्रकार के असली या अप्रत्यक्ष क्रान्तिकारी हैं। गांधीजी ने समझौते के अंग-स्वरूप तो नहीं, परन्तु इसलिए कि बंगाल में राजनैतिक तनातनी कम हो जाय और वातावरण अपनी मामूली स्थिति में आ जाय, उनकी रिहाई की पैरवी की थी। मगर सरकार इसपर रजामन्द न हुई।

भगतसिंह की फांसी की सजा रद कराने के लिए गांधीजी ने ज़ोरदार पैरवी की, उसको भी सरकार ने मंजूर नहीं किया। उसका भी समझौते से कोई सम्बन्ध न था। गांधीजी ने इसपर भी अलहदा तौर पर ज़ोर इसलिए दिया था कि इस विषय पर भारत में बहुत तीव्र लोक-भावना थी। मगर उनकी पैरवी बेकार गई।

उन्हीं दिनों की एक कुतूहलवर्धक घटना मुझे याद है, जिसने हिन्दुस्तान के आतंकवादियों की मनःस्थिति का आन्तरिक परिचय मुझे कराया। मेरे जेल से छूटने के पहले ही, या पिताजी के मरने के पहले या बाद, यह घटना हुई है। हमारे स्थान पर एक अजनबी मुझसे मिलने आया। मुझसे कहा गया कि वह चन्द्रशेखर आज़ाद है। मैंने उसे पहले तो कभी नहीं देखा था; हां, दस वर्ष पहले मैंने उसका नाम ज़रूर सुना था, जबकि १९२१ में असहयोग-आन्दोलन के जमाने में स्कूल से असहयोग करके वह जेल गया था। उस समय वह कोई पन्द्रह साल का रहा होगा और जेल का नियम

ऐसी कोई बात होती हुई नहीं दिखाई देती थी कि जिससे उसको या उसके जैसों को कोई राहत या शान्ति मिले। मैं जो कुछ उसे कह सकता था वह इतना ही कि वह भविष्य में आतंकवादी कार्यों को रोकने की कोशिश करे, क्योंकि उससे हमारे बड़े कार्य को तथा खुद उसके दल को भी नुकसान पहुँचेगा।

दो-तीन हफ्ते बाद ही जब गांधी-अर्विन-बातचीत चल रही थी, मैंने दिल्ली में सुना कि चंद्रशेखर आज़ाद पर इलाहाबाद म पुलिस ने गोली चलाई और वह मर गया। दिन के वक्त किसी एक पार्क में वह पहचाना गया और पुलिस के एक बड़े दल ने आकर उसे घेर लिया। एक पेड़ के पीछे से उसने अपनेको बचाने की कोशिश की। दोनों तरफ़ से गोलियां चलीं। एक-दो पुलिसवालों को घायल कर आखिर गोली लगने से वह मर गया।

आरजी सुलह होने के बाद शीघ्र ही मैं दिल्ली से लखनऊ पहुँचा। हमने सारे देश में सविनय भंग बन्द करने के लिए आवश्यक तमाम कार्रवाई की, और कांग्रेस की तमाम शाखाओं ने हमारी हिदायतों का पालन बड़े ही नियम के साथ किया। हमारे साथियों में ऐसे कितने ही लोग थे जो समझौते से नाराज़ थे, और कितने ही तो आग-बबूला भी थे। इधर उन्हें सविनय भंग से रोकने पर मजबूर करने के लिए हमारे पास कोई साधन न था। मगर जहांतक मुझे मालूम है, बिना एक भी अपवाद के उस सारे विशाल संगठन ने अमल के द्वारा इस नई व्यवस्था को स्वीकार किया, हालांकि कितने ही लोगों ने उसकी आलोचना भी की थी। मुझे खास तौर पर दिलचस्पी इस बात पर थी कि हमारे सूबे में इसका क्या असर होगा? क्योंकि वहां कुछ क्षेत्रों में करबंदी-आन्दोलन तेज़ी से चल रहा था। हमारा पहला काम यह देखना था कि सत्याग्रही क़ैदी रिहा हो जायँ। वे हज़ारों की तादाद में छूटते थे और कुछ समय बाद सिर्फ़ वही लोग जेल में रह गये जिनका मामला बहस-तलब था— उन हज़ारों नज़रबन्दों के और उन लोगों के अलावा जो हिंसात्मक कार्यों के लिए सज़ा पाये हुए थे और जो रिहा नहीं किये गये थे।

ये जेल से छूटे हुए क़ैदी जो अपने गाँवों और कस्बे में गये तो स्वभावतः लोगों ने उनका स्वागत किया। कई लोगों ने सजावट भी की, बन्दनवारें लगवाईं, जुलूस निकाले, सभायें कीं, भाषण हुए और स्वागत में मानपत्र भी दिये गये। यह सब कुछ होना बहुत स्वाभाविक था और इसीकी आशा भी की जा सकती थी। मगर वह ज़माना जबकि चारों ओर पुलिस की लाठियाँ-ही-लाठियाँ दिखाई देती थीं, सभा और जुलूस ज़बर्दस्ती बिखेर दिये जाते थे, एकाएक बदल गया था। इससे पुलिसवाले ज़रा बेचैनी अनुभव करने लगे और कदाचित् हमारे बहुतेरे जेल से आनेवालों में विजय का

भाव भी आ गया था । यों अपनेको विजयी मानने का शायद ही कोई कारण था; लेकिन जेल से आने पर (अगर जेल में स्पिरिट कुचल न दी गई हो तो ) हमेशा एक आनंद और अभिमान की भावना पैदा होती है, और झुंड-के-झुंड लोगों के एकसाथ जेल से छूटने पर तो यह आनन्द और अभिमान और अधिक बढ़ जाता है ।

मैंने इस बात का जिक्र इसलिए किया है कि आगे जाकर सरकार ने इस 'विजय के भाव' पर बड़ा ऐतराज़ किया था, और हमपर इसके लिए इल्ज़ाम लगाया गया था ! हमेशा हुकूमत-परस्ती के वातावरण में रहने और पाले-पोसे जाने के कारण और शासन के संबन्ध में ऐसे फ़ौजी स्वरूप की धारणा होने से, जिसको जनता का आधार या समर्थन प्राप्त नहीं होता, उनके नज़दीक उस चीज़ के कमज़ोर हो जाने से बढ़कर दुःखदाई बात दूसरी नहीं हो सकती, जिसे वे अपना रौब समझते हैं । जहाँतक मुझे पता है, हममें से किसीको इसका कोई खयाल न था; और जब हमने बाद को यह सुना कि सरकारी अफसर ठेठ शिमला-शैल से लेकर नीचे मैदान तक लोगों की इस गुस्ताखी पर सिर से पैर तक आग-बगूला होने लगे और ऐसा अनुभव करने लगे मानों उनके अभिमान पर चोट पड़ी है, तो उसपर हम आश्चर्य से दंग रह गये । जो अखबार उनके विचारों की प्रतिध्वनि करते हैं वे तो अबतक भी इससे बरी नही हुए हैं । अब भी वे, हालाँकि ३—३॥ साल हो गये हैं, उन साहसिक और बुरे दिनों का, जबकि उनके मतानुसार कांग्रेसी इस तरह विजय-घोष करते फिरते थे कि मानों उन्होने कोई बड़ी भारी फतह हासिल की हो, ज़िक्र भय से काँपते हुए करते हैं । अखबारों में सरकार ने और उनके दोस्तों ने जो क्रोध उगला वह हमारे लिए एक नई बात थी । उससे पता लगा कि वे कितने घबरा गये थे, उन्हें अपने दिल को कितना दबा-दबाकर रखना पड़ा था, जिससे उनके मन में तरह-तरह की विषमतायें आगई थी । यह एक अनोखी बात है कि थोड़े-से जुलूसों से और हमारे लोगों के कुछ भाषणों से उनके यहाँ इतना तहलका मच गया ।

सच पूछो तो कांग्रेस के साधारण लोगों में ब्रिटिश सरकार को 'हरा देने' का कोई भाव नही था और नेताओं में तो और भी नहीं । लेकिन हाँ, अपने भाइयों और बहनों के त्याग और साहस पर हम लोगों के अन्दर एक विजय की भावना ज़रूर थी। देश ने १९३० में जो कुछ किया उसपर हमें फख्र ज़रूर है । उसने हमें अपनी ही निगाहों में ऊँचा उठा दिया, हमें आत्म-विश्वास प्रदान किया, और इस बात के खयाल से हमारे छोटे-से-छोटे स्वयंसेवक की भी छाती तन जाती और सिर ऊँचा हो जाता है। हम यह भी अनुभव करते थे कि इस महान आयोजन ने, जिसने सारी दुनिया का ध्यान अपनी तरफ़ खींच लिया था, ब्रिटिश सरकार पर बहुत भारी दबाव डाला और हमको

अपने मजिलेमकसूद के ज्यादा नजदीक पहुँचाया। इन सबका 'सरकार को हराने' से कोई ताल्लुक न था, और वास्तव में तो हममे से बहुतों को यही खयाल रहा है कि दिल्ली-समझौते में तो सरकार ही ज्यादा फायदे में रही है। इसमें से जिन लोगों ने यह कहा कि अभी तो हम अपने ध्येय से बहुत दूर हैं और एक बड़ा और मुश्किल संग्राम सामने आने को है, वे सरकार के मित्रों के द्वारा लड़ाई को उकसाने और दिल्ली-समझौते की स्पिरिट को तोड़ने के दोषी बताये गये।

युक्तप्रान्त में अब हमें किसानों के मसले का सामना करना था। हमारी नीति अब यह भी थी कि जहाँतक मुमकिन हो ब्रिटिश सरकार से सहयोग किया जाय और, इसलिए, हमने तुरन्त ही युक्तप्रान्तीय सरकार के साथ उसकी कार्रवाई शुरू करदी। बहुत दिनों के बाद सूबे के कुछ आला अफसरों से—कोई बारह साल तक हमने इधर सरकारी तौर पर कोई व्यवहार नहीं रक्खा था—मैं किसानों के मामले पर चर्चा करने के लिए मिला। इस विषय में हमारी लंबी लिखा-पढ़ी भी चली। प्रान्तीय कमिटी ने हमारे प्रान्त के एक प्रमुख व्यक्ति गोविन्दवल्लभ पन्त को एक मध्यस्थ के तौर पर नियत किया कि जो लगातार प्रान्तीय सरकार के संपर्क में रहे। सरकार की तरफ से ये बातें मान ली गई कि हाँ, किसान वाक़ई संकट में हैं,अनाज के भाव बहुत बुरी तरह गिर गये हैं, और एक औसत किसान लगान देने में असमर्थ है। सवाल सिर्फ यह था कि कितनी छूट दी जाय। लेकिन इस विषय में कुछ कार्रवाई करना प्रान्तीय सरकार के हाथ में था। मामूल के मुताबिक तो सरकार जमींदारों से ही ताल्लुक रखती है, सीधा काश्तकारों से नहीं; और लगान कम करना या उसमें छूट देना जमींदारों का ही काम था। लेकिन जमींदारों ने तबतक ऐसा करने से इन्कार कर दिया जबतक कि सरकार भी उनको उतनी ही छूट न दे दे। और उन्हें तो किभी भी सूरत में अपने काश्तकारों को छूट देने की ऐसी पड़ी नहीं थी। इसलिए फ़ैसला तो आखिर सरकार को ही करना था।

प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी ने किसानों से कह दिया था कि कर-बन्दी की लड़ाई रोक दी गई है और जितना हो सके उतना लगान दे दो। मगर उनके प्रतिनिधि की हैसियत से उसने काफी छूट चाही थी। बहुत दिनों तक सरकार ने कुछ भी कार्रवाई नहीं की। ग़ालिबन गवर्नर सर मालकम हेली के छुट्टी या स्पेशल ड्यूटी पर चले जाने से वह दिक्कत महसूस कर रही थी। इसमें तुरन्त और व्यापक परिणाम लानेवाली कार्रवाई करने की जरूरत थी। ताहम कार्यवाहक गवर्नर और उनके साथी कार्रवाई करने में हिचकते थे, और सर मालकम हेली के आने तक (गर्मियों तक) मामले को आगे धकेलते रहे। इस देरी और ढील-पोल ने उस मुश्किल हालत को और भी खराब बना दिया, जिससे काश्तकारों को बहुत नुकसान बर्दाश्त करना पड़ा।

दिल्ली-समझौते के बाद ही मेरी तन्दुरुस्ती कुछ खराब हो गई। जेल में भी मेरी तबीयत अलील रही। उसके बाद पिताजी की मृत्यु से धक्का लगा और फिर फौरन ही दिल्ली में सुलह की चर्चा का जोर पड़ा। यह सब मेरे स्वास्थ्य के लिये हानिकर साबित हुए। लेकिन कराची-कांग्रेस जाने तक मैं कुछ-कुछ ठीक हो चला था।

कराची हिन्दुस्तान के ठेठ उत्तर-पश्चिम के कोने में है, जहाँकि पहुँचना मुश्किल है। बीच में बड़ा रेतीला मैदान है, जिससे वह हिन्दुस्तान के शेष हिस्सों से बिलकुल जुदा पड़ जाता है। लेकिन फिर भी वहाँ दूर-दूर के हिस्सों से बहुत लोग आये थे और वे उस समय देश का जैसा मिज़ाज था उसको सही तौर पर जाहिर करते थे। लोगों के दिलों में शान्ति के भाव थे और राष्ट्रीय आन्दोलन की जो ताकत देश में बढ़ रही थी उसके प्रति गहरा सन्तोष था। कांग्रेस-संगठन के प्रति, जिसने कि देश की भारी पुकार और माँग का बड़ी योग्यता-पूर्वक जवाब दिया था और जिसने अनुशासन और त्याग के द्वारा अपने अस्तित्व की पूरी सार्थकता दिखलाई थी, उनके मन में अभिमान था। अपने लोगों के प्रति विश्वास का भाव था और उत्साह में संयम दिखलाई पड़ता था। इसके साथ ही आगे आनेवाले जबरदस्त प्रश्नों और खतरों के प्रति जिम्मेदारी का गहरा भाव भी था। हमारे शब्द और प्रस्ताव अब राष्ट्रीय पैमाने पर किये जानेवाले कार्यों के मंगलाचरण थे और वे यों ही बिना सोचे-विचारे न बोले जाते थे, न पास किये जाते थे। दिल्ली-समझौते को यद्यपि बड़ी बहुमति ने पास कर दिया था, तो भी वह लोकप्रिय नहीं था, और न पसन्द ही किया गया था, और लोगों के अन्दर यह भय काम कर रहा था कि यह हमें तरह-तरह की भद्दी और विषम स्थितियों में लाकर पटक देगा। कुछ ऐसा-सा दिखाई पड़ता था कि देश के सामने जो सवाल है उनको यह अस्पष्ट कर देगा। कांग्रेस के अधिवेशन के ठीक पहले ही देश की नाराज़गी का एक और बाइस पैदा हो गया था—भगतसिंह का फांसी पर लटकाया जाना। उत्तर-भारत में इस भावना की लहर तेज थी और कराची उत्तर में ही होने के कारण वहाँ पंजाब से बड़ी तादाद में लोग आये थे।

पिछली किसी भी कांग्रेस की बनिस्बत कराची-कांग्रेस में तो गांधीजी की और भी बड़ी निजी विजय हुई थी। उसके सभापति सरदार बल्लभभाई पटेल हिन्दुस्तान के बहुत ही लोकप्रिय और जोरदार आदमी थे और उन्हें गुजरात के सफल नेतृत्व की सुकीर्ति प्राप्त थी। फिर भी उसमें दौरदौरा तो गांधीजी का ही था। अब्दुल-ग़फ़्फ़ारखां के नेतृत्व में सीमाप्रान्त से भी लालकुर्तीवालों का एक अच्छा दल वहाँ पहुँचा था। लालकुर्तीवाले बड़े लोकप्रिय थे। जहाँ कहीं भी जाते लोग तालियों से उनका स्वागत करते थे। क्योंकि अप्रैल १९३० से गहरी उत्तेजना दिखाई जाने पर भी

उन्होंने असाधारण शान्ति और साहस की छाप हिन्दुस्तान पर छोड़ी है। लालकुर्ती नाम से कुछ लोगों को यह गुमान हो जाता था कि वे कम्यूनिस्ट या वाम-पक्षीय मजदूर-दल के हैं। सच पूछो तो उनका नाम खुदाई खिदमतगार था और वह संगठन कांग्रेस के साथ मिलकर काम करता था (बाद को १९३१ में कांग्रेस का एक अभिन्न अंग बना लिया गया था)। वे लालकुर्ती वाले महज इसलिए कहलाते थे कि उनकी वर्दी ज़रा पुराने ढंग की लाल थी। उनके कार्य-क्रम में कोई आर्थिक नीति शामिल न थी, वह तो राष्ट्रीय था और उसमें सामाजिक सुधार भी शामिल था।

कराची के मुख्य प्रस्ताव में दिल्ली-समझौता और गोलमेज-कान्फ्रेन्स का विषय था। कार्य-समिति ने जिस अन्तिम रूप में उसे पास किया था उसे मैंने अवश्य ही मंजूर कर लिया था। मगर जब गांधीजी ने मुझे खुले अधिवेशन में उसे पेश करने के लिए कहा, तो मैं ज़रा हिचकिचाया। यह मेरी तबीयत के खिलाफ़ था। पहले मैंने इन्कार कर दिया, मगर बाद को मुझे यह अपनी कमज़ोरी और असन्तोषजनक स्थिति दिखाई दी। या तो मुझे इसके हक़ में होना चाहिए या इसके खिलाफ़; यह मुनासिब न था कि ऐसे मामले में टालमटोल करूँ और लोगों को अटकलें बांधने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दूँ। अतः बिलकुल आखिरी क्षण में खुले अधिवेशन में प्रस्ताव आने के कुछ ही मिनट पहले मैंने उसे पेश करने का निश्चय किया। अपने भाषण में मैंने अपने हृदय के भाव ज्यों-के-त्यों उस विशाल जन-समूह के सामने रख दिये और उनसे पैरवी की कि वे उस प्रस्ताव को तहेदिल से मंजूर कर लें। मेरा वह भाषण जो ऐन वक्त पर अन्तःस्फूर्ति से दिया गया और जो हृदय के अन्तस्तल से निकला था, जिस-में न कोई अलंकार था न सुन्दर शब्दावली, कदाचित् मेरे उन कई भाषणों से ज्यादा सफल रहा जिनके लिए ज्यादा ध्यान देकर तैयारी करने की ज़रूरत हुई थी।

मैं और प्रस्तावों पर भी बोला था। इनमें भगतसिंह, मौलिक अधिकार और आर्थिक नीति के प्रस्ताव उल्लेखनीय हैं। आखिरी प्रस्ताव में मेरी खास दिलचस्पी थी। क्योंकि एक तो उसका विषय ही ऐसा था और दूसरे उसके द्वारा कांग्रेस में एक नये दृष्टिकोण का प्रवेश होता था। अबतक कांग्रेस सिर्फ़ राष्ट्रीयता की ही दिशा में सोचती थी और आर्थिक प्रश्नों के मुक़ाबिले से बचती रहती थी। जहांतक ग्राम-उद्योगों से और आम तौर पर स्वदेशी को बढ़ावा देने से ताल्लुक था, उसको छोड़कर कराची वाले इस प्रस्ताव के द्वारा मूल उद्योगों और नौकरियों के राष्ट्रीयकरण और ऐसे ही दूसरे उपायों के प्रचार के द्वारा ग़रीबों का बोझा कम करके अमीरों पर बढ़ाने के लिए एक बहुत छोटा क़दम, समाजवाद की दिशा में, उठाया गया; लेकिन वह समाजवाद क़तई न था। पूंजीवादी राज्य भी उसकी प्रायः हर बात को आसानी से मंजूर कर सकता है।

इस बहुत ही नरम और निःसार प्रस्ताव ने भारत-सरकार के बड़े-बड़े लोगों को भारी और गहरे विचार में डाल दिया। कदाचित् उन्होंने अपनी सदा की अन्तर्दृष्टि के मुताबिक़ यह भी कल्पना की कि बोलशेविकों का रुपया लुक-छिपकर कराची जा पहुंचा और कांग्रेस के नेताओं को नीति-भ्रष्ट कर रहा है। एक तरह के राजनैतिक अन्तःपुर में रहते-रहते, बाहरी दुनिया से कटे-हटे, गुप्त वातावरण से घिरे हुए उनके दिमाग़ को रहस्य और भेद की कहानियाँ और कल्पित कथाओं के सुनने का बड़ा शौक रहता है। और फिर ये किस्से एक रहस्यपूर्ण ढंग से थोड़ा-थोड़ा करके अपने प्रीति-प्राप्त अखबारों में दिये जाते हैं और साथ में यह झलकाया जाता है कि यदि परदा खोल दिया जाय तो और भी कई गुल खिल सकते हैं। उनके इस मान्य प्रचलित तरीक़े से मौलिक अधिकार वग़ैरा सम्बन्धी कराची के प्रस्तावों का बार-बार जिक्र किया गया है और मैं उनसे यही नतीजा निकाल सकता हूं कि वे इस प्रस्ताव पर सरकारी सम्मतियों के निदर्शक हैं। किस्सा यहांतक कहा जाता है कि एक छिपे व्यक्ति ने, जिसका कम्यूनिस्टों से ताल्लुक है, प्रस्ताव का या उसके ज्यादातर हिस्से का ढांचा बनाया है और उसने कराची में उसे मेरे मत्थे मढ़ दिया। उसपर मैंने गांधीजी को चुनौती दे दी कि या तो इसे मंजूर कीजिए या दिल्ली-समझौते पर मेरी मुखालिफत के लिए तैयार रहिए। और गांधीजी ने मुझे चुप करने के लिए यह रिश्वत दे दी तथा आखिरी दिन, जबकि विषय-समिति और काँग्रेस थकी हुई थी, उन्होंने इसे उनके सिर पर लाद दिया।

उस छिपे व्यक्ति का नाम, जहांतक मुझे पता है, यों साफ-साफ लिया नहीं गया है; लेकिन तरह-तरह के इशारों से मालूम हो जाता है कि उनकी मंशा किससे है। मुझे छिपे तरीकों और घुमाव-फिराव से बात कहने की आदत नहीं, इसलिए मैं सीधे ही कह दूं कि उनकी मंशा शायद एम० एन० राय से है। शिमला और दिल्ली के ऊंचे आसनवालों के लिए यह जानना दिलचस्प और शिक्षाप्रद होगा कि एम० एन० राय या दूसरे 'कम्यूनिस्ट-प्रवृत्ति रखनेवाले' कराची के उस सीधे-सादे प्रस्ताव के बारे में क्या खयाल करते हैं। उन्हें यह जानकर ताज्जुब होगा कि उस तरह के आदमी तो उस प्रस्ताव को कुछ घृणा की दृष्टि से देखते हैं, क्योंकि उनके मतानुसार तो यह मध्यमवर्ग के सुधारवादियों की मनोवृत्ति का एक खासा उदाहरण है।

जहांतक गांधीजी से ताल्लुक है, उनसे मेरी घनिष्ठता पिछले १७ सालों से है और मुझे उन्हें बहुत नजदीक से जानने का सौभाग्य प्राप्त है। यह खयाल कि मैं उन्हें चुनौती दूं, या उनसे सौदा करूँ, मेरी निगाह में राक्षसी है। हां, हम एक-दूसरे का

खूब लिहाज़ रखते हैं और कभी किसी विशेष मसले पर अलग-अलग भी हो सकते हैं, लेकिन हमारे आपस के व्यवहारों में बाज़ारू तरीकों से हरगिज़ काम नहीं लिया जा सकता।

कांग्रेस में इस तरह के प्रस्ताव को पास कराने का ख़याल पुराना है। कुछ सालों से युक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमिटी इस विषय में हलचल मचा रही थी और कोशिश कर रही थी कि अ० भा० कांग्रेस कमिटी समाजवादी प्रस्ताव को स्वीकार कर ले। १९२९ में उसने अ० भा० कां० कमिटी में कुछ हद तक उसके सिद्धान्त को स्वीकार करा लिया था। उसके बाद सत्याग्रह आ गया। दिल्ली में, फ़रवरी १९३१ में जबकि मैं गांधीजी के साथ सुबह घूमने जाया करता था, मैंने उनसे इस मामले का ज़िक्र किया था और उन्होंने आर्थिक विषयों पर एक प्रस्ताव रखने के विचार का स्वागत किया था। उन्होंने मुझसे कहा था कि कराची में इस विषय को उठाना और इस विषय में एक प्रस्ताव बनाकर मुझे दिखाना। कराची में मैंने मसविदा बनाया और उन्होंने उसमें बहुतेरे परिवर्तन सुझाये और सूचनायें कीं। वह चाहते थे कि कार्य-समिति में पेश करने के पहले हम दोनों उसकी भाषा पर सहमत हो जायँ। मुझे कई मसविदे बनाने पड़े और इससे इस मामले में कुछ दिन की देरी हो गई। आख़िर गांधीजी और मैं दोनों एक मसविदे पर सहमत हो गये और तब वह कार्य-समिति में और उसके बाद विषय-समिति में पेश किया गया। यह बिलकुल सच है कि विषय-समिति के लिए यह एक नया विषय था और कुछ मेम्बरों को उसे देखकर ताज्जुब हुआ था। फिर भी वह कमिटी में और कांग्रेस में आसानी से पास हो गया और बाद में अ० भा० कां० कमिटी को सौंप दिया गया कि वह निर्दिष्ट दिशा में उसको और विषद और व्यापक बनावे।

हाँ, जब मैं इस प्रस्ताव का खर्रा बना रहा था तब कितने ही लोगों से, जो मेरे डेरे पर आया करते थे, इसके बारे में मैं कभी-कभी कुछ सलाह ले लिया करता था। मगर एम० एन० राय से इसका क़तई कोई ताल्लुक नहीं था, और न मैं यह अच्छी तरह जानता था कि वह इसको बिलकुल पसन्द नहीं करेंगे और इसकी ख़िल्ली तक उड़ावेंगे।

अलबत्ता कराची आने के कुछ दिन पहले इलाहाबाद में एम० एन० राय से मेरी मुलाकात हुई थी। वह एक रोज शाम को अकस्मात हमारे घर आये। मुझे पता नहीं था कि वह हिन्दुस्तान में हैं। ताहम मैंने उन्हें फौरन पहचान लिया, क्योंकि उनको मैंने १९२७ में मास्को में देखा था। कराची में वह मुझसे मिले थे, मगर शायद पाँच मिनट से ज्यादा नहीं। पिछले कुछ सालों में राजनैतिक दृष्टि से मेरी निन्दा करते हुए मेरे खिलाफ उन्होंने बहुत-कुछ लिखा है, और अक्सर मुझे चोट पहुँचाने

में कामयाब भी हुए हैं। गो उनके और मेरे बीच बहुत मतभेद है, ताहम मेरा आकर्षण उनकी ओर हुआ, और बाद को जब वह गिरफ्तार हुए और मुसीबत में थे तब मेरा जी हुआ कि जो-कुछ मुझसे हो सके (और वह बहुत थोड़ी थी) उनकी मदद करूँ। मैं उनकी तरफ आकर्षित हुआ, उनकी विलक्षण बौद्धिक क्षमता को देखकर। मैं उनकी तरफ इसलिए भी खिंचा कि मुझे वह सब तरह अकेले मालूम हुए, जिनको हर आदमी ने छोड़ दिया था। ब्रिटिश सरकार उनके पीछे पड़ी हुई थी ही। हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय दल के लोगों की उनकी ओर दिलचस्पी नहीं थी। और जो लोग हिन्दुस्तान में अपनेको कम्यूनिस्ट कहते है वे विश्वासघाती समझकर उनकी निन्दा करते थे। मुझे मालूम हुआ कि सालों तक रूस में रहने और कोमिनटर्न के साथ घनिष्ठ सहयोग करने के बाद वह उनसे जुदा पड़ गये थे, या जुदा कर दिये गये थे। ऐसा क्यों हुआ इसका मुझे पता नहीं है, और सिवा कुछ आभास के न अबतक यही जानता हूँ कि उनके मौजूदा विचार क्या हैं और पुराने कम्यूनिस्टों से किस बात में उनका मतभेद है। लेकिन उनके जैसे पुरुष को इस तरह प्रायः हरेक के द्वारा अकेले छोड़े जाते देखकर मुझे पीड़ा हुई और अपनी आदत के खिलाफ़ मैं उनके लिए बनाई गई डिफेंस कमिटी में शामिल हुआ। १९३१ की गर्मियों से, अबसे कोई तीन वर्ष पहले से, वह जेल में हैं, बीमार हैं, और प्रायः तनहाई में रह रहे हैं।

कराची में कांग्रेस-अधिवेशन का एक आखिरी कार्य था कार्य-समिति का चुनाव। यों तो उसका चुनाव अ० भा० कां० कमिटी द्वारा होता है, मगर ऐसा रिवाज पड़ गया था कि उस साल का सभापति (गांधीजी और कभी-कभी दूसरे साथियों की सलाह से) नाम पेश करता और वे अ० भा० कां० कमिटी में मंजूर कर लिये जाते। लेकिन कराची में हुए कार्य-समिति के चुनाव का बुरा नतीजा निकला, जिसका पहले किसी को खयाल नहीं हुआ था। अ० भा० कां० कमिटी के कुछ मुसलमान मेम्बरों ने इस चुनाव पर ऐतराज किया था। खास तौर पर एक (मुस्लिम) नाम पर। शायद उन्होंने इसमें अपनी तौहीन समझी थी कि उनके दल का उसमें कोई भी आदमी नहीं था। एक ऐसी अ० भा० कमिटी में जिसमें केवल १५ ही मेम्बर हों, यह सरासर असंभव था कि सभी हितों के प्रतिनिधि उसमें रहें। और असली झगड़ा था, जिसके बारे में हमें कुछ भी इल्म नहीं था, बिलकुल जाती और पंजाब का मुकामी, लेकिन उसका नतीजा यह हुआ कि जिन लोगों ने विरोध की आवाजें उठाई थीं वे (पंजाब में) कांग्रेस से हटकर मजलिसे अहरार में शरीक हो गये। कांग्रेस के कुछ बहुत ही मुस्तैद और लोकप्रिय कार्यकर्ता उसमें शामिल हो गये और पंजाब के कितने ही मुसलमानों को उसने अपनी ओर खींच लिया। निचले मध्यमवर्ग के लोग उसमें थे

और मुस्लिम जनता से उसका बहुत संपर्क था । इस तरह वह एक जबरदस्त संगठन बन गया । उच्च श्रेणी के मुस्लिम फिरकेवाराना लोगों के, जो कि या तो हवा में या दीवानखाने में या कमिटियों के कमरों में इकट्ठा होते थे, लुंज संगठन की बनिस्बत यह कहीं ज्यादा मजबूत था । अहरार लोग वैसे तो फिरकापरस्ती की तरफ़ चले गये, मगर मुस्लिम जनता के साथ उन्होंने अपना सिलसिला बांध रक्खा था । इसलिए वे एक जिन्दा जमात बने रहे, जिसका एक धुंधला-सा आर्थिक दृष्टिकोण है । देशी राज्यों के मुसलमान-आन्दोलन में, खासकर कश्मीर में, उन्होंने बड़ा काम किया है जिनमें कि आर्थिक कष्ट और फिरकापरस्ती दोनों अजीब तरह से और बदक़िस्मती से घुल-मिल गये हैं । कांग्रेस से अहरार-पार्टी के कुछ नेताओं का कट जाना पंजाब में कांग्रेस के लिए बहुत ही मुजिर हुआ । मगर कराची में इसका हमें क्या पता था ? बाद में जाकर धीरे-धीरे हमें इसका अहसास होने लगा । लेकिन यह न समझना चाहिए कि कार्य-समिति के चुनाव के कारण ही वे लोग कांग्रेस से अलग हो गये हों । वह तो एक तिनका था जिसने हवा के रुख को बताया । उसके असली कारण तो और ही हैं, और वे गहरे हैं ।

हम सब कराची में ही थे कि कानपुर के हिन्दू-मुसलिम दंगे की खबर हमें मिली । इसके बाद ही दूसरा समाचार यह मिला कि गणेशशंकर विद्यार्थी को कुछ मजहबी दीवाने लोगों ने, जिनकी मदद के लिए वह वहां गये थे, कत्ल कर डाला । वे भयंकर और पाशविक दंगे ही क्या कम बुरे थे ? लेकिन गणेशजी की मृत्यु ने उनकी भयंकरता की बीभत्सता जिस तरह हमारे हृदय पर अंकित कर दी वैसी और कोई चीज नहीं कर सकती थी । उस कांग्रेस-कैम्प में हजारों आदमी उन्हें जानते थे और युक्त-प्रान्त के हम सब लोगों के वह निहायत प्यारे साथी और दोस्त थे । जवांमर्द और निडर, दूरदर्शी और निहायत अक्लमन्द सलाहकार, कभी हिम्मत न हारनेवाले, चुपचाप काम करनेवाले, नाम, शोहरत, पद और प्रकाशन से दूर भागनेवाले । अपनी जवानी के उत्साह में झूमते हुए वह हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए, जो उन्हें इतनी प्यारी थी और जिसके लिए उन्होंने अबतक कार्य किया था, अपना सिर हथेली पर लेकर खुशी-खुशी आगे बढ़े थे कि बेवकूफ हाथों ने उन्हें जमीन पर मार गिराया और कानपुर को और सूबे को एक अत्यंत उज्ज्वल रत्न से महरूम कर दिया । जब यह खबर पहुँची तो कराची के यू० पी० कैम्प में शोक की घटा छा गई और ऐसा मालूम हुआ कि उसकी शान चली गई । लेकिन फिर भी उसके दिल में यह अभिमान था कि गणेशजी ने बिना पीछे कदम उठाये मौत का मुकाबिला किया और उन्हें ऐसी गौरव-पूर्ण मौत नसीब हुई ।

# ३६

## लंका में विश्राम

मेरे डाक्टरों ने मुझपर जोर दिया कि मुझे कुछ आराम लेना चाहिए, और आब-हवा बदलनी चाहिए। मैंने लंका द्वीप में एक महीना गुजारना तय किया। हिन्दुस्तान बड़ा भारी देश होने पर भी, इसमें स्थान-परिवर्तन या मानसिक विश्राम की असली संभावना दिखाई न दी; क्योंकि मैं जहाँ भी जाता वहाँ राजनैतिक साथी मिलते ही, और वही समस्यायें भी मेरे पीछे-पीछे वहाँ आ जातीं। लंका ही हिन्दुस्तान से सबसे नजदीक की जगह थी, इसलिए हम लंका ही गये—कमला, इन्दिरा और मैं। १९२७ में योरप से लौटने के बाद यही मेरी पहली तातील थी, यही पहला मौक़ा था जब मेरी पत्नी, कन्या और मैंने एकसाथ शान्ति से कही विश्राम किया हो और हमें कोई चिन्तायें न रही हों। ऐसा विश्राम फिर नहीं मिला है, और मुझे संदेह है कि शायद मिलेगा भी या नहीं।

फिर भी, दरअसल, हमें लंका में सिवा नुवाया एलीया के दो हफ्तों के ज्यादा विश्राम भी नही मिला। वहाँके सभी वर्गों के लोगों ने हमारे प्रति बहुत ही आतिथ्य और मित्र-भाव प्रदर्शित किया। यह इतनी सद्भावना बहुत अच्छी तो लगती थी, मगर परेशानी में भी डाल देती थी। नुवाया एलीया में बहुत-से श्रमिक, चाय बागान के मजदूर और दूसरे लोग रोज कई मील चलकर आया करते थे, और अपने साथ अपनी प्रेम-पूर्ण भेंट की चीजें—जंगल के फूल, सब्जियां, घर का मक्खन—भी लाया करते थे। हम तो उनसे प्राय: बात भी नहीं कर सकते थे; एक-दूसरे की तरफ देख भर लेते थे और मुस्करा देते थे। हमारा छोटा-सा घर उनकी भेंट की इन कीमती चीजों से, जो वे अपनी दरिद्र अवस्था में भी हमें दे जाते थे, भर गया था। ये चीजें हम वहाँके अस्पतालों और अनाथालयों को भेज दिया करते थे।

हमने उस द्वीप की मशहूर चीजों और ऐतिहासिक खंडहरों, बौद्ध मठों और घने जंगलों को देखा। अनुराधापुर में मुझे बुद्ध की एक पुरानी बैठी हुई मूर्त्ति बहुत पसन्द आई। एक साल बाद जब मैं देहरादून-जेल में था, तब लंका के एक मित्र ने इस मूर्त्ति का चित्र मेरे पास भेज दिया था, जिसे मैं अपनी कोठरी में अपने छोटे-से टेबल पर रक्खे रहता था। यह चित्र मेरा बड़ा मूल्यवान साथी बन गया था, और बुद्ध की मूर्त्ति के गंभीर शान्त भावों से मुझे बड़ी शान्ति और शक्ति मिलती थी, जिससे मुझे कई बार उदासी के मौक़ों पर बड़ी मदद मिली।

बुद्ध हमेशा मुझे बहुत आकर्षक प्रतीत हुए हैं। इसका कारण बताना तो मुश्किल है, मगर वह धार्मिक नहीं है; क्योंकि बौद्ध-धर्म के साथ-साथ जो सिद्धान्त या मत बन गये हैं उनमें मुझे दिलचस्पी नहीं है। उनके व्यक्तित्व ने ही मुझे आकर्षित किया है। इसी तरह ईसा के व्यक्तित्व के प्रति भी मुझे बड़ा आकर्षण है।

मैंने मठों और सड़कों पर बहुत-से 'भिक्खुओं' को देखा, जिन्हें हर जगह, जहाँ कहीं वे जाते थे, सम्मान मिलता था। क़रीब-क़रीब सभीके चेहरों पर शान्ति और निश्चलता का, तथा दुनिया की फ़िक्रों से एक विचित्र वैराग्य का, भाव मुख्य था। आम तौर पर, उनके चेहरे से बुद्धिमत्ता नहीं झलकती थी; उनकी सूरत से दिमाग़ के अन्दर होनेवाला भयंकर संघर्ष नहीं मालूम पड़ता था। उन्हें जीवन महासागर की ओर शान्ति से बहती हुई नदी के समान दिखाई देता था। मैं उनकी तरफ़ कुछ रश्क़ के साथ, आँधी और तूफ़ान में बचानेवाला शान्त बन्दरगाह पाने की एक हलकी उत्कंठा के साथ, देखता था। मगर मैं तो जानता था कि मेरी क़िस्मत में और ही कुछ है, उसमें तो आँधी और तूफान ही हैं। मुझे कोई शान्त बन्दरगाह मिलनेवाला नहीं है, क्योंकि मेरे भीतर का तूफ़ान भी उतना ही तेज़ है जितना बाहर का। और अगर मुझे कोई ऐसा बन्दरगाह मिल भी जाय, जहाँ इत्तिफ़ाक़ से आँधी की प्रचंडता न हो, तो भी क्या वहाँ मैं सन्तोष और सुख से रह सकूंगा ?

कुछ समय के लिए तो वह बन्दरगाह खुशनुमा ही था। वहाँ आदमी पड़ा रह सकता था, स्वप्न देख सकता था, उष्ण-कटिबन्ध का शान्तिप्रद और जीवनदायी आनन्द अपने अन्दर भर सकता था। लंकाद्वीप उस समय भी मेरी वृत्ति के अनुकूल था, और उसकी शोभा देखकर मेरा हृदय हर्ष से भर गया। विश्राम का हमारा महीना जल्दी ही खत्म हो गया, और दिली अफ़सोस के साथ हम वहाँ से बिदा हुए। उस भूमि और वहाँके लोगों की कई बातों की याद मुझे अब भी आया करती है; जेल के मेरे लम्बे और सूने दिनों में भी यह मीठी याद मेरे साथ रही। एक छोटी-सी घटना मुझे स्मरण है, वह शायद जाफ़ना के पास हुई थी। एक स्कूल के शिक्षकों और लड़कों ने हमारी मोटर रोक ली, और अभिवादन के कुछ शब्द कहे। दृढ़ और उत्सुक चेहरे लिये लड़के खड़े रहे, और उनमें से एक मेरे पास आया। उसने मुझसे हाथ मिलाया। बिना कुछ पूछे या दलील किये उसने कहा—"मैं कभी लड़खड़ाऊँगा नहीं।" उस लड़के की उन चमकती हुई आँखों की, उस आनन्दपूर्ण चेहरे की, जिसमें निश्चय की दृढ़ता भरी हुई थी, छाप मेरे मन पर अब भी पड़ी हुई है। मुझे पता नहीं कि वह कौन था, उसका कोई पता-ठिकाना मेरे पास नहीं है; मगर किसी-न-किसी प्रकार मुझे यह विश्वास होता है कि वह अपने शब्दों का पक्का रहेगा, और जब जीवन की

विषम समस्याओं का मुक़ाबिला उसे करना होगा तब वह लड़खड़ायगा नहीं, पीछे नहीं रहेगा।

लंका से हम दक्षिण भारत, ठीक कुमारी अन्तरीप के पास दक्षिणी सिरे पर, गये। वहाँ आश्चर्यजनक शान्ति थी। इसके बाद हम त्रावणकोर, कोचीन, मलाबार, मैसूर, हैदराबाद में होकर गुज़रे, जो ज्यादातर देशी रियासतें हैं। इनमें से कुछ दूसरों से बहुत प्रगतिशील हैं, कुछ बहुत पिछड़ी हुई हैं। त्रावणकोर और कोचीन शिक्षा में ब्रिटिश-भारत से भी बहुत आगे बढ़े हुए हैं; मैसूर शायद उद्योग-धन्धों में आगे बढ़ा हुआ है; और हैदराबाद क़रीब-क़रीब पूरी तरह पुराने सामन्त-तन्त्र का स्मारक है। हमें हर जगह, जनता से भी और अधिकारियों से भी, आदर और स्वागत मिला। मगर इस स्वागत में अधिकारियों की यह चिन्ता भी छिपी हुई थी कि हमारे वहाँ आने से कहीं लोगों के ख़यालात ख़तरनाक न हो जायँ। मालूम होता है, उस वक्त मैसूर और त्रावणकोर ने राजनैतिक कार्य के लिए कुछ नागरिक स्वतन्त्रता और अवसर दिया था। हैदराबाद में इतनी आज़ादी न थी। और, हालांकि हमारे साथ आदर का बर्ताव किया जा रहा था, फिर भी मुझे वह वातावरण दम घोंटने और सांस रोकनेवाला मालूम हुआ। बाद में मैसूर और त्रावणकोर की सरकारों ने उतनी नागरिक स्वतंत्रता और राजनैतिक कार्य की सुविधा भी छीन ली, जो उन्होंने पहले दे रक्खी थी।

मैसूर रियासत के बंगलौर शहर में, एक बड़े मजमे के अन्दर, मैंने लोहे के एक ऊँचे खम्भे पर राष्ट्रीय झण्डा फहराया था। मेरे जाने के थोड़े दिनों बाद ही वह खम्भा तोड़कर टुकड़े-टुकड़े कर दिया गया, और मैसूर-सरकार ने झण्डे का प्रदर्शन जुर्म करार दे दिया। मैंने जिस झण्डे को फहराया था उसकी इतनी ख़राबी और बेइज़्ज़ती होने से मुझे बड़ा रंज हुआ।

आज त्रावणकोर में कांग्रेस ही ग़ैरक़ानूनी संस्था करार दे दी गई है और कांग्रेस का मेम्बर भी कोई नहीं बन सकता, हालांकि ब्रिटिश-भारत में सविनय भंग रुक जाने के बाद से वह ग़ैरक़ानूनी नहीं रही है। इस तरह मैसूर और त्रावणकोर दोनों मामूली शान्तिपूर्ण राजनैतिक हलचल को भी कुचल रही हैं, और उन्होंने वे सुभीते भी छीन लिये हैं जो पहले दे रक्खे थे। ये रियासतें पीछे हट रही हैं। किन्तु हैदराबाद को पीछे जाने या सुविधायें छीनने की ज़रूरत ही न हुई, क्योंकि वह आगे कभी बढ़ी ही न थी और न उसने इस क़िस्म की कोई सुविधायें दी थीं। हैदराबाद में राजनैतिक सभायें कभी नहीं होतीं, और सामाजिक और धार्मिक सभायें भी सन्देह की दृष्टि से देखी जाती हैं और उनके लिए भी ख़ास इजाज़त लेनी पड़ती है। वहाँ कोई भी अच्छे अख़बार नहीं निकलते, और बाहर से बुराई के कीटाणु न आने देने के लिए हिन्दुस्तान

के दूसरे हिस्सों में छपनेवाले बहुत-से अखबारों की रियासत में रोक कर दी गई है। बाहर के असर से दूर रहने की यह नीति इतनी सख्त है कि माडरेट अखबारों की भी वहाँ मुमानियत है।

कोचीन में हम 'सफ़ेद यहूदी' कहानेवाले लोगों का मुहल्ला देखने गये, और उनके पुराने मंदिर में उनकी एक प्रकार की पूजा देखी। यह छोटा-सा समाज बहुत प्राचीन और बहुत अजीब है। इसकी तादाद घटती जा रही है। हमसे कहा गया कि कोचीन के जिस हिस्से में वे रहते हैं, वह जेरूसलेम के समान था। निश्चय ही वह पुरानी बनावट का तो मालूम हुआ।

मलाबार के किनारे हमने कुछ ऐसे कसबे देखे जिनमें ज्यादातर सीरियन मत के ईसाई बसे हुए थे। शायद इसका बहुत कम लोगों को खयाल होगा कि ईसाई-धर्म हिन्दुस्तान में ईसा के बाद पहली सदी में ही आ गया था, जबकि योरप ने भी उसे नहीं ग्रहण किया था, और दक्षिण हिन्दुस्तान में खूब मजबूती से जम गया था। हालांकि इन ईसाइयों का बड़ा धर्माध्यक्ष सीरिया के एण्टियोक या और किसी क़सबे में है, मगर इनकी ईसाइयत ज्यादातर हिन्दुस्तानी चीज़ ही है और उसका बाहर से ज्यादा ताल्लुक नहीं है।

दक्षिण में नेस्टेरियन मत के लोगों की भी एक बस्ती देखकर मुझे बड़ा ताज्जुब हुआ। उनके पादरी ने मुझे बताया कि उनकी तादाद दस हज़ार है। मेरा तो यह खयाल था कि ये लोग कभीके दूसरे मतों में मिल चुके होंगे, और मुझे यह पता न था कि कभी वे हिन्दुस्तान में भी मौजूद थे। मगर मुझसे कहा गया कि एक समय हिन्दुस्तान में उनके अनुयायी बहुत थे, और वे उत्तर में बनारस तक फैले हुए थे।

हम हैदराबाद खासकर श्रीमती सरोजिनी नायडू और उनकी लड़कियों, पद्मजा और लीलामणि, से मिलने गये थे। जिन दिनों हम उनके यहाँ ठहरे हुए थे, एक बार मेरी पत्नी से मिलने के लिए कुछ पर्दानशीन स्त्रियाँ उन्हींके मकान पर इकट्ठा हो गईं, और शायद कमला ने उनके सामने कोई भाषण दिया। उसका भाषण सम्भवतः पुरुषों के बनाये हुए क़ानूनों और रिवाजों के खिलाफ़ स्त्रियों के युद्ध के (जो उसका एक खास प्यारा विषय था) बारे में था, और उसने स्त्रियों से कहा कि वे पुरुषों से बहुत न दबें। इसके दो या तीन हफ्ते बाद इसका एक बड़ा दिलचस्प नतीजा निकला। एक परेशान हुए पति ने हैदराबाद से कमला को खत लिखा कि, आपके यहाँ आने के बाद से मेरी पत्नी का बर्ताव अजीब हो गया है। वह पहले की तरह मेरी बात नहीं सुनती, न मेरी बात मानती है; बल्कि मुझसे बहस करती है और कभी-कभी सख्त रुख भी अख्त्यार कर लेती है।

बंबई से लंका को रवाना होने के सात हफ्ते बाद हम फिर बंबई आ गये, और मैं फौरन ही कांग्रेस की राजनीति के भंवर में कूद पड़ा। कार्य-समिति की बैठकें कई जरूरी मामलों पर विचार करने के लिए होनेवाली थीं—हिन्दुस्तान की स्थिति तेजी से बदलती और गंभीर होती जाती थी, यू० पी० के किसानों का प्रश्न जटिल हो गया था, खान अब्दुलग़फ़ारखां के नेतृत्व में सीमाप्रान्त में लालकुर्ती-दल की आश्चर्यजनक प्रगति हुई थी, बंगाल में अत्यन्त विक्षोभ की दशा हो गई थी, और उसमें क्रोध और असन्तोष अन्दर-ही-अन्दर बढ़ गया था, सदा मौजूद साम्प्रदायिक समस्या तो थी ही, और कांग्रेस के लोगों और सरकारी अफसरों के बीच में कई तरह के मामलों में छोटे-छोटे कई स्थानीय झगड़े खड़े हो गये थे, जिनमें दोनों पक्ष एक-दूसरे पर दिल्ली-समझौते को तोड़ने का इलजाम लगाते थे। इसके अलावा यह सवाल भी बार-बार उठता था कि क्या कांग्रेस गोलमेज-कान्फ्रेन्स में शामिल होगी ? क्या गांधीजी को वहां जाना चाहिए ?

# ३७

# समझौता-काल में दिक़्क़तें

गांधीजी को गोलमेज-कान्फ़्रेन्स के लिए लन्दन जाना चाहिए या नहीं ? यह सवाल बराबर उठता रहता था, और इसका कोई निश्चित जवाब नहीं मिलता था। आख़िरी मिनट तक कोई भी नहीं जानता था, कांग्रेस-कार्य-समिति और ख़ुद गांधीजी भी नहीं जानते थे। क्योंकि, जवाब का आधार तो कई बातों पर था, और नई-नई घटनायें परिस्थिति को निरन्तर बदल रही थी। इस सवाल और जवाब की तह में असली और मुश्किल समस्यायें खड़ी थीं।

ब्रिटिश-सरकार और उसके दोस्तों की तरफ़ से हमसे बराबर कहा गया कि गोलमेज-कान्फ़्रेन्स ने तो विधान की रूप-रेखा निश्चित कर ही दी है, चित्र की मोटी-मोटी रेखायें खिच चुकी हैं, और अब तो इनमें रंग भरना ही बाक़ी रहा है। मगर कांग्रेस ऐसा नही समझती थी और उसकी निगाह में तो अभी सारी तस्वीर ही बनना बाक़ी थी; सो भी क़रीब-क़रीब कोरे काग़ज़ पर। यह तो सच था कि दिल्ली के समझौते के द्वारा संघ-स्वरूप को आधार मान लिया गया था, और संरक्षणों या प्रतिबन्धों का विचार भी मंज़ूर कर लिया था। मगर हममें से बहुत-से तो बहुत पहले से ही हिन्दुस्तान के लिए संघ-स्वरूप का विधान ही सबसे ज्यादा उपयुक्त समझते थे। और इस विचार को हमारे मान लेने का यह मतलब नहीं था कि हमने खास उस तरह का संघ भी मान लिया जिसकी रचना पहली गोलमेज-कान्फ़्रेन्स ने की थी। राजनैतिक स्वाधीनता और सामाजिक-परिवर्त्तन के साथ भी संघ-स्वरूप पूरी तरह मेल खा सकता है। हाँ, संरक्षणों या प्रतिबन्धों के विचार का मेल बैठना ज्यादा मुश्किल था और मामूली तौर पर उनके होने से स्वाधीनता में काफ़ी कमी आ जाती थी। मगर 'भारत के हित की दृष्टि से' इन शब्दों से हम इस कठिनाई से कम-से-कम थोड़ी हद तक तो निकल सकते थे, फिर भी अच्छी तरह नहीं। कुछ भी हो, कराची-कांग्रेस ने यह साफ़ कर दिया था कि हमें वही विधान मंज़ूर हो सकेगा जिसमें फौज, वैदेशिक मामलों और राजस्व तथा आर्थिक नीति पर पूरा अधिकार दिया गया हो, और हिन्दुस्तान को विदेशों की (अर्थात् अधिकांश ब्रिटिशों की) देनदारी मंज़ूर करने से पहले अपने कर्ज़े के प्रश्न की जाँच करने का हक़ हो। इसके अलावा मौलिक अधिकारों सम्बन्धी प्रस्ताव ने भी बता दिया था कि हम किन-किन राजनैतिक और आर्थिक तबदीलियों को करना चाहते हैं। ये सब बातें गोलमेज-कान्फ़्रेन्स के कई निश्चयों और हिन्दुस्तान की हुकूमत के मौजूदा ढांचे के भी खिलाफ़ पड़ती थीं।

कांग्रेस और ब्रिटिश-सरकार के दृष्टिकोणों में भारी फ़र्क़ था, और अब इस अवस्था में उसका दूर होना बहुत ही नामुमकिन मालूम होता था। क़रीब-क़रीब सभी कांग्रेसवालों को गोलमेज़-कान्फ्रेन्स में कांग्रेस और सरकार के बीच किसी भी बात पर एक-राय होने की उम्मीद नहीं थी, और गांधीजी को भी, हालांकि वह हमेशा बड़े आशावादी रहे हैं, कोई ज्यादा आशा न हो सकी। फिर भी वह कभी नाउम्मीद नहीं होते थे, और आख़िरी हद तक कोशिश करने का इरादा रखते थे। हम सब महसूस करते थे कि चाहे सफलता मिले या न मिले, मगर दिल्ली-समझौते के कारण एकबार प्रयत्न तो करना ही चाहिए। मगर दो जरूरी बातें थीं, जिनके कारण हमारा गोलमेज़-कान्फ्रेन्स में हिस्सा लेना रुक सकता था। हम तभी जा सकते थे जबकि हमें गोलमेज़-कान्फ्रेंस के सामने अपना सम्पूर्ण दृष्टिबिन्दु रखने की पूरी आज़ादी रहे, और इसके लिए हमें यह कहकर कि यह मामला तो पहले ही तय हो चुका है, या और किसी सबब से, रोका न जाय। हिन्दुस्तान में भी ऐसी परिस्थिति हो सकती थी कि जिससे गोलमेज़-कान्फ्रेन्स में हमारा प्रतिनिधि न जा पाता। यहां ऐसी हालत पैदा हो सकती थी कि जिससे सरकार से संघर्ष खड़ा हो जाता, या जिसमें हमें कठोर दमन का मुक़ाबिला करना पड़ता। अगर हिन्दुस्तान में ऐसा हो, और हमारा घर ही जल रहा हो, तो हमारे किसी भी प्रतिनिधि के लिए यह बिलकुल नामुनासिब होता कि इस आग का ख़याल न करके वह लन्दन में जाकर विधान आदि पर कोरे पण्डितों की तरह बहस करे।

हिन्दुस्तान में परिस्थिति तेज़ी से बदल रही थी। सारे देश में ऐसा हो रहा था—खासकर बंगाल, युक्तप्रान्त और सीमा-प्रान्त में। बंगाल में तो दिल्ली के समझौते से कोई खास फ़र्क़ नही पड़ा, और तनाव जारी रहा, बल्कि और भी ज्यादा हो गया। सविनय-भंग के कुछ क़ैदी छोड़ दिये गये; लेकिन हज़ारों राजनैतिक क़ैदी, जो नाम के लिए सविनय-भंग के क़ैदी नहीं समझे जा सकते थे, जेल में ही रहे। नज़रबन्द भी जेलों या डिटेन्शन-कैम्पों में ही सड़ते रहे। राजद्रोहात्मक भाषणों या दूसरी राजनैतिक प्रवृत्तियों के कारण नई गिरफ्तारियां अक्सर हो जाती थीं, और आम तौर पर यही महसूस हो रहा था कि सरकार की तरफ़ से हमला अब भी बंद नहीं हुआ है, वह जारी है। कांग्रेस के लिए आतंकवाद के कारण बंगाल की समस्या हमेशा बहुत ही कठिन रही है। कांग्रेस की सामान्य प्रवृत्तियों और सविनय भंग के मुक़ाबिले में आतंकवादी हलचलें तो बहुत थोड़ी और बहुत छोटी ही रही हैं। मगर उनसे शोर ज्यादा मचता था, और उनकी तरफ़ ध्यान बहुत खिंच जाता था। इन हलचलों से दूसरे प्रान्तों की तरह कांग्रेस का काम होना मुश्किल हो गया था। क्योंकि आतंकवाद

से ऐसा वातावरण पैदा हो जाता था कि जो शन्ति-पूर्ण लड़ाई के लिए माफ़िक न था। लाज़िमी तौर पर इसके कारण सरकार ने सख़्त-से-सख़्त दमन किया, जोकि आतंकवादी और ग़ैर-आतंकवादी बहुत-कुछ दोनों पर निष्पक्ष समानता से पड़ा।

पुलिस और मुक़ामी इन्तज़ामी अफ़सरों के लिए यह मुश्किल था कि वे ख़ास क़ानूनों और आर्डिनेन्सों का ( जो आतंकवादियों के लिए बनाये गये थे ) कांग्रेसवालों, मज़दूरों और किसानों के कार्यकर्ताओं और दूसरे लोगों पर, जिनकी प्रवृत्तियों को वे नापसन्द करते थे, उपयोग न करें। यह मुमकिन है कि कई नज़रबन्दों का, जिन्हें अभीतक कई वर्षों से बग़ैर इलज़ाम लगाये, मुक़दमा चलाये या सज़ा दिये बन्द रक्खा गया था, असली क़ुसूर आतंकवादी प्रवृत्तियां नहीं थीं, बल्कि दूसरी ही कोई प्रबल राजनैतिक प्रवृत्ति हो। उन्हें इसका मौक़ा तक नही दिया गया कि वे अपनी सफ़ाई दे सकें, या कम-से-कम अपना अपराध तक मालूम कर सकें। उनपर अदालतों में मुक़दमे इसलिए नहीं चलाये जाते कि कदाचित पुलिस के पास उन्हें सज़ा दिलाने लायक़ काफ़ी सुबूत नहीं है, हालांकि यह सभी जानते हैं कि सरकार-विरोधी जुर्मों के लिए ब्रिटिश भारत के क़ानून आश्चर्यजनक रूप से व्यापक और भरे-पूरे हैं और उनके घने जाल में से बच सकना मुश्किल है। यह अक्सर होता है कि कोई आदमी अदालतों से तो बरी कर दिया जाता है, मगर फिर फ़ौरन ही गिरफ्तार कर लिया जाता है और नज़रबन्द बना लिया जाता है।

बंगाल के इस पेचीदा सवाल के सबब से कांग्रेस-कार्य-समिति के लोग अपनेको बड़ा लाचार अनुभव करते थे। वे हमेशा इससे परेशान रहते थे और किसी-न-किसी शक्ल में बंगाल का कोई न-कोई मामला ज़रूर उनके सामने आता ही रहता था। जितना उनसे बनता था उतना उस बारे में वे ज़रूर करते थे, मगर वे अच्छी तरह जानते थे कि इससे असली सवाल हल न होगा। इसलिए, कुछ कमज़ोरी ही समझिए, वे जो-कुछ वहां होता था उसे वैसा ही चलने देते थे। और यह कहना भी मुश्किल है कि, उनकी जैसी परिस्थिति में, वे और कर भी क्या सकते थे। बंगाल में कार्य-समिति के इस रवैये पर बड़ा रोष हो रहा था, और वहां यह खयाल पैदा हो गया कि कांग्रेस-कार्य-समिति और दूसरे सब प्रान्त बंगाल की परवा नहीं करते। मालूम होता था कि मुसीबत के वक्त में सबने बंगाल का साथ छोड़ दिया है। मगर यह खयाल बिलकुल ग़लत था, क्योंकि सारे हिन्दुस्तान में बंगाल के प्रति सहानुभूति थी, लेकिन उसे यह नहीं सूझता था कि इस सहानुभूति को अमली मदद की शक्ल में कैसे ज़ाहिर करे। इसके अलावा, हर प्रान्त के सामने अपने-अपने कष्टों का भी तो सवाल था।

युक्तप्रान्त में किसानों की स्थिति ख़राब होती जा रही थी। प्रान्तीय-सरकार

इस सवाल पर टालमटोल करने की कोशिश कर रही थी । उसने लगान और मालगुजारी की छूट के फ़ैसले को आगे धकेल दिया, और जबरदस्ती लगान-वसूली शुरू करदी । मजमूई बेदखलियां और कुर्कियां होने लगीं । जब हम लंका में थे तभी, जबरदस्ती लगान-वसूली की कोशिश के कारण, दो या तीन मुक़ामों पर किसानों के दंगे हो गये थे । ये दंगे थे तो मामूली-से ही, मगर बदक़िस्मती से उनमें ज़मींदार या उनके कारिन्दे मर गये थे । गांधीजी युक्तप्रान्त के गवर्नर सर मालकम हेली से किसानों की परिस्थिति पर बातचीत करने नैनीताल गये थे ( उस वक्त भी मैं लंका में ही था ) मगर उसका कोई अच्छा नतीजा नहीं निकला । जब सरकार ने छूट की घोषणा की तो वह उम्मीद से बहुत कम थी । देहात में लगातार चिल्ल-पों मचने और बढ़ने लगी। ज्यों-ज्यों ज़मींदार और सरकार दोनों का मिलाकर दबाव बढ़ता गया, और हज़ारों किसान अपनी ज़मीन से बेदखल किये जाने लगे, और उनकी छोटी-छोटी मिल्कियत छीनी जाने लगीं, त्यों-त्यों ऐसी स्थिति पैदा होती गई कि जिससे किसी भी दूसरे देश में एक बड़ा किसान-विप्लव खड़ा हो सकता था । मेरा खयाल है कि यह कांग्रेस की कोशिश का ही नतीजा था कि जिससे किसानों ने कोई हिंसात्मक कार्य नहीं किये । मगर खुद उनपर जो बल-प्रयोग हुआ उसका क्या पूछना !

किसानों के इस उभाड़ और मुसीबत में एक बात अच्छी थी । कृषिजन्य चीज़ों के भाव बहुत कम हो जाने से ग़रीब लोगों के पास, जिनमें किसान भी शामिल थे, अगर उनकी सम्पत्ति छिनी नहीं थी तो, पिछले कई सालों की बनिस्बत, ज्यादा खाद्यसामग्री मौजूद थी ।

बंगाल की ही तरह, सीमाप्रान्त में भी दिल्ली के समझौते से कोई शान्ति नहीं हुई । वहां विक्षोभ का वातावरण निरन्तर बना रहा । वहां की हुकूमत विशेष क़ानूनों और आर्डिनेन्सों और छोटे-छोटे-से कुसूरों पर भारी-भारी सज़ाओं के कारण एक फ़ौजी प्रबन्ध जैसी हो रही थी । इस हालत का विरोध करने के लिए खान अब्दुल-ग़फ़्फ़ारखां ने बड़ा आन्दोलन उठाया, जिससे सरकार की निगाह में वह बहुत खटकने लगे । वह छः फ़ीट तीन इंच ऊँचे पूरे पठान, अपनी मर्दानगी के साथ, गांव-गांव पैदल जाते थे, और जगह-जगह 'लाल-कुर्ती' दल के केन्द्र क़ायम करते थे । जहां कहीं वह या उनके खास-खास साथी जाते थे वहां-वहां वह लाल-कुर्ती-दल का एक सिलसिला बनाकर छोड़ आते थे, और जल्दी ही सारे प्रान्त में 'खुदाई खिदमतगार' की शाखायें फैल गईं । वे बिलकुल शान्तिपूर्ण थे, और उनके खिलाफ़ गोल-मोल आरोप लगाये जाने पर भी आजतक हिंसा का कोई एक भी निश्चित अभियोग नहीं ठहर सका है । मगर चाहे वे शान्तिपूर्ण रहे हों या नहीं, उनका पूर्व-इतिहास तो युद्ध और हिंसा का

रहा था, और वे उपद्रवी सीमाप्रदेश के पास बसे हुए थे इसलिए इस अनुशासन-युक्त आन्दोलन के, जिसका हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय-आन्दोलन से गहरा ताल्लुक़ था, तेज़ी से बढने के कारण सरकार घबरा गई। मेरा खयाल है कि उसने इस आन्दोलन के शान्ति और अहिंसा के दावे पर कभी विश्वास नहीं किया। मगर, यदि उसने विश्वास भी कर लिया होता, तो भी उसके हृदय में इसके कारण दहशत और झुंझलाहट ही पैदा हुई होती। इसमें उसे इतनी असली और भीतरी शक्ति दिखाई दी कि वह इसे शान्ति से देखती नहीं रह सकती थी।

इस बड़े आन्दोलन के मुखिया, बिला उज्र, खान अब्दुलग़फ़्फ़ारखाँ ही थे—जिन्हें 'फ़ख्र-अफ़गान', 'फ़ख्र-पठान', 'गांधी-ए-सरहद' वगैरा नामों से याद किया जाने लगा। उन्होंने सिर्फ़ अपने चुपचाप और इस्तकलाल-भरे काम के बल पर, जिसमें न वह मुश्किलों से डरे न सरकारी दमन से, सीमाप्रान्त में हैरत-अंगेज़ हरदिलअजीज़ी हासिल कर ली थी। जैसे कि राजनीतिज्ञ आम तौर पर हुआ करते हैं, उस तरह के राजनीतिज्ञ न वह थे, न हैं; वह सियासी चालाकियों और पैंतरेबाजियों को नहीं जानते। वह तो एक ऊँचे और सीधे, शरीर और मन दोनों में सीधे, आदमी हैं। वह शोर-गुल और बहुत बकवास से नफ़रत करते हैं। वह हिन्दुस्तान की आज़ादी के ढांचे के अन्दर अपने सीमाप्रान्तीय लोगों के लिए भी आज़ादी चाहते हैं, मगर विधानों और क़ानूनी बातों के बारे में उनका दिमाग़ स्पष्ट नहीं है और न उनमें उन्हें कोई दिलचस्पी ही है। किसी भी चीज़ को पाने के लिए जोरदार काम की ज़रूरत है, और गांधीजी ने ऐसे शान्तिपूर्ण काम का एक बढ़िया तरीक़ा, जो उन्हें जँच गया, बता ही दिया था। इसलिए ज्यादा बहस में न पड़ते हुए, और अपने संगठन के लिए क़ायदों के मसविदे के फेर में न पड़ते हुए, उन्होंने सीधा संगठन करना ही शुरू कर दिया और उसमें उन्हें कामयाबी मिली।

गांधीजी की तरफ उनका रुझान खास तौर पर हो गया। पहले तो, अपने-आपको पीछे ही रखने के लजीलेपन के सबब से, वह उनसे दूर-दूर रहे। बाद में कई मामलों पर बहस करने के लिए उन्हें उनसे मिलना पड़ा, और उनका ताल्लुक बढ़ा। यह ताज्जुब की बात है कि इस पाठन ने अहिंसा को उसूलन हममें से कई लोगों की बनिस्बत ज्यादा कैसे मान लिया? और चूंकि उनका अहिंसा पर पक्का यक़ीन था, इसी कारण वह अपने लोगों को समझा सके कि उभाड़े जाने पर भी शान्ति रखने का बड़ा भारी महत्त्व है। यह कहना तो बिलकुल ग़लत ही होगा कि सीमाप्रान्त के लोगों ने कभी भी या छोटी भी हिंसा करने का विचार पूरी तरह से छोड़ दिया है, जैसा कि किसी भी प्रान्त के लोगों के बारे में आम तौर पर यह कहना बिलकुल ग़लत

होगा। आम जनता तो भावुकता की लहरों में बहा करती है, और जब इस तरह की लहर उठ जाय तब वह क्या करेगी यह पहले से नहीं कहा जा सकता। मगर अपने-आप पर क़ाबू और ज़ब्त रखने की जो मिसाल सीमाप्रान्त के लोगों ने १९३० में और बाद के बरसों में पेश की थी वह कुछ विलक्षण ज़रूर थी।

सरकारी अधिकारी और हमारे कई निहायत डरपोक देशवासी 'सीमा-प्रान्तीय गांधी' को शक की निगाह से देखते हैं। वे उनकी बातों का यक़ीन नहीं करते। उन्हें उनमें कोई छिपा हुआ षड्यन्त्र ही दिखाई देता है। मगर पिछले कुछ बरसों से वह और सीमाप्रान्त के दूसरे साथी हिन्दुस्तान के दूसरे हिस्सों के कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं के बहुत नजदीक आ गये हैं, और इनके बीच में गहरा भाईचारा और परस्पर आदर और क़द्रदानी का भाव पैदा हो गया है। खान अब्दुलग़फ़्फ़ारखाँ को कांग्रेस के लोग कई बरस से जानते और चाहते हैं। मगर वह महज़ एक साथी ही नहीं है, उससे कुछ ज्यादा हैं। दिन-ब-दिन हिन्दुस्तान के बाक़ी हिस्सों में लोग उनको एक बहादुर और निडर लोगों के, जो हमारे सर्व-सामान्य युद्ध में हमारे साथी हैं, साहस और बलिदान का प्रतीक समझने लगे हैं।

खान अब्दुलग़फ़्फ़ारखाँ से जान-पहचान होने के बहुत पहले ही मैं उनके भाई डॉक्टर खानसाहब को जानता हूँ। जब मैं केम्ब्रिज में पढ़ता था, तब वह लन्दन के सेण्टटॉमस अस्पताल में शिक्षा पाते थे, और बाद में जब मैं इनर टेम्पल के क़ानूनी विद्यालय में पढ़ता था तब मेरी-उनकी गहरी दोस्ती हो गई थी। जब मैं लन्दन में रहता था, तो शायद ही कोई ऐसा दिन जाता हो जब हम आपस में न मिलते हों। मैं तो हिन्दुस्तान चला आया, मगर वह इंग्लैण्ड में ही रह गये और महायुद्ध के ज़माने में डॉक्टर की हैसियत से काम करते हुए कई बरसों तक वहीं रहे। इसके बाद मैंने उन्हें नैनी-जेल में देखा।

सीमाप्रान्त के लालकुर्तीवालों ने कांग्रेस के साथ सहयोग तो किया, लेकिन उनका संगठन अपना अलग ही था। यह एक विचित्र स्थिति थी। दोनों को जोड़नेवाली कड़ी तो अब्दुलग़फ़्फ़ारखाँ थे। १९३१ की गर्मियों में इस सवाल पर कार्य-समिति ने सीमाप्रान्त के नेताओं के परामर्श से यह तय किया कि लालकुर्तीवालों को कांग्रेस का ही अंग बना लिया जाय। इस तरह वे कांग्रेस के एक जुज़ बन गये।

गांधीजी की ख़्वाहिश थी कि वह कराची-कांग्रेस के बाद ही फ़ौरन सीमाप्रान्त में जायँ, मगर सरकार ने ऐसा न होने दिया। बाद के महीनों में जब सरकारी अधिकारियों ने लालकुर्ती दल की कार्रवाइयों की शिकायत की, तो उन्होंने ज़ोर दिया कि मुझे वहां इन बातों का ख़ुद पता लगाने के लिए जाने की इजाज़त दी जाय,

मगर उन्हें नहीं जाने दिया गया। न वहां मेरा जाना ही पसन्द किया गया। दिल्ली के समझोते को देखते हुए, हमने यह ठीक नहीं समझा कि हम सरकार की स्पष्ट इच्छा के विरुद्ध सीमा-प्रान्त में चले जायँ।

इन सवालों के अलावा, कार्य-समिति के सामने एक और मसला था, साम्प्रदायिक। यह कोई नई समस्या न थी, हालाँकि बार-बार यह नई और अजीब शकल में सामने आती थी। गोलमेज-कान्फ्रेन्स के सबब से इसे और भी महत्व मिल गया। क्योंकि यह तो ज़ाहिर था कि ब्रिटिश-सरकार इसीको सबसे आगे रक्खेगी, और दूसरी सब समस्याओं को इससे कम महत्व देगी। इस कान्फ्रेन्स के मेम्बर, जो कि सभी सरकार के नामज़द किये हुए थे, खासकर इस तरह पसन्द किये गये थे कि जिससे साम्प्रदायिक और सामुदायिक स्वार्थों को महत्व दिया जा सके, और सामान्य स्वार्थों के बजाय इन भेद-भावो पर ज़ोर दिया जा सके। सरकार ने खास तौर पर, और ज़ोर के साथ, राष्ट्रीय मुसलमानो के किसी भी नेता को नामज़द करने से ही इन्कार कर दिया। गांधीजी ने महसूस किया कि अगर ब्रिटिश-सरकार के कहने से कान्फ्रेन्स बिलकुल शुरू में ही साम्प्रदायिक सवाल में उलझ गई, तो असली राजनैतिक और आर्थिक सवालों पर काफी विचार न हो सकेगा। इस परिस्थिति में उनके लन्दन जाने से कोई फ़ायदा न होगा। इसलिए उन्होंने कार्य-समिति के सामने यह बात पेश की कि लन्दन तभी जाना चाहिए जब कि सब सम्बधित दलों के बीच में साम्प्रदायिक समस्या पर कोई समझौता हो जाय। उनकी यह सहज-बुद्धि बिलकुल ठीक थी, मगर समिति ने यह बात न मानी, और यह फैसला किया कि सिर्फ़ इसी आधार पर, कि हम साम्प्रदायिक समस्या को तय नहीं कर पाये हैं, उन्हें जाने से इन्कार न करना चाहिए। समिति ने विविध सम्प्रदायों के प्रतिनिधियो की सलाह से इस समस्या का हल ढूढने की कोशिश भी की। मगर इसमें ज्यादा कामयाबी न मिली।

१९३१ की गर्मियों में, छोटे-मोटे कई मसलों के अलावा, यही कुछ बड़े प्रश्न हमारे सामने थे। सारे देश की मुकामी कांग्रेस-कमिटियों से हमारे पास बराबर शिकायतें आ रही थी कि मुकामी अफ़सरों ने फलाँ-फलाँ बात में दिल्ली के समझौते को तोड़ दिया है। हमने उनमें से कुछ बड़ी-बड़ी शिकायतें सरकार के पास भी भेज दीं, और उधर सरकार ने भी काँग्रेसवालों के खिलाफ समझौता तोड़ने के आरोप लगाये। इस तरह से एक-दूसरे पर आरोप और प्रत्यारोप लगाये गये, और बाद में वे अखबारों में भी छाप दिये गये। यह कहने की ज़रूरत नहीं है कि इससे भी कांग्रेस और सरकार के ताल्लुक़ात सुधरे नहीं।

फिर भी, इन छोटे-छोटे मामलों के संबध में संघर्ष खुद कोई बड़ा महत्व नहीं

रखता था। इसका महत्व यही था कि इससे एक दूसरे ही अधिक मौलिक संघर्ष के बढ़ने का पता लगता था। यह मौलिक संघर्ष व्यक्तियों पर निर्भर नहीं करता था, मगर वह हमारे राष्ट्रीय संग्राम के स्वरूप के कारण और हमारे ग्रामों की आर्थिक व्यवस्था में असामञ्जस्य होनेके कारण उत्पन्न हुआ था। इस संघर्ष को बिना बुनियादी परिवर्तन किये हटाना या कम करना मुमकिन नहीं था। हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन मूल में इसलिए शुरू हुआ था कि हमारे ऊपरी तह के मध्यम-वर्गो मे अपनी उन्नति और विकास का साधन प्राप्त करने की इच्छा पैदा हुई, और इसकी जड़ मे राजनैतिक और आर्थिक प्रेरणा थी। यह आन्दोलन निचले मध्यम वर्गो में फैल गया, और देश में एक ताक़त बन गया; और फिर उसने देहात की जनता को भी उठाना शुरू किया, जिन्हे आम तौर पर यह भी मुश्किल हो रहा था कि अपना सबसे निचली कोटि का दरिद्रतापूर्ण जीवन भी किसी तरह कायम रख सकें। पुराने जमाने की स्वावलम्बी ग्रामीण व्यवस्था कभी की मिट चुकी थी। सहायक घरेलू धन्धे भी, जो खेती के सहायक थे और जिनमें ज़मीन का बोझ कुछ कम हो जाता था, बर्बाद होगये थे। कुछ तो सरकारी नीति के सबब से, मगर खासकर इस कारण कि वे मशीनो के व्यवसायों का मुकाबिला नही कर सके। ज़मीन का बोझ बढने लगा, और हिंदुस्तान के कारखानो की तरक्की इतनी धीमी हुई कि वह इसमें कुछ फ़र्क न कर सकी। और फिर ये गांव, जो सब तरह से साधन-हीन और तरह-तरह के बोझो से लदे हुए थे, सहसा, संसार के बाज़ारों के मुकाबिले मे डाल दिये गये, और इधर-से-उधर धक्के खाने लगे। बराबरी के नाते से वे विदेशों का मुकाबिला कर नही सकते थे। उनकी उत्पत्ति के ओज़ार पुराने ढग के थे, और ज़मीन के बंटवारे का तरीका उनका ऐसा था जिससे खेत बराबर छोटे-छोटे टुकड़ों मे बंटते जाते थे। कोई भी आमूल सुधार होना नामुमकिन था। इसलिए कृषि करनेवाले वर्ग––ज़मीदार ओर काश्तकार दोनो ही––सिवा उन दिनों के जबकि भाव बहुत ऊँचे हो जाते थे, नीचे ही गिरते गये। ज़मीदारों ने अपने बोझ को काश्तकारो पर उतारने की कोशिश की, और किसानों के, छोटे ज़मीन-मालिकों और काश्तकारों दोनो ही के, मुफ़लिस हो जाने के कारण वे राष्ट्रीय आन्दोलन की तरफ़ खिच आये। खेत-मज़दूर भी, अर्थात् देहातों के ऐसे लोग जिनके पास ज़मीन नही थी ओर जिनकी तादाद बड़ी थी, इस तरफ आकर्षित हुए। इन देहाती वर्गो के लिए तो 'राष्ट्रीयता' या 'स्वराज्य' का मतलब यही था कि ज़मीन के बंटवारे की प्रणाली में मौलिक परिवर्तन किया जाय, जिससे कि उनका बोझ दूर या कम हो जाय ओर भूमिहीन को भूमि मिल जाय। मगर राष्ट्रीय आन्दोलन में पड़े हुए किसानों या मध्यमवर्गीय नेताओं में किसीने भी उनकी इन इच्छाओं को साफ़ तौर पर प्रदर्शित नहीं किया।

१९३० का सविनय भंग-आन्दोलन उद्योग-धन्धों ओर कृषि की बड़ी संसार-व्यापी मन्दी के बिलकुल अनुकूल बैठ गया, और इसका पता पहले तो उसके नेताओं को भी न लगा। इस मन्दी का असर देहाती जनता पर भी बहुत ज्यादा पड़ा था, इसलिए वे भी काँग्रेस और सविनय भंग की तरफ झुक पड़े। उनका यह लक्ष्य नही था कि लन्दन में या दूसरी किसी जगह बैठकर कोई अच्छा-सा विधान तैयार किया जाय, मगर उनका लक्ष्य, खासकर जमीदारी प्रदेश में, यह था कि भूमि-प्रथा में बुनियादी तबदीली की जाय। वास्तव में यह मालूम होने लगा कि जमींदारी तरीका अब इस ज़माने के लिए पुराना पड़ गया है, और उसमें कोई स्थिरता बाक़ी नही रही थी। मगर ब्रिटिश-सरकार, अपनी मोजूदा परिस्थिति मे, इस भूमि-प्रणाली मे कोई बुनियादी तबदीली करने की हिम्मत नही दिखा सकती थी। जब उसने एक शाही कृषि-कमीशन मुक़र्रर किया था, तब भी उसके निर्देशो में जमीन की मिल्कियत और भूमि-प्रणाली के परिवर्त्तन पर विचार करने की मनाई कर दी गई थी।

इस तरह, उस समय, संघर्ष मानो हिन्दुस्तान की परिस्थिति मे ही निहित था, और वह किसी प्रकार के मोहक शब्दों या समझौतो से दूर नही किया जा सकता था। दूसरे आवश्यक राष्ट्रीय प्रश्नो के अलावा ज़मीन के सवाल का बुनियादी हल निकालने से ही यह संघर्ष बच सकता था। यह हल ब्रिटिश-सरकार के मार्फ़त निकले, इसकी कोई संभावना न थी। आरजी इलाजो से बीमारी चाहे थोड़ी देर के लिए कम हो सके, और सख़्त दमन के डर से चाहे लोग उसका इज़हार करना बन्द कर दें, मगर दोनों बातों से सवाल का हल नही निकल सकता था।

मगर, मेरा ख़याल है कि, ज्यादातर सरकारों की तरह ब्रिटिश-सरकार का भी यह विचार है कि हिन्दुस्तान में ज्यादा गड़बड़ 'आन्दोलनकारियों' के कारण है। मगर यह बिलकुल ही वाहियात विचार है। पिछले पन्द्रह बरसों मे हिन्दुस्तान के पास एक ऐसा नेता तो रहा है, जिसे अपने करोड़ों देशवासियों से स्नेह-श्रद्धा ओर पूजा तक प्राप्त है, और जो उससे कई तरह अपनी इच्छा भी मनवा लेता है। उसने उसके वर्तमान इतिहास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण हिस्सा लिया है, मगर फिर भी उससे ज्यादा महत्त्वपूर्ण तो वे आम लोग ही रहे हैं जो उसके आदेशों को मानों आँख बन्द करके मानते रहे हैं। आम लोग ही मुख्य अभिनेता थे, और उनके पीछे, उन्हें आगे धकेलनेवाली, बड़ी-बड़ी ऐतिहासिक प्रेरणायें थी, जिन्होंने लोगों को तैयार कर दिया और अपने नेता की बाँसुरी सुनने को मजबूर कर दिया। उस ऐतिहासिक परिस्थिति, और राजनैतिक और आर्थिक प्रेरणाओं के अभाव में, कोई भी नेता या आन्दोलनकारी उन्हें कोई भी काम करने की स्फूर्ति नही दे सकते थे। गांधीजी में नेतृत्व का यही ख़ास गुण था कि

वह अपनी सहज-बुद्धि से आम लोगों की नब्ज़ पहचान सकते थे, और जान लेते थे कि किस प्रगति और कार्य के लिए कब परिस्थिति ठीक अनुकूल है।

१९३० में हिन्दुस्तान का राष्ट्रीय आन्दोलन कुछ वक्त के लिए देश की बढ़ती हुई सामाजिक शक्तियों के बिलकुल अनुकूल बैठ गया, जिससे उसे बड़ी ताक़त मिल गई। उसमें वास्तविकता मालूम होने लगी, और ऐसा लगने लगा कि मानों वह सचमुच इतिहास के साथ कदम-ब-कदम आगे बढ़ रहा है। काँग्रेस उस राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रतिनिधि थी, और उसकी प्रतिष्ठा-वृद्धि से मालूम होता था कि उसकी शक्ति और सत्ता बढ़ रही है। यह कुछ-कुछ अस्पष्ट, कुछ बे-अन्दाज़, कुछ अनिर्वचनीय-सा तो था, किन्तु फिर भी बहुत-कुछ मौजूद तो था ही। निःसन्देह किसान लोग कांग्रेस की तरफ़ झुके, और उन्होंने ही उसकी असली शक्ति बनाई। निचले मध्यम-वर्ग ने उसे सबसे मज़बूत सैनिक दिये। ऊपरी मध्यम-वर्ग ने भी, इस वातावरण से घबराकर, कांग्रेस से दोस्ती बनाये रखने में ही ज्यादा भलाई देखी। ज्यादातर सूती मिलों ने काँग्रेस के बनाये इकरारनामों पर दस्तखत कर दिये, और वे ऐसे काम करने से डरने लगीं जिनसे कांग्रेस उनपर नाराज़ हो जाय। जब कुछ लोग लन्दन में बैठे पहली गोलमेज़-कान्फ्रेंस में अच्छे-अच्छे कानूनी मुद्दों पर बातचीत कर रहे थे, उस वक्त मालूम हो रहा था कि आम लोगों के प्रतिनिधि की हैसियत से काँग्रेस के पास ही धीरे-धीरे और अनजान में असली ताक़त जा रही है। दिल्ली के समझौते के बाद भी यह भ्रम बढ़ता ही रहा, किन्ही अभिमान-भरे भाषणो के कारण नही, बल्कि १९३० और बाद की घटनाओं के कारण। इसमें शक नही कि शायद कांग्रेस के नेताओं को ही सबसे ज्यादा यह पता था कि सामने क्या-क्या कठिनाइयां और खतरे आनेवाले है, और इसलिए उनको मामूली न समझने की उन्होंने पूरी फ़िक्र रक्खी।

देश में दो संस्थाओं के पास सत्ता होने की यह अस्पष्ट भावना कुदरती तौर पर सरकार को बहुत ही चुभनेवाली थी। असल में, इस धारणा के लिए कोई असली बुनियाद तो थी नही, क्योंकि दृश्य-सत्ता तो सोलहों आना सरकारी अधिकारियों के हाथ में ही थी; फिर भी, लोगों के दिमागों में उसका अस्तित्व था, इसमें तो शक नहीं। सत्तावादी और अ-परिवर्तनीय शासन-तन्त्र के लिए तो यह स्थिति चलने देना असम्भव था, और इसी विचित्र वातावरण से अधिकारी बेचैन हो गये, न कि गाँवों के कुछ ऐसे-वैसे भाषणों या जुलूसों से, जिनकी कि उन्होंने बाद में शिकायत की। इसलिए संघर्ष होना अनिवार्य ही दीखने लगा। कांग्रेस अपनी खुशी से खुदकुशी नहीं कर सकती थी, और सरकार भी इस द्वैध-सत्ता के वातावरण को बरदाश्त नहीं कर सकती थी, और कांग्रेस को कुचल डालने को तुली हुई थी। यह संघर्ष दूसरी

गोलमेज़-कान्फ्रेन्स के सबब से रुका रहा। किसी-न-किसी कारण से, ब्रिटिश-सरकार गांधीजी को लन्दन बुलाने को बहुत उत्सुक थी, और इसीसे जहाँतक हो सके कोई भी ऐसा काम नहीं करती थी जिससे उनका लन्दन जाना रुक जाय।

इसके बावजूद संघर्ष की भावना बढ़ती ही गई, और हमें दीखने लगा कि सरकार का रुख सख्त हो रहा है। दिल्ली के समझौते के बाद ही लार्ड अर्विन हिन्दुस्तान से चले गये और लॉर्ड विलिंगडन उनकी जगह वाइसराय बनकर आये। यह खबर फैलने लगी कि नया वाइसराय बड़ा सख्त और करारा आदमी है, और पिछले वाइसराय की तरह समझौते करनेवाला नहीं है। हमारे कई राजनैतिक पुरुषों में, राजनीति के उसूलों की निगाह से न देखकर व्यक्तियों की निगाह से देखने की, लिबरलों की तरह, आदत हो गई है। वे यह नहीं समझते कि ब्रिटिश-सरकार की सामान्य साम्राज्य-वादी नीति वाइसरायों की व्यक्तिगत रायों पर निर्भर नहीं रहती। इसलिए वाइसरायों के बदल जाने से कोई फ़र्क नहीं पड़ा, न पड़ सकता था। मगर, असल में यह हुआ कि परिस्थिति की गति-विधि के कारण सरकार की नीति भी धीरे-धीरे बदलती गई। सिविल-सर्विस के उच्च अधिकारियों को कांग्रेस के साथ समझौते या व्यवहार करने की बात पसन्द नहीं थी। शासन के संबंध में उनकी सारी तालीम और सत्तावादी धारणायें इसके ख़िलाफ थी। उनके दिमाग़ में यह ख़याल था कि उन्होंने गांधीजी के साथ बिलकुल बराबरी का-सा बर्ताव करके काँग्रेस के प्रभाव और गाँधीजी के रुतबे को बढ़ा दिया है, और अब यह वक्त है कि जब उनको थोड़ा-सा नीचा गिराया जाय। यह खयाल बड़ी बेवकूफ़ी का था; मगर, हिन्दुस्तान की सिविल-सर्विस में विचारों की मौलिकता तो कभी मानी ही नहीं गई है। खैर, कुछ भी कारण हो, सरकार सख्ती से तन गई और उसने अपना पंजा और भी मज़बूती से जमाया, और पुराने पैग़म्बर के शब्दों में मानों उसने हमसे कहा कि 'मेरी छोटी अंगुली भी मेरे बाप की कमर से मोटी है; जबकि उसने तुम्हें कोड़ों से तोबा कराई, तो मैं तुम्हें बिच्छू के डंकों से कराऊँगा।'

मगर अभी तोबा करने का वक्त नहीं आया था। अभी तो यही ज़रूरी समझा गया, कि अगर मुमकिन हो तो काँग्रेस का प्रतिनिधि दूसरी गोलमेज़-कान्फ्रेन्स में ज़रूर जाय। वाइसराय और दूसरे अधिकारियों से लम्बी-लम्बी बातचीत करने के लिए गाँधीजी दो बार शिमला गये। उन्होंने उस समय उपस्थित कई सवालों पर बातचीत की, और बंगाल के अलावा, जो सरकार को सबसे ज्यादा चिन्तित कर रहा मालूम पड़ता था, ख़ासकर सीमा-प्रान्त के लालकुर्ती-दल-आन्दोलन और युक्त-प्रान्त के किसानों की स्थिति इन दो विषयों पर बातचीत हुई।

शिमला में गांधीजी ने मुझे भी बुलवा लिया था, और मुझे भारत-सरकार के कुछ अधिकारियों से मिलने के भी मौक़े मिले। मैं सिर्फ़ युक्तप्रान्त के बारे में ही बातचीत करता था। बड़ी साफ़-साफ़ बातें हुई, और छोटे-छोटे आरोपों और प्रत्यारोपों की तह में जो असली संघर्ष की बातें छिपी हुई थी उनपर भी बहस हुई। मुझे याद है कि मुझसे कहा गया, फ़रवरी १९३१ में ही सरकार की ऐसी स्थिति थी कि वह ज्यादा-से-ज्यादा तीन महीने के अन्दर सविनय-भंग के आन्दोलन को दबा सकती थी। उसने अपना सारा यन्त्र तैयार कर लिया था, और सिर्फ़ उसे चला भर देने की ज़रूरत थी, सिर्फ़ बटन दबा देने की आवश्यकता थी। मगर उसने यह सोचकर कि, अगर हो सके तो, बल-प्रयोग के बजाय आपस में मिलकर समझौता कर लेना अच्छा होगा, आपसी बातचीत करके देखना तय किया था, और इसीका नतीजा था कि दिल्ली का समझौता हो गया। अगर समझौता न हुआ होता, तो बटन तो मौजूद था ही, और एक पल-भर में दबाया जा सकता था। और इसमें यह भी इशारा मालूम होता था, कि अगर हमने ठीक बर्ताव न किया तो फिर जल्दी ही बटन दबा देना पड़ेगा। यह सारी बात बड़ी आजिज़ी से और साफ़-साफ़ कही गई थी, और हम दोनों ही जानते थे कि हमारे बावजूद, और चाहे हम कुछ भी कहें या करें, संघर्ष होना तो लाजिमी था।

एक दूसरे ऊँचे अधिकारी ने कॉंग्रेस की तारीफ भी की। उस वक्त हम ज्यादा व्यापक गैर-राजनैतिक ढग की समस्याओ पर विचार कर रहे थे। उसने मुझसे कहा कि, राजनीति के सवाल को छोड दें तो भी, कॉंग्रेस ने हिन्दुस्तान की बड़ी भारी ख़िदमत की है। हिन्दुस्तानियों के खिलाफ आम तौर पर यह इलज़ाम लगाया जाता है कि वे अच्छे सगठन-कर्ता नही है, मगर १९३० में कॉंग्रेस ने, भारी कठिनाइयों और विरोध के होते हुए भी, एक आश्चर्यजनक संगठन कर दिखाया था।

जहांतक गोलमेज़-कान्फ्रेन्स मे जाने का सवाल था, गांधीजी की पहली शिमला-यात्रा का कोई नतीज़ा न निकला। दूसरी यात्रा अगस्त के आखिरी हफ्ते में हुई। जाने या न जाने का आखिरी फ़ैसला तो करना ही था, मगर फिर भी उन्हें हिन्दुस्तान छोड़ने का निश्चय करना मुश्किल हो गया। बंगाल में, सीमाप्रान्त में और युक्तप्रान्त में उन्हें मुसीबत आती हुई दीख रही थी, और जबतक उन्हें हिन्दुस्तान में शान्ति रहने का आश्वासन न मिल जाय, वह जाना नही चाहते थे। अन्त में एक तरह का समझौता सरकार के साथ हो गया, जो एक वक्तव्य और परस्पर के पत्र-व्यवहार के रूप में था। यह बिलकुल ही आखिरी घड़ी किया गया, ताकि वह उस जहाज़ से जा सकें जिसमें गोलमेज़-कान्फ़ेन्स के प्रतिनिधि जा रहे थे। वास्तव में, यह एक तरह बिलकुल ही

आख़िरी घड़ी में हुआ था, क्योंकि आखिरी ट्रेन छूट चुकी थी। शिमला से कालका तक एक स्पेशल ट्रेन तैयार कराई गई, और कालका से छूटनेवाली गाड़ी पकड़ने के लिए दूसरी गाड़ियाँ रोक दी गई।

मैं उनके साथ शिमला से बम्बई तक गया। और वहाँ अगस्त के एक सुन्दर प्रभात में मैंने उन्हें बिदाई दी, और वह अरबी समुद्र और सुदूर पश्चिम की तरफ बढ़ चले। बस, अगले दो साल तक के लिए मुझे यही उनका अन्तिम दर्शन था।

# ३८

## गोलमेज़-कान्फ्रेन्स

एक अंग्रेज़ अखबारनवीस ने हाल ही में एक किताब लिखी है, और उसका दावा है कि उसने गांधीजी को हिन्दुस्तान में और लन्दन मे गोलमेज़-कान्फ्रेन्स में बहुत काफ़ी देखा है। अपनी किताब में उसने लिखा है:—

"मुलतान नाम के जहाज़ में जो लीडर बैठे हुए थे वे यह जानते थे कि गांधीजी के खिलाफ़ कार्य-समिति के भीतर एक साजिश की गई है और वे यह भी जानते थे कि वक़्त आते ही कांग्रेस उन्हें निकाल फेंकेगी। लेकिन कांग्रेस गांधीजी को निकालकर ग़ालिबन अपने आधे के करीब मेम्बरों को निकाल देगी। इन आधे मेम्बरों को सर तेजबहादुर सप्रू और जयकर लिबरल-पार्टी में मिला लेना चाहते थे। वे इस बात को कभी नही छिपाते थे। उन्हींके लफ्ज़ों में गांधीजी का दिमाग़ साफ़ नहीं है, लेकिन अगर कोई मट्ठे दिमाग़वाला नेता अपने साथ दस लाख मट्ठे दिमाग़वाले अनुयायी आपको दे तो उसको अपनी तरफ़ करना अच्छा ही है।"[१]

मुझे पता नहीं कि इस उद्धरण में जो बातें कही गई हैं वे सर तेजबहादुर सप्रू और जयकर या गोलमेज़-कान्फ्रेन्स के दूसरे मेम्बरों के विचारों को, जो सन् १९३१

१. ग्लर्नें बोल्टन की The Tragedy of Gandhi नामक पुस्तक का यह उद्धरण मैंने उस किताब की एक आलोचना से लिया है, क्योंकि खुद किताब को पढ़ने का मौक़ा अभीतक नहीं मिल पाया है। मुझे उम्मीद है कि मैं ऐसा करके किताब के लेखक या जिन शख्सों का नाम उसमें आया है उनके साथ कोई ज्यादती नहीं कर रहा हूँ।

इतना लिखने के बाद मैंने किताब भी पढ़ ली। मि० बोल्टन के बहुत-से बयान और उन्होंने जो नतीजे निकाले हैं वे मेरे विचार में बिलकुल बेबुनियाद हैं। इसके अलावा कई वाक़यात भी ग़लत दिये गये हैं। खासकर कार्य-समिति ने दिल्ली-पैक्ट की बातचीत के दौरान में और उसके बाद क्या किया और क्या नहीं किया इस विषयक वाक़यात। उन्होंने एक अजीब बात यह भी मान ली है कि १९३१ में सरदार वल्लभभाई पटेल को कांग्रेस की सदारत और उसके जरिये से उसकी रहनुमाई गांधीजी की प्रतिस्पर्धा में मिली, जबकि सच बात यह है कि पिछले पन्द्रह बरसों में कांग्रेस में और निस्सन्देह देश में भी गांधीजी की हस्ती कांग्रेस के किसी भी सदर से कहीं ज्यादा बड़ी हस्ती रही है। वह सभापति बनानेवाले रहे हैं और उनकी बात हमेशा लोगों ने मानी है। उन्होंने खुद बार-बार सदर होने से इन्कार किया और यह पसन्द किया कि उनके

में लन्दन जा रहे थे, कहांतक प्रकट करती है। लेकिन मुझे यह बात जरूर आश्चर्य-जनक मालूम होती है कि हिन्दुस्तान की राजनीति से थोड़ी-सी भी जानकारी रखनेवाला कोई शख्स, फिर चाहे वह अखबारनवीस हो या नेता, इस तरह की बात कह सकता है! मैं तो उसे पढ़कर दंग रह गया, क्योंकि इससे पहले मैंने किसीको इशारे में भी इस तरह की बात कहते हुए नहीं सुना। लेकिन इसमें ऐसो कोई बात नहीं है जो समझ में न आये, क्योंकि तभीसे मैं ज्यादातर जेल में ही रहा हूँ।

---

कुछ साथी और लेफ्टिनेन्ट सदारत करें। मैं तो कांग्रेस का सदर महज़ उन्हींकी बदौलत हुआ। वास्तव में वह चुन लिये गये थे, लेकिन उन्होंने अपना नाम वापस लेकर जबरदस्ती मुझे चुनवाया। वल्लभभाई का चुनाव भी मामूली तरीके से नहीं हुआ। हम लोग अभी-अभी जेल से निकले थे। अभीतक कांग्रेस-कमिटियाँ गैर-क़ानूनी जमातें थीं। वे मामूली तरीकों पर काम नहीं कर सकती थीं। इसलिए कराची-कांग्रेस के लिए सभापति चुनने का काम कार्य-समिति ने अपने ऊपर ले लिया। वल्लभभाई समेत तमाम कमिटी ने गांधीजी से अर्ज की कि वह सदारत मंजूर कर लें और इस तरह जहाँ वह कांग्रेस के असली प्रधान हैं वहाँ पद के द्वारा भी प्रधान हो जायँ—खासकर आगामी नाजुक साल के लिए। लेकिन वह राजी नहीं हुए और इस बात पर ज़ोर देते रहे कि वल्लभभाई का सदारत मंजूर कर लेनी चाहिए। मुझे याद है कि उस वक्त उनसे यह कहा गया था कि आप हमेशा मुसोलिनी रहना चाहते हैं और दूसरों को, थोड़े वक्त के लिए, बादशाह यानी बराय-नाम अधिकारी बना देते हैं।

एक छोटे-से फुटनोट में मिस्टर बोल्टन की दूसरी भी बहुत-सी वाहियात बातों का जवाब देना मुमकिन नहीं है, लेकिन एक मामले की बाबत, जो कुछ-कुछ ज़ाती-सा है, मैं ज़रूर कुछ कहना पसंद करूंगा। उनको इस बात का इत्मीनान-सा हो गया मालूम होता है कि मेरे पिताजी के राजनैतिक जीवन को पलट देनेवाली बात एक यूरोपियन क्लब में उनका मेम्बर न चुना जाना ही है, और एक इसी बात से न सिर्फ वह उग्र तरीकों के ही हामी हो गये बल्कि अंग्रेज़ों की सोसायटी से भी वह दूर रहने लगे। यह कहानी जो अक्सर बार-बार दुहराई गई है, क़तई ग़लत है। असली वाक़यात की कोई ख़ास अहमियत नहीं, लेकिन उस रहस्य को दूर करने के लिए मैं उन्हें यहाँ दिये देता हूँ। वकालत के शुरू दिनों में पिताजी को सर जान एज़ बहुत चाहते थे। वह उन दिनों इलाहाबाद-हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस थे। सर जान ने पिताजी से कहा कि आप इलाहाबाद की यूरोपियन क्लब में शामिल हो जायँ। उन्होंने कहा, मैं खुद मेम्बरी के लिए आपके नाम का प्रस्ताव करूँगा। पिताजी ने उनकी इस मेहरबानी के लिए उनका शुक्रिया अदा किया, लेकिन साथ में यह भी कहा कि इसमें बखेड़ा ज़रूर खड़ा होगा, क्योंकि बहुत-से

ये साजिश करनेवाले शख़्स कौन हैं और इनका मक़सद क्या है ? कभी-कभी यह कहा जाता था कि मैं और कांग्रेस के सभापति सरदार वल्लभभाई पटेल कार्य-समिति के मेम्बरों में सबसे ज्यादा गरम स्वभाव के हैं, और मेरा खयाल है, इसलिए, साजिश के नेताओं में हम लोगों की भी गिनती होगी। लेकिन शायद गांधीजी का वल्लभभाई से ज्यादा सच्चा भक्त हिन्दुस्तान-भर में दूसरा कोई न होगा। अपने काम में वह कितने ही कड़े और मजबूत क्यों न हों, लेकिन गांधीजी के आदर्शों, उनकी नीति और उनके व्यक्तित्व के प्रति उनकी बड़ी भक्ति है। मैं ज़रूर इस बात का दावा नहीं कर सकता कि मैंने भी उसी तरह से इन आदर्शों को माना है, लेकिन मुझे बहुत नज़दीक रहकर गांधीजी के साथ काम करने का सौभाग्य मिला है। मेरे लिए उनके खिलाफ़ साजिश करने का ख़याल ही राक्षसी है। सच बात तो यह है कि कार्य-समिति के सभी मेम्बरों के बारे में यही बात सही है। वह कमिटी वस्तुतः गांधीजी की बनाई हुई थी। अपने कुछ साथियों के सलाह-मशवरे से उन्होंने इस कमिटी को नामज़द किया था। उसके चुनाव की तो सिर्फ रस्म पूरी की गई थी। कमिटी के ज्यादातर मेम्बर तो उसके स्तम्भ-रूप थे—ऐसे जो उसमें सालों से रह चुके थे और क़रीब-क़रीब उसके हमेशा मेम्बर खयाल किये जाते थे। उनमें राजनैतिक मतभेद था, लेकिन वह स्वभाव व दृष्टि-

---

अंग्रेज़ मेरे हिन्दुस्तानी होने की वजह से ऐतराज करेंगे और मुमकिन है कि मेरे खिलाफ़ वोट दें। कोई भी मामूली अफसर इस तरह मेरा नाम रद्द करा सकेगा, और ऐसी हालत में मैं चुनाव के झगड़े में पड़ना पसन्द नहीं करूँगा। इसपर सर जान ने यह भी कहा कि मैं इलाहाबाद रक़बे की फौज के कमाण्डर ब्रिगेडियर जनरल से आपके नाम की ताईद करा दूँगा। लेकिन अखीर में यह ख़याल छोड़ दिया गया। मेरे पिताजी का नाम क्लब में नहीं पेश किया गया, क्योंकि उन्होंने यह बात साफ कर दी कि मैं बेइज्ज़ती का ख़तरा मोल लेने के लिए तैयार नहीं हूं। इस घटना की बदौलत वह अंग्रेज़ों के खिलाफ़ होने के बजाय सर जान एज़ के एहसानमन्द बन गये और उसके बाद के सालों में ही बहुत-से अंग्रेजों से उनकी दोस्ती तथा मेल-मुहब्बत पैदा हुई। और यह सब तो हुआ १८९० से लेकर १८९९ के दर्म्यान, और पिताजी इसके कोई २५ वर्ष बाद उग्र राजनैतिक और असहयोगी बने। उनकी यह तब्दीली एकाएक नहीं हुई, लेकिन पंजाब के जंगी क़ानून ने इस विधि को पूरा कर दिया। और ऐन मौके पर पड़े गांधीजी के असर ने तो हालतें बहुत ही बदल दी। इतने पर भी अंग्रेज़ों से मिलना-जुलना छोड़ने का, उनसे सब ताल्लुक़ात छोड़ने का, उनका कोई इरादा नहीं था। लेकिन जहां ज्यादातर अंग्रेज़ अफसर हों वहाँ असहयोग और सविनय-भंग के कारण मिलना-जुलना लाज़िमी तौर पर बन्द हो जाता है।

कोण का मतभेद था। सालों तक एकसाथ और कन्धे-से-कन्धा मिलाकर काम करते-करते तथा एकसे ख़तरों का सामना करते हुए वे एक-दूसरे से हिल-मिल गये थे। उनमें आपस में दोस्ती, भाईचारा और एक-दूसरे के लिए आदर पैदा हो गया था। वे 'संयुक्त-मण्डल' न होकर एक इकाई, एक शरीर थे, और उनमेंसे किसी की बाबत यह सोचा तक नहीं जा सकता कि वह दूसरों के खिलाफ़ साजिश करेगा। कमिटी में गाँधीजी की चलती थी और सब लोग रहनुमाई के लिए उन्हीकी तरफ देखते थे। कई सालों से यही होता आ रहा था और सन् १९३० में हमारी लड़ाई को जो बड़ी कामयाबी मिली थी उसके बाद सन् १९३१ में तो यह बात और भी ज्यादा बढ़ गई थी। कार्य-समिति के गरम ख़याल के मेम्बरों को उन्हें निकालने की कोशिश करने में क्या मक़सद हो सकता था? शायद यह सोचा जाता है कि उन्हें जल्दी समझौता करने के लिए राज़ी हो जानेवाला और, इसलिए, एक क़िस्म का बोझा समझा जाता हो। लेकिन उनके बिना लड़ाई का क्या होता? असहयोग और सत्याग्रह का क्या होता? वह तो इस जीवित-आन्दोलन के अंग थे। बल्कि, सच बात तो यह है कि, वह खुद ही आन्दोलन थे। जहाँतक उस लड़ाई से ताल्लुक है, सब-कुछ उन्हींपर मुनहसिर था। बिलाशक क़ोमी लड़ाई उनकी पैदा की हुई नहीं थी, न वह किसी शख़्स पर मुनहसिर थी। उसकी जड़ें इससे ज्यादा गहरी थीं। लेकिन लड़ाई का वह ख़ास पहलू, जिसकी निशानी सविनय भंग थी, खास तौर पर उन्हींपर अवलम्बित था। उनसे अलग होने के मानी थे, इस आन्दोलन को बंद करना और नई नींव पर नये सिरे से इमारत खड़ी करना। यह काम किसी भी वक़्त काफ़ी मुश्किल साबित होता; लेकिन १९३१ में तो कोई उसका खयाल भी नहीं कर सकता था।

यह ख़याल बड़ा ही मज़ेदार है कि कुछ लोगों की राय में हम कुछ लोग १९३१ में गांधीजी को काँग्रेस से निकालने की कोशिश कर रहे थे। जब उनको ज़रा-सा इशारा करने से ही काम चल सकता था, तो फिर हमें उनके खिलाफ़ साज़िश करने की क्या ज़रूरत थी? ज्योंही गाँधीजी कभी ऐसी बात कहते कि मैं काँग्रेस से अलग होना चाहता हूँ त्योंही तमाम कार्य-समिति और तमाम मुल्क में तहलका मच जाता था। वह हमारी लड़ाई के एक ऐसे अंग बन गये थे कि हम इस ख़याल को भी बरदाश्त नहीं कर सकते थे कि वह हमसे अलग हो जायँ। हम लोग तो उन्हें लन्दन भेजने से हिचकिचाते थे, क्योंकि उनकी ग़ैरहाज़िरी में हिन्दुस्तान के काम का तमाम बोझ हमारे ऊपर आकर पड़ता था, ओर यह बात ऐसी न थी जिसको हम पसन्द करते। हम लोग उनके कन्धों पर तमाम बोझ डाल देने के आदी हो गये थे। कार्य-समिति के मेम्बरों को ही नहीं, उससे बाहर के बहुत-से लोगों को भी जो बन्धन गांधीजी से

बाँधे हुए थे, वे ऐसे थे कि उनसे अलग होकर थोड़े वक्त के लिए कुछ फायदा उठाने के बजाय वे उनके साथ रहकर नाकामयाब होना ज्यादा पसन्द करते थे।

गांधीजी का दिमाग़ साफ़ है या नहीं, इसका फैसला तो हम अपने लिबरल दोस्तों के लिए ही छोड़े देते हैं। हाँ, यह बात बिलकुल सच है कि कभी-कभी उनकी राजनीति बहुत आध्यात्मिक होती है, जो मुश्किल से समझ में आती है। लेकिन उन्होंने यह दिखा दिया है कि वह कर्मवीर हैं, उनमें आश्चर्यजनक साहस है और वह एक ऐसे शख़्स हैं जो अक्सर अपनी जिम्मेदारी को पूरा करके दिखा सकते हैं। और अगर 'दिमाग़ के साफ़ न होने' से इतने अमली नतीजे निकलते हैं, तो शायद वह उस अमली राजनीति के मुक़ाबिले में बुरा साबित न होगा, जिसकी शुरुआत और जिसका ख़ात्मा पुस्तकें पढ़ने और चुने हुए हलकों में ही हो जाता है। यह सच है कि उनके करोड़ों अनुयायियों का दिमाग़ साफ़ नही था। वे राजनीति और शासन-विधानों की बाबत कुछ नहीं जानते। वे तो सिर्फ़ अपनी इनसानी ज़रूरतों—खाना, घर, कपड़ा और ज़मीन—की बातें ही सोच सकते हैं।

मुझे यह बात हमेशा ही अचम्भे की मालूम हुई है कि इनसानी कुदरत को देखने की विद्या को भलीभांति सीखे हुए नामी विलायती अख़बारनवीस किस तरह हिन्दुस्तान के मामलों में ग़लती खा जाते हैं! क्या यह उनके बचपन की उस अमिट धारणा की वजह से है, कि पूर्व तो क़तई दूसरी चीज़ है और उसको आप मामूली पैमानों से नही नाप सकते? या, अंग्रेज़ों के लिए, यह साम्राज्य का वह पीलिया रोग है, जो उनकी आँखों को ख़राब कर देता है? कोई चीज कैसी भी अनहोनी क्यों न हो, उसपर वे क़रीब-क़रीब फ़ौरन ही इत्मीनान कर लेंगे, बिना किसी तरह का अचम्भा किये, क्योंकि वे समझते हैं कि रहस्य-भरे पूर्व में हर बात मुमकिन हो सकती है। कभी-कभी वे ऐसी किताबें छापते हैं, जिनमें काफ़ी योग्यतापूर्ण निरीक्षण होता है और तीव्र अवलोकन-शक्ति के नमूने भी, लेकिन बीच-बीच में विलक्षण ग़लतियाँ भी होती हैं।

मुझे याद है कि जब गांधीजी १९३१ में योरप रवाना हुए तब, उसके बाद फ़ौरन ही, मैंने पैरिस के एक मशहूर संवाददाता का एक मज़मून पढ़ा। उन दिनों वह लन्दन के एक अखबार का संवाददाता था और वह लेख हिन्दुस्तान के बारे में था। उस लेख में एक ऐसी घटना का ज़िक्र था जो उसके कहने के मुताबिक १९२१ में उस वक़्त हुई जब असहयोग के दौरान में प्रिंस ऑफ़ वेल्स ने दौरा किया था। उस लेख में कहा गया था कि किसी जगह (ग़ालिबन वह देहली थी) महात्मा गांधी यकायक नाटकीय ढंग से, बिना इत्तिला किये हुए, युवराज के सामने प्रकट हो गये और उन्होंने

अपने घुटने टेककर युवराज के पैर पकड़ लिये तथा ढाड़ मार-मारकर रोते हुए उनसे विनती की, कि इस अभागे देश को शान्ति दीजिए। हम किसीने, गांधीजीने भी, यह मज़ेदार कहानी कभी नहीं सुनी। इसलिए मैंने ख़त लिखकर उस अख़बारनवीस को यह बात बताई। उसने अपना अफ़सोस ज़ाहिर किया, लेकिन साथ में यह भी लिखा कि मैंने यह कहानी बड़े विश्वस्त-सूत्र से सुनी थी। जिस बात पर मुझे आश्चर्य हुआ वह यह थी कि उसने बिना किसी तरह की जाँच की कोशिश किये एक ऐसी कहानी पर त्मीनान कर लिया जो ज़ाहिर तौर पर बिलकुल ग़ैर-मुमकिन थी और जिसका कोई भी शख़्स, जो गांधीजी, कॉंग्रेस या हिन्दुस्तान के बारे में कुछ भी जानता था, इत्मीनान नही कर सकता था। बदक़िस्मती से यह बात सही है कि हिन्दुस्तान में बहुत-से ऐसे अंग्रेज़ हैं जो यहाँ बहुत दिनों तक रहने के बाद भी कॉंग्रेस या गांधीजी या मुल्क की बाबत कुछ नहीं जानते। कहानी क़तई इत्मीनान के क़ाबिल नहीं थी। वह बिलकुल बेहूदा थी। ऐसी बेहूदा जैसी यह कहानी होती कि केण्टरबरी के बड़े पादरी साहब यकायक मुसोलिनी के सामने प्रकट हो गये और सिर के बल खड़े होकर, हवा में अपने पैर हिलाकर, उनको सलाम करने लगे।

हालही में एक अखबार में जो रिपोर्ट छपी है उसमें एक दूसरी किस्म की कहानी दी हुई है। उसमें कहा गया है कि गांधीजी के पास अपार दौलत है, जो कई करोड़ होगी। वह उनके दोस्तों के पास छिपी रक्खी है। कॉंग्रेस उस रुपये को हड़पना चाहती है। कॉंग्रेस को डर है कि अगर गांधीजी कॉंग्रेस से अलहदा हो जायँगे तो वह दौलत उसके हाथ से निकल जायगी। यह कहानी सरासर बेहूदा है; क्योंकि गांधीजी कभी किसी फण्ड को न अपने पास रखते हैं और न छिपाकर रखते हैं। जो कुछ रुपया वह इकट्ठा करते हैं, उसे सार्वजनिक संस्थाओं को दे देते हैं। ठीक-ठीक हिसाब रखने के मामले में उनमें बनियों की-सी सहज-बुद्धि है, और उन्होंने जितने चन्दे किये उनको खुलेआम आडिट कराया गया है।

कॉंग्रेस ने सन् १९२१ में एक करोड़ का जो मशहूर चन्दा किया था यह अफ़वाह ग़ालिबन उसीकी कहानी पर हसर रखती है। यह रक़म वैसे तो बहुत बड़ी मालूम होती है, लेकिन अगर हिन्दुस्तान-भर पर फैलाई जाय तो ज्यादा नहीं मालूम होगी। इस रक़म को इस्तैमाल भी विद्यापीठ और स्कूल क़ायम करने, घरेलू धन्धों को तरक्क़ी देने और ख़ास तौर पर खद्दर की तरक्क़ी के लिए, अछूतोद्धार के कार्यों में तथा ऐसे ही दूसरी क़िस्मों के रचनात्मक कार्यों में किया गया था। उसमें से काफ़ी तादाद खास-ख़ास स्कीमों के लिए अंकित कर दी गई थी। फण्ड अबतक मौजूद हैं और जिन खास कार्यों के लिए वे अंकित किये थे उन्हींमें लगाये जा रहे

हैं। बाक़ी जो रुपया इकट्ठा हुआ था, वह मुक़ामी कमिटियों के पास छोड़ दिया गया था और वह कांग्रेस के संगठन के काम में तथा राजनैतिक कामों में ख़र्च किया गया। असहयोग-आन्दोलन का काम इसी फण्ड से चला था, और कुछ साल बाद तक कांग्रेस का काम उसीसे चलता रहा। गांधीजी ने और मुल्क की ग़रीबी ने हमें यह सिखा दिया है कि बहुत थोड़े-से रुपयों से भी अपना राजनैतिक आन्दोलन कैसे चलाना चाहिए। हमारा ज्यादातर काम तो लोगों ने अपनी खुशी से बिना कुछ लिये ही किया है। और जिस किसीको कुछ देना भी पड़ा है, तो सिर्फ़ उतना ही जितना पेट भरने को काफ़ी हो। हमारे अच्छे-से-अच्छे ऐसे कार्यकर्ताओं को, जो विश्वविद्यालयों के ग्रेजुएट हैं और जिन्हें अपने परिवार का पालन करना पड़ता है, जो तनख्वाहें दी गई वे उस भत्ते से भी कम हैं जो इंग्लैण्ड में बेकारों को दिया जाता है। पिछले पन्द्रह सालों के दौरान में कांग्रेस का आन्दोलन जितने कम रुपये से चला है, उतने कम रुपये से बड़े पैमाने पर और कोई राजनैतिक या मजदूरों का आन्दोलन, मुझे शक है, किसी भी मुल्क में शायद ही चलाया गया हो। और कांग्रेस के तमाम फण्ड और उसका तमाम हिसाब खुलेआम हर साल आडिट होते रहे, उनका कोई हिस्सा गुप्त नहीं है। हाँ, उन दिनों की बात बिलकुल दूसरी है जब सत्याग्रह की लड़ाई चल रही थी और कांग्रेस ग़ैर-क़ानूनी जमात थी।

गांधीजी गोलमेज-कान्फ्रेंस में शामिल होने के लिए कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि की हैसियत से लन्दन गये थे। बड़ी लम्बी बहस के बाद हम लोगों ने यही तय किया था कि किसी दूसरे प्रतिनिधि की जरूरत नहीं। यह बात कुछ हद तक तो इसलिए की गई, कि हम यह चाहते थे कि हम ऐसे नाजुक वक्त में अपने सब अच्छे आदमियों को हिन्दुस्तान में ही रक्खें। उन दिनों हालत को बहुत होशियारी के साथ सम्हालते रहने की सख़्त ज़रूरत थी। हम लोग यह महसूस करते थे कि लन्दन में गोलमेज़-कान्फ्रेंस होने के बावजूद आकर्षण का केन्द्र तो हिन्दुस्तान में ही था और हिन्दुस्तान में जो कुछ होगा लन्दन में उसकी प्रतिध्वनि ज़रूर होगी। हम चाहते थे कि अगर मुल्क में कोई गड़बड़ हो तो हम उसे देखें और अपने संगठन को ठीक हालत में बनाये रक्खें। लेकिन सिर्फ़ एक प्रतिनिधि भेजने का हमारा असली कारण यही न था। अगर हम वैसा करना ज़रूरी और मुनासिब समझते तो हम बिलाशक दूसरे को भी भेज सकते थे, लेकिन हम लोगों ने जान-बूझकर ऐसा नहीं किया।

हम गोलमेज़-कान्फ्रेंस में इसलिए शामिल नहीं हो रहे थे कि हम विधान-सम्बन्धी छोटी-मोटी बातों पर ऐसी बातें और बहस करें जिनका कभी ख़ात्मा ही न हो। उस अवस्था में हमें इन तफ़सीलों में कोई दिलचस्पी नहीं थी। उनपर तो तभी

ग़ौर किया जा सकता था जब कि ख़ास-ख़ास बुनियादी मामलों में ब्रिटिश-सरकार के साथ हमारा कोई समझौता हो जाता। असली सवाल तो यह था कि लोकतन्त्रीय हिन्दुस्तान को कितनी ताक़त सौंपी जाने को थी। यह बात तय हो जाने के बाद राज़ीनामे का मसविदा बनाने और उसकी तफ़सीलें तय करने का काम तो कोई भी वकील कर सकता था। इन मूल बातों पर काँग्रेस की स्थिति बहुत साफ़ और सीधी थी और उसपर बहस करने का भी ऐसा ज्यादा मौक़ा न था। हम लोगों को यह मालूम होता था कि हमारे लिए यही गौरवपूर्ण रास्ता है कि हमारा सिर्फ़ एक ही प्रतिनिधि जाय और वह प्रतिनिधि हमारा लीडर हो। वह वहाँ जाकर हमारी स्थिति को साफ़ कर दे। यह बतावे कि हमारी स्थिति कितनी युक्तिसंगत है और किस तरह उसको मंजूर किये बिना गति नहीं है। अगर हो सके तो ब्रिटिश-सरकार को इस बात के लिए राज़ी कर ले कि वह काँग्रेस की बात मान ले। हम जानते थे कि यह बात तो बहुत ही मुश्किल थी, और उस वक्त जैसी हालत थी उसको देखते हुए तो वह बिलकुल मुमकिन नहीं थी; लेकिन हमारे पास भी तो इसके सिवा कोई चारा न था। हम अपनी उस स्थिति को नहीं छोड़ सकते थे; न हम उन उसूलों और आदर्शों को ही छोड़ सकते थे जिनसे हम बंधे हुए थे और जिनमें हमें पूर्ण विश्वास था। अगर हमारी तक़दीर सिकन्दर हो और इन बुनियादी बातों में राज़ीनामे की कोई सूरत निकल आती तो बाक़ी बातें अपने-आप आसानी से तय हो जातीं। बल्कि, सच बात तो यह है कि, हम लोगों में आपस में यह तय हो गया था कि अगर किसी तरह से ऐसा राज़ीनामा हो जाय तो गांधीजी हम कुछ को या कार्य-समिति के तमाम मेम्बरों को फ़ौरन लन्दन बुला लेंगे, जिससे कि हम वहाँ जाकर समझौते की तफ़सील तय करने का काम कर सकें। हम लोगों को वहाँ जाने के लिए तैयार रहना था, और ज़रूरत पड़ती तो हम लोग हवाई जहाज़ों में उड़कर भी जाते। इस तरह हम बुलाये जाने पर दस दिन के अन्दर उनके पास पहुँच सकते थे।

लेकिन अगर बुनियादी बातों में शुरू-शुरू में कोई राज़ीनामा नहीं होता, तो आगे और तफ़सील में, समझौते की, बातें करने का सवाल ही नहीं पैदा होता; न काँग्रेस के दूसरे प्रतिनिधियों को गोलमेज-कान्फ्रेन्स में जाने की कोई ज़रूरत पड़ती। इसीलिए हमने सिर्फ़ गाँधीजी को ही वहाँ भेजना तय किया। कार्य-समिति की एक और सदस्य श्रीमती सरोजिनी नायडू भी गोलमेज़-कान्फ्रेन्स में शामिल हुईं, लेकिन वह वहाँ काँग्रेस की प्रतिनिधि होकर नहीं गई थीं। उनको तो वहाँ हिन्दुस्तानी स्त्रियों के प्रतिनिधि-स्वरूप बुलाया गया था, और कार्य-समिति ने उन्हें इजाज़त दे दी कि वह इस हैसियत से उस कान्फ्रेन्स में शामिल हो सकती हैं।

लेकिन ब्रिटिश-सरकार का इस तरह का कोई इरादा न था कि इस मामले में वह हमारी मर्ज़ी के मुताबिक काम करे। उसकी नीति तो यह थी कि असली सवालों का विचार करना तो मुल्तवी होता रहे; कान्फ्रेन्स, बस, थोड़ी-बहुत छोटी-छोटी और बेमतलब की बातों पर बहस करके थक जाय। जब कभी बड़े-बड़े सवालों पर ग़ौर भी हुआ तब सरकार ने चुप्पी साध ली। उसने हाँ या ना करने से साफ़ इन्कार कर दिया, और सिर्फ़ यह वादा किया कि सरकार अपनी राय बाद को अच्छी तरह सोच-विचार कर देगी। असल में उसके पास तुरप का पत्ता तो था साम्प्रदायिक सवाल, और उसका उसने पूरा-पूरा इस्तैमाल किया। कान्फ़्रेन्स में इसी सवाल का बोल-बाला था।

कान्फ्रेन्स के ज्यादातर हिन्दुस्तानी मेम्बर सरकार की इन चालों के जाल में फँस गये। ज्यादा तो राज़ी-खुशी से और कुछ थोड़े-से मजबूरी से। कान्फ्रेन्स क्या थी, भानमती का कुनबा था। उसमें शायद ही कोई ऐसा हो जो अपने अलावा किसी दूसरे का प्रतिनिधि हो। कुछ आदमी क़ाबिल थे और मुल्क में उनकी इज्जत भी थी, लेकिन बाक़ी बहुत-से लोगों की बाबत यह बात भी नहीं कही जा सकती। कुल मिलाकर, राजनैतिक और सामाजिक दृष्टिकोण से, वे हिन्दुस्तान में राजनैतिक उन्नति के सबसे ज्यादा विरोधी फिरकों के प्रतिनिधि थे। ये लोग इतने फिसड्डी और प्रगति-विरोधी थे कि हिन्दुस्तान के लिबरल जो हिन्दुस्तान में बहुत ही माडरेट और फूँक-फूँक कर क़दम रखनेवाले माने जाते हैं, इनकी जमात में वही तरक्की के बड़े भारी हामी बनकर चमके। ये लोग हिन्दुस्तान में ऐसे स्थापित स्वार्थ रखनेवालों के प्रतिनिधि थे जो ब्रिटिश-साम्राज्य से बँधे हुए थे और तरक्की और रखवाली के लिए उसीका भरोसा रखते थे। सबसे ज्यादा मशहूर प्रतिनिधि तो फिरकेवाराना झगड़ों के सिल-सिले में जो 'छोटी' और 'बड़ी' जातियाँ थीं उनके थे। ये टोलियाँ उन उच्च-वर्गवालों की थीं जो कुछ भी मानने को तैयार न थे और जो आपस में कभी मिल ही नहीं सकते थे। राजनैतिक दृष्टि से वे कतई हर किस्म की तरक्की के मुख़ालिफ़ थे और उनकी महज एक दिलचस्पी थी, कि किसी तरह अपने फिरके के लिए कुछ फायदे की बात हासिल करलें, फिर चाहे ऐसा करने में हमें अपनी राजनैतिक तरक्क़ी को भी छोड़ना पड़े। बल्कि, सच बात तो यह है कि, उन्होंने खुल्लमखुल्ला यह ऐलान कर दिया था कि जबतक उनकी फिरकेवाराना माँगें पूरी नहीं की जायँगी तबतक वे राजनैतिक आज़ादी लेने को राज़ी न होंगे। यह एक ग़ैर-मामूली दृश्य था, और उससे हमें बड़े दुःख के साथ यह बात साफ़-साथ दिखाई देती थी कि एक ग़ुलाम क़ौम किस हद तक गिर सकती है और वह साम्राज्यवादियों के खेल में किस तरह शतरंज की

गोट बन सकती है। यह सही था कि हाईनेसों, लार्डों, सरों और दूसरे बड़े-बड़े अलक़ाबवाले लोगों की उस भीड़ की बाबत यह नहीं कहा जा सकता कि वह हिन्दुस्तान के लोगों की प्रतिनिधि है। गोलमेज़-कान्फ्रेन्स के मेम्बर ब्रिटिश सरकार के नामज़द थे और अपनी दृष्टि से सरकार ने जो चुनाव किया था वह बहुत अच्छा किया था। फिर भी महज़ यह बात कि ब्रिटिश-अधिकारी हम लोगों का ऐसा इस्तैमाल कर सकते हैं, यह दिखाती है कि हम लोगों में कितनी कमज़ोरियाँ हैं और हम लोग कैसी अजीब आसानी के साथ असली बातों से हटाकर एक-दूसरे की कोशिशों को बेकार करने के काम में लगाये जा सकते हैं। हमारे उच्चवर्ग के लोग अभीतक हमारे साम्राज्यवादी शासकों की विचार-धारा से अभिभूत थे और वे उन्हीका खेल खेलते थे। क्या यह इसलिए था कि वे उनकी चालों को समझ नहीं पाते थे? या वे उसके असली मानों को समझते हुए, जानबूझकर उसे इसलिए मंजूर कर लेते थे कि उन्हें हिन्दुस्तान में आज़ादी और लोकतन्त्र क़ायम होने से डर लगता था?

यह तो ठीक ही था कि साम्राज्यवादी, मांडलिकवादी, महाजन, व्यवसायी, धार्मिक और फ़िरक़ेवर लोगों के स्थापित स्वार्थों के इस समाज में ब्रिटिश भारतीय प्रतिनिधि-मंडल का नेतृत्व मामूल के मुताबिक आग़ाख़ां के हाथ में रहे; क्योंकि वह कुछ हद तक इन सब स्वार्थों से स्वयं सम्पन्न थे। कोई एक पुश्त से ज्यादा ब्रिटिश साम्राज्यवाद से और ब्रिटिश शासक-श्रेणी से उनका बहुत नज़दीकी ताल्लुक़ रहा है। वह ज्यादातर इंग्लैण्ड में ही रहते हैं। इसलिए वह हमारे शासकों के स्वार्थों और उनके दृष्टिकोण को पूरी तरह समझ सकते हैं और उनका प्रतिनिधित्व कर सकते हैं। उस गोलमेज़-कान्फ्रेन्स में साम्राज्यवादी इंग्लैण्ड के वह बहुत क़ाबिल प्रतिनिधि हो सकते थे। लेकिन आश्चर्य तो यह था कि वह हिन्दुस्तान के प्रतिनिधि समझे जाते थे!

कान्फ्रेन्स में हमारे ख़िलाफ़ पलड़ा बुरी तरह से लदा हुआ था, और यद्यपि हमें उससे कभी कोई उम्मीद न थी फिर भी उसकी कार्रवाइयों को पढ़-पढ़कर हमें हैरत होती थी और दिन-दिन उससे हमारा जी ऊबता जाता था। हमने देखा कि राष्ट्रीय और आर्थिक समस्याओं की सतह को खरोंचने की कैसे दयनीय और वाहियात ढंग से मामूली कोशिश की जा रही है; कैसे-कैसे पैक्ट और कैसी-कैसी साजिशें हो रही हैं; कैसी-कैसी चालें चली जा रही हैं; और हमारे ही कुछ देश-भाई ब्रिटिश अनुदार दल के सबसे ज्यादा उन्नति-विरोधी लोगों से मिल गये हैं! टुच्चे-टुच्चे मामलों पर बातें चलती हैं और सोभी ख़त्म ही नहीं होतीं। जो असली बातें हैं उनको जानबूझकर टाला जा रहा है। ये प्रतिनिधि बड़े-बड़े स्थापित स्वार्थों के और खासकर ब्रिटिश-साम्राज्यवाद के हाथ की कठपुतली बने हुए हैं। ये कभी तो आपस में लड़ते-झगड़ते हैं

और कभी एकसाथ बैठकर दावतें खाते तथा एक-दूसरे की तरीफ़ करते हैं । शुरू से लेकर आख़िर तक सब मामला नौकरियों का था । छोटे ओहदे, बड़े ओहदे, हिन्दुओं के लिए कितनी नौकरियाँ और मेम्बरियाँ हैं तथा सिक्खों और मुसलमानों के लिए कितनी ? और एंग्लो-इण्डियनों तथा यूरोपियनों के लिए कितनी ? लेकिन ये सब ओहदे ऊँचे दर्जे के अमीर लोगों के लिए थे, जन-साधारण के लिए उनमें कुछ न था । मौक़ा-परस्ती का दौर-दौरा था और ऐसा मालूम पड़ता था कि नये शासन-विधान में टुकड़े-रूपी जो शिकार था उसकी फ़िराक में भिन्न-भिन्न गिरोह भूखे भेड़ियों की तरह घात लगाये फिरते थे । उनकी आज़ादी की कल्पना ने भी तो बड़े पैमाने पर नौकरियाँ तलाश करने की शक्ल अख़्त्यार करली थी । इसे ये लोग "भारती-करण" के नाम से पुकारते थे । फौज में, मुल्की नौकरियों में और दूसरी जगहों में हिन्दुस्तानियों को ज्यादा नौकरियाँ मिलें यही इनकी पुकार थी । कोई यह नही सोचता था कि हिन्दुस्तान के लिए आज़ादी की, असली स्वतन्त्रता की, भारत को लोकतन्त्री सत्ता सौंपे जाने की, हिन्दुस्तान के लोगों के सामने जो भारी और ज़रूरी आर्थिक मसले मौजूद हैं उनके हल करने की भी कोई ज़रूरत है । क्या इसीके लिए हिन्दुस्तान में इतनी मर्दानगी से लड़ाई लड़ी गई थी ? क्या हम सुन्दर आदर्शवाद और त्याग की दुर्लभ मलय-समीर को छोड़कर इस गन्दी हवा को ग्रहण करेंगे ?

उस सुनहले भवन में और इतने लोगों की भीड़ में गांधीजी बिलकुल अकेले मालूम होते थे । उनकी पोशाक से, या उनकी कोई पोशाक ही न होने की वजह से, बाक़ी सब लोगों में उन्हें आसानी से पहचाना जा सकता था । लेकिन उनके आस-पास अच्छे सजे-धजे लोगों की जो भीड़ बैठी हुई थी उसके विचार और दृष्टिकोण में तथा गांधीजी के खयाल और उनके दृष्टि-बिन्दु में और भी ज्यादा फ़र्क़ था । उस कान्फ्रेन्स में उनकी स्थिति निहायत ही मुश्किल थी । इतनी दूर बैठे-बैठे हम इस बात पर अचरज करते थे कि वह इसे कैसे बरदाश्त कर रहे हैं ? लेकिन आश्चर्य-जनक धीरज के साथ वह अपना काम करते रहे, और राज़ीनामे की कोई-न-कोई बुनियाद ढूँढने के लिए उन्होंने कई कोशिशें कीं । एक विलक्षण बात उन्होंने ऐसी की जिसने फौरन यह दिखला दिया कि किस तरह फ़िरक़ेवाराना भाव ने दरअसल राजनैतिक प्रतिगामिता को अपनी ओट में छिपा रक्खा था । मुसलमान प्रतिनिधियों की तरफ़ से कान्फ़्रेन्स में जो फ़िरक़ेवाराना माँगें पेश की गई थीं उनको गांधीजी पसन्द नहीं करते थे । उनका ख़याल था, और उनके साथी कुछ राष्ट्रीय विचार के मुसलमानों का भी यही ख़याल था, कि इनमें से कुछ माँगें तो आज़ादी और लोकतन्त्र के रास्ते में रोड़ा अटकानेवाली हैं । लेकिन फिर भी उन्होंने कहा कि मैं इन सब माँगों को "बिना किसी ऐतराज़ के मानने

को तैयार हूँ, बशर्ते कि मुसलमान प्रतिनिधि राजनैतिक माँग यानी आज़ादी के मामले में मेरा तथा काँग्रेस का साथ दें।"

उनका यह प्रस्ताव खुद अपनी तरफ से था; क्योंकि उनकी जैसी हालत थी, उसमें काँग्रेस को वह किसी बात से नहीं बाँध सकते थे। लेकिन उन्होंने वादा किया कि मैं काँग्रेस में इस बात के लिए ज़ोर दूँगा कि ये माँगें मान ली जायँ। और कोई भी शख्स जो काँग्रेस में उनके असर को जानता था, इस बात में कोई शक नहीं कर सकता था कि वह काँग्रेस से उन माँगों को मनवाने में कामयाबी हासिल कर सकते थे। लेकिन मुसलमानों ने गांधीजी के इस प्रस्ताव को मंजूर नहीं किया। सचमुच इस बात की कल्पना करना ज़रा मुश्किल है कि आग़ाखां साहब हिन्दुस्तान की आज़ादी के हामी हो जायँगे। लेकिन इससे इतनी बात साफ़-साफ़ दिखाई दे गई कि असली झगड़ा फ़िरक़ेवाराना नहीं था, यद्यपि कान्फ्रेन्स में फ़िरक़ेवाराना सवाल की ही धूम थी। असल में तो राजनैतिक प्रतिगामिता ही सब तरह की तरक़्क़ी के रास्ते को रोक रही थी और वही फ़िरकेवाराना सवाल की आड़ में छिपी हुई टट्टी की ओट से शिकार करती रही। कान्फ्रेन्स के लिए अपने नामज़द प्रतिनिधियों का चुनाव बड़ी चालाकी से करके ब्रिटिश-सरकार ने इन उन्नति-विरोधी लोगों को वहाँ जमा किया था और कान्फ्रेन्स की कार्रवाई की गति-विधि अपने हाथ में रखकर उसने फ़िरकेवाराना सवाल को अहम और एक ऐसा सवाल बना दिया था जिसपर आपस में कभी न मिल सकनेवाले जो लोग वहाँ इकट्ठे हुए थे उनमें कभी कोई राज़ीनामा नहीं हो सकता था।

इस कोशिश में ब्रिटिश सरकार को कामयाबी मिली और इस कामयाबी से उसने यह साबित कर दिया कि अभीतक उसमें न सिर्फ़ अपने साम्राज्य को क़ायम रखने की बाहरी ताकत ही है, बल्कि साम्राज्यवादी परम्परा को कुछ दिनों तक और चला ले जाने के लिए चालाकी और कूटनीति भी उसके पास है। हिन्दुस्तान के लोग नाकामयाब रहे, यद्यपि गोलमेज़-कान्फ्रेन्स न तो उनकी प्रतिनिधि ही थी और न उसकी ताकत से हिन्दुस्तान के लोगों की ताकत का अन्दाज़ा ही लगाया जा सकता था। उनके नाकामयाब होने की खास वजह यह थी कि उनके पास उनके उद्देश के पीछे कोई विचार-धारा न थी, इसलिए उन्हें आसानी से अपनी असली जगह से हटाया तथा गुमराह किया जा सकता था। वे इसलिए नाकामयाब हुए कि वे अपनेमें इतनी ताकत नहीं महसूस करते थे कि वे उन स्थापित स्वार्थ रखनेवालों को धता बता दें जो उनकी तरक़्क़ी के लिए भार-स्वरूप बने हुए थे। वे नाकामयाब रहे, क्योंकि उनमें मज़हबीपन की अति थी और उनके फ़िरकेवाराना जज़बात आसानी से भड़काये जा सकते थे।

थोड़ेसे में, वे इसलिए असफल हुए कि अभीतक इतने आगे नहीं बढ़े हुए थे, न इतने मजबूत ही थे, कि कामयाब होते।

असल में इस गोलमेज़-कान्फ़्रेन्स में तो कामयाबी या नाकामयाबी का सवाल ही न था। उससे तो कोई उम्मीद ही नहीं की जा सकती थी। फिर भी उसमें पहले से कुछ फ़र्क था। पहली गोलमेज़-कान्फ़्रेन्स थी तो अपने किस्म की सबसे पहली कान्फ़्रेन्स; लेकिन हिन्दुस्तान में बहुत ही कम लोगों का ख़याल उसकी तरफ़ गया, और बाहर भी यही बात रही; क्योंकि उन दिनों सब लोगों का ध्यान सविनय भंग की लड़ाई की तरफ़ था। ब्रिटिश-सरकार द्वारा जो नामज़द उम्मीदवार १९३० में कान्फ़्रेन्स में शामिल होने गये, अक्सर उनके साथ-साथ काले झण्डे निकाले गये ओर विरोधी नारे लगाये गये। लेकिन १९३१ में सब बातें बदल गई थी। क्यों? इसलिए कि उसमें गांधीजी कॉंग्रेस के प्रतिनिधि की हैसियत से, जिसके पीछे करोड़ों लोग चलते हैं, शामिल हुए; इस बात से कान्फ़्रेन्स की शान जम गई ओर हिन्दुस्तान ने दिलचस्पी के साथ रोज़-बरोज़ उसकी कार्रवाइयों पर ध्यान दिया। और वजह जो कुछ भी हो, यह ज़रूर है कि इस कान्फ़्रेन्स में जितनी नाकामयाबी हुई उससे हिन्दुस्तान की बदनामी हुई। अब हम लोगों की समझ में यह बात साफ़-साफ़ आ गई कि ब्रिटिश-सरकार गांधीजी के उसमें शामिल होने को इतनी अहमियत क्यों देती थी।

जहाँतक कान्फ़्रेन्स से ताल्लुक है वहाँतक वह, जिसमें वहाँ होनेवाली साज़िशें, मौक़ापरस्ती और फ़िजूल की जालसाज़ियाँ शामिल हैं, हिन्दुस्तान की विफलता नहीं कहला सकती। वह तो बनाई ही ऐसी गई थी, जिससे नाकामयाब होती। उसकी नाकामयाबी का कुसूर हिन्दुस्तान के लोगों के मत्थे नहीं मढ़ा जा सकता। लेकिन उसे इस बात में ज़रूर कामयाबी हुई कि उसने हिन्दुस्तान के असली सवालों से दुनिया का ध्यान हटा दिया और खुद हिन्दुस्तान में उससे लोगों को बड़ी निराशा हुई, उनका उत्साह मर गया तथा उन्होंने उससे अपनी ज़िल्लत-सी महसूस की। उसने प्रतिगामी लोगों को फिर अपना सिर उठाने का मौक़ा दे दिया।

हिन्दुस्तान के लोगों के लिए तो कामयाबी या नाकामयाबी खुद हिन्दुस्तान में होनेवाली घटनाओं से हो सकती थी। हिन्दुस्तान में जो मजबूत राष्ट्रीय हलचल हो रही थी वह लन्दन में होनेवाली चालबाज़ियों से ठण्डी नहीं पड़ सकती थी। राष्ट्रीयता मध्यमवर्ग के लोगों और किसानों की असली और तात्कालिक ज़रूरतों को दिखलाती थी। उसीके ज़रिये वे अपने मसलों को हल करना चाहते थे। इसलिए उस हलचल की दो ही सूरतें हो सकती थीं—एक तो यह कि वह कामयाब होती, अपना काम पूरा

कर देती और किसी ऐसी दूसरी हलचल के लिए जगह खाली कर देती जो लोगों को प्रगति और आज़ादी की सड़क पर और भी आगे ले जाती; दूसरी यह कि कुछ वक्त के लिए उसे ज़बर्दस्ती दबा दिया जाता। असल में कान्फ्रेन्स के बाद फ़ौरन हिन्दुस्तान में लड़ाई छिड़ने को थी और होनहार यह था कि वह कुछ वक्त के लिए बेबस बनकर ख़त्म हो। दूसरी गोलमेज़-कान्फ्रेन्स का इस लड़ाई पर कोई ऐसा ज्यादा असर नहीं पड़ सका; लेकिन उसने कुछ हदतक हमारी लड़ाई के ख़िलाफ़ आबोहवा ज़रूर बना दी।

# ३९

# युक्तप्रान्त में किसानों-सम्बन्धी दिक़्क़तें

कॉँग्रेस के एक प्रधानमंत्री और कार्यसमिति के एक मेम्बर की हैसियत से अखिल-भारतीय राजनीति से मेरा ताल्लुक रहा है, और कभी-कभी मुझे कुछ दौरा भी करना पड़ा है, हालाँकि जहाँतक मुमकिन होता मैं उसे टालता ही रहता था। जैसे-जैसे हमारा बोझ और ज़िम्मेदारियाँ ज्यादा-ज्यादा बढ़ने लगीं, वैसे-वैसे कार्य-समिति की बैठकें भी ज्यादा-ज्यादा लम्बी होने लगीं, यहाँतक कि वे लगातार दो-दो हफ्ते तक होतीं। अब सिर्फ नुकताचीनी के प्रस्ताव पास करना नहीं था, मगर एक बड़ी भारी, और कई तरह की प्रवृत्तियोंवाली, संस्था के अनेक और भिन्न-भिन्न प्रकार के रचनात्मक कार्यों का नियंत्रण करना था, और दिन-ब-दिन मुश्किल सवालों का फैसला करना था, जिनके ऊपर देशभर की व्यापक लड़ाई या शान्ति निर्भर थी।

मगर मेरा खास काम तो युक्तप्रान्त में ही था, जहाँ कि कॉंग्रेस का ध्यान किसानों की समस्या पर लगा हुआ था। युक्तप्रान्तीय कॉंग्रेस कमिटी में डेढ़सौ से ज्यादा मेम्बर थे, और उसकी बैठक हर दो या तीन महीने में हुआ करती थी। उसकी कार्यकारिणी कौंसिल की, जिसमें पन्द्रह मेम्बर थे, बैठकें अक्सर होती रहती थी, और उसीके हाथ में किसानों का महकमा था।

१९३१ के पिछले हिस्से में इस कौंसिल ने एक खास किसान-सम्बन्धी कमिटी मुकर्रर कर दी। यह जानने लायक बात है कि इस कौंसिल और इस कमिटी में कई जमींदार बराबर शामिल रहे थे, और सब कार्रवाई उनकी राय से की जाती थी। वास्तव में उस साल के हमारे प्रान्तीय कमिटी के सभापति (और इसीलिए जो कार्यकारिणी कौंसिल और किसान-कमिटी के पदेन अध्यक्ष भी थे) तसद्दुक़अहमदखां शेरवानी थे, जो एक मशहूर जमींदार ख़ानदान के थे। प्रधानमंत्री श्रीप्रकाशजी और कौंसिल के दूसरे भी कई बड़े-बड़े मेम्बर ज़मींदार थे, या ज़मींदार घराने के थे। बाक़ी मेम्बर ऊँचा पेशा करनेवाले मध्यमवर्ग के लोग थे। हमारी प्रान्तीय कार्यकारिणी में एक भी काश्तकार या ग़रीब किसान प्रतिनिधि न था। हमारी ज़िला-कमिटियों में किसान पाये जाते थे, मगर जिन कई चुनावों में जाकर प्रान्त की कार्यकारिणी कौंसिल बनती थी उनमें वे शायद ही कभी कामयाब हो पाते थे। इस कौंसिल में मध्यमवर्ग के पढ़े-लिखे लोगों की ही तादाद बहुत ज्यादा थी, और ज़मींदारों का भी बहुत प्रभाव

था। इस तरह यह कौंसिल किसी तरह भी गरम नहीं कही जा सकती थी, और किसानों के सवाल पर तो निश्चय ही नहीं कही जा सकती थी।

प्रान्त में मेरी हैसियत सिर्फ कार्यकारिणी कौंसिल और किसान-कमिटी के एक मेम्बर की थी, इससे ज्यादा कुछ भी नहीं। सलाह-मशविरों या दूसरे काम-काज में मैं खास हिस्सा लेता था, मगर किसी भी मानी में सबसे प्रमुख भाग नहीं लेता था। वास्तव में, तो किसीके भी बारे में यह नहीं कहा जा सकता था कि वह प्रमुख भाग लेता है, क्योंकि मजमूई और इकट्ठा कार्य करने की हमारी पुरानी आदत हो गई थी, और व्यक्ति पर नहीं, सगठन पर ही हमेशा जोर दिया जाता था। हमारा सभापति हमारा तात्कालिक मुखिया रहता था, और हमारा प्रतिनिधि होता था, मगर उसे भी विशेष अख्त्यारात न थे।

मुकामी तौर पर मैं इलाहाबाद जिला कॉंग्रेस कमिटी का भी मेम्बर था। इस कमिटी ने, अपने सदर पुरुषोत्तमदास टण्डन के नेतृत्व में, किसान-समस्या की प्रगति में महत्वपूर्ण हिस्सा लिया था। १९३० में इस कमिटी ने ही प्रान्त में सबसे पहले करबन्दी-आन्दोलन शुरू किया था। इसका कारण यह नहीं था कि इलाहाबाद जिले में किसानों की हालत भाव की मन्दी की वजह से सबसे ज्यादा खराब हो गई थी, क्योंकि अवध के ताल्लुकेदारी हिस्से और भी ज्यादा खराब थे। मगर इलाहाबाद जिले का संगठन अच्छा था और उसमें राजनैतिक चेतना ज्यादा थी, क्योंकि इलाहाबाद शहर राजनैतिक हलचलों का एक केन्द्र था और आस-पास के देहात में बड़े-बड़े कार्यकर्त्ता अक्सर जाया करते थे।

मार्च १९३१ के दिल्ली-समझौते के बाद फ़ौरनही हमने देहात में कार्यकर्त्ता और नोटिस भेज दिये थे, और किसानों को इत्तिला देदी थी कि सविनय-भंग और यह आन्दोलन बन्द कर दिया गया है। राजनैतिक दृष्टि से उनके लगान अदा कर देने में अब कोई रुकावट न थी, और हमने उन्हें सलाह भी दी कि वे अदा करदें। मगर साथ ही हमने यह भी कह दिया कि इस भारी सस्ताई को देखते हुए हमारी राय यह है कि उन्हें भारी छूट मिलनी चाहिए, और हमने यह सुझाया कि हमको एकसाथ मिलकर छूट हासिल करने की कोशिश करनी चाहिए। मामूली हालत में भी लगान अक्सर एक असह्य बोझ ही होता था, फिर भारी मन्दी के ज़माने में तो पूरा लगान या पूरी के क़रीब रक़म देना तो बिलकुल ही ग़ैर-मुमकिन था। हमने किसानों के प्रतिनिधियों के साथ सलाह-मशविरा किया, और आरज़ी तजवीज़ की कि आम तौर पर छूट पचास फ़ीसदी होनी चाहिए, और कहीं-कहीं तो इससे भी ज्यादा।

हमने किसानों के सवाल को सविनय-भंग के प्रश्न से बिलकुल अलग करने की

कोशिश की। कम-से-कम १९३१ में तो हम उसपर आर्थिक दृष्टि से ही विचार करना चाहते थे, और उसे राजनैतिक क्षेत्र मे अलग रखना चाहते थे। मगर यह मुश्किल था, क्योंकि दोनों किसी-न-किसी तरह एक-दूसरे से गहरे जुड़ गये थे, और पहले दोनों का गहरा साथ हो गया था। और, कॉंग्रेस-संगठन के रूप में, हम लोग तो निश्चित रूप से राजनैतिक थे ही। कुछ समय के लिए तो हमने कोशिश की कि हमारी संस्था एक किसान-यूनियन (जिसपर नियन्त्रण ग़ैर-किसानों और ज़मीदारों तक का था!) की तरह ही काम करे, मगर हम अपना राजनैतिक स्वरूप नही छोड़ सके, और न हमने छोड़ने की ख्वाहिश ही की, और सरकार भी जो-कुछ हम करते थे उसे राजनैतिक ही समझती थी। सविनय-भंग फिर होने की संभावना भी हमारे सामने थी, और हमने सोचा कि अगर ऐसा हुआ तो इसमें शक नही कि अर्थनीति और राजनीति दोनों साथ-साथ मिलकर चलेगी।

इन ज़ाहिरा मुश्किलों के बावजूद, दिल्ली-समझौते के वक्त से हमेशा हमारी यह कोशिश रही कि किसानों के सवाल को राजनैतिक लड़ाई से अलग रक्खा जाय। इसका असली सबब यह था कि दिल्ली-समझौते ने इसे बन्द नही कर दिया था, और यह बात हम सरकार और आम लोगों को बिलकुल साफ बता देना चाहते थे। दिल्ली की बातचीतों में, मेरा खयाल है, गांधीजी ने लॉर्ड अर्विन को यह भरोसा दिला दिया था कि अगर वह गोलमेज-कान्फ़ेन्स में न भी गये तो भी जबतक कान्फ्रेन्स की बैठकें होती रहेंगी तबतक वह सविनय भंग फिर शुरू नही करेंगे; वह कॉंग्रेस से सिफ़ारिश करेंगे कि कान्फ्रेन्स को हर तरह का मौका दिया जाना चाहिए, और उसके नतीजे का इन्तज़ार करना चाहिए। मगर, तब भी, गाँधीजीने यह साफ़ बता दिया था कि अगर किसी मुक़ामी आर्थिक लड़ाई के लिए हमें मजबूर किया जायगा, तो उसपर यह बात लागू न होगी। युक्तप्रान्त के किसानों की समस्या उस वक़्त हम सबके सामने थी, क्योंकि वहाँ संगठित कार्य किया गया था। दरअसल तो सारे हिन्दुस्तानभर के किसानों की वैसी ही हालत थी। शिमला की बातचीतों में गाँधीजी ने इस बात को दुहराया था, और उनके प्रकाशित पत्र-व्यवहार[१] में भी इसका ज़िक्र किया गया था।

१. शिमला के २७ अगस्त १९३१ के समझौते में नीचे के पत्र भी शामिल थे:—

**भारत-सरकार के होम-सेक्रेटरी इमरसन साहब के नाम गांधीजी का पत्र**

शिमला

प्रिय इमरसन साहब, २७ अगस्त, १९३१।

**आपके आज की तारीख के पत्र के लिए, जिसके साथ नया मसविदा नत्थी है, धन्यवाद। सर कावसजी ने भी आपको बताई तरमीमें भेजने की कृपा की है। मेर**

योरप रवाना होने के ठीक पहले ही उन्होंने साफ कर दिया था, कि गोलमेज-कान्फ़ेन्स और राजनैतिक सवालों के बिलकुल अलावा भी कांग्रेस के लिए यह जरूरी हो सकता है कि वह आर्थिक लड़ाइयो में लोगो के, और खासकर किसानों के, अधिकारों की रक्षा करे। ऐसी किसी लड़ाई मे फँसने की उनकी ख्वाहिश नही है, वह उसे टालना चाहते है; मगर यदि यह अनिवार्य ही हो जाय, तो उसे हाथ में लेना ही पड़ेगा। हम जनता को अकेला नही छोड़ सकते थे। उनका यह मानना था कि दिल्ली के समझौते से, जो सामान्य और राजनैतिक सविनय-भग से ताल्लुक़ रखता था, इसकी रोक नही की गई है।

मै इसका ज़िक्र इसलिए कर रहा हूं कि युक्तप्रातीय कांग्रेस-कमिटी और उसके नेताओं पर यह आरोप बार-बार लगाया जाता रहा है कि उन्होने करबन्दी-आन्दोलन फिर शुरू करके दिल्ली के समझोते को तोड़ दिया। आरोप करनेवालों के सुभीते की बात यह थी कि यह आरोप तब लगाया गया जब वे सब, लोग जिनपर यह लगाया गया और जो इसका जवाब दे सकते थे, जेल में बन्द कर दिये गये थे और हर अख़बार और प्रेस पर सख्त सेन्सर बैठा हुआ था। इस हकीकत के अलावा कि

---

साथियों ने व मैंने तरमीम-शुदा मसविदे पर खूब ग़ौर किया है। नीचे लिखे स्पष्टीकरण के साथ हम आपके संशोधित मसविदे को मंजूर करने को तैयार हैं—

पैरेग्राफ़ ४ में सरकार ने जो पोज़ीशन अख्त्यार की है उसे कांग्रेस की तरफ़ से मंजूर करना मेरे लिए नामुमकिन है। क्योंकि हम यह महसूस करते हैं कि जहाँ कांग्रेस की राय में समझौते के अमल में पैदा हुई शिकायत दूर नहीं की जाती वहाँ जाँच करना ज़रूरी हो जाता है। क्योंकि सविनय-भंग-आन्दोलन उसी वक़्त के लिए मुल्तवी किया गया है, जबतक दिल्ली का समझौता जारी है। लेकिन अगर भारत-सरकार और दूसरी प्रान्तीय सरकारें जाँच करने को तैयार नहीं हैं, तो मेरे साथी और मैं इस जुमले के रहने देने पर कोई ऐतराज़ न करेंगे। इसका नतीजा यह होगा कि कांग्रेस अबसे उठाये गये दूसरे मामलों के बारे में जांच के लिए ज़ोर नहीं देगी; लेकिन अगर कोई शिकायत इतनी तीव्रता से महसूस की जा रही हो कि जाँच के अभाव में उसे दूर करने के लिए रक्षात्मक सीधी लड़ाई लड़ना ज़रूरी हो जाय, तो कांग्रेस, सविनय भंग-आन्दोलन के मुल्तवी रहते हुए भी, उसे करने के लिए स्वतन्त्र होगी।

मैं सरकार को यह यक़ीन दिलाने की ज़रूरत नहीं समझता कि कांग्रेस की हमेशा यही कोशिश रहेगी कि सीधी लड़ाई से बचे और आपसी बातचीत और समझाना-बुझाना आदि उपायों से शिकायत दूर कराये। कांग्रेस की पोज़ीशन का ज़िक्र

युक्तप्रान्तीय कमिटी ने १९३१ में कभी करबन्दी-आन्दोलन शुरू ही नहीं किया, मैं इस बात को साफ़ कर देना चाहता हूँ कि आर्थिक उद्देश्य से, सविनय-भंग से अलग रहते हुए, ऐसी लड़ाई लड़ना भी दिल्ली के समझौते का भंग नहीं होता। उसके कारणों को देखते हुए वह उचित था या नहीं, यह तो दूसरी बात थी; लेकिन जिस तरह किसी कारखाने के मज़दूरों को अपने किसी आर्थिक कष्ट के कारण हड़ताल शुरू करने का हक होता है, उसी तरह किसानों को भी आर्थिक कारण से हड़ताल करने का अधिकार था। दिल्ली से शिमला तक बराबर हमारी यही पोज़ीशन रही, और सरकार ने इसे समझ ही नहीं लिया था, बल्कि उसने इसकी क़द्र भी की थी।

करना यहां इसलिए ज़रूरी हो गया है कि आगे कोई सम्भावित ग़लतफ़हमी या कांग्रेस पर समझौता-उल्लंघन का आरोप न हो सके। मौजूदा बातचीत के कामयाब होने की हालत में, मेरा ख़याल है कि, यह विज्ञप्ति, यह पत्र और आपका जवाब एकसाथ प्रकाशित कर दिये जायँगे।

आपका

मो० क० गांधी

गांधीजी के नाम इमरसन साहब का पत्र

प्रिय गांधीजी,

शिमला,

२७ अगस्त, १९३१।

आज की तारीख़ के पत्र के लिए धन्यवाद, जिसमें आपने अपने पत्र में लिखे स्पष्टीकरण के साथ सरकारी विज्ञप्ति के मसविदे को मंजूर कर लिया है। कौंसिल-सहित गवर्नर-जनरल ने इस बात को नोट कर लिया है कि अब आगे से उठाये गये मामलों में जांच पर ज़ोर देने का इरादा कांग्रेस का नहीं है। लेकिन जहां आप यह आश्वासन देते हैं कि कांग्रेस हमेशा सीधी लड़ाई से बचने और आपसी बातचीत, समझाना-बुझाना आदि तरीकों से ही अपनी शिकायत दूर कराने की हमेशा कोशिश करेगी, वहाँ आप आगे अगर कांग्रेस कोई कार्रवाई करने का निश्चय करे तो उसकी पोज़ीशन भी साफ़ कर देना चाहते हैं। मुझे यह कहना है कि कौंसिल-सहित गवर्नर-जनरल आपके साथ इस उम्मीद में शामिल हैं कि सीधी लड़ाई का कोई मौका नहीं आयगा। जहाँतक सरकार की आम पोज़ीशन की बात है, मैं वाइसराय के १९ अगस्त के आपको लिखे हुए पत्र का निर्देश करता हूँ। मुझे कहना है कि उक्त विज्ञप्ति, आपका आज की तारीख़ का पत्र और यह जवाब सरकार एकसाथ प्रकाशित कर देगी।

आपका

एच० डबलू० इमरसन

१९२९ और उसके बाद की कृषि-सम्बन्धी मन्दी से निरन्तर बिगड़ती हुई परिस्थिति हद दर्जे को पहुँच गई थी। पिछले कई वर्षों से दुनियाभर में कृषि-सम्बन्धी भाव ऊपर-ही-ऊपर चढ़ते जा रहे थे, और हिन्दुस्तान की कृषि ने भी, जो दुनिया के बाज़ार से बँध चुकी थी, इस चढाव में हिस्सा लिया था। दुनियाभर के कारखानों और खेतों की तरक्क़ी में कोई तारतम्य न रहने के कारण सभी जगह कृषि-सम्बन्धी चीज़ों के भाव चढ़ गये थे। हिन्दुस्तान में जैसे-जैसे भाव बढ़ते गये, सरकार की मालगुज़ारी और जमींदार का लगान भी बढ़ता गया, जिससे कि असली खेती करनेवाले को इससे कुछ भी फायदा न हुआ। कुल मिलाकर किसान लोगो की हालत, कुछ खास तौर पर अच्छे हिस्से को छोड़कर, खराब ही हो गई। युक्तप्रान्त में लगान मालगुज़ारी की बनिस्बत बहुत तेज़ी से बढ़ा; इन दोनों की सापेक्ष वृद्धि, इस शताब्दी के पहले तीस वर्षों में, क़रीब-करीब ( मैं अपनी याददाश्त से ही कहता हूँ ) ५ : १ थी। इस तरह हालांकि ज़मीन से सरकार की आमदनी काफ़ी बढ़ गई, लेकिन जमींदार की आमदनी तो उससे भी बहुत ज्यादा बढ़ी और काश्तकार हमेशा की तरह रोटी का मोहताज ही रहा। यदि कही भाव गिर भी जाते थे, या कही मुक़ामी मुसीबतें— जैसे अवृष्टि, बाढ़, ओले, टिड्डी वग़ैरा—आ पड़ती, तब भी मालगुज़ारी और लगान की रक़म वही रहती थी। अगर कुछ छूट भी हुई तो, बहुत हिचकिचाहट के बाद थोड़ी-सी, सिर्फ़ उस फसल-भर के लिए। अच्छी-से-अच्छी फसलों के वक्त भी लगान की दर बहुत ऊँची मालूम होती थी, तब दूसरे वक्त में तो साहूकार से कर्ज़ लिये बिना उसकी अदायगी ही होना मुश्किल था। फलतः किसानों का कर्ज़ा बढ़ता जा रहा था।

खेती से ताल्लुक रखनेवाले सभी वर्ग—जमींदार, मालिक, किसान और काश्तकार सभी—बोहरों के, जो कि मोजूदा हालतो में गांवों की आदिम-कालीन व्यवस्था का एक आवश्यक कार्य कर रहे थे, फंदे में फंस गये। इस काम से साहूकारों ने खूब निजी फायदा उठाया, और उनका जाल ज़मीन पर और ज़मीन से ताल्लुक़ रखनेवाले सभी लोगों पर फैल गया। उनपर बन्धन कोई नही थे। कानून उनकी मदद पर था, और अपने इक़रारनामे के एक-एक लफ्ज़ को पकड़कर वे अपने आसामियों को ज़रा भी नहीं बख़्शते थे। धीरे-धीरे छोटे ज़मींदार और मालिक-किसान, इन दोनों के पास से ज़मीन उनके हाथों में आने लगी, और साहूकार ही बड़े पैमाने पर ज़मीन के मालिक, बड़े ज़मींदार, ज़मींदार-वर्गीय बन गये। मालिक-किसान, जो अभीतक अपनी ही ज़मीन पर खेती करता था, अब बनिया-ज़मींदारों या साहूकारों का क़रीब-क़रीब दास-किसान बन गया; जो केवल काश्तकार था उसकी हालत तो और भी ख़राब हो गई। वह तो साहूकार का भी दास बन गया था, या बेदख़ल किये हुए भूमि-हीन

मज़दूरों की बढ़ती हुई जमात में शामिल हो गया। ऋण-दाता—लेन-देन करनेवाले व्यक्तियों—का, जो अब इस तरह ज़मीन-मालिक भी बन गये, ज़मीन से या काश्तकारों से कोई सजीव सम्पर्क नहीं था। वे आम तौर पर शहर के रहनेवाले थे, जहाँ वे अपना लेन-देन करते थे, और उन्होंने लगान-वसूली का काम अपने कारिन्दों के सुपुर्द कर दिया, जो उस काम को मशीनों की-सी संग-दिली और बेरहमी से करते थे।

किसानों की बढ़ती हुई कर्ज़दारी ही खुद इस बात का सबूत थी कि भूमि-प्रणाली ग़लत और अस्थिर है। ज्यादातर लोगों के पास किसी क़िस्म की बचत न थी, न जिस्मानी न माली, बरदाश्त करने की बिलकुल ताक़त न थी और वे हमेशा भूखे-नंगे ही रहते थे। प्रतिकूल-रूप की किसी भी असाधारण घटना के सामने वे टिक नहीं सकते थे। कोई आम बीमारी आजाती, तो लाखों मर जाते थे। १९२९ और १९३० में सरकार-द्वारा नियुक्त प्रान्तीय बैंकिंग जाँच कमिटी ने अन्दाज़ा लगाया था कि (बर्मा-सहित) हिन्दुस्तान का कृषि-सम्बन्धी कर्ज़ा ८६० करोड़ रुपया है। इस आंकड़े में ज़मींदारों, मालिक, किसानों और काश्तकारों का कर्ज़ा शामिल था, मगर मुख्यतः यह असली काश्तकारों का ही कर्ज़ा था। सरकारी आर्थिक नीति बिलकुल साहूकारों के ही हक़ में रही है, और इससे भी भारी क़र्ज़े में और बढ़ती हुई है। इस तरह रुपये का अनुपात, हिन्दुस्तान का ज़बरदस्त विरोध होते हुए भी, १६ पेन्स के बजाय १८ पेन्स कर देने से किसानों का क़र्ज़ १२½ फ़ी सदी या लगभग १०७ करोड़ बढ़ गया[१]।

लड़ाई के बाद के अचानक चढ़ाव के बाद भाव धीरे-धीरे लेकिन लगातार गिरते ही चले गये, और देहात की हालत और ख़राब हो गई। और इस सबके ऊपर १९२९ और बाद के वर्षों का सकट आ गया सो अलग।

१९३१ में युक्तप्रान्त में हमारा कहना यह था कि लगान चीज़ों के भावों के मुताबिक रहना चाहिए। यानी, पहले जिस समय १९३१ के बराबर भाव थे उस

**१. हिन्दुस्तान की कृषि-सम्बन्धी कर्ज़दारी ८६० करोड़ है, यह भी संभवतः बहुत कम अन्दाज़ है। और, कम-से-कम पिछले चार या पाँच वर्षों में यह काफ़ी ज्यादा बढ़ गया होगा। पंजाब प्रान्तीय बैंकिंग जाँच कमिटी ने १९२९ में पंजाब का आंकड़ा १३५ करोड़ बताया था। लेकिन पंजाब ऋण-मुक्ति बिल की सिलेक्ट कमिटी की रिपोर्ट में ( जो १९३४ में पेश की गई थी ) लिखा है कि "कृषकों के कर्ज़ का बोझा बहुत भारी है, बहुत ही कम अन्दाज़ लगावें तो क़रीब २०० करोड़ रुपया होगा।" यह नया आंकड़ा बैंकिंग जाँच कमिटी की रिपोर्ट के आंकड़े से लगभग ५० फ़ीसदी ज्यादा है। अगर दूसरे प्रान्तों के लिए भी इसी हिसाब से बढ़ती मानी जाय तो सारे भारत की मौजूदा (१९३४ की) कृषि-कर्ज़दारी १२०० करोड़ से ज्यादा होगी।**

वक़्त के लगान के बराबर ही अब भी लगान हो जाना चाहिए। ये भाव लगभग तीस साल पहले, क़रीब १९०१ में, थे। यह एक मोटी कसौटी थी, और इससे परखना भी आसान नही था, क्योंकि काश्तकार भी कई तरह के थे—जैसे मौरूसी, ग़ैर-मौरूसी, शिकमी वग़ैरा, और सबसे नीचे दर्ज़े के काश्तकारों पर ही मन्दी का सबसे ज्यादा असर पड़ा था। दूसरी कसौटी सिर्फ़ यही हो सकती थी, और यही सबसे मुनासिब भी थी, कि खेती का खर्चा और निर्वाह-योग्य मज़दूरी निकालकर कितनी रक़म देने की ताकत काश्तकार की रहती है? मगर इस पिछली कसौटी से जाँचने पर जीवन-निर्वाह के ख़र्च कितने भी कम क्यों न माने जायँ, हिन्दुस्तान में बहुत ज्यादा खेत ऐसे निकलेंगे जो बे-मुनाफे हैं, जैसा कि हमने १९३१ में युक्तप्रान्त में मिसालों से साबित किया था। कई काश्तकार तो अपना लगान अदा कर ही नही सकते थे, जबतक कि वे अगर उनके पास बेचने को कुछ जायदाद हो तो अपनी जायदाद न बेचें या ऊँची दरों पर क़र्ज़ न लें।

हमारी युक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमिटी की पहली और आरज़ी तजवीज़ यह थी कि सब मौरूसी काश्तकारों के लिए ५० फीसदी आम छूट हो जानी चाहिए, और जिन काश्तकारों की हालत और भी ख़राब है उनके लिए इससे भी ज्यादा छूट दी जाय। जब मई १९३१ में गांधीजी युक्तप्रान्त में आये थे और गवर्नर सर मालकम हेली से मिले, तो उनमें मतभेद पाया गया, और उनकी राय एक न हो सकी। इसके बाद ही उन्होंने युक्तप्रान्त के ज़मीदारों और काश्तकारों के नाम अपीलें निकाली थीं। पिछली अपील में उन्होने काश्तकारों से कहा, कि उनसे जितना बन सके वे अदा करदें। उन्होंने एक आंकड़ा भी बताया, जोकि हमारे पहले बताये आँकड़े से कुछ ऊँचा था। हमारी प्रान्तीय कमिटी ने गाँधीजी का ही आँकड़ा मंजूर कर लिया, मगर इससे मामला सुलझा नही, क्योंकि सरकार उसपर राज़ी न हुई।

प्रान्तीय सरकार एक कठिन परिस्थिति में थी। मालगुज़ारी ही उसकी आमदनी का बड़ा ज़रिया था, और अगर वह इसे बिलकुल उड़ा देती है या बहुत कम कर देती है तो उसे दिवालियापन का मुकाबिला करना पड़ता है। मगर साथ ही उसे किसानों के उभड़ पड़ने का भी काफ़ी अन्देशा था, और जहाँतक हो सके वह उन्हें काफ़ी लगान की छूट देकर तसल्ली भी देना चाहती थी। लेकिन दोनों तरफ़ फ़ायदे में रहना आसान न था। सरकार और किसानों के बीच में ज़मीदारवर्ग खड़ा था, जो कि आर्थिक दृष्टि से बेकार और ग़ैर-ज़रूरी वर्ग था, और यदि इस वर्ग को नुक़सान पहुँचाना गवारा किया जाय तो सरकार और किसान दोनों को रक्षण और सहायता मिल सकती थी। मगर ब्रिटिश-सरकार अपनी मौजूदा परिस्थिति में राज-

नैतिक कारणों से उस वर्ग को नाराज़ नहीं कर सकती थी, क्योंकि जो वर्ग उसका पल्ला पकड़े हुए थे उनमें एक वह भी है ।

आख़िर प्रान्तीय-सरकार ने ज़मींदार और काश्तकार दोनों के लिए ही छूट की घोषणा की । यह छूट कुछ बड़े पेचीदा तरीक़े पर दी गई थी, और पहले तो यही समझना मुश्किल था कि कितनी छूट दी गई है । मगर यह तो साफ़ ज़ाहिर था कि वह बहुत ही नाकाफ़ी थी । इसके अलावा छूट चालू क़िस्त के लिए ही घोषित की गई, और किसानों के पिछले बकाया कर्ज़े के बारे में कोई भी बात नहीं कही गई । यह तो ज़ाहिर था, कि अगर काश्तकार मौजूदा आधे वर्ष का लगान देने में असमर्थ है, तो वह पिछला बक़ाया या क़र्ज़ा चुकाने में तो और भी ज्यादा असमर्थ होगा । हमेशा ही ज़मींदारों का क़ायदा यह रहा था कि जितनी भी वसूली होती थी उसे वे पिछले बकाये में जमा किया करते थे । काश्तकार की दृष्टि से यह तरीका ख़तरनाक था । क्योंकि क़िस्त का कुछ-न-कुछ हिस्सा बाकी रह जाने की बिना पर उसके ख़िलाफ़, चाहे जब, मुक़दमा दायर किया जा सकता था और उसकी ज़मीन जब चाहे छीनी जा सकती थी ।

प्रान्तीय काँग्रेस-कार्यकारिणी बहुत ही कठिन स्थिति में पड़ गई । हमें विश्वास था कि काश्तकारों के साथ बहुत बेजा बर्ताव हो रहा है, मगर हम कुछ कर न सकते थे । हम किसानों से यह कहने की ज़िम्मेदारी नहीं लेना चाहते थे कि वे अदायगी न करें । हम बराबर यही कहते रहे कि उनसे जितना बन सके उतना वे अदा कर दें, और आम तौर पर उनकी मुसीबतों में उनके साथ हमदर्दी दिखाते और उन्हें हिम्मत बँधाने की कोशिश करते रहे । हम उनकी इस बात से सहमत थे, कि छूट कम करने पर भी क़िस्त की रक़म उनकी ताक़त के बाहर है ।

अब बल-प्रयोग की मशीन, क़ानूनी और ग़ैरक़ानूनी दोनों तरह से, चलने लगी । हज़ारों की तादाद में बेदख़ली के मुकदमे दायर होने लगे; गाय, बैल और ज़ाती मिल्कियत कुर्क होने लगी; ज़मींदारों के कारिन्दे मारपीट करने लगे । बहुतसे किसानों ने क़िस्त का कुछ हिस्सा जमा करा दिया । उनकी राय में, उनकी इतना ही देने की ताक़त थी । बहुत मुमकिन है कि कुछ लोग थोड़ा और दे सकते हों, लेकिन यह बिलकुल ज़ाहिर था कि ज्यादातर किसानों के लिए तो यह भी भारी बोझ था । मगर इस आंशिक अदायगी के कारण वे बच नहीं सके । क़ानून का एंजिन तो आगे बढ़ता ही गया, और रास्ते में जो कुछ आया उसे कुचलता ही गया । हालांकि क़िस्तों का थोड़ा हिस्सा चुका दिया गया था, फिर भी इजराय डिग्री जारी हो गई और पशुओं और व्यक्तिगत सम्पत्ति की कुर्की और नीलाम जारी रहा । अगर काश्तकार कुछ

भी न देते तो भी उनकी हालत इससे ज्यादा खराब न हो सकती थी; बल्कि, उतना रुपया बचा लेने से, उनकी हालत कुछ अच्छी ही रहती ।

वे बड़ी तादाद में हमारे पास ज़ोरदार शिकायत करते हुए आते थे, और कहते थे कि हमने आपकी सलाह मान ली और जितना हमसे बन सकता था उतना हमने अदा कर दिया, फिर भी यह नतीजा हुआ है । अकेले इलाहाबाद जिले में ही कई हज़ार काश्तकार बेदख़ल कर दिये गये थे, और कई हज़ारों के ख़िलाफ़ कोई-न-कोई मुक़दमा दायर कर दिया गया था । ज़िला काँग्रेस कमिटी का दफ्तर दिनभर परेशान काश्तकारों से घिरा रहता था । मेरा घर भी इसी तरह घिरा रहता था, और अक्सर मुझे लगता था कि मैं यहाँ से भाग जाऊँ, और कही छिप जाऊँ, जहाँ यह भयंकर दुर्दशा दिखाई न दे । कई काश्तकारों पर, जो हमारे यहाँ आते थे, चोट के निशानात थे, जो ज़मींदारों के कारिन्दों की मार के थे । हमने उनका इलाज अस्पताल में कराया । वे क्या कर सकते थे ? और, हम क्या कर सकते थे ? हमने युक्तप्रान्तीय सरकार के पास बड़े-बड़े पत्र भेजे । हमारी कमिटी ने नैनीताल या लखनऊ में प्रांतीय-सरकार से सम्पर्क रखने के लिए गोविन्दवल्लभ पन्त को अपनी तरफ से मध्यस्थ बनाया था । वह सरकार को निरन्तर लिखते रहे, हमारे प्रान्तीय सदर, तसद्दुक़अहमदखां शेरवानी भी लिखते रहे, और मैं भी लिखता था ।

जून-जुलाई की बारिश नज़दीक आने से एक और कठिनाई सामने आई । यह खेत जोतने और बोने का मौसम था । क्या बेदख़ल किसान बेकार बैठे रहे और अपने सामने अपनी ज़मीन खाली पड़ी देखते रहें ? किसान के लिए यह बड़ा मुश्किल था । यह तो उसकी आदत के ख़िलाफ़ था । कई लोगों की बेदखली सिर्फ़ क़ानूनी लिहाज से हो गई थी, उन्हें दरअसल हटा नहीं दिया था । सिर्फ़ अदालत का फ़ैसला हो गया था, इसके अलावा और कुछ नही हुआ था । इस हालत में क्या वे ज़मीन जोत डालें और इस तरह मदाख़लत बेजा का जुर्म कर लें, जिसमें शायद छोटे-मोटे दंगे की भी संभावना हो जाय ? यह देखना भी किसान के लिए मुश्किल था कि उसकी पुरानी ज़मीन को कोई दूसरा जोत ले । वे सब हमसे सलाह माँगने को आते थे । हम उन्हें क्या सलाह दे सकते थे ?

गर्मियों में जब मैं गाँधीजी के साथ शिमला गया तो मैंने यह कठिनाई भारत-सरकार के एक ऊँचे अधिकारी के सामने रक्खी, और उनसे पूछा कि अगर वह हमारी स्थिति में होते तो क्या सलाह देते ? उनका जवाब आँखें खोल देनेवाल था । उन्होंने कहा कि 'अगर कोई किसान, जिसकी ज़मीन छिन गई है, यह सवाल मुझसे पूछे तो मैं जवाब देने से इन्कार कर दूँगा ।' हालाँ कि ज़मीनपर से किसान का क़ब्ज़ा

क़ानूनन हटाया गया था, फिर भी वह उसको सीधा यह कहने को भी तैयार नहीं थे कि वह अपनी ज़मीन न जोते ! शिमला के पहाड़ पर बैठकर मिसलों पर इस तरह हुक्म देना, मानों वह गणित की किसी अमूर्त्त समस्या पर विचार कर रहे हों, उनके लिए तो आसान था। उन्हें या नैनीताल के प्रान्तीय प्रभुओं को मनुष्यों से सबका नही पड़ता था, और न वे मनुष्यों की मुसीबतों को ही अपनी आँखों से देखते थे।

शिमला में हमसे यह भी कहा गया कि हम किसानों को सिर्फ़ एक ही सलाह दें, कि उन्हें पूरी क़िस्त दे देनी चाहिए, या वे जितनी दे सकें उतनी दे देनी चाहिए। हमें क़रीब-क़रीब ज़मीदारों के कारिन्दो के जैसे ही काम करना चाहिए। दरअसल, कुछ ऐसी ही बात हमने उनसे तभी कह दी थी जबकि हमने उनसे कहा था कि जितना बने उतना अदा करदो। लेकिन, बेशक, हमने साथ ही यह कहा था कि उन्हें अपने पशु नहीं बेचने चाहिएँ, या नया क़र्ज़ा नही करना चाहिए। और इसका नतीजा भी जो-कुछ हुआ सो हम देख चुके थे।

यह गरमी हमारे लिए बड़ी भयंकर थी। हिन्दुस्तान के किसानों में मुसीबत सहने की अद्भुत शक्ति है, और उनपर हमेशा ज़रूरत से ज्यादा मुसीबतें आती भी रही हैं—अकाल, बाढ़, बीमारी और निरन्तर कुचलनेवाली दरिद्रता—और जब वे अधिक बरदाश्त नही कर सकते, तो चुपचाप, और मानों बग़ैर शिकायत किये, हज़ारों की संख्या में मर जाते है। यह उनका मुसीबतों से बचने का तरीक़ा रहा है। १९३१ में समय-समय पर आनेवाली पिछली मुसीबतों से ज्यादा कोई बड़ी बात नही थी। मगर, किसी कारण, १९३१ की घटनायें उन्हें ऐसी न लगी कि जो क़ुदरत की तरफ़ से आ गई हों और उन्हें चुपचाप बरदाश्त करना ही चाहिए। उन्होने विचार किया कि ये तो मनुष्य की लाई हुई है, और इसलिए वे उन्हें बुरी लगी। जो नई राजनैतिक तालीम उन्हे मिली थी, वह अपना असर दिखा रही थी। हमारे लिए भी १९३१ की ये घटनायें ख़ास तौर पर दर्दनाक थीं, क्योंकि किसी हदतक हम अपने-आपको उनके लिए ज़िम्मेदार समझते थे। क्या इस मामले में किसानों ने ज्यादातर हमारी सलाह नहीं मानी थी ? लेकिन, फिर भी, मेरा तो पूरा विश्वास है कि अगर हमारी निरन्तर सहायता न होती तो किसानों की हालत और भी बदतर हुई होती। हम उनको संगठित करके रखते थे, और उनकी एक ताक़त हो गई थी, जिसका खयाल रखना पड़ता था, और इसी कारण उन्हें इतनी छूट भी मिल गई जितनी शायद और तरह उन्हें न मिलती। और इन अभागे लोगों पर जो मार-पीट और सख़्ती की गई, वह, हालाँकि ख़राब थी, इनके लिए कोई नई बात न थी। हाँ, इस वक़्त उसकी मात्रा में कुछ फ़र्क़ था (क्योंकि इस वक़्त पहले से ज्यादा मात्रा में की गई थी), और कुछ

उसका प्रकाशन भी ज्यादा हुआ था। आम तौर पर, गाँवों में ज़मींदारों के कारिन्दों का काश्तकारों के साथ मार-पीट करना या उन्हें बहुत पीड़ा पहुँचाना भी मामूली बात समझी जाती है, और पिटनेवाले की मौत होजाने पर, सिवा वहाँ के, बाहर उसकी चर्चा भी नहीं होती। मगर हमारे संगठन और किसानों की जागृति के कारण अब ऐसा नहीं हो सकता था, क्योंकि इससे किसान सब एक-साथ हो गये थे और हर बात की रिपोर्ट कॉंग्रेस के दफ्तर में करते थे।

जैसे-जैसे गरमी का मौसम बीतता गया, ज़बरदस्ती वसूल करने की कोशिश कुछ ढीली हो गई और बल-प्रयोग की कार्रवाइयाँ कम पड़ने लगीं। अब हमें बहु-संख्यक बेदख़ल किसानों की फ़िक्र थी। उनके लिए क्या करना चाहिए? हम सरकार पर ज़ोर डाल रहे थे कि वह उन्हें उनके खेत वापस दिलवाने में मदद करे, जो कि ज्यादातर खाली ही पड़े थे। इससे भी ज्यादा ज़रूरी प्रश्न भविष्य का था। जो छूट मिली थी वह पिछली फ़सल के लिए ही थी, और भविष्य के लिए अभीतक कुछ भी तय नहीं हुआ था। अक्तूबर से अगली क़िस्त की वसूली का वक़्त आ जायगा। तब क्या होगा? क्या हमें इसी भयंकर घटना-चक्र में से फिर गुज़रना पड़ेगा? प्रान्तीय सरकार ने इसपर विचार करने के लिए एक छोटी-सी कमिटी नियुक्त की, जिसमें उसीके अधिकारी और प्रान्तीय कौंसिल के कुछ ज़मींदार मेम्बर थे। उसमें किसानों की तरफ़ से कोई प्रतिनिधि न था। अन्तिम क्षण, जब कि कमिटी ने काम भी शुरू कर दिया, सरकार ने हमारी तरफ़ से गोविन्दवल्लभ पन्त से उसमें शामिल होने को कहा। उन्होंने इतने अर्से बाद उसमें शामिल होने में कुछ फ़ायदा न देखा, जब कि ज़रूरी मामलों के निर्णय तो किये ही जा चुके थे।

युक्तप्रान्तीय कॉंग्रेस कमिटी ने भी किसानों के मुताल्लिक़ पिछली और मौजूदा कई हक़ीक़तें इकट्ठा करने और मौजूदा परिस्थिति पर अपनी रिपोर्ट देने के लिए एक छोटी-सी कमिटी बिठाई थी। इस कमिटी ने एक बड़ी रिपोर्ट पेश की, जिसमें युक्तप्रान्त के देहात की हालत का बड़ा योग्यता-पूर्ण निरीक्षण किया गया था, और भावों की भारी कमी के कारण आई हुई दुर्दशा का विश्लेषण किया गया था। उसकी सिफ़ारिशें बड़ी व्यापक थीं। उस रिपोर्ट पर, जो पुस्तक-रुप में प्रकाशित की गई थी, गोविन्दवल्लभ पन्त, रफ़ीअहमद किदवई और वेंकटेशनारायण तिवारी के दस्तख़त थे।

इस रिपोर्ट के निकलने के बहुत पहले ही गाँधीजी गोलमेज़-कान्फ़्रेन्स के लिए लन्दन जा चुके थे। वह बड़ी हिचकिचाहट के बाद गये थे, और इस हिचकिचाहट का एक सबब युक्तप्रान्त के किसानों की परिस्थिति भी थी। वास्तव में उन्होंने प्रायः यह तय कर लिया था कि अगर वह गोलमेज़-कान्फ़्रेन्स के लिए लन्दन न गये, तो

वह यू० पी० आयँगे और इस पेचीदा सवाल को हल करने में जुट पड़ेंगे । सरकार के साथ शिमला में जो आखिरी बातचीत हुई थी, उसमें और बातों के साथ युक्तप्रान्त की बात भी शामिल थी । उनके इंग्लैण्ड रवाना हो जाने के बाद भी हम, जो-कुछ होता था उसकी, पूरी-पूरी इत्तिला उन्हें देते रहते थे । पहले एक या दो महीने तक तो मैं उन्हें हर हफ्ते, हवाई और मामूली, दोनों डाकों से पत्र लिखा करता था । बाद में हम इतने नियमित रूप से नहीं लिखते थे, क्योंकि हमें उम्मीद थी कि वह जल्दी ही आजायँगे । उन्होंने हमसे कहा था कि वह ज्यादा-से-ज्यादा तीन महीने में, यानी नवम्बर में किसी वक़्त, लौट आयँगे, और हमें उम्मीद थी कि उस वक़्त तक हिन्दुस्तान में कोई संकट खड़ा न होगा । सबसे बड़ी बात यह थी कि उनकी ग़ैर-हाज़िरी में हम सरकार के साथ संघर्ष या संकट मोल लेना नही चाहते थे । मगर, जब उनके आने में देर लग गई और किसानों की समस्या तेज़ी से बढ़ने लगी, तब हमने उन्हें एक लम्बा तार भेजा, जिसमें ताज़ा-से-ताज़ा वाक़यात लिखे, और उन्हें इत्तिला की कि किस तरह हम कुछ-न-कुछ करने के लिए मजबूर हो रहे हैं । उन्होंने तार से जवाब दिया, कि इस मामले में मैं लाचार हूँ और इस समय कुछ नही कर सकता, और यह भी कह दिया कि जैसा हम लोगों को ठीक मालूम हो वैसा ही करते जायँ ।

प्रान्तीय कार्यकारिणी, कार्य-समिति को भी हर बात की इत्तिला देती रही । मैं ख़ुद उसमें अपनी जानकारी से बातें बताने को मौजूद था ही, मगर चूँकि मामला गंभीर होता जाता था, कमिटी ने हमारे प्रान्तीय सदर तसद्दुक़ शेरवानी और इलाहाबाद ज़िला कमिटी के प्रेसीडेण्ट पुरुषोत्तमदास टण्डन से भी बातचीत की ।

सरकार की किसान-सम्बन्धी कमिटी ने अपनी रिपोर्ट निकाली, और कुछ सिफ़ारिशें भी कीं, जो पेचीदा और गोल-मोल थीं और उसमें बहुत बातें मुक़ामी अफ़सरों के ऊपर छोड़ दी गई थीं । कुल मिलाकर उसमें जिस छूट की तजवीज़ की गई थी, वह पिछले मौसम की छूट से ज्यादा थी, मगर हमें मालूम हुआ कि यह छूट भी काफ़ी नहीं है । जिन आधारों पर उसमें सिफ़ारिशें की गई थीं उनपर, और सिफ़ारिशों के स्वरूप पर भी, हमने एतराज़ किया । इसके सिवा, रिपोर्ट में सिर्फ़ आगे का ही विचार किया गया था, मगर पिछले बकाया, कर्ज़, और बहुसंख्यक बेदख़ल कृषकों के सवाल पर कुछ नहीं कहा गया था । अब, हम क्या करते ? जिस तरह हमने पिछले चैत-बैसाख में किसानों से कहा था कि वे जितना बने उतना अदा कर दें, क्या अब भी हम किसानों को वही सलाह दें, और फिर वही नतीजे देखें ? हमने देख लिया था कि वह सलाह सबसे ज्यादा मूर्खता-पूर्ण थी, और फिर से नहीं दी जा सकती थी । या तो किसानों को चाहिए कि अगर वे दे सकें तो पूरी

रक़म अदा करें जो अब छूट काटकर उनसे माँगी जा रही है, या वे कुछ भी न दें और देखें कि क्या होता है। रक़म का कुछ हिस्सा दे देने से वे न इधर के रहते न उधर के। काश्तकारों का, जितना वे निकाल सकते हैं, सारा रुपया वग़ैरा भी चला जाता है, और उनकी ज़मीन भी छिन जाती है।

हमारी प्रान्तीय कार्य-कारिणी ने परिस्थिति पर देर तक और गंभीरता के साथ विचार किया और निश्चय किया कि सरकार की तजवीज़ें हालांकि पिछली गरमी की छूट से ज्यादा हैं लेकिन इतनी माफिक नही है कि उन्हें मौजूदा शकल में मंजूर कर लिया जाय। उनमें किसानों के हक़ में तबदीली होने की फिर भी सम्भावना थी, और इसके लिए हमने सरकार पर ज़ोर दिया। मगर हमें मालूम होता था कि अब कोई उम्मीद नहीं है, जिस संघर्ष को हम टालना चाहते थे, वह कुछ तेज़ी से आ रहा है। प्रान्तीय सरकार और भारत-सरकार का काँग्रेस-संगठन की तरफ़ रुख लगातार बदलता और सख़्त होता जा रहा था। हमारे बड़े-बड़े पत्रों के जवाब में हमें ज़रा-ज़रासा जवाब मिलने लगा, जिसमें बता दिया जाता था कि हम मुक़ामी अफ़सरों से लिखापढ़ी करें। यह ज़ाहिर था कि सरकार की नीति हमें किसी तरह भी प्रोत्साहित करने की नहीं थी। सरकार की एक मुसीबत और मुश्किल यह भी थी कि अगर किसानों को छूट देदी जाय तो काँग्रेस का रौब बढ जाने की सम्भावना थी। पुरानी आदत के कारण वह सिर्फ़ रौब के लिहाज से ही सोच सकती थी, और यह ख़याल, कि शायद जनता छूट का जस कांग्रेस को देने लगेगी, उसे नागवार हो रहा था, और वह इसे जहाँतक हो सके बचाना चाहती थी।

इस बीच हमारे पास दिल्ली और दूसरी जगहों से ये रिपोर्टें आ रहीं थी कि भारत-सरकार सारे काँग्रेस-आन्दोलन पर जल्दी ही एक ज़बरदस्त आक्रमण शुरू करनेवाली है। अब छोटी अंगुली ज्यादा ज़ोर से काम करनेवाली है और बिच्छू के डंक हमसे तोबा करानेवाले हैं। काँग्रेस के ख़िलाफ़ क्या-क्या करने की तजवीज़ है, इस की बहुत-सी तफ़सील भी हमें मिल गई। मेरा ख़याल है कि शायद नवम्बर में किसी वक़्त, डाक्टर अन्सारी ने मेरे पास (और काँग्रेस के सदर वल्लभभाई पटेल के पास भी, अलग) एक ख़बर भेजी, जिससे हमारी पिछली रिपोर्टों की ताईद होती थी, और जिसमें ख़ासकर सीमाप्रान्त और युक्तप्रान्त के प्रस्तावित आर्डिनेन्सों की तफ़सील भी थी। मेरा ख़याल है कि बंगाल को नये आर्डिनेन्स की सौग़ात मिल चुकी थी, या शायद मिलने ही वाली थी। कई हफ्ते बाद जब नये आर्डिनेन्स निकले, मानों वे किसी नई परिस्थिति का एकदम सामना करने के लिए निकले हों, तब डॉक्टर अन्सारी की ख़बर की बहुत-कुछ ताईद होगई, और उसकी तफ़सील भी बहुत हद तक सही

निकली। आम तौर पर यही माना गया कि सरकार ने, गोलमेज़ कान्फ़ेन्स के आशातीत लम्बा हो जाने से, अपना हमला रोक रक्खा था। उस समय जबकि गोलमेज़-कान्फ़ेन्स के मेम्बर आपस में बेमतलब की मीठी-मीठी कानाफूसी कर रहे थे, सरकार हिन्दुस्तान में आम दमन को टालना चाहती थी।

इसलिए तनातनी बढ़ती गई, और हम सभीको महसूस हो रहा था कि हमारे जैसे छोटे-छोटे लोगों के रोकने पर भी घटनायें अपने-आप आगे बढ़ रही हैं, और होनहार को कोई रोक न सकेगा। हम तो इतना ही कर सकते थे कि हम उनका मुक़ाबिला करने के लिए, और जीवन के उस नाटक में, जो शायद दुःखान्त होनेवाला था, व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से अपना हिस्सा ठीक तरह से अदा करने के लिए, अपने-आप को तैयार करलें। मगर हमें उम्मीद थी कि शक्तियों का यह संघर्ष शुरू होने से पहले गांधीजी लौट आयेंगे, और वह लड़ाई या सुलह की ज़िम्मेदारी अपने कन्धों पर उठा लेंगे। उनकी ग़ैरहाज़िरी में इस बोझ को उठाने के लिए हममें से कोई भी तैयार नहीं था।

युक्तप्रान्त में सरकार ने एक और काम किया जिससे देहाती हलकों में हलचल मच गई। काश्तकारों को छूट की चिट्ठियाँ बाँट दी गई, जिनमें छूट की रक़म बताई गई थी और यह धमकी शामिल थी कि अगर इसमें दिखाई हुई रक़म एक महीने में अदा न की जायगी (किसी-किसी चिट्ठी में इससे भी कम वक़्त दिया गया था), तो छूट रद कर दी जायगी, और पूरी रक़म क़ानूनी तरीक़े से—जिसका मतलब होता है बेदख़ली, कुर्की, वग़ैरा से—वसूल कर ली जायगी। मामूली बरसों में तो काश्तकार अपना लगान क़िस्तों में दो या तीन महीनों में अदा कर देते हैं। अबकी यह मामूली मियाद भी नही दी गई। सारे देहात के सामने एकदम नया संकट खड़ा हो गया, और चिट्ठयाँ हाथ में लेकर काश्तकार इधर-उधर उसका विरोध और शिकायत करते हुए, सलाह पूछने के लिए, दौड़ने लगे। सरकार या उसके मुक़ामी अफ़सरों की तरफ़ से यह एक मूर्खता-पूर्ण धमकी थी, और बाद को हमसे कहा गया कि यह संजीदगी से नहीं दी गई थी। मगर इससे शान्तिपूर्ण समझौते का मौक़ा बहुत कम रह गया, और क़दम-ब-क़दम लाज़िमी तौर पर संघर्ष नज़दीक आने लगा।

अब तो किसानों को और कॉंग्रेस को जल्दी ही फ़ैसला करना आवश्यक था। हम गाँधीजी के लौटने तक अपना फ़ैसला नहीं रोक सकते थे। हमें अब क्या करना चाहिए ? क्या सलाह देनी चाहिए ? जबकि हम यह जानते थे कि कई किसान इस मिली हुई छोटी-सी मियाद में अपनी रक़म अदा नहीं कर सकते, तो क्या यह वाजिब बात होती कि हम उन किसानों से कह देते कि वे अपनी रक़म अदा करदें ? और

फिर जो बक़ाया उनकी तरफ़ था, उसके बारे में क्या होगा ? अगर उनसे माँगी हुई रक़म का बड़ा हिस्सा भी वे अदा करदें, या हाल की पूरी रक़म भी अदा करदें, जो बक़ाये में जमा करली जायगी, तो भी क्या वे बेदख़ल किये जाने के ख़तरे से बच जायँगे ?

इलाहाबाद काँग्रेस कमिटी ने अपनी मज़बूत किसान-सेना के साथ लड़ाई का ज़ोर बाँधा। उसने फ़ैसला किया कि उसके लिए यह मुमकिन नहीं है कि वह किसानों को अदायगी कर देने की सलाह दे। मगर यह कह दिया गया कि प्रान्तीय कार्यकारिणी और अखिल-भारतीय कार्य-समिति की बाक़ायदा मंज़ूरी के बग़ैर वह कोई आक्रामक क़दम नहीं उठा सकती। इसलिए मामला कार्य-समिति के सामने पेश किया गया, और प्रान्त और ज़िले की तरफ़ से अपना मामला समझाने के लिए तसद्दुक़ शेरवानी और पुरुषोत्तमदास टंडन दोनों ही मौजूद रहे। हमारे सामने जो सवाल था वह सिर्फ़ इलाहाबाद ज़िले से ही ताल्लुक़ रखता था और वह शुद्ध आर्थिक मामला था, मगर हमने महसूस किया कि उस वक़्त जैसी राजनैतिक तनातनी हो रही थी उसमें उसका व्यापक परिणाम हो सकता था। क्या इलाहाबाद ज़िला कांग्रेस कमिटी को यह इजाज़त दे दी जाय कि वह कुछ वक्त के लिए, जबतक कि आगे सुलह की बातचीत न हो ले और ज्यादा अच्छी शर्तें न मिल जायँ तबतक के लिए, लगान या मालगुज़ारी अदा न करने की सलाह किसानों को दे दे ? यह एक छोटा मामला था और हम उसीतक महदूद भी रहना चाहते थे, लेकिन क्या हम ऐसा कर सकते थे ? कार्य-समिति गाँधीजी के लौटने से पहले सरकार से लड़ पड़ने की स्थिति को बचाने के लिए सारी ताक़त लगाकर कोशिश करना चाहती थी, और ख़ासकर वह एक ऐसे आर्थिक सवाल पर तो लड़ाई को टालना चाहती ही थी जिसके वर्ग-समस्या बन जाने की संभावना थी। कमिटी हालांकि राजनैतिक दृष्टि से आगे बढ़ी हुई थी, लेकिन सामाजिक दृष्टि से तो आगे बढ़ी हुई नहीं थी, और उसे किसान और ज़मींदारों का आपसी झगड़ा खड़ा होना पसन्द न था।

चूंकि मेरा झुकाव समाजवाद की तरफ़ था, मुझे आर्थिक और सामाजिक मामलों में सलाह देने के लिए भरोसे-लायक़ आदमी न समझा गया। मुझे ख़ुद यह महसूस हो रहा था कि कार्य-समिति को यह मालूम हो जाना चाहिए कि युक्तप्रान्त की परिस्थिति ही ऐसी है कि हमारे ज्यादा नरम और दाहिने बाज़ू के मेम्बर भी, संघर्ष करने की पूरी अनिच्छा रखते हुए भी, वाक़यात से मजबूर होकर संघर्ष करना चाहते हैं। इसलिए मैंने हमारी कमिटी की मीटिंग में हमारे प्रान्त से शेरवानी और दूसरे लोगों के आने को बहुत अच्छा समझा, क्योंकि शेरवानी, जो हमारे प्रान्त के सभापति थे, किसी भी

प्रकार उग्र नहीं थे। राजनैतिक और सामाजिक दोनों रूप में वह काँग्रेस में दाहिने बाजू के समझे जाते थे, और साल के शुरू में उनकी राय युक्तप्रान्तीय काँग्रेस कमिटी की किसानों-सम्बन्धी नीति के ख़िलाफ़ हो गई थी। मगर जब वह ख़ुद कमिटी के सदर बन गये और उन्हें ख़ुद बोझ उठाना पड़ा, तो उन्होंने समझ लिया कि हमारे लिए दूसरा चारा ही नही है। प्रान्तीय काँग्रेस कमिटी ने बाद में जो-जो भी क़दम उठाया वह उनके घने-से-घने सहयोग के साथ, और अक्सर सदर की हैसियत से उन्हींकी मार्फ़त, उठाया।

इसलिए कार्य-समिति के सामने तसद्दुक़ शेरवानी की बहस से मेम्बरों पर बड़ा असर पड़ा—मैं जितना असर डाल सकता था, उससे कहीं ज्यादा। बहुत सोच-विचार के बाद, लेकिन यह महसूस करके कि वह उससे इन्कार नहीं कर सकते हैं, उन्होंने युक्तप्रान्तीय कमिटी को अख़्त्यार दे दिया कि वह अपने किसी भी इलाक़े में लगान और मालगुज़ारी की अदायगी को मुल्तवी करने की इजाज़त दे सकती है। मगर, साथ ही, उन्होंनें युक्तप्रान्त के लोगों पर ज़ोर दिया कि हो सके तो वे इस क़दम को न उठायँ, और प्रान्तीय सरकार से सुलह की बातचीत चलाते रहें।

कुछ समय तक यह बातचीत चलाई गई; लेकिन नतीजा कुछ भी नहीं हुआ। मेरा ख़याल है कि इलाहाबाद ज़िले की छूट में थोड़ा-सा इजाफ़ा कर दिया गया। मामूली परिस्थिति में शायद यह मुमकिन होता कि आपस में समझौता हो जाता या खुला संघर्ष रुक जाता; क्योंकि अन्तर कम होता जा रहा था। मगर परिस्थिति बहुत ही असाधारण थी, और सरकार और काँग्रेस दोनों ही तरफ़ से यह भावना थी कि जल्दी ही संघर्ष होना लाज़िमी है, और हमारी निपटारे की बातचीत की तह में कोई असलियत नहीं थी। दोनों तरफ़ से जो-जो क़दम उठाया जाता था, उसमें ऐसा ही दिखता था कि यह अपने लिए अच्छी स्थिति पैदा कर लेने की ख़्वाहिश से उठाया जा रहा है। इसके लिए सरकार की तैयारियाँ तो गुप्त रूप से ही हो सकती थीं, और दरअसल सोलहों आना हो भी गई थीं। लेकिन हमारी शक्ति तो बिलकुल लोगों के दम-खम पर ही टिकी हुई थी, और इसकी तैयारी गुप्त कार्रवाइयों से नहीं हो सकती थी। हममें से कुछ लोगों ने तो, और मैं भी उन्ही कुसूरवारों में से था, आम भाषणों में यह बार-बार कहा था कि आज़ादी की लड़ाई हरगिज़ खतम नहीं हुई है, और हमें निकट-भविष्य में कई आजमाइशों और मुश्किलों से गुज़रना पड़ेगा। हमने लोगों से कहा कि वे इसके लिए हमेशा तैयार रहें, और इसी कारण हमें लड़ाई जगानेवाला कहकर हमारी निन्दा की गई थी। दरहक़ीक़त मध्यम-वर्गीय काँग्रेसी-कार्यकर्त्ताओं के अन्दर हक़ीक़तों का मुक़ाबिला करने की साफ़ अनिच्छा मालूम होती थी, और उन्हें उम्मीद थी कि

किसी-न-किसी तरह संघर्ष टल जायगा। गांधीजी के लन्दन में रहने से भी अख़बार पढ़नेवाले वर्गों का ध्यान उधर बंट जाता था। मगर पढ़े-लिखे लोगों की इस निष्क्रियता के होते हुए भी घटनायें आगे ही बढ़ती गईं। ख़ासकर बंगाल, सीमाप्रान्त और युक्तप्रान्त में—और नवम्बर में कई लोगों को यह दीखने लगा कि संकट नज़दीक आ ही रहा है।

युक्तप्रान्तीय कॉंग्रेस कमिटी ने, इस डर से कि अचानक न जाने कैसी घटनायें हो जायें, लड़ाई शुरू होने की अवस्था के लिए कुछ आन्तरिक व्यवस्था कर डाली। इलाहाबाद-कमिटी ने एक बड़ी किसान-कान्फ्रेन्स बुलाई, जिसमें एक आरज़ी ठहराव किया गया कि अगर ज्यादा अच्छी शर्तें न मिल सकेंगी, तो उन्हें किसानों को लगान और मालगुजारी रोक लेने की सलाह देनी पड़ेगी। इस प्रस्ताव से प्रान्तीय-सरकार बहुत नाराज़ हुई, और इसीको 'लड़ाई का काफ़ी सबब' समझकर उसने हमारे साथ आगे कोई भी बातचीत करने से इन्कार कर दिया। इस रुख़ का प्रान्तीय कॉंग्रेस पर भी असर पड़ा, और उसने इसको आनेवाले तूफ़ान का निशान समझा और जल्दी-जल्दी अपनी तैयारियाँ करना शुरू किया। इलाहाबाद में एक और किसान-कान्फ्रेन्स हुई, जिसमें पहले से भी ज्यादा तेज़ और निश्चित प्रस्ताव पास किया गया। इसमें किसानों से कहा गया कि वे आगे और निपटारे की बातचीत होने और ज्यादा अच्छी शर्तें मिलने तक के लिए अदायगी रोक लें। उस वक्त भी, और अख़ीर तक, हमारी लड़ाई का रुख़ यह नहीं था कि 'लगान न दिया जाय', मगर यह था कि 'मुनासिब लगान दिया जाय'। और हम लगातार बातचीत करने की दरख्वास्त करते ही रहे, हालांकि दूसरा पक्ष ऐंठ में दूर हट गया था। इलाहाबाद का ठहराव ज़मींदारों और काश्तकारों दोनों पर लागू था, मगर हम जानते थे कि अमल में वह काश्तकारों और कुछ छोटे ज़मींदारों पर ही लागू होगा।

नवम्बर १९३१ के अन्त और दिसम्बर के शुरू के क़रीब युक्तप्रान्त में यह परिस्थिति थी। इस बीच बंगाल और सीमा-प्रान्त में भी घटनायें हद तक पहुँच चुकी थीं, और बंगाल में एक नया और भयंकर रूप से व्यापक आर्डिनेन्स जारी कर दिया गया था। ये सब लड़ाई के चिन्ह थे, न कि सुलह के, और सवाल उठता था कि: गांधीजी कब लौटेंगे? सरकार ने जिस बड़े प्रहार की तैयारी बहुत अर्से से कर रक्खी थी, उसके शुरू किये जाने से पहले क्या गांधीजी हिन्दुस्तान आ पहुँचेंगे? या, क्या वह यहाँ पहुँचकर यह देखेंगे कि उनके कई साथी जेल जा चुके हैं और लड़ाई चालू हो गई है? हमें मालूम हुआ कि वह इंग्लैंड से रवाना हो चुके हैं और साल के आख़िरी हफ्ते में बम्बई आ पहुँचेंगे। हममें से हरेक, मुख्य कार्यालय का या प्रान्तों का हर

प्रमुख कार्यकर्ता, उनके लौटने तक लड़ाई टालना चाहता था। और लड़ाई के लिहाज़ से भी हमारे लिए यह वाञ्छनीय था कि हम उनसे मिल लें, और उनकी सलाह और हिदायतें हासिल कर लें। यह एक इस तरह की दौड़ थी, जिसमें हम मजबूर थे। इसमें सूत्रपात ब्रिटिश सरकार के हाथ में था।

# ४०

## सुलह का ख़ात्मा

युक्तप्रान्त में मेरे मशग़ूल रहने के बावजूद बहुत अर्से से मेरी यह ख़्वाहिश थी कि मैं दूसरे दोनों तूफानी केन्द्रों—सीमाप्रान्त और बंगाल—में भी हो आऊँ। मैं उस जगह जाकर वहाँ की परिस्थिति का अध्ययन करना और अपने पुराने साथियों से, जिनमें से अनेक को मैंने क़रीब दो साल से नहीं देखा था, मिलना चाहता था। मगर, सबसे ज्यादा, मैं यह चाहता था कि मैं उन प्रान्तों के लोगों की स्पिरिट और हिम्मत के, और राष्ट्रीय संग्राम में उनकी क़ुर्बानियों के प्रति अपनी तरफ़ से सम्मान प्रकट करूँ। सीमाप्रान्त में तो कुछ समय के लिए मैं जा ही नहीं सकता था, क्योंकि भारत-सरकार यह पसन्द नहीं करती थी कि कोई प्रमुख कांग्रेसी वहाँ जाय, और उसके इस रुख़ को देखते हुए हम वहाँ जाने और अड़चन पैदा करने की कोई इच्छा नहीं रखते थे।

बंगाल में स्थिति बिगड़ती जा रही थी, और हालाँकि उस प्रान्त की तरफ़ मुझे बहुत आकर्षण था, फिर भी जाने के पहले मुझे बड़ी हिचकिचाहट हुई। मैं महसूस करता था कि मैं वहाँ असहाय-सा रहूँगा, और कुछ भी फ़ायदा न पहुँचा सकूँगा। उस प्रान्त में कांग्रेसी लोगों के दो दलों के शोचनीय और दीर्घकालीन झगड़ों के सबब से बाहरी कांग्रेसवाले बहुत अर्से से डर गये थे और दूर-दूर रह रहे थे, क्योंकि उन्हें भय था कि वे भी किसी-न-किसी दल में शामिल समझ लिये जायँगे। यह बड़ी कमज़ोर और चिमगादड़ी नीति थी, और इससे बंगाल की समस्या के सरल होने या हल होने में मदद नहीं मिली। गांधीजी के लंदन जाने के कुछ वक़्त बाद ही दो घटनायें अचानक ऐसी हुई जिनसे सारे हिन्दुस्तान का ध्यान बंगाल की स्थिति पर केन्द्रित हो गया। ये दोनों घटनायें हिजली और चटगाँव में हुई थी।

हिजली नजरबन्दों के लिए ख़ास तौर पर बनाया हुआ एक डिटेन्शन-कैम्प जेल था। सरकारी तौर पर यह घोषित किया गया कि कैम्प के अन्दर एक दंगा हो गया और नजरबन्दों ने जेल के मुलाज़िमों पर हमला कर दिया, इसलिए उनपर मजबूरन जेलवालों को गोली चलानी पड़ी। इस गोलीकाण्ड से एक नज़रबन्द मारा गया और कई घायल हुए। एक मुक़ामी सरकारी तफ़तीश ने, जो उसके बाद ही फ़ौरन की गई थी, जेलवालों को इस गोलीकाण्ड और इसके नतीजों से बिलकुल बरी कर दिया। मगर इस घटना में कई विचित्र बातें हुईं, और कई तथ्य

ऐसे प्रकट हो गये, जो सरकारी बयान से मेल नही खाते थे, और जगह-जगह से इसकी ज्यादा जाँच करने की ज़ोरदार और ज़बरदस्त माँग की गई। हिन्दुस्तान के आम सरकारी रिवाज़ के ख़िलाफ़ बंगाल-सरकार ने एक ऐसी जाँच-कमिटी मुक़र्रर कर दी, जिसमें सब ऊँचे-ऊँचे जुडीशियल अफ़सर ही थे। वह शुद्ध सरकारी कमिटी थी, लेकिन उसने शहादतें लीं और मामले पर पूरा विचार किया, और उसकी रिपोर्ट डिटेन्शन-कैम्प जेल के मुलाज़िमों के ख़िलाफ़ हुई। यह तसलीम किया गया कि क़ुसूर ज्यादातर जेल के मुलाज़िमों का ही था, और गोलीकाण्ड बिलकुल अनुचित था। इस तरह सरकार के जो पहले कम्यूनिक निकले थे वे बिलकुल झूठे साबित हुए।

हिजली की घटना कोई बहुत असाधारण नही थी। बदक़िस्मती से ऐसी घटनायें हिन्दुस्तान में कम नही होतीं और जेल के अन्दर दंगों के होने की और जेल में हथियार-बन्द वार्डरों और दूसरे लोगों द्वारा निहत्थे और बेबस क़ैदियों के मर्दानगी से दबाये जाने की खबरें अक्सर पढ़ने को मिला करती हैं। हिजली में असाधारण बात यही हुई कि उससे ऐसी घटनाओं के बारे में सरकारी कम्यूनिकों के बिलकुल एक-तर्फ़ापन और झूठेपन की पोल खुल गई, और वह भी सरकारी रिपोर्ट से ही। पहले ही सरकार के कम्यूनिकों का कोई भरोसा नही किया जाता था, मगर अब तो उनका पूरा-पूरा भण्डाफोड़ ही हो गया।

हिजली-काण्ड के बाद तो जेल की घटनायें, जिनमें जेलवालों द्वारा कहीं गोली चलाई जाती थी और कही दूसरे प्रकार का कोई बल-प्रयोग किया जाता था, सारे हिन्दुस्तान-भर में बड़ी तादाद में होने लगी। ताज्जुब की बात यह है कि इन जेल के दंगों में चोट सिर्फ़ क़ैदियों को ही लगती मालूम होती थी। क़रीब-क़रीब हर मामले में एक सरकारी वक्तव्य निकलता था, जिसमें क़ैदियों पर कई बेजा हरकतों का इलज़ाम लगाया जाता था, और जेल के मुलाज़िमों को बचाया जाता था। बहुत ही कम मिसालों में जेलवालों को महक़मे की तरफ़ से कोई सजा दी गई होगी। पूरी जाँच करने की तमाम माँगों के लिए बिलकुल इन्कार कर दिया गया, सिर्फ़ महकमे की एक तरफ़ की जाँच ही काफ़ी समझी गई। साफ़ ज़ाहिर था कि सरकार ने हिजली से अच्छी तरह सबक़ सीख लिया था कि मुनासिब और निष्पक्ष जाँच कराने में ख़तरा रहता है और मुस्तग़ीस ही खुद अपने इलज़ाम का सबसे अच्छा जज होता है। तो फिर इसमें भी क्या ताज्जुब है कि लोगों ने भी हिजली से सबक़ सीख लिया हो, कि सरकारी कम्यूनिकों में वही बात कही जाती है जो सरकार हमसे कहना चाहती है, न कि वह जो दरअसल घटित होती है?

चटगाँव कीं घटना तो इससे भी बहुत ज्यादा गम्भीर थी। एक आतंकवादी ने

किसी एक मुसलमान पुलिस-इन्स्पेक्टर को गोली से मार डाला। इसके बाद ही एक हिन्दू-मुसलिम दंगा हो गया, या उसे ऐसा नाम दिया गया। मगर यह तो ज़ाहिर था कि मामला इससे कुछ बहुत ज्यादा था और वह मामूली दंगों से कुछ भिन्न था। यह स्पष्ट था कि आतंकवादी के काम का साम्प्रदायिकता से कोई ताल्लुक़ न था; यह हमला तो हिन्दू या मुसलमान का ख़याल न रखते हुए एक पुलिस-अफ़सर पर हुआ था। फिर भी यह तो सही ही है कि बाद मे हिन्दू-मुसलमानों में कुछ झगड़ा भी होगया। यह झगड़ा कैसे शुरू हुआ, उसके होने का कारण कौन-सा था, यह साफ़ नही बताया गया, हालांकि जिम्मेदार सार्वजनिक व्यक्तियों ने इस मामले में बहुत गंभीर-गंभीर इलज़ाम लगाये है। इस दंगे की एक और विशेषता यह थी कि इसमें दूसरी जातियों के निश्चित समुदायों ने, एंग्लो-इण्डियनों ने, ख़ासकर रेलवे मुलाज़िमों ने और दूसरे सरकारी मुलाज़िमों ने भी--जिनके बारे में कहा जाता है कि उन्होंने बड़े पैमाने पर बदला लेने के कार्य किये—हिस्सा लिया। जे० एम० सेनगुप्त और बंगाल के दूसरे मशहूर लीडरों ने चटगाँव के वाक़यात के बारे में कई निश्चित आरोप लगाये, और उन्होंने जाँच करने या मान-हानि का मुक़दमा चलाने तक की चुनौती दी, मगर फिर भी सरकार ने कोई कार्रवाई न करना ही अच्छा समझा।

चटगाँव की इन कुछ असाधारण घटनाओं से दो ख़तरनाक संभावनाओं की तरफ़ विशेष ध्यान गया। आतंकवाद की कई लिहाज़ से निन्दा की गई थी; और आधुनिक क्रान्तिकारी पद्धति भी उसको बुरा बताती थी। मगर उसका एक नतीजा ऐसा भी हो सकता था, जिससे मुझे ख़ास तौर पर भय लगता था। वह संभावना थी हिन्दुस्तान में इक्के-दुक्के और साम्प्रदायिक हिंसा-काण्डों का फैलना। हालांकि मैं हिंसा-काण्डों को नापसन्द करता हूँ, लेकिन मैं उससे डर जानेवाला 'डरपोक हिन्दू' नहीं हूँ। मगर मैं यह ज़रूर महसूस करता हूँ कि हिन्दुस्तान में फूट फैलानेवाली ताक़तें अभीतक भी बहुत बड़ी-बड़ी है, और अगर ऐसे इक्के-दुक्के हिंसा-काण्ड होने लगेंगे तो उनसे उन ताक़तों को मदद मिल जायगी, और एक संयुक्त और अनुशासन-युक्त राष्ट्र बनाने का काम आज से भी ज्यादा मुश्किल हो जायगा। जब लोग मज़हब के नाम पर या बहिश्त जाने के लिए क़त्ल करते हैं, तो ऐसे लोगों को आतंककारी हिंसा का अभ्यास करा देना बड़ी ख़तरनाक बात होगी। राजनैतिक ख़ून करना बुरा है। लेकिन राजनैतिक आतंकवादी को समझाकर अपनी राय का बना लिया जा सकता है, क्योंकि शायद उसका लक्ष्य दुनियवी है, और व्यक्तिगत नहीं बल्कि राष्ट्रीय है। मगर मज़हबी ख़ून करना तो और भी बुरा है, क्योंकि उसका ताल्लुक़ दूसरी दुनिया से है, और ऐसे मामलों में दलील से समझाने की भी कोई कोशिश नहीं कर

सकता। कभी-कभी तो दोनों के बीच में फ़र्क़ बहुत ही बारीक रहता है और क़रीब-क़रीब मिट-सा जाता है, और राजनैतिक हत्या, एक आध्यात्मिक प्रक्रिया से, अर्ध-धार्मिक बन जाती है।

किसी आतंकवादी द्वारा एक पुलिस-अफ़सर के क़त्ल किये जाने से और उसके नतीजों से हरेक को बहुत साफ़ तौर पर यह महसूस होने लगा कि आतंककारी हलचल से बड़ी ख़तरनाक बातें पैदा हो सकती हैं और हिन्दुस्तान की एकता और आज़ादी के काम को बेहद नुक़सान पहुँच सकता है। इसके बाद जो बदला लेने की घटनायें हुईं उनसे भी हमें मालूम हुआ कि हिन्दुस्तान में फ़ासिस्ट तरीक़े पैदा हो चुके हैं, और फ़ासिस्ट मनोवृत्ति यूरोपियन और एंग्लो-इंडियन जातियों में तो निःसन्देह फैल ही चुकी है। हिन्दुस्तान में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के कई पिछलग्गुओं में भी यह मनोवृत्ति घर कर चुकी है।

यह एक विचित्र बात है, लेकिन खुद आतंककारियों का या उनमें से कई लोगों का भी यही फ़ासिस्ट दृष्टिकोण है, हालाँकि उसकी दिशा दूसरी है। उनका राष्ट्रीय फ़ासिस्टवाद यूरोपियनों, एंग्लो-इण्डियनों और कुछ उच्चवर्गीय हिन्दुस्तानियों के साम्राज्यवादी फ़ासिस्टवाद का मुक़ाबिला करता है।

नवम्बर १९३१ में मैं कुछ दिनों के लिए कलकत्ता गया। वहाँ मेरा कार्यक्रम बहुत भरा-पूरा रहा, और ख़ानगी तौर पर व्यक्तियों और समुदायों से मिलने के अलावा मैंने कई आम सभाओं में भी भाषण दिये। इन तमाम सभाओं में मैंने आतंकवाद के सवाल पर भी विचार किया और यह बताने की कोशिश की कि हिन्दुस्तान की आज़ादी के लिए वह कितना ग़लत व बेकार और नुक़सानदेह है। मैंने आतंकवादियों को बुरा नहीं कहा, न मैंने उन्हें हमारे कुछ ऐसे देशवासियों की तरह 'कायर' ही कहा, जिन्होंने शायद ही कभी मर्दाना या ख़तरे का कोई काम करने का साहस किया हो। मुझे हमेशा यह बड़ी बेवक़ूफ़ी की बात मालूम हुई है कि ऐसे स्त्री या पुरुष को, जो कि लगातार अपनी जान को ख़तरे में डालता रहता है, कायर कहा जाय। इसका असर उस आदमी पर यह होता है कि वह अपने डरपोक समालोचकों से, जो दूर खड़े रहकर ही चीख़ते हैं लेकिन कुछ भी करने के क़ाबिल नहीं हैं, कुछ ज्यादा हिक़ारत करने लगता है।

एक दिन शाम को कलकत्ते में, वहाँ से रवाना होने के लिए मेरे स्टेशन पर जाने से थोड़े ही वक़्त पहले, मेरे पास दो युवक आये। वे बहुत ही कम-उम्र, क़रीब बीस-बीस साल के, नौजवान थे। उनके चेहरे पीले थे और उनपर घबराहट झलक रही थी। उनकी आँखें चमकदार थीं। मुझे मालूम न था कि वे कौन थे, लेकिन मैं अन्दाज़ से

समझ गया कि उनके ज़िम्मे क्या काम था। वे आतंकवादी हिंसा के ख़िलाफ़ मेरे प्रचार के कारण मुझपर बहुत नाराज़ थे। उन्होंने कहा कि उससे नौजवानों पर बहुत बुरा असर पड़ रहा है; इस तरह मेरा दख़ल देना वे पसन्द नही करते। हमने थोड़ी-सी बहस भी की, लेकिन वह बड़ी जल्दी-जल्दी में हुई, क्योंकि मेरे रवान होने का वक़्त नज़दीक आ रहा था। मेरा ख़याल है कि उस समय हमारी आवाज़ और हमारा मिज़ाज तेज़ हो गया था, और मैंने उनसे कुछ सख़्त बातें भी कह दी थीं; और जब मैं उन्हें वहीं छोड़कर चलने लगा, तो उन्होंने मुझे आख़िरी आगाही दी कि "अगर आगे भी आपका यही रवैया रहा तो हम आपके साथ भी वही सुलूक करेंगे जैसा कि हमने दूसरों के साथ किया है।"

इस तरह मैं कलकत्ते से चल दिया, और रात को गाड़ी में अपने बर्थ पर लेटे हुए मेरे दिमाग़ में उन्हीं दो लड़कों के उत्तेजित चेहरे बहुत देर तक चक्कर काटते रहे। उनमें जीवन और जोश भरा हुआ था; अगर वे ठीक रास्ते में लग जाते तो कितने अच्छे बन सकते थे? मैंने उनके साथ जल्दी-जल्दी में और कुछ रूखा व्यवहार किया था। काश मुझे लम्बी बात-चीत करने का मौक़ा मिलता! शायद मैं उन्हें दूसरी दिशाओं में हिन्दुस्तान की सेवा और आज़ादी के रास्ते में, जिसमें कि साहस और आत्मत्याग के मौक़े की भी कमी न थी, अपने होनहार जीवन को लगाने का विश्वास दिला सकता। उस घटना के बाद भी मैं अक्सर उन लोगों का विचार किया करता हूँ। मुझे उनके नाम मालूम न हो सके, और न बाद में ही कुछ मुझे उनका पता लगा। मैं कई दफ़ा सोचता हूँ कि क्या वे मर चुके हैं, या अण्डमान टापुओं की किन्हीं कोठरियों में बन्द हैं?

दिसम्बर का महीना था। इलाहाबाद में दूसरी किसान-कान्फ़ेन्स हुई, और फिर मैं हिन्दुस्तानी-सेवा-दल के अपने पुराने साथी डाक्टर एन० एस० हार्डीकर को दिये अपने एक पिछले वचन को पूरा करने के लिए जल्दी में कर्नाटक गया। सेवा-दल राष्ट्रीय आन्दोलन की एक स्वयंसेवक-शाखा थी। वह हमेशा काँग्रेस का सहायक रहा, यद्यपि उसका संगठन बिलकुल अलग ही था। लेकिन १९३१ की गर्मियों में कार्य-समिति ने उसे बिलकुल काँग्रेस में शामिल करने और उसे काँग्रेस का स्वयंसेवक-विभाग बना लेने का निश्चय कर लिया। ऐसा ही हो भी गया, और हार्डीकर को और मुझे उसका चार्ज सौंपा गया। दल का हेडक्वार्टर कर्नाटक प्रदेश के हुबली शहर में ही रहा, और हार्डीकर ने मुझे दल-सम्बन्धी कई कामों के लिए वहाँ बुलाया था। फिर मुझे कुछ दिन के लिए कर्नाटक में दौरा करने को ले गये। सब दूर लोगों का ज़बरदस्त जोश देखकर मैं दंग रह गया। लौटते वक़्त मैं शोलापुर भी गया, जिसका नाम फ़ौजी क़ानून के दिनों में मशहूर हो चुका था।

कर्नाटक के उस दौरे ने मेरे लिए विदाई के समारोह का रूप धारण कर लिया। मेरे भाषण हंस के अन्तिम संगीत जैसे थे, जिसे वह अपने मरने से पहले गाया करता है, लेकिन उनमें तेज़ी ज्यादा थी और संगीत कम था। युक्तप्रान्त से जो ख़बर मिली वह निश्चित और साफ़ थी। सरकार ने वार कर दिया था, और वह सख़्त था। इलाहाबाद से कर्नाटक जाते वक़्त मैं कमला के साथ बम्बई गया था। वह फिर बीमार हो गई थी। मैंने बम्बई में उसके इलाज का इन्तज़ाम कर दिया। बम्बई में ही, और क़रीब-क़रीब हमारे इलाहाबाद से वहाँ पहुँचने के बाद ही, हमें यह पता लगा कि भारत-सरकार ने युक्तप्रान्त के लिए एक ख़ास आर्डिनेन्स जारी कर दिया है। सरकार ने तय कर लिया था कि वह गाँधीजी के आने का इन्तज़ार न करेगी, हालाँकि गांधीजी जहाज़ पर चल दिये थे और जल्दी ही बम्बई आनेवाले थे। समझा तो यह गया कि आर्डिनेन्स किसानों के आन्दोलन के ही लिए बनाया गया था, लेकिन वह इतना ज्यादा व्यापक था कि उससे हर प्रकार की राजनैतिक या सार्वजनिक प्रवृत्ति असम्भव हो गई। उसमें बच्चों या नाबालिग़ों के अपराधों के लिए वालदैन या सरपरस्तों को सज़ा देने का विधान भी किया गया। यह इंजील के ज़माने के रिवाज़ की ख़ूब उलटी आवृत्ति थी।

क़रीब-क़रीब इन्हीं दिनों हमने गांधीजी की उस बातचीत की रिपोर्ट पढी, जो रोम में 'ग्योरनेल डि इटालिया' के प्रतिनिधि से हुई बताई गई थी। इसे पढ़कर हम अचम्भे में पड़ गये, क्योंकि इस तरह रोम में राह चलते 'इंटरव्यू' दे देना उनकी आदत के खिलाफ़ था। ज्यादा ग़ौर से जाँच करने पर कई शब्द और वाक्य ऐसे मिले जो उनके प्रयोग में नहीं आते थे, और उसका खण्डन आने से पहले ही हमें साफ़ हो गया कि जिस तरह की 'इंटरव्यू' प्रकाशित हुई है वह उनकी दी हुई नहीं हो सकती। हमारा ख़याल हुआ कि उन्होंने जो भी कहा होगा, उसको बहुत ज्यादा तोड़-मरोड़कर बनाया गया है। बाद में तो गांधीजी का ज़ोरदार खण्डन भी निकला, और यह बयान भी निकला कि उन्होंने रोम में कोई वक़्तव्य ही नहीं दिया। हमें मालूम हो गया कि किसीने उनके साथ यह चालाकी की है। मगर हमें इस बात से आश्चर्य हुआ कि ब्रिटेन के अख़बारों और सार्वजनिक लोगों ने उनकी बात पर विश्वास नहीं किया और नफ़रत-सी दिखाते हुए उन्हें झूठा बतलाया। इससे हमें चोट पहुँची और ग़ुस्सा भी आया।

मैं इलाहाबाद वापस जाने और कर्नाटक का दौरा बन्द कर देने को उत्सुक था। मुझे लगा कि मुझे तो अपने सूबे में अपने साथियों के साथ रहना चाहिए, और जब अपने घर में इतनी घटनायें हो रही हों तब उनसे बहुत दूर रहना एक कठोर

परीक्षा ही थी। फिर भी मैंने तय किया कि मैं कर्नाटक के कार्य-क्रम को पूरा ही कर डालूँ। मेरे बम्बई आने पर कुछ दोस्तों ने मुझे सलाह दी कि मैं गांधीजी की वापसी तक, जो कि एक ही हफ्ते बाद आनेवाले हैं, ठहरा रहूँ। मगर यह नामुमकिन था। इलाहाबाद से पुरुषोत्तमदास टण्डन और दूसरे लोगों की गिरफ्तारी की ख़बर आई। इसके अलावा हमारी प्रान्तीय कान्फ़ेन्स भी इटावा में उसी हफ्ते में होनेवाली थी। इसलिए मैंने तय किया कि मैं पहले इलाहाबाद जाऊँ और फिर एक हफ्ते बाद, अगर आज़ाद रहा तो, गाँधीजी से मिलने और कार्य-समिति की मीटिंग में शरीक होने को बम्बई लौट आऊँ। मैंने कमला को रोगशय्या पर बम्बई में ही छोड़ा।

मुझे इलाहाबाद पहुँचने से पहले ही, छौंकी स्टेशन पर, नये आर्डिनेन्स के मुताबिक़ एक हुक्म मिला। इलाहाबाद स्टेशन पर उसी हुक्म की दूसरी नक़ल मुझे देने की कोशिश की गई। और, मेरे मकान पर भी एक तीसरे शख़्स ने ऐसी ही तीसरी कोशिश की। ज़ाहिर था कि सरकार कोई भी जोखम उठाना नहीं चाहती थी। उस हुक्म के मुताबिक मैं इलाहाबाद की म्युनिसिपल हद के अन्दर नज़रबन्द कर दिया गया, और मुझसे कहा गया कि मुझे किसी आम मीटिंग में या कार्य में शामिल न होना चाहिए, किसी सभा में भाषण न करना चाहिए, किसी अख़बार या पत्रिका में कोई लेख नहीं लिखना चाहिए। और भी कई पाबन्दियाँ लगा दी गई थीं। मुझे मालूम हुआ कि मेरे साथियों के नाम भी, जिनमें तसद्दुक़ शेरवानी भी शामिल थे, इसी प्रकार के हुक्म जारी किये गये हैं। दूसरे दिन सवेरे ही मैंने ज़िला-मजिस्ट्रेट को (जिसने हुक्म जारी किये थे) लिख दिया कि मुझे क्या करना चाहिए या क्या न करना चाहिए, इसकी बाबत मैं आपसे हुक्म नहीं लेना चाहता; मैं अपना मामूली काम हस्बमामूल करूँगा, और अपने काम के सिलसिले में इस हफ्ते में मैं गांधीजी से मिलने और कार्य-समिति की, जिसका मैं सेक्रेटरी हूँ, मीटिंग में शरीक होने बम्बई जल्दी जानेवाला हूँ।

एक नई समस्या भी हमारे सामने खड़ी हो गई। हमारी युक्तप्रान्तीय-कान्फ्रेन्स उसी हफ्ते इटावा में होनेवाली थी। बम्बई से मैं इस कान्फ्रेन्स को स्थगित करवाने की तजवीज़ पेश करने के इरादे से आया था, क्योंकि एक तो वह गांधीजी के आने के दिनों में ही होनेवाली थी और दूसरे सरकार से अभी संघर्ष भी टालना था। लेकिन मेरे इलाहाबाद आने से पहले ही यू० पी० सरकार की तरफ़ से हमारे सदर शेरवानी साहब के पास एक ताक़ीदी ख़त आया था, जिसमें पूछा गया था कि क्या आपकी कान्फ्रेन्स में किसानों के सवाल पर भी विचार किया जायगा? क्योंकि अगर ऐसा होनेवाला हो, तो सरकार कान्फ्रेन्स को ही बन्द कर देगी। यह तो साफ़ ज़ाहिर था कि

कान्फ्रेन्स का ख़ास मक़सद ही किसानों की समस्या पर विचार करना था, जिससे कि सारे प्रान्त में खलबली मच रही थी। कान्फ्रेन्स करना और उसमें इस सवाल पर ग़ौर न करना तो मूर्खता की हद थी और अपने-आपकी हँसी कराना ही था। कुछ भी हो, हमारे सदर साहब को या और किसीको भी यह अख़्त्यार न था कि वह कान्फ्रेन्स को किसी बात के लिए पहले से ही बाँध दें। सरकार की धमकी के बग़ैर भी हम कुछ लोगों का यह इरादा तो था ही कि कान्फ्रेन्स स्थगित की जाय, मगर इस धमकी से तो बात ही और हो गई। हममें से कई लोग ऐसे मामलों में कुछ-कुछ ज़िद्दी थे, और सरकार-द्वारा हमें ऐसा हुक्म दिया जाना किसीको अच्छा न लगा। फिर भी, बड़ी बहस के बाद, हमने तय कर लिया कि इस वक़्त हमें अपने स्वाभिमान को पी जाना चाहिए और कान्फ्रेन्स को स्थगित कर देना चाहिए। हमने यह फ़ैसला इस-लिए किया कि हम गांधीजी के आने तक लड़ाई को, जो शुरू तो हो ही चुकी थी, किसी भी हालत में ज्यादा बढ़ाना नहीं चाहते थे। हम उन्हें ऐसी परिस्थिति के अन्दर नहीं डाल देना चाहते थे, जिसमें वह बागडोर अपने हाथ में न ले सकें। हमारे प्रान्तीय कान्फ्रेन्स को मुल्तवी कर देने पर भी इटावा में पुलिस और फ़ौज का ख़ूब प्रदर्शन किया गया, कुछ भूले-भटके प्रतिनिधि जो वहाँ पहुँच गये थे वे गिरफ्तार कर लिये गये, और वहाँ लगी स्वदेशी-प्रदर्शनी पर फ़ौज ने क़ब्ज़ा कर लिया।

शेरवानी ने और मैंने २६ दिसम्बर की सुबह को इलाहाबाद से बम्बई रवाना होना तय किया। शेरवानी को कार्य-समिति की मीटिंग में यू० पी० की स्थिति पर विचार करने के लिए ख़ास तौर पर बुलावा दिया गया था। हम दोनों को ही आर्डिनेन्स के मुताबिक़ यह हुक्म मिल चुके थे कि हम इलाहाबाद शहर न छोड़ें। कहा गया था कि आर्डिनेन्स यू० पी० के इलाहाबाद और दूसरे ज़िलों में लगानबन्दी की हलचलों के ख़िलाफ़ जारी किया गया है। यह समझना तो आसान है कि सरकार हमारा इन देहाती हिस्सों में जाना बन्द कर दे। मगर यह तो साफ़ था कि हम बम्बई शहर में जाकर किसानों का आन्दोलन नहीं चला सकते थे, और अगर आर्डिनेन्स सिर्फ़ किसानों की परिस्थिति का मुक़ाबिला करने के लिए ही जारी किया गया था, तो उसे हमारे प्रान्त से दूर चले जाने का तो स्वागत ही करना चाहिए था। आर्डिनेन्स के जारी हो जाने के वक़्त से हमारी आम नीति उससे बचते रहने की ही रही, और हम संघर्ष को टालते ही रहे, हालांकि बाज़-बाज़ लोगों ने हुक्म-उदूली करदी थी। जहाँतक यू० पी० कांग्रेस का ताल्लुक़ था, यह बात साफ़ थी कि वह, कम-से-कम फ़िलहाल, सरकार से लड़ाई करने से बचना या उसे मुल्तवी करना चाहती थी। शेरवानी और मैं बम्बई जा रहे थे, जहाँ कि गांधीजी और कार्य-समिति इन मामलों पर ग़ौर करते, और यह

किसीको मालूम नहीं था, और मुझे तो बिलकुल ही निश्चय नहीं था, कि उनके आख़िरी फ़ैसले क्या होते !

इन सब विचारों से मुझे ख़याल होता था कि हमें बम्बई जाने दिया जायगा, और, कम-से-कम उस समय के लिए ही सही, हमारी शहर की नज़रबन्दी के क़ानूनी आज्ञा-भंग को सरकार बरदाश्त कर लेगी। लेकिन, मेरा दिल कुछ और ही कह रहा था।

ज्योंही हम रेल में बैठे, हमने सुबह के अख़बारों में नये सीमाप्रान्तीय आर्डिनेन्स और अब्दुलगफ़्फ़ारख़ां तथा डाक्टर खानसाहब वग़ैरा की गिरफ्तारी का हाल पढ़ा। बहुत जल्दी ही हमारी गाड़ी, बम्बई-मेल, रास्ते के एक छोटे-से स्टेशन इरादतगंज पर, जहाँ आम तौर पर वह नहीं ठहरा करती थी, अचानक ठहर गई, और हमें गिरफ्तार करने को पुलिस अफ़सर आगये। रेलवे लाइन के पास ही एक "ब्लैक मैरिया" गाड़ी खड़ी थी, और क़ैदियों की इस लारी में मै और शेरवानी दाख़िल हुए। वह तेज़ी से चली और हम नैनी-जेल में जा पहुँचे। वह 'बॉक्सिंग-दिवस' का प्रातःकाल था और वह पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्ट, जो हमें गिरफ्तार करने आया था, अंग्रेज़ था। वह दुःखी और उदास दिखाई दिया। मैं समझता हूँ, हमने उसके क्रिसमस त्यौहार का मज़ा किरकिरा कर दिया था।

और इस तरह हम जेल में आ पहुँचे—

एक घड़ी भर अब तू सारा आल्हाद भुला दे;
और, वेदना में ही अब तो कुछ काल बितादे।[1]

१. **मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है:—**

"Absent thee from felicity a while.
And for a season draw thy breath in pain"

# ४१

## गिरफ़्तारियाँ, आर्डिनेन्स और मुमानियतें

हमारी गिरफ्तारी के दो दिन बाद ही गांधीजी बम्बई में उतरे, और तभी उन्हें नई और ताज़ी घटनाओं का हाल मालूम हुआ। उन्होंने लन्दन में ही बंगाल-आर्डिनेन्स की ख़बर सुन ली थी, और वह उससे बहुत दुःखी हुए थे। अब उन्हें मालूम हुआ कि उनके लिए यू० पी० और सीमा-प्रान्तीय आर्डिनेन्सों की शकल में बड़े दिन की भेंट तैयार थी, और सीमा-प्रान्त और यू० पी० में उनके कुछ सबसे गहरे साथी गिरफ्तार हो चुके थे। अब तो पाँसा पड़ चुका दीखता था, और शान्ति की सारी आशा मिट चुकी थी, फिर भी उन्होंने रास्ता ढूँढने की कोशिश की, और इसके लिए वाइसराय से मुलाक़ात चाही। उन्हें नई दिल्ली से बताया गया कि मुलाक़ात कुछ ख़ास शर्तों पर ही हो सकेगी। वे शर्तें ये थी कि वह बंगाल, युक्तप्रान्त और सीमा-प्रान्त की ताज़ी घटनाओं, नये आर्डिनेन्सों और उनके मुताबिक़ हुई गिरफ्तारियों के बारे में बातचीत न करें। ( यह बात मैं अपनी याददाश्त से लिख रहा हूँ, क्योंकि मेरे सामने वाइसराय के जवाब की नक़ल नहीं है। ) यह समझना मुश्किल है कि सरकार की निगाह में इन विषयों के अलावा जो कि देश को विक्षुब्ध कर रहे थे और जिनपर बात करने की मुमानियत कर दी गई थी, गांधीजी या कांग्रेस का कोई भी नेता किस विषय पर बातचीत कर सकता था ? अब यह बिलकुल साफ़ ज़ाहिर हो गया कि भारत-सरकार ने काँग्रेस को कुचल डालने का निश्चय कर लिया था, और वह उससे कोई ताल्लुक़ रखना नहीं चाहती थी। कार्य-समिति के पास सविनय भंग फिर चालू कर देने के सिवा और कोई रास्ता न रहा। कार्य-समितिवालों को किसी भी समय अपने गिरफ्तार हो जाने की आशंका हो गई थी, और अपनी वहाँ से रवानगी के पहले वे देश को आगे के लिए मार्ग-प्रदर्शन कर देना चाहते थे। इसी दृष्टि से आरज़ी तौर पर सविनय भंग का प्रस्ताव पास किया गया, और गाँधीजी ने वाइसराय से मुलाक़ात करने की दुबारा कोशिश की। उन्होंने वाइसराय को बिला-शर्ती मुलाक़ात देने के लिए तार दिया। सरकार का जवाब गाँधीजी और काँग्रेस के सदर की गिरफ्तारी के रूप में मिला, और साथ ही वह बटन भी दबा दिया गया जिससे कि सारे देश में भयंकर दमन शुरू हो गया। यह तो स्पष्ट ही था, कि दूसरा कोई लड़ाई चाहता हो या न चाहता हो, लेकिन सरकार तो उसके लिए बेचैन थी और पहले ही ज़रूरत से ज्यादा तैयार बैठी थी।

निःसन्देह, हम तो जेल में ही थे, और ये सारी खबरें हमारे पास गोलमोल और तितर-बितर होकर आई। हमारा मुक़दमा नव-वर्ष के लिए मुल्तवी कर दिया गया, इसलिए हमें हवालाती क़ैदी की हैसियत से सज़ायाफ्ता क़ैदियों की बनिस्बत ज्यादा मुलाक़ातें करने का मौक़ा मिला। हमने सुना कि वाइसराय को मुलाक़ात मंजूर करनी चाहिए थी या न मंजूर करनी चाहिए थी, इसपर अख़बारों में बहुत वादविवाद चल रहा है, मानों इससे कोई बड़ा फ़र्क़ पड़नेवाला था। यह मुलाक़ात का सवाल ही सबसे बड़ा हो रहा था। यह कहा गया कि अगर लार्ड अर्विन होते तो वह मुलाक़ात ज़रूर मंजूर कर लेते, और अगर उनमें और गांधीजी में मुलाक़ात हुई होती तो ज़रूर सब-कुछ ठीक हो जाता। मुझे ताज्जुब हुआ कि परिस्थिति के बारे में हिन्दुस्तान के अख़बार कितनी ज्यादा सरसरी निगाह से काम लेते हैं, और असलियत की ओर कैसे आंख उठाकर नही देखते हैं! क्या हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता और ब्रिटेन के साम्राज्यवाद की, जिनमें सूक्ष्म विचार करने से मालूम होगा कि कभी मेल नही हो सकता, लाज़िमी लड़ाई किन्ही व्यक्तियों की व्यक्तिगत इच्छाओं पर ही निर्भर करती है? क्या दो तवारीखी ताक़तो की भिड़न्त मीठी मुसकान और आपसी शिष्टता दिखाने-मात्र से हट सकती है? गांधीजी को एक ख़ास दिशा में ही जाना पड़ा, इसलिए कि हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता अपने ही सिद्धान्तों का त्याग करके अपनी आत्म-हत्या नहीं कर सकती थी, और न ज़रूरी मामलों में विदेशी फ़रमानों के सामने खुशी से झुक सकती थी। ओर हिन्दुस्तान के ब्रिटिश वाइसराय को दूसरी ही विशेष दिशा में जाना पड़ा, क्योकि उन्हें इस राष्ट्रीयता का मुक़ाबिला करना था, और ब्रिटिश स्वार्थों की रक्षा करनी थी, और इसमें इस बात से ज़रा भी फ़र्क़ नहीं पड़ सकता था कि उस समय वाइसराय कौन था। लॉर्ड अर्विन भी ठीक वही काम करते जो लॉर्ड विलिंगडन ने किया, क्योंकि दोनों ही ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति के साधक थे, और वे निर्दिष्ट दिशा में कुछ बहुत ही मामूली-सा फ़र्क़ कर सकते थे। वास्तव में, बाद में तो लॉर्ड अर्विन ब्रिटिश शासन-तन्त्र के मेम्बर हो गये, और हिन्दुस्तान में जो-जो सरकारी कार्रवाइयाँ की गई उन सबमें उन्होंने पूरा-पूरा साथ दिया। हिन्दुस्तान में प्रचलित ब्रिटिश नीति के लिए किसी खास वाइसराय की तारीफ़ या बुराई करना मुझे तो बिल्कुल ही अनुचित बात मालूम होती है, और हमारे ऐसा करने की आदत का कारण सिर्फ़ यही हो सकता है कि या तो हम असली सवालों को नहीं समझते, या उन्हें जान-बूझकर टालना चाहते हैं।

४ जनवरी १९३२ एक महत्वपूर्ण दिन था। उसने बातचीत और बहस का ख़ात्मा कर दिया। उन दिनों सबेरे ही गांधीजी और क़ांग्रेस के सदर वल्लभभाई

गिरफ्तार करके, बग़ैर मुक़दमा चलाये, शाही क़ैदी बना लिये गये। चार नये आर्डिनेन्स जारी कर दिये गये, जिनके ज़रिये मजिस्ट्रेटों और पुलिस-अफ़सरों को व्यापक-से-व्यापक अख्त्यारात दे दिये गये। नागरिक स्वतन्त्रता की हस्ती मिट गई, और जन और धन दोनों पर ही अधिकारी चाहे जब क़ब्ज़ा कर सकते थे। सारे देश पर मानों क़ब्ज़ा कर लेने की हालत का ऐलान कर दिया गया, और इसको किस-किस पर और कितना-कितना लागू किया जाय, यह मुकामी अफ़सरों की मर्ज़ी पर छोड़ दिया गया।[१]

४ जनवरी को ही नैनी-जेल में यू० पी० इमर्जेन्सी पावर्स आर्डिनेन्स के मुताबिक हमारा मुकदमा हुआ। शेरवानी को छः महीने क़ी सख्त क़ैद और १५० रुपये जुर्माने की सज़ा हुई; मुझे दो साल की सख्त क़ैद और ५०० रुपये जुर्माना (या बदले में छः महीने की क़ैद) की सज़ा दी गई। दोनों के अपराध बिलकुल एक-से थे। हम दोनों को इलाहाबाद शहर में नज़रबन्दी के एक-से हुक्म दिये गये थे। हम दोनों ने ही बम्बई जाने की कोशिश करके उनका एक ही तरह से भंग किया था। हम दोनों को एक ही दफ़ा में गिरफ्तार किया गया, और दोनों का एकसाथ ही मुक़दमा चला। फिर भी हमारी सज़ाओं में बड़ा फ़र्क़ था। लेकिन दोनों में एक फ़र्क़ ज़रूर था। मैंने ज़िला-मजिस्ट्रेट को लिखकर इत्तिला दी थी कि मैं हुक्म की ख़िलाफ़-वर्ज़ी करके बम्बई जाना चाहता हूँ; शेरवानी ने ऐसा कोई बाक़ायदा नोटिस नहीं दिया था, लेकिन वह भी जाना चाहते हैं यह बात समान-रूप से प्रसिद्ध थी, और अखबारों में भी छपी थी। सज़ा सुनाने के बाद ही शेरवानी ने मजिस्ट्रेट से पूछा, कि मुसलमान होने के ख़याल से तो मुझे कम सज़ा नहीं दी गई है? उनके इस सवाल से वहाँ मोजूद लोगों को बड़ा लुत्फ़ रहा और मजिस्ट्रेट कुछ परेशानी में पड़ गया।

उस स्मरणीय दिन, ४ जनवरी को, देशभर में बहुत-सी घटनायें हुई। इलाहाबाद शहर में, हमारे मुक़ाम के नज़दीक, बड़ी-बड़ी भीड़ों की पुलिस और फ़ौज से मुठभेड़ हो गई, और हस्बमामूल लाठी-प्रहार हुआ, जिसमें कुछ लोग मरे और कुछ घायल हुए। सविनय भंग के क़ैदियों से जेलें भरने लगीं। पहले तो ये क़ैदी ज़िला-जेलों में भेजे गये, और जब वहाँ जगह न रहती तब ही क़ैदी नैनी आदि सेण्ट्रल जेलों में आते थे। बाद में सभी जेलें भर गई, और बड़ी-बड़ी आरज़ी कैम्प-जेलें क़ायम करनी पड़ीं।

**१. भारत-मंत्री सर सैम्युअल होर ने २४ मार्च १९३२ को कामन-सभा में कहा था कि, "मैं मंजूर करता हूँ कि जिन आर्डिनेन्सों का हमने समर्थन कर दिया है वे बड़े व्यापक और सख्त हैं; वे हिन्दुस्तान के जीवन की लगभग हरेक प्रवृत्ति पर असर डालते हैं।"**

नैनी के हमारे छोटे-से अहाते में बहुत थोड़े लोग आये। मेरे पुराने साथी नर्मदाप्रसाद हमारे पास आ गये। रणजीत पंडित और मेरे चचेरे भाई मोहनलाल नेहरू भी आ गये। बैरक नं० ६ की हमारी छोटी-सी मित्र-मण्डली में लंका के एक युवक-मित्र बर्नार्ड एल्विहारे भी अचानक आ गये, जो कि बैरिस्टर बनने के बाद इंग्लैण्ड से हाल में ही लौटे थे। मेरी बहन ने उनसे कहा था कि आप हमारे जुलूस वग़ैरा में शामिल न हों। लेकिन जोश में आकर वह काँग्रेस के एक जुलूस में शरीक हो ही गये, और एक ब्लैक मैरिया लारी उन्हें जेल में ले आई।

काँग्रेस, जिसमें सबसे ऊपर कार्य-समिति और फिर प्रान्तीय कमिटियाँ और बेशुमार मुक़ामी कमिटियाँ शामिल थी, ग़ैर-क़ानूनी करार दे दी गई थी। काँग्रेस के साथ-साथ सब तरह की सम्बन्धित या सहानुभूति रखनेवाले या प्रगतिशील संगठन— जैसे, किसान-सभायें, किसान-संघ, युवक-संघ, विद्यार्थी-मण्डल, प्रगतिशील राजनैतिक-संगठन, राष्ट्रीय विश्व-विद्यालय और स्कूल, अस्पताल, स्वदेशी दुकानें, पुस्तकालय, आदि भी—ग़ैर-क़ानूनी क़रार दे दिये गये। इनकी फेहरिस्तें बड़ी लम्बी-लम्बी थीं, प्रत्येक बड़े प्रान्त के सैकड़ों नाम इसमें शामिल थे। सारे हिन्दुस्तान भर का योग कई हज़ार तक पहुँच गया होगा। इन ग़ैर-क़ानूनी घोषित संस्थाओं की यह संख्या ही मानों काँग्रेस और राष्ट्रीय आन्दोलन का महत्व और प्रभाव दिखाती थी।

बम्बई में मेरी पत्नी बीमार पड़ी थी, और आन्दोलन में हिस्सा न ले सकने के कारण छटपटा रही थी। मेरी माताजी और दोनों बहनें जोश-खरोश के साथ आन्दोलन में कूद पड़ीं। मेरी दोनों बहनों को जल्दी ही एक-एक साल की सजा मिल गई और वे जेल पहुँच गई। नये आनेवालों के ज़रिये या हमें मिलनेवाले स्थानीय साप्ताहिक पत्र द्वारा हमें कुछ अनोखी ख़बरें मिल जाया करती थीं। जो-कुछ हो रहा था उसकी हम ज्यादातर कल्पना कर लिया करते थे, क्योंकि सब दूर सेन्सर की बड़ी सख़्ती थी, और समाचारपत्रों और समाचार-एजेन्सियों को भारी-भारी जुर्मानों का डर हमेशा बना रहता था। कुछ प्रान्तों में तो गिरफ्तारशुदा या सज़ायाब व्यक्ति का नाम लिख देना भी जुर्म था।

इस तरह हम नैनी-जेल में बाहर के झगड़ों से अलग पड़े हुए, फिर भी उनमें सैकड़ों तरह से उलझे हुए, रह रहे थे। हमने अपनेको कातने, पढ़ने या दूसरे कामों में मशगूल कर रक्खा था, और कभी-कभी हम दूसरे मामलों पर भी बातचीत करते थे, लेकिन हम हमेशा यही सोचते रहते थे कि जेल की चहार-दीवारी के बाहर क्या हो रहा है? उससे हम अलग भी थे और फिर भी उसमें शामिल थे। कभी-कभी तो किसी बात की उम्मीद करते-करते बहुत थक जाते थे और कभी-कभी किसी काम

के बिगड़ जाने पर गुस्सा आता था, और किसी कमज़ोरी या भद्देपन पर तबीयत झुंझला उठती थी। लेकिन कभी-कभी हम अजीव ढंग से तटस्थ-से हो जाते थे और सारे दृश्य को शान्ति और अनासक्ति से देख सकते थे, और यह अनुभव करते थे कि जब विशाल शक्तियाँ अपना काम कर रही हैं और दैवी तन्त्र लोगों को पीस रहा है, तब व्यक्तियों की छोटी-छोटी ग़लतियाँ या कमज़ोरियाँ कोई महत्व नहीं रखतीं। हम सोचा करते थे कि इस झगड़े और शोर-गुल का, और इस मर्दाने उत्साह और निर्दय दमन और घृणित कायरता का, भविष्य क्या होनेवाला है ? इसका क्या नतीजा होगा ? हम किस तरफ़ जा रहे हैं ? भविष्य हमारी आँखों से छिपा हुआ था; और अच्छा ही था कि वह छिपा हुआ था; और जहाँतक हमसे ताल्लुक़ था, वर्त्तमान भी एक परदे से कुछ-कुछ छिपा हुआ था। लेकिन हम एक बात जानते थे कि हमारा रास्ता तो आज भी और कल भी, संघर्ष, कष्ट-सहन और बलिदान में से होकर ही जाता है—

"कल फिर से आरम्भ युद्ध, हाँ, हो जायेगा,
झेन्थस सारा अहो रक्त से रंग जायेगा;
हेक्टर तथा अजेक्स पुनः होंगे समुपस्थित,
* हेलन भी खुद दृश्य लखेंगी हों उच्चस्थित।
तब हम या परदे में होंगे या चमकेंगे रण में,
अन्धी आश-निराशाओं में झूलेंगे क्षण-क्षण में;
तब सोचा हमने यह जीवन-बल ला होमा सारा,
किन्तु न जाना आत्मा का क्या होगा हाल हमारा।'

१. मेथ्यू एरनॉल्ड का मूल पद्य इस प्रकार है :—

"Men will renew the battle in the plain
To-morrow: red with blood will Xanthus be;
Hector and Ajax will be there again;
Helen will come upon the wall to see.
Then we shall rust in shade, or shine in strife,
And fluctuate 'tween blind hopes and blind despairs,
And fancy that we put forth all our life,
And never know how with the soul it fares."

## ४२

# ब्रिटिश शासकों की हा-हू

१९३२ के शुरू के उन महीनों में, और बातों के अलावा, ख़ास बात यह हुई कि ब्रिटिश हाकिमों ने मारे खुशी के खूब हा-हा हू-हू की। छोटे और बड़े सभी हाकिम चिल्ला-चिल्लाकर यह कहने लगे कि देखो, हम कितने भले और शान्ति-प्रिय हैं और कांग्रेसवाले कितने बुरे और झगड़ालू हैं! हम लोग लोकतन्त्र के हामी हैं जबकि कांग्रेस को डिक्टेटरशिप भाती है। वह देखो कांग्रेस का सभापति डिक्टेटर के नाम से पुकारा जाता है। एक धर्म-कार्य के लिए अपने इस जोश में ये हाकिम आर्डिनेन्सों, तमाम आज़ादी के दमन, अखबारों और छापेखानों की मुँहबन्दी, बिना मुक़दमा चलाये लोगों की जेलबन्दी, जायदाद और रुपयों की ज़ब्ती और रोज़-ब-रोज़ होनेवाली बहुत-सी दूसरी अद्‌भुत चीज़ों-जैसी न-कुछ बातों को भूल गये थे। इसके अलावा वे हिन्दुस्तान में ब्रिटिश राज की जो बुनियादी ख़सलत है उसको भी भूल गये। सरकार के वे मिनिस्टर, जो हमारे ही देशभाई थे, इस विषय पर बड़े धारा-प्रवाह व्याख्यान देने लगे, कि जेलों में बन्द काँग्रेसी किस तरह अपना मतलब गांठ रहे हैं जबकि हम कुछ हज़ार रुपये महीनों की नाचीज़ मज़दूरी पर पब्लिक की भलाई में दिन-रात जुटे रहते हैं। छोटे-छोटे मजिस्ट्रेट हम लोगों को भारी-भारी सज़ायें तो देते ही थे, लेकिन सज़ा देते वक्त हमें उपदेश भी देते थे, और उन उपदेशों के साथ-साथ कभी-कभी वे काँग्रेस और काँग्रेस में काम करनेवाले शख़्सों को गालियाँ भी देते थे। भारत-मंत्री के ऊँचे ओहदे की गम्भीर प्रतिष्ठा के पद से सर सैम्युअल होर तक ने यह ऐलान किया कि, हां, कुत्ते भौंक रहे हैं, मगर हमारा कारवां चला जा रहा है। उस वक्त वह यह भूल गये थे कि कुत्ते जेलों में बन्द थे, वहां से वे आसानी से भौंक नहीं सकते थे, और जो कुत्ते बाहर रह गये थे उनके मुंह बिल्कुल बन्द कर दिये गये थे।

सबसे ज्यादा ताज्जुब की बात तो यह थी कि कानपुर के हिन्दू-मुस्लिम दंगे का दोष काँग्रेस के मत्थे मढ़ा जा रहा था। यह दंगा सचमुच बहुत ही बीभत्स था, लेकिन उसकी बीभत्सता बार-बार जतलाई गई और बराबर ही यह बताया गया कि इसकी बीभत्सता के लिए काँग्रेस ज़िम्मेदार थी, जबकि असली बात जो हुई वह यह थी कि उस दंगे में काँग्रेस ने वही किया जो कि करना ठीक था। यहाँतक कि काँग्रेस का एक सर्वश्रेष्ठ पुरुष उसमें काम आया, जिसकी मौत पर कानपुर के हर फ़िरके और दल ने रंज मनाया। दंगों की ख़बर पाते ही काँग्रेस ने अपने करांची के अधिवेशन में फ़ौरन

ही एक जांच-कमिटी बिठा दी और इस कमिटी ने एक बहुत मुकम्मिल जाँच की। कई महीने मेहनत करने के बाद कमिटी ने एक बड़ी रिपोर्ट छपाई। सरकार ने फ़ौरन ही इस रिपोर्ट को ज़ब्त कर लिया। उसकी छपी हुई कापियाँ उठा ली गई, और मेरा खयाल है कि उन्हें बरबाद कर दिया गया। जाँच के नतीजों को इस तरह दबा देने के बाद भी हमारे हुक्काम आलोचक और वे अखबार जिनके मालिक अंग्रेज़ हैं हर वक्त यह बात दुहराते नहीं थकते कि दंगा कांग्रेस की वजह से हुआ। इसमें कोई शक नहीं कि इस मामले में ही नहीं, दूसरे और मामलों में भी, अखीर में सचाई की जीत होगी; लेकिन कभी-कभी झूठ बहुत दीर्घजीवी हो जाती है। एक कवि के शब्दों में—

"यह असत्य निश्चय ही जग में नष्ट एक दिन होगा,
पर तबतक वह बुरी तरह से क्षत-विक्षत कर देगा।
सत्य महान्, उसीकी जग में विजय अन्त में होगी,
पर उस क्षण तक उसे देखने बैठा कौन रहेगा ?"[१]

मेरा खयाल है कि हिस्टीरिया जैसी युद्ध-मनोवृत्ति का यह प्रदर्शन बिलकुल कुदरती था और ऐसी हालत में कोई भी इस बात की उम्मीद नहीं कर सकता था कि सचाई से या संयम से काम लिया जायगा, लेकिन फिर भी ऐसा मालूम पड़ता था कि उसमें आशातीत झूठ और छूट से काम लिया गया। उसकी गहराई और छूट को देखकर हैरत होती थी। इससे हमें इस बात का पता चल जाता है कि हिन्दुस्तान के शासक-दल का मिज़ाज कैसा था और पिछले दिनों में वे अपनेको कितना दबाये रखते थे। सम्भवतः उनको यह गुस्सा हमारे किसी काम पर या हमारी किसी बात की वजह से नहीं आया, बल्कि यह महसूस करके आया कि अपने साम्राज्य से हाथ धो बैठने का उन्हें जो डर पहले था वह सच होता दीखता है। जिन शासकों को अपनी ताक़त का भरोसा होता है वे इस तरह हिम्मत नहीं हारते। शासकों की इस मनोवृत्ति में और उधर दूसरी तरफ़ की तस्वीर में ज़मीन-आस्मान का फ़र्क़ था। क्योंकि कांग्रेस की तरफ़ बिलकुल खामोशी छाई हुई थी। मगर यह खामोशी संयम की—स्वेच्छा-पूर्वक और गौरवपूर्ण संयम की—सूचक नहीं थी, बल्कि इसलिए थी कि कांग्रेसवाले जेलों में बन्द थे और बाक़ी के लोग डरे हुए थे तथा अखबारवालों को भी सर्व-व्यापी सेंसर का डर था। इसमें कोई शक नही कि अगर कांग्रेसवालों का मुंह इस तरह मजबूरी से

१. **मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है:—**

"When all its work is done, the lie shall rot;
The truth is great and shall prevail,
When none cares whether it prevails or not."

बन्द न होता तो वे भी मनमानी बकवास करते, बढा-चढ़ाकर बातें कहते और गालियां देने में शासकों को मात करते। मगर, हां, काँग्रेसवालों के लिए भी एक रास्ता तो था। वह था ग़ैर-क़ानूनी अख़बारों का, जो कई शहरों में समय-समय पर निकाले जाते थे।

हिन्दुस्तान में अधगोरों के जो अख़बार निकलते है और जिनके मालिक अंग्रेज़ हैं वे भी बड़े रस के साथ इस हा-हा, हू-हू में शामिल हुए और उन्होंने ऐसे बहुत-से ख़यालात ज़ाहिर किये और फैलाये जो शायद बहुत दिनों से उनके दिलों में दबे हुए पड़े थे। यों आम तौर पर उन्हें अपनी बात कुछ समझ-बूझकर कहनी पड़ती है, क्योंकि बहुत-से हिन्दुस्तानी उनके अख़बारों के ग्राहक है; लेकिन जब नाज़ुक वक्त आ गया तब यह सब संयम बह गया और हमें अंग्रेज़ और हिन्दुस्तानी दोनों ही के मन की झलक मिल गई। अब हिन्दुस्तान में अधगोरे अखबार बहुत कम रह गये हैं, वे एक-एक करके बन्द हो गये हैं, लेकिन जो बाकी बचे हैं उनमें कई ऊँचे दरजे के है—खबरों के लिहाज़ से भी और आकार-प्रकार की सुन्दरता के लिहाज़ से भी। दुनिया के मामलों पर उनके जो अग्रलेख होते है, यद्यपि वे हमेशा अनुदार लोगों के दृष्टिकोण से लिखे जाते है फिर भी, उनमें लिखनेवालों की लियाक़त झलकती है, तथा इस बात का पता चलता है कि उन्हें अपने विषय का ज्ञान है और उसपर पूरा क़ाबू है। इसमें कोई शक नही कि अख़बारों की दृष्टि से ग़ालिबन वे सबसे अच्छे हैं; लेकिन हिन्दुस्तान के राजनैतिक मामलों में वे अपने दरजे से गिर जाते हैं। उनकी इकतरफ़ा रायों को देखकर हैरत होती है, और जब कभी कोई आन-बान का मौक़ा आता है तब तो उनकी वह हिमायत अकसर बकवास और गँवारूपन का रूप धारण कर लेती है। वे सचाई के साथ भारत-सरकार की राय को प्रकट करते हैं और इस सरकार के हक़ में वे लगातार जो प्रचार करते हैं उसमें अपनी बात किसीपर जबरदस्ती न थोपने का गुण नहीं होता।

इन कुछ इने-गिने अधगोरे अख़बारों के मुकाबिले में हिन्दुस्तानी अख़बार नीचे दरजे के हैं। उनके पास आर्थिक साधन बहुत कम होते हैं और उनके मालिक उनकी तरक्की करने की बहुत कम कोशिश करते है। वे अपनी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी मुश्किल से चला पाते हैं और ग़रीब सम्पादकीय-विभाग को बड़ी मुसीबत का सामना करना पड़ता है। उनका आकार-प्रकार भद्दा है, उनमें छपनेवाले विज्ञापन अक्सर बहुत आपत्ति-जनक होते हैं, और क्या राजनीति तथा क्या सामान्य जीवन दोनों में वे बहुत बढ़ी-चढ़ी भावुकता का परिचय देते हैं। मैं समझता हूँ कि कुछ हद तक तो इसकी वजह यह है कि हम लोगों की जाति ही भावुकतामय है, और कुछ हद तक इसलिए कि जिस ज़बान

में यानी अंग्रेज़ी में वे निकलते हैं वह विलायती ज़बान है और उसमें सरलता से और साथ ही ज़ोर के साथ लिखना आसान नहीं है। लेकिन असली कारण तो यह है कि हम सब लोग कई क़िस्म के ऊँचे-नीचे ख़यालों के शिकार है जो बहुत दिनों के दमन और ग़ुलामी की वजह से पैदा हुए हैं, इसलिए इन भावों को बाहर निकालने की हमारी हरेक विधि भावुकता से भरी हुई होती है।

अंग्रेजी में निकलनेवाले हिन्दुस्तानी मालिकों के अख़बारों में, जहाँतक उसके बहिरंग की सुन्दरता और समाचार-सम्पादन से ताल्लुक़ है, मदरास का 'हिन्दू' ग़ालिबन सबसे अच्छा है। उसे पढकर मुझे हमेशा किसी वृद्ध कुमारिका की याद आ जाती है, जो हमेशा मर्यादा और औचित्य को पसन्द करती है और अगर उसके सामने बेअदबी का एक हरफ़ भी कह दिया जाय तो उसे बहुत बुरा मालूम होता है। यह अख़बार ख़ास तौर पर मध्यम श्रेणीवालों का अख़बार है, जिनकी ज़िन्दगी चैन से गुज़रती है। ज़िन्दगी के नक़ली या ऊपरी पहलुओं से, जीवन के संघर्षों और उसकी धक्का-मुक्की से, उसका कोई सरोकार नही। नरम-दल के और भी कई अख़बारों का स्टैंडर्ड यही वृद्ध कुमारियों का-सा है। इस स्टैंडर्ड तक तो वे पहुँच जाते है, लेकिन उनमें वह खूबी नहीं आ पाती जो 'हिन्दू' में है और इसलिए वे हर लिहाज़ से बहुत नीरस हो जाते हैं।

यह ज़ाहिर था कि सरकार ने बार करने की तैयारी बहुत पहले से कर रक्खी थी और वह यह चाहती थी कि शुरू ही में उसकी चोट जहाँतक हो सके पूरी कसकर बैठे और उसे खानेवाला चक्कर खाकर गिर पड़े। १९३० में वह हमेशा इस कोशिश में रहती थी कि दिन-पर-दिन जो हालत बिगड़ती जा रही है उसे नये-नये आर्डिनेन्सों से सम्हाले। उन दिनों वार में पहल हमेशा काँग्रेस की तरफ़ से होती थी, लेकिन १९३२ के तरीक़े बिलकुल दूसरे थे। १९३२ में सरकार ने सब तरफ़ से हमला करके लड़ाई शुरू की। अखिल-भारतीय और प्रान्तीय आर्डिनेन्सों के द्वारा हाकिमों को जितने अख़्तियार सोचे जा सकते थे सभी दे दिये गये। संस्थायें ग़ैरक़ानूनी करार दे दीं गईं। इमारतों पर, जायदाद पर, सवारियों, मोटर वग़ैरा पर और बैंकों म जमा रुपयों पर क़ब्ज़ा कर लिया गया। आम जलसों और जुलूसों की मनादी करदी गई और अख़बारों और छापेख़ानों पर पूरी तरह नियन्त्रण कर लिया गया। दूसरी तरफ़, १९३० के बिलकुल खिलाफ़, गाँधीजी निश्चित रूप से यह चाहते थे कि उस वक़्त सत्याग्रह न किया जाय। कार्य-समिति के ज्यादातर मेम्बरों की भी यही राय थी। उनमें से कुछ, जिनमें से मैं भी एक था, यह समझते थे कि हम कितना ही नापसन्द करें लेकिन लड़ाई हुए बिना न रहेगी और हमें उसके लिये तैयार रहना चाहिए। इसके अलावा संयुक्त-प्रान्त में और सरहदी सूबे में जो तनातनी बढ़ रही थी उससे लोगों का ध्यान भावी

लड़ाई की तरफ़ लग रहा था। लेकिन कुल मिलाकर मध्यम श्रेणी के और पढ़े-लिखे लोग लड़ाई की बात नहीं सोच रहे थे, हालाँकि वे लड़ाई की सम्भावना की पूर्ण उपेक्षा नहीं कर सकते थे। किसी तरह हो, उन्हें यह उम्मीद थी कि गांधीजी के आने पर यह लड़ाई टल जायगी और ज़ाहिर है कि इस मामले में उनकी लड़ाई से बचने की इच्छा ने ही उनके दिलों में यह उम्मीद पैदा की थी।

इस तरह १९३२ के शुरू में निश्चित रूप से पहला हमला सरकार की तरफ़ से होता था और कांग्रेस हमेशा अपना बचाव करने में लगी रहती थी। आर्डिनेन्सों को और सत्याग्रह-संग्राम को पैदा करनेवाली जो घटनायें यकायक हो गई उनकी वजह से कई जगह के मुकामी नेता तो भौचक्के रह गये। लेकिन ये सब बातें होते हुए भी कांग्रेस की पुकार का लोगो ने जो जवाब दिया वह ऐसा-वैसा नहीं था। सत्याग्रहियों की कमी नही रही। बल्कि सच बात तो यह है और मेरे ख़याल में इस बात में कोई शक नही हो सकता कि १९३२ में ब्रिटिश सरकार का जो मुक़ाबिला किया गया वह १९३० में किये जानेवाले मुक़ाबिले से बहुत कड़ा और भारी था, यद्यपि १९३० में ख़ास तौर पर बड़े-बड़े शहरों में धूम-धाम व शोरोगुल ज्यादा था; परन्तु साथ ही यद्यपि १९३२ में लोगों ने सहन-शक्ति पहले से ज्यादा दिखाई और वे पूरी तरह शान्त रहे, फिर भी इन बातों के बावजूद स्फूर्ति की प्रारम्भिक लहर का ज़ोर १९३० से बहुत कम था। ऐसा मालूम होता था मानों हम बेमन से लड़ाई में शामिल हुए थे। १९३० में हमारी लड़ाई में हम एक तरह का गौरव अनुभव करते थे जो दो साल बाद अब कुछ-कुछ मुर्झा गया था। सरकार ने उसके पास जितनी ताक़त थी सब लगाकर कांग्रेस का मुक़ाबिला किया। उन दिनों हिन्दुस्तान एक तरह से फ़ौजी क़ानून के अधीन रहा और कांग्रेस असल में कभी भी पहला हमला न कर सकी, और न उसे काम करने की आज़ादी ही मिली। वह पहली ही चपेट में बेहोश हो गई। उसके उन धनी-मानी हमदर्दों में से जो पिछले दिनों में उसके ख़ास मददगार रहे थे, ज्यादातर इस बार घबरा गये। उनके धन-माल पर आ बनी। यह बात साफ़ दीखती थी कि जो लोग सत्याग्रह-संग्राम में शामिल होंगे या और किसी तरह उसकी मदद करेंगे, न सिर्फ़ उनकी आज़ादी ही छीन ली जा सकती थी बल्कि शायद उनकी तमाम जायदाद भी छीन ली जा सकती थी। इस बात का हम लोगों पर युक्तप्रान्त में तो कोई ख़ास असर नहीं पड़ा, क्योंकि यहाँ तो कांग्रेस ग़रीबों ही की थी। लेकिन बम्बई जैसे बड़े शहरों में इस बात का बड़ा भारी असर पड़ा। व्यापारियों के लिए तो इसके मानी थे पूरा सत्यानाश। पेशेवर लोगों को भी इससे भारी नुकसान पहुँचता था। इसकी धमकी भर से—कभी-कभी तो वह धमकी पूरी करके भी दिखाई गई—शहर के अमीर श्रेणी के

लोगों को लकवा-सा मार गया। पीछे मुझे मालूम हुआ कि एक डरपोक लेकिन मालदार व्यापारी को पुलिस ने यह धमकी दी कि तुम्हें लम्बी सज़ा देने के साथ पाँच लाख का जुर्माना किया जायगा। इस व्यापारी का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं था, सिवा इसके कि कभी-कभी राजनैतिक कामों के लिए चन्दा दे दिया करता था। ऐसी धमकियाँ एक आम बात हो गई थी, और ये कोरी बातों की धमकियाँ ही न थी; क्योंकि उन दिनों पुलिस सर्वशक्तिमान थी और लोगों को हर रोज़ इन धमकियों के पूरे होने की मिसालें मिलती रहती थी।

मेरा ख़याल है कि किसी कॉंग्रेसी को इस बात का हक़ नहीं है कि सरकार ने जो तरीक़ा अख़्त्यार किया उसपर ऐतराज़ करे--यद्यपि एक सोलह आने अहिंसात्मक आन्दोलन के ख़िलाफ़ सरकार ने जिस ज़ोर-ज़बरदस्ती से काम लिया वह किसी भी शाइस्ता पैमाने से बहुत ऐतराज़ के क़ाबिल थी। अगर हम लोग सीधी लड़ाई के क्रान्तिकारी तरीकों से काम लेते है तो हमें हर तरह से मुक़ाबिले के लिये तैयार रहना चाहिए, फिर चाहे हमारे तरीक़े कितने ही अहिंसात्मक क्यों न हों। हम लोग अपने बैठकखाने में बैठे-बैठे क्रान्ति के साथ खिलवाड़ नही कर सकते, यद्यपि कुछ लोग इन दोनो का फ़ायदा साथ-साथ ही उठाना चाहते है। अगर कोई क्रान्ति की ओर क़दम बढ़ाना चाहते है, तो उन्हें उनके पास जो कुछ है उस सबको खो बैठने के लिए तैयार रहना चाहिए। इसीलिए धन-दौलत और पैसे वाले अमीर लोगों में से तो बिरले ही क्रान्तिकारी हो सकते है। हाँ, उन व्यक्तियो की बात दूसरी है जो व्यवहार-चतुर लोगों की दृष्टि में मूर्ख और अपनी जाति के घातक कहलाते है।

लेकिन आम लोगो के पास न तो मोटरें थी, न बैंकों में उनका कोई हिसाब था, न ज़ब्त करने लायक़ जायदाद; और उन्ही लोगों पर लड़ाई का असली बोझ था। इसलिए अवश्य ही उनका मुक़ाबिला करने के लिए दूसरे तरीके अख़्त्यार किये गये। सरकार ने चारो तरफ जिस बेरहमी से काम लिया उसका एक मज़ेदार नतीजा यह हुआ कि उन लोगों की जमात उठ खड़ी हुई, जिनको हाल ही में छपी एक किताब में लिखे एक शब्द के मुताबिक़ 'सरकार-पक्षी' (Governmentarians) के नाम से पुकारा जा सकता है। इन लोगों को यह तो पता नही था कि भविष्य में क्या होनेवाला है, इसलिए ये लोग कॉंग्रेस के आगे-पीछे चक्कर काटने लगे थे। लेकिन सरकार इस बात को बरदाश्त करने को तैयार न थी। वह निष्क्रिय राजभक्ति को काफ़ी नहीं समझती थी। ग़दर के सिलसिले में मशहूर फ़्रेडरिक कूपर के लफ्ज़ों में शासक लोग, "पूरी, क्रियाशील और निश्चित वफ़ादारी से कम किसी बात को बरदाश्त नहीं कर सकते। सरकार इतना नीचे उतरने को तैयार नहीं हो सकती थी कि वह अपनी

रिआया के महज़ सद्भाव पर क़ायम रहे।" ब्रिटिश लिबरल दल के जो नेता राष्ट्रीय सरकार में जा मिले थे, अपने इन पुराने साथियों की बाबत एक साल पहले मिस्टर लायड जार्ज ने यह कहा था कि "वे उन गिरगिटों के नमूने हैं जो अपनी देश-कालावस्था के मुताबिक अपना रंग बना लेते हैं।" हिन्दुस्तान की नई देशकालावस्था में न्यारे रंगों के लिए गुंजाइश नहीं थी, इसलिए हमारे कुछ देश-भाई सरकार की पसन्द के निहायत चमकीले रंग में रंगकर बाहर निकले और दावतें खाते तथा गीत गाते हुए उन्होंने शासकों के प्रति अपना प्रेम और आदर प्रदर्शित किया। जो आर्डिनेन्स जारी किये गये थे उनसे, तरह-तरह की जो मनाहियाँ और रोकें थीं उनसे, और दिन छिपे बाद घरों से बाहर न निकलने के हुक्म जारी किये गये थे उनसे उन्हें डरने की कोई ज़रूरत न थी, क्योंकि सरकार की तरफ़ से यह बात कह दी गई थी कि यह सब तो राजद्रोहियों और अराजभक्तों ही के लिए है, राजभक्तों के लिए उनसे डरने की कोई वजह नहीं है। इसीलिए जिस डर ने हमारे बहुत-से देशभाइयों को जकड़ रक्खा था वह उनके पास तक नहीं फटका और वे अपने चारों तरफ़ होनेवाली लड़ाई व कशमकश को समदृष्टि से देखते थे। The Faithful Shepherdess नाम की कविता में शायद वे भी क्लो से सहमत होते, जब उसने यह कहा कि :—

"भय क्यों हो, सर्वथा मुक्त हूँ मैं तो भय से,
बलात्कार क्यों, जब खुद ही राज़ी हूँ मन से।' [१]

न जाने कैसे सरकार को यह ख़याल हो गया कि काँग्रेस जेलों को औरतों से भर-कर अपनी लड़ाई में उनका इस्तैमाल करना चाहती है, क्योंकि काँग्रेसवाले समझते होंगे कि औरतों के साथ अच्छा बर्ताव किया जायगा या उनको थोड़ी सज़ा दी जायगी। यह ख़याल बिलकुल बे-बुनियाद था। ऐसा कौन है जो यह चाहता हो कि हमारे घर की औरतें जेलों में धकेली जायँ? मामूली तौर पर लड़कियों और औरतों ने हमारी लड़ाई में क्रियात्मक भाग अपने पिताओं और भाइयों या पतियों की इच्छा के विरुद्ध ही लिया, किसी भी हालत में उन्हें अपने घर के मर्दों का पूरा सहयोग नहीं मिला। फिर भी सरकार ने यह तय किया कि लम्बी-लम्बी सज़ायें देकर और जेलों में बुरा बर्ताव करके स्त्रियों को जेल जाने से रोका जाय। मेरी बहनों की गिरफ्तारी के बाद फौरन ही कुछ नौजवान लड़कियाँ, जिनमें से ज्यादातर पन्द्रह या सोलह बरस

१. मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है:—

"For from one cause of fear I am most free.
It is impossible to ravish me.
I am so willing"

की थीं, इलाहाबाद में इस बात पर ग़ौर करने के लिए इकट्ठी हुई कि अब क्या करना चाहिए। उन्हें कोई तजुर्बा तो था नहीं। हाँ, उनमें जोश भरा हुआ था और वे यह सलाह लेना चाहती थीं कि हम क्या करें ? लेकिन जब कि वे एक प्राइवेट घर में बैठी हुई बातें कर रहीं थीं, वे गिरफ्तार करली गईं और हरेक को दो-दो साल की सख्त क़ैद की सज़ा दी गई। यह तो उन बहुत-सी छोटी-छोटी घटनाओं में से एक थी जो उन दिनों रोज़-ब-रोज़ हिन्दुस्तान-भर में हो रही थी। जिन लड़कियों व स्त्रियों को सज़ा मिली उनमें से ज्यादातर को बहुत तकलीफ़ें बरदाश्त करनी पड़ी। उन्हें मर्दों तक से भी ज्यादा तकलीफ़ें भुगतनी पड़ी। यों मैंने ऐसी कई दुःखदाई मिसालें सुनीं, लेकिन मीराबहन ने बम्बई की एक जेल में अपने तथा अपने साथी क़ैदी दूसरी सत्याग्रही स्त्रियों के साथ होनेवाले व्यवहार का जो वर्णन किया वह उन सबको मात करनेवाला था।

संयुक्तप्रान्त में हमारी लड़ाई का केन्द्र देहाती रकबों में ही रहा। किसानों के प्रतिनिधि की हैसियत से काँग्रेस ने जो लगातार ज़ोर डाला उसकी वजह से सरकार ने काफ़ी छूट देने का वादा किया, लेकिन हम उसे भी काफ़ी नहीं समझते थे। हमारी गिरफ्तारी के बाद फ़ौरन ही और भी छूट का ऐलान किया गया। यह एक विचित्र बात थी कि इस छूट का ऐलान पहले नहीं किया गया; क्योंकि अगर यह ऐलान पहले हो जाता तो हालत में काफ़ी फ़र्क पड़ जाता। हम लोगों के लिए यह मुश्किल हो जाता कि हम उसे यों ही ठुकरादें। लेकिन उस वक़्त तो सरकार को यह फ़िकर थी कि इस छूट की नामवरी काँग्रेस को न मिलने पावे। इसलिए एक तरफ़ तो वह काँग्रेस को कुचलना चाहती थी और दूसरी तरफ़ किसानों को जितनी छूट वह दे सकती थी उतनी देती थी कि जिससे वे चुपचाप अपने घर बैठे रहें। यह बात साफ़ तौर पर दिखाई देती थी कि जहाँ-जहाँ काँग्रेस का ज़ोर ज्यादा था वहीं-वहीं ज्यादा छूट मिली थी।

यद्यपि ये छूटें ऐसी-वैसी न थी, फिर भी उनसे किसानों का सवाल हल न हुआ। हाँ, उनसे स्थिति बहुत-कुछ सम्हल ज़रूर गई। इन छूटों ने किसानों की लड़ाई की तेज़ी कम करदी और हमारी व्यापक लड़ाई की दृष्टि से इन छूटों ने उस वक़्त हमें कमज़ोर कर दिया। उस लड़ाई से युक्तप्रान्त में बीसियों हज़ार किसानों को दुःख झेलने पड़े। उनमें से कई तो उसकी वजह से बिलकुल बर्बाद हो गये। लेकिन उस लड़ाई के ज़ोर से लाखों किसानों को मौजूदा प्रणाली में ज्यादा-से-ज्यादा जितनी छूट मुमकिन हो सकती थी क़रीब-क़रीब उतनी मिल गई और उस लड़ाई ने तरह-तरह की तंगियों से भी उनकी जान बचा दी। सत्याग्रह-संग्राम या उसके पुछल्लों की वजह से बहुतों को जो तकलीफ उठानी पड़ी वह अलग ही। किसानों को कभी-कभी जो ये

थोड़े से फायदे हो गये वे ऐसे कुछ हैं नहीं, लेकिन इस बात में कोई शक नहीं है कि वे जैसे भी थे वैसे ज्यादातर उस लगातार कोशिश के फल थे जो युक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमिटी ने किसानों की तरफ़ से की थी। आम किसानों को उस लड़ाई से कुछ दिनों के लिए फ़ायदा ही हुआ, लेकिन उनमें जो सबसे अधिक बहादुर थे वे उस लड़ाई में काम आ गये।

दिसम्बर १९३१ में जब युक्तप्रान्त का विशेष आर्डिनेंस जारी हुआ तब उसके साथ-साथ एक वक्तव्य निकाला गया था। इस बयान में और दूसरे आर्डिनेंसों के साथ-साथ जो बयान निकाले गये उनमें बहुत सी असत्य और अर्ध-सत्य बातें भरी हुई थी, जो प्रचार के मतलब के लिए कही गई थी। यह सब शुरू-शुरू की हू-हा का हिस्सा था और हमें उसका जवाब देने या उनकी स्पष्ट ग़लतियों के खंडन करने का कोई मौक़ा नहीं मिला। शेरवानी के मत्थे ख़ास तौर पर एक झूठा इलज़ाम मढ़ने की कोशिश की गई थी। यह झूठ साफ़-साफ़ चमकता था और शेरवानी ने गिरफ्तारी से कुछ ही पहले उसका खंडन कर दिया था। ये तरह-तरह के बयान और सरकार की सफाइयाँ बड़ी अजीब होती थी। उनसे मालूम होता था कि सरकार कितनी बर्राती थी और कितनी हड़बड़ा गई थी। उस दिन मैं वह हुक्मनामा पढ़ रहा था जो स्पेन के बोरबन चार्ल्स, तृतीय, ने अपने राज्य से जेसुइट्स को निकालते हुए जारी किया था। उसे पढ़ते ही मुझे उन हुक्मनामों और आर्डिनेंसों की तथा उन्हें निकालने के दिये गये कारणों की याद आये बिना न रही, जो ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुस्तान में प्रकाशित किये थे। चार्ल्स का वह हुक्मनामा फरवरी १७६७ ईसवी को दिया गया था। बादशाह ने यह कहकर अपने हुक्म को ठीक ठहराया था कि इसको निकालने के लिए हमारे पास "अपनी हुकूमत, अमन, और अपनी प्रजा में न्याय की रक्षा करने के लिए मेरा जो फ़र्ज़ है उससे सम्बन्ध रखनेवाले बहुत ही गम्भीर वजहात हैं; और इन वजूहात के अलावा दूसरे बहुत ज़रूरी, ठीक और आवश्यक कारण भी हैं जिन्हें मैं अपने दिल में सुरक्षित रख रहा हूँ।"

इसलिए आर्डिनेन्स निकालने के जो असली कारण थे वे तो वाइसराय के दिल में या उनके सलाहकारों के साम्राज्यवादी दिलों के ताले में ही बन्द रहे, यद्यपि वे साफ़-साफ़ दीख पड़ते थे। सरकार की तरफ़ से आर्डिनेन्सों को निकालने के लिए जो कारण बताये गये उनसे हमें सरकारी प्रचार की उस विद्या को समझने का मौक़ा मिला जिसे ब्रिटिश सरकार हिन्दुस्तान में कमाल पर पहुँचा रही थी। कुछ महीने बाद हमें यह भी मालूम हुआ कि कुछ नीम-सरकारी परचे व पैम्फलेट हज़ारों की तादाद में सब गाँवों में बाँटे जा रहे हैं, जिनमें ग़लत बातों की तादाद काफ़ी आश्चर्य-जनक है और

जिनमें ख़ास तौर पर यह बात भी कही गई थी कि किसानों को नाज की जिस मंदी से नुक़सान पहुँचा है वह कांग्रेस ने ही कराई है। कांग्रेस की ताक़त की इससे ज्यादा तारीफ़ और क्या हो सकती है कि वह संसारव्यापी संकट पैदा कर सकती, लेकिन यह झूठ लगातार काफी होशियारी के साथ इस उम्मीद से फैलाई गई कि उससे कांग्रेस की धाक को धक्का लगेगा।

इन सब बातों के होते हुए भी युक्तप्रान्त के कुछ ख़ास-ख़ास ज़िलों के किसानों ने सत्याग्रह की लड़ाई में जो हिस्सा लिया था वह तारीफ़ के लायक़ है। सत्याग्रह की यह लड़ाई लाज़िमी तौर पर माकूल लगान और छूट की लड़ाई में मिल गई थी। इस लड़ाई में किसानों ने १९३० की लड़ाई से कही ज्यादा तादाद में और ज्यादा अनुशासन के साथ हिस्सा लिया। शुरू-शुरू में इस लड़ाई में कुछ चुहलबाज़ी भी हुई। हम लोगो को एक मज़ेदार कहानी यह सुनाई गई कि पुलिस की एक पार्टी रायबरेली ज़िले के बाकुलिया गाँव में गई। वे लोग लगान अदा न होने पर माल कुड़क करने के लिए गये थे। इस गाँव के लोग दूसरे लोगों को देखते हुए कुछ ख़ुशहाल और जीवट के आदमी थे। उन्होंने महक्मे माल व पुलिस के अफ़सरों का खूब स्वागत-सत्कार किया और अपने-अपने घरों के किवाड़ खोलकर उनसे कहा कि चले जाइए और जो चाहे उठा लाइए। इन लोगों ने मवेशी वग़ैरा कुड़क किये। इसके बाद गाँववालों ने पुलिस और महकमे माल के हाकिमों को पान-सुपारी नज़र की। वे बेचारे निहायत शर्मिन्दा होकर नीचे को निगाह डालकर वहाँ से चले गये। लेकिन यह तो एक बिरली और ग़ैर-मामूली घटना थी। लेकिन बाद को फ़ौरन ही यह चुहलबाज़ी या उदारता या मेहरबानी कही भी न दिखाई दी। चुहलबाज़ी की वजह से बेचारा बाकुलिया गांव उस सज़ा से नहीं बच सका जो उसे ऐसा जीवट दिखाने के लिए मिली।

कई ख़ास-ख़ास ज़िलों में कई महीनों तक किसानों ने लगान रोक रक्खा था। उसकी अदायगी ग़ालिबन गरमी के शुरू में शुरू हुई। इसमें कोई शक नहीं कि बहुत-से लोग गिरफ्तार किये गये, लेकिन ये गिरफ्तारियाँ तो सरकार को अपनी कार्य-नीति के ख़िलाफ़ करनी पड़ीं। आम तौर पर गिरफ्तारियाँ ख़ास-ख़ास कार्यकर्त्ताओं तथा गाँवों के नेताओं की ही की जाती थी। दूसरों को तो महज़ मार-पीटकर छोड़ दिया जाता था। मारपीट का यह तरीक़ा जेल में ले जाने और गोली मारने के तरीक़े से बेहतर पाया गया। क्योंकि लोगों को जहाँ जी चाहे वहीं मारा-पीटा जा सकता है और दूर देहातों में होनेवाली मार-पीट की तरफ़ वहाँ से बाहर के लोगों का बहुत कम ध्यान जाता है। इसके अलावा उससे क़ैदियों की तादाद भी नहीं बढ़ती, जोकि वैसे ही बढ़ती जाती थी। हाँ बेदख़लियाँ, कुड़कियाँ और जानवर तथा जायदाद बहुत

कसरत से नीलाम हुई। किसान तकलीफ़ से तड़पते हुए यह देखते थे कि उनके पास जो कुछ थोड़ा-सा बचा-खुचा था वह भी उनसे छीनकर मिट्टी के मोल बेचा जा रहा है।

देशभर में जिन बहुत-सी इमारतों पर सरकार ने अपना क़ब्ज़ा कर लिया था उनमें स्वराज-भवन भी था। स्वराज-भवन में ही कांग्रेस का जो अस्पताल काम कर रहा था उसका भी क़ीमती सामान व माल सरकार के क़ब्ज़े में ले लिया गया। कुछ दिनों तक तो अस्पताल बिलकुल ही बन्द हो गया लेकिन उसके बाद पड़ौस के एक पार्क में ही एक खुला दवाख़ाना खोल दिया गया। इसके बाद वह अस्पताल या दवाख़ाना स्वराज-भवन से लगे हुए एक छोटे-से मकान में रक्खा गया और वहीं वह कोई ढाई बरस तक चलता रहा।

हमारे रहने के घर 'आनन्द भवन' की बाबत भी कुछ चर्चा चली थी कि सरकार उसपर भी अपना क़ब्ज़ा कर लेना चाहती है। क्योंकि मैंने हमारे इनकमटैक्स की जो एक बड़ी रक़म बक़ाया थी उसके अदा करने से इन्कार कर दिया था। यह टैक्स १९३० में पिताजी की आमदनी पर लगाया गया था और उन्होने सत्याग्रह की लड़ाई की वजह से उस साल उसे अदा नही किया। दिल्ली पैक्ट के बाद १९३१ में उस टैक्स के बारे में इनकमटैक्स के हाकिमों से मेरी बहस हुई लेकिन अखीर में मैं उसे देने को राज़ी होगया और उसकी एक क़िस्त दे भी दी। ठीक इसी समय आर्डिनेंस जारी हुआ और मैंने तय कर लिया कि अब मैं टैक्स नहीं दूँगा। मुझे अपने लिए यह बात बहुत ही बुरी, बुरी ही क्यों अनीतिपूर्ण भी, मालूम हुई कि मैं किसानों से तो यह कहूँ कि तुम लगान और मालगुज़ारी देने से रुक जाओ और ख़ुद अपना इनकमटैक्स अदा करदूं। इसलिए मैं यह उम्मीद करता था कि सरकार हमारे मकान को कुड़क कर लेगी। मुझे अपने मकान की कुड़की की बात बहुत ही बुरी लगती थी क्योंकि उसके मानी यह थे कि मेरी माताजी उससे निकाल दी जातीं और हमारी किताबें, व काग़ज़ात, वे चीज़ें तथा जानवर और बहुत-सी चिंजे जिनका, निजी उपयोग तथा ममत्व के कारण हमारी दृष्टि में, महत्व था, अजनबी लोगों के हाथों में चली जातीं और उनमें से कई तो कदाचित खो भी जाती, हमारा राष्ट्रीय झण्डा उतार दिया जाता और उसकी जगह यूनीयन जैक फहरा दिया जाता। इसके साथ ही, मकान को खो बैठने का खयाल मुझे बहुत अच्छा भी मालूम होता था। क्योंकि मैं महसूस करता था कि मेरा मकान कुड़क हो जाने पर मैं उन किसानों के ज्यादा नज़दीक आजाऊँगा जो अपनी चीज़ें खो बैठे हैं और इससे उनके दिल भी बढेंगे। हमारे आन्दोलन की दृष्टि से तो सचमुच यह बात बहुत ही अच्छी होती। लेकिन सरकार ने दूसरी ही बात तय की। उसने मकान

पर हाथ नहीं डाला, शायद इसलिए कि उसे मेरी माता का खयाल था। या शायद इसलिए कि उसने ठीक-ठीक यह बात जानली कि मेरे मकान को कुड़क करने से सत्याग्रह-आन्दोलन की तेज़ी बढ़ जायगी। कई महीनों बाद मेरे कुछ रेलवे के शेयरों का पता लगाकर इनकमटैक्स वसूल करने के लिए उन्हें कुड़क कर लिया गया। मेरी और मेरी बहन की मोटर तो पहले ही कुड़क करके बेच दी गई थी।

इन शुरू के महीनों की एक बात से तो मुझे बहुत ज्यादा तकलीफ़ हुई। यह बात थी कई म्युनिसिपैलिटियों और सार्वजनिक संस्थाओं द्वारा हमारे राष्ट्रीय झंडे का उतारा जाना। ख़ासकर कलकत्ता कार्पोरेशन-द्वारा, जिसके मेम्बरों में काँग्रेसियों का बहुमत बताया जाता था। झंडे सरकार और पुलिस के दबाव से लाचार होकर उतारे गये थे, क्योंकि यह धमकी दी गई थी कि अगर वे न उतारे गये तो सरकार सख़्ती से पेश आयगी! यह सख़्ती ग़ालिबन म्यूनिसिपैलिटी को तोड़ने या उसके मेम्बरों को सज़ा देने के रूप में होती। जिन जमातों के स्थापित स्वार्थ होते हैं वे अक्सर डरपोक होती हैं और शायद उनके लिए यह लाज़िमी था कि वे झंडे उतार डालतीं। फिर भी इस बात से हमें बड़ा दुख हुआ। वह झंडा हमारे लिए, जिन बातों को हम बहुत प्यार करते हैं उनका, चिन्ह होगया था और उसकी छाया में हमने उसके गौरव की रक्षा करने की अनेक प्रतिज्ञायें ली हैं। ख़ुद अपने ही हाथों से उसे उतार फेंकना या अपने हुक्म से उसे उतरवाना सिर्फ़ अपनी प्रतिज्ञाओं का तोड़ना ही नहीं बल्कि एक दूषित कर्म-सा मालूम होता था। यह अपनी आत्मा को दबाकर अपने भीतर की सचाई की अवहेलना करना था—ज्यादा शारीरिक बल के मुक़ाबिले में झूठ को क़बूल करना था। और जो लोग इस तरह दब गये उन्होंने क़ौम की बहादुरी को बट्टा लगाया और उसकी इज्ज़त को नुक़सान पहुँचाया।

यह बात नहीं है कि हम उनसे यह उम्मीद करते थे कि वे वीरों की तरह काम करते और आग में कूद पड़ते। किसीको इसलिए दोष देना कि वह अगली क़तार में नहीं है या जेल नहीं जाता या दूसरी क़िस्म की तकलीफ़ें या नुक़सान नहीं बरदाश्त करता है, ग़लत और फ़िज़ूल है। हरेक को बहुत से फ़र्ज़ अदा करने पड़ते हैं और कई क़िस्म की ज़िम्मेदारियां उठानी पड़ती हैं। दूसरों को इस बात का कोई हक़ नहीं है कि वे उनके जज बनकर बैठें। लेकिन पीछे घरों में बैठे रहना या काम न करना एक बात है और सच्चाई से या जिसे हम सच्चाई समझते हैं उससे इन्कार करना बिलकुल दूसरी बात है—और बहुत ही बुरी बात है। जब म्यूनिसिपैलिटी के मेम्बरों से कोई ऐसी बात करने के लिए कही गई जो राष्ट्रीय हितों के ख़िलाफ़ थी तब उनके लिए यह रास्ता खुला हुआ था कि वे अपनी मेम्बरी से इस्तीफ़ा दे देते। मगर,

इन लोगों ने तो मेम्बर बने रहना ही पसन्द किया। थॉमस मूर ने कहा है :—

पुष्पासन पाकर मधु-मक्खी तज देती गुञ्जन सुन्दर,
त्यों कौंसिल-कुर्सी पाते ही चुप हो जाते हैं मेम्बर।[1]

शायद किसीकी उस काम के लिए नुक़्ताचीनी करना नाइन्साफ़ी है जो उन्होंने एक ऐसे आकस्मिक संकट में किया जिससे वे बुरी तरह दब गये थे। जैसा कि पिछला संसारव्यापी युद्ध कई बार दिखा चुका है, कभी-कभी बड़े-से-बड़े बहादुरों के भी छक्के छूट जाते हैं। उससे भी पहले १९१२ में टाइटैनिक जहाज़ सम्बन्धी जो भारी दुर्घटना हुई थी उसमें ऐसे-ऐसे नामी आदमियों ने, जिनकी बाबत कभी भी यह ख़याल नही किया जा सकता था कि वे कायर हैं, जहाज़ के कर्मचारियों को रिश्वत देकर अपनी जान बचाई और दूसरे लोगों को डूबता छोड़ दिया। अभी हाल में मॉरो कैसिल जो आग लगी उससे बहुत ही शर्मनाक हालात मालूम हुए। कोई नही कह सकता कि ऐसा ही संकट आने पर जबकि सहज-स्फूर्ति बुद्धि और सयम को दबा लेती है। तब वें ख़ुद क्या करें। इसलिए हमें किसीको दोष नही देना चाहिए। लेकिन इसके मानी यह नहीं हैं कि हम इस बात पर ग़ौर न करें कि हमने जो कुछ किया वह ठीक नही था और भविष्य में इस बात का ख़याल रक्खें कि क़ौम की नाव का पतवार ऐसे लोगों के हाथ में न दिया जाय जो ऐसे वक़्त पर जब सबसे ज्यादा धीरज की ज़रूरत होती है तब कांपने लगें और बेकार हो जायँ। अपनी इस नाकामयाबी को ठीक ठहराने की कोशिश करना और उसे ठीक काम बताना तो और भी बुरा है। सचमुच यह तो इस असफलता से भी ज्यादा बड़ा अपराध है।

लड़नेवाली ताक़तों की हर एक कश्मकश ज्यादातर दिलेरी और धीरज पर मुनहसिर होती है। ख़ूनी-से-ख़ूनी लड़ाई भी इन्ही दो गुणों पर अवलम्बित रहती है। मार्शल फोक ने कहा था—"अख़ीर में जाकर लड़ाई वही जीतता है जो कभी घबड़ाता नहीं और हमेशा धीरज धरे रहता है।" अहिंसात्मक लड़ाई में तो कर्तव्य पर डटे रहने और धीरज रखने की और भी ज्यादा ज़रूरत है। और जो कोई अपने आचरण से राष्ट्र के इस सत्व को हानि पहुँचाता है तथा उसका धीरज छुटाता है वह अपने उद्देश्य को भयंकर हानि पहुँचाता है।

महीने गुज़रते गये, और हमें हर रोज कुछ अच्छी और कुछ बुरी ख़बरें मिलतीं। हम लोग अपनी-अपनी जेलों की अपनी नीरस और एकसी ज़िन्दगी के आदी हो गये।

१. मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है:—

"But bees, on flowers alighting cease their hum—
So, settling upon places, Whigs grow dumb!"

६ अप्रैल से १३ अप्रैल तक राष्ट्रीय सप्ताह आया। हम लोग यह जानते थे कि इस सप्ताह में बहुत सी नई-नई बातें देखने को मिलेंगी। सचमुच उस हफ्ते में बहुत सी बातें हुई भी। लेकिन मेरे लिए एक घटना के सामने बाक़ी सब बातें फ़ीकी पड़ गईं। इलाहाबाद में मेरी मां उस जुलूस में थी जिसे पुलिस ने पहले तो रोका और फिर लाठियों से मारा। जिस वक़्त जुलूस रोक दिया गया था उस वक़्त किसीने उनके लिए एक कुर्सी ला दी। वह जुलूस के आगे उस कुर्सी पर सड़क पर बैठी हुई थी। कुछ लोग, जिनमें मेरे सैक्रेटरी वग़ैरा शामिल थे और जो ख़ास तौर पर उनकी देख-भाल कर रहे थे, गिरफ्तार करके उनसे अलग कर दिये गये और इसके बाद पुलिस ने हमला किया। मेरी मां को धक्का देकर कुर्सी से नीचे गिरा दिया गया और उनके सर पर लगातार बेंत मारे गये जिससे उनके सर में घाव हो गया और ख़ून आने लगा और वह बेहोश हो कर सड़क पर गिर गईं। सड़क से उस वक़्त तक जुलूसवाले तथा दूसरे लोग भगा दिये गये थे। कुछ देर के बाद किसी पुलिस अफ़सर ने उन्हें उठाया और वह उन्हें अपनी मोटर में बिठाकर आनन्द-भवन पहुँचा गया।

उस रात को इलाहाबाद में एक ग़लत अफ़वाह उड़गई कि मेरी मां का देहान्त हो गया है। यह सुनते ही क्रोधित लोगों की भीड़ ने इकट्ठे होकर पुलिस पर हमला कर दिया। वे शान्ति और अहिंसा की बात भूल गये। पुलिस ने लोगों पर गोली चलाई जिससे कुछ लोग मर गये।

इस घटना के कुछ दिन बाद जब इन सब बातों की ख़बर मेरे पास पहुँची—हमें उन दिनों एक साप्ताहिक अख़बार मिलता था—तो अपनी कमज़ोर बूढ़ी मां को सड़क की धूल में ख़ून से लथपथ पड़ने का ख़याल मुझे रह-रहकर आने लगा। मैं यह सोचने लगा कि अगर मैं वहाँ होता तो क्या करता? मेरी अहिंसा किस हद तक मेरा साथ देती? मुझे डर है कि वह ज्यादा हदतक मेरा साथ नहीं देती। क्योंकि वह दृश्य मुझे उस सबक़ को क़तई भुला देता जिसे सीखने की कोशिश मैंने बारह बरस से भी ज्यादा वक़्त से की थी और मैं ज़ाती या क़ौमी नतीजों की रत्ती भर भी परवा न करता।

धीरे-धीरे वह चंगी हो गईं और जब वह दूसरे महीने बरेली जेल में मुझसे मिलने आईं तब उनके सर पर पट्टी बँधी थी। लेकिन उन्हें इस बात की बड़ी भारी ख़ुशी और गर्व था कि वह अपने स्वयं सेवक लड़के और लड़कियों के साथ बेंतों और लाठियों की मार खाने के विशेष लाभ से महरूम न रहीं। लेकिन उनका चंगापन उतना असली नहीं था जितना दिखावटी और ऐसा मालूम होता है कि इतनी बड़ी उमर में इन्हें जो भारी झकझोरे झेलने पड़े उनसे उनका शरीर अस्तव्यस्त हो गया और उसने उन गहरी तकलीफ़ों को उभाड़ दिया जिन्होंने एक साल बाद भीषण रूप धारण कर लिया।

# ४३

## बरेली और देहरादून जेल में

छः हफ्ते नैनी जेल में रहने के बाद मेरा तबादला बरेली ज़िला जेल को कर दिया गया। मेरी तन्दुरुस्ती फिर गड़बड़ रहने लगी। मुझे रोज बुख़ार हो आता था, जो मुझे बहुत नागवार मालूम होता था। चार महीने बरेली में बिताने के बाद, जब गर्मी बहुत सख़्त हुई तब फिर मेरा तबादला कर दिया गया। लेकिन इस मर्तबा मुझे बरेली के मुकाबले में एक ठंडी जगह, हिमालय के पैरों तले, देहरादून जेल में भेजा गया। मैं वहां कोई साढ़े चौदह महीने, क़रीब-क़रीब अपनी दो साल की सज़ा के अख़ीर तक रहा। इस बीच में मेरा तबादला किसी दूसरी जगह नहीं हुआ। इसमें कोई शक नही कि जो लोग मुझसे मिलने आते थे उनसे और ख़तों के तथा उन चुने हुए अख़बारों के ज़रिये से, जो मुझे पढ़ने को दिये जाते थे, मेरे पास ख़बरें पहुँच जाती थीं, फिर भी बाहर जो कुछ हो रहा था उससे ज्यादातर मैं अपरिचित ही रहा और ख़ास-ख़ास घटनाओं के बारे में मेरी धारणायें बहुत धुंधली थी।

इसके बाद जब मैं छूटा तब अपने ज़ाती मामलों में और उस राजनैतिक स्थिति को ठीक करने में, जो मुझे छूटने पर मिली, लगा रहा। कोई पाँच महीने से कुछ ज्यादा की आज़ादी के बाद मैं फिर जेल में बन्द कर दिया गया और अब तक यहीं हूँ। इस तरह पिछले तीन सालों में मैं ज्यादातर जेल में ही—और इसीलिए वाक़यात से बिलकुल दूर, अलग—रहा हूँ। इस बीच में जो कुछ हुआ उस सबकी तफ़सीलवार जानकारी हासिल करने का मुझे बहुत ही कम, नहीं के बराबर, मौक़ा मिला है। जिस दूसरी गोलमेज़-कान्फ़्रेन्स में गांधीजी शरीक हुए थे उसमें परदे के पीछे क्या-क्या हुआ इसकी बाबत मेरी जानकारी अब तक बहुत ही धुंधली है। इस मामले पर गांधीजी से बातचीत करने का अब तक मुझे कोई मौक़ा ही नहीं मिला और न इसी बात का मौक़ा मिला कि अबतक जो-कुछ हुआ है उसके बारे में उनके या दूसरे साथियों के साथ बैठकर विचार करलूं।

१९३२ और १९३३ के उन सालों के बारे में मेरी जानकारी इतनी काफ़ी नहीं है कि मैं अपने राष्ट्रीय-संग्राम के विकास का इतिहास लिख सकूं। लेकिन चूंकि मैं रंगमंच को, उसकी पृष्ठभूमि को और अभिनेताओं को अच्छी तरह जानता था इसलिए जो बहुत-सी छोटी-छोटी बातें भी हुईं उनको मैं अपने सहज ज्ञान से अच्छी तरह समझ सका। इस तरह मैं उस संग्राम की साधारण प्रगति के विषय में ठीक राय

कायम कर सकता हूँ। पहले चार महीने के क़रीब तो सत्याग्रह की लड़ाई काफ़ी ज़ोर और हल्ले के साथ चली लेकिन उसके बाद धीरे-धीरे वह गिरती गई। बीच-बीच में वह फिर भड़क उठती थी। सीधी मार की लड़ाई क्रान्ति की पराकाष्ठा पर तो थोड़ी देर के लिए ही ठहर सकती है। वह एक जगह स्थिर नहीं रह सकती, वह या तो तेज़ होगी या नीचे गिरेगी। शुरू के जोश के बाद सत्याग्रह-संग्राम धीरे-धीरे ढीला पड़ता गया लेकिन उस हालत में भी वह बहुत वक्त तक चलता रहा। यद्यपि कांग्रेस ग़ैर-कानूनी क़रार दे दी गई थी फिर भी अ० भा० काँग्रेस का संगठन काफ़ी कामयाबी के साथ अपना काम करता रहा। अपने-अपने सूबे के कार्यकर्त्ताओं के साथ उसका ताल्लुक़ बना रहा। वह अपनी हिदायतें भेजता रहा, सूबों से रिपोर्ट हासिल करता रहा और कभी-कभी उसने सूबों को आर्थिक मदद भी दी।

कमी-ज्यादा कामयाबी के साथ सूबे के संगठन भी अपना काम चलाते रहे। जिन सालों में मैं जेल में बन्द था उनमें दूसरे सूबों में क्या हुआ इस बात का मुझे ज्यादा पता नही लेकिन अपने छूटने के बाद मुझे युक्तप्रान्त के काम की बाबत बहुत-सी बातें मालूम हो गई। युक्तप्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी का दफ्तर १९३२ में पूरे साल भर और १९३३ के बीच तक नियमित रूप से अपना काम करता रहा। यानी वह उस वक्त तक अपना काम चलाता रहा जब गांधीजी की सलाह मानकर काँग्रेस के तत्कालीन कार्यवाहक सभापति ने पहली मर्तबा सत्याग्रह को मुल्तवी किया। इस डेढ़ साल में ज़िलों को अक्सर हिदायतें भेजी जाती रहीं। छपी हुई या साइक्लोस्टायल से लिखी हुई पत्रिकायें बाक़ायदा जारी होती रही। समय-समय पर ज़िलों के काम की निगरानी होती रही और राष्ट्र-सेवा-संघ के कार्यकर्त्ताओं को भत्ता मिलता रहा। यह काम ज्यादातर ज़रूरतन छिपे तौर पर किया गया। लेकिन सूबा काँग्रेस-कमिटी के जो सेक्रेटरी दफ्तर के चार्ज़ में थे वह खुलेआम सेक्रेटरी की हैसियत से उस वक्त तक काम करते रहे जबतक उन्हें गिरफ्तार करके हटा न दिया गया। उसके बाद दूसरे ने उनकी जगह ले ली।

१९३० और १९३२ के अपने तजुर्बे से हमें मालूम हुआ कि हिन्दुस्तान-भर में छिपे-छिपे खबरें लेने-देने के लिए संगठन का जाल-सा बिछाने का काम आसानी से किया जा सकता है। कुछ मुख़ालिफ़त होते हुए भी, बिना किसी ख़ास कोशिश के बहुत अच्छा नतीजा निकला। लेकिन हममें से बहुतों को इस बात का भी ख़याल था कि छिपे-छिपे काम करने की बात सत्याग्रह की भावना से मेल नहीं खाती और सार्वजनिक जाग्रति पर उसका बुरा असर पड़ता है। बड़े और खुले जनता-आन्दोलन के एक छोटे-से जुज़ के तौर पर यह काम फ़ायदे का था लेकिन उसमें हर वक्त यह

ख़तरा बना रहता था कि कहीं छोटे-से और प्रायः बेकार के गुप्त काम ही जनता-आन्दोलन की जगह न ले लें। यह ख़तरा उस वक़्त ख़ास तौर पर बढ़ जाता था जब आन्दोलन गिर रहा हो। जुलाई १९३३ में गांधीजी ने सब तरह के छिपे कार्य को बुरा बताया।

किसानों की लगानबन्दी की लड़ाई युक्तप्रान्त के अलावा, कुछ वक्त तक गुजरात और कर्नाटक में भी चलती रही। गुजरात और कर्नाटक, दोनों सूबों में ऐसे बहुत-से किसान थे जिन्होंने अपनी ज़मीन का मालिक होते हुए भी सरकार को मालगुज़ारी देने से इन्कार कर दिया और इसकी वजह से काफ़ी नुक़सान उठाया। बेदख़लियों और जायदाद की ज़ब्तियों से किसानों को जो तकलीफ़ पहुँची उसे कम करने और पीड़ितों की मदद करने के लिए काँग्रेस की तरफ़ से कुछ कोशिश की गई लेकिन वह लाज़िमी तौर पर नाकाफ़ी थी। युक्तप्रान्त में तो यहाँ की कांग्रेस-कमिटी ने इस तरह मुसीबतज़दा किसानों की मदद करने के लिए कोई कोशिश नही की। यहाँ का सवाल वहाँ से कही ज्यादा बड़ा था। आसामी किसानों की तादाद किसान-ज़मींदारों की तादाद से कहीं ज्यादा है, यहाँ का रक़बा भी बहुत बड़ा था, और सूबे की कमिटी के माली साधन भी दूसरे सूबों के मुक़ाबिले में बहुत ही सीमित थे। लड़ाई की वजह से जिन बीसियों हज़ार किसानों को नुक़सान पहुँचा उनकी मदद करना हमारे लिए बिलकुल ग़ैर-मुमकिन था और इसके अलावा हमारे लिए यह तय करना भी बहुत मुश्किल था कि हम इन्हीं लोगों की मदद क्यों करें और इन लोगों में तथा उन लाखों लोगों में भेद-भाव कैसे करें जिन्हें हमेशा भूखों मरने का डर बना रहता है। सिर्फ़ कुछ हज़ार लोगों को मदद करने से मुसीबत और आपसी रंजिश खड़ी हो जाती। इसलिए हम लोगों ने यही तय किया कि हम किसीको रुपये-पैसे की मदद न दें। हमने आन्दोलन के शुरू में ही यह बात सबको बतादी थी और किसान लोग हमारी बात के महत्व को अच्छी तरह समझते थे। किसी प्रकार की शिकायत या एतराज किये बिना उन्होंने जितनी तक़लीफ़ें सही उन्हें देखकर आश्चर्य होता था। जहाँतक हमसे हो सका वहाँतक हमने कुछ व्यक्तियों की अलबत्ते मदद करने की कोशिश की—ख़ासतौर पर उन कार्यकर्ताओं की बीबियों और बच्चों की जो जेल गये थे। इस दुःखी मुल्क की ग़रीबी का यह हाल है कि एक रुपये महीने की मदद भी इन लोगों के लिए ईश्वरीय देन थी।

युक्तप्रान्तीय काँग्रेस कमिटी ग़ैर कानूनी क़रार देदी गई थी। फिर भी वह लड़ाई के दौरान में अपने वैतनिक कार्यकर्ताओं को जो थोड़ा-बहुत भत्ता देती थी बराबर देती रही। और जब वे जेल चले गये,—जेल तो अपनी-अपनी बारी आने पर

सभी गये थे—तब उनके परिवारों की मदद करती रही। हमारे बजट में इस मद का खर्च बहुत बड़ा था। इसके बाद परचों और पत्रिकाओं को छापने और उनकी कई कापियाँ निकालने का ख़र्च था। यह ख़र्च भी बहुत बड़ा था। सफ़र खर्च भी ख़र्च की एक खास मद थी। इसके अलावा जो ज़िले ज्यादा ग़रीब थे उन्हें भी कुछ मदद दी जाती थी। एक ज़बरदस्त और सब तरह से मोर्चाबन्द सरकार के ख़िलाफ़ जनता की घमासान लड़ाई के इस वक्त में इन सब खर्चों के और दूसरे ख़र्चों के बावजूद युक्त-प्रान्त की काँग्रेस कमिटी का जनवरी १९३२ से लेकर १९३३ के अगस्त के अख़ीर तक का यानी बीस महीने का कुल खर्च सिर्फ़ ६३०००) था; यानी क़रीब-क़रीब ३१५०) रुपया महीना। इस रक़म में वह ख़र्च शामिल नहीं है जो इलाहाबाद, आगरा, कानपुर लखनऊ जैसी ज्यादा आमूदा और ज्यादा मज़बूत ज़िलों की कमिटियों ने अलग किया। सूबे की हैसियत से १९३२ और १९३३ भर युक्तप्रान्त लड़ाई के मैदान में आगे ही रहा और मेरा ख़याल है कि हमने जो कुछ कर दिखाया उसे देखते हुए यह बात ख़ास तौर पर ध्यान देने लायक़ है कि उसने कितना कम ख़र्च किया। इस छोटी सी रक़म का मुकाबला उस रक़म से करना बड़ा दिलचस्प होगा जो सूबे की सरकार ने सत्याग्रह को कुचलने के लिए ख़ासतौर पर ख़र्च की। यद्यपि मुझे ठीक-ठीक तो नहीं मालूम है फिर भी मेरा खयाल है कि काँग्रेस के कुछ दूसरे बड़े-बड़े सूबों ने हमारे सूबे से कही ज्यादा खर्च किया। लेकिन बिहार तो, काँग्रेस की दृष्टि में, अपने पड़ौसी युक्तप्रान्त से भी ज्यादा ग़रीब सूबा था; फिर भी लड़ाई में उसने जो हिस्सा लिया वह बहुत ही शानदार था।

इस तरह धीरे-धीरे सत्याग्रह की लड़ाई कमज़ोर होती गई; लेकिन फिर भी वह चलती रही, मगर बिना विशेषताओं के नही। ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये त्यों-त्यों वह आम लोगों की लड़ाई नहीं रही। सरकारी दमन की सख़्ती के अलावा इस लड़ाई को सबसे पहली ज़बरदस्त चोट उस वक़्त लगी जब सितम्बर १९३२ में गांधीजी ने पहले-पहल हरिजनों के सवाल पर अनशन किया। इस अनशन ने जनता में जाग्रति ज़रूर पैदा की लेकिन उसने उसे दूसरी तरफ़ मोड़ दिया। जब मई १९३३ में सत्याग्रह की लड़ाई मुल्तवी की गई तब तो वह व्यावहारिक रूप में आख़िरी तौर पर मर गई। यों उसके बाद वह जारी तो रही लेकिन विचार में ही, आचार में नहीं। इसमें कोई शक नही कि अगर वह मुल्तवी न की जाती तो भी वह धीरे-धीरे ख़तम हो जाती। हिन्दुस्तान दमन की उग्रता और कठोरता से सुन्न हो गया था। कम-से-कम उस वक़्त तो तमाम राष्ट्र का धैर्य ख़त्म हो गया था और नया उत्साह नहीं आ रहा था। वैयक्तिक रूप से तो अब भी ऐसे बहुत से लोग थ जो सत्याग्रह करते रह सकते

थे लेकिन उन लोगों को कुछ-कुछ बनावटी वातावरण में काम करना पड़ता था।

हम लोगों को जेल में रहते हुए यह बात अच्छी नहीं लगती थी कि हमारा यह महान आन्दोलन इस तरह धीरे-धीरे गिरता जाय। फिर भी हममें से शायद ही कोई यह समझता हो कि हमें झट कामयाबी मिल जायगी। यह ज़रूर है कि इस बात का कुछ-न-कुछ अवसर हमेशा ही था कि अगर आम लोग इस तरह उठ खड़े हों कि उन्हें कोई दबा न सके तो चमत्कारिक कामयाबी हो जाती। लेकिन हम ऐसे इत्तफाक पर भरोसा नहीं कर सकते थे। इसलिए हम लोग तो एक ऐसी लम्बी लड़ाई के लिए ही तैयार थे जो कभी तेज़ होती, कभी मद्दी पड़ती और बीच-बीच में कई भुलावों में पड़ जाती। इस लड़ाई से जनता को अनुशासन सिखाने में तथा एक विचार धारा का लगातार प्रचार करने में ज्यादा कामयाबी मिली। १९३२ के उन शुरू के दिनों में तो मै कभी-कर्भा इस ख़याल से डर जाता था कि कहीं हमें फौरन ही दिखावटी कामयाबी न मिल जाय क्योंकि अगर ऐसा होता तो उसमें लाज़िमी तौर पर कोई राज़ीनामा होता जिसकी बदौलत राज की बागडोर सरकार-परस्त और मौक़ा परस्त लोगों के हाथ में पहुँच जाती। १९३१ के तजुरबे ने हमारी आँखें खोल दी थीं। कामयाबी तो तभी काम की हो सकती है जब वह ऐसे वक़्त पर आवे जब कि लोग आमतौर पर उसका फ़ायदा उठाने के लिए काफ़ी मज़बूत हों और उसके बारे में उनके विचार साफ़ हों। यदि ऐसा न होगा तो आम लोग तो लड़ेंगे और कुर्बानी करेंगे ओर जब कामयाबी का वक्त आवेगा तब ऐन वक्त पर दूसरे लोग बड़ी ख़ूबी से आकर जीत के लाभ हड़प लेंगे। इस बात का भारी ख़तरा था क्योंकि ख़ुद काँग्रेस के इस बारे में निश्चित विचार नहीं थे कि हम लोगों को किस तरह की सरकार या समाज क़ायम करना चाहिए। न इस बारे में लोगों को साफ़-साफ़ कुछ सूझता ही था। सच-मुच कुछ काँग्रेसी तो कभी यह सोचते ही न थे कि सरकार की मौजूदा प्रणाली में कोई ज्यादा हेर-फेर किया जाय। वे तो महज़ यह चाहते थे कि मौजूदा सरकार में ब्रिटिश या विदेशी अंश को निकाल कर उसकी जगह स्वदेशी छाप दे दीजाय।

शुद्ध प्रकार के 'सरकार-परस्त' लोगों से तो हमें कुछ डर नहीं था क्योंकि उनके मज़हब की सब से पहली बात यह थी कि राज की ताक़त जिस किसी के हाथ में हो उसीके सामने सर झुकाया जाय। लेकिन यहाँ तो लिबरलों और प्रतिसहयोगियों तक ने ब्रिटिश सरकार की विचारधारा को क़रीब-क़रीब सोलहों आने मंजूर कर लिया था। समय-समय पर वे जो थोड़ी-बहुत नुक्ताचीनी कर देते थे वह इसीलिए बिलकुल बेकार और दो कौड़ी की होती थी। यह बात सबको अच्छी तरह मालूम थी कि ये लोग तो हर हालत में क़ानून के पाबन्द थे और उसकी वजह से वे कभी सत्याग्रह का

स्वागत नहीं कर सकते थे। लेकिन वे तो इससे कहीं ज्यादा आगे बढ़ गये और बहुत-कुछ सरकार की तरफ़ जा खड़े हुए। हिन्दुस्तान में सब क़िस्म की नागरिक आज़ादी का जो दमन हो रहा था उसे प्रायः चुप-चाप खड़े हुए और कुछ-कुछ डरे हुए दूर से तमाशबीनों की तरह देख रहे थे। असल में दमन का यह सवाल महज़ सरकार-द्वारा सत्याग्रह का मुकाबला किये जाने और उसके कुचले जाने का ही सवाल नहीं था। वह तो तमाम राजनैतिक जीवन और सार्वजनिक हलचलों को बन्द करने का सवाल था। लेकिन उसके खिलाफ़ शायद ही किसीने कोई आवाज़ उठाई हो। जो लोग मामूली तौर पर इन आज़ादियों के हामी थे वे सबके सब लड़ाई में जुटे हुए थे और उन लोगों ने राज की ज़बरदस्ती के सामने सर झुकाने से इन्कार करके उसकी सज़ा भोगी। लेकिन बाक़ी के लोग तो बुरी तरह दब गये। उन्होंने सरकार की नुक्ताचीनी में चूँ तक नहीं की। जब कभी उन्होंने बहुत ही नरम टीका-टिप्पणी की भी तो ऐसे लहज़े से मानों अपने क़ुसूर की माफ़ी माँग रहे हों और उसके साथ-साथ वे कांग्रेस की और उन लोगों की, जो सत्याग्रह की लड़ाई लड़ रहे थे, बड़ी निन्दा भी करते थे।

पश्चिमी देशों में नागरिकों की आज़ादी के पक्ष में मज़बूत लोकमत बन गया है। इसलिए वहाँ ज्यों ही इनमें कमी की जाती है त्यों ही लोग बिगड़ कर उसकी मुख़ालिफ़त करते हैं। (शायद अब यह वहाँ भी इतिहास की पुरानी बात होगई है।) उन मुल्कों में ऐसे लोगों की तादाद बहुत काफ़ी है जो खुद तो कड़ी और सीधी लड़ाई में हिस्सा लेने को तैयार नहीं होते लेकिन इस बात का बहुत काफ़ी खयाल रखते हैं कि बोलने और लिखने की आज़ादी में, जल्सा करने और संगठन क़ायम करने की आज़ादी में, व्यक्तिगत और छापेखानों की आज़ादी में किसी तरह की कमी न होने पावे। इनके लिए वे निरन्तर आन्दोलन करते रहते हैं और इस तरह सरकार द्वारा उनके भंग किये जाने की कोशिशों को रोकने में मदद करते हैं। हिन्दुस्तान के लिबरलों का दावा है कि वे लोग कुछ हद तक ब्रिटिश लिबरलों की परम्परा पर चल रहे हैं हालांकि इन दोनों में नाम के अलावा और कोई बात एक-सी नहीं है। फिर भी उनसे यह उम्मीद की जा सकती थी कि इन आज़ादियों के इस तरह दबाये जाने पर वे कम-से-कम कुछ बौद्धिक विरोध ज़रूर करेंगे क्योंकि दमन का असर उनपर भी पड़ता था। लेकिन उन्होंने ऐसी कोई बात नहीं की। उन्होंने वॉल्टेअर की तरह यह नहीं कहा कि "आप जो कुछ कहते हैं उससे मैं क़तई सहमत नहीं हूँ, लेकिन आपको अपनी बात कहने का हक़ है और आपके इस हक़ को मैं अपनी जान पर खेलकर बचाऊँगा।"

शायद उनको इस बात के लिए दोष देना मुनासिब नहीं है क्योंकि उन लोगों ने

आज़ादी या लोकतंत्र के रक्षक होने का दावा कभी नहीं किया और उन्हें एक ऐसी हालत का सामना करना पड़ा जिससे एक लफ्ज़ इधर-उधर होजाने पर वे मुसीबत में फँस सकते थे। हिन्दुस्तान में होनेवाले दमन का आज़ादी के उन पुराने आशिक़ों यानी ब्रिटिश लिबरलों और ब्रिटिश मज़दूर-दल के नये साम्यवादियो पर जो असर पड़ा उसे देखना ज्यादा मुनासिब मालूम होता है। हिन्दुस्तान में जो कुछ होरहा था वह काफ़ी तकलीफ़देह था। लेकिन वे उस सबको काफ़ी मज़े के साथ देखते रहे और कभी-कभी तो "मैंचेस्टर गार्जियन" नामके अख़बार के संवाददाता के शब्दों में हिन्दुस्तान में "दमन के वैज्ञानिक प्रयोग" की कामयाबी पर उनकी ख़ुशी ज़ाहिर हो जाती थी। हाल ही में ग्रेटब्रिटेन की राष्ट्रीय सरकार ने राजद्रोह का एक बिल पास करने की कोशिश की है। ख़ास तौर पर लिबरलों और मज़दूर दलवालों ने इस बिल के खिलाफ़ और बातों के साथ इस बिना पर बहुत बावैला मचाया है कि वह बोलने की आज़ादी को कम करता है और मजिस्ट्रेटों को यह अख़्त्यार देता है कि वे तलाशी के वारण्ट निकालें। जब-जब मैं इन टीका-टिप्पणियों को पढ़ता तो मैं उनके साथ हमदर्दी करता था लेकिन साथ ही मेरी आँखों के सामने हिन्दुस्तान की तस्वीर नाच उठती और मुझे यह दिखाई देता कि यहाँ तो वाक़ई में जो क़ानून जारी हैं वे क़रीब-क़रीब उस क़ानून से सौगुने ज्यादा बुरे हैं जिसे 'ब्रिटिश-राजद्रोह-बिल' बनाने की कोशिश कर रहा है। मुझे इस बात पर बड़ा आश्चर्य होता था कि जिनके गले में इंग्लैंड में मच्छर भी अटक जाता है वे हिन्दुस्तान में बिना चूं-चपड़ किये ऊँट को किस तरह निगल जाते हैं। सचमुच मुझे ब्रिटिश लोगों की इस अद्भुत ख़ूबी पर हमेशा आश्चर्य हुआ है जिससे कि वे अपने नैतिक पैमानों को अपने भौतिक स्वार्थों के अनुकूल बना लेते हैं और जिन कामों से उनके साम्राज्य बढ़ाने के इरादों को मदद मिलती है उन सबमें उन्हें धर्म-ही-धर्म दिखाई देता है। आज़ादी और लोकतंत्र के ऊपर मुसोलिनी और हिटलर जो कुछ हमला कर रहे हैं उस पर उन्हें बड़ा क्रोध आता है और वे निहायत ईमानदारी के साथ उनकी निन्दा करते हैं लेकिन उतनी ही ईमानदारी के साथ वे हिन्दुस्तान में आज़ादी का छीना जाना ज़रूरी समझते हैं और इस बात के लिए ऊँचे-से-ऊँचे नैतिक कारण पेश करते हैं कि इस आज़ादी के छीनने के काम में उनका अपना कोई स्वार्थ क़तई नहीं है। जब हिन्दुस्तान में चारों तरफ़ आग लग रही थी और मर्दों तथा औरतों की अग्नि-परीक्षा हो रही थी तब यहाँ से बहुत दूर लन्दन में छँटे-चुने हज़रात हिन्दुस्तान के लिए एक शासन-विधान बनाने को इकट्ठे हुए। १९३३ में तीसरी गोलमेज़-कान्फ्रेन्स हुई और उसके साथ-साथ कई कमिटियाँ बनी। यहाँ की असेम्बली के बहुत-से मेम्बरों ने इन कमिटियों की मेम्बरी के लिए डोरे डाले जिससे

वे निजी आनन्द के साथ सार्वजनिक कर्तव्य का भी पालन कर सकें। सार्वजनिक खर्च पर हिन्दुस्तान से लन्दन को काफ़ी भीड़ गई। बाद को १९३३ में वह ज्वाइन्ट कमिटी हुई जिसमें हिन्दुस्तानियों ने असेसरों की तरह काम किया और इस मर्तबा भी जो लोग गवाह के तौर पर गये उनको मेहरबान सरकार ने सफ़र खर्च अपने खज़ाने से दिया। बहुत-से लोग फिर, हिन्दुस्तान की सेवा करने के सच्चे भावों से प्रेरित होकर सार्वजनिक खर्च पर समुद्र पार गये और कहा जाता है कि इनमें से कुछ ने तो ज्यादा सफ़र खर्च मिलने के लिए कश्मकश भी की।

हिन्दुस्तान के जनता-आन्दोलन का अमली-रूप देखकर डरे हुए स्थापित स्वार्थों के इन प्रतिनिधियों को, साम्राज्यवाद की छत्रछाया में, लन्दन मे इकट्ठा होते देखकर कोई आश्चर्य नही होना चाहिए। लेकिन हमारे अन्दर जो राष्ट्रीयता है उसको यह देखकर ज़रूर वेदना हुई कि जब मातृभूमि इस तरह की ज़िन्दगी और मौत की लड़ाई में लगी हुई हो तब कोई हिन्दुस्तानी इस तरह की हरकत करे। लेकिन एक दृष्टि से हममे से बहुतों को यह मालूम हुआ कि यह अच्छा ही हुआ, क्योंकि उसने हिन्दुस्तान में प्रतिगामी लोगों को हमेशा के लिए प्रगतिशील लोगों से अलग कर दिया ( उस वक़्त हम यही सोचते थे लेकिन अब मालूम पड़ता है कि हमारा यह ख़याल ग़लत था। ) इस छँटनी से जनता को राजनैतिक शिक्षा देने में मदद मिलती और सब लोगों के लिए यह बात और भी साफ़ हो जाती कि सिर्फ़ आज़ादी के ज़रिये से ही हम सामाजिक मसलो को हल कर सकते है और जनता के सर का बोझ हटा सकते है।

लेकिन इस बात को देखकर अचरज होता था कि इन लोगों ने अपनी रोज़-मर्रा की ज़िन्दगी में ही नही, बल्कि नैतिक और बौद्धिक दृष्टि से भी अपनेको हिन्दु-स्तान की जनता से कितना अलग कर दिया है। ऐसी कोई कड़ी न थी जो इनको जनता से जोड़ती। ये न तो जनता को ही समझते थे न उनकी उस भीतरी प्रेरणा को ही जो उन्हें कुर्बानी करने और तकलीफ़ें झेलने के लिए स्फूर्ति दे रही थी। इन नामी राजकाजियों की राय में असलियत सिर्फ़ एक बात में थी। वह थी ब्रिटिश साम्राज्य की वह ताक़त जिससे लड़कर उसे हराना ग़ैर-मुमकिन है और इसलिए, जिसके सामने हमें ख़ुशी से या बेबसी से अपना सर झुका देना चाहिए। इन लोगों को यह बात सूझती ही न थी कि भारत की जनता के सद्भाव को अपने साथ लिये बिना हिन्दुस्तान के प्रश्न को हल करना या उसके लिए कोई वास्तविक जीवित विधान बनाना बिलकुल ग़ैर-मुमकिन था। मि० जे० ए० स्पेंडर ने हाल ही में "हमारे समय का संक्षिप्त इतिहास" (Short History of Our Times) नामक जो किताब लिखी है उसमें १९१० की उस

आइरिश ज्वाइण्ट कान्फ़ेन्स की नाकामयाबी की चर्चा की गई है जिसने वैधानिक संकट को ख़तम करने की कोशिश की थी। उनका कहना है कि जो राजनैतिक नेता संकटकाल के बीच में विधान तलाश करने की कोशिश करते हैं उनकी दशा उन लोगों की सी होती है जो जब मकान में आग लगी हुई है तब उसका बीमा कराने की कोशिश करते है। १९३२ और १९३३ में हिन्दुस्तान में जो आग लगी हुई थी वह उस आग से कही ज्यादा थी जो आयर्लैण्ड में १९१० में लगी हुई थी और यद्यपि उस आग की ज्वालायें भले ही बुझ जायें फिर भी उसके सुलगते हुए शोले बहुत दिन तक रहेंगे और वे हिन्दुस्तान में स्वाधीनता के संकल्प की तरह गरम और कभी न बुझनेवाले होंगे।

हिन्दुस्तान की शासक-मण्डली में हिंसा-भाव की जो बढ़ती दिखाई देती थी वह चकित कर देनेवाली थी। इस हिंसा की परम्परा पुरानी थी, क्योंकि ब्रिटिश लोगों ने हिन्दुस्तान पर राज ज्यादातर पुलिस-राज की तरह किया है। मुल्की हाकिमों का भी सबसे ज़बर्दस्त दृष्टिकोण फ़ौज़ी ही रहा है। उनकी हुक़ूमत में यह बात प्रायः हमेशा रही है जो विजित देश पर क़ब्ज़ा करके पड़ी हुई ग़ैर-मुखालिफ़ फौज़ की हुक़ूमत में रहती है। अपनी मौजूदा व्यवस्था को गम्भीर चुनौती मिलते ही उनकी यह मनोवृत्ति और भी ज्यादा बन गई। बंगाल में और दूसरी जगह आतंकवादियों ने जो काण्ड किये उनसे इस हिसा को और भी ख़ुराक मिली और शासकों को अपने हिंसात्मक कार्यों के लिए थोड़ा-बहुत बहाना मिल गया। सरकार की नीति ने और तरह-तरह के आर्डिनेन्सों ने सरकारी अफ़सरों और पुलिस को इतने बेहिसाब अख़्त्यार दे दिये कि हिन्दुस्तान असल में एक पुलिस राज ही हो गया, जिसमें पुलिस के लिए न कोई रोक थी न पूछ।

थोड़ी या बहुत मात्रा में हिन्दुस्तान के सभी सूबों को इस भीषण दमन की आग में होकर गुज़रना पड़ा, लेकिन सरहदी सूबे और बंगाल को सबसे ज्यादा तकलीफ़ें झेलनी पड़ीं। सरहदी सूबा तो हमेशा से मुख्यतःफ़ौजी सूबा रहा है। उसका इन्तज़ाम अर्ध-फ़ौज़ी कायदों के मुताबिक होता है। युद्ध-कार्य के लिहाज़ से यों उसका बहुत महत्व पहले ही से था। अब लाल कुर्ती के आन्दोलन से तो सरकार एकदम घबड़ा गई। इस सूबे में 'अमन क़ायम करने के लिए' और 'झगड़ालू गांवों को' दुरुस्त करने के लिए फ़ौज़ों की टुकड़ियां छोड़ी गई थी। हिन्दुस्तानभर में यह आम रिवाज हो गया था कि सरकार गाँवों-के-गाँव पर जुर्माना ठोंक देती थी और कभी-कभी (ख़ास तौर पर बंगाल में) क़स्बों पर भी। सज़ा के तौर पर पुलिस अक्सर गाँवों में डाल दी जाती थी और जब पुलिस को अनाप-शनाप अख़्त्यार हासिल थे और उन्हें रोकनेवाला कोई न था तब पुलिस की ओर से ज्यादतियाँ होना लाज़िमी था। हम लोगों

को क़ानून और व्यवस्था के भंग और अव्यवस्था के नमूने ख़ूब देखने को मिले।

बंगाल के कुछ हिस्सों में तो बहुत ही ग़ैर मामूली बातें दिखाई देती थीं। सरकार तमाम आबादी के— सही बात तो यह है कि हिन्दुओं की आबादी के—साथ दुश्मनों का-सा बर्ताव करती और बारह से लेकर पच्चीस बरस तक के हर शख़्स को फिर चाहे वह मर्द हो या औरत, लड़का हो या लड़की शनाख़्त का कार्ड लेकर चलना पड़ता था। लोगों के झुंड-के-झुंड को देश निकाला दिया जाता था या नज़रबन्द कर दिया जाता था। उनकी पोशाक पर और उनके स्कूलों का नियमन सरकार करती थी। जब सरकार चाहती स्कूलों को बन्द कर देती। साइकिलों पर चढ़ने की मनाही थी और कहीं आते-जाते वक्त पुलिस को अपने आने-जाने की इत्तिला देनी पड़ती थी। इसके अलावा दिन छिपे बाद घर से न निकलने के लिए और रात के लिए तथा दूसरी बातों के लिए क़ायदे और क़ानूनों की भरमार थी। फ़ौजें पेट्रोल करती थी, ताज़ीरी पुलिस तैनात करदी जाती थी और गाँव भर पर जुर्माने होते थे। बड़े-बड़े रक़बे ऐसे मालूम पड़ते थे मानों उनपर हमेशा के लिए घेरा डाल लिया गया हो। इन क़स्बों में रहनेवाले औरत-मर्दों की ऐसी कड़ी निगरानी होती थी कि उनकी हालत उन लोगों से बेहतर न थी जो छुट्टी के टिकिट लिये बिना आ-जा नहीं सकते। इस बात का फ़ैसला करना मेरा काम नहीं है कि आया ब्रिटिश सरकार के दृष्टिकोण से यह सब अद्भुत क़ायदे क़ानून ज़रूरी थे या नहीं। अगर वे ज़रूरी नहीं थे तो सरकार पर यह भारी इलज़ाम आता है कि उसने सारे इलाक़े की आबादी को बेइज्ज़त करने, उनपर जुल्म करने और उन्हें भारी नुक़सान पहुँचाने का भारी क़ुसूर किया। अगर वे ज़रूरी थे तो बेशक हिन्दुस्तान में ब्रिटिश हुकूमत के बांबत यह आख़िरी फ़ैसला है जिससे उसकी बुनियाद का पता लग जाता है।

सरकार के हिंसा के इस भाव ने जेलों में भी हमारे लोगों का पीछा किया। क़ैदियों का अलग-अलग श्रेणियों में बँटवारा एक फ़ार्स था और अक्सर उन लोगों को बेहद तकलीफ़ होती थी जो ऊँचे दर्जों में रक्खे जाते थे। ये ऊँचे दर्जे बहुत ही कम लोगों को मिले और बहुत से मानी तथा मृदुल स्वभाव के मर्दों और औरतों को ऐसी हालत में रहना पड़ा जो लगातार एक यन्त्रणा थी। ऐसा मालूम पड़ता है कि सरकार की यह निश्चित नीति थी कि वह राजनैतिक क़ैदियों को मामूली क़ैदियों से भी ज्यादा बुरी तरह रक्खे। जेलों के इन्सपैक्टर जनरल ने तो यहां तक किया कि सब जेलों के नाम एक गुप्त गश्ती-चिट्ठी जारी की जिसमें यह कहा गया कि सत्याग्रही क़ैदियों के साथ कड़ाई का बर्ताव होना चाहिए।[१]

**१. इस गश्ती चिट्ठी पर ३० जून १९३३ तारीख़ पड़ी थी और उसमें यह लिखा**

बेंतों की सजा जेल की आम सज़ा हो गई । २७ अप्रैल १९३३ को भारत के उप-सचिव ने कामन-सभा में कहा कि "सर सेम्युअल होर को यह बात मालूम है कि हिन्दुस्तान में १९३२ के सत्याग्रह से ताल्लुक़ रखनेवाले जुर्मों के सिलसिले में कोई पाँच सौ लोगों के बेंत लगे हैं ।" इसमें यह बात साफ़ नहीं है कि आया उसमें वे लोग भी शामिल हैं जिनको जेलों में जेल के क़ायदे तोड़ने के लिए बेंतों की सज़ा दी गई। १९३२ में जेलों में बेंत लगने की ख़बरें जब हमारे पास अक्सर आने लगीं तब मुझे याद आई कि हम लोगों ने दिसम्बर १९३० में बेंतों की सजा की एक या दो फुटकर मिसालों के विरोध में तीन दिन तक उपवास किया था । उस वक़्त इस सज़ा की पाशविकता से मुझे भारी चोट पहुँची थी और इस वक़्त भी मुझे बार-बार चोट पहुँचती थी और मेरे दिल में बड़ी टीसें उठती थी लेकिन मुझे यह नही सूझा कि इस बार फिर उसके विरोध में अनशन करना चाहिए क्योंकि मैंने इस बार इस मामले में अपने को पहले से कहीं ज्यादा बेबस पाया । कुछ समय के बाद मन पाशविकता के प्रति जड़-सा हो जाता है । किसी बुरी बात को आप ज्यादा देर तक जारी रखिए और दुनिया उसकी आदी हो जायगी ।

हमारे आदमियों को जेल में कड़ी-से-कड़ी मशक्क़त दी गई जैसे—चक्की, कोल्हू वग़ैरा। और उनसे माफ़ी मंगवाकर तथा सरकार के सामने यह अहद कराकर, कि हम आइन्दा ऐसा नहीं करेंगे, उन्हें छुड़वाने के लिए, जहाँतक हो सका वहाँ तक उनकी ज़िन्दगी हराम करने की, कोशिश की गई। क़ैदियों से इस तरह माफ़ी मंगवाना जेल के हाकिमों के लिए बड़े गौरव की बात मानी जाती थी । जेल में ज्यादातर सज़ायें उन लड़कों और नौजवानों को भोगनी पड़ी जो धौंस, दबाव और बेइज्ज़ती बरदाश्त करने को तैयार न थे । ये लड़के निहायत अच्छे और जीवटवाले थे । स्वाभिमान, ज़िन्दादिली तथा साहसी वृत्ति से भरे हुए इंगलैंड के पब्लिक स्कूलों में इस तरह के लड़कों की बेहद तरीफ़ें होतीं, उन्हें हर तरह की शाबाशी दी जाती । लेकिन यहाँ हिन्दुस्तान में उनकी युवकोचित आदर्शवादिता और उनके स्वाभिमान ने उनके हथकड़ियाँ पड़वाई, उन्हें काल-कोठरियों में बन्द करवाया और उनके बेंत लगवाये ।

---

जेलों में हमारी महिलाओं की ज़िन्दगी तो ख़ास तौर पर दुःखमय थी । ऐसी हुआ थाः—**"जेल के सुपरिन्टेन्डेन्टों और उसके मातहत कर्मचारियों के लिए इन्सपेक्टर जनरल इस बात पर जोर देते हैं कि सत्याग्रही कैदियों के साथ उनके महज़ सत्याग्रही होने की वजह से रिआयती बर्ताव करने की कोई वजह नहीं है। इस दर्जे के कैदियों को अपनी-अपनी जगहों में रखना चाहिए और उनके साथ खूब सख्ती से पेश आना चाहिए।"**

दु:खमय कि उसका खयाल करने में भी तकलीफ़ होती है। ये स्त्रियां ज्यादातर मध्यम श्रेणी की थीं जो छत्रछाया के जीवन में रहने की आदी थीं और उन तरह-तरह के दमनों और रिवाजों से सताई हुई, जो मर्दों ने अपने आधिपत्यवाले समाज में अपने फायदे के लिए बनाये हैं। इन स्त्रियों के लिए आज़ादी की पुकार हमेशा दुहरे मानी रखती थी और इस बात में कोई शक नहीं कि जिस जोश और जिस ताक़त के साथ वे आज़ादी की लड़ाई में कूदी उनका स्रोत उस धुँधली और लगभग अज्ञात लेकिन फिर भी उत्कट आकाँक्षा में था जो उनके मन में घर की ग़ुलामी से अपने को बचाने के लिए बसी हुई थी। इनमें से बहुत कम को छोड़कर बाकी सबको मामूली क़ैदियों के दर्जे में रक्खा गया और उनको बहुत ही पतित साथियों के साथ और अक्सर उन्हीं-की-सी घिनौनी हालत में रक्खा गया। एक मर्तबा मै एक ऐसी बैरक में रक्खा गया जो औरतों की बैरक से सटी हुई थी। दोनों के बीच में एक दीवार ही थी। औरतों के अहाते में, दूसरी क़ैदियों के साथ-साथ कुछ राजनैतिक क़ैदिनें भी थी और इनमें एक स्त्री वह थी जिसके घर पर मै एक मर्तबा ठहरा था और जिसने मेरा आतिथ्य-सत्कार किया था। यद्यपि एक ऊँची दीवार हमें एक दूसरे से अलग कर रही थी तो भी वह उन बातों और गालियों को सुनने से नही रोक पाती थी जो हमारी साथिनों को क़ैदी-नम्बरदारिनों से सुननी पड़ती थीं। इन्हें सुनकर मुझे बड़ा रंज होता था।

यह बात ख़ास तौर पर ध्यान देने लायक़ है कि १९३२ और १९३३ के राजनैतिक क़ैदियों के साथ जो बर्ताव किया गया वह उससे कही ज्यादा बुरा था जो दो बरस पहले सन् १९३० में किया गया था। यह बात महज़ जेल हाकिमों की सनकों की वजह से नही हो सकती थी। इसलिए उसकी बाबत एक मात्र माक़ूल नतीजा यही निकलता है कि यह सब सरकार की निश्चित नीति की वजह से हुआ। राजनैतिक क़ैदियों के अलावा भी, युक्त प्रान्तीय सरकार के जेल के महकमे की यह तारीफ़ थी कि वह क़ैदियों के साथ इन्सानों का-सा बर्ताव करने की हर बात के सख़्त ख़िलाफ़ होने के लिए मशहूर था। इस बात की ऐसी हमें एक मिसाल मिली जिसके बारे में कोई शक हो ही नही सकता। एक मर्तबा एक बहुत नामी जेल निरीक्षक हम लोगों के पास जेल में आये। यह महाशय बाग़ी या हम लोगों की तरह राजद्रोह फैलानेवाले न थे बल्कि वह 'सर' थे। उनको सरकार ने ख़ुश होकर ख़िताब दिया। उन्होंने हमसे कहा कि "कुछ महीने पहले मैंने एक दूसरी जेल-निरीक्षण किया था; और अपने निरीक्षण के नोट में यह लिख दिया था कि जेलर हुकूमत रखते हुए भी इन्सानियत से काम लेता है। उस जेलर ने मुझसे प्रार्थना की कि मेरी इन्सानियत की बाबत कुछ न लिखिए क्योंकि सरकार की मण्डली में इन्सानियत अच्छी निगाह से नहीं देखी जाती।

लेकिन मैं अपनी बात पर अड़ा रहा, क्योंकि मैं कभी यह कयास ही नहीं कर सकता था कि इस बात के पीछे जेलर को कुछ नुक़सान पहुँच सकता है। नतीजा यह हुआ कि फ़ौरन ही एक बहुत दूर कहीं कोने में पड़ी हुई एक जेल में जेलर का तबादला कर दिया गया, जो उसके लिए एक क़िस्म की सजा ही थी।"

कुछ जेलर ख़ास तौर पर खूँखार थे और न्याय-नीति की परवा न करते थे। उनको ख़िताब दिये गये तथा उनकी तरक्क़ी की गई। जेलों में बेईमानी और रिश्वत-ख़ोरी तो इतनी चलती है कि शायद ही कोई उससे पाक-साफ रहता हो। लेकिन मेरा अपना और मेरे बहुत-से दोस्तों का तजुर्बा है कि जेल के कर्मचारियो में वही लोग सब-से ज्यादा बेईमान और रिश्वतख़ोर होते है जो आम तौर पर हुकूमत के बहुत ज़बरदस्त और सख़्त हामी बनते हैं।

जेलों में और जेल से बाहर मै खुशक़िस्मत रहा हूँ और क़रीब-करीब जितने लोगों से मेरा वास्ता पड़ा उन सबने मेरे साथ इज्ज़त व शराफ़त का बर्ताव किया, उस हालत में भी जबकि शायद मै उसका पात्र न था। लेकिन जेल की एक घटना से मुझे और मेरे परिवारवालों को सख़्त तक़लीफ़ हुई। मेरी माँ, कमला और मेरी लड़की इंदिरा इलाहाबाद ज़िला जेल में मेरे बहनोई रणजीत पण्डित से मिलने के लिए गई और वहाँ बिना क़ुसूर ही जेलर ने उनका अपमान किया और उन्हे जेल से बाहर धकेल दिया। जब मैंने यह बात सुनी तो मुझे बड़ा रंज हुआ और जब मुझे यह मालूम हुआ कि प्रान्तीय सरकार का रुख़ भी इस मामले में अच्छा नही है तब मुझे भारी धक्का लगा। अपनी माँ को जेल-अधिकारियों द्वारा अपमानित किये जाने की सम्भावना से बचाने के लिए मैंने तय कर लिया था कि मै किसीसे मुलाक़ात नही करूँगा। करीब-क़रीब सात महीने तक, जब मै देहरादून जेल मे था, मैंने किसीसे मुलाक़ात नही की।

# ४४

## जेल में मानसिक उतार-चढ़ाव

हममें से दो का, मेरा और गोविन्दवल्लभ पन्त का, तबादला बरेली-जेल से देहरादून को साथ-साथ किया गया। कोई प्रदर्शन न होने पाये, इस बात का बचाव करने के लिए हम लोगों को बरेली में गाड़ी पर नहीं बिठाया गया। बल्कि वहाँ से ५० मील की दूरी पर एक रास्ते के स्टेशन पर ले जाकर वहाँ गाड़ी में बिठाया गया। हम लोग रात को चुपचाप मोटर में लेजाये गये। कई महीने तक अलग जेल में बन्द रहने के बाद रात की उस ठंडी हवा में मोटर के सफ़र से हमें अनोखा आनन्द आया।

बरेली-जेल से जाने के पहले एक छोटा-सा वाकया हुआ, जिसने उस वक्त तो मेरे दिल पर असर डाला ही लेकिन अबतक भी वह मेरी याद में तरोताज़ा है। बरेली-पुलिस का सुपरिन्टेन्डेट जो कि एक अंग्रेज़ था, वहाँ मौजूद था और ज्योंही मैं कार में बैठा त्योंही उसने कुछ-कुछ सकुचाते हुए मुझे एक पैकेट दिया जिसमें, उसने मुझे बताया कि, जर्मनी के पुराने सचित्र मासिक पत्रों की कापियाँ थीं। उसने कहा कि मैंने सुना है कि आप जर्मन सीख रहे हैं इसलिए मैं ये मासिक पत्र आपके लिए ले आया हूँ। इससे पहले मेरी-उसकी मुलाकात कभी नहीं हुई थी और न उस दिन के बाद मैं आजतक उससे कभी मिला। मैं उसका नाम भी नहीं जानता। लेकिन मेरे दिल पर उसके स्वेच्छा-प्रेरित सौजन्य का और उस कृपा-भाव का, जिसने उसे इसकी प्रेरणा की, बहुत असर पड़ा और अपने मन में मैं उसके प्रति बहुत ही कृतज्ञ हुआ।

आधी रात के उस लंबे सफ़र में मैं अंग्रेज़ों और हिन्दुस्तानियों, शासकों और शासितों, सरकारी और ग़ैर-सरकारी लोगों, सत्ताधारियों और उन लोगों के कि जिन्हें उनके हुक्म मानने पड़ते हैं, आपसी ताल्लुकात के बारे में तरह-तरह की बातें सोचता रहा। इन दोनों वर्गों के बीच में कैसी गहरी खाई है, और ये दोनों एक-दूसरे पर कितना शक कर रहे हैं तथा एक-दूसरे को कितना नापसंद करते हैं? लेकिन इस अविश्वास और नापसंदी से भी ज्यादा बड़ी बात एक-दूसरे की बाबत नाजानकारी है। इसी नाजानकारी की वजह से दोनों एक-दूसरे से डरते हैं और एक-दूसरे की मौजूदगी में हर वक्त चौकन्ने रहते हैं। हरेक को दूसरा शख्स कुछ अनमना, खिंचा हुआ और मित्र-भाव से हीन मालूम होता है और दोनों में एक भी यह नहीं महसूस करता कि इस आवरण के अन्दर शिष्टता और सौजन्य भी है। अंग्रेज़ हिन्दुस्तान पर राज करते हैं

और लोगों को सहायता तथा सहारा देने के साधनो की उन्हे कमी नही है । इसलिए उनके पास मौक़ापरस्त और नौकरियों की तलाश में गिड़गिड़ाते फिरनेवाले लोगों की भीड़ पहुँचा करती है । हिन्दुस्तान के बारे में अपनी राय वे इन्ही भद्दे नमूनो से बनाते हैं । हिन्दुस्तानियों ने अंग्रेज़ों को सिर्फ़ हाकिमो की ही हैसियत से काम करते देखा है और इस हैसियत से काम करते हुए उनमे सोलहों आने मशीन की-सी हृदयहीनता होती है और वे सब मनोविकार होते हैं जो स्थापित स्वार्थ रखनेवालों में अपनी रक्षा करने की कोशिश करते वक़्त होते है । एक व्यक्ति की हैसियत से और अपनी मौज के मुताबिक काम करनेवाले शख्स के बर्ताव मे और उस बर्ताव मे, जिसे एक शख्स हाकिम की या सेना की एक इकाई की हैसियत से करता है, कितना फर्क़ होता है ? फौजी जवान तो अकड़कर अटेन्शन होते वक्त अपनी इन्सानियत को फेंक देता है और एक मशीन की तरह काम करते हुए उन लोगो पर निशाना ताककर उन्हे मार गिराता है, जिन्होने उसका कभी कोई नुकसान नही किया । मैंने सोचा कि यही हाल उस पुलिस अफसर का है, जो एक शख्स की हैसियत से बेरहमी का कोई काम करते हुए झिझकेगा लेकिन दूसरे ही दिन बेकसूर लोगो पर लाठी-चार्ज करा देगा । उस वक़्त वह अपनेको एक व्यक्ति के रूप मे नही देखता और न वह उस भीड को ही व्यक्तियो की शक्ल मे देखता है जिन्हे वह डंडो से मारता है या जिनपर वह गोली चलाता है ।

ज्योंही कोई शख्स दूसरे पक्ष को भीड़ या समूह के रूप मे देखने लगता है त्योंही दोनों को मिलानेवाली इन्सानियत की कडी गायब हो जाती है । हम लोग यह भूल जाते हैं कि भीड़ में वही शख्स, मर्द, औरत और बच्चे होते हैं, जिनमें मुहब्बत और नफ़रत के भाव होते हैं तथा जो तकलीफ़ महसूस करते हैं । एक औसत अंग्रेज़ अगर साफ़-साफ़ बात कहे तो यह मंजूर करेगा कि हिन्दुस्तानियों में कुछ आदमी काफ़ी भले भी हैं; लेकिन ये लोग तो अपवाद-स्वरूप हैं, और कुल मिलाकर तो हिन्दुस्तानी एक घिनौने लोगों की भीड़ भर हैं । औसत हिन्दुस्तानी भी यह मंजूर करेगा कि कुछ अंग्रेज जिन्हे वह जानता है तारीफ़ के क़ाबिल हैं, लेकिन इन थोड़े-से लोगों को छोड़कर बाकी के अंग्रेज़ बड़े ही घमंडी, पाशविक और सोलहो आने बुरे आदमी हैं । यह बात कैसी अजीब है कि हर शख्स दूसरी क़ौम की बाबत अपनी राय किस तरह बनाता है ? उन लोगों के आधार पर नही जिनके वह संसर्ग मे आता है, बल्कि उन दूसरे लोगों के आधार पर जिनके बारे में या तो वह कुछ नहीं जानता या कुछ नही के बराबर ही जानता है ।

ज़ाती तौर पर तो मैं बड़ा खुशकिस्मत रहा हूँ और क़रीब-क़रीब हमेशा ही मेरे साथ सब लोग शराफ़त से पेश आये हैं, फिर चाहे वह अंग्रेज़ हों या मेरे अपने

देश-भाई । मेरे जेलरों और उन पुलिसमैनों ने भी, जिन्होंने मुझे गिरफ्तार किया या जो मुझे क़ैदी की हैसियत से एक जगह से दूसरी जगह ले गये, मेरे साथ मेहरबानी का वर्ताव किया और इस इन्सानियत की पुट की वजह से मेरे जेल-जीवन के संघर्ष की कटुता और तीव्रता बहुत कुछ कम हो गई थी । यह कोई अचरज की बात नही है कि मेरे अपने देश-भाइयों ने मेरे साथ अच्छा बर्ताव किया, क्योंकि उनमें तो एक हद तक मेरा नाम हो गया था और मैं उनमें लोकप्रिय था । पर अंग्रेजो के लिए भी मैं एक व्यक्ति था, सिर्फ़ भीड़ का एक हिस्सा ही नही । मेरा ख़याल है कि इस बात ने कि मैंने अपनी तालीम इग्लैण्ड में पाई और ख़ास तौर पर इस बात ने कि मैं इंग्लैंड के एक पब्लिक स्कूल में रहा, मुझे उनके नज़दीक ला दिया और इन कारणों से वे मुझे कम-बढ़ अपने ही नमूने का शाइस्ता आदमी समझे बिना नही रह सकते थे, फिर चाहे उन्हे मेरे सार्वजनिक काम कैसे ही उलटे क्यो न मालूम पड़ें । जब मैं अपने इस बर्ताव का मुक़ाबिला उस ज़िन्दगी से करता हूँ जो मेरे ज्यादातर साथियो को भोगनी पड़ती थी, तब मुझे अपने साथ होनेवाले इस विशेष अच्छे बर्ताव पर कुछ शर्म और ज़िल्लत-सी महसूस होती है ।

ये जितने सुभीते मुझे मिले हुए थे उन सबके होते हुए भी जेल जेल ही थी और कभी-कभी तो उसका पीड़क वातावरण प्रायः असह्य हो जाता था । उसकी हवा खुद हिंसा, कमीनेपन, रिश्वतखोरी और झूठ से भरी हुई थी । वहाँ कोई गालियाँ देता था तो कोई गिड़गिड़ाता था । तुनक-मिज़ाजवाले हर शख़्स को लगातार मानसिक संताप में रहना पड़ता था, कभी-कभी ज़रा-ज़रा-सी बातों से ही लोग उखड़ जाते । चिट्ठी में कोई ख़राब ख़बर आ जाती या अख़बार मे ही कोई बुरी ख़बर निकलती तो हम लोग कुछ देर के लिए गुस्से या फ़िक्र से बड़े परेशान हो जाते थे । बाहर तो हम लोग हमेशा काम में लगकर अपने दुःखो को भूल जाते थे । वहाँ तो तरह-तरह की दिलचस्प बातों और कामों की वजह से शरीर और मन की समतौलता क़ायम रहती थी । जेल में ऐसा कोई रास्ता नही था । हम लोग ऐसा महसूस करते थे मानों हम बोतल में बन्द कर दिये गये हों और दबाकर रख दिये गये हों और इसलिए जो कुछ होता उसकी बाबत लाज़िमी तौर पर हमारी राय इकतरफ़ा और कुछ हद तक तोड़ी-मरोड़ी हुई होती थी । जेल में बीमारी ख़ास तौर से दुःखदायी होती है ।

फिर भी मैंने अपनेको जेल की रोज़मर्रा की ज़िन्दगी का आदी बना लिया, और शारीरिक कसरत तथा कड़ा मानसिक काम करके मैंने अपनेको ठीक-ठीक रक्खा । काम और कसरत की बाहर कुछ भी क़ीमत हो, जेल में तो वे लाज़िमी थे । क्योंकि उनके बिना वहाँ कोई अपने मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य को क़ायम नहीं रख

सकता। मैंने अपना एक टाइम-टेबल बना लिया था, जिसका मैं सख्ती के साथ पालन करता था। मिसाल के लिए, अपनेको बिलकुल ठीक रखने के लिए, मैं रोज़ हजामत बनाता था ( हजामत के लिए मुझे सैफ्टी रेज़र मिला हुआ था )। मैंने इस छोटी-सी बात का ज़िक्र इसलिए किया है कि आम तौर पर लोगों ने इन आदतों को छोड़ दिया और वे कई बातों में ढीले पड़ गये थे। दिनभर कड़ा काम करने के बाद शाम को मैं ख़ूब थक जाता और मज़े से नीद का स्वागत करता।

इस तरह दिनों के बाद दिन, हफ्तों के बाद हफ्ते और महीनों के बाद महीने गुज़र गये। कभी-कभी ऐसा मालूम पड़ता था कि महीना बुरी तरह चिपक गया है और वह ख़त्म ही नहीं होना चाहता। और कभी-कभी तो मैं हर चीज़ और हर शख़्त से ऊब जाता, सबपर गुस्सा करता, सबसे खीज उठता, फिर वे चाहे जेल के मेरे साथी हों और चाहे जेल के कर्मचारी। ऐसे वक़्त पर मैं बाहर के लोगों पर भी इसलिए खीज उठता था कि उन्होने यह काम क्यों किया या यह काम क्यों नहीं किया? ब्रिटिश-साम्राज्य से तो हमेशा ही खीजा रहता था। लेकिन ऐसे वक़्त पर औरों के साथ-साथ और सबसे ज्यादा, मैं अपने ऊपर भी खीज उठता था। इन दिनों में बहुत चिड़-चिड़ा भी हो जाता, और जेल की ज़िन्दगी में होनेवाली ज़रा-ज़रा-सी बातों पर बिगड़ उठता था। खुशक़िस्मती यह थी कि मेरा मिजाज ज्यादा दिनों तक ऐसा नही रहता था।

जेल में मुलाक़ात का दिन बड़ी खुशी का दिन होता था। हम लोग मुलाक़ात के दिनों की कैसी ख़्वाहिश करते थे? उनके लिए कैसा इन्तज़ार करते थे तथा उनके लिए दिन गिना करते थे। लेकिन मुलाक़ात की ख़ुशी के बाद उसकी अनिवार्य प्रतिक्रिया भी होती और फिर शून्यता और अकेलेपन का राज हमारे दिल में छा जाता। अगर, जैसा कि कभी-कभी होता था, मुलाक़ात कामयाब नहीं हुई—इसलिए कि मुझे कोई ऐसी ख़बर मिली जिससे मैं बिगड़ गया या और कोई अन्य ऐसी ही बात हुई—तो मैं बाद को बहुत ही दुःखी हो जाता था। हाँ, मुलाक़ात के वक्त जेल के कर्मचारी तो मौजूद रहते ही थे। लेकिन बरेली में तो दो या तीन मर्तबा उनके साथ-साथ सी० आई० डी० का आदमी भी हाथ में कागज और पेन्सिल लिये मौजूद रहा, जो हमारी बातचीत के क़रीब-क़रीब हरेक हरफ़ को बड़े उत्साह से लिख रहा था। यह बात मुझे बहुत ही नागवार मालूम हुई और ये मुलाक़ातें बिलकुल बेकार गई।

पहले इलाहाबाद-जेल में मुलाक़ात करते हुए और उसके बाद सरकार की तरफ़ से मेरी माँ और पत्नी के साथ जो बर्ताव हुआ था उसकी वजह से मैंने मुलाक़ातें करना बन्द कर दिया था। क़रीब-क़रीब सात महीने तक मैंने किसीसे मुलाक़ात नहीं

की। मेरे लिए यह वक्त बहुत ही मनहूस था और जब इस वक्त के बाद मैंने यह तय किया कि मुझे मुलाक़ात करना शुरू कर देना चाहिए और उसके फलस्वरूप जब मेरे संबंधी मुझसे मिलने आये तब मैं आनन्द से झूमने लगा था। मेरी बहन के छोटे-छोटे बच्चे भी मुझसे मिलने को आये थे। उनमें से एक छोटा-सा बच्चा मेरे कन्धों पर चढ़ने का आदी था। यहाँ भी जब उसने मेरे कन्धे पर चढ़ना चाहा तो मेरे भावों का बांध टूट गया। मानवी ममर्ग के लिए एक लम्बी चाह के बाद गृह-जीवन के इस स्पर्श से मैं अपने को सम्हाल न सका।

जब मैंने मुलाकात करना बन्द कर दिया था तब घर से या दूसरी जेलों से आनेवाले खत (क्योंकि मेरी दोनों बहनें जेल में थीं) जो हमें हर पन्द्रहवें दिन मिलते थे और भी कीमती हो गये, और मैं उनकी बाट बड़ी उत्सुकता से देखा करता था। निश्चित तारीख को कोई खत न आता तो मुझे बड़ी चिन्ता सवार हो जाती। लेकिन साथ ही जब खत आते तब मुझे उन्हें खोलते हुए डर-सा लगता था। मैं उनके साथ उसी तरह खिलवाड़ करता जिस तरह कोई इत्मिनान के साथ आनन्द की चीज़ से करता है। साथ ही मेरे मन में कुछ-कुछ यह डर भी रहता था कि कहीं खत में कोई ऐसी खबर या बात न हो कि मुझे दुःख हो। जेल में खतों का आना या जेल में ख़त लिखना दोनों ही वहां के शान्तिमय और स्थिर जीवन में खलल डालते थे। वह मन में भावों को जगाकर बेचैनी पैदा करता था और उसके बाद एक या दो दिन तक मन दुचित्ता हो जाता और उसे रोज़मर्रा के काम में जुटाना मुश्किल हो जाता था।

नैनी और बरेली जेल में तो मेरे बहुत-से साथी थे। देहरादून में शुरू-शुरू में हम सिर्फ़ तीन ही थे। मैं, गोविन्दवल्लभ पंत और काशीपुर के कुँवर आनन्दसिंह। लेकिन पन्तजी तो कोई दो महीने बाद छोड़ दिये गये, क्योंकि उनकी छः महीने की सज़ा खत्म हो गई थी। इसके बाद हमारे दो और साथी हमसे आ मिले थे। लेकिन जनवरी १९३३ लगी ही थी कि मेरे सब साथी चले गये और मैं अकेला ही रह गया। अगस्त के आखीर में जेल से छूटनेतक, करीब-क़रीब आठ महीनेतक, देहरादून-जेल में मैं बिलकुल अकेला रहा था। हर रोज कुछ मिनट तक किसी जेल-कर्मचारी के अलावा कोई ऐसा न था जिससे मैं बातचीत भी कर लिया करता। क़ानून की रू से यह तनहाई न थी। लेकिन वह उससे मिलती-जुलती थी। इसलिए ये बड़ी मनहूसी के दिन रहे। खुश-क़िस्मती से इन दिनों मैंने मुलाक़ात करना शुरू कर दिया था। उनसे मेरा दुःख कुछ हलका हो गया था। मेरा ख़याल है कि मेरे साथ यह ख़ास रिआयत की गई थी जो मुझे बाहर से भेजे हुए ताजे फूल लेने की और कुछ फ़ोटो रखने की इजाज़त थी। इन बातों से मुझे काफ़ी तसल्ली मिलती थी। मामूली तौर पर क़ैदियों को फूल या

फ़ोटो रखने की इजाज़त नही है। कई मौक़ों पर मुझे वे फूल नही दिये गये जो बाहर से मेरे लिए लाये गये थे। अपनी कोठरियों को खुशनुमा बनाने की हमारी कोशिशें रोकी जाती थी। मुझे याद है कि मेरे एक साथी ने, जो मेरे पडौस की कोठरी में रहता था, अपने शीशे, कंघे वगैरा, चीज़ों को जिस तरह सजाकर रक्खा था उसपर जेल के सुपरिन्टेण्डेण्ट ने ऐतराज़ किया था। उनसे कहा गया कि वह अपनी कोठरी को आकर्षक और 'विलासिता-पूर्ण' नही बना सकते। विलासता की ये चीज़े थी—दाँतों का एक ब्रश, दाँतों का एक पेस्ट, फाउण्टेनपेन की स्याही, सिर में लगाने के तेल की बोतल, एक ब्रश और कंघी, और शायद एक या दो छोटी-छोटी चीज़ें और।

जेल में हम लोग जिन्दगी की छोटी-छोटी चीज़ों की क़ीमत को समझने लगे थे। वहाँ तो हमारा सामान इतना कम होता था और उसे हम न तो आसानी से बढ़ा ही सकते थे न उसकी जगह दूसरी चीज़ें ही मंगा सकते थे, इसलिए हम उसे बड़ी होशियारी से रखते थे, और ऐसी इक्की-दुक्की छोटी-छोटी चीज़ों को बटोर कर रखते थे जिन्हें जेल से बाहर की दुनिया में हम रद्दी की टोकरी में फेंका करते थे। इस प्रकार जब हमारे पास मिलकियत रखने को कोई चीज़ नही होती तब भी तो जायदाद और मिलकियत का ख़याल हमारा पीछा नही छोड़ता।

कभी-कभी ज़िन्दगी की मुलायम चीज़ों के लिए शरीर अकुला उठता, शारीरिक सुख-भोग, आनन्दप्रद अड़ौस-पड़ौस, दोस्तों के साथ दिलचस्प बातचीत और बच्चों के साथ खेलने की इच्छा ज़ोर पकड़ जाती थी। किसी अख़बार में किसी तस्वीर या फ़ोटो को देखकर पुराना ज़माना सदेह सामने आ खड़ा होता—उन दिनों की बातें जब जवानी में किसी बात की फ़िकर न थी। ऐसे वक़्त पर घर की याद की बीमारी बुरी तरह जकड़ लेती और वह दिन बड़ी बेचैनी के साथ कटता!

मै हर रोज़ थोड़ा-बहुत काता करता था, क्योंकि मुझे हाथ का कुछ काम करने से तसल्ली मिलने के साथ-साथ बहुत ज्यादा दिमाग़ी काम से कुछ छुट्टी भी मिल जाती थी। लेकिन मेरा ख़ास काम लिखना और पढ़ना ही था। मै जिन-जिन किताबों को पढ़ना चाहता था वे सब तो मुझे मिल नहीं पातीं थीं, क्योंकि उनपर रोक थी और वे सेंसर होती थी। किताबों को सेंसर करनेवाले लोग हमेशा अपने काम के योग्य नहीं होते थे। स्पैंगलर की Decline of the West नामक किताब इसलिए रोक ली गई थी कि उसका नाम ख़तरनाक और राजद्रोहात्मक मालूम होता था। लेकिन मुझे इस सिलसिले में किसी क़िस्म की शिकायत नहीं करनी चाहिए। क्योंकि कुल मिलाकर मुझे तो सभी क़िस्म की किताबें मिल जाती थीं। ऐसा मालूम पड़ता है कि इस मामले में भी मेरे साथ ख़ास रिआयत होती थी, क्योंकि मेरे बहुत से साथियों को, जो, ए०

क़लाम में रक्खे गये थे, प्रचलित विषयों पर किताबें मँगाने में बड़ी मुश्किलों का सामना करना पड़ता था। मुझसे कहा गया है कि बनारस की जेल में तो सरकार का श्वेत-पत्र ( White Paper ) भी नहीं दिया गया, जिसमें खुद सरकार की विधान-सम्बंधी तजवीज़ें थीं, क्योंकि उसमें राजनैतिक बातें थीं। ब्रिटिश अधिकारी धार्मिक पुस्तकों और उपन्यासों की तहेदिल से शिफ़ारिश करते थे। यह बात आश्चर्यजनक है कि धर्म का विषय ब्रिटिश सरकार को कितना प्यारा लगता है और वह हर क़िस्म के मज़हब को कितनी निष्पक्षता के साथ आगे बढ़ाती है !

हिन्दुस्तान में जब कि मामूली-से-मामूली नागरिक-स्वतंत्रता भी छीन ली गई हो तब क़ैदियों के हकों की बात करना बिलकुल बे-मौज़ूँ मालूम होता है। फिर भी यह मामला ऐसा है जिसपर ग़ौर किया जाना चाहिए। अगर कोई अदालत किसी आदमी को क़ैद की सज़ा दे देती है तो क्या उसके मानी यह है कि उसके शरीर ही नहीं उसका मन भी जेल में ठूंस दिया जाय ? चाहे क़ैदियों के शरीर भले ही आज़ाद न रहें पर क्या वजह कि उनका दिमाग़ आज़ाद न रहे ? हिन्दुस्तान की जेलों का इन्तज़ाम जिन लोगों के हाथ में है वे तो अवश्य ही इस बात को सुनकर घबरा जावेंगे, क्योंकि नये ख़यालातों को हासिल करने और लगातार विचार करने की उनकी शक्ति मामूली तौर पर महदूद हो जाती है। यों तो सेंसर का काम हर वक़्त बुरा होता है और साथ ही पक्षपात-पूर्ण तथा बेहूदा भी, लेकिन हिन्दुस्तान में तो वह बहुत-से आधुनिक साहित्य और आगे बढ़े हुए पत्र-पत्रिकाओं से हमें वंचित रखता है। ज़ब्त की हुई किताबों की फ़ेहरिस्त बहुत बड़ी है और वह दिन-पर-दिन बढ़ती ही जा रही है। इस सबके अलावा क़ैदी को तो एक और सेंसरशिप का भी सामना करना पड़ता है। और इस तरह उसके पास वे बहुत-सी किताबें तथा अख़बार भी नहीं पहुँच पाते जिन्हें वह क़ानून के मुताबिक़ बाहर ख़रीदकर पढ़ सकता है।

कुछ दिनों पहले यह सवाल संयुक्तराज्य अमेरिका के न्यूयॉर्क शहर की मशहूर सिंगसिंग-जेल के सिलसिले में उठा था। वहां कुछ कम्यूनिस्ट अख़बार रोक दिये गये थे। अमेरिका के शासकवर्ग में कम्यूनिस्टों के ख़िलाफ़ बहुत जोर के भाव हैं, लेकिन यह सब होते हुए भी वहाँ की जेल के अधिकारी इस बात के लिए राज़ी हो गये कि जेल के बाशिन्दे जिस किताब व अख़बार को चाहें मंगाकर पढ़ सकते हैं, फिर चाहे ये अख़बार व पत्रिकायें कम्यूनिस्ट मत की ही क्यों न हों ? वहां की जेल के वार्डन ने सिर्फ़ कार्टूनों को रोका, जिन्हें वह भड़कानेवाला समझता था।

हिन्दुस्तान की जेलों में दिमाग़ी आज़ादी पर ग़ौर करने का यह सवाल कुछ हद तक बेहूदा मालूम होता है जबकि, जैसा कि हो रहा है, ज्यादातर क़ैदियों को कोई भी

अख़बार या लिखने का सामान नहीं दिया जाता। यहाँ तो सवाल सेन्सरशिप या देख-भाल का नहीं है बल्कि बिलकुल इनकारी का है। क़ायदों के मुताबिक तो सिर्फ ए० क्लास के और बंगाल में अव्वल डिवीज़न के क़ैदियों को ही लिखने का सामान दिया जाता है। इनमें से भी सबको रोज़ाना अख़बार नहीं दिया जाता। जो रोज़ाना अख़बार दिया जाता है वह भी सरकार की पसन्द का है। बी० और सी० क्लास के क़ैदियों के लिए लिखने के सामान की कोई जरूरत नहीं समझी जाती, चाहे वे राजनैतिक हों या गैर-राजनैतिक। बी० क्लासवालों को कभी-कभी बहुत ख़ास रिआयत के तौर पर लिखने का सामान दे दिया जाता है और यह रिआयत अक्सर वापस लेली जाती है। ग़ालिबन दूसरे क़ैदियों के मुक़ाबिले में ए० क्लास के क़ैदियों की तादाद हज़ार पीछे एक बैठेगी। इसलिए हिन्दुस्तान में क़ैदियों की तक़लीफ़ों पर ग़ौर करते हुए उनका खयाल न किया जाय तब भी कोई हर्ज़ नहीं। लेकिन यह बात याद रखनी चाहिए कि इन ख़ास रिआयतवाले ए० क्लास के क़ैदियों को भी किताबों और अखबारों के मामले में उतने हक नहीं हासिल है जितने कि ज्यादातर सभ्य देशों में मामूली क़ैदियों को हासिल हैं।

बाक़ी लोगों को—एक हज़ार में ९९९ को—एक वक़्त में दो या तीन किताबें ही दी जाती हैं, लेकिन हालत ऐसी है कि वे इस रिआयत से भी पूरा-पूरा फ़ायदा नहीं उठा पाते। कुछ लिखना या जो-कुछ किताब पढ़ी जाय उसका नोट लेना तो ऐसा ख़तरनाक़ मन-बहलाव समझा जाता है जो उन्हें हरगिज न करना चाहिए। दिमागी तरक्क़ी का इस तरह जान-बूझकर रोका जाना एक अजीब और मजेदार बात है। किसी क़ैदी को सुधारने और योग्य नागरिक बनाने के खयाल से तो उसके दिमाग़ पर ध्यान देकर उसे दूसरी तरफ़ लगाना उचित है। पढ़ा-लिखाकर उसे कोई धन्धा सिखा देना चाहिए। लेकिन शायद हिन्दुस्तान में जेल के हाकिमों को यह बात सूझी ही नहीं। और युक्तप्रान्त में तो उसका ख़ास तौर पर अभाव ही दिखाई देता है। हाल में जेलों में लड़कों और नौजवानों को थोड़ा लिखना-पढ़ना सिखाने की कुछ कोशिशें की गई है। लेकिन वे बिलकुक बेकार हैं और जिन लोगों के सुपुर्द यह काम किया गया है वे उसे पूरा करने के बिलकुल अयोग्य है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि क़ैदी लोग लिखना-पढ़ना पसन्द नहीं करते। लेकिन मेरा अपना तजुर्बा इसके बिलकुल ख़िलाफ़ है और कई लोग जो मेरे पास लिखने-पढ़ने की गरज से आते थे उनमें मैंने पढ़ने-लिखने का पूरा-पूरा चाव देखा। जो क़ैदी हमारे पास आ पाते थे उन्हें हम पढ़ाते थे। वे लोग बड़ी मेहनत से पढ़ते थे, और जब कभी मैं रात में जग पड़ता तो यह देखकर आश्चर्य करता कि उनमें से एक या दो अपनी बैरक की धुंधली लालटेन के पास बैठे हुए अगले दिन के अपने सबक़ को याद कर रहे हैं।

मैं अपनी किताबों में ही जुटा रहा। कभी एक क़िस्म की किताबें पढ़ता तो कभी दूसरे क़िस्म की। लेकिन आम तौर पर मैं ठोस विषय की किताबें पढ़ता था। उपन्यास पढ़ने से दिमाग में एक ढीलापन-सा मालूम होने लगता है। इसलिए मैंने ज्यादातर उपन्यास नहीं पढ़े। जब-कभी पढ़ते-पढ़ते मेरा जी ऊब उठता तब मैं लिखने बैठ जाता। अपनी सज़ा के दो सालों में तो मैं उस ऐतिहासिक पत्रमाला के लिखने में लगा रहा, जो मैंने अपनी लड़की के नाम लिखी। उन्होंने मुझे अपने दिमाग़ को ठीक-ठीक रखने में बहुत मदद दी। कुछ हद तक तो मैं उस पुराने ज़माने में रहने लगा, जिसकी बाबत मैं लिख रहा था और इसलिए इन दिनों क़रीब-करीब यह भूल-सा गया कि मैं जेल के भीतर रह रहा हूँ।

यात्रा-सम्बन्धी पुस्तकों का मैं हमेशा स्वागत करता था, ख़ासतौर पर पुराने यात्रियों के यात्रा-वर्णन का—जैसे ह्यूएनसांग, मार्को पोलो और इब्न बतूता वग़ैरा। आजकल के यात्रियों की यात्राओं का वर्णन भी अच्छा मालूम होता था—जैसे स्वेन हेडिन ने मध्य-एशिया के जगलों में जो सफ़र किया उसका और रोरिक को तिब्बत में जो अजीब बातें मिली उनका वर्णन। चित्रों की पुस्तकें भी—खासकर पहाड़ों, हिम-प्रपातो और मरुस्थलों की तस्वीरें भी अच्छी लगती थी, क्योंकि जेल में विशाल मैदानों और समुद्र और पहाड़ों को देखने की चाह बढ़ जाती है। मेरे पास माउन्ट ब्लेक, आल्प्स पर्वत, और हिमालय की कुछ सुन्दर चित्रोंवाली पुस्तकें थी और अक्सर मैं उन्हें देखा करता था। जब मेरी कोठरी या बैरक की गर्मी एकसौ पन्द्रह डिग्री या उससे भी ज्यादा होती थी, तब मैं हिम प्रपातों को एकटक होकर देखता। एटलस को देखकर तो बड़ा जोश पैदा होता था। उसे देखकर सब तरह की पुरानी बातों की याद आ जाती थी—उन जगहों की भी याद जहाँ हम हो आये हैं और उन जगहों की भी जहाँ हम जाना चाहते थे। और कभी-कभी मन में यह उत्कण्ठा पैदा होती कि पिछले दिनों में जिन जगहों को हम देख आये हैं उन्हें फिर देखें। एटलस में बड़े-बड़े शहरों को बतानेवाले जितने निशान हैं वे मानों हमको बुला रहे हों और हमें वहाँ जाने की इच्छा होती थी। एटलस में पहाड़ों को देखकर और समुद्र के नीले चिन्हों को देखकर भी उन्हें पार करने की इच्छा होती। दुनिया के सौन्दर्य को देखने की, बदलती हुई मनुष्य-जाति के संघर्षों और संग्रामों को देखने की, और खुद भी इन सब कामों को करने की उमंगें हमको तंग करती और हमारा पल्ला पकड़ लेती और हम बड़े दुःख के साथ झटपट एटलस को उठाकर रख देते और अच्छी तरह जानी-पहचानी हुई उन दीवारों को देखने लग जाते, जो हमें घेरे हुए थी, और जो नीरस ढर्रा हमें रोज़मर्रा पूरा करना पड़ता था उसमें जुत जाते।

# ४५

## जेल में पशु-पक्षी

कोई साढ़े चौदह महीने तक मैं देहरादून-जेल की अपनी छोटी-सी कोठरी में रहा और मुझे ऐसा लगने लगा जैसा मैं उसीका एक हिस्सा हूँ। उसके ज़र्रे-ज़र्रे से मैं वकिफ हो गया। उसकी सफ़ेद दीवारों पर लगे हरेक निशान और खुरदरी फर्श, हरेक खरोच और दबोच को और उसके शहतीरो पर लगे घुन के छेदों को मैं जान गया था। बाहर के छोटे-से आँगन में उगे घास के छोटे-छोटे गुच्छे और पत्थर के टेढ़े-मेढ़े टुकड़े मुझे पुराने दोस्त-से लगते थे। मैं अपनी कोठरी में अकेला था सो बात नहीं। क्योंकि वहाँ कितने ही ततैयों और बर्रों के उपनिवेश थे और कितनी ही छिपकलियों ने शहतीरों के पीछे अपना घर बना लिया था, जो शाम को अपने शिकार की तलाश में बाहर निकला करती। यदि विचार और भावना भौतिक चीजों पर अपने चिन्ह छोड़ सकती है, तो इस कोठरी की हवा का एक-एक कण उनसे जरूर भरा हुआ था और उसमें सैकड़ों जगह में जो-जो भी चीजें थी उन सबपर वे अंकित हुए बिना न रहे होंगे।

कोठरी तो मुझे दूसरी जेलों मे इससे अच्छी मिली थी, मगर देहरादून मे मुझे एक विशेष लाभ मिला था, जो मेरे लिए बेशकीमत था। असली जेल एक बहुत छोटी जगह थी और हम जेल की दीवारों के बाहर एक पुरानी हवालात में रक्खे गये थे। लेकिन वह थी अहाते में ही। यह जगह इतनी छोटी थी कि उसमें आस-पास घूमने को कोई जगह न थी और इसलिए हमको सुबह-शाम फाटक के सामने कोई सौ गज तक घूमने की छुट्टी थी। हम रहते तो थे जेल अहाते में ही, लेकिन उन दीवारों के बाहर आ जाने से पर्वतमालाओं, खेतों और कुछ दूर की आम सड़क के दृश्य दिखाई पड़ जाते थे। यह विशेष लाभ खास मुझे अकेले ही को नहीं मिला था, बल्कि देहरादून जेल के हरेक ए० क्लास के क़ैदी को मिलता था। इसी तरह, जेल की दीवार के बाहर लेकिन अहाते के अन्दर, एक और छोटी इमारत थी जिसे यूरोपियन हवालात कहते थे। इसके चारों ओर कोई दीवार न थी, जिससे कोठरी के अन्दर का आदमी पर्वतश्रेणियों और बाहर के जीवन के सुन्दर दृश्य देख सकता था। इसमें जो यूरोपियन क़ैदी या दूसरे लोग रक्खे जाते थे उन्हे भी जेल के फाटक के पास सुबह-शाम घूमने की इजाज़त थी।

वही क़ैदी, जो लम्बे अर्से तक इन ऊँची दीवारों के अन्दर क़ैद रहे हों, इन बाहर सैर करने और खुले दृश्यों के देखने के असाधारण मानसिक मूल्य को पहचान सकते

है। मैं इस तरह बाहर घूमने का बड़ा शौक़ रखता था और बारिश में भी मैंने इस सिलसिले को नहीं छोड़ा था, जबकि जोर से पानी की झड़ी लगती और मुझे टखने-टखने तक पानी में चलना पड़ता था। यों तो किसी भी जगह बाहर सैर करने का मैंने सदा ही स्वागत किया होता, लेकिन यहाँ तो अपने पड़ोसी गगनचुम्बी हिमालय का मनोहर दृश्य और भी हर्ष-वर्द्धक था, जिससे कि जेल की उदासी बहुत-कुछ दूर हो जाती थी। यह मेरी बहुत बड़ी खुशकिस्मती थी कि जब लम्बे अर्से तक मैंने कोई मुलाक़ात नहीं की थी और जब कितने महीने तक अकेला रहा तब मैं इन प्यारे सुहावने पहाड़ों को एक-टक निहार सकता था। हाँ, अपनी कोठरी से तो मैं इस गिरि-राज के दर्शन कर नहीं सकता था, मगर मेरे मन में सदैव उसका ध्यान आता था और वह हमेशा नजदीक मालूम होता था और जान पड़ता था मानों अन्दर-ही-अन्दर हम दोनों के बीच एक घनिष्टता बढ़ रही थी।

पक्षि-पुंज ये उड़-उड़ ऊँचे निकल गये हैं कितनी दूर!
जलद-खंड भी इसी तरह वह नभ-पथ से होगया विलीन;
एकाकी मैं, सम्मुख मेरे पर्वतशृंग खड़ा है शान्त—
मैं उसको, वह मुझे, देखते दोनों ही हम थके कभी न।[१]

मैं समझता हूँ कि कवि ली ताई पो की तरह मैं यह नहीं कह सकता कि मैं इस नगाधिराज से कभी नहीं थकता। मगर हाँ, ऐसा तो कभी-कभी ही अनुभव होता था और आम तौर पर तो मैं उसकी निकटता से हमेशा बहुत सुख का अनुभव करता था। उसकी दृढ़ता और स्थिरता मानो लाखों वर्षों के ज्ञान और अनुभव के साथ मुझे गिरी निगाह से देखती है और मेरे मन के तरह तरह के उतार-चढ़ाव की दिल्लगी उड़ाती है और मेरे अशान्त मन को सान्त्वना देती है।

देहरादून में वसन्त-ऋतु बड़ी सुहावनी होती है और नीचे के मैदानों की बनिस्बत ज्यादा समय तक रहती है। जाड़े ने प्रायः सब पेड़ों का पतझड़ कर दिया है और वे बिलकुल नंग-धड़ंग हो गये हैं। जेल के फाटक के सामने जो चार विशाल पीपल के पेड़ हैं, उन्होंने भी, आश्चर्य तो देखिए, अपने क़रीब-क़रीब सब पत्ते नीचे गिरा दिये हैं और खंखड़ और उदास बनकर वे वहाँ खड़े हैं। फिर वसन्त-ऋतु आती है और उसकी

१. मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार हैः—

"Flocks of birds have flown high and away;
A solitary drift of cloud, too, has gone, wandering on.
And I sit alone with Ching-ting Peak, towering beyond.
We never grow tired of each-other, the mountain and I."

जीवनमय बयार उन्हें उत्साहित करती है और उनके ठेठ अन्दर के एक-एक जर्रे को जीवन का संदेश भेजती है। तब सहसा, क्या पीपल और क्या दूसरे पेड़ों में, एक हल-चल होती है और उनके आसपास कुछ रहस्य-सा दिखाई पड़ता है, जैसे कोई परदे के अंदर छिपे-छिपे कोई प्रक्रिया हो रही है और मैं तमाम पेड़ों पर हरे-हरे अखुओं और कोपलों को उझक-उझककर झांकते हुए देखकर चकित रह जाता। वह बड़ा ही हर्ष-पूर्ण और आनन्ददायी दृश्य था। फिर बड़ी तेज़ी के साथ लाखों पत्ते उमड़ आते, सूर्य की किरणों में चमकते और हवा के साथ अठखेलियाँ करते एक अंखुए से लेकर पत्ते तक यह रूपान्तर कितना जल्दी हो जाता है और कितना आश्चर्य-जनक !

मैंने इससे पहले कभी नहीं देखा था कि आम के कोमल पत्ते पहले सुर्ख़ी लिये गेहुँआ रंग के होते हैं, ठीक वैसे कि जैसे कश्मीर के पहाड़ों पर शरद् ऋतु में हलके रंग की छाया छा जाती है, लेकिन जल्दी ही वे अपना रंग बदलकर हरे हो जाते हैं।

बारिश का वहाँ हमेशा ही स्वागत होता था, क्योंकि उससे ग्रीष्म-ऋतु की गर्मी का अन्त आ जाता था। लेकिन अच्छी चीज़ की भी आख़िर हद होती है। बाद में वह भी अखरने लगती है और देहरादून को तो मानों इन्द्र महाराज की प्रिय लीला-भूमि ही समझिए। बारिश शुरू होते ही पांच-छः हफ्तों तक ऐसी झड़ी लगती है कि कोई पचास-साठ इंच पानी बरस जाता है और उस छोटी-सी तंग जगह में खिड़कियों से आती हुई बौछारों में अपनेको बचाते हुए सिकुड़-मुकुड़कर कुप्पा बने बैठे रहना अच्छा नहीं लगता।

हाँ, शरद्ऋतु में फिर आनन्द आने लगता है और इसी तरह जाड़ों में भी, उन दिनों को छोड़कर जबकि मेंह बरसता हो। एक तरफ़ बिजली कड़क रही है, दूसरी तरफ़ बारिश हो रही है और तीसरी तरफ चुभती हुई ठंडी हवा आ रही है। ऐसी हालत में हर आदमी को उत्कण्ठा होती है कि रहने को एक अच्छी जगह हो, जिसमें सर्दी से बचाव हो सके और ज़रा आराम मिले। कभी-कभी बरफ़ का तूफ़ान आता और बड़े-बड़े ओले गिरते और वे टीन की छतों पर से गिरते हुए बड़े ज़ोर की आवाज़ करते, मानों दनादन तोपें छूट रही हों।

एक दिन मुझे ख़ास तौर पर याद है। वह २८ दिसम्बर १९३२ का दिन था। बड़ी ज़ोर की बिजली कड़क रही थी और दिनभर पानी बरसता रहा। जाड़ा इतना सख़्त कि कुछ मत पूछो। शारीरिक कष्ट की दृष्टि से अपने सारे जेल-जीवन में मुझे बहुत कम ऐसे बुरे दिन देखने पड़े हैं। लेकिन शाम को बादल एकाएक बिखर गये और जब मैंने देखा कि पर्वतश्रेणियों पर और पहाड़ों पर बरफ़-ही-बरफ़ जमी हुई है

तो मेरी सारी तकलीफ न जाने कहाँ चली गई। दूसरा दिन 'क्रिसमस-डे' था, बहुत साफ और सुन्दर। और बरफ का जामा पहने पर्वत-श्रेणियाँ बहुत ही मनोहर दिखाई देती थी।

जब साधारण रोजमर्रा के कामों से हम रोक दिये गये तो हमारा ध्यान प्राकृतिक लीला के अवलोकन की ओर ज्यादा गया। जो-जो जानवर या कीड़े-मकोड़े हमारे सामने आते उनको हम गौर से देखने लगे। ज्यों-ज्यो मैं ज्यादा ध्यान से देखने लगा त्यों-त्यों मैंने देखा कि मेरी कोठरी मे और बाहर के छोटे-से आंगन में हर तरह के जीव-जन्तु रहते है। मैंने मन मे कहा कि एक ओर मुझे देखो जिसे अकेलेपन की शिकायत है, और दूसरी ओर उस आंगन को देखो जो खाली और सुनसान मालूम होता है, लेकिन जिसमें जीवन उमडा पड़ता है। ये तमाम किस्म के रेंगनेवाले, सरकनेवाले ओर उडनेवाले पशु-पक्षी मेरे काम मे ज़रा भी दखल दिये बिना अपना जीवन बिताते थे, तो मुझे क्या पड़ी थी कि मै उनके जीवन में खलल पहुँचाता? लेकिन हाँ, खटमलों, मच्छरों और कुछ-कुछ मक्खियों से मेरी लड़ाई बराबर रहती थी। ततैयों और बर्रों को तो मैं सह लेता था। मेरी कोठरी में वे हज़ारों की तादाद में थे। हां, एक बार उनकी-मेरी झड़प हो गई थी, जबकि एक ततैये ने, शायद अनजान में, मुझे काट खाया था। मैने गुस्से में आकर उन सबको निकाल देना चाहा, कोशिश भी की, लेकिन अपने चन्दरोज़ा घरों को भी बचाने के लिए उन्होंने खूब डटकर सामना किया। छत्तों में शायद इनके अंडे थे। आखिर को मैंने अपना इरादा छोड़ दिया और तय किया कि अगर वे मुझे न छेड़ें तो मैं भी उन्हें आराम से रहने दूंगा। कोई एक साल तक उसके बाद मैं उसी कोठरी में उन बर्रों और ततैयों के बीच रहा। मगर उन्होंने फिर कभी मुझपर हमला नही किया और हम दोनों एक-दूसरे का लिहाज़ रखते रहे।

हाँ, चमगादड़ों को में पसंद नही करता था; लेकिन उन्हे मैं मन मसोसकर बर्दाश्त करता था। वे शाम के अंधेरे में चुपचाप उड़ती और आसमान की अंधेरी नीलिमा मे उड़ती दिखाई पड़तीं। वे बड़े मनहूस जीव थे और मुझे उनसे बड़ी नफ़रत और कुछ भय-सा लगता था। वे मेरे चेहरे के एक इंच दूरी से उड़ जाती और हमेशा मुझे डर मालूम होता कि कहीं मुझे झपट्टा न मार दें। ऊपर आकाश में दूर बड़ी-बड़ी चमगादड़ें उड़ा करती थी।

मै चीटियों, दीमकों और दूसरे कीड़ों को घण्टों देखता रहता था। छिपकलियों को भी, जब वे शाम को अपने शिकार चुपके से पकड़ लेती और अपनी दुम को एक अजीब हँसी आने लायक ढंग से हिलाती हुई एक-दूसरे को लपेटती। मामूली तौर पर वे

ततैयों को नहीं पकड़ती थीं; लेकिन दो बार मैंने देखा कि उन्होंने निहायत होशियारी और अहतियात से मुँह की तरफ़ से उसको चुपके से झपटकर पकड़ा। मैं नहीं कह सकता कि उन्होने जान-बूझकर उनके डंक को बचाया था या वह एक इत्तिफ़ाक़ था।

इसके बाद, अगर कहीं आसपास में पेड़ हों तो, झुण्ड-के-झुण्ड गिलहरियाँ होती थी। वे बहुत ढीठ और निःशंक होकर हमारे बहुत पास आ जाती। लखनऊ-जेल मे मै बहुत देर तक एक-सा बैठे-बैठे पढ़ा करता था। गिलहरी मेरे पैर पर चढ़कर मेरे घुटने पर बैठ जाती और चारो तरफ़ देखा करती। फिर वह मेरी आँखो की ओर देखती, तब समझती कि मै पेड़ या जो कुछ उसने समझा हो वह नही हूँ। एक लहमे के लिए तो वह सहम जाती, पर फिर दुबककर खिसक जाती। कभी-कभी गिलहरियों के बच्चे पेड़ से नीचे गिर पड़ते। उनकी मां उनके पीछे-पीछे आती, लपेटकर उनका एक गोला बनाती और उनको लेजाकर सुरक्षित जगह में रख देती। कभी-कभी बच्चे खो जाते। मेरे एक साथी ने ऐसे तीन खोये हुए बच्चे सम्हालकर रक्खे थे। वे इतने नन्हे-नन्हे थे कि यह एक सवाल हो गया था कि उन्हे दाना कैसे दें? लेकिन यह सवाल बड़ी तरक़ीब से हल किया गया। फाउन्टेनपेन के फिलर में ज़रा-सी रुई लगा दी। यह उनके लिए बढिया 'फीडिंग बोतल' हो गई।

अल्मोड़ा को छोड़कर और सब जेलो में जहाँ-जहाँ मै गया कबूतर खूब थे—हज़ारों की तादाद में, और शाम को उड़कर आकाश में छा जाते थे। कभी-कभी जेल के कर्मचारी उनका शिकार करके उनसे अपना पेट भी भरते थे। और हाँ, मैनायें भी थीं। वे तो सब जगह मिलती है। देहरादून में उनके एक जोड़े ने मेरी कोठरी के दरवाज़े के ऊपर ही अपना घोसला बनाया था। मै उन्हें दाना दिया करता। वे बहुत पालतू हो गई थी और जब कभी उनके सुबह या शाम के दाने में देर हो जाती तो वे मेरे नज़दीक आकर बैठ जाती और ज़ोर से चीं-ची करके खाना माँगती। उनके वे इशारे और उनकी वह अधीर पुकार देखे और सुने ही बनती थी।

नैनी में हजारों तोते थे। उनमें से बहुतेरे तो मेरी बैरक की दीवार की दरारों में रहते थे। उनकी प्रणयोपासना और प्रणय-लीला देखने लायक़ होती थी। वह देखनेवाले को मोहित कर लेती थी। कभी-कभी दो तोतों में एक तोती के लिए बड़े ज़ोर की लड़ाई होती, तोती शान्ति के साथ उनके झगड़े के नतीजे का इन्तज़ार करती और विजेता पर अपनी प्रणय-वृष्टि करने के लिए प्रस्तुत रहती थी।

देहरादून में तरह-तरह के पक्षी थे और उनके गाने और ज़ोर-ज़ोर से चिचियाने, चहचहाने और टें-टें करने की तो एक अजीब क़वायद होती थी। और सबसे बढ़कर कोयल की दर्दभरी कूक का तो पूछना ही क्या? बारिश में और उसके ठीक पहले

पपीहा आता। सचमुच उसका लगातार 'पियू-पियू' रटना देखकर दंग रह जाना पड़ता था। चाहे दिन हो चाहे रात, चाहे धूप हो चाहे बारिश, उसकी रटन नहीं टूटती थी। इनमें से बहुतेरे पक्षियों को हम देख नहीं पाते थे, सिर्फ़ उनकी आवाज़ सुनाई पड़ती थी; क्योंकि हमारे छोटे-से आँगन में कोई पेड़ नहीं था लेकिन उकाब और चीलें बड़ी धज के साथ आसमान में ऊँची उड़ती और उन्हें मैं देख सकता था। वे कभी एकदम झपट्टा मारकर नीचे उतर आते और फिर हवा के झोंके के साथ ऊपर चढ़ जाते। कभी-कभी जंगली बतख भी हमारे सिर पर मँडराया करते थे। बरेली-जेल में बन्दरों की आबादी खासी थी। उनकी कूद-फांद, मुँह बनाना वग़ैरा हरकतें देखने लायक होती थीं। एक घटना का असर मेरे दिल पर रह गया है। एक बन्दर का बच्चा किसी तरह हमारी बैरक के घेरे के अन्दर आ गया। वह दीवार की ऊँचाई तक उछल नहीं सकता था। वार्डर, कुछ नम्बरदारों और दूसरे क़ैदियों ने मिलकर उसे पकड़ा और उसके गले में एक छोटी-सी रस्सी बाँध दी। दीवार पर से (मैं समझता हूँ) उसके मां-बाप ने यह देखा और वे गुस्से से लाल हो गये। अचानक उनमें से एक बड़ा बंदर नीचे कूदा और सीधा भीड़ में उस जगह गिरा जहाँ कि वह बच्चा था। निस्सन्देह यह बड़ी बहादुरी का काम था, क्योंकि वार्डर वग़ैरा सबके पास डंडे और लाठियाँ थीं। वे उन्हें चारों तरफ़ घुमा भी रहे थे ओर वे काफ़ी तादाद में थे। लेकिन बेधड़क साहस की फतह हुई और मनुष्यों की वह भीड़ मारे डर के भाग निकली। उनके डंडे और लाठियाँ वहीं पड़ी रह गईं। बच्चा उनसे छुड़ा लिया गया।

अक्सर ऐसे जीव-जन्तु भी दर्शन देते थे जिनसे हम दूर रहना चाहते थे। बिच्छू हमारी कोठरियों में बहुत आया-जाया करते थे। खासकर तब, जब बिजली ज़ोरों से कड़का करती। ताज्जुब है कि मुझे किसीने भी नहीं काटा। क्योंकि वे अक्सर बेढ़ब जगह मिल जाया करते थे। मेरे बिछौने पर या कोई किताब उठाई तो उसपर भी। मैंने एक खास तौर पर काले और ज़हरीले-से बिच्छू को कुछ दिन तक एक बोतल में रख छोड़ा था और मक्खियाँ वग़ैरा उसको खिलाया करता था। फिर मैंने उसे एक रस्सी से बाँधकर दीवार पर लटका दिया। लेकिन वह किसी तरह भाग निकला। मुझे यह ख्वाहिश नहीं थी कि वह फिर कहीं घूमता-फिरता मुझसे मिलने आजाय। इसलिए मैंने अपनी कोठरी को खूब साफ़ किया और चारों ओर उसे ढूँढा। मगर कुछ पता न चला।

तीन-चार साँप भी मेरी कोठरी में या उसके पास निकले थे। एक की ख़बर जेल के बाहर चली गई और अख़बारों में बड़ी-बड़ी सुर्खी लगाकर छापी गई। मगर सच पूछिए तो मैंने उस घटना को पसन्द किया था। जेल-जीवन योंही काफ़ी रूखा

और नीरस होता है और जब भी किसी तरह उसके एकसाँ-पन को कोई चीज़ भंग करती है तो वह अच्छी ही लगती है। यह बात नहीं कि मैं साँपों को अच्छा समझता हूँ या उनका स्वागत करता हूँ। मगर हाँ, औरों की तरह मुझे उनसे डर नहीं लगता। बेशक उनके काटने का तो मुझे डर रहता है और यदि किसी साँप को देखूं तो उससे अपनेको बचाऊँ भी, लेकिन उन्हें देखकर मुझे अरुचि नहीं होती और न उनसे डर-कर भागता ही हूँ। हाँ, कानखजूरे से मुझे बहुत नफ़रत और डर लगता है। डर तो इतना नहीं मगर अपने-आप उसे देखकर नफ़रत होती है। अलीपुर-जेल में कोई आधी रात को मैं सहसा जग पड़ा। ऐसा जान पड़ा कि कोई चीज़ मेरे पाँव पर रेंग रही है। मैंने अपनी टार्च दबाई तो क्या देखा कि एक कानखजूरा बिस्तर पर है। एकाएक और बड़ी तेज़ी से, बिना आगा-पीछा सोचे, मैंने बिस्तर से ऐसे ज़ोर की छलाँग मारी कि कोठरी की दीवार से टकराते हुए बचा। उस समय मैंने अच्छी तरह जाना कि रूस के प्रसिद्ध जीव-शास्त्री पेवलोव के 'रिफ्लेक्सेस'—स्वयं-स्फूर्त क्रियायें क्या होती हैं।

देहरादून में एक नया जन्तु देखा; या यों कहूँ कि ऐसा जन्तु देखा जो मेरे लिए नया था। मैं जेल के फाटक पर खड़ा हुआ जेलर से बातचीत कर रहा था कि इतने में बाहर से एक आदमी आया, जो एक अजीब जन्तु लिये हुए था। जेलर ने उसे बुलवाया। मैंने देखा कि वह एक गोह और मगर के बीच का कोई जानवर है, जो दो फ़ीट लम्बा था। उसके पंजे थे और छिलकेदार चमड़ी। वह भद्दा और बेडौल था और बहुत कुछ ज़िन्दा था। एक अजीब तरह से उसने गाँठ की तरह एक गोल कुण्डल बना लिया था और लानेवाला एक बाँस में पिरोकर उसे बड़ी खुशी से उठाता हुआ लाया था। वह उसे 'वो' कहता था। जब जेलर ने उससे पूछा कि इसका क्या करोगे? तो उसने ज़ोर से हँसकर कहा, भुज्जी—सालन—बनायेंगे! वह जंगली आदमी था। बाद को एफ० डबल्यू० चेंपियन की 'दी जंगल इन सनलाइट एण्ड शेडो' पढ़ने से मुझे पता लगा कि वह पेंगोलिन था।

क़ैदियों की, ख़ासकर लम्बी सज़ावाले क़ैदियों की, भावनाओं को जेल में कोई ख़ुराक नहीं मिलती। कभी-कभी वे जानवरों को पाल-पोसकर अपनी भावनाओं को तृप्त किया करते हैं। मामूली क़ैदी कोई जानवर नहीं रख सकता। नम्बरदारों को उनसे ज्यादा आज़ादी रहती है और जेल के कर्मचारी उनके लिए ऐतराज़ नहीं करते। आम तौर पर वे गिलहरियाँ पालते हैं और सुनकर ताज्जुब होगा कि नेवले भी। कुत्ते जेल में नहीं आने दिये जाते, मगर बिल्ली को, जान पड़ता है, तरग़ीब दी जाती है। एक छोटी पुसिया ने मुझसे दोस्ती करली थी। वह एक जेल-अफ़सर की थी, जब उसका तबादला हुआ तो वह उसे अपने साथ ले गया। मुझे उसका अभाव खलता

रहा। हालांकि जेल में कुत्तों की इजाज़त नहीं है, लेकिन देहरादून में इत्तिफ़ाक़ से कुत्तों के साथ मेरा नाता हो गया था। जेल-अफ़सर एक कुतिया लाये थे। बाद को उनका तबादला हो गया और वह उसे वहीं छोड़ गये। बेचारी बेघर होकर इधर-उधर घूमती रही और पुलों और मोरियों में रहती हुई वार्डरों के दिये टुकड़े खाकर अपने दिन काटती थी। वह प्रायः भूखों मरती थी। मैं जेल के बाहर हवालात में रहता था। वह मेरे पास रोटी के लिए आया करती। मैं उसे रोज़ खाना खिलाने लगा। उसने एक मोरी में बच्चे दिये। कुछ तो और लोग ले गये, मगर तीन बच रहे और मैं उन्हें खाना देता रहा। इनमें से एक पिल्ली बीमार हो गई। बुरी तरह छटपटाती थी, जिससे मुझे बड़ी तकलीफ़ रही। मैंने बड़ी चिन्ता के साथ उसकी शुश्रूषा की और रात को कभी-कभी तो १०–१२ बार मुझे उठकर उसको सम्हालना पड़ता था। वह बच गई और मुझे इस बात पर ख़ुशी हुई कि मेरी तीमारदारी काम आ गई।

बाहर की बनिस्बत जेल में जानवरों से मेरा ज्यादा साबक़ा पड़ा। मुझे कुत्तों का बड़ा शौक़ रहा है और घर पर कुछ कुत्ते पाले भी थे, मगर दूसरे कामों में लगे रहने की वजह से उनकी अच्छी तरह सम्हाल न कर सका। जेल में उनके साथ के लिए मैं उनका कृतज्ञ था। हिन्दुस्तानी आम तौर पर घर में जानवर नहीं पालते। यह ध्यान देने लायक़ बात है कि जीवदया के सिद्धान्त के अनुयायी होते हुए भी वे अक्सर उनकी अवहेलना करते हैं। यहाँतक कि गाय के साथ भी, जो हिन्दुओं को बहुत प्रिय और पूज्य है और जो अक्सर दंगों का कारण बनती है, दया का बर्त्ताव नही होता। मानों पूज्यभाव और दयाभाव दोनों का साथ नही हो सकता।

जुदा-जुदा देशवालों ने अपनी महत्त्वाकाँक्षा या अपने चारित्र्य के लिए जुदा-जुदा पशु-पक्षियों को अपना प्रतीक बनाया है। उक़ाब संयुक्तराज्य अमेरिका और जर्मनी का, सिंह और 'बुलडॉग' इंग्लैण्ड का, लड़ते हुए मुर्गे फ्रांस का और भालू पुराने रूस का प्रतीक है। सवाल यह है कि ये संरक्षक पशु-पक्षी राष्ट्रीय चारित्र्य को किस तरफ़ ले जायँगे? इनमें से ज्यादातर तो हमलाई और लड़ाका जानवर हैं और शिकारी पशु हैं। ऐसी दशा में यह कोई ताज्जुब की बात नहीं है कि जो लोग इन नमूनों को सामने रखकर अपना जीवन निर्माण करते हैं वे जान-बूझकर अपना स्वभाव वैसा ही बनाते हैं, हमलाई रुख़ अख़्त्यार करते हैं, दूसरों पर गुर्राते हैं, और झपट पड़ते हैं। और यह भी आश्चर्य की बात नहीं है कि हिन्दू नरम और अहिंसक हैं, क्योंकि उनका आदर्श पशु है गाय।

## ४६

# संघर्ष

बाहर लड़ाई चलती रही, और वीर स्त्रियाँ और पुरुष, यह जानते हुए भी कि वर्त्तमान में या निकट-भविष्य में सफलता पाना उनकी क़िस्मत में नहीं है, एक ताक़तवर और सुसज्जित सरकार का शान्ति के साथ मुक़ाबिला करते रहे। निरन्तर तथा अधिक-अधिक तीव्र होता हुआ दमन हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी शासन के आधार का प्रदर्शन कर रहा था। अब इसमें कोई धोखा-धड़ी नहीं थी, और कम-से-कम यही हमारे लिए कुछ तसल्ली की बात थी। संगीनें कामयाब हुईं, लेकिन एक बड़े योद्धा ने एक बार कहा था कि—"तुम संगीनों से सब कुछ कर सकते हो, लेकिन उन्हींके ऊपर ( आधार पर ) बैठ नहीं सकते।" हमने सोचा कि इसके बजाय कि हम अपनी आत्माओं को बेचें और आत्मिक व्यभिचार करें, यही अच्छा है कि हम इसी तरह शासित होना पसन्द करें। जेल में हमारा शरीर बेबस था, लेकिन हम समझते थे कि वहाँ रहकर भी हम अपने कार्य की सेवा ही कर रहे हैं और बाहर रहनेवाले कई लोगों से ज्यादा अच्छी सेवा कर रहे हैं। तो क्या हमें, अपनी कमज़ोरी के कारण, भारत के भविष्य का बलिदान कर देना चाहिए—इसलिए कि हमारी जान बची रहे? यह तो सच था कि इन्सान की ताक़त और सहन-शक्ति की भी हद होती है, और कई व्यक्ति शरीर से बेकार हो गये, या मर गये, या काम से अलग हो गये, गद्दारी तक कर गये; मगर इन बाधाओं के होते हुए भी कार्य आगे बढ़ता ही गया। लेकिन अगर आदर्श स्पष्ट दीखता रहता और हिम्मत ज्यों-की-त्यों बनी रहती तो नाकामयाबी नहीं हो सकती थी। असली नाकामयाबी तो है अपने उसूलों को छोड़ देना, अपने हक़ से इन्कार कर देना, और बेइज्ज़ती के साथ बे-इन्साफ़ी के आगे झुक जाना। अपने-आप लगाये हुए ज़ख़्म दुश्मन के लगाये हुए ज़ख़्मों से ज्यादा देर में अच्छे होते हैं।

कभी-कभी अपनी कमज़ोरियों पर और भटक जानेवाली दुनिया पर हमारा मन उदास हो जाया करता था, मगर फिर भी हमें जितनी सफलता मिली थी उसीपर हमें कुछ अभिमान था। क्योंकि हमारे लोगों ने बहुत ही वीरतापूर्ण काम किया था, और उस बहादुर जमात में हम भी शामिल हैं इस ख़याल से जी को भला मालूम होता था।

सविनय भंग के उन बरसों में काँग्रेस के खुले अधिवेशन करने की दो बार कोशिश की गई, एक दिल्ली में और दूसरी कलकत्ते में। यह ज़ाहिर था, कि ग़ैरक़ानूनी संस्था

मामूली ढंग और शान्ति से अधिवेशन नहीं कर सकती थी, और खुला अधिवेशन करने की कोशिश का अर्थ था पुलिस के संघर्ष में आना। वस्तुतः दोनों सम्मेलनों को पुलिस ने लाठियों के बल, ज़बरदस्ती, तितर-बितर कर दिया, और बहुत लोग गिरफ्तार कर लिये गये। इन सम्मेलनों की विशेषता यह थी कि इन ग़ैरक़ानूनी मजमों में प्रतिनिधि बनकर शामिल होने के लिए हिन्दुस्तान के तमाम हिस्सों से हजारों की तादाद में लोग आये थे। मुझे यह जानकर बड़ी खुशी हुई कि इन दिनों अधिवेशनों में युक्तप्रान्त के लोगों ने एक प्रमुख भाग लिया था। मेरी माताजी ने भी मार्च १९३३ के कलकत्ता-अधिवेशन में जाने का आग्रह किया। लेकिन वह कलकत्ता जाते हुए, रास्ते में, मालवीयजी और दूसरे लोगों के साथ गिरफ्तार करली गई और आसनसोल में कुछ दिनों तक जेल में बन्द रक्खी गई। उन्होंने जो आन्तरिक उत्साह और जीवन-शक्ति दिखलाई उसे देखकर मैं दंग रह गया, क्योंकि वह कमज़ोर और बीमार थी। वह जेल की परवा नहीं करती थीं, वह तो उससे भी ज्यादा कड़ी अग्नि-परीक्षा में से गुज़र चुकी थी। उनका लड़का, उनकी दोनों लड़कियाँ, और दूसरे भी कई लोग जिन्हें वह बहुत चाहती थीं, जेल में लम्बे-लम्बे अर्से तक रह चुके थे, और वह सूना घर, जिसमें वह रह रही थी, उनके लिए एक डरावनी जगह हो गई थी। जैसे-जैसे हमारी लड़ाई मन्दी पड़ने लगी, और उसकी चालू रफ्तार हलकी हो गई, वैसे-वैसे उसमें जोश और उत्साह की कमी आती गई—हाँ, बीच-बीच में लम्बे अर्से के बाद कुछ उत्तेजना हो जाया करती थी। मेरे ख़यालात दूसरे मुल्कों की तरफ़ ज्यादा जाने लगे, और जेल में जितना भी मुमकिन था, मैं विश्व-व्यापी मन्दी से ग्रस्त दुनिया की हालत का निरीक्षण और अध्ययन करने लगा। मुझे इस विषय की जितनी भी किताबें मिलीं उन्हें मैं पढ़ता गया, और मैं जितना-जितना पढ़ता जाता था उतना-उतना ही उसकी तरफ़ आकर्षित होता जाता था। मुझे दिखाई दिया कि हिन्दुस्तान तो अपनी ख़ास समस्याओं और संघर्षों को रखते हुए भी इस ज़बरदस्त विश्व-नाटक का, राजनैतिक और आर्थिक शक्तियों की उस लड़ाई का जो कि आज सब राष्ट्रों के अन्दर और सब राष्ट्रों के आपस में हो रही है, सिर्फ़ एक हिस्सा ही है। इस लड़ाई में मेरी अपनी सहानुभूति कम्यूनिज्म की तरफ़ ही ज्यादा-ज्यादा होती गई।

समाजवाद और कम्यूनिज्म की तरफ़ मेरा बहुत समय से आकर्षण था, और रूस मुझे बहुत पसन्द आता था। रूस की बहुत-सी बातें मुझे नापसन्द भी हैं—जैसे सब तरह की विरोधी राय का बेदर्दी से दमन कर देना, सबको सैनिक बना डालना, और अपनी कई व्यवस्थाओं को अमल में लाने के लिए ( मेरे मतानुसार ) अनावश्यक

है, और मुझे ज्यादा-ज्यादा यह महसूस होने लगा कि हमारे संग्रहशील समाज का और हमारी मिल्कियत का तो आधार और बुनियाद ही बल-प्रयोग है। बल-प्रयोग के बग़ैर वह ज्यादा दिन टिक नहीं सकता। जबतक भूखों मरने का डर सब जगह अधिकांश जनता को, थोड़े लोगों की इच्छा के अधीन होने के लिए, हमेशा मजबूर कर रहा है, जिसके फलस्वरूप उन थोड़े लोगों का ही धन-मान बढ़ता जाता है, तबतक राजनैतिक स्वतन्त्रता होने के भी वास्तव में कुछ मानी नहीं हैं।

दोनों व्यवस्थाओं में बल-प्रयोग मौजूद है। पूंजीवादी व्यवस्था का बल-प्रयोग तो उसका अनिवार्य अंग ही मालूम होता है। लेकिन रूस के बल-प्रयोग का, यद्यपि वह बुरा ही है, लक्ष्य यह है कि शान्ति और सहयोग पर आधारित और जनता को असली आज़ादी देनेवाली नई व्यवस्था क़ायम हो जाय। सोविएट रूस ने कितनी भी भयंकर भूलें की हों, तो भी वह भारी-भारी कठिनाइयों पर फ़तह पा चुका है और इस नई व्यवस्था की तरफ़ लम्बी-लम्बी डग रखता हुआ बहुत आगे बढ़ गया है। जब संसार के दूसरे मुल्क मन्दी में जकड़े हुए हैं, कई तरह से पीछे की तरफ़ जा रहे हैं, तब सोविएट देश में, हमारी आँखों के सामने, एक नई ही दुनिया तामीर हो रही है। महान् लेनिन के पदचिन्हों पर चलकर रूस भविष्य की तरफ़ निगाह रखता है, और केवल इसी बात का विचार करता है कि आगे क्या होना है। लेकिन संसार के दूसरे देश तो भूतकाल के प्रहार से सुन्न हुए पड़े हैं, और गुज़रे हुए युग के अनुपयोगी स्मारकों को बचाने में ही अपनी ताक़त लगा रहे हैं। अपने अध्ययन में मुझपर उन विवरणों का बड़ा असर पड़ा, जिनमें सोविएट शासन के पिछड़े हुए मध्य-एशियाई प्रदेशों की बड़ी भारी तरक्क़ी का हाल दिया गया था। इसलिए कुल मिलाकर मेरी राय तो सब तरह रूस के हक़ में ही रही; और मुझे सोविएट-तन्त्रों की मौजूदगी और मिसाल, अंधेरी और दुःखपूर्ण दुनिया में, एक प्रकाशमय और उत्साह-दायी चीज़ मालूम हुई।

हालाँकि कम्यूनिस्ट राज्य क़ायम करने के व्यावहारिक प्रयोग के रूप में सोविएट रूस की कामयाबी या नाकामयाबी का बहुत बड़ा महत्व है, फिर भी उससे कम्यूनिज्म के सिद्धान्त के ठीक होने या न होने पर कोई असर नहीं पड़ता। राष्ट्रीय या अन्तर-राष्ट्रीय कारणों से बोलशेविक लोग बड़ी-बड़ी ग़लतियाँ कर सकते हैं, या असफल भी हो सकते हैं, लेकिन फिर भी कम्यूनिज्म का सिद्धान्त सही हो सकता है। उस सिद्धान्त के आधार पर रूस में जो-कुछ हुआ है, उसकी अन्धे की तरह नक़ल करना भी मूर्खता ही होगी, क्योंकि उसका प्रयोग तो प्रत्येक देश में उसकी ख़ास परिस्थितियों और उसके ऐतिहासिक विकास की सीमा पर निर्भर है। इसके अलावा, हिन्दुस्तान या दूसरा कोई देश बोलशेविकों की कामयाबियों से और अनिवार्य ग़लतियों से भी सबक़

ले सकता है। शायद बोलशेविकों ने ज़रूरत से ज्यादा तेज़ रफ्तार से जाने की कोशिश की, क्योंकि उनके चारों तरफ दुश्मन-ही-दुश्मन थे, और उन्हें बाहरी हमले का भी डर था। शायद इससे धीमी चाल से चला जाता तो देहात में हुई बहुत-सी तकलीफ़ें बच सकती थीं। लेकिन यह सवाल उठता था, कि क्या परिवर्तन की रफ्तार कम कर देने से वास्तव में मौलिक परिणाम निकल भी सकते थे या नहीं? किसी नाज़ुक वक़्त पर, जबकि आधार-भूत ढांचा ही बदलना हो, किसी आवश्यक समस्या को सुधार-वाद से हल करना असम्भव होता है, और बाद में रफ्तार चाहे कितनी ही धीमी रहे लेकिन पहला क़दम तो ऐसा उठना चाहिए जिससे कि मौजूदा व्यवस्था से, जो अपना उद्देश्य पूरा कर चुकी हो और अब भविष्य की प्रगति के लिए बाधक बन रही हो, कोई वास्ता न रह जाय।

हिन्दुस्तान में भूमि और कल-कारखाने दोनों से सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्नों का और देश के हर बड़े सवाल का हल सिर्फ किसी क्रान्तिकारी योजना से ही हो सकता है। जैसा कि 'युद्ध के संस्मरणों' में मि० लायड जार्ज कहते हैं—"किसी खाई को दो छलांगों में कूदने से बढ़कर कोई ग़लती नहीं हो सकती।"

रूस के अलावा भी, मार्क्सवाद के सिद्धान्त और तत्त्वज्ञान ने मेरे दिमाग़ को कई विषयों में प्रकाश दिया। मुझे इतिहास में बिलकुल नया ही अर्थ दिखाई पड़ने लगा। मार्क्सवाद की अर्थ-शैली ने उसपर बड़ी रोशनी डाली, और वह मेरे लिए एक के बाद दूसरा दृश्य दिखानेवाला एक नाटक ही हो गया, जिसके घटना-चक्र की बुनियाद में कुछ-न-कुछ व्यवस्था और उद्देश्य मालूम हुआ, फिर चाहे वह कितना ही अज्ञात क्यों न हो। हालाँकि भूतकाल में और वर्तमान समय में समय और शक्ति की भयंकर बरबादी और तकलीफ़ें रही हैं और है, लेकिन भविष्य तो आशापूर्ण ही है, चाहे उसके बीच में कितने ही ख़तरे आते रहें। मार्क्सवाद में मौलिक रूप से किसी रूढ़-मत का न होना और उसका वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही मुझे पसन्द आया। लेकिन यह सही है कि रूस में और दूसरे देशों में मान्य कम्यूनिज्म में बहुत-से रूढ़-मत हैं, और अक्सर 'काफिरों' यानी मिथ्या-मत-वादियों पर संगठित रूप से धावा बोला जाता है। मुझे यह खेदजनक मालूम हुआ, हालाँकि सोविएट प्रदेशों में भारी-भारी तबदीलियाँ बड़ी तेज़ी से हो रही हों और विरोधी लोगों के कारण से बड़ी मुसीबतों और नाकामयाबी के हो जाने की आशंका हो तब ऐसी बात का होना आसानी से समझ में आ सकता है।

संसार-व्यापी महान् संकट और मन्दी से भी मुझे मार्क्सवादी विश्लेषण सही मालूम हुआ। जबकि दूसरी सब व्यवस्थायें और सिद्धान्त सिर्फ़ अपनी अटकल लगा

रहे थे, तब अकेले मार्क्सवाद ने ही बहुत-कुछ सन्तोषजनक रूप से उसका कारण बताया और उसका असली हल सामने रक्खा।

जैसे-जैसे मुझमें यह विश्वास जमता गया, वैसे-वैसे मैं नये उत्साह से परिपूर्ण होता गया, और सविनय भंग की असफलता की मेरी उदासी बहुत कम हो गई। क्या दुनिया तेज़ी से इस वाञ्छनीय लक्ष्य या स्थिति की तरफ़ नहीं जा रही है? हाँ, महायुद्ध और घोर आपत्ति के बड़े-बड़े ख़तरे मौजूद हैं, लेकिन हर हालत में हम आगे ही बढ़ रहे हैं। हम एक ही जगह में पड़े हुए सड़ नहीं रहे। मुझे मालूम हुआ कि हमारे इस बड़े सफ़र के रास्ते में हमारी राष्ट्रीय लड़ाई तो एक पड़ाव-मात्र है, और यह अच्छा है कि दमन और कष्ट-सहन से हमारे लोग आगामी लड़ाइयों के लिए तैयार हो रहे हैं और उन विचारों पर ग़ौर करने के लिए मजबूर हो रहे हैं जिनसे दुनिया में खलबली मची हुई है। कमज़ोर लोगों के निकल जाने से हम और भी ज्यादा मज़बूत, ज्यादा अनुशासन-युक्त और ज्यादा ठोस बन जायँगे। ज़माना हमारे पक्ष में है।

इस तरह मैंने रूस, जर्मनी, इंग्लैण्ड, अमेरिका, जापान, चीन, फ़्रांस, इटली, और मध्य-यूरोप में क्या-क्या हो रहा है, इसका अध्ययन किया, और प्रचलित घटनाओं की गुत्थियों को समझने की कोशिश की। इस मुसीबत को पार करने के लिए हर-एक देश अलग-अलग और सब मिलकर एकसाथ क्या कोशिशें कर रहे हैं, इसको भी मैंने दिलचस्पी से पढ़ा। राजनैतिक और आर्थिक बुराइयों को दूर करने और निःशस्त्रीकरण की समस्या हल करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेन्सों की बारबार नाकामयाबी से मुझे अपने यहाँ की साम्प्रदायिक समस्या की—जोकि छोटी-सी लेकिन काफ़ी तकलीफ़देह है—बरबस याद आ गई। अधिक-से-अधिक सद्भावना के होते हुए भी हम अभीतक इस समस्या को हल नहीं कर सके हैं; और यह व्यापक विश्वास होते हुए भी कि अगर यूरोप और अमेरिका के राजनीतिज्ञ अपनी समस्याओं को सुलझाने में विफल होंगे तो एक संसार-व्यापी आपत्ति आ जायगी, वे उन्हें हल नहीं कर पाये हैं। दोनों उदाहरणों में समस्या को हल करने का तरीक़ा ग़लत रहा है, और सम्बन्धित लोग सही रास्ते जाने से डरते रहे हैं।

संसार की मुसीबतों और संघर्षों का विचार करते हुए, मैं किसी हद तक अपनी व्यक्तिगत और राष्ट्रीय मुसीबतों को भी भूल गया। कभी-कभी मुझे इस बात पर बड़ी ख़ुशी होती थी कि संसार के इतिहास के इस क्रान्तिकारी युग में मैं भी जीवित हूँ। शायद दुनिया के इस कोने में, जहां मैं हूँ, मुझे भी उन आनेवाली तबदीलियों के लाने में कुछ थोड़ा-सा हिस्सा लेना पड़ेगा। कभी-कभी मुझे सारी दुनिया में

संघर्ष और बल-प्रयोग का वातावरण बड़ा उदास बना देता था। इससे भी ख़राब यह दृश्य था कि पढ़े-लिखे स्त्री-पुरुष भी मानवी पतन और ग़ुलामी को देखते-देखते उसके इतने आदी हो गये हैं कि उनके दिमाग़ अब कष्ट-सहन, ग़रीबी और अमानुषिकता का विरोध भी नहीं करते। दम घोंटनेवाले इस नैतिक वातावरण में शोरगुल मचानेवाला ओछापन और संगठित पाखण्ड फल-फूल रहा है, और भले लोग चुप्पी साधे बैठे हैं। हिटलर की विजय और उसके बाद के 'भूरे आतंकवाद' ने मुझे बड़ा आघात पहुँचाया, हालाँकि मैंने अपने दिल को तसल्ली दे ली कि यह सब चन्दरोज़ा ही हो सकता है। यह देखकर मन में ऐसी-सी भावना आ जाती थी, कि इन्सान की कोशिशें बेकार हैं। जबकि मशीन अन्धाधुन्ध चल रही हो, तब उसमें पहिये का एक छोटा-सा दाँत बेचारा क्या कर सकता है?

फिर भी, जीवन-सम्बन्धी कम्यूनिस्ट तत्त्वज्ञान से मुझे शांति और आशा मिली। तो इसका हिन्दुस्तान में कैसे प्रयोग हो सकता है? हम तो अभीतक राजनैतिक स्वतन्त्रता की समस्या को भी हल नहीं कर पाये हैं, और हमारे दिमाग़ों में राष्ट्रवाद ही बैठा हुआ है। क्या हम इसके साथ-ही-साथ आर्थिक स्वतन्त्रता की तरफ़ भी कूद पड़ें, या इन दोनों को बारी-बारी से हाथ में लें, फिर चाहे इनके बीच में अन्तर कितने ही थोड़े समय का क्यों न हो? संसार की घटनायें और हिन्दुस्तान के भी वाक़यात सामाजिक समस्या को सामने ला रहे हैं, और मुझे लगा कि अब राजनैतिक आज़ादी उससे अलहदा नहीं रक्खी जा सकती।

हिन्दुस्तान में ब्रिटिश सरकार की नीति का यह नतीजा हुआ है कि राजनैतिक आज़ादी के मुक़ाबिले में सामाजिक प्रतिगामी वर्ग खड़े हो गये हैं। यह लाज़िमी ही था, और हिन्दुस्तान में मुख़्तलिफ़ वर्गों और समुदायों के ज्यादा साफ़ तौर पर अलग-अलग दिखाई दे जाने को मैंने पसन्द किया। लेकिन मैं सोचता था, कि क्या इसको दूसरे लोग भी अच्छा समझते हैं? जाहिर है कि बहुत लोग नहीं। यह सही है कि कई बड़े शहरों में मुट्ठीभर कट्टर कम्यूनिस्ट लोग हैं, और वे राष्ट्रीय आन्दोलन के विरोधी हैं और उसकी सख़्त नुक्ताचीनी करते हैं। ख़ासकर बम्बई में, और कुछ हदतक कलकत्ते में, संगठित मज़दूर भी समाजवादी हैं, मगर ढीले-ढाले ढंग के। उनमें भी फूट पड़ी हुई है, और वे मन्दी से दुःख पा रहे हैं। कम्यूनिज्म के और समाजवाद के धुंधले-से विचार पढ़े-लिखे लोगों में, और समझदार सरकारी अफ़सरों तक में, फैल चुके हैं। कांग्रेस के नौजवान स्त्री और पुरुष, जो पहले लोकतन्त्र पर ब्राइस और मॉरले, कीथ और मैज़िनी के विचार पढ़ा करते थे, अब अगर उन्हें किताबें मिल जाती हैं तो कम्यूनिज्म और रूस पर साहित्य पढ़ते हैं। मेरठ-षड्यन्त्र-केस

ने लोगों का ध्यान इन नये विचारों की तरफ़ फेरने में बड़ी मदद दी, और संसार-व्यापी संकट-काल ने इस तरफ़ ध्यान देने की मजबूरी पैदा करदी । हर जगह प्रचलित संस्थाओं के प्रति शंका, जिज्ञासा और चुनौती की नई स्पिरिट दिखाई देती है । मानसिक वायु की साधारण दिशा तो साफ़ ज़ाहिर हो रही है, लेकिन फिर भी वह हलका-सा झोंका ही है जिसको अपने-आप पर अभी कोई विश्वास नही है । कुछ लोग फ़ासिस्ट विचारों के आसपास मॅडराते है । लेकिन कोई भी साफ़ और निश्चित आदर्श नहीं है । अभीतक तो राष्ट्रीयता ही यहाँकी प्रमुख विचारधारा है ।

मुझे यह तो साफ़ मालूम हुआ, कि जबतक किसी हद तक राजनैतिक आज़ादी न मिल जायगी तबतक राष्ट्रीयता ही सबसे बड़ी प्रेरक-भावना रहेगी । इसी कारण कॉंग्रेस हिन्दुस्तान में सबसे ज्यादा ताक़तवर संस्था होने के साथ ही सबसे आगे बढ़ी हुई संस्था भी रही है, और अब भी (कुछ खास मज़दूर दायरों को छोड़कर) है। पिछले तेरह बरसों में, गांधीजी के नेतृत्व में, इसने जनता में आश्चर्यजनक जागृति पैदा कर दी है और इसके अस्पष्ट मध्यम-वर्गी आदर्श के होते हुए भी इसने एक क्रान्तिकारी काम किया है । अबतक भी इसकी उपयोगिता ख़तम नही हुई है, और हो भी नहीं सकती, जबतक कि राष्ट्र-वादी प्रेरणा की जगह समाज-वादी प्रेरणा न आ जाय । भविष्य की प्रगति--आदर्श-सम्बन्धी भी और कार्य-सम्बन्धी भी—अब भी कॉंग्रेस के द्वारा ही होगी, हालांकि दूसरे रास्तों से भी काम लिया जा सकेगा ।

इस तरह मुझे कॉंग्रेस को छोड़ देना राष्ट्र की आवश्यक प्रेरक-शक्ति से अलग हो जाना, अपने पास के सबसे ज़बरदस्त हथियार को कुन्द कर देना, और एक बेकार के साहस में अपनी शक्ति बरबाद करना मालूम हुआ । लेकिन फिर भी, क्या कॉंग्रेस, अपनी मौजूदा स्थिति को रखते हुए, कभी भी वास्तव में मौलिक सामाजिक हल को अपना सकेगी ? अगर उसके सामने ऐसा सवाल रख दिया जाय, तो उसका नतीजा यही होगा कि उसके दो या ज्यादा टुकड़े हो जायँगे, या कम-से-कम बहुत लोग उससे अलग हो जायँगे । ऐसा हो जाना भी अवाञ्छनीय या बुरा न होगा, अगर समस्यायें ज्यादा साफ़ हो जायँ, और कॉंग्रेस में एक दृढ़-संगठित दल, चाहे वह बहुमत में हो या अल्पमत में हो, एक मौलिक समाजवादी कार्यक्रम को लेकर खड़ा हो जाय ।

लेकिन इस वक़्त तो कॉंग्रेस के मानी है गांधीजी । वह क्या करना चाहेंगे ? विचारधारा की दृष्टि से कभी-कभी वह आश्चर्यजनक रूप से पिछड़े हुए रहे हैं, लेकिन फिर भी काम और व्यवहार के खयाल से वह हिन्दुस्तान में इस वक़्त के सबसे ज्यादा क्रान्तिकारी रहे हैं । वह एक अनोखे व्यक्ति हैं, और उन्हें मामूली पैमानों से नापना या उनपर तर्कशास्त्र के मामूली नियम लगाना भी मुमकिन नहीं है । लेकिन चूंकि

वह तह में क्रान्तिकारी हैं और हिन्दुस्तान के लिए राजनैतिक स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा किये हुए हैं, इसलिए जबतक वह स्वतन्त्रता मिल नहीं जाती तबतक तो वह इसमें अटल रहकर ही अपना काम करेंगे और इसी तरह कार्य करते हुए वह जनता की प्रचण्ड कार्य-शक्ति को जगा देंगे, और, मुझे आधी-सी उम्मीद थी कि वह ख़ुद भी सामाजिक ध्येय की तरफ़ एक-एक क़दम आगे बढ़ते चलेंगे।

हिन्दुस्तान के और बाहर के कट्टर कम्यूनिस्ट पिछले कई बरसों से गांधीजी और कांग्रेस पर भयंकर हमले करते रहे हैं, और उन्होने कांग्रेस-नेताओं पर सब तरह की दुर्भावनाओं के आरोप लगाये है। कांग्रेस की विचार-धारा पर उनकी बहुत-सी सैद्धान्तिक समालोचना योग्यतापूर्ण और स्पष्ट थी, और बाद की घटनाओं से वह किसी हदतक सही भी साबित हुई। हिन्दुस्तान की साधारण राजनैतिक हालत के बारे में कम्यूनिस्टों के शुरू के कुछ विश्लेषण बहुत-कुछ सही निकले। मगर जब वे आम उसूलों को छोड़कर तफ़सीलों में आते हैं, और ख़ासकर जब वे देश में कांग्रेस के महत्व पर विचार करते हैं, तो वे बुरी तरह भटक जाते हैं। हिन्दुस्तान में कम्यूनिस्टों की तादाद और असर कम होने का एक सबब यह भी है कि कम्यूनिज्म का वैज्ञानिक ज्ञान फैलाने और लोगों के दिमाग़ों में उसका विश्वास जमाने की कोशिश करने के बजाय उन्होंने दूसरों को गालियाँ देने में ही ज्यादातर अपनी ताक़त लगाई है। इसका उन्हीं-पर उलटा असर पड़ा है, और उन्हें नुकसान पहुँचा है। इनमें से ज्यादातर लोग मज़दूरों के हलकों में काम करने के आदी हैं, जहाँ कि मज़दूरों को अपनी तरफ़ मिला लेने के लिए सिर्फ़ थोड़े-से नारे ही काफ़ी होते हैं। लेकिन पढ़े-लिखे लोगों के लिए तो सिर्फ़ नारे ही काफ़ी नही हो सकते, और उन्होंने इस बात को महसूस नहीं किया है कि आज हिन्दुस्तान में मध्यम-वर्ग का पढ़ा-लिखा दल ही सबसे ज्यादा क्रान्ति-कारी शक्ति है। कट्टर कम्यूनिस्टों के प्रायः कोशिश न करने पर भी कई पढ़े-लिखे लोग कम्यूनिज्म की तरफ़ खिंच आये हैं, लेकिन फिर भी उनके बीच में एक खाई है।

कम्यूनिस्टों की राय के मुताबिक़, कांग्रेस के नेताओं का लक्ष्य रहा है, सरकार पर आम लोगों का दबाव डालना और हिन्दुस्तान के पूंजीवादियों और ज़मींदारों के हित के लिए कुछ औद्योगिक और व्यापारिक सुविधायें हासिल कर लेना। उनका मत है कि कांग्रेस का काम है—"किसानों, निचले मध्यम-वर्ग और कारख़ानों के मज़दूर-वर्ग के आर्थिक और राजनैतिक असंतोष को बम्बई, अहमदाबाद और कलकत्ते के मिल-मालिकों और लखपतियों की गाड़ी के सामने खड़ा कर देना।" यह ख़याल किया जाता है कि हिन्दुस्तानी पूंजीपति टट्टी की ओट में छिपे हुए कांग्रेस-कार्य-समिति को हुक्म

देते हैं कि पहले तो वह आम तहरीक शुरू करे, और जब वह बहुत व्यापक और भयंकर हो जाय तब उसे मुल्तवी करदे, या किसी छोटी-मोटी बात पर ख़त्म करदे। और, कांग्रेस के नेता सचमुच अंग्रेज़ों का चला जाना पसन्द नहीं करते, क्योंकि भूखी जनता का शोषण करने के लिए आवश्यक नियन्त्रण करने को उनकी ज़रूरत है, और मध्यम-वर्ग अपनेमें यह काम करने की क़ाबलियत नहीं मानता।

यह ताज्जुब की बात है कि कम्यूनिस्ट इस अजीब विश्लेषण पर यक़ीन रखते हैं। लेकिन चूकि ज़ाहिरा उनका विश्वास इसीपर है इसीलिए, आश्चर्य नही कि, वे हिन्दुस्तान में इतनी बुरी तरह से असफल हुए हैं। उनकी बुनियादी ग़लती यह मालूम होती है कि वे हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय आन्दोलन को युरोपियन मज़दूरों के पैमानो से नापते हैं, और चूकि उन्हें यह देखने का अभ्यास है कि बार-बार मज़दूर-नेता मज़दूर-आन्दोलन के साथ ग़द्दारी करते रहे है, इसलिए वे उसी मिसाल को हिन्दुस्तान पर लगाते है। हिन्दुस्तान का राष्ट्रीय आन्दोलन, ज़ाहिरा ही, कोई मज़दूरों या श्रमिकों का आन्दोलन नही है। जैसा कि उसके नाम से ही प्रकट होता है, वह एक मध्यम-वर्गी आन्दोलन हैं और अभीतक उसका मक़सद समाज-व्यवस्था को बदलना नहीं बल्कि राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना ही रहा है। इसपर कहा जा सकता है कि यह मक़सद काफ़ी बड़ा नही है, और राष्ट्रीयता भी आजकल के ज़माने में पिछड़ा हुआ वाद कहला सकता है। लेकिन आन्दोलन के मौलिक आधार को मानते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि नेता लोग भूमि-प्रणाली या पूंजीवादी निज़ाम को उलट देने की कोशिश ही नही करते इसलिए वे जनता के साथ विश्वासघात करते हैं; क्योंकि उन्होंने ऐसा करने का कभी दावा ही नहीं किया। हाँ, काँग्रेस में कुछ लोग ऐसे ज़रूर हैं, और उनकी तादाद बढ़ती जा रही है, जो भूमि-प्रणाली और पूंजीवादी व्यवस्था को बदल देना चाहते हैं; लेकिन वे काँग्रेस के नाम पर नहीं बोल सकते।

यह सच है कि हिन्दुस्तान के पूंजीवादी वर्गों ने (बड़े-बड़े ज़मींदारों या ताल्लुके-दारों ने नही) ब्रिटिश और दूसरे विदेशी माल के बहिष्कार और स्वदेशी के बढ़ावे के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन से बड़ा फ़ायदा उठाया है। लेकिन, यह तो लाज़िमी ही था; क्योंकि हर राष्ट्रीय आन्दोलन देश के उद्योग-धंधों को बढ़ावा देता है, और दूसरों का बहिष्कार कराता है। लेकिन, असल में, बम्बई के मिल-मालिकों ने तो सविनय भंग के चालू रहने के वक्त ही और जबकि हम ब्रिटिश माल के बहिष्कार का प्रचार करते रहे थे तभी एक नावाजिब तरीके से लंकाशायर से एक समझौता करने का भी दुःसाहस कर डाला था। काँग्रेस की निगाह में यह राष्ट्र के साथ भारी विश्वासघात था, और यही नाम उसको दिया भी गया था। असेम्बली में बम्बई के मिल-मालिकों के नुमाइन्दों ने,

जबकि हममें से ज्यादातर लोग जेल में थे, लगातार कांग्रेस और 'अति-वादी' यानी गरम दल के लोगों की निन्दा की थी।

पिछले कुछ बरसों में कई पूंजीपति-दलों ने हिन्दुस्तान में जो-जो काम किये है वे कांग्रेस की और राष्ट्रीय दृष्टि से भी कलंक-रूप हैं। ओटावा के समझौते से शायद कुछ लोगों को फ़ायदा हो गया होगा, लेकिन हिन्दुस्तान के सारे उद्योग-धंधों की दृष्टि से वह बुरा था, और उससे वे ब्रिटिश पूंजी और कारखानों की ज्यादा अधीनता में आ गये। वह समझौता जनता के लिए हानिकर था, और तब किया गया था जबकि हमारी लड़ाई चालू थी और कई हज़ार लोग जेलों में थे। हर उपनिवेश ने इंग्लैण्ड से अपनी सख्त-से-सख्त शर्तें मनवा ली, लेकिन हिन्दुस्तान को तो मानों उससे अपनेको क़रीब-क़रीब लुटा देने का सौभाग्य ही मिल गया। पिछले कुछ बरसों में कुछ बड़े धनिकों ने हिन्दुस्तान को नुक़सान में डालकर भी सोने और चाँदी का व्यापार किया है।

और बड़े-बड़े ज़मीदार और ताल्लुक़ेदार तो गोलमेज़-कान्फ़्रेन्स में कांग्रेस के बिलकुल खिलाफ़ ही खड़े हो गये थे, और ठीक सविनय भंग के दर्म्यान उन्होंने खुले तौर पर और आगे बढ़कर अपने-आपको सरकार की तरफ़ घोषित कर दिया था। इन्ही लोगों की मदद से सरकार ने भिन्न-भिन्न प्रान्तों में उन दमनकारी कानूनों को पास किया, जिनका समावेश आर्डिनेन्सों में हो जाता था। और युक्तप्रान्त की कौंसिल में ज्यादातर ज़मीदार मेम्बरों ने सविनय भंग के क़ैदियों की रिहाई के ख़िलाफ़ राय दी थी।

यह ख़याल भी बिलकुल ग़लत है कि गांधीजी ने १९२१ और १९३० में तेज़ दीखनेवाले आन्दोलन मजबूरन जनता का ज़ोर पड़ने से ही चालू किये थे। बेशक आम जनता में हलचल थी, लेकिन दोनों आन्दोलनों में क़दम गाँधीजी ने ही आगे बढ़ाया था। १९२१ में वह क़रीब-क़रीब अकेले ही सारी कांग्रेस की डोर हिलाते थे और उसे असहयोग के रास्ते चढ़ा ले गये थे। १९३० में भी अगर उन्होंने किसी तरह भी विरोध किया होता, तो कोई भी तेज़ और परिणामकारी सीधी लड़ाई का आन्दोलन हरगिज़ न उठ सकता था।

यह बड़ी बदक़िस्मती की बात है कि मूर्खतापूर्ण और बिना जानकारी के व्यक्तिगत नुक़्ताचीनी की जाती है, क्योंकि उससे ध्यान असली सवालों से दूसरी तरफ़ हट जाता है। गाँधीजी की ईमानदारी पर हमला करने से तो अपने-आपका और अपने काम का ही नुक़सान होता है, क्योंकि हिन्दुस्तान के करोड़ों आदमियों के लिए तो वह सत्य के ही मूर्त-रूप हैं, और उन्हें जो कोई पहचानते हैं वे जानते हैं कि वह हमेशा सही काम करने के लिए कितने व्याकुल रहते हैं।

हिन्दुस्तान में कम्यूनिस्टों का ताल्लुक़ बड़े शहरों के कारखानों के मज़दूरों के साथ ही रहा है। देहाती हलकों की जानकारी या सम्पर्क उनके पास नही है। हालाँकि कारख़ानों के मज़दूरों का भी एक महत्व है, और भविष्य में और भी उनका ज्यादा महत्व होगा, लेकिन उनका किसानों के सामने दूसरा ही दर्जा रहेगा, क्योंकि हिन्दुस्तान में आज तो किसानों की समस्या ही मुख्य है। इधर कॉंग्रेस-कार्यकर्त्ता इन देहाती हलकों में सब दूर फैल चुके हैं, और समय पर अपने-आप कॉंग्रेस किसानों का एक बड़ा संगठन बन जायगी। अपना निकट-लक्ष्य प्राप्त करने के बाद किसान कभी भी क्रान्तिकारी नही रहते, और यह मुमकिन है कि भविष्य में किसी वक़्त शहर बनाम देहात और कारख़ानों के मज़दूर बनाम किसान की सामान्य समस्या हिन्दुस्तान में भी खड़ी हो जाय।

मुझे कॉंग्रेस के बहुत-से नेताओं और कार्यकर्त्ताओं के गहरे सम्पर्क में आने का सौभाग्य मिला है, और इनसे ज्यादा अच्छे स्त्री-पुरुषों की मैं ख़्वाहिश भी नहीं कर सकता था। लेकिन फिर भी ज़रूरी सवालों में मेरा उनसे मतभेद रहा है, और कई बार मैं यह देखकर उकता गया हूँ कि जो बात मुझे साफ़-सी दिखाई देती है उसकी वे क़द्र भी नही कर सकते या उसे समझ भी नहीं सकते। इसका सबब अक़्ल की कमी नहीं है, बल्कि इसका मतलब यह है कि हम विचारों की अलग-अलग पगडंडियों पर चल रहे हैं। मैंने महसूस किया कि इन सीमाओं को अचानक पार कर जाना कितना मुश्किल है। इनमें जीवन-सम्बन्धी तत्त्वज्ञान ही भिन्न-भिन्न है, और वह हमें धीरे-धीरे और अनजान में प्रभावित करता रहता है। परस्पर एक-दूसरे दल को दोष देना फ़जूल है। समाजवाद के लिए जीवन और उसकी समस्याओं पर एक ख़ास मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण होने की ज़रूरत है। वह केवल युक्तिवाद से कुछ अधिक है। इसी तरह, दूसरे दृष्टिकोण भी परम्परा, शिक्षण और भूत और वर्तमान परिस्थितियों के अज्ञात प्रभाव पर आधारित हैं। जीवन की कठिनाइयों और उसके कड़ुवे अनुभव ही हमें नये रास्तों से चलने को मजबूर करते हैं, और अन्त में, जोकि इससे बहुत ज्यादा कठिन काम है, हमारा दृष्टिकोण बदल देते हैं। सम्भव है इस प्रक्रिया में हम भी थोड़े सहायक हो सकें और शायद—

"मनुष्य अपने भवितव्य पर उसी मार्ग से पहुँच जाता है जिसपर वह उससे बचने के लिए चलता है।"[1]

१. ला फोंतेन के निम्नलिखित फ्रेञ्च उद्धरण का यह अनुवाद है:—

"On rencontre sa destine'e.

Souvent par les chemins q'on prend pour l'e'viter."

# ४७

## मज़हब क्या है ?

सितम्बर १९३२ के मध्य में एक अचानक और बड़ी चिन्ताजनक घटना से जेल के हमारे शान्तिपूर्ण और एक-ढर्रे के जीवन में खलबली मच गई। ख़बर आई कि मि० रेम्ज़े मैकडोनल्ड के साम्प्रदायिक 'निर्णय' में दलित जातियों को जुदागाना चुनाव दिये जाने के विरोध में गांधीजी ने 'आमरण अनशन' करना तय किया है। लोगों को अचानक आघात देने की उनमें कितनी क्षमता है ? सहसा सभी तरह के ख़याल मेरे दिमाग़ में आने लगे; सब तरह की होनहार और सम्भावनायें मेरे सामने आने लगी, और उन्होंने मेरे चित्त को बिलकुल उद्विग्न कर दिया। दो दिन तक मुझे बिलकुल अँधेरा-अँधेरा दिखाई दिया, और कोई रास्ता नहीं सूझा। जब मैं गाँधीजी के काम के कुछ नतीजों का ख़याल करता तो मेरा दिल बैठ जाता था। उनके प्रति मेरी व्यक्तिगत भावना काफ़ी प्रबल थी, और मुझे ऐसा लगता था कि अब शायद मै उन्हें नहीं देख सकूगा। इस ख़याल से मुझे बहुत ही पीड़ा होती थी। आख़िरी दफ़ा क़रीब एक साल से कुछ ज्यादा पहले मैंने उन्हें इंग्लैण्ड जाते वक़्त जहाज़ पर देखा था। क्या अब मै उन्हें न देख सकूंगा ?

और फिर मुझे उनपर झुंझलाहट भी आई, कि उन्होंने अपनी आख़िरी क़ुरबानी के लिए एक छोटा-सा, सिर्फ़ चुनाव का, मामला लिया है। हमारे आज़ादी के आन्दोलन का क्या होगा ? क्या अब, कम-से-कम थोड़े वक़्त के लिए ही सही, बड़े सवाल पीछे नही पड़ जायँगे ? और, अगर वह अपनी अभीकी बात पर कामयाब भी हो जायँगे और दलित जातियों के लिए सम्मिलित चुनाव प्राप्त भी कर लेंगे, तो क्या इससे एक प्रतिक्रिया न होगी, और यह भावना न फैल जायगी कि कुछ-न-कुछ तो हासिल कर ही लिया गया है और थोड़े वक्त तक अब कुछ भी न करना चाहिए ? और क्या उनके इस काम के यह मानी नहीं हैं कि वह साम्प्रदायिक 'निर्णय' को मानते और सरकार की तैयार की हुई आम तजवीज़ को किसी हद तक मंजूर करते हैं ? क्या यह असहयोग और सविनय भंग से सुसंगत है ? इतने बलिदान और साहस-पूर्ण प्रयत्न के बाद क्या हमारा आन्दोलन इस मामूली प्रश्न पर आकर अटक जायगा ?

उनके राजनैतिक सवाल को धार्मिक और भावुकतापूर्ण दृष्टिकोण से देखने और उसके मुताबिक़ बराबर ईश्वर का नाम लेने से मुझे उनपर ग़ुस्सा भी आया।

उनके कहने से तो ऐसा मालूम पड़ता था कि शायद ईश्वर ने उन्हें अनशन की तारीख़ तक सुझा दी थी। ऐसी मिसाल पेश करना कितना ख़तरनाक होगा !

और अगर बापू मर गये ! तो, हिन्दुस्तान की क्या हालत हो जायगी ? मुझे भविष्य सूना और उदास दीखने लगा, और जब मैं उसपर विचार करता था तो मेरे दिल में एक निराशा छा जाती थी।

इस तरह मैं लगातार विचारों ही विचारों में डूबता रहा। मेरे दिमाग़ में गड़बड़ी मच गई, और ग़ुस्सा, निराशा और जिस व्यक्ति ने इतनी बड़ी उथल-पुथल पैदा कर दी उसके प्रति प्रेम से वह सराबोर हो गया। मुझे नहीं सूझता था कि मैं क्या करूँ, और सबसे ज्यादा अपने-आपके प्रति मैं चिड़चिड़ा और बदमिज़ाज हो गया।

और फिर मुझमें एक अजीब बात हुई। मुझपर भावनाओं का ऐसा दौर शुरू हुआ कि संकट-काल ही आ उपस्थित हुआ। पर अन्त में जाकर मुझे कुछ शान्ति मालूम हुई, और भविष्य भी इतना अन्धकार-पूर्ण दिखाई नहीं दिया। बापू में ऐन मौक़े पर ठीक काम कर डालने की अजीब सूझ थी, और मुमकिन है कि उनके इस काम के भी—जो मेरे दृष्टि-बिन्दु से बिलकुल असमर्थनीय था—कोई बड़े नतीजे हों, और वह केवल उसी काम के छोटे-से सीमित क्षेत्र में नहीं बल्कि हमारी राष्ट्रीय लड़ाई के व्यापक स्वरूपों में भी। और अगर बापू मर भी गये, तो भी हमारी स्वतंत्रता की लड़ाई चलती रहेगी। इसलिए कुछ भी नतीजा हो, इन्सान को हर हालत के लिए तैयार और मुस्तैद रहना चाहिए। अपने दिमाग़ को गांधीजी की मृत्यु तक बरदाश्त करने के लिए बिना हिचकिचाहट के तैयार करके मैंने शान्ति और धैर्य धारण किया, और दुनिया और दुनिया की हर घटना का सामना करने को तैयार हो गया।

इसके बाद सारे देश में एक भयंकर उथल-पुथल मचने, हिन्दू-समाज में उत्साह की एक जादूभरी लहर आ जाने की ख़बरें आईं, और मालूम होने लगा कि अस्पृश्यता का अब ख़ात्मा ही होनेवाला है। मैं सोचने लगा कि यरवडा-जेल में बैठा हुआ यह छोटा-सा आदमी कितना बड़ा जादूगर है, और लोगों के दिलों में खलबली मचा देनेवाली डोर हिलाना वह कितनी अच्छी तरह जानता है !

उनका एक तार मुझे मिला। मेरे जेल आने के बाद यह उनका पहला ही संदेश था, और इतने लम्बे अर्से के बाद उनका यह तार मिलने से मुझे लाभ ही हुआ। इस तार में उन्होंने लिखा :—

**"इन वेदना के दिनों में मुझे हमेशा तुम्हारा ध्यान रहा है। तुम्हारी राय जानने को मैं बहुत ज़्यादा उत्सुक हूँ। तुम्हें मालूम है, मैं तुम्हारी राय की**

कितनी क़द्र करता हूँ। मैंने इन्दु (और) सरूप के बच्चों को देखा। इन्दु ख़ुश और कुछ तगड़ी दीखती थी। तबीयत बहुत ठीक है। तार से जवाब दो। स्नेह।"

यह एक असाधारण बात थी, लेकिन उनके स्वभाव के अनुसार ही थी, कि उन्होंने अपने अनशन की पीड़ा और अपने काम-काज के बीच भी मेरी लड़की और मेरी बहन के बच्चों के आने का ज़िक्र किया, और यह भी लिखा कि इन्दिरा तगड़ी हो गई है। उस वक़्त मेरी बहन भी पूना की जेल में थी, और ये सब बच्चे पूना के स्कूल में पढ़ते थे। वह जीवन में छोटी दीखनेवाली बातों को कभी नहीं भूलते, जिनका वास्तव में बड़ा महत्व भी होता है।

ठीक उसी वक़्त मुझे यह ख़बर मिली कि चुनाव के सवाल पर कोई समझौता भी हो गया है। जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट ने मेहरबानी करके मुझे गांधीजी को जवाब भेजने की इजाज़त दे दी, और मैंने उन्हें यह तार भेजा :—

"आपके तार और यह संक्षिप्त समाचार मिलने से कि कोई समझौता हो गया है, मुझे बड़ी राहत और ख़ुशी हासिल हुई। पहले तो आपके अनशन के निश्चय से मानसिक क्लेश और बड़ी दुविधा पैदा हुई, पर आख़िर में आशावाद की विजय हुई और मुझे मानसिक शान्ति मिली। पद-दलित वर्गों के लिए बड़े-से-बड़ा बलिदान भी कम ही है। स्वतन्त्रता की कसौटी सबसे छोटे की स्वतन्त्रता से करनी चाहिए, मगर मुझे यह ख़तरा मालूम होता है कि कहीं हमारे एकमात्र लक्ष्य को दूसरे सवालात ढक न लें। मैं धार्मिक दृष्टिकोण से निर्णय करने में असमर्थ हूँ। यह भी ख़तरा है कि दूसरे लोग आपके तरीकों का दुरुपयोग करेंगे। लेकिन एक जादूगर को मैं कैसे सलाह दे सकता हूँ? स्नेह!"

पूना में जमा हुए भिन्न-भिन्न लोगों ने एक समझौते पर दस्तख़त किये, और ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ने उसे चटपट मंजूर कर लिया और उसके मुताबिक़ अपना पिछला 'निर्णय' बदल दिया, और अनशन तोड़ दिया गया। मैं ऐसे समझौतों और इकरारनामों को बहुत नापसन्द करता हूँ, लेकिन पूना के समझौते में क्या-क्या तय हुआ इसका ख़याल न करते हुए भी मैंने उसका स्वागत किया।

उत्तेजना ख़त्म हो चुकी थी, और हम जेल के अपने मामूली कार्यक्रम में लग गये। हरिजन-आन्दोलन और जेल में से गांधीजी की प्रवृत्तियों की ख़बरें हमें मिलती रहती थीं। लेकिन उनसे मुझे ख़ुशी नहीं होती थी। इसमें शक नहीं कि अछूतपन को मिटाने और दुःखी दलित जातियों को उठाने के आन्दोलन को उससे बड़े गज़ब का

बढ़ावा मिला, लेकिन वह समझौते के कारण नहीं, बल्कि देशभर में जो एक जेहादी जोश फैल गया था उसके कारण। यह तो अच्छी बात थी। लेकिन इसीके साथ-साथ यह भी साफ़ ज़ाहिर था कि इससे सविनय भंग को नुक़सान पहुँचा। देश का ध्यान दूसरे सवालों पर चला गया, और कांग्रेस के कई कार्यकर्ता हरिजन-कार्य में लग गये। शायद उनमें से ज्यादातर लोग कम ख़तरे के कामों में लगने का बहाना चाहते ही थे, जिनमें जेल जाने, या इससे भी ज्यादा, लाठी खाने और सम्पत्ति ज़ब्त कराने का डर न हो। यह कुदरती ही था, और हमारे हज़ारों कार्यकर्ताओं में से हरेक से यह उम्मीद करना ठीक भी न था कि वह गहरे कष्ट-सहन और अपने परिवार के भंग और नाश के लिए हमेशा तैयार रहे। लेकिन हमारे बड़े आन्दोलन का इस तरह धीरे-धीरे ह्रास होना देखकर दिल में दर्द होता था। फिर भी, सविनय भंग तो चलता ही रहा, और मौक़े-मौक़े पर मार्च-अप्रैल १९३३ की कलकत्ता-कांग्रेस जैसे बड़े-बड़े प्रदर्शन हो ही जाते थे। गांधीजी यरवडा-ज़ेल में थे, मगर उन्हें लोगों से मिलने और हरिजन-आन्दोलन के मुताबिक़ हिदायतें भेजने की कुछ सुविधायें मिल गई थीं। कुछ भी हो, इससे उनके जेल में रहने की तीक्ष्णता कम हो गई थी। इन सब बातों से मुझे बड़ी उदासी हुई।

कई महीने बाद, मई १९३३ में, गांधीजी ने अपना इक्कीस दिन का उपवास शुरू किया। इसकी ख़बर से भी पहले तो मुझे बड़ा धक्का लगा, लेकिन होनहार ऐसा ही था, यह समझकर मैंने उसे मंजूर कर लिया और अपने दिल को समझा लिया। वास्तव में मुझे उन लोगों पर ही झूँझल आई जो उनपर उपवास का निश्चय कर लेने और घोषित कर देने के बाद उसे छोड़ देने का ज़ोर डाल रहे थे। उपवास मेरी तो समझ के बाहर था और निश्चय कर लेने के पहले अगर मुझसे पूछा जाता तो मैं ज़ोर से उसके खिलाफ़ राय देता, लेकिन मैं गांधीजी की प्रतिज्ञा का बड़ा महत्व समझता था, और किसी भी व्यक्ति के लिए मुझे यह ग़लत मालूम होता था कि वह किसी भी व्यक्तिगत मामले में, जिसे वह सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण समझते थे, उनकी प्रतिज्ञा को तुड़वाने की कोशिश करे। इस तरह हालांकि मैं खिन्न था, फिर भी उसको गवारा करता रहा।

अपना उपवास शुरू करने से कुछ दिन पहले उन्होंने मुझे अपने खास ढंग का एक पत्र भेजा, जिससे मेरा दिल बहुत हिल गया। चूंकि उन्होंने जवाब माँगा था, इसलिए मैंने निम्नलिखित तार भेजा :—

**"आपका ख़त मिला। जिन मामलों को मैं नहीं समझता उनके बारे में मैं क्या कह सकता हूँ ? मैं तो एक बेगाने देश में, जहाँ आप ही एक-**

मात्र परिचित मीनार की तरह हैं, अपना कहीं पता ही नहीं पाता हूँ; अँधेरे में अपना रास्ता टटोलता हूँ, लेकिन ठोकर खाकर गिर जाता हूँ। नतीजा जो कुछ हो, मेरा स्नेह और मेरे विचार हमेशा आपके साथ होंगे।"

एक ओर उनके कार्य को मैं बिलकुल नापसन्द करता था, और दूसरी ओर उन्हें आघात न पहुँचाने की भी मेरी इच्छा थी। इस द्वन्द्व का मुझे सामना करना पड़ा था। मगर फिर भी मैंने महसूस किया कि मैंने उन्हें प्रसन्नता का संदेश नहीं भेजा, और अब जब कि वह अपनी भयंकर अग्नि-परीक्षा में से, जिसमें उनकी मृत्यु भी हो सकती थी, गुज़रने का निश्चय कर ही चुके हैं, तो मुझे चाहिए कि मुझसे जितना बन सके उतना मैं उन्हें प्रसन्न बनाऊँ। छोटी-छोटी बातों का भी मन पर बड़ा असर होता है, और उन्हें जीवन बनाये रखने के लिए अपना सारा मनोबल लगा देना पड़ेगा। मुझे ऐसा भी लगा कि अब जो कुछ भी होकर रहे, चाहे दुर्भाग्य से उनकी मृत्यु भी हो जाय तो उसे भी कड़े दिल से बरदाश्त कर लेना चाहिए। इसलिए मैंने उन्हें दूसरा तार भेजा:—

"अब तो जब आपने अपना जोखों का काम शुरू कर ही दिया है, तो मैं फिर अपना स्नेह और अभिनन्दन आपको भेजता हूँ, और मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि अब मुझे यह ज्यादा साफ़ तौर पर दिखाई देता है कि जो कुछ होता है वह अच्छा ही होता है, और कुछ भी नतीजा हो, आपकी विजय ही है।"

उनका उपवास पूरा हो गया और वह जीवित रहे। उपवास के पहले ही दिन वह जेल से रिहा कर दिये गये, और उनके कहने से छः हफ्तों के लिए सविनय भंग स्थगित कर दिया गया।

मैंने देखा कि उपवास के बीच में देश में भावना का फिर एक उभाड़ आया। मैं ज्यादा-ज्यादा सोचने लगा कि क्या राजनीति में यह सही तरीक़ा है? मुझे तो लगने लगा, कि यह केवल पुनरुद्धार-वाद है और इसके सामने स्पष्ट विचार करने का तरीका बिलकुल नहीं ठहर सकता। सारा हिन्दुस्तान, या उसका ज्यादातर हिस्सा, सम्मान से महात्माजी की तरफ़ निगाह गड़ाये हुए था, और उनसे उम्मीद करता था कि वह चमत्कार-पर-चमत्कार करते चले जायँ, अस्पृश्यता का नाश कर दें, और स्वराज्य हासिल करलें, इत्यादि, और खुद कुछ भी न करें। गांधीजी भी दूसरों को विचार करने के लिए प्रोत्साहित नहीं करते थे, उनका ज़ोर पवित्रता और बलिदान पर था। मुझे लगा कि हालांकि मैं गांधीजी पर बड़ी भावुकतापूर्ण आसक्ति रखता हूँ फिर भी मानसिक दृष्टि से मैं उनसे दूर होता चला जा रहा हूँ। अक्सर वह

अपनी राजनैतिक हलचलों में अपनी सहज वृत्ति से, जो गलती नही करती थी, काम लेते थे। अच्छा और फायदेमन्द काम करने का उनमें स्वभावसिद्ध गुण है; लेकिन क्या राष्ट्र को तैयार करने का रास्ता श्रद्धा का ही है ? कुछ वक्त के लिए तो यह फ़ायदेमन्द हो सकता है, मगर अन्त में क्या होगा ?

और मैं यह नहीं समझ सका कि वह वर्त्तमान सामाजिक व्यवस्था को, जिसकी बुनियाद हिंसा और संघर्ष पर है, कैसे मंजूर कर लेते हैं, जैसाकि वह मंजूर करते हुए दीखते हैं ? मेरे अन्दर जोर से संघर्ष चलने लगा, और मैं दो प्रतिस्पर्द्धी निष्ठाओं की चक्की में पिसने लगा। मैंने जान लिया कि जब मैं जेल की चहारदीवारी से बाहर निकलूँगा, तब भविष्य में मेरे सामने मुसीबत ही खड़ी मिलेगी। मुझे प्रतीत होने लगा कि मैं अकेला और निराश्रय हूँ, और हिन्दुस्तान, जिसे मैंने प्यार किया और जिसके लिए मैंने इतना परिश्रम किया, मुझे एक पराया और हड़बड़ाहट में डालनेवाला देश मालूम होने लगा। क्या यह मेरा क़ुसूर था कि मैं अपने मुल्कवालों की स्पिरिट और विचार-प्रणाली से अपना मेल न बैठा सका ? मुझे मालूम हुआ कि अपने गहरे-से-गहरे साथियों के और मेरे बीच में एक अप्रत्यक्ष दीवार खड़ी हो गई है, और उसको पार करने में अपने-आपको असमर्थ पाकर मैं दुःखी हो गया और मन मसोस कर बैठ गया। उन सब पर मानों पुरानी दुनिया ने, पुरानी विचारधाराओ, पुरानी आशाओं और पुरानी इच्छाओं की दुनिया ने अपना आवरण डाल रक्खा था। नई दुनिया का निर्माण होना तो अभी बहुत दूर था।

दो लोकों के बीच भटकता,<br>
आश्रय की कुछ आश नहीं;<br>
मरी पड़ी है एक दूसरे में<br>
उठने की शक्ति नहीं।'

हिन्दुस्तान, सब बातों से ज्यादा, धार्मिक देश समझा जाता है, और हिन्दू और मुसलमान और सिख और दूसरे लोग अपने-अपने मतों का अभिमान रखते हैं, और एक-दूसरे के सिर फोड़कर उनकी सचाई का सुबूत देते हैं। हिन्दुस्तान में और दूसरे मुल्कों में मजहब के, और कम-से-कम मौजूदा रूप में संगठित मजहब के, दृश्य ने मुझे भयभीत कर दिया है, मैंने उसकी कई बार निन्दा की है, और उसको जड़-मूल से

१. मूल अंग्रेज़ी पद्य निम्नप्रकार है :—

"Wandering between two worlds, one dead,<br>
The other powerless to be born<br>
With nowhere yet to rest his head."

मिटा देने तक की ख्वाहिश की है। मुझे तो प्रायः-हमेशा यही मालूम हुआ कि अन्ध-विश्वास और प्रतिगामिता, जड़ सिद्धान्त और कट्टरपन, मिथ्या-विचार और शोषण और स्थापित स्वार्थों के संरक्षण का ही नाम मज़हब है। मगर यह भी मुझे अच्छी तरह मालूम है कि उसमें और भी कुछ है, उसमें कुछ ऐसी चीज भी है जो इन्सानों की गहरी आन्तरिक आकांक्षा को भी पूरा करती है। वरना उसका इतनी ज़बरदस्त ताक़त बनना जैसाकि वह बना हुआ है कैसे मुमकिन था, और उससे बेशुमार पीड़ित आत्माओं को शान्ति और विश्राम कैसे मिल सकते थे? क्या वह शान्ति सिर्फ़ अन्ध-विश्वास की छाया या शंका के अभाव का बहाना ही था? क्या वह वैसी ही शान्ति थी जैसी खुले समुद्र के तूफानो से बचकर किसी बन्दरगाह में मिलती है, या उससे कुछ ज्यादा थी? कुछ बातों मे तो सचमुच वह इससे कुछ ज्यादा ही थी।

लेकिन इसका भूतकाल कैसा भी रहा हो, आजकल का संगठित मज़हब तो ज्यादातर एक खाली ढोल ही रह गया है, जिसके अन्दर कोई तत्त्व नहीं है। श्री जी० के० चेस्टरटन ने इसके लिए ( अपने खास तरह के मज़हब के लिए नहीं, मगर दूसरों के लिए! ) भूगर्भ में पाये जानेवाले ऐसे 'फ़ॉसिल' की उपमा दी है, जो किसी ऐसे जानवर या सजीव वस्तु का सिर्फ़ ढाचामात्र है कि जिसके अन्दर से उसका अपना जीवित तत्त्व तो पूरी तरह से निकल चुका है, लेकिन जिसका ऊपरी पञ्जर रह गया है और जिसके अन्दर कोई बिलकुल दूसरी ही चीज़ भर दी गई है। और, अगर किसी मज़हब में कोई महत्वपूर्ण चीज़ रह भी गई है तो, उसपर और दूसरी हानिकर चीज़ों का आवरण चढ़ गया है।

मालूम होता है कि यही बात हमारे पूर्वी मज़हबों मे, और पश्चिमी मज़हबों में भी, हुई है। चर्च आफ़ इंग्लैण्ड एक ऐसे मज़हब की मिसाल है, जो किसी भी मानी मे मज़हब नही है। किसी हद तक, यही बात सारे संगठित प्रोटेस्टेण्ट मज़हबों के बारे में सही है; लेकिन इसमें सबसे आगे बढ़ा हुआ चर्च आफ़ इंग्लैण्ड ही है, क्योंकि वह बहुत अर्से से एक सरकारी राजनैतिक महकमा बन चुका है।[१]

१. हिन्दुस्तान में चर्च आफ़ इंग्लैण्ड तो प्रायः सरकार से अलग मालूम ही नहीं होता है। जिस तरह ऊंचे सरकारी मुलाज़िम साम्राज्यवादी सत्ता के प्रतीक हैं उसी तरह ( हिन्दुस्तान के खज़ाने से ) सरकार की तरफ़ से तनख्वाह पानेवाले पादरी और चेपलेन भी हैं। हिन्दुस्तान की राजनीति में चर्च कुल मिलाकर एक रूढ़िवादी और प्रतिगामी शक्ति रही है और आम तौर पर सुधार या प्रगति के विरुद्ध रही है। सामान्य ईसाई मिशनरी हिन्दुस्तान के पुराने इतिहास और संस्कृति से आम तौर पर बिलकुल

उसके बहुत-से अनुयायियों का चारित्र्य बेशक ऊँचे-से-ऊँचा है मगर यह मार्के की बात है कि किस तरह इस चर्च ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद की ग़रज़ को पूरा किया है, और पूँजीवाद और साम्राज्यवाद दोनों को किस तरह नैतिक और ईसाई जामा पहना दिया है। इस मज़हब ने एशिया और अफ्रीका में अंग्रेज़ों की लुटेरी नीति का समर्थन करने की कोशिश की है, और अंग्रेजों में एक ग़ैरमामूली और रश्क करने योग्य भावना भरदी है कि हम हमेशा ठीक ही और सही काम करते हैं। इस बड़प्पन-भरी सत्कार्य-भावना को इस चर्च ने पैदा किया है या वह खुद उससे पैदा हुई है, यह मैं नहीं जानता। यूरोपियन महाद्वीप के और अमेरिका के दूसरे देश, जो इंग्लैण्ड के बराबर खुश-नसीब नहीं हुए हैं, अक्सर कहते हैं कि अंग्रेज़ मक्कार हैं—'परफ़ाईड एलबियन' ना-वाक़िफ़ होते हैं और वे यह जानने की ज़रा भी तकलीफ़ नहीं उठाते कि वह कैसी थी या कैसी है। वे ग़ैरईसाइयों के पापों और कमज़ोरियों को दिखाते रहने में ज्यादा दिलचस्पी लेते हैं। बेशक, कई लोग इनमें बहुत ऊँचे अपवाद-रूप हुए हैं। चार्ली एण्डरूज़ से बढ़कर हिन्दुस्तान का दूसरा सच्चा दोस्त नहीं हुआ, जिनमें प्रेम और सेवा की भावना और उमड़ती हुई मैत्री खूब लबालब भरी हुई है। पूना के क्राइस्ट सेवा संघ में भी कुछ अच्छे अंग्रेज़ हैं जिनके मज़हब ने उन्हें दूसरों को समझना और उनकी सेवा करना, न कि अपना बड़प्पन दिखाना, सिखलाया है और जो अपनी सारी बड़ी-बड़ी योग्यताओं के साथ हिन्दुस्तान की जनता की सेवा में लग गये हैं। दूसरे भी कई अंग्रेज़ पादरी हुए हैं, जिनको हिन्दुस्तान याद करता है।

१२ दिसंबर १९३४ को लार्ड-सभा में बोलते हुए केण्टरबरी के धर्माध्यक्ष ने १९१९ के माण्टेगु चेम्सफ़ोर्ड-सुधारों की प्रस्तावना का जिक्र करते हुए कहा था कि "कभी-कभी मुझे ख़याल आता है कि यह बड़ी घोषणा कुछ जल्दबाज़ी से कर दी गई है, और मेरा अनुमान है कि महायुद्ध के बाद एक उतावलेपन का और उदारता-पूर्ण प्रदर्शन कर दिया गया है, लेकिन जो ध्येय निश्चित कर दिया गया है उसे वापस नहीं लिया जा सकता।" यह ग़ौर करने लायक़ बात है कि इंग्लिश चर्च का धर्माध्यक्ष हिन्दुस्तान की राजनीति के बारे में ऐसा अनुदार दृष्टिकोण रखता है। जो चीज़ भारतीय लोकमत के अनुसार बिलकुल ही नाकाफ़ी समझी गई, और इसी कारण जिसके लिए असहयोग और बाद की तमाम घटनायें हुईं, उसको धर्माध्यक्ष साहब 'उतावलेपन का और उदारतापूर्ण' प्रदर्शन कहते हैं। इंग्लैण्ड के शासकवर्ग के दृष्टिकोण से यह एक सन्तोष-प्रद सिद्धान्त है, और इसमें शक नहीं कि अपनी उदारता के सम्बन्ध में उनका यह विश्वास, जो कि अविवेक की हद तक पहुँच जाता है, उनके अन्दर सन्तोष की एक सात्विक ज्योति पैदा किये बिना न रहता होगा।

यह एक पुराना ताना है। लेकिन शायद यह इलज़ाम तो अंग्रेज़ों की कामयाबी पर हसद के सबब से लगाया जाता है, और निश्चय ही कोई दूसरे मुल्क भी इंग्लैण्ड के दोष नहीं निकाल सकते, क्योंकि उनके भी कारनामे इतने ही खराब हैं। जो राष्ट्र जानता हुआ भी मक्कारी करता है, उसके पास हमेशा इतना शक्ति-संग्रह नहीं रह सकता, जैसा कि अंग्रेज़ों ने बार-बार दिखलाया है; और इसमें उसके खास तरह के 'मज़हब' ने जहाँ अपना स्वार्थ सधता हो वहाँ नीति-अनीति की चिन्ता करने की भावना को भोंथरा करके उसे मदद दी है। दूसरी जातियों और राष्ट्रों ने अक्सर अंग्रेज़ों से भी बहुत खराब काम किये है, लेकिन अंग्रेज़ों की बराबर वे अपनी स्वार्थ-साधना को गुण बनाने मे कामयाब नही हुए हैं। हम सभीके लिए यह बहुत आसान है कि हम दूसरों के तिल के बराबर दोष को ताड़ के बराबर बना दें, लेकिन शायद इस करतब में भी अंग्रेज़ ही सबसे ज्यादा बढ़कर है।[१]

प्रोटेस्टेण्ट-मत ने नई परिस्थिति के मुताबिक़ बन जाने की कोशिश की, और दोनों दुनिया का ही ज्यादा-से-ज्यादा फ़ायदा उठाना चाहा। जहाँतक इस दुनिया का ताल्लुक था वहाँतक तो वह खूब ही कामयाब हुआ, लेकिन मज़हब की दृष्टि से वह संगठित मज़हब के रूप में न घर का रहा न घाट का। और धीरे-धीरे मज़हब की जगह भावुकता और व्यवसाय आ गया। रोमन केथोलिक मत इस नतीजे से बच गया। क्योंकि वह पुरानी जड़ को ही पकड़े रहा, और जबतक वह जड़ क़ायम रहेगी तबतक वह भी फलता-फूलता रहेगा। पश्चिम में आज वही एक अपने सीमित अर्थ में जिन्दा मज़हब है। एक रोमन केथोलिक दोस्त ने जेल में मेरे पास केथोलिक-मत पर कई पुस्तकें और धार्मिक पत्र भेज दिये थे, और मैंने उन्हें बड़ी दिलचस्पी से पढ़ा था। उन्हें पढ़ने पर मुझे लगा कि अब भी बहुत लोगों पर उसका बड़ा प्रभाव है। इस्लाम और प्रचलित हिन्दू-धर्म की तरह ही उससे भी सन्देह और मानसिक द्वन्द्व से राहत

१. चर्च आफ़ इंग्लैण्ड हिन्दुस्तान की राजनीति पर किस तरह अपना अप्रत्यक्ष असर डालता है, इसकी हाल ही में एक मिसाल मेरे देखने में आई है। ७ नवम्बर १९३४ को कानपुर में युक्तप्रान्तीय हिन्दुस्तानी ईसाई कान्फ्रेन्स में स्वागताध्यक्ष श्री ई० डी० डेविड ने कहा था कि "ईसाई की हैसियत से, हमारा यह धार्मिक कर्तव्य है कि हम सम्राट् के राजभक्त रहें, जो कि हमारे 'धर्म के संरक्षक' हैं।" लाज़िमी तौर पर इसका मतलब है हिन्दुस्तान में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का समर्थन। श्री डेविड ने आई० सी० एस०, पुलिस और सारे प्रस्तावित विधान के बारे में, जिससे उनके विचारानुसार हिन्दुस्तान के ईसाई मिशन खतरे में पड़ सकते हैं, इंग्लैण्ड के 'कट्टर' अनुदार लोगों की राय के साथ भी अपनी सहानुभूति ज़ाहिर की थी।

मिल जाती है और भविष्य के जीवन के बारे में एक आश्वासन मिल जाता है, जिससे इस जीवन की कसर पूरी हो जाती है।

मगर, मेरा ख़याल है कि, इस तरह की सुरक्षितता चाहना मेरे लिए तो नामुमकिन है। मैं तो खुले समुद्र को ही ज्यादा चाहता हूँ, जिसमें चाहे जितनी आँधियाँ और तूफान हों; न मुझे पर-लोक की या मौत के बाद क्या होता है इसके बारे में मुझे कोई दिलचस्पी नहीं है। इस जीवन की समस्यायें ही मेरे दिमाग़ को भर देने के लिए काफ़ी मालूम होती हैं। चीनियों की परम्परागत जीवन-दृष्टि, जो कि मूलतः नैतिक है लेकिन फिर भी ग़ैर-मज़हबी या नास्तिकता का रंग लिये हुए है, मुझे पसन्द आती है, हालाँकि जिस तरह वह अमल में लाई जा रही है वह मुझे पसन्द नहीं है। मुझे तो 'ताओ' यानी मार्ग या जीवन के पथ में दिलचस्पी है; मैं चाहता हूँ कि जीवन को समझा जाय, उसका त्याग नहीं बल्कि उसको अंगीकार किया जाय, उसके अनुसार चला जाय, और उसको उन्नत बनाया जाय। मगर आम मज़हबी दृष्टिकोण इस दुनिया से ताल्लुक़ नहीं रखता। मुझे वह स्पष्ट विचार का दुश्मन मालूम होता है, क्योंकि उसकी बुनियाद सिर्फ़ कुछ स्थिर और अपरिवर्तनीय मतों और सिद्धान्तों को बिना चूँ-चपड़ किये स्वीकार कर लेने पर ही नहीं है, बल्कि वह मानसिक प्रवृत्ति, भावना और भावुकता पर भी आधारित है। वह, मैं जिन्हें आध्यात्मिकता और आत्मा-सम्बन्धी बातें समझता हूँ, उनसे बहुत दूर है, और वह, जान-बूझकर या अनजान में इस डर से कि शायद असलियत पूर्व-निर्धारित विचारों से मेल न खाय, असलियत से भी आँखें बन्द कर लेता है। वह संकुचित है, और दूसरी तरह की रायों या ख़यालात को बरदाश्त नहीं करता। वह आत्म-मर्यादित और अहंकारपूर्ण है, और अक्सर ख़ुदगर्ज़ों और मौक़ा-परस्तों को अपनेसे बेजा फ़ायदा उठाने देता है।

इसके मानी यह नहीं है कि मज़हब को माननेवाले अक्सर ऊँचे-से-ऊँचे नैतिक और रूहानी ढंग के लोग नहीं हुए हैं, या अभी भी नहीं हैं। लेकिन इसके यह मानी ज़रूर हैं कि अगर नैतिकता और आध्यात्मिकता को दूसरी दुनिया के पैमाने से न नापकर इसी दुनिया के पैमाने से नापना हो तो मज़हबी दृष्टिकोण अवश्य ही राष्ट्रों की नैतिक और आध्यात्मिक प्रगति में सहायता नहीं देता बल्कि बाधा तक डालता है। आम तौर पर, मज़हब ईश्वर या परमतत्त्व की अ-सामाजिक या व्यक्तिगत खोज का विषय बन जाता है, और मज़हबी आदमी समाज की भलाई की बनिस्बत अपने-आपकी मुक्ति की ज्यादा फ़िक्र करने लगता है। रहस्यवादी अपने अहंकार से छुटकारा पाने की कोशिश करता है, और इस कोशिश में अक्सर अहंकार की ही बीमारी उसके पीछे लग जाती है। नैतिक पैमानों का ताल्लुक़ समाज की ज़रूरतों से नहीं रहता,

लेकिन उनका आधार पाप के निहायत गूढ़ आध्यात्मिक उसूलों पर हो जाता है। और, संगठित मज़हब तो हमेशा स्थापित स्वार्थ ही बन जाता है, और इस तरह लाज़िमी तौर पर परिवर्तन और प्रगति के लिए एक विरोधी प्रतिगामी शक्ति बनता है।

यह सुप्रसिद्ध है कि शुरू के दिनों में ईसाई मज़हब ने ग़ुलाम लोगों को अपना सामाजिक दर्जा सुधारने में मदद नहीं दी थी। ये ग़ुलाम ही योरप के मध्यकालीन युग में, आर्थिक परिस्थितियों के कारण, भू-स्वामियों के क्रीत-दास बन गये। मज़हब का रुख़, दो सौ वर्ष पहले तक (१७२७ में), क्या था, यह अमेरिका के दक्षिणी उपनिवेशों के दास-स्वामियों को लिखे हुए बिशप आफ लन्दन के एक पत्र पर से मालूम पड़ सकता है![1]

बिशप ने लिखा था कि, "ईसाई-धर्म और बाइबिल को मान लेने से नागरिक सम्पत्ति या नागरिक सम्बन्धों से उत्पन्न हुए कर्त्तव्यों में ज़रा भी तबदीली नहीं आती; मगर इन मामलों में 'व्यक्ति' उसी 'अवस्था' में रहते हैं जिस अवस्था में वे पहले थे। ईसाई-धर्म जो मुक्ति देता है, वह मुक्ति 'पाप' और 'शैतान के बन्धन से' और मनुष्यों के 'काम', 'क्रोध' और तीव्र 'वासना' के प्रदेश से है। मगर, उनकी बाहरी हालत बपतिस्मा दिये जाने और ईसाई बनाने से पहले जैसी ग़ुलाम या आज़ाद थी उसमें वह किसी भी तरह की तवदीली नहीं करता।"

आज कोई भी संगठित मज़हब इतने साफ़ ढंग से अपने ख़यालात ज़ाहिर न करेगा, लेकिन मिल्कियत और मौजूदा समाज-व्यवस्था की तरफ उसका रुख़ मुख्यतः यही होगा।

यह सभी जानते हैं कि शब्द तो अर्थ-बोध कराने के बहुत ही अपूर्ण साधन हैं, और उनका भाव अक्सर बहुत जुदा-जुदा समझा जाता है। किसी भी भाषा में भिन्न-भिन्न लोग किसी भी दूसरे शब्द का इतना भिन्न-भिन्न भावार्थ नहीं समझते जितना कि मजहब का (या उन भिन्न-भिन्न भाषाओं में इसके समान किसी शब्द का)। 'मजहब' शब्द को पढ़ने या सुनने से शायद किन्हीं भी दो मनुष्यों के मन में एक-से ही विचार या भाव-समूह पैदा नहीं होंगे। इन विचारों या भावों में, रिवाजों या रस्मों के, धर्म-ग्रन्थों के, मनुष्यों के एक समुदाय-विशेष के, कुछ निश्चित सिद्धान्तों के और नीति-नियमों, आदर, प्रेम, भय, घृणा, दान, त्याग, वैराग्य, उपवास, भोज, प्रार्थना,

**१. यह पत्र रेनहोल्ड नेबुहर की लिखी हुई पुस्तक 'मॉरल मैन एण्ड इम्मॉरल सोसाइटी' (पृष्ठ ७८) में दिया हुआ है। यह किताब बड़ी ही दिलचस्प और विचार-प्रेरक है।**

पुराने इतिहास, शादी ग़मी, परलोक, दंगों और सिर-फुटौवल, इत्यादि अनेक बातों के विचार और भाव शामिल हैं। इन असंख्य प्रकार के ख़यालों और अर्थों के कारण दिमाग़ में ज़बरदस्त गड़बड़ी तो पैदा हो ही जायगी, लेकिन हमेशा एक तेज़ भावुकता भी उमड़ पड़ेगी, जिससे अलिप्त और अनासक्त रूप से विचार करना नामुमकिन हो जायगा। 'मज़हब' शब्द का ठीक और निश्चित अर्थ ( अगर कभी था, तो ) अब बिलकुल नहीं रहा है, और जब अक्सर बिलकुल ही भिन्न-भिन्न अर्थों में उसका इस्तैमाल होता है तब तो वह सिर्फ़ गड़बड़ी ही उत्पन्न करता है और उससे बहस और बातचीत का कभी ख़ात्मा ही नहीं हो सकता। बहुत ज्यादा अच्छा यह हो कि इस शब्द का इस्तैमाल ही क़तई छोड़ दिया जाय, और उसके बजाय ज्यादा महदूद मानी रखनेवाले लफ्ज़ इस्तैमाल किये जायँ; जैसे ईश्वर-विज्ञान, दर्शन-विज्ञान, नीति नियम, नीति-शास्त्र, आत्म-वाद, आध्यात्मिक-शास्त्र, कर्तव्य, लोकाचार वग़ैरा। यों तो ये शब्द भी काफ़ी अस्पष्ट हैं, लेकिन ये 'मज़हब' की बनिस्बत बहुत परिमित अर्थ रखते हैं। इनमें यह बड़ी सहूलियत है कि अभीतक इन शब्दों के साथ उतनी भावुकता और भावना नहीं लग पाई है जितनी कि 'मज़हब' के साथ लग चुकी है।

तो, मज़हब ( इस लफ्ज की ज़ाहिरा हानियों के बावजूद इसीका इस्तैमाल करें, तो ) क्या चीज़ है ? शायद वह है व्यक्ति की आन्तरिक उन्नति और एक ख़ास दिशा में, जो अच्छी समझी जाती है, उसकी चेतना का विकास। वह दिशा कौन-सी होनी चाहिए यह भी एक विवाद-ग्रस्त विषय ही होगा। लेकिन जहाँतक मै समझता हूँ, मज़हब इसी आन्तरिक परिवर्तन पर ज़ोर देता है, और बाहरी परिवर्तन को इस भीतरी विकास का ही एक अंग या रूप मानता है। इसमें शक नहीं हो सकता कि इस आन्तरिक उन्नति का बाहरी हालत पर बड़ा ज़बरदस्त असर पड़ता है। मगर, इसके साथ ही यह भी ज़ाहिर है कि बाहरी हालत का आन्तरिक प्रगति पर भी भारी असर पड़ता है। दोनों का एक-दूसरे पर प्रभाव पड़ता है और प्रतिक्रिया भी होती रहती है। यह सब जानते हैं कि पश्चिम के आधुनिक औद्योगिक देशों में आन्तरिक विकास से बाहरी विकास बहुत ज्यादा हुआ है, लेकिन इससे यह नतीजा नहीं निकलता, जैसा कि पूर्वीय देशों के कई लोग शायद ख़याल करते हैं, कि चूँकि हम कल-कारख़ानों में पीछे हैं और हमारा बाहरी विकास धीमा रहा है, इसलिए हमारा आन्तरिक विकास उनसे ज्यादा हो गया है। यह एक मिथ्या-विचार है जिससे हम अपनेको तसल्ली दे लेते हैं, और अपने छोटे-पन की भावना पर हावी होने की कोशिश करते हैं। यह हो सकता है कि कुछ व्यक्ति अपनी परिस्थिति और हालतों से ऊपर

उठ सकें, और ऊँचे आन्तरिक विकास पर पहुँच सकें। लेकिन बहुत लोगों और राष्ट्रों के लिए तो, आन्तरिक विकास होने से पहले, किसी हद तक बाहरी विकास के होने की जरूरत है। जो आदमी आर्थिक परिस्थितियों का शिकार है, और जो जीवन-संघर्ष की बंदिशों और रुकावटों से घिरा हुआ है, वह शायद ही किसी ऊँचे दरजे की आत्म-चेतनता प्राप्त कर सके। जो वर्ग पददलित और शोषित होता है, वह आन्तरिक रूप से कभी प्रगति नहीं कर सकता। जो राष्ट्र राजनैतिक और आर्थिक रूप से दूसरे के पराधीन है और बन्धनों में पड़ा परिस्थितियों से मजबूर और शोषित हो रहा है, वह कभी आन्तरिक उन्नति में कामयाब नहीं हो सकता। इस तरह आन्तरिक उन्नति के लिए भी बाहरी आज़ादी और अनुकूल परिस्थिति की ज़रूरत होती है। इस बाहरी आज़ादी के हासिल करने, और परिस्थिति को इस तरह बदलने के लिए कि जिससे आन्तरिक प्रगति की सब रुकावटें हट जायँ, यह वाञ्छनीय है कि साधन ऐसे इस्तैमाल किये जायँ जिनसे असली उद्देश्य ही न नष्ट हो जाय। मैं समझता हूँ कि जब गांधीजी कहते हैं कि उद्देश्य से साधन ज्यादा महत्त्वपूर्ण है, तो उनका भाव कुछ ऐसा ही प्रतीत होता है। मगर साधन ऐसे ज़रूर होने चाहिएं जो कि उस उद्देश्य तक पहुँचा दें, नहीं तो उनसे सारी शक्ति ही बरबाद होगी, और उससे शायद भीतरी और बाहरी दोनों तरह का पतन ही ज्यादा होगा।

गांधीजी ने कहीं लिखा है कि—"कोई भी आदमी धर्म के बग़ैर ज़िन्दा नहीं रह सकता। कुछ ऐसे लोग हैं जो अपनी अक़्ल की शेख़ी में कहते हैं कि हमें धर्म से कोई ताल्लुक़ नहीं है। मगर यह ऐसी बात हुई कि कोई आदमी सांस तो लेता हो लेकिन कहता हो कि मेरे नाक नहीं है।" फिर वह कहते हैं—"सत्य के प्रति मेरी लगन ने मुझे राजनीति के मैदान में ला खींचा है। और मैं बग़ैर किसी हिचकिचाहट के, लेकिन पूरी नम्रता के साथ, कह सकता हूँ, कि वे लोग जो यह कहते हैं कि धर्म का राजनीति से कोई ताल्लुक़ नहीं है, यह समझते ही नहीं कि धर्म का क्या अर्थ है।" शायद अगर वह ऐसा कहते कि, ज्यादातर वे लोग जो जीवन और राजनीति में से मज़हब को निकाल डालना चाहते हैं 'मज़हब' शब्द से उसके अर्थ से बहुत भिन्न कोई दूसरा अर्थ निकालते हैं, तो यह ज्यादा सही होता। यह साफ़ ज़ाहिर है कि वह 'मज़हब' शब्द को उसके समालोचकों की बनिस्बत बहुत भिन्न भाव में—शायद और किसी अर्थ की अपेक्षा नैतिक अर्थ में अधिक—ग्रहण कर रहे हैं। एक ही शब्द को भिन्न-भिन्न अर्थों में इस तरह इस्तैमाल करने से एक-दूसरे को समझना और भी मुश्किल हो जाता है।

मज़हब की एक और बहुत ही आधुनिक परिभाषा, जिससे कि मज़हबी लोग

सहमत न होंगे, प्रोफ़ेसर जॉन डेवी ने की है। उनकी राय में मज़हब "वह चीज़ है जो जीवन या अस्तित्व के एक-एक करके और बदलते रहनेवाले प्रसंगों या घटनाओं को समझने की शुद्ध दृष्टि देता है"; या दूसरी तरह से कहें तो, "जो प्रवृत्ति उसके व्यापक और स्थायी महत्त्व के विश्वास के कारण बाधाओं के विरोध में भी और व्यक्तिगत नुक़सान होने की आशंका होने पर भी एक आदर्श लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जारी रक्खी जाती है, वह धार्मिक स्वरूप की है।" अगर मजहब यही चीज़ है, तब तो निश्चय ही उसपर किसीको भी ऐतराज़ नहीं हो सकता।

रोम्याँ रोलाँ ने भी मज़हब का ऐसा मतलब निकाला है जिससे शायद संगठित मज़हब के कट्टर लोग ख़ौफ़ खा जायँगे। परमहंस 'रामकृष्ण के जीवनचरित्र' में वह लिखते है :—

"......बहुत-से व्यक्ति ऐसे है जो सभी तरह के मज़हबी विश्वास से बरी हैं, या उनका खयाल है कि वे बरी है, लेकिन दर-असल वे एक अति-बौद्धिक चेतना की हालत में डूबे रहते है, जिसे वे समाजवाद, कम्यूनिज्म, जीव-दया-वाद, राष्ट्रीयता, या बुद्धिवाद भी कहते है। विचार की वस्तु से नही, किन्तु विचार की उच्चता या गुण से उसका उद्गम निश्चित होता है। और हम यह तय कर सकते हैं कि वह मज़हब से उत्पन्न होता है या नहीं। अगर वह विचार हर तरह की मुसीबत सहकर, एकनिष्ठ लगन और हर तरह के बलिदान की तैयारी के साथ, सत्य की खोज की तरफ़ निर्भयता-पूर्वक जाता है, तो मैं उसे मज़हबी ही कहूँगा। क्योंकि, मज़हब के अन्दर यह विश्वास शामिल ही है कि इन्सानी कोशिश का उद्देश्य मौजूदा समाज के जीवन से ऊँचा, और सारे मानव-समाज के जीवन से भी ऊँचा है। नास्तिकता भी, जब वह सोलहों आना सच्ची बलवती प्रकृतियों से निकलती है, और जब वह कमज़ोरी का नहीं बल्कि ताक़त का एक मूर्तरूप होती है, तो वह भी धार्मिक आत्मा की महान् सेना के मार्च में शामिल हो जाती है।"

मैं नहीं कह सकता कि मैं रोम्याँ रोलाँ की इन शर्तों को पूरा करता ही हूँ, लेकिन इन शर्तों पर तो इस महान् सेना का एक नम्र अनुयायी बनने को मैं तैयार हूँ।

# ४८

## ब्रिटिश सरकार की 'दो-रुख़ी नीति'

यरवडा-जेल से, और बाद में बाहर से, गांधीजी के नेतृत्व में हरिजन-आन्दोलन चल रहा था। मन्दिर-प्रवेश की अड़चनें दूर करने के लिए बड़ा भारी आन्दोलन खड़ा हो गया था, और इसी उद्देश्य का एक बिल असेम्बली में भी पेश किया गया था। और फिर एक अनोखा दृश्य दिखाई दिया कि कांग्रेस के एक बड़े नेता दिल्ली में असेम्बली के मेम्बरों के घर-घर जाकर मन्दिर-प्रवेश-बिल के पक्ष में रायें माँग रहे थे। खुद गांधीजी ने भी उनके ज़रिये असेम्बली के मेम्बरों के नाम एक अपील भेजी थी। फिर भी सविनय भंग तो चल ही रहा था और लोग जेल जा रहे थे, कांग्रेस ने असेम्बली का बहिष्कार कर रक्खा था और हमारे मेम्बर उसमें से निकलकर चले आये थे। जो मेम्बर वहाँ बच गये, और वे लोग जो ख़ाली हुई जगहों में चुनकर आ गये थे, उन्होंने इस संकट-काल में कांग्रेस की मुख़ालिफ़त करके और सरकार का साथ देकर नाम कमा लिया था। आर्डिनेन्सों की असाधारण धाराओं को कुछ काल के लिए स्थायी दमनकारी क़ानून की शक्ल में पास कर देने में इन लोगों के बहुमत ने सरकार को मदद दी थी। उन्होंने ओटावा का समझौता मंजूर कर लिया था; और दिल्ली, शिमला और लन्दन में बड़े प्रभुओं के साथ दावतें उड़ाई थीं। वे हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ों की हुकूमत की प्रशंसा करने में शामिल हो गये थे, और हिन्दुस्तान में 'दो-रुख़ी' नामक नीति की कामयाबी की प्रार्थना करते थे।

उस समय की परिस्थिति में गांधीजी के अपील निकालने से मैं हैरत में पड़ गया। और इससे भी ज्यादा मैं राजगोपालाचार्य की भारी कोशिशों से चकित हुआ, जो कि कुछ ही हफ्ते पहले कांग्रेस के स्थानापन्न प्रेसीडेण्ट थे। निश्चय ही इन कामों से सविनय भंग को नुक़सान पहुँचा, लेकिन मुझे तो इसके नैतिक पहलू से ज्यादा चोट पहुँची। मेरी निगाह में गांधीजी या किसी भी कांग्रेस के नेता का ऐसी कार्रवाई करना अनैतिक था, और जो बहुसंख्यक लोग जेल में थे या लड़ाई चला रहे थे, उनके साथ क़रीब-क़रीब विश्वासघात ही था। लेकिन मैं जानता था कि उनका दृष्टिकोण दूसरा है।

उस वक़्त और बाद में मन्दिर-प्रवेश बिल की तरफ़ सरकार का रुख़ आंखें खोल देनेवाला था। उसने उसके समर्थकों के रास्ते में हर तरह की कठिनाइयाँ डालीं। वह उसको मुल्तवी करती चली गई, और उसके विरोधियों को प्रोत्साहन देती गई,

और अख़ीर में उसपर अपना विरोध ज़ाहिर करके उसका ख़ात्मा कर दिया। हिन्दुस्तान में सामाजिक सुधार की सभी कोशिशों की तरफ़ किसी-न-किसी हद तक उसका यही रुख़ रहा है, और मज़हब में दख़ल न देने के बहाने उसने सामाजिक उन्नति को रोका है। मगर यह कहने की ज़रूरत नहीं कि इससे वह हमारी सामाजिक बुराइयों की नुक़्ताचीनी करने या इसके लिए दूसरों को प्रोत्साहित करने से बाज़ नहीं आई। एक इत्तफ़ाक से ही शारदा का बाल-विवाह-निरोधक बिल क़ानून बन गया था, लेकिन इस बदक़िस्मत क़ानून के बाद के इतिहास से ही सबसे ज्यादा यह ज़ाहिर हो गया कि इस तरह के क़ानूनों की पाबन्दी कराने में सरकार कितनी अनिच्छा रखती है। जो सरकार रातों-रात आर्डिनेन्स पैदा कर सकती थी, जिनमें अजीब-अजीब अपराध ईजाद किये गये और जिनमें एक के क़ुसूरों के लिए दूसरों को सज़ायें दी जा सकती थीं और जिनके भंग करने के कारण वह हज़ारों लोगों को जेल भेज सकती थी, वही सरकार शारदा एक्ट सरीखे अपने नियमित क़ानून की पाबन्दी कराने के ख़याल से स्पष्टतः दुबकने लगी। इस क़ानून का नतीजा पहले तो यह हुआ कि वह जिस बुराई की रोक के लिए बनाया गया था वही बुराई बेहद बढ़ गई। क्योंकि लोगों ने छः महीने की मिली हुई मोहलत से, जो कि क़ानून में बहुत ही बेवक़ूफ़ी से रख दी गई थी, फ़ायदा उठाने की एकदम जल्दी की। और फिर यह मालूम हो गया कि क़ानून तो बहुत कुछ एक मज़ाक़ ही है, और आसानी से उसका भंग हो सकता है और सरकार उसमें कोई भी कार्रवाई न करेगी। सरकार की तरफ़ से उसके प्रचार की ज़रा भी कोशिश नहीं की गई, और देहात के ज्यादातर लोगों को यह भी पता न लगा कि यह क़ानून क्या है। उन्होंने हिन्दू और मुसलमान प्रचारकों से, जो ख़ुद भी सही वाक़यात शायद ही जानते हों, उसका तोड़ा-मरोड़ा हुआ हाल सुना।

ज़ाहिर है कि हिन्दुस्तान में सामाजिक बुराइयों के प्रति ब्रिटिश सरकार ने सहिष्णुता की यह जो असाधारण वृत्ति दिखाई है, वह उन बुराइयों के लिए किसी पक्षपात के कारण नहीं है। यह तो सही है कि वह इनको दूर करने की ज्यादा परवा नहीं करती, क्योंकि ये बुराइयाँ उनके हिन्दुस्तान पर हुकूमत करने और उसका सब तरह शोषण करने के कार्य में रुकावट नहीं डालतीं। लेकिन सुधारों की योजना करने से भिन्न-भिन्न समुदाय के नाराज़ हो जाने का भी डर रहता है, और राजनैतिक क्षेत्र में काफ़ी रोष और क्रोध का सामना होते रहने के कारण ब्रिटिश सरकार की यह इच्छा नहीं है कि वह अपनी मुसीबतों को और बढ़ाले। मगर इन पिछले दिनों से समाज-सुधारकों की दृष्टि से स्थिति और भी ख़राब होती जा रही है, क्योंकि अंग्रेज़ लोग इन बुराइयों के ज्यादा-ज्यादा मौन आश्रयदाता होते जा रहे हैं। यह उनके हिन्दुस्तान

के सबसे प्रतिगामी लोगों के गहरे सम्बन्ध में आने के कारण हो रहा है । ज्यों-ज्यों उनकी हुकूमत के प्रति मुख़ालिफ़त बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों उन्हें अजीब-अजीब साथी ढूंढने पड़ते है । आज हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी हुकूमत के सबसे ज़बरदस्त हिमायती उग्र सम्प्रदायवादी और मज़हबी प्रतिगामी और जागृति-विरोधी लोग हैं । मुस्लिम साम्प्रदायिक संगठन तो राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, हर दृष्टि से प्रतिगामी मशहूर ही हैं । उसका मुक़ाबिला हिन्दू-महासभा करती है; लेकिन मुसलमानों को भी इस पीछे जाने की दौड़ में मात करनेवाले सनातनी हैं, जिनमें मजहबी दकियानूसीपन बहुत तेज़ है, और उसके साथ-ही-साथ दमकती हुई या कम-से-कम बुलन्द आवाज़ से चिल्लाई जाने वाली ब्रिटिश-राजभक्ति भी है ।

अगर ब्रिटिश-सरकार सुस्त थी, और उसने शारदा-क़ानून का प्रचार करने और उसकी पाबन्दी कराने की कोई कार्रवाई न की, तो कांग्रेस या दूसरी ग़ैरसरकारी संस्थाओं ने उसके पक्ष में प्रचार क्यों नहीं किया ? अंग्रेज़ और दूसरे समालोचकों ने अक्सर यह सवाल किया है । जहाँतक कांग्रेस का ताल्लुक़ है, वह तो पिछले पंद्रह साल से, ख़ासकर १९३० से , ब्रिटिश हुकूमत से राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए जीवन-मरण की भीषण लड़ाई लड़ रही है । दूसरी संस्थाओं में असली ताक़त या जनता तक पहुँच नहीं है । आदर्श और चरित्रबल और जनता पर असर रखनेवाले स्त्री-पुरुष तो कांग्रेस में आ गये थे, और ब्रिटिश जेलख़ानों में जीवन बिता रहे थे ।

दूसरी संस्थायें कुछ चुने हुए लोगों द्वारा, जो जनता के सम्पर्क से डरते थे, प्रस्ताव पास कर देने से आगे प्रायः नहीं बढ़ीं । वे शरीफ़ाना तरीक़े से, या अखिल-भारतीय महिला-संघ की तरह ज़नाने तरीक़े से ही, काम करती थीं, और उनमें आक्रामक प्रचार की वृत्ति नहीं थी । इसके अलावा, वे भी आर्डिनेन्सों और उनके बाद के क़ानूनों द्वारा सब तरह की सार्वजनिक प्रवृत्तियों के भयंकर दमन से कुछ भी नही कर सकती थीं । फ़ौजी क़ानून क्रान्तिकारी प्रवृत्ति को कुचल सकता है, लेकिन उसके साथ ही वह सभ्यता को और निहायत सभ्य प्रवृत्तियों को भी निर्जीव-सा कर देता है ।

मगर कांग्रेस और दूसरे ग़ैर-सरकारी संगठन क्यों ज्यादा सामाजिक सुधार नही कर सकते, इसका असली सबब और भी गहरा है । हमारे अन्दर राष्ट्रीयता की बीमारी हो गई है, और उसीपर हमारा सारा ध्यान लग जाता है, और जबतक हमें राजनैतिक आज़ादी न मिलेगी तबतक वह उसीमें लगता भी रहेगा । जैसा कि बर्नार्ड शॉ ने कहा है—"पराजित राष्ट्र नासूर के बीमार की तरह होता है; वह और किसी बात का ख़याल नहीं कर सकता......। वास्तव में किसी भी राष्ट्र में राष्ट्रीय आन्दोलन से बढ़कर कोई अभिशाप नहीं होता, जोकि दबाई हुई प्राकृतिक क्रिया का

एक दुःखदायी लक्षण मात्र होता है। पराजित राष्ट्र दुनिया की दौड़ में अपना स्थान खो बैठते है, क्योंकि वे इसके सिवा और कुछ नहीं कर सकते कि अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को प्राप्त करके अपने राष्ट्रीय आन्दोलनों से छुटकारा पाने की कोशिश करें।"

पिछला तजुर्बा भी हमें बताता है कि मौजूदा हालतों में चुने हुए मिनिस्टरों के हाथ में ज़ाहिरा तौर पर कुछ महकमों के बदल दिये जाने के बावजूद प्रायः हम कुछ भी सामाजिक प्रगति नहीं कर सकते। सरकार की ज़बरदस्त अकर्मण्यता रूढ़ि-प्रेमियो के लिए हमेशा मददगार होती है, और पिछली पीढ़ियों से ब्रिटिश सरकार ने लोगों की ख़ुद काम करने की आदत को कुचल दिया है, और वह एक तंत्री ढंग से, या जैसा कि वह अपने-आप कहती है, मां-बाप की तरह से हुकूमत करती है। ग़ैर-सरकारी व्यक्तियों द्वारा किसी भी बड़े काम का किया जाना वह पसन्द नहीं करती, और उसमें छिपे इरादों का शक करती है। हरिजन-आन्दोलन के संगठनकर्त्ताओं ने हालाँकि हर तरह एहतियात से काम लिया है, लेकिन फिर भी वे वक्तन-फ़वक्तन सरकारी कर्मचारियों के संघर्ष में आ ही गये है। मुझे यक़ीन है कि अगर कांग्रेस साबुन ज्यादा इस्तैमाल करने का राष्ट्र-व्यापी आन्दोलन उठाये, तो वह भी कई जगहो पर सरकार के संघर्ष में आ जायगा।

मेरा ख़याल है कि अगर शासन सामाजिक सुधार के मामले को हाथ में लेले, तो जनता को उसके माफ़िक़ बना लेना मुश्किल नहीं है। मगर विदेशी हाकिमों पर हमेशा ही शक किया जाता है, और दूसरों को अपनी राय का बनाने में वे ज्यादा कामयाब नही हो सकते। अगर विदेशी तत्त्व दूर कर दिया जाय, और आर्थिक परिवर्तन पहले कर दिये जायें, तो एक उत्साही और क्रियाशील शासन आसानी से बड़े-बड़े सामाजिक सुधार जारी कर सकता है।

मगर जेल में हमारे दिमाग़ों में सामाजिक सुधार और शारदा-क़ानून और हरिजन-आन्दोलन के ही विचार नहीं भरे हुए थे, सिवा इस हद तक कि मैं हरिजन-आन्दोलन के सविनय भंग के रास्ते में आ जाने के कारण उससे कुछ चिढ़ गया था। मई १९३३ के शुरू में सविनय भंग छः हफ्तों के लिए मुल्तवी कर दिया गया था, और आगे क्या होता है यह देखने की उत्सुकता में हम रहे। इस मुल्तवी होने से तो आन्दोलन पर आख़िरी प्रहार ही हो गया, क्योंकि राष्ट्रीय लड़ाई के साथ उठक-बैठक का खेल नहीं खेला जा सकता, न वह जब मर्ज़ी आवे तब चालू और जब मर्ज़ी आवे तब बन्द की जा सकती है। मुल्तवी होने से पहले भी आन्दोलन के नेतृत्व में बहुत ही कमज़ोरी और प्रभावहीनता आ गई थी। कई छोटी-छोटी कान्फ़्रेन्सें हो रही थी,

और तरह-तरह की अफ़वाहें फैल रही थीं, जिनसे सक्रिय कार्य होने में रुकावट पड़ती थी। कांग्रेस के कई स्थानापन्न प्रेसीडेण्ट बड़े सम्मानित लोग थे, लेकिन उनको सक्रिय लड़ाई के सेनापति बनाना उनके साथ ज्यादती करना था। उनके लिए बार-बार इस बात का इशारा किया जाता था कि वे थक गये हैं और इस मुश्किल स्थिति से निकलना चाहते हैं। इस अस्थिरता और अनिश्चय के ख़िलाफ़ ऊँचे हलकों में कुछ बेचैनी थी, लेकिन उसको संगठित रूप से ज़ाहिर नहीं किया जा सकता था, क्योंकि सभी कांग्रेसी संस्थायें ग़ैर-क़ानूनी थीं।

इसके बाद गांधीजी का इक्कीस दिन का उपवास, उनका जेल से छूटना, और छः हफ्ते तक सविनय भंग का मुल्तवी किया जाना यह सब हुआ। उपवास ख़त्म हो गया, और बहुत धीरे-धीरे वह फ़िर तन्दुरुस्त हुए। जून के मध्य में सविनय भंग की मौक़ूफ़ी की मोहलत छः हफ्ते के लिए और बढ़ा दी गई। इस बीच सरकार ने अपना दमन कुछ भी कम न किया। अण्डमान द्वीपों में राजनैतिक क़ैदी ( बंगाल में जिन्हें क्रान्तिकारी हिंसा के लिए सज़ा दी जाती थी वे वहाँ भेजे जाते थे ) जेल-बर्ताव के सवाल पर भूख-हड़ताल कर रहे थे, और उनमें से एक या दो तो भूखे रह-रहकर मर भी गये थे। हिन्दुस्तान में जिन लोगों ने अण्डमान में जो कुछ हो रहा था उसके विरुद्ध सभाओं में भाषण दिये थे, वे भी खुद गिरफ्तार कर लिये गये और उन्हें सजायें दे दी गई। भले ही क़ैदी, भूख-हड़ताल के सिवा विरोध ज़ाहिर करने का दूसरा रास्ता न मिलने पर, भूख की भयंकर अग्नि-परीक्षा में से गुज़रते हुए मर जायँ, लेकिन हमें सिर्फ़ तकलीफ़ें ही बरदाश्त नहीं करना चाहिए था, बल्कि हमें शिकायत भी नहीं करनी चाहिए थी। कुछ महीने बाद सितम्बर १९३३ में ( जबकि मैं जेल से बाहर था) बहुत-से दस्तख़तों से एक अपील निकली थी, जिसमें अण्डमान के क़ैदियों के साथ ज्यादा मनुष्योचित्त बर्ताव करने और उनको हिन्दुस्तान में बदल दिये जाने की प्रार्थना की गई थी, और जिसमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सी० एफ़० एण्डरूज़ और दूसरे कई मशहूर लोगों के भी दस्तख़त थे, जिनमें ज्यादातर कांग्रेस से कुछ भी सम्बन्ध न रखनेवाले लोग थे। इस बयान पर भारत-सरकार के होम मेम्बर ने बड़ी नाराज़गी ज़ाहिर की, और क़ैदियों के साथ हमदर्दी ज़ाहिर करने के लिए उसपर दस्तख़त करनेवालों की बड़ी सख़्त समालोचना की। बाद में, जहाँतक मुझे याद आता है, बंगाल में ऐसी हमदर्दी ज़ाहिर करना भी एक जुर्म करार दे दिया गया।

सविनय भंग की छः हफ्ते की मौक़ूफ़ी की दूसरी मोहलत पूरी होने से पहले, देहरादून-जेल में, हमें ख़बर मिली कि गांधीजी ने पूना में एक अनियमित कान्फ्रेन्स बुलाई थी। वहाँ दो-तीन सौ व्यक्ति इकट्ठा हुए, और गांधीजी की सलाह से सामूहिक

दमन पूरे ज़ोरों पर था, और सार्वजनिक प्रवृत्तियों को दबानेवाले सारे विशेष क़ानून लागू थे। फ़रवरी १९३३ में मेरे पिताजी की मृत्यु की सालाना यादगार में की जानेवाली एक सभा को पुलिस ने मना कर दिया, हालांकि वह ग़ैर-कांग्रेसी मीटिंग थी और उसका सभापतित्व करनेवाले थे सर तेजबहादुर सप्रू जैसे अच्छे मॉडरेट। और मानो भविष्य में मिलनेवाले उपहारों की पूर्व-सूचना देने के लिए हमें 'व्हाइट पेपर' की सौग़ात दी जा रही थी।

यह एक अनोखा काग़ज़ था, जिसको पढ़कर चकित रह जाना पड़ता था। इसके मुताबिक़, हिन्दुस्तान एक बढ़ी-चढ़ी हिन्दुस्तानी रियासत बना दी जायगी, और संघ में देशी-राज्यों के प्रतिनिधियों का ही ज्यादा बोलबाला रहेगा। लेकिन ख़ुद रियासतों में कोई भी बाहरी दख़ल बरदाश्त न किया जायगा, और पूरी तरह से एकतन्त्री सत्ता वहाँ जारी रहेगी। साम्राज्य की असली कड़ियाँ, कर्ज़ की जंजीरें, हमें हमेशा लन्दन शहर के साथ बाँधे रहेंगी, और एक रिज़र्व बैंक के ज़रिये मुद्रा की और आर्थिक नीति भी बैंक आफ़ इंग्लैण्ड के नियन्त्रण में रहेगी। सब स्थापित स्वार्थों की हिफ़ाज़त के लिए अटूट दीवारें खड़ी हो जायँगी, और और भी नये स्थापित स्वार्थ पैदा कर दिये जायंगे। इन स्थापित स्वार्थों के फ़ायदे के लिए हमारी राष्ट्रीय आय पूरी तरह से रहन रक्खी गई थी। हमें स्व-शासन की अगली क़िस्तों की तालीम देने के लिए साम्राज्य के ऊँचे पदों पर, जिनको हम इतना चाहते हैं, हमारा कोई नियन्त्रण न रहेगा। प्रान्तीय स्वाधीनता तो मिलेगी, लेकिन गवर्नर हमको व्यवस्था में रखनेवाला एक दयालु और सर्व-शक्तिमान डिक्टेटर रहेगा। और सबसे ऊपर रहेगा सबसे बड़ा डिक्टेटर वाइसराय, जिसे जो मर्ज़ी में आवे सो करने और जिस बात को चाहे रोकने की पूरी-पूरी सत्ता होगी। सच है, उपनिवेशों की हुकूमत के लिए अंग्रेज़ शासक-वर्ग ने इतनी प्रतिभा का परिचय कभी नहीं दिया था। अब तो हिटलर और मुसोलिनी जैसे लोग उनकी भी ख़ूब स्तुति कर सकते हैं, और हिन्दुस्तान के वाइसराय को भी ईर्ष्या की दृष्टि से देख सकते हैं।

ऐसा विधान तैयार करके, कि जिसमें हिन्दुस्तान के हाथ-पैर पूरी तरह से बाँध दिये गये थे, उसमें कुछ ज़ायद हथकड़ियों के तौर पर 'ख़ास जिम्मेदारियाँ' और संरक्षण भी रख दिये गये, जिससे कि यह बदक़िस्मत मुल्क एक ऐसे क़ैदी के मानिन्द हो गया कि जो ज़रा भी हिल-डुल न सके। जैसा कि श्री नेविल चेम्बरलेन ने कहा था, "उन्होंने सारी ताक़त लगाकर योजना में ऐसे सब संरक्षण रख दिये थे जिनकी कल्पना मनुष्य के दिमाग़ में आ सकती थी।"

इसके बाद, हमें यह भी कहा गया कि इन उपहारों के लिए हमें भारी ख़र्चा

देना पड़ेगा—शुरू में एक-मुश्त कुछ करोड़, और फिर सालाना रक़म। स्वराज का वरदान हमें काफ़ी रक़म दिये बग़ैर नहीं मिल सकता था। हम तो इस धोखे में ही पड़े हुए थे कि हिन्दुस्तान एक दरिद्रता-ग्रस्त देश है और अब भी उसपर बहुत भारी बोझा रक्खा हुआ है, और उसे कम करने के लिए ही हम आज़ादी की तलाश में थे। आज़ादी के लिए जनता इसी प्रेरणा से तैयार हुई थी। लेकिन अब तो मालूम हुआ कि वह बोझा और भी भारी होने को है।

हिन्दुस्तानी समस्या का यह अण्टशण्ट हल हमें सच्ची अंग्रेज़ों जैसी ही वज़ादारी के साथ दिया गया, और हमसे कहा गया कि हमारे हाकिम कितने फ़य्याज़-दिल हैं। किसी भी साम्राजवादी हुकूमत ने इससे पहले अपनी रैयत के लिए अपनी ख़ुशी से ऐसे अख़्त्यारात और मौक़े नहीं दिये थे। और इंग्लैण्ड में इसके देनेवालों में और इस-पर ऐतराज़ करनेवालों में, जो इस भारी फ़य्याज़-दिली से ख़ौफ़ खा रहे थे, बड़ी भारी बहस-बाज़ी हुई। तीन साल में हिन्दुस्तान और इंग्लैण्ड के बीच बारबार बहुत लोगों के आने और जाने का, तीन गोलमेज़-कान्फ्रेन्सों का, और बेशुमार कमिटियों और मशविरों का यह नतीजा था।

मगर, इंग्लैण्ड की यात्रायें तो अब भी ख़त्म नहीं हुई थीं। ब्रिटिश पार्लमेण्ट की ज्वाइण्ट सिलेक्ट कमिटी 'व्हाइट पेपर' पर फ़ैसला देने के लिए बैठी हुई थी, और हिन्दुस्तानी उसमें असेसरों या गवाहों की तरह से गये। लन्दन में और भी कई तरह की कमिटियाँ बैठ रही थीं, और इन कमिटियों की मेम्बरी, जिसके मानी थे इंग्लैण्ड जाने और लन्दन में ठहरने का मुफ्त ख़र्चा मिलना, हासिल करने के लिए भीतर-भीतर बड़ी भद्दी छीना-झपटी हुई थी। बड़े-बड़े दिलेर लोगों ने, जिनके हौसले 'व्हाइट पेपर' की निराशापूर्ण तजवीज़ों से भी ठण्डे नहीं पड़े थे, अपनी सारी वक्तृत्व-कला और लुभा लेने की शक्ति से 'व्हाइट-पेपर' की तजवीज़ों को बदलवाने की कोशिश करने के लिए, समुद्र-यात्रा या आकाश-यात्रा की मुसीबतों का और लन्दन शहर में ठहरने के और भी ज्यादा ख़तरों का मुक़ाबिला करने के लिए कमर कस ली। वे जानते थे और कहते थे कि प्रयत्न में कुछ दम तो दिखाई नहीं देता, लेकिन वे हिम्मत हारनेवाले न थे, और चाहे उनकी कोई न सुने तो भी वह अपनी बात तो बराबर कहते ही रहेंगे। उनमें से एक व्यक्ति, जोकि प्रति-सहयोगियों का एक नेता था, सबके चले जाने पर भी ठेठ अन्त तक टिका ही रहा, और शायद यह असर डालने के लिए कि वह क्या-क्या राजनैतिक परिवर्तन चाहता है, वह लन्दन के सत्ताधीशों से मुलाक़ात-पर-मुलाक़ात लेता रहा, और उनके साथ दावत-पर-दावत उड़ाता रहा। और आख़िरकार जब वह अपने देश में लौटा तब प्रतीक्षा करनेवाले लोगों से

उसने कहा कि मराठों की प्रसिद्ध दृढ़ता को क़ायम रखते हुए मैंने अपना काम-धंधा छोड़ दिया और बिलकुल अन्त तक भी अपनी बात कहने के लिए मैं लन्दन में ठहरा रहा।

मुझे याद है कि मेरे पिताजी अक्सर शिकायत करते थे कि प्रति-सहयोगी मित्रों में मज़ाक़ का गुण नहीं होता। अपनी कुछ मज़ाक़-भरी बातों से, जो प्रति-सहयोगियों को बिलकुल पसन्द नहीं आती थी, उनका उनसे (प्रति-सहयोगियों से) अक्सर झगड़ा हो जाता था, और फिर उन्हें उनको समझाना पड़ता था और तसल्ली देनी पड़ती थी, जोकि एक बड़ा थका देनेवाला काम था। मैंने सोचा कि मराठों में लड़ने की कितनी बढ़िया स्पिरिट रही है, जो सिर्फ़ भूतकाल में ही नहीं बल्कि वर्तमान में भी हमारी राष्ट्रीय लड़ाइयों में प्रकट हो रही है, और महान् निर्भीक तिलक की भी मुझे याद आती थी, जो टूक-टूक भले ही हो जायँ लेकिन झुकना न जानते थे।

लिबरल व्हाइट-पेपर को बिलकुल नापसन्द करते थे। हिन्दुस्तान में दिन-ब-दिन जो दमन हो रहा था उसे भी वे पसन्द नहीं करते थे, और कभी-कभी, हालांकि बहुत कम बार, उन्होंने इसका विरोध भी किया था; लेकिन साथ-साथ वे यह भी स्पष्ट कर देते थे कि वे कांग्रेस और उसके सारे कार्य की भी निन्दा करते हैं। सरकार को मौक़े-बेमौक़े वे यह भी सुझाते रहते थे कि वह किसी बड़े कांग्रेसी को जेल से रिहा करदे। वे तो जिन-जिन व्यक्तियों को जानते थे उन्हींके विषय में सोच सकते थे। लिबरलों और प्रति-सहयोगी लोगों की दलील यह होती थी कि चूंकि अब सार्वजनिक शान्ति के लिए कोई ख़तरा नहीं है इसलिए अब अमुक-अमुक व्यक्ति को छोड़ देना चाहिए। और अगर फिर भी वह व्यक्ति बेजा काम करे तो सरकार उसको दुबारा गिरफ्तार कर ही सकती है, और फिर सरकार का उसे गिरफ्तार करना अधिक औचित्य-पूर्ण होगा। इंग्लैण्ड में भी कुछ लोगों ने इसी दलील की बिना पर कार्य-समिति के कुछ मेम्बरों या खास व्यक्तियों की रिहाई की पैरवी करने की महरबानी दिखाई थी। जब हम जेलों में पड़े हुए थे। तब हमारे मामलों में जिन्होंने दिलचस्पी ली, उनके प्रति हम अहसानमन्द हुए बिना नहीं रह सकते। लेकिन कभी-कभी हमें यह भी महसूस होता था कि अगर ये भले आदमी हमें हमारे ही ऊपर छोड़ दें तो अच्छा हो। उनकी सद्भावना में हमें शक न था, लेकिन यह ज़ाहिर था कि उन्होंने ब्रिटिश सरकार की विचार-धारा को ही ग्रहण कर रक्खा था, और उनके और हमारे बीच बहुत अन्तर था।

हिन्दुस्तान में जो कुछ हो रहा था वह लिबरलों को ज्यादा पसन्द न था। उससे उन्हें दुःख होता था, लेकिन फिर भी वे क्या कर सकते थे? सरकार के ख़िलाफ़ कोई भी कारगर क़दम उठाने का तो वे ख़याल तक नहीं कर सकते थे। सिर्फ़ अपने

समुदाय को अलग बनाये रखने के लिए उन्हें जनता से और सक्रिय लोगों से दूर-दूर ही हटना पड़ा, उन्हें नरम बनते-बनते इतना पीछे हटना पड़ा कि उनकी और सरकार की विचार-धारा में फ़र्क़ जानना मुश्किल हो गया। तादाद में कम और जनता पर असर न होने के कारण, उनकी वजह से आम लड़ाई में कोई फ़र्क़ न पड़ सका। मगर उनमें कुछ प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध लोग भी थे, जिनकी ज़ाती तौर पर इज्ज़त होती थी। लेकिन इन्हीं नेताओं ने, और लिबरल और प्रति-सहयोगी दलों ने भी मजमुई तौर पर, सरकारी नीति को नैतिक समर्थन देकर एक कठिन संकट के समय में ब्रिटिश सरकार की अपार सेवा की। सरकार के बल-प्रयोगों को और क़ानून को बालायताक रख देने की कार्रवाई को भी लिबरलों के द्वारा कारगर समालोचना के आभाव में और मौक़े-ब-मौके उनकी तरफ़ से उसे दी गई मान्यता और समर्थन से फ़ायदा मिला। इस तरह ऐसे समय में जबकि सरकार को अपने भीषण और अभूतपूर्व बलप्रयोग को मुनासिब बताना मुश्किल हो रहा था, उसको लिबरलों और प्रति-सहयोगियों ने नैतिक बल दे दिया।

लिबरल नेताओं ने कहा कि व्हाइट-पेपर ख़राब है—बहुत ही ख़राब है; लेकिन अब उसके लिए करें क्या? अप्रैल १९३३ में कलकत्ता में लिबरल फेडरेशन का जो जलसा हुआ उसमें श्री श्रीनिवास शास्त्री ने, जोकि लिबरलों के सबसे प्रख्यात नेता हैं, समझाया कि वैधानिक-परिवर्तन कितने भी असंतोष-जनक क्यों न हों, हमें उनको काम में लाना ही चाहिए। उन्होंने कहा कि "यह ऐसा वक्त नहीं है जबकि हम एक ओर खड़े रहें और अपने सामने सब कुछ योंही हो जाने दें।" ज़ाहिर है कि, उनके ख़याल में सिर्फ़ यही 'कार्य' आ सकता था कि जो कुछ भी मिले उसे ले लिया जाय और उसीको काम में लाया जाय। अगर यह न हो तो, दूसरा कार्य था चुपचाप बैठे रहना। आगे उन्होंने कहा—"अगर हममें समझदारी, अनुभव, नरमी, दूसरे को माइल करने और चुपचाप असर डालने की क़ुव्वत और असली कार्यदक्षता है, अगर हममें ये गुण हैं, तो उन्हें पूरी तरह से दिखलाने का यही अवसर है।" इस वक्तृत्वपूर्ण अपील पर कलकत्ता के 'स्टेट्समैन' की राय थी कि ये बड़े "प्रभावपूर्ण शब्द" थे।

श्री शास्त्री हमेशा लम्बे-चौड़े भाषण देते हैं, और वक्ताओं की तरह सुन्दर शब्दों के और उनके सुरीले उपयोग का उन्हें शौक़ है। मगर वह अपने उत्साह में बह भी जाते हैं, और शब्दों का जो इन्द्रजाल वह खड़ा करते हैं वह उनका मतलब दूसरों के लिए और शायद ख़ुद उनके लिए भी धुंधला कर देता है। उन्होंने अप्रैल १९३३ में, कलकत्ता में, सविनय भंग के चालू रहते हुए, जो यह अपील की थी उसकी ज़रा जाँच करनी चाहिए। मौलिक सिद्धान्त और लक्ष्य की बात जाने भी दें, तो भी

उसमें दो बातें ग़ौर के क़ाबिल दिखाई देती हैं। पहली बात तो यह कि कुछ भी क्यों न हो, ब्रिटिश सरकार के द्वारा हमारी कितनी भी तौहीन, दमन, अपमान, रक्त-शोषण क्यों न होता हो, हमें उसको मानना ही चाहिए। ऐसी कोई मर्यादा नहीं बनाई जा सकती जिसके बाहर हम हरगिज़ न जावें। एक ज़रा-सा कीड़ा भलेही एक बार मुक़ाबिला करने पर अमादा हो जाय, लेकिन श्री शास्त्री की सलाह पर चलें तो हिन्दुस्तानी ऐसा कभी नहीं कर सकते। उनकी राय के मुताबिक़ इसके सिवा कोई रास्ता ही नहीं है। इसका मतलब यह है कि जहाँतक उनका ताल्लुक है, ब्रिटिश सरकार के फ़ैसले के सामने झुक जाना और उसे मंजूर कर लेना उनका धर्म (अगर मै इस अभागे शब्द का प्रयोग कर सकूँ) हो गया है। और हम चाहें या न चाहें, हमारी क़िस्मत में उसको मान लेना ही बदा है

यह ग़ौर करने की बात है कि वह किसी निश्चित और जानी हुई परिस्थिति पर अपनी राय नहीं दे रहे थे। 'वैधानिक परिवर्तन' तो अभी बन ही रहे थे, हालांकि सबको यह काफ़ी तौर पर मालूम था कि वे बहुत बुरे होंगे। अगर उन्होंने यह कहा होता कि, "हालांकि 'व्हाइट-पेपर की तजवीज़ें' ख़राब हैं, लेकिन सारी परिस्थिति को देखते हुए अगर इन्हींको क़ानून का रूप दे दिया जाय तो मै उनको काम में लाने के हक़ में हूँ," तो उनकी सलाह चाहे अच्छी होती या बुरी, पर मौजूदा वाक़यात से संबद्ध तो होती। लेकिन श्री शास्त्री तो बहुत आगे बढ़ गये और उन्होंने कहा कि आनेवाले वैधानिक परिवर्तन चाहे कितने भी असन्तोष-जनक हों, फिर भी उनकी सलाह तो वही रहेगी। राष्ट्र की दृष्टि में जो सबसे ज्यादा जरूरी बात थी, उसके बारे में वह ब्रिटिश सरकार को बिलकुल कोरा चेक देने को तैयार थे। मेरे लिए यह समझना ज़रा मुश्किल है कि कोई भी व्यक्ति या पार्टी या दल जबतक कि वह किसी भी उसूल या नैतिकता या राजनैतिक आदर्श से बिलकुल ख़ाली न हो और शासकों के फरमानों की हमेशा ताबेदारी करना ही उसका ध्येय और नीति न हो, तब-तक वह अज्ञात भविष्य के लिए कोई वचन कैसे दे सकता है ?

दूसरी जिस बातकी तरफ़ मेरा ध्यान जाता है, वह है शुद्ध युक्ति-कौशल की। नये सुधारों के क़ानून बनने की लम्बी मंज़िल में व्हाइट-पेपर तो सिर्फ़ एक सीढ़ी ही थी। सरकार की निगाह में वह एक जरूरी सीढ़ी थी, लेकिन अभी तो कई सीढियां बाकी थीं, और मंज़िले-मक़सूद तक जाते-जाते मुमकिन था उसमें आगे, अच्छी या बुरी, कई तबदीलियां हो जातीं। इन तबदीलियों का आधार जाहिरा यह था कि ब्रिटिश सरकार और पार्लमेण्ट पर भिन्न-भिन्न स्वार्थ अपना कितना-कितना दबाव डाल सकते थे। इस रस्साकशी में यह समझा जा सकता था कि हिन्दुस्तान के लिबरलों को

अपनी तरफ़ मिलाने की इच्छा से सरकार पर कुछ असर पड़ता और उससे वह योजनाओं को ज़रा और उदार बनाती या कम-से-कम उसमें कोई कमी तो न करती। लेकिन नये सुधारों की मंज़ूरी या नामंज़ूरी, या उन्हें काम में लाने या न लाने का सवाल उठने से बहुत पहले ही श्री शास्त्री की ज़ोरदार घोषणा ने सरकार को यह साफ बता दिया कि उसे हिन्दुस्तान के लिबरलों की परवा नहीं करनी चाहिए। अब उन्हें अपनी तरफ़ मिलाने का सवाल ही नहीं रहा। चाहे उन्हें धक्का देकर भी बाहर निकाल दिया जाय, तो भी वे सरकार का साथ न छोड़ेंगे। इस मामले में, भरसक लिबरल दृष्टिकोण से ही विचार करने पर भी, मुझे तो यही मालूम होता है कि श्री शास्त्री का कलकत्तेवाला भाषण अत्यन्त भद्दे युक्ति-कौशल का परिचायक था, और उससे लिबरल-पक्ष को भी नुक़सान पहुँचा।

मैंने श्री शास्त्री के पुराने भाषण पर इस कारण इतना ज्यादा लिखने की धृष्ठता नहीं की है कि वह भाषण या लिबरल फेडरेशन का जलसा असल में कोई महत्व रखते थे, लेकिन इसलिए कि मैं समझना चाहता हूँ कि लिबरल नेताओं की मनोवृत्ति और विचार कैसे हैं। वे सुयोग्य और आदरणीय लोग है, फिर भी मैं यह नहीं समझ पाया हूँ कि वे ऐसे काम क्यों करते हैं। श्री शास्त्री के एक और भाषण का भी, जिसे मैंने जेल में पढ़ा था, मुझपर बहुत असर पड़ा। जून १९३३ में वह पूना में भारत-सेवक-समिति के, जिसके वह अध्यक्ष हैं, सामने बोल रहे थे। कहा जाता है कि उन्होंने बतलाया कि अगर हिन्दुस्तान से अचानक अंग्रेज़ी प्रभाव हट जाय, तो यह ख़तरा हो सकता है कि राजनैतिक हलचलों की एक पार्टी दूसरी पार्टी के प्रति तीव्र घृणा रक्खे, उसे सताव और उसपर जुल्म करे। लेकिन इसके बर्खिलाफ ब्रिटिश राजनैतिक जीवन में हमेशा सहिष्णुता की ख़ासियत रही है, इसलिए हिन्दुस्तान का भविष्य ब्रिटेन के साथ-साथ रहते हुए जितना बन सकेगा, उतनी ही ज्यादा हिन्दुस्तान में सहिष्णुता जारी रहने की सम्भावना रहेगी। जेल में रहने के कारण श्री शास्त्री के भाषण का जो मुख़्तसर हाल कलकत्ता के 'स्टेट्समैन' द्वारा मिला है मुझे तो उसीको मानना पड़ता है। 'स्टेट्स-मैन' ने उसपर आगे लिखा है, कि 'यह सुन्दर सिद्धान्त हैं, और हम देखते हैं कि डाक्टर मुंजे के भाषणों में भी यही भाव रहा है।' कहा जाता है कि श्री शास्त्री ने बताया कि रूस, इटली और जर्मनी म भी स्वतन्त्रता का दमन हो रहा है, और वहां बड़ी अमानुषिकता और जंगलीपन से काम लिया जाता है।

जब मैंने यह हाल पढ़ा तो मुझे ध्यान आया कि ब्रिटेन और हिन्दुस्तान के सम्बन्ध में ब्रिटेन के 'कट्टर' अनुदार व्यक्ति से श्री शास्त्री का दृष्टिकोण कितना मिलता-जुलता है। दोनों में तफ़सील के बारे में बेशक फ़र्क़ है। लेकिन मूलतः विचार-धारा एक ही

है। श्री विन्स्टन चर्चिल भी, अपने विश्वासों के साथ किसी-किस्म की ज्यादती न करते हुए ठीक ऐसी ही भाषा में अपने खयालात ज़ाहिर कर सकते थे। फिर भी, श्री शास्त्री लिबरल-पार्टी में उग्र विचार के समझे जाते हैं, और उसके सबसे ज्यादा-योग्य नेता हैं !

श्री शास्त्री के इतिहास के अध्ययन या संसार के प्रश्नों पर उनकी राय से मैं सहमत नहीं हूँ, खासकर ब्रिटेन और हिन्दुस्तान-विषयक उनकी सम्मति को मानने में मैं बिलकुल असमर्थ हूँ। शायद कोई विदेशी भी, जो अंग्रेज़ न होगा, उससे सहमत न होगा। और शायद उन्नत विचारों के कई अंग्रेज़ भी उनकी राय को न मानेंगे। अंग्रेज़ी शासकों के रंगीन चश्मों से दुनिया और अपने देश को देखना, यह उन्हींकी खुश-क़िस्मती है। फिर भी, यह ग़ौर करने लायक बात है कि पिछले अठारह महीनों से जो ग़ैर-मामूली वाक़यात हिन्दुस्तान में रोज़ाना हो रहे थे, और जो उनके भाषण के वक्त भी हो रहे थे, उनका उन्होंने इसमें ज़िक्र तक नहीं किया। उन्होंने रूस, इटली, जर्मनी का नाम तो लिया, लेकिन उनके देश में ही जो भयकर दमन और स्वतन्त्रता का दलन हो रहा था उसका नाम तक नही लिया। मुमकिन है उन्हें वे सारे खौफ़नाक वाक़यात न मालूम हों जो सीमा-प्रान्त में हुए थे और बंगाल में हुए थे—जिनको राजेन्द्र बाबू ने हाल में कांग्रेस के अपने अध्यक्ष-पद से दिये गये भाषण में 'बंग-भूमि पर बलात्कार' कहा है—क्योंकि सेन्सर के परदे ने सब वाक़यात को छिपा रक्खा था। लेकिन क्या उन्हें भारत-भूमि का दुःख और ज़बरदस्त मुखालिफ़ के मुकाबिले में हिन्दुस्तान के लोग जो जीवन और स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ रहे थे वह भी याद न रही ? क्या उन्हें पुलिस-राज का, जो बड़े-बड़े हिस्सों में छाया हुआ था, फौजी क़ानून जैसी परिस्थिति का, आर्डिनेन्सों, भूख-हड़तालों और जेल के दूसरे कष्टों का हाल मालूम न था ? क्या उन्होंने यह महसूस न किया कि जिस सहिष्णुता और स्वतन्त्रता के लिए वह ब्रिटेन की तारीफ़ करते थे, उसीको ब्रिटेन ने हिन्दुस्तान में कुचल डाला है ?

वह कांग्रेस से सहमत थे या नहीं, इसकी परवा नहीं। उन्हें कांग्रेस की नीति की समालोचना और निन्दा करने का पूरा अख़्त्यार था। लेकिन एक हिन्दुस्तानी के नाते, एक स्वाधीनता-प्रेमी के नाते, एक भावुक व्यक्ति के नाते, उनके देशवासी स्त्री और पुरुष जो अद्भुत साहस और बलिदान दिखा रहे थे उसके प्रति उनके क्या विचार थे ? जब हमारे शासक हिन्दुस्तान के हृदय पर कुल्हाड़ी चला रहे थे, तब क्या उन्हें दुःख और कष्ट नहीं मालूम होता था ? हजारों आदमी एक मग़रूर साम्राज्य की जिस्मानी ताक़त के सामने झुकने से इन्कार कर रहे थे, और अपनी आत्मा को झुकाने के बजाय अपने शरीरों का कुचला जाना, अपने परिवारों का बरबाद हो जाना, और प्यारों का

कष्ट उठाना ज्यादा पसन्द कर रहे थे। क्या वह इसका महत्व कुछ नहीं समझते थे ? हम जेलों में और बाहर हिम्मत रक्खे हुए थे, और हम हँसते थे और खुश थे, लेकिन हमारी प्रसन्नता तो आँसुओं में से होकर निकलती थी और हमारा हँसना कभी-कभी रोने के बराबर था।

एक बहादुर और उदार अंग्रेज श्री वेरियर एलविन हमें बताते है कि उनके दिल पर इसका क्या असर हुआ। १९३० के बारे में वह कहते है कि "वह एक अद्भुत दृश्य था जब सारा राष्ट्र गुलामी के दिमाग़ी बन्धनों को दूर कर रहा था, और अपनी सच्ची शान से निडर निश्चय प्रकट करता हुआ उठ रहा था।" और फिर "सत्याग्रह की लड़ाई में ज्यादातर कांग्रेसी स्वयं-सेवकों ने आश्चर्यजनक अनुशासन बताया था, ऐसा अनुशासन कि जिसकी एक प्रान्तीय गवर्नर ने भी उदारता के साथ तारीफ़ की है······"

श्री श्रीनिवास शास्त्री एक योग्य और भावुक आदमी है, जिनकी उनके देशवासी बड़ी इज्ज़त करते हैं, और यह नामुमकिन मालूम होता है कि ऐसी लड़ाई में उनके भी ऐसे ही विचार न हों और उन्हें भी अपने देशवासियों से सहानुभूति न हो। उनसे यह उम्मीद हो सकती थी कि वह सरकार द्वारा सब तरह की नागरिक स्वतन्त्रता और सार्वजनिक प्रवृत्तियों के दमन की निन्दा में अपनी आवाज़ उठाते। उनसे यह भी उम्मीद हो सकती थी कि वह और उनके साथी सबसे ज्यादा दबाये हुए प्रान्तों—बंगाल और सीमा-प्रान्त—में खुद जाते, इसलिए नहीं कि किसी भी तरह कांग्रेस या सविनय भंग में मदद दें, बल्कि अधिकारियों और पुलिस की ज्यादतियों को ज़ाहिर करने और इस तरह उन्हें रोकने के लिए। दूसरे देशों में आज़ादी और नागरिक स्वतन्त्रता के प्रेमी अक्सर ऐसा करते हैं। लेकिन ऐसा करने के बजाय, सरकार जब हिन्दुस्तान के स्त्री-पुरुषों को पैरों-तले रौंद रही थी, और जब उसने रोज़मर्रा की आज़ादी को भी कुचल दिया था, तब उसको रोकने के बजाय, और क्या घटनायें हो रही हैं, कम-से-कम यही तलाश करने के बजाय, उन्होंने ठीक ऐसे वक्त में अंग्रेज़ों को सहिष्णुता और आज़ादी के प्रमाण-पत्र दे देना पसन्द किया जबकि हिन्दुस्तान के अंग्रेज़ी शासन में ये दोनों गुण बिलकुल ही नहीं रह गये थे। उन्होंने सरकार को अपना नैतिक सहारा दे दिया, और दमन के कार्य में उनका हौसला बढ़ाया और प्रोत्साहन दिया।

मुझे पूरा यक़ीन है कि उसका यह तात्पर्य नहीं रहा होगा, या उन्हें यह ख़याल नहीं रहा होगा कि इसका क्या परिणाम हो सकता है। मगर उनके भाषण का यही असर हुआ होगा इसमें तो शक नहीं हो सकता। तो, इस तरह उन्हें विचार और कार्य क्यों करना चाहिए था ?

मुझे इस सवाल का ठीक जवाब सिवा इसके और नहीं मिला है कि लिबरल

नेताओं ने अपने-आपको अपने देशवासियों और समस्त आधुनिक विचारों से बिलकुल दूर कर लिया है। जिन पुराने ढंग की किताबों को वे पढ़ते हैं, उन्होंने उनकी निगाह से हिन्दुस्तान की जनता को ओझल कर दिया है और उनमें एक तरह से अपनी ही खूबियों पर मरने की आदत पैदा हो गई है। हम लोग जेलों में गये और हमारे शरीर कोठरियों में बन्द रहे, लेकिन हमारे दिमाग़ आज़ाद फिरते थे और हमारा हौसला दबा नहीं था। लेकिन उन्होंने तो अपने ढंग का दिमाग़ी क़ैदखाना खुद ही बना लिया था, जहाँ वे अन्दर-ही-अन्दर चक्कर काटा करते थे और उससे निकल नहीं सकते थे। वे 'मौजूदा हालात' के ही ईश्वर की पूजा करते थे; और जब हालात बदल गये, जैसाकि इस परिवर्तनशील दुनिया में होता ही रहता है, तो उनके पास न पतवार रहा न कम्पास; दिमाग़ और जिस्म दोनों बेकार हो गये, न उनके पास आदर्श रहे न नैतिक नाप। इन्सान को या तो आगे जाना पड़ेगा या पीछे हटना पड़ेगा। हम इस गतिशील संसार में एक ही जगह खड़े नहीं रह सकते। परिवर्तन और प्रगति से डरने के कारण, लिबरल अपने आस पास के तूफ़ानों को देखकर भयभीत हो गये; हाथ-पैरों से कमज़ोर होने के कारण आगे न बढ़ सके; और इसलिए वे लहरों में इधर-उधर उछलते रहे, और जो भी तिनका उन्हें मिल जाता था उसीका सहारा लेने की वे कोशिश करते रहे। वे हिन्दुस्तान की राजनीति के हैमलेट बन गये; 'तरह-तरह के विचारों की चिन्ता से पीले और बीमार-से पड़ गये'; हमेशा संदेह, हिचकिचाहट और अनिश्चय में पड़े रहे।

अय ईर्ष्यारत दुष्ट ! मेल का समय कहाँ अब;  
लगा सदा मैं रहा ठीक ही करने में सब ![1]

'सर्वेण्ट आफ़ इण्डिया' नामक एक लिबरल अख़बार ने सविनय भंग-आन्दोलन के आख़िरी दिनों में कांग्रेसी लोगों पर यह आरोप लगाया था कि वे पहले तो जेल जाना चाहते हैं, और जब वहाँ पहुँच जाते हैं तब फिर बाहर आना चाहते हैं। उसने कुछ चिढ़ते हुए कहा कि यही एकमात्र कांग्रेस की नीति है। स्पष्टतः, इसके बदले में लिबरलों का रास्ता होता ब्रिटिश मन्त्रियों की सेवा में इंग्लैण्ड डेप्यूटेशन भेजना, या इंग्लैण्ड में शासक-दलों के परिवर्तन का इन्तज़ार करना और उसके लिए दुआयें माँगना।

किसी हद तक यह सच था कि उन दिनों कांग्रेस की नीति खासकर यही थी

१. मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है :—

"The time is out of joint O cursed spite !  
That ever I was born to set it right."

कि आर्डिनेन्स और दूसरे दमनकारी क़ानूनों को तोड़ा जाय, और इसकी सज़ा जेल थी। यह भी सच था कि काँग्रेस और राष्ट्र लम्बी लड़ाई के बाद थक गये थे, और सरकार पर कोई कारगर दबाव नहीं डाल सकते थे। लेकिन हमारे सामने एक व्यावहारिक और नैतिक दृष्टि थी।

नंगा बल-प्रयोग, जैसा कि हिन्दुस्तान में किया जा रहा था, शासकों के लिए बड़ा ख़र्चीला मामला होता है। उनके लिए भी यह एक दुःखदाई और घबरा देनेवाली अग्नि-परीक्षा होती है, और वे अच्छी तरह जानते हैं कि अन्त में इससे भी उनकी बुनियाद कमज़ोर पड़ जाती है। इससे जनता के सामने और सारी दुनिया के सामने उनकी हुकूमत का असली रूप हमेशा प्रकट होता रहता है। इसके बनिस्बत वह यह बहुत ज्यादा पसन्द करते हैं कि अपने फ़ौलादी पंजे को छिपाने के लिए हाथ पर मखमली दस्ताना पहने रहें। जो लोग सरकार की इच्छाओं के सामने झुकना नहीं चाहते, फिर चाहे उसका परिणाम कुछ भी हो, उनसे मुक़ाबिला करने से बढ़कर रोषोत्पादक और अन्त में हानिकर बात किसी भी शासन के लिए दूसरी नहीं हैं। इसलिए दमनकारी क़ानूनों का कभी-कभी भंग होता रहना भी एक महत्व रखता था। उससे जनता की ताक़त बढ़ती थी, और सरकार के नैतिक बल की बुनियाद ढहती थी।

नैतिक दृष्टि तो इससे भी ज्यादा ज़रूरी थी। एक प्रसिद्ध स्थान पर थोरो ने लिखा है कि, "ऐसे समय में जबकि स्त्री और पुरुष अन्यायपूर्वक जेल में डाले जाते हों, तब न्यायी स्त्री-पुरुषों का स्थान भी जेल ही है।" यह सलाह शायद लिबरल और दूसरे लोगों को न जँचे, लेकिन हममें से कई लोग ऐसा महसूस करते हैं कि मौजूदा हालत में, जब कि सविनय भंग के अलावा भी हमारे कई साथी हमेशा जेल में रक्खे जाते हैं, और जबकि सरकार का बल-प्रयोजक तन्त्र निरन्तर हमारा दमन और हमारी बेइज्ज़ती कर रहा है और हमारे लोगों के शोषण में मदद दे रहा है, तब किसी के लिए नैतिक जीवन बिताना सम्भवनीय नहीं है। अपने ही देश में हम संदिग्ध होकर आते-जाते हैं। हमपर निगरानी रक्खी जाती है और हमारा पीछा किया जाता है। हमारे शब्दों को इसलिए नोट किया जाता है कि वे कहीं राजद्रोह के व्यापक क़ानून को तोड़ते तो नहीं हैं, हमारी ख़तो-क़िताबत खोली और पढ़ी जाती है, और हमेशा यह सम्भावना बनी रहती है कि सरकार हम पर किसी तरह की मुमानियत लगा देगी या हमें गिरफ्तार कर लेगी। ऐसी हालत में हमारे सामने दो ही रास्ते हैं—या तो सरकारी ताक़त के मुक़ाबिले में हमारे सिर बिलकुल झुक जायँ, हमारा आत्मिक पतन हो जाय, हमारे अन्दर जो सचाई है उससे इन्कार कर दिया जाय, और जिन प्रयोजनों को हम बुरा समझते हैं उनके लिए हमारा नैतिक दुरुपयोग हो; या

उसका मुक़ाबिला किया जाय, और उसका जो कुछ नतीजा हो वह बरदाश्त किया जाय। कोई भी शख़्स योंही जेल जाना या मुसीबत बुलाना नहीं चाहता। मगर, अक्सर, दूसरे रास्तों की बनिस्बत जेल जाना ही ज्यादा अच्छा होता है। जैसा कि बर्नार्ड शॉ ने लिखा है, "जीवन में असली दुःख की बात सिर्फ़ यही है कि जिन उद्देश्यों को तुम पतन-पूर्ण समझते हो उन्हींके लिए स्वार्थी लोगों द्वारा तुम्हारा उपयोग हो। इसके सिवा और जो कुछ है वह तो सिर्फ़ बदक़िस्मती या मृत्यु है, और एकमात्र यही तो मुसीबत, गुलामी और दुनिया का दोज़ख़ है।"

# ४६

## लम्बी सज़ा का अन्त

मेरी रिहाई का वक़्त नज़दीक आ रहा था। मुझे 'नेकचलनी' की मामूली छूट मिली थी, और इससे मेरी दो साल की मियाद में से साढ़े तीन महीने कम हो गये थे। मेरी मानसिक शान्ति में, या जेल-जीवन से जो आम दिमाग़ी सुस्ती पैदा हो जाती है उसमें, रिहाई के ख़याल ने ख़लल पैदा कर दिया। बाहर जाकर मुझे क्या करना चाहिए ? यह एक मुश्किल सवाल था, और इसके जवाब की हिचकिचाहट ने बाहर जाने की मेरी ख़ुशी कम करदी। लेकिन वह भी क्षणिक भाव था, और मेरी लम्बे अर्से से दबी हुई क्रियाशीलता फिर उमड़ने लगी और मैं बाहर निकलने को उत्सुक हो गया।

जुलाई १९३३ के अन्त में एक बहुत ही दर्दनाक और बेचैनी पैदा करनेवाली ख़बर मिली—जे० एम० सेनगुप्त की अचानक मृत्यु हो गई। हम दोनों कई साल से कार्य-समिति में सिर्फ़ गहरे साथी ही नहीं थे, बल्कि उनसे मुझे केम्ब्रिज के अपने शुरू के दिनों की भी याद आ जाया करती थी। हम दोनों सबसे पहले केम्ब्रिज में ही मिले थे—मैं तो नया दाख़िल हुआ था और उन्होंने उसी समय अपनी डिग्री हासिल की थी।

सेनगुप्त का देहान्त नज़रबन्दी की हालत में हुआ। १९३२ के शुरू में जब वह योरप से लौटे थे, तो बम्बई में जहाज़ पर ही वह शाही क़ैदी बना लिये गये थे। तभीसे वह क़ैदी या नज़रबन्द रहे, और उनकी तन्दुरुस्ती ख़राब हो गई। सरकार ने उन्हें कई तरह की सहूलियतें दीं, लेकिन वह बीमारी की रफ़्तार को न रोक सकीं। कलकत्ता में उनकी अन्त्येष्टि के समय जनता ने ख़ूब प्रदर्शन किया और उनके प्रति सम्मान प्रकट किया; ऐसा दिखाई देता था कि बंगाल की लम्बे अर्से से रुकी और कष्ट पाती हुई आत्मा को कम-से-कम थोड़ी देर के लिए प्रकट होने को मार्ग मिल गया है।

इस तरह सेनगुप्त तो चल बसे। दूसरे शाही क़ैदी सुभाष बोस को, जिनकी तन्दुरुस्ती भी बरसों नज़रबन्दी और क़ैद से बर्बाद हो गई थी, आख़िरकार सरकार ने इलाज के लिए योरप जाने की इजाज़त दे दी। लेकिन और भी कितने लोग जेल-जीवन और बाहर की लगातार हलचलों की शारीरिक थकावट को बरदाश्त न कर सकने के कारण तन्दुरुस्ती खो बैठे थे, या मर चुके थे ! और कितने लोगों के, हालां-

कि ऊपर से उनमें बड़ी तबदीली दिखाई न देती थी, दिमाग़ों में उस ग़ैर-मामूली ज़िन्दगी के कारण जो उन्हें जेल में बितानी पड़ी थी गहरी मानसिक अव्यवस्था और विषमतायें पैदा हो गई थीं ।

सेनगुप्त की मृत्यु से बहुत साफ़ तौर पर मुझे मालूम होने लगा कि सारे देश-भर में कितना भयंकर और मौन कष्ट-सहन हो रहा है, और मैं निराश और उदास-सा हो गया। यह सब किसलिए हो रहा है ? आख़िर किसलिए ?

अपनी तन्दुरुस्ती के बारे में मैं ख़ुशक़िस्मत था, और कांग्रेस की प्रवृत्तियों की मेहनत और अनियमित जीवन के होते हुए भी मैं कुल मिलाकर अच्छा ही रहा। मेरे ख़याल से, इसका कुछ कारण तो यह था कि मुझे पैतृक रूप से ही अच्छा शरीर मिला था, और कुछ कारण यह भी था कि मैंने अपने शरीर की फ़िक्र रक्खी थी। बीमारी और कमज़ोरी और ज्यादा मुटापा मुझे बहुत भद्दा मालूम पड़ा, और कसरत, ताज़ा हवा और साधारण भोजन की मदद से मैं उनसे बच सका। मेरा अपना तजुर्बा यह है कि हिन्दुस्तान के मध्यम वर्गों की बहुत-सी बीमारियाँ तो ग़लत भोजन से होती हैं। वे तरह-तरह के पक्वान्न और सो भी ज्यादा मिक़दार में खाते हैं। ( यह बात उन्हीं-पर लागू होती है जिनकी ऐसी फ़ज़ूलख़र्च आदतें रखने की हैसियत होती है।) लाड-प्यार करनेवाली मातायें बच्चे को मिठाइयाँ और दूसरी बढ़िया कही जानेवाली चीज़ें ज्यादा खिला-खिलाकर ज़िन्दगीभर के लिए बदहज़मी की पक्की नींव डाल देती हैं। बच्चे को कपडे भी बहुत-से पहना दिये जाते हैं। हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ लोग भी बहुत ज्यादा खाते हैं, हालाँकि उनके खाने में इतने पक्वान्न नहीं होते। शायद उन्होंने पिछली पीढ़ी से, जो गरम-गरम और तेज़ भोजन अधिक मात्रा में किया करते थे उसमें, अब कुछ सुधार कर लिया है।

मैंने शौकिया चीजें खाने की या भोजन-संबन्धी प्रयोग करने की तरफ़ कोई ध्यान नहीं दिया, और सिर्फ़ ज्यादा मिक़दार और पकवानों से बचता रहा। क़रीब-क़रीब सभी कश्मीरी ब्राह्मणों की तरह हमारा परिवार भी मांसाहारी परिवार था, और बचपन से मैं हमेशा मांस खाता रहा था, हालाँकि मुझे उसका बहुत शौक़ कभी नहीं रहा। पर १९२० में असहयोग के वक़्त से मैंने मांस छोड़ दिया, और मैं शाकाहारी बन गया। इसके छः साल बाद योरप जाने पर मैं फिर मांस खाने लगा। मगर फिर हिन्दुस्तान आने पर मैं शाकाहारी बन गया, और तबसे मैं बहुत-कुछ शाकाहारी ही रहा हूँ। मांस-भोजन मुझे अच्छी तरह माफ़िक पड़ता है, लेकिन मुझे उससे अरुचि हो गई है, और तबीयत उसके खाने से कुछ कचवाती है।

मेरी बीमारियों के दौरान में, खासकर १९३२ में जेल में जबकि कई महीनों

तक रोज़ाना मुझे हरारत हो आया करती थी, मुझे बड़ा ग़ुस्सा-सा आता था, क्योंकि उससे मेरी अच्छी तन्दुरुस्ती के गर्व को ठेस पहुँचती थी। और मुझमें जीवन और शक्ति होने की अपनी सदा की धारणा के विरुद्ध, मैं पहली ही बार सोचने लगा, और मुझे ख़याल आया, कि मेरी तन्दुरुस्ती धीरे-धीरे गिरती जा रही है और मैं घुलता जा रहा हूँ, और इससे मैं भयभीत हो गया। मेरा ख़याल है कि मैं मौत से ख़ास तौर पर डरता नहीं हूँ। लेकिन शरीर और मस्तिष्क से धीरे-धीरे घुलते जाना तो दूसरी ही बात थी। मगर मेरा डर ज़रूरत से ज्यादा था और मैं अपनी अस्वस्थता से छूटने और अपने शरीर को क़ाबू में लाने में कामयाब हुआ। जाड़े मे बड़ी देर तक धूप में बैठे रहने से मैं फिर अपनेको तन्दुरुस्त महसूस करने लगा। जबकि जेल के मेरे साथी अपने कोटों और दुशालों में लिपटे हुए काँपा करते थे, मैं खुले बदन सूर्य-किरणों में बैठ जाया करता था। ऐसा जाड़े के दिनों में सिर्फ़ उत्तर हिन्दुस्तान में ही हो सकता था, क्योंकि दूसरी जगहों पर तो धूप अक्सर बहुत तेज़ होती है।

मेरी कसरतों में मुझे ख़ासकर शीर्षासन बहुत पसन्द आता था। मैं दोनों हाथों के पंजों को जोड़कर उनपर सिर का पिछला हिस्सा रखकर और कोहनियों को ज़मीन पर टिकाकर बदन को सिर के बल उलटा करके खड़ा हो जाता था। मेरा ख़याल है कि शारीरिक दृष्टि से यह कसरत बड़ी अच्छी है, और मुझपर हुए उसके मानसिक प्रभाव के कारण भी मैं उसे पसन्द करता था। इस कुछ-कुछ बेतुके आसन से मेरी तबीयत ख़ुश हो जाती थी, और मैं मनुष्य की ऐसी तरह-तरह की तरंगों के प्रति ज्यादा सहनशील हो गया था।

उदासी के दौरों को, जोकि जेल-जीवन में लाज़िमी तौर पर आते ही हैं, पार करने के लिए मेरी आम तौर पर अच्छी तन्दुरुस्ती ने और अच्छा स्वास्थ्य होने की शारीरिक भावना ने बड़ी सहायता की। इनसे मुझे जेल की या बाहर की बदलती हुई हालतों के मुताबिक़ अपने-आपको बना लेने में भी मदद मिली। मेरे दिल को कई बार धक्के लगे हैं, जिनसे उस वक्त तो मैं बहुत ही बेहाल हो जाता था, लेकिन मुझे ताज्जुब हुआ कि मैं अपनी उम्मीद से भी जल्दी उनसे बरी हो जाता था। मेरी राय में, मेरी मूलभूत शान्तता और स्वस्थता का एक सुबूत यह है कि मुझे कभी तेज सिर-दर्द नहीं हुआ और न मुझे कभी नींद न आने की शिकायत हुई। मैं सभ्यता की इन आम बीमारियों से और आँख की कमज़ोरी से भी बच गया हूँ, हालाँकि मैं पढ़ने और लिखने में और कभी-कभी तो जेल की ख़राब रोशनी में भी आँखों का बहुत ज्यादा इस्तैमाल करता रहा। पिछले साल एक आँखों के डाक्टर ने मेरी अच्छी दृष्टि-

शक्ति पर बड़ा आश्चर्य प्रकट किया था। आठ साल पहले उसने भविष्यवाणी की थी कि मुझे एक या दो साल में ही चश्मा लगाना पड़ेगा। उसका कहना बहुत ग़लत निकला, और मं अब भी बग़ैर चश्मे के अच्छी तरह काम चला रहा हूँ। हालाँकि इन बातों से मैं शान्त और स्वस्थ होने की नामवरी पा सकता हूँ, लेकिन मैं यह भी कह देना चाहता हूँ कि मैं उन लोगों से बहुत ख़ौफ़ खाता हूँ जो जब देखो तब हमेशा ही एक-से शान्त और गम्भीर बने रहते हैं।

जबकि मैं जेल से अपनी रिहाई का इन्तज़ार कर रहा था, उस समय बाहर व्यक्तिगत सविनय भंग का नया स्वरूप शुरू हो रहा था। गांधीजी ने इसमें सबसे पहले मिसाल पेश करने का फैसला किया, और अधिकारियों को पूरी तरह नोटिस देने के बाद वह १ अगस्त को गुजरात के किसानों में सविनय भंग का प्रचार करने के लिए रवाना हुए। वह फौरन गिरफ्तार कर लिये गये, उन्हें एक साल की सज़ा देदी गई और वह यरवडा की अपनी कोठरी में फिर भेज दिये गये। मुझे ख़ुशी हुई कि वह वापस वहाँ चले गये। लेकिन जल्दी ही एक नई पेचीदगी पैदा हो गई। गांधीजी ने जेल से हरिजन-कार्य करने की वही सहूलियतें माँगीं जो उन्हें पहले मिली थीं। सरकार ने उन्हें देने से इन्कार कर दिया। अचानक हमने सुना कि गांधीजी ने फिर उपवास शुरू कर दिया है। ऐसी जबर्दस्त कार्रवाई के लिए हमें वह बहुत ही छोटा कारण मालूम हुआ। उनके निर्णय के रहस्य को समझना मेरे लिए बिलकुल नामुमकिन था, चाहे सरकार के सामने उनकी दलील बिलकुल सही भी हो। मगर हम कुछ नहीं कर सकते थे। असमंजस में पड़े हुए हम देखते रहे।

उपवास के एक हफ्ते बाद उनकी हालत तेज़ी से गिरने लगी। वह एक अस्पताल में पहुँचा दिये गये थे, लेकिन वह क़ैदी ही रहे और सरकार हरिजन-कार्य के लिए सहूलियतें देने के मामले में न झुकी। उन्होंने जीवन की आशा (जोकि पिछले उपवासों में क़ायम रही थी) छोड़ दी, और अपनी तन्दुरुस्ती को गिरने दिया। उनका अन्त नज़दीक दीखने लगा। उन्होंने लोगों से बिदाई लेली, और अपने पास पड़ी हुई अपनी थोड़ी-सी चीज़ों को भी इस-उसको बाँट देने का इन्तज़ाम कर दिया, जिनमें से कुछ नर्सों के लिए रहीं। लेकिन सरकार यह नहीं चाहती थी कि उनकी मौत की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले, इसलिए उसी शाम को वह अचानक रिहा कर दिये गये। इससे वह मरते-मरते बच गये। एक दिन और हो जाता, तो फिर उनका बचना मुश्किल था। इस प्रकार उन्हें बचाने का बहुत कुछ श्रेय सम्भवतः सी० एफ० एण्ड्र्यूज़ को है, जो गांधीजी के मना करने पर भी हिन्दुस्तान जल्दी से आ गये थे।

इस बीच, २३ अगस्त को, मैं देहरादून-जेल से बदल दिया गया, और दूसरी जेलों

में क़रीब-क़रीब डेढ साल रहने बाद फिर ननी-जेल में आ गया। ठीक उसी वक्त मेरी माताजी के अचानक बीमार हो जाने और अस्पताल ले जाये जाने की ख़बर मिली। ३० अगस्त १९३३ को मैं नैनी से रिहा कर दिया गया, क्योंकि मेरी मां की हालत ख़तरनाक समझी गई। मामूली तौर पर मैं अपनी मियाद ख़तम होने पर ज्यादा-से-ज्यादा १२ सितम्बर को रिहा हो जाता। इस तरह मुझे प्रान्तीय सरकार ने तेरह दिन की छूट और दे दी।

## ५०

# गांधीजी से मुलाक़ात

जेल से रिहा होते ही मैं अपनी बीमार मा के पास लखनऊ पहुँचा और कुछ दिन उनके पास रहा। मैं काफी लम्बे अर्से के बाद जेल से बाहर निकला था और मुझे लगा कि मैं आस-पास के हालात से बिलकुल अपरिचित और अलग-सा हो गया हूँ। मैंने यह अनुभव किया और उससे मेरे दिल को कुछ धक्का भी लगा जैसा कि आमतौर पर होता ही है, कि जब मैं जेल में पड़ा-पड़ा सड़ रहा था, तो दुनिया आगे चली जा रही थी और बदलती जा रही थी। बच्चे और लड़कियाँ और लड़के बड़े होते जा रहे थे, शादिया, पैदाइशें और मौतें हो रही थी। प्रेम और घृणा, काम और खेल, दुःख और सुख सब हो रहे थे। जीवन मे दिलचस्पी पैदा करनेवाली नई-नई बातें हो गई थी, बातचीत के विषय नये हो गये थे; मैं जो कुछ देखता और सुनता था, सबपर मुझे कुछ-न-कुछ आश्चर्य होता था। मुझे लगा कि मुझे एक खाड़ी में छोड़कर दुनिया का जहाज आगे बढ़ गया था। यह भावना सब तरह सुखदायिनी नहीं थी। जल्दी ही इस स्थिति के माफिक़ मैं अपनेको बना सकता था, लेकिन ऐसा करने की मुझे प्रेरणा नही होती थी। मेरे दिल ने कहा कि जेल के बाहर सैर करने का मुझे यह तो थोड़ा-सा मौक़ा मिला है और जल्दी फिर मुझे जेल में ही जाना पड़ेगा; इसलिए जिस जगह से जल्दी चल ही देना है, उसके अनुकूल अपनेको बनाने की झंझट क्यों मोल ली जाय ?

राजनैतिक दृष्टि मे हिन्दुस्तान ख़ामोश था। सार्वजनिक प्रवृत्तियो पर ज्यादातर सरकार ने नियन्त्रण और दमन कर रक्खा था और गिरफ्तारियां कभी-कभी हो जाया करती थीं। मगर हिन्दुस्तान की उस वक़्त की ख़ामोशी बहुत मानी रखती थी। वह वैसी अशुभ ख़ामोशी थी, जैसी कि भयंकर दमन के अनुभव के बाद थक जाने से आ जाती है; जो ख़ामोशी अक्सर प्रभाव के साथ बोलती है, लेकिन उसे दमन करने-वाली सरकार नही सुन सकती। सारा हिन्दुस्तान एक आदर्श पुलिस-राज्य बन गया था और शासन के सब कामों में पुलिस-मनोवृत्ति व्याप्त हो गई थी। ज़ाहिरा तौर पर हर तरह की कार्रवाई, जो सरकार की इच्छा के माफ़िक न हो, दबा दी जाती थी और देशभर में खुफ़िया और छिपे कारिन्दों की बड़ी भारी फ़ौज फैली हुई थी। लोगों में आम तौर पर पस्तहिम्मती आ गई थी और चारों ओर आतंक छा गया था। कोई भी राजनैतिक प्रवृत्ति, खासकर देहाती हलकों मे हो तो, फ़ौरन कुचल दी

जाती थी और भिन्न-भिन्न प्रान्तीय सरकारें म्युनिसिपैलिटियों और लोकल बोर्डों में से ढूंढ-ढूंढकर कांग्रेसवालों को निकालने की कोशिश कर रही थीं। हर शख़्स, जो सविनय कानून भंग करके जेल गया था, सरकार की राय मे म्युनिसिपल स्कूलों में पढ़ाने या म्युनिसिपैलिटी में और भी कोई काम करने के अयोग्य था। म्युनिसिपैलिटी आदि पर बड़ा भारी दबाव डाला गया और ये धमकियाँ दी गई कि अगर कांग्रेसवाले निकाले न जायँगे तो सरकारी इमदाद बन्द कर दी जायगी। इस बल-प्रयोग की सबसे बदनाम मिसाल कलकत्ता-कार्पोरेशन में हुई। आख़िरकार, मेरा ख़याल है, सरकार ने एक क़ानून ही बना दिया कि कार्पोरेशन ऐसे व्यक्तियों को मुलाज़िम नहीं रख सकता, जो राजनैतिक अपराधों पर सज़ा पा चुके हों।

जर्मनी में नाज़ियों की ज्यादतियों की खबरों का हिन्दुस्तान के ब्रिटिश अफ़सरों और उनके अखबारों पर एक विचित्र प्रभाव पड़ा। उन ज्यादतियों से उन्हें हिन्दुस्तान में उन्होंने जो कुछ किया था उस सबको उचित बताने का कारण मिल गया और उन्होंने मानों अपनी इस भलाई के अभिमान के साथ हमें बताया, कि अगर यहां नाज़ियों की हुकूमत होती, तो हमारा हाल कितना ज्यादा खराब हुआ होता। नाज़ियों ने तो बिलकुल नये पैमाने क़ायम कर दिये है, उन्होंने नई व्यवस्था ही लिख डाली है और उनका मुकाबिला करना निश्चय ही आसान नही था। सम्भव है कि हमारा हाल ज्यादा खराब होता; लेकिन इसका निर्णय करना मेरे लिए मुश्किल है, क्योंकि पिछले पाँच वर्षों में हिन्दुस्तान में क्या-क्या हुआ, इसके सारे वाक़यात मेरे पास नही है। हिन्दुस्तान की ब्रिटिश सरकार ऐसे पुण्य में विश्वास रखती है कि बायें हाथ से जो काम किया जाय उसका पता दाहिने हाथ को भी न लगना चाहिए, और इसलिए उसने निष्पक्ष जाँच कराने की हर तजवीज़ को नामंज़ूर कर दिया, हालाँकि ऐसी जांचों का पलड़ा हमेशा सरकारी पक्ष में ही भारी हुआ करता है। मेरे ख़याल से, यही सच है कि औसत अंग्रेज़ बे-रहमी से नफ़रत करता है और मैं ऐसे अंग्रेज़ों की कल्पना नही कर सकता, जो नाज़ियों की तरह से "ब्रूतैलितात" (पशुता या बेरहमी) लफ्ज़ को खुले तौर पर कहने और उसे प्रेमपूर्वक दोहराने में शान मानते हों। जब वे ऐसा काम कर भी डालते हैं, तो उससे कुछ-कुछ शर्मिन्दा भी होते हैं। लेकिन चाहे हम जर्मन हों या अंग्रेज़ हों या हिन्दुस्तानी हों, मेरा खयाल है कि सभ्यातापूर्ण व्यवहार का हमारा ख़ोल इतना पतला है कि जब हमें रोष चढ़ आता है तो वह खुरचकर निकल जाता है और उसके भीतर से हमारा वह स्वरूप प्रकट होता है जिसे देखना अच्छा नहीं लगता। महायुद्ध ने मनुष्यजाति को भयंकर रूप से पाशविक बना दिया है, और उसके बाद ही हमने यह दृश्य देखा कि सन्धि हो जाने के बाद भी जर्मनी का भयंकर द्वाराव-

राध करके उसे भूखों मारा गया। एक अंग्रेज़ लेखक ने लिखा है कि "यह एक सबसे अधिक निरर्थक, पाशविक और घृणित जुल्म था, जैसा कि शायद ही किसी राष्ट्र ने कभी किया हो।" १८५७ और १८५८ के वाक़यात हिन्दुस्तान भूला नहीं है। जब हमारे स्वार्थ ख़तरे में पड़ जाते हैं, तब हम अपने सारे समाज-व्यवहार और और सारी शराफ़त को भूल जाते हैं और झूठ ही 'प्रचार' का रूप धारण कर लेता है, पशुता ही 'वैज्ञानिक दमन' ओर 'कानून और व्यवस्था' की रक्षा बन जाती है।

यह किन्हीं व्यक्तियों या किसी ख़ास जाति का दोष नहीं है। वैसी ही परिस्थितियों में थोड़ा-बहुत हर कोई वैसा ही बर्ताव करता है। हिन्दुस्तान में, और विदेशी हुकूमत के मातहत हर मुल्क में, हुकूमत करनेवाली शक्ति के ख़िलाफ़ हमेशा एक सुप्त चुनौती खड़ी रहती है और वक्तन-फ़वक्तन वह ज्यादा प्रकट और तेज़ भी होती रहती है। इस चुनौती से शासकवर्ग में हमेशा फ़ौजी गुण और दोष पैदा हो जाया करते हैं। पिछले कुछ सालों में हिन्दुस्तान में हमें इन फ़ौजी गुण-दोषों का दृश्य बहुत ही ज्यादा मिक़दार में देखने को मिला, क्योंकि हमारी चुनौती ज़ोरदार और कारगर हो गई थी। लेकिन हिन्दुस्तान में हमें तो हमेशा ही फ़ौज़ी मनोवृत्ति (या उसके अभाव) को सहन करना पड़ता है। साम्राज्य की स्थापना का यह एक नतीजा है और इससे दोनों पक्षों का पतन होता है। हिन्दुस्तान का पतन तो साफ़ दीखता ही है, लेकिन दूसरे पक्ष का ज्यादा सूक्ष्म है; संकट-काल में वह प्रकट हो जाता है। और एक तीसरा पक्ष भी है, जिसे बदक़िस्मती से दोनों तरह का पतन भोगना पड़ता है।

जेल में मुझे ऊँचे-ऊँचे अफसरों के भाषण, असेम्बली और कौंसिलों में उनके जवाब और सरकारी बयानात पढ़ने की काफी फुरसत मिली। पिछले तीन सालों में, मैंने देखा कि उनमें एक स्पष्ट तबदीली हो रही है, और यह तबदीली अधिक-अधिक प्रकट होती गई है। उनमें डराने और धमकाने का रुख ज्यादा-ज्यादा बढ़ता गया है और वह रुख ऐसा हो गया था मानो कोई सार्जेण्ट मेजर अपने मातहतों से बोल रहा हो। इसकी एक ध्यान देने योग्य मिसाल थी, नवम्बर या दिसम्बर १९३३ में, शायद मिदनापुर डिवीज़न के कमिश्नर का भाषण। इन सारे भाषणों में 'हम विजयी हैं, हम जो चाहें वह करेंगे' की भावना लगातार रहती थी। ग़ैर-सरकारी यूरोपियन तो, ख़ासकर बंगाल में, सरकारी लोगों से भी आगे बढ़ जाते हैं और उनके भाषणों और कार्यों दोनों में उन्होंने बहुत निश्चित फासिस्ट मनोवृत्ति दिखलाई है।

इसके भी अलावा, पाशविकता की एक और नंगी मिसाल थी हाल में ही सिन्ध में कुछ मृत्युदण्ड पाये हुए मुजरिमों को खुली फांसी देना। क्योंकि सिन्ध में जुर्म बढ़ रहे थे, इसलिए अधिकारियों ने तय किया कि इन मुजरिमों को सबके सामने फांसी

दी जाय, ताकि दूसरे भी आगाह हो जायँ। इस भयंकर दृश्य को आकर देखने के लिए पब्लिक को हर तरह की सुहूलियत दी गई और कहा जाता है कि कई हज़ार लोग गये भी थे।

जेल से रिहा होने के बाद, मैंने हिन्दुस्तान में राजनैतिक और आर्थिक हालत का मुआयना किया और मुझे उन्हें देखकर जरा भी उत्साह मालूम न हुआ। मेरे कई साथी जेल में थे, नई गिरफ्तारियाँ जारी थी, सारे आर्डिनेन्स अमल में आ रहे थे, सेन्सर-शिप से अख़बारों का गला घुटा हुआ था और हमारे पत्र-व्यवहार की व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई थी। मेरे एक साथी रफ़ीअहमद किदवई को अपने पत्रों पर सेन्सर की लहरों के कारण बड़ा गुस्सा आया। उनके ख़त रोक लिये जाते थे या देर से आते थे या गुम ही हो जाते थे और इससे उनके काम-काज में बड़ी रुकावट हो जाती थी। वह अपने पत्रों के बारे में ज्यादा एहतियात से काम लेने की अपील सेन्सर से करना चाहते थे, लेकिन वह लिखने किसको ? सेन्सर करनेवाला कोई सार्वजनिक अधिकारी नहीं था। शायद वह कोई सी० आई० डी० अफ़सर था, जो अपना काम गुप्त रूप से करता था, जिसका कि अस्तित्व और कार्य प्रकट रूप से मंज़र भी नही किया गया था। रफ़ीअहमद ने इस मुश्किल को इस तरह हल किया कि उन्होंने सेन्सर के नाम एक ख़त लिखा, लेकिन उसपर ख़ुद अपना पता लिखकर डाल दिया। निश्चय ही ख़त अपने ठीक मुकाम पर पहुँच गया और बाद में रफ़ीअहमद के पत्र-व्यवहार के बारे में कुछ सुधार हो गया।

मैं फिर वापस जेल जाना नहीं चाहता था। उससे मेरा पेट काफ़ी भर गया था, लेकिन मुझे नही सूझता था कि मैं उससे कैसे बच सकता था, जबतक कि मैं सब तरह की राजनैतिक प्रवृत्ति ही न छोड़ दूँ। मेरा यह इरादा न था, इसलिए मुझे लगा कि मुझे सरकार के संघर्ष में आना ही पड़ेगा। किसी वक़्त भी मुझको ऐसा हुक्म मिल सकता था कि मैं कोई ख़ास काम न करूँ, और मेरी सारी प्रकृति किसी ख़ास काम के लिए मजबूर किये जाने के ख़िलाफ़ बग़ावत किया करती है। हिन्दुस्तान के लोगों को डराने और दबाने की कोशिश की जा रही थी। मैं लाचार था और बड़े क्षेत्र में कुछ नहीं कर सकता था, लेकिन कम-से-कम मैं ज़ाती तौर पर डराये और दबाये जाने से इन्कार तो कर ही सकता था।

जेल वापस जाने से पहले मैं कुछ मामले निबटा डालना चाहता था। सबसे पहले तो मुझे अपनी मा की बीमारी की तरफ़ ध्यान देना था। उनकी हालत बहुत धीरे-धीरे सुधरती गई, लेकिन वह इतनी धीरे-धीरे सुधरी कि एक साल तक वह चारपाई पर ही रहीं। मैं गांधीजी से भी मिलने को उत्सुक था, जोकि पूना में पड़े अपने

हाल के ही उपवास से स्वास्थ्य-सुधार कर रहे थे। दो साल से ज्यादा अर्से से मैं उनसे नहीं मिला था। ज्यादा-से-ज्यादा मैं अपने प्रान्तीय साथियों से भी मिलना चाहता था, ताकि उनसे न सिर्फ हिन्दुस्तान की मौजूदा राजनैतिक स्थिति पर ही बल्कि संसार की परिस्थिति पर और उन सब विचारों पर बातचीत करूँ, जो मेरे दिमाग़ में भरे हुए थे। उस वक्त मेरा ख़याल था कि दुनिया बड़ी तेज़ी से एक महान् राजनैतिक और आर्थिक विपत्ति की तरफ़ जा रही है और अपने राष्ट्रीय कार्यक्रमों को बनाते वक्त हमें इसका ध्यान रखना चाहिए।

अपने घर के मामलों की तरफ़ भी मुझे ध्यान देना था। अभीतक मैंने उनकी तरफ़ कतई ध्यान नहीं दिया था और पिताजी की मृत्यु के बाद मैंने उनके काग़ज़ात की देख-भाल भी नहीं की थी। हमने अपना खर्चा बहुत कम कर दिया था, लेकिन ताहम वह हमारी शक्ति से बहुत अधिक था। फिर भी हम जबतक उस मकान में रहते, तबतक उसे और कम करना मुश्किल था। हम मोटर नहीं रख रहे थे, क्योंकि उसका खर्च हम उठा नहीं सकते थे, और एक सबब यह भी था कि सरकार उसे कभी भी कुर्क कर सकती थी। इन आर्थिक कठिनाइयों के बीच में, मेरे पास आर्थिक सहायता मांगनेवाले बहुत पत्र आते थे, जिनसे मेरा ध्यान उधर भी खिंच जाता था। ( सेन्सर ये पत्र मेरे पास ढकेल देता था। ) एक बड़ा आम और ग़लत ख़याल, ख़ासकर दक्षिण भारत में, यह फैला हुआ था कि मैं कोई बड़ा दौलतमन्द आदमी हूँ। मेरी रिहाई के बाद फौरन ही मेरी छोटी बहन कृष्णा की सगाई हो चुकी थी और मैं चिन्तित था कि जल्दी हो शादी जाय—इससे पहले कि मुझे जेल जाना पड़े। कृष्णा खुद भी एक सालतक जेल काटकर कुछ ही महीने पहले छूटी थी।

जैसे ही मा की बीमारी से मैंने छुट्टी पाई, मैं गांधीजी से मिलने पूना चला गया। उनसे मिलकर और यह देखकर मुझे खुशी हुई कि हालांकि वह कमज़ोर थे, लेकिन वह अच्छी प्रगति कर रहे थे। हमारे बीच लम्बी-लम्बी बातचीतें हुईं। यह साफ़ ज़ाहिर था कि जीवन, राजनीति और अर्थशास्त्र के हमारे दृष्टिकोणों में काफ़ी फ़र्क़ था, लेकिन मैंने उनका अहसान माना कि उनसे जहाँतक बना उन्होंने उदारता-पूर्वक मेरे दृष्टिकोण से अधिक-से-अधिक नज़दीक आने की कोशिश की। हमारे पत्र-व्यवहार में, जो बाद में प्रकाशित भी हो गया था, मेरे दिमाग़ में भरे हुए कुछ अधिक व्यापक प्रश्नों पर विचार किया गया था, और हालांकि उनका ज़िक्र कुछ गोलमोल भाषा में हुआ था, लेकिन दृष्टिकोण का सामान्य भेद तो साफ़ दीखता था। मुझे खुशी हुई कि गांधीजी ने यह घोषित कर दिया कि स्थापित स्वार्थों को अस्थापित कर देना चाहिए, हालांकि उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि यह काम बल-प्रयोग से

नहीं, बल्कि हृदय-परिवर्त्तन से होना चाहिए। चूंकि मेरे ख़याल से, उनके हृदय-परिवर्त्तन के तरीक़े भी नम्रता और विचार-पूर्ण बल-प्रयोग से अधिक भिन्न नहीं हैं, इसलिए मुझे मतभेद ज्यादा न लगा। उस वक़्त, पहले की ही तरह, मेरी उनके विषय में यह धारणा थी कि यद्यपि वह गोलमोल सिद्धान्तों पर विचार नहीं किया करते, तो भी घटनाओ के तार्किक परिणामों को देखकर, क़दम-ब-क़दम, वह आमूल सामाजिक परिवर्तन की अनिवार्यता को मान लेंगे। वह एक अजीब चीज़ हैं—श्री वेरियर एलविन के शब्दों में वह 'मध्यकालीन कैथलिक साधुओं के ढंग के आदमी' हैं—लेकिन साथ ही, वह एक व्यावहारिक नेता भी हैं और उनकी नब्ज का सम्बन्ध हमेशा हिन्दुस्तान के क़िसानों के साथ है। संकट-काल में वह किस दिशा में मुड़ जायँगे, यह कहना मुश्किल था; लेकिन दिशा कोई भी हो, उसका परिणाम जबरदस्त होगा। सम्भव है कि हमारे विचार से वह ग़लत रास्ते जावें, लेकिन हमेशा वह सीधा रास्ता ही होगा। उनके साथ काम करना तो अच्छा ही था, लेकिन अगर ज़रूरत होगी, तो अलग-अलग रास्तों से भी जाना पड़ेगा।

उस वक्त, मेरा ख़याल था कि, यह सवाल नहीं उठता था। हम अपनी राष्ट्रीय लड़ाई के मध्य में थे, और अभीतक सविनय भंग ही सिद्धान्ततः कांग्रेस का कार्यक्रम था, हालांकि व्यक्तियों तक ही उसकी सीमा बाँध दी गई थी। हमारी लड़ाई जारी रहे और साथ ही समाजवादी विचार लोगों मे और ख़ासकर अधिक राजनैतिक मनोवृत्ति रखनेवाले कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं में फैलाने की कोशिश करनी चाहिए, ताकि जब नीति की घोषणा का दूसरा मौक़ा आवे तो हम काफ़ी आगे क़दम बढ़ाने को तैयार मिलें। इस बीच कांग्रेस तो ग़ैर-क़ानूनी संगठन था और ब्रिटिश सरकार उसे कुचलने की कोशिश कर रही थी। हमें उस हमले का सामना करना था।

गांधीजी के सामने जो ख़ास सवाल था, वह था व्यक्तिगत। उन्हें ख़ुद क्या करना चाहिए? वह बड़ी उलझन में थे। अगर वह फिर जेल गये, तो हरिजन-कार्य की सहूलियतों का वही सवाल फिर उठेगा, और बहुत मुमकिन था कि सरकार न झुके और वह फिर उपवास करें। तो क्या वही सारा क्रम फिर दोहराया जायगा? ऐसी चूहे-बिल्लीवाली नीति के सामने उन्होंने झुकने से इन्कार कर दिया, और कहा कि 'अगर मुझे उन सहूलियतों के लिए उपवास करना पड़ा, तो रिहा कर दिये जाने पर भी मैं उपवास जारी रक्खूँगा।' इसके मानी थे आमरण उपवास।

दूसरा रास्ता उनके सामने यह था कि वह अपनी सज़ा की मियाद तक (जिसमें से अभी साढ़े दस महीने बाक़ी थे) अपनी गिरफ्तारी न करवायें और सिर्फ़ हरिजन-कार्य में ही अपने-आपको लगा दें; लेकिन साथ ही, वह कांग्रेस-कार्यकर्त्ताओं से मिलते रहें, और जब जरूरत हो तब उन्हें सलाह भी दें।

उन्होंने मुझे एक तीसरा रास्ता भी सुझाया, कि वह कुछ अर्से के लिए कांग्रेस से बिलकुल अलग हो जायँ और उसे ( उनके ही शब्दों में ) 'नई पीढ़ी' के हाथों में छोड़ दें।

पहले रास्ते की, जिसका अन्त उपवास-द्वारा प्राणान्त कर देना मालूम होता था, हममें से कोई भी सिफ़ारिश नहीं कर सकता था। तीसरा रास्ता भी, जब कि कांग्रेस एक ग़ैर-क़ानूनी संस्था थी, ठीक मालूम नहीं हुआ। इस रास्ते का नतीजा यह होता कि सविनय भंग और सब तरह की 'सीधी लड़ाई' फ़ौरन वापस ले ली जाती और फिर क़ानूनी और वैध प्रवृत्ति पर लौटना पड़ता, या कांग्रेस ग़ैर-कानूनी और सबसे, अब तो गांधीजी तक से, अकेली छोड़ी जाकर सरकार द्वारा और भी ज्यादा कुचली जाती। इसके अलावा, एक ग़ैर-क़ानूनी संस्था के, जो मीटिंग करके किसी नीति पर विचार नहीं कर सकती थी, किसी दल के कब्ज़े में आने का सवाल ही नहीं पैदा होता था। इस तरह और रास्तों को छोड़ते हुए हम उनके सुझाये दूसरे उपाय पर आ गये। हममें से ज्यादातर लोग उसे नापसन्द करते थे और हम जानते थे कि उससे बचे-खुचे सविनय भंग को एक भारी आघात पहुँचेगा। अगर नेता ही लड़ाई में से हट जायगा, तो यह संभव नहीं था कि बहुत उत्साही कांग्रेसी-कार्यकर्त्ता आग में कूद पड़ें; लेकिन उलझन में से निकलने का और कोई रास्ता ही न था, और इसीके अनुसार गांधीजी ने अपनी घोषणा कर दी।

गांधीजी और मैं, दोनों इस बात पर सहमत थे, हालाँकि हमारे कारण अलग-अलग थे, कि सविनय भंग को वापस लेने का अभी वक़्त नहीं आया है और चाहे आन्दोलन धीरे चले, लेकिन उसे जारी रखना ही चाहिए। और, कुछ भी हो, मैं लोगों का ध्यान समाजवादी सिद्धान्तों और संसार की परिस्थिति पर भी खींचना चाहता था।

लौटते वक़्त मैंने कुछ दिन बम्बई में बिताये। मेरी ख़ुशकिस्मती से उदयशंकर उन दिनों वहीं थे। मैंने उनका नृत्य देखा। मैंने इस मनोरंजन से, जिसका पहले से कोई ख़याल नहीं था, बड़ा आनन्द उठाया। नाटक, सिनेमा, टॉकी, रेडियो, ब्रॉडकास्टिंग—यह सब पिछले कई वर्षों से मैं देख ही न सका था, क्योंकि स्वतंत्र रहने के वक़्त भी मैं दूसरी प्रवृत्तियों में बहुत ज्यादा लगा रहता था। अभीतक मैं सिर्फ़ एक बार ही टॉकी देख पाया हूँ, और बड़े-बड़े अभिनेताओं के मैं सिर्फ़ नाम ही सुनता हूँ। मुझे नाटक देखने का अभाव ख़ास तौर पर अखरता है और विदेशों में नये-नये खेलों के तैयार होने का वर्णन मैं बड़े रश्क़ से पढ़ता रहता हूँ। उत्तर हिन्दुस्तान में, जेल से बाहर होने की हालत में भी, अच्छे खेल देखने का कोई मौक़ा न था, क्योंकि मैं मुश्किल से उनतक पहुँच पाता था। मेरा ख़याल है कि बंगाली, गुजराती और मराठी नाटक-

साहित्य ने कुछ प्रगति की है, लेकिन हिन्दुस्तानी रंग-मंच ने, जो कि निहायत भद्दा और कला-हीन है, या था, क्योंकि मुझे हाल की प्रगति का हाल नहीं मालूम, कुछ भी प्रगति नहीं की। मैंने यह भी सुना है कि हिन्दुस्तानी फिल्में, मूक और सवाक्, दोनों में कला का प्रायः अभाव ही रहता है। उनमें आम तौर पर सुरीले गानों या गज़लों की ही प्रधानता रहती है और उनका कथाभाग हिन्दुस्तान के पुराने इतिहास या पुराणों में से लिया हुआ होता है।

मेरे ख़याल से, इनमें वह सब चीज़ मिल जाती है जिसकी शहर के लोग क़द्र करते हैं। इन भद्दे और दुःखदायी प्रदर्शनों में और साधारण जनता के अब भी बचे-खुचे संगीत, नृत्य और देहाती नाटकों तक की कला में अन्तर साफ़ दिखाई देता है। बंगाल में, गुजरात में और दक्षिण में कभी-कभी यह देखकर बड़ा आश्चर्य और आनंद होता है, कि मूलतः, लेकिन अनजान में, देहात के लोग कितने कलामय हैं। लेकिन मध्यम-वर्गों का हाल ऐसा नहीं है। उनकी तो मानों जड़ों का ही पता नहीं है, और उनके पास सौंदर्य या कला की कोई परम्परा नहीं रही है, जिसे वे पकड़े रहें। वे जर्मनी और ऑस्ट्रिया में बहुतायत से बने हुए सस्ते और बीभत्स चित्रों को रखने में ही अपनी शान समझते हैं, और ज्यादा किया तो कभी-कभी रवि वर्मा के चित्र रख लेते हैं। संगीत में उनका प्यारा बाजा हारमोनियम है। (मुझे आशा है कि स्वराज-सरकार के शुरुआती कामों में एक यह भी होगा कि वह इस भयानक वाद्य पर प्रतिबन्ध लगा दे।) लेकिन दर्दनाक भद्दापन और कला के सब सिद्धान्तों के भंग की पराकाष्ठा तो शायद लखनऊ और दूसरी जगह के बड़े-बड़े ताल्लुकेदारों के घरों में दिखाई देती है। उनके पास खर्च करने को पैसा होता है और और दिखावा करने की ख़्वाहिश, और ऐसा ही वे करते भी हैं, और जो लोग उनके यहाँ जाते हैं, उन्हें उनकी इस अभिलाषा की पूर्ति का दुःखी गवाह बनना पड़ता है।

हाल में ही प्रतिभाशाली ठाकुर-परिवार के नेतृत्व में कुछ कला-जागृति हुई है और उसका प्रभाव सारे हिन्दुस्तान पर दिखाई देता है; लेकिन जबकि देश के लोगों पर जगह-जगह रुकावटें और बन्धन डाले जाते हैं और उन्हें दबाया जाता है और वे दहशत के वातावरण में रहते हैं, तब कोई भी कला किसी बड़े पैमाने पर कैसे फल-फूल सकती है ?

बम्बई में मैं कई दोस्तों और साथियों से मिला, जिनमें से कुछ तो हाल में ही जेल से निकले थे। समाजवादी लोगों की तादाद वहाँ ज्यादा थी और कांग्रेस के ऊपरी तह के लोगों की हाल की घटनाओं पर वहां बड़ा रोष था। गांधीजी राजनीति में जो आध्यात्मिक दृष्टिकोण लगाया करते थे, उसकी सख़्त आलोचना होती थी। अधिकांश

आलोचना में मैं सहमत था, लेकिन मेरी साफ़ राय थी कि हमारी उस वक्त की परिस्थिति में और कोई चारा न था और हमें अपना काम जारी ही रखना था। सविनय भंग को वापस लेने की कोशिश भी की जाती, तो उसमें भी हमें कोई राहत न मिलती, क्योंकि सरकार का आक्रमण तो जारी रहता और कुछ भी कारगर काम किया जाता तो उसका नतीजा जेलखाना ही होता। हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन ऐसी हालत में पहुँच गया था कि सरकार को उसे दबा ही देना पड़ा, वरना ब्रिटिश सरकार को हमारी इच्छा माननी पड़ती। इसके मानी यह थे कि वह ऐसी हालत में आ गया था कि जब उसका हमेशा ही गैर-क़ानूनी क़रार दिया जाना मुमकिन था और आन्दोलन के रूप में, चाहे सविनय भंग भी बन्द कर दिया जाय तो भी, वह पीछे नहीं हट सकता था। असल में, सविनय भंग के जारी रहने से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता था, लेकिन असली महत्व था चुनौती के काम का ही। लड़ाई के बीच नये विचारों का फैलाना उस वक्त की बनिस्बत आसान था, जबकि लड़ाई बन्द कर दी गई हो और लोगों का हौसला पस्त पड़ने लगा हो। लड़ाई के अलावा दूसरा रास्ता सिर्फ़ यही था कि ब्रिटिश ताक़त के साथ समझौते की मनोवृत्ति स्वीकार की जाय और कौंसिलों में जाकर वैध कार्य किया जाय।

वह एक कठिन स्थिति थी, लेकिन कोई भी रास्ता ढूँढना आसान न था। अपने साथियों के मानसिक संघर्षों को मैं समझ सकता था, क्योंकि खुद मुझे भी उनका सामना करना पड़ा था। लेकिन, जैसा कि हिन्दुस्तान में दूसरी जगह भी पाया गया है, वहां मुझे ऐसे लोग दिखाई दिये, जो ऊँचे समाजवादी सिद्धान्त के बहाने कुछ भी न करना चाहते थे। इस बात से मुझे कुछ चिढ़ होती थी कि जो लोग खुद कुछ न करें, वे उन दूसरे लोगों को, जिन्होंने लड़ाई के मैदान की धूल और धूप में सारा भार उठाया, प्रतिगामी बताकर उनकी आलोचना करें। ये आराम-कुरसीवाले समाजवादी लोग गांधीजी पर खास तौर पर जोर का वार करते हुए उन्हें प्रतिगामियों के सिरताज बताते हैं और ऐसी-ऐसी दलीलें देते हैं, जिनमें तर्क की दृष्टि से कोई कसर नहीं रहती है; लेकिन सीधी-सी बात तो यह है कि यह "प्रतिगामी" व्यक्ति हिन्दुस्तान को जानता और समझता है और किसान-हिन्दुस्तान का क़रीब-क़रीब मूर्त्तिमान् स्वरूप बन गया है और इसने इस क़दर हिन्दुस्तान में हलचल पैदा करदी है जैसी क्रांतिकारी कहे जाने-वाले किसी भी व्यक्ति ने नहीं की है। उनके सबसे ताज़े हरिजन-सम्बन्धी कार्यों ने भी, हलके-हलके लेकिन अबाध रूप से, हिन्दू कट्टरता का प्रभाव कम कर दिया है और उसकी बुनियाद हिला दी है। सारे कट्टर-पन्थी लोग उनके खिलाफ़ उठ खड़े हुए हैं और उन्हें सबसे खतरनाक दुश्मन समझते हैं, हालांकि वह उनके साथ सोलहों आना

शिष्टता और सम्मान ही का व्यवहार करते हैं। अपने खास ढंग से जबरदस्त ताक़तों को जागृत करके छोड़ देने का उनमें स्वभावसिद्ध गुण है, जो कि पानी की लहरों की तरह चारों ओर फैल जाती हैं और लाखों आदमियों पर अपना असर डालती है। चाहे वह प्रतिगामी हों या क्रान्तिकारी, उन्होंने हिन्दुस्तान की सूरत तबदील कर दी है। उस जनता में, जो हमेशा हाथ जोड़ती और डरती रहती थी, स्वाभिमान और चरित्र-बल भर दिया है। उन्होंने आम लोगों में शक्ति और चेतनता पैदा की है और हिन्दुस्तान की समस्या को संसार की समस्या बना दिया है। इस बात को जुदा रखते हुए कि अहिंसात्मक असहयोग या सविनय भंग के आध्यात्मिक परिणाम क्या-क्या हैं, यह सही है कि वह हिन्दुस्तान और दुनिया के लिए उनकी एक अनोखी देन है और इसमें कोई शक नहीं हो सकता कि वह हिन्दुस्तान की परिस्थिति के लिए खास तौर पर उपयुक्त सिद्ध हुआ है।

मेरे खयाल से यह ठीक है कि हम सच्ची आलोचना को प्रोत्साहित करें और अपनी समस्याओं पर जितना भी सार्वजनिक वाद-विवाद हो सके करें। बदक़िस्मती से गांधीजी की सर्वोपरि स्थिति के कारण भी किसी हदतक इस प्रकार के वाद-विवाद में रुकावट पड गई है। उनके ऊपर अवलम्बित रहने और निर्णय का काम उन्हींपर छोड़ देने की प्रवृत्ति हमेशा रही है। स्पष्टतः यह ग़लत बात है और राष्ट्र तो उद्देश्यों और साधनों को बुद्धिपूर्वक ग्रहण करके ही बढ़ सकता है और जब उन्हींके आधार पर, न कि अन्ध-आज्ञा-पालन पर, सहयोग और अनुशासन स्थापित होगा, तभी देश की प्रगति होगी। कोई व्यक्ति कितना भी बड़ा क्यों न हो, आलोचना से परे नहीं होना चाहिए; लेकिन जब आलोचना निष्क्रियता का बहाना-मात्र बन जाती है, तो उसमें कुछ-न-कुछ बिगाड़ समझना चाहिए। अगर समाजवादी लोग इस तरह का काम करेंगे, तो वे जनता की निन्दा के पात्र बन जायँगे, क्योंकि जनता तो काम से आदमी की परख करती है। लेनिन ने कहा है कि "जो आदमी भविष्य के आसान कामों के स्वप्नों के नाम पर वर्तमान के सख़्त कामों को करना छोड़ देता है, वह मौक़ापरस्त बन जाता है। सिद्धान्त-रूप से इसका मतलब है असली जीवन में इस समय होनेवाली घटनाओं पर अपना आधार रखने में विफल होना, ताकि स्वप्नों के नाम पर उनसे अपने-आपको अलग रख सकें।"

हिन्दुस्तान के समाजवादी और कम्यूनिस्ट लोग अपने खयालात ज्यादातर उस साहित्य पर से बनाते हैं, जो औद्योगिक मज़दूर-वर्ग की बाबत है। कुछ खास हलकों में, जैसे बंबई में या कलकत्ते के पास, कारख़ानों के मज़दूर बड़ी तादाद में हैं, लेकिन हिन्दुस्तान का बाक़ी हिस्सा तो किसानों का ही है और कारख़ानों के मज़दूरों के

दृष्टिकोण से हिन्दुस्तान की समस्या का कारगर हल नहीं मिल सकता। यहाँ तो राष्ट्रवाद और ग्रामीण सुव्यवस्था ही सबसे बड़े सवाल हैं और योरप का समाजवाद इनके बारे में शायद ही कुछ जानता हो। रूस में महायुद्ध से पहले की हालत हिन्दुस्तान से बहुत-कुछ मिलती-जुलती थी, मगर वहाँ तो बहुत ही असाधारण और ग़ैर-मामूली घटनायें हो गई और वैसी ही घटनायें फिर दूसरी जगह हों यह उम्मीद करना बेवकूफ़ी होगी। लेकिन इतना मैं ज़रूर जानता हूँ कि कम्यूनिज्म के तत्त्वज्ञान से किसी भी देश की मौजूदा परिस्थिति को समझने और उसका विश्लेषण करने में सहायता मिलती है और आगे प्रगति का रास्ता मालूम होता है; लेकिन उस तत्त्वज्ञान के साथ यह ज़बरदस्ती और बेइन्साफ़ी होगी कि उसे वाक़यात और हालात का मुनासिब ख़याल न रखते हुए अंधे की तरह हर जगह लागू कर दिया जाय।

कुछ भी हो, जीवन एक बड़ा पेचीदा मामला है और जीवन के संघर्षों और विरोधों से कभी-कभी आदमी कुछ निराश-सा हो जाता है। इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं कि लोगों में मतभेद पैदा हो जाय या वे साथी, जो समस्याओं पर एक ही दृष्टिकोण से देखते हैं, अलग-अलग नतीजों पर पहुँचें; लेकिन वह आदमी, जो अपनी कमज़ोरी को बड़े-बड़े वाक्यों और ऊँचे-ऊँचे उसूलों के परदे में छिपाता है, ज़रूर संदेह का पात्र बन सकता है। जो शख़्स सरकार को इक़रारनामे और वादे लिखकर या और किसी संदेहास्पद व्यवहार से जेल जाने से अपने-आपको बचाता है और फिर दूसरों की आलोचना करने का दुःसाहस करता है, वह अपने कार्य को नुक़सान पहुँचाने की संभावना पैदा करता है।

बम्बई बड़ा शहर है और उसमें सब जगह के लोग रहते हैं। वहाँ सभी तरह के लोग मौजूद थे। लेकिन एक प्रमुख नागरिक ने तो अपने राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक दृष्टिकोण में बड़ी मार्के की उदारता दिखाई। मज़दूर नेता की हैसियत से वह समाजवादी थे; राजनीति में वह आम तौर पर अपनेको डिमोक्रेट (लोकतन्त्रवादी) कहते थे; हिन्दू-सभा भी उन्हें बहुत चाहती थी। उन्होंने वादा किया कि मैं पुराने धार्मिक और सामाजिक रीति-रिवाजों की रक्षा करूँगा और उनमें कौंसिल को दख़ल देने न दूँगा, मगर चुनाव के वक़्त में वह सनातनियों की तरफ़ से उम्मीदवार हुए, जोकि प्राचीन रहस्यों के महान् पुजारी होते हैं। इस भिन्न-भिन्न प्रकार के बदलनेवाले जीवन से जब वह न थके, तो उन्होंने अपनी शेष शक्ति कांग्रेस की आलोचना करने और गांधीजी को प्रतिगामी बताने में लगाई। कुछ और लोगों के सहयोग से उन्होंने कांग्रेस डिमोक्रेटिक—लोकतन्त्रात्मक—पार्टी शुरू की, जिसका लोकतन्त्रवाद से कोई भी ताल्लुक न था और जो कांग्रेस से इतना ही सम्बन्ध रखती

थी कि उस महान् संस्था पर हमला करे। इससे भी ज्यादा प्रवृत्तियों में हाथ डालने की दृष्टि से, वह मज़दूरों के प्रतिनिधि की हैसियत से जेनेवा-मज़दूर-कान्फ़्रेन्स में भी शरीक हुए। किसीको प्रायः यह भी ख़याल होता था कि शायद वह इंग्लैण्ड के ढंग की हिन्दुस्तान की 'राष्ट्रीय' सरकार के प्रधान-मन्त्री बनने की योग्यता प्राप्त कर रहे हैं।

इतने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों और प्रवृत्तियों का लाभ शायद बहुत थोड़े लोग उठा सकते थे; लेकिन फिर भी कांग्रेस के समालोचकों में ऐसे कई लोग थे, जिन्होंने भिन्न-भिन्न क्षेत्रों का अनुभव किया था, और जो कई जगहों में अपनी टाँग अड़ाते थे। इनमें से कुछ लोग अपने-आपको समाजवादी कहते थे और उनके कारण समाजवाद उलटा बदनाम होता था।

# ५१

## लिबरल दृष्टिकोण

गांधीजी से मिलने जब मै पूना गया था, तो एक दिन शाम को मै उनके साथ 'सर्वेण्ट्स आफ़ इण्डिया सोसाइटी' के भवन में चला गया। क़रीब एक घण्टेतक सोसाइटी के कुछ सदस्य उनसे राजनैतिक मामलों पर सवालात करते रहे और वह उनका जवाब देते रहे। न तो उस वक्त वहाँ सोसाइटी के प्रेसीडेण्ट श्री श्रीनिवास शास्त्री थे और न पण्डित हृदयनाथ कुंज़रू ही, जो कि शायद बाक़ी के सदस्यो मं सबसे ज्यादा योग्य हैं; लेकिन कुछ सीनियर मेम्बर मौजूद थे। हममें से कुछ लोग, जो उस वक्त वहाँ उपस्थित थे, बड़े अचरज से सब कुछ सुनते रहे, क्योंकि सवाल बिलकुल ही छोटी-छोटी घटनाओं के बारे में पूछे जा रहे थे। वे ज्यादातर वाइसराय से मुलाकात की पुरानी दरख्वास्त और उनके इन्कार के बारे में थे। जब-कि खुद उनका ही देश आज़ादी की अच्छी करारी लड़ाई लड़ रहा था और सैकड़ों संस्थायें ग़ैर-क़ानूनी करार दी जा रही थी, तब क्या केवल अनेक समस्याओं से भरी हुई दुनिया में यही एक विषय उनकी चर्चा के लिए रह गया था? किसान नाजुक वक्त से गुज़र रहे थे ओर औद्योगिक मन्दी चल रही थी, जिससे कि व्यापक बेकारी फैल रही थी। बंगाल, सीमा-प्रान्त और हिन्दुस्तान के दूसरे हिस्सों में भयंकर घटनाय घट रही थी, विचार, भाषण, लेखन और सभाओं की स्वतन्त्रता दबाई जा रही थी और दूसरी भी कई राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्यायें मौजूद थीं। लेकिन सवालात सिर्फ़ महत्त्वशून्य घटनाओं के बारे में या इस बारे में पूछे गये कि अगर गाधीजी वाइसराय से फिर मिलना चाहें तो वाइसराय और भारत-सरकार क्या करेगी?

मुझे बड़े ज़ोरों से कुछ ऐसा महसूस होने लगा मानों मैं किसी धार्मिक मठ में आ घुसा हूँ, जिसके रहनेवालों का बाहरी दुनिया के साथ किसी तरह का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहा है। फिर भी हमारे दोस्त 'एक्टिव' ( क्रियाशील ) राजनीतिज्ञ थे, जिनकी सार्वजनिक सेवा और क़ुर्बानी का लम्बा रिकार्ड था। उन्हीसे और कुछ और लोगों से मिलकर लिबरल-पार्टी की मूल ताक़त बनी हुई थी। बाक़ी की पार्टी तो बे सिर-पैर की थी जिसमें ऐसे-ऐसे आदमी थे, जो कभी-कभी राजनीति से सम्बन्ध जोड़ने का मज़ा लेना चाहते थे। इनमें से कुछ लोग तो—खासकर बम्बई और मद्रास में—ऐसे थे, जिनमें और सरकारी अधिकारियों में शायद ही कुछ फर्क़ था।

जिस तरह के प्रश्न एक देश पूछा करता है, उसी हदतक उसकी राजनैतिक

प्रगति मालूम होती है। अक्सर उस देश की नाकामयाबी का कारण भी यही होता है कि उसने अपने-आपसे ठीक तरह का सवाल नहीं पूछा। जिस हदतक हम कौंसिलों की सीटों के बँटवारे पर अपना वक़्त और ताक़त व अपना मिज़ाज बिगाड़ा करते हैं, या जिस हदतक हम साम्प्रदायिक निर्णय पर पार्टियाँ बनाया करते हैं और उसपर फज़ूल का वाद-विवाद इतना करते है कि उससे ज़रूरी सवालात ही छूट जाते हैं, उसी हदतक हमारी पिछड़ी हुई राजनैतिक हालत मालूम हो जाती है। इसी तरह उस दिन गांधीजी से 'सर्वेण्ट्स आफ़ इण्डिया सोसाइटी' के भवन में जो-जो सवालात पूछे गये थे, उनसे ही उस सोसाइटी और लिबरल-पार्टी की अजीब मनोदशा प्रतिबिम्बित होती थी। ऐसा मालूम होता था कि उनके न तो कोई राजनैतिक या आर्थिक उसूल है, न कोई व्यापक दृष्टि है। उनकी राजनीति तो रईसों के दीवानखानों या दरबारों की-सी चीज़ दिखाई देती थी। मानों, उनकी यही जानने की इच्छा रहा करती कि हमारे उच्च अधिकारी क्या करेंगे, या क्या नहीं करेंगे।

'लिबरल-पार्टी' नाम से भी धोखा हो सकता है। दूसरे मुल्कों मे और ख़ासकर इंग्लैण्ड में, इस लफ्ज से एक खास आर्थिक नीति का—मुक्त और अनियंत्रित व्यापार आदि—और व्यक्तिगत आज़ादी तथा नागरिक स्वतन्त्रताओं के एक ख़ास आदर्शवाद का मतलब समझा जाता था। इंग्लैण्ड की लिबरल-परम्परा की बुनियाद आर्थिक थी। व्यापार में आज़ादी की और राजा के एकाधिकारों और मनमाने टैक्सों से छुटकारा मिलने की इच्छा से ही राजनैतिक स्वतन्त्रता की ख़्वाहिश पैदा हुई। मगर हमारे हिन्दुस्तान के लिबरलों का ऐसा कोई आधार नहीं है। मुक्त व्यापार मे उनका विश्वास नहीं, क्योंकि वे क़रीब-क़रीब सभी संरक्षणवादी हैं और जैसा कि हाल की घटनाओं ने बता दिया है, वे नागरिक स्वतन्त्रताओं का भी कोई महत्त्व नहीं समझते। अर्ध-माण्डलिक और एकतन्त्री देशी रियासतों के साथ, जहाँ कि प्रजातन्त्रवाद और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की भी मामूली रूप-रेखा नहीं है, उनका गहरा सम्बन्ध रहना और उनका सामान्य रूप से समर्थन करना साबित करता है कि वे यूरोपियन टाइप के लिबरलों से बहुत भिन्न हैं। सचमुच हिन्दुस्तान के लिबरल किसी मानी में भी लिबरल नहीं हैं, या वे सिर्फ़ कहीं-कहीं और किसी-किसी अंश में ही लिबरल हैं। वे क्या हैं, यह कहना मुश्किल है। उनके विचारों का कोई एक निश्चित दृढ़ आधार नहीं है, और हालांकि उनकी तादाद थोड़ी ही है, लेकिन आपस में भी उनके विचार नहीं मिलते। वे नकारात्मक रूप में ही दृढ़ता दिखाते हैं। हर जगह उन्हें ग़लती-ही-ग़लती दिखाई देती है। उससे बचने की वे कोशिश भी करते रहते हैं और आशा यह करते है कि इसी तरह वे सचाई को हासिल कर लेंगे। उनकी निगाह में सचाई सिर्फ़ दो

अतियों के बीच ही हुआ करती है। हर ऐसी चीज़ की निन्दा करके, जिसे वे पराकाष्ठा मानते है, वे समझते है कि वे गुणवान, समझदार और नेक आदमी हैं। इस तरीक़े से वे विचारों के कष्ट-प्रद और कठिन तौर-तरीके से तथा रचनात्मक विचारों को पेश करने की आफ़त से बच जाते हैं। उनमें से कुछ लोग अस्पष्ट रूप से महसूस करते है कि पूंजीवाद योरप में पूरी तरह कामयाब नहीं हुआ है और संकट में पड़ा हुआ है, और दूसरी तरफ़, समाजवाद तो ज़ाहिरा तौर पर ही ख़राब है, क्योंकि उससे स्थापित स्वार्थों पर हमला होता है। शायद भविष्य में कोई रहस्यवादी उपाय, कोई बीच का मुकाम मिल ही जायगा। इस दर्म्यान, स्थापित स्वार्थो की रक्षा होनी ही चाहिए। अगर इस बाबत बातचीत की जाय कि ज़मीन चपटी है या गोल, तो शायद वह इन दोनों ही पराकाष्ठाओं के विचारों की निन्दा करेंगे और आरज़ी तौर पर यही सुझायेंगे कि वह शायद चौकोर या अण्डाकार है।

बहुत छोटे-छोटे और बेवज़नी मामलों पर भी वे बहुत भड़क जाते हैं और इतना होहल्ला और शोर-गुल मचा देते है कि कुछ पूछिए नहीं। जान में या अनजान में वे मौलिक सवालों को हाथ नही लगाते, क्योंकि ऐसे सवालों के लिए मौलिक इलाज और विचार और कार्य के साहस की ज़रूरत होती है। इसलिए लिबरलों की सफलता या असफलता का कोई नतीजा नही होता। उनका किसी सिद्धान्त से सम्बन्ध नही होता। इस पार्टी की बड़ी विशेषता और ख़ास लक्षण, अगर उसे लक्षण कहा जा सके, यह है कि हर अच्छी और बुरी बात में मातदिल रहना। यही इनके जीवन का दृष्टिकोण है और इनका पुराना नाम—मॉडरेट—ही शायद सबसे ठीक था।

"माडरेट होने में ही हम फूले नही समाते हैं,
नरम गरम हमको कहते, औ' गरम नरम बतलाते हैं!"[१]

लेकिन माडरेट-वृत्ति कितनी भी अच्छी क्यों न हो, वह कोई तेज-पूर्ण और ओजस्वी गुण नही है। यह वृत्ति तेजोहीनता पैदा करती है और इसलिए हिन्दुस्तान के लिबरल बदक़िस्मती से एक 'तेजोहीन दल' बन गये हैं—वे चेहरे से मंद-तेज और संजीदा, लेखों और बातचीत में उत्साहहीन होते हैं और विनोद-प्रियता से खाली रहते है। निश्चय ही, इनमें कुछ अपवाद भी हैं और एक सबसे बड़े अपवाद है सर तेजबहादुर सप्रू, जिनका व्यक्तिगत जीवन निश्चय ही विनोद-रहित नही है, बल्कि जो अपने विरुद्ध मज़ाक में भी रस लेते है। लेकिन कुल मिलाकर लिबरल-दल मध्यम-वर्गशाही

१. एलेक्ज़ेण्डर पोप का मूल अंग्रेजी पद्य इस प्रकार है:—

"In moderation placing all my glory
While Tories call me Whig and Whigs a Tory."

की पराकाष्ठा का साकार रूप है, और उसमें ऐसा ठोसपन है,जो सुस्ती या मंदी का दूसरा नाम है। इलाहाबाद के 'लीडर' ने, जो कि प्रमुख लिबरल अखबार है, पिछले साल अपने एक अग्रलेख में लिबरल मनोवृत्ति को बहुत स्पष्टता से प्रकट कर दिया था। उसने बताया था कि बड़े और असाधारण लोगों ने दुनिया को हमेशा ही मुसीबतों में डाला है। इसलिए, उसकी राय थी कि, मामूली औसत दरजे के लोग ही ज्यादा अच्छे होते हैं। बड़े ही नाजुक और साफ ढंग से इस अखबार ने औसतपने के साथ अपने झंडे का गठ-बन्धन कर लिया।

मर्यादा के अन्दर रहना, रूढ़ि-प्रियता और खतरों तथा अचानक परिवर्तनों से बचने की इच्छा बुढ़ापे के अनिवार्य साथी हैं। ये बातें नौजवानों को बिलकुल नहीं सोहती। लेकिन हमारा तो देश भी पुरातन और बूढ़ा है; कभी-कभी इसके बच्चे भी पैदाइश से ही कमजोर और थके हुए दिखाई देते है और उनमे तेजहीनता ओर बुढ़ापे के चिन्ह होते है। लेकिन जो तबदीली हो रही है, उसकी ताक़तों से ऐसा पुरातन देश भी अब हिल उठा है और नरम दृष्टिकोण रखनेवाले भी इसे देखकर घबरा-से गये है। पुरानी दुनिया गुज़र रही हे, और लिबरल लोग कितनी भी योग्यता से बुद्धिमत्ता-पूर्ण काम करने की मीठी सलाह दें, उससे कोई फ़र्क नही पड़ता। तूफ़ान या बाढ़ या भूकम्प को समझाने से कही रोका जा सकता है? उनकी पुरानी धारणायें टिकती नहीं हैं, और नई-नई तरह के विचार और काम की उनमें हिम्मत नही। यूरोपियन परम्परा के बारे में डाक्टर ए० एन० व्हाइटहेड कहते हैं—"यह सारी परम्परा इस दूषित धारणा से आच्छादित है कि हर पीढ़ी बहुत-कुछ उन्हीं परिस्थितियों में जीवन बितायगी, जिन्होंने उसके पुरखों के जीवन का निर्माण किया था, और वही परिस्थितियाँ आगे भी उतने ही बल से उनकी सन्तान के जीवन को बनायँगी। हम मनुष्य-जाति के इतिहास-युग के पहले चरण में रह रहे हैं, जिसके लिए कि यह धारणा बिलकुल ग़लत है।" डा० व्हाइटहेड ने भी अपने इस विश्लेषण में थोड़ी नरमी दिखलाने की ग़लती की है, क्योंकि शायद वह धारणा हमेशा ही ग़लत रही है। अगर योरप की परम्परा वही पुरानी लकीर पीटती रही है, तो फिर हमारी परम्परा का तो हिसाब लगाइए, उसकी क्या हालत होगी? लेकिन इतिहास को घड़नेवाले, जब तबदीली का वक्त आ जाता है तब, इन परम्पराओं की तरफ़ जरा भी ध्यान नही देते। हम लाचारी से देखते रह जाते हैं और अपनी योजनाओं की असफलताओं का दोष दूसरों के मत्थे मढ़ देते हैं। और जैसा कि श्री जेराल्ड हर्ड बतलाते है, "सबसे ज्यादा बरबादी करनेवाला वहम यही ख़याल है, कि मनुष्य दिल में यह मान बैठे कि उसकी योजना उसकी विचार-पद्धति की ग़लती से नहीं बल्कि किसी दूसरे के जानबूझकर बाधा डालने से असफल हुई है।"

इस भयंकर वहम के शिकार हम सभी हैं। मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि गांधीजी भी इससे बरी नहीं हैं। मगर हम कम-से-कम कुछ-न-कुछ काम तो करते ही हैं; जीवन के सम्पर्क में तो आने की कोशिश करते हैं और तजुर्बे और ग़लतियों के ज़रिये भी हम इस वहम की ताक़त को कम कर देते हैं, और लुढ़कते हुए भी किसी तरह आगे बढ़ते तो जाते हैं; लेकिन इन लिबरलों में यह दोष अधिक गहरा है। क्योंकि इस डर से कि कहीं हमसे कोई गलत काम न हो जाय, वे काम ही नहीं करते, और गिर या फिसल जाने के डर से वे आगे कदम ही नहीं बढ़ाते। जनता के साथ वे अच्छा हार्दिक सम्पर्क पैदा करने से दूर ही रहते हैं, और अपने ही विचारों की तंग कोठरियों में मोहित और समाधिस्थ से बैठे रहते हैं। डेढ़ साल पहले श्री श्रीनिवास शास्त्री ने अपने संगी-साथी लिबरलों को आगाह किया था कि उन्हें चुपचाप खड़े देखते न रहना चाहिए और घटनाओं को यों ही गुज़रने न देना चाहिए। उस आगाही में वह जितनी सचाई समझते थे, उससे कहीं ज्यादा सचाई थी। सरकार क्या कर रही है इस दृष्टि से हमेशा विचार करने के कारण, वह उन विधान-सम्बन्धी परिवर्तनों की तरफ़ इशारा कर रहे थे, जिन्हें भिन्न-भिन्न सरकारी कमिटियाँ बना रही थीं; लेकिन लिबरलों की बदक़िस्मती यह थी कि जब उनके ही देशवासी आगे बढ़ रहे थे, तब वे चुपचाप खड़े-खड़े तमाशा देख रहे थे और घटनाओं को योंही गुज़रने दे रहे थे। वे अपने ही लोगों से डरते थे और हमारे शासकों से अलहदा होने के बजाय उन्होंने इन आम लोगों से दूर रहना ही ज्यादा अच्छा समझा। फिर इसमें आश्चर्य ही क्या था कि वे अपने ही मुल्क में अजनबी-से बन गये। दुनिया आगे बढ़ गई और उन्हें वहीं-का-वहीं छोड़ गई। जब लिबरलों के देशवासी जिन्दगी और आज़ादी के लिए भयंकर लड़ाइयाँ लड़ रहे थे, तब इसमें कोई शुबहा नहीं था कि लिबरल मोर्चेबंदी के किस तरफ़ खड़े थे। मोर्चेबंदी की दूसरी तरफ़ से वे हमें नेक सलाह दे रहे थे और बड़ी-बड़ी नैतिक बातें करते थे, और इस चिपचिपे रोगन की तह-पर-तह हमारे ऊपर चढ़ाते जाते थे। गोलमेज़-कान्फ़ेन्सों और कमिटियों में जो सहयोग उन्होंने दिया, वह सरकार के हक़ में बड़ी महत्वपूर्ण नैतिक चीज़ थी। अगर यह सहयोग न दिया जाता, तो बड़ा फ़र्क़ पड़ जाता। यह ध्यान देने की बात है कि एक कान्फ़ेन्स में ब्रिटिश मज़दूर-पार्टी तक अलग रही, लेकिन हमारे लिबरल साहबान तो उसमें भी अलग नहीं रहे और कुछ अंग्रेज सज्जनों ने उनसे न जाने की अपील की तो भी वे वहाँ चले ही गये।

यों तो हमारे जुदे-जुदे मक़सदों के लिहाज़ से हम सब नरम या गरम हैं। फ़र्क़ सिर्फ़ मात्रा का है। जिस बात के बारे में हमें अधिक चिन्ता हो, उसके विषय में हमारी भावना भी तीव्र हो जाती है, और हम उसके सम्बन्ध में 'गरम' हो जाते हैं; नहीं तो हम

दयादर्शक सहनशीलता धारण कर लेते हैं, एक प्रकार की दार्शनिक सौम्यता अख़्त्यार कर लेते हैं. जोकि, असल में, कुछ हद तक हमारी उदासीनता को ढक लेती है। मैंने नरम-से-नरम माडरेटों को बहुत उग्र और गरम होते हुए देखा है, जब उनके सामने देश से कुछ स्थापित स्वार्थों को उड़ा देने की बात रक्खी गई। हमारे लिबरल मित्र कुछ हद तक धनी-मानी और समृद्ध लोगों का प्रतिनिधित्व करते हैं। स्वराज के लिए उन्हें बहुत दिनों तक इन्तज़ार करना पुसा सकता है और इसमे उसके लिए उन्हें व्यग्र या उत्तेजित हो उठने की ज़रूरत नहीं। लेकिन जहाँ कोई आमूल सामाजिक परिवर्तन का प्रश्न आया कि उनमें खलबली मची। तब वे न तो उसके विषय में माडरेट ही रह जाते है और न उनकी वह सुन्दर समझदारी ही कायम रहती है। इस तरह उनकी नरमी ब्रिटिश सरकार के प्रति उनके रुख तक ही मर्यादित है और वे यह आशा लगाये बैठे है, कि यदि वे काफ़ी आदर-भाव दिखाते रहे और समझौते से काम लेते रहे, तो मुमकिन है कि उनके इस सलूक के पुरस्कार में उनकी बात सुन ली जाय। इसलिए वे ब्रिटिश दृष्टिकोण से देखे बिना रह ही नहीं सकते। 'ब्ल्यू बुक' उनके गंभीर अध्ययन की वस्तु बनती है। इरशकिन मे की 'पार्लमेण्टरी प्रेक्टिस' और ऐसी ही किताबे उनकी जीवन-संगिनी होती है। नई सरकारी रिपोर्ट उनके तैश और तर्क-वितर्क का विषय बनती है। इंग्लैण्ड से लौटनेवाले लिबरल नेता ह्वाइट-हॉल के देवताओं के कारनामों के बारे मे रहस्यमय वक्तव्य देते हैं; क्योंकि, ह्वाइट-हॉल लिबरलों, प्रतिसहयोगियों और ऐसे ही दूसरे दलों की दृष्टि में सूरमाओं का स्वर्ग है! पुराने ज़माने में यह कहा जाता था कि जब कोई भद्र अमेरिकन मर जाता, तो उसकी आत्मा पेरिस जाती थी। इसी तरह यह कहा जा सकता है कि अच्छे लिबरलों की प्रेतात्मा ह्वाइट-हॉल की चहारदिवारी का कभी-कभी चक्कर लगाती रहती है।

यहाँ लिखा तो मैंने लिबरलों के बारे में है, लेकिन यही बात बहुतेरे कॉंग्रेसियो पर भी लागू होती है और प्रतिसहयोगियों पर तो और भी ज्यादा लागू होती है; क्योंकि नरमी में तो उन्होंने लिबरलो को भी मात कर दिया है। औसत दरजे के कॉंग्रेसी में बड़ा फ़र्क है। मगर इस सम्बन्ध मे विभाजक रेखा न तो साफ़ ही है, न निश्चित ही। जहाँतक विचार-धारा से संबंध है, आगे बढ़े हुए लिबरल और नरम कॉंग्रेसी में कोई ज्यादा फ़र्क मालूम नही होता। मगर भला हो गांधीजी का, जो हरेक कॉंग्रेसी ने अपने देश और देश के लोगों के साथ थोड़ा-बहुत संपर्क रक्खा है और वह काम भी करता रहता है और इसीकी बदौलत वह एक धुंधली और अधूरी विचार-धारा के परिणामों से बच गया है। मगर लिबरलों की बात ऐसी नही है। उन्होंने

पुराने और नये दोनों ही विचार के लोगों से अपना नाता तोड़ लिया है। एक जमात की हैसियत से वे उन लोगों के प्रतिनिधि हैं, जो मिटते जा रहे हैं।

मैं खयाल करता हूँ कि हममें से बहुतों की वह पुरानी व्यक्तिपूजा की भावना नष्ट हो चुकी है; लेकिन नई अंतर्दृष्टि प्राप्त नहीं हुई है। न तो हमें समुद्र से उछलते हुए प्रोटियस[१] के दर्शन सुलभ हैं और न हमारे कान बूढ़े ट्रिटन[२] की पुष्प-माला-विभूषित शृंगी की मधुर ध्वनि ही सुन पाते हैं। हममें से बहुत कम लोग इतने भाग्यशाली हैं जो--

"पिंड में ब्रह्माण्ड को अवलोकते,
वन-सुमन में स्वर्ग को हैं देखते;
अंजली में बाँधते निस्सीम को,
एक पल से नापते चिरसीम को।"[३]

दुर्भाग्य से, हममें से बहुतेरे प्रकृति के रहस्यपूर्ण जीवन की अनुभूति से दूर हैं। वह रहस्य-ध्वनि हमारे कानों के पास तो गूँजती है, लेकिन हम सुन नहीं पाते। उसके स्पर्श के मधुर कंपन का सुख नहीं उठाते। वे दिन अब चले गये; लेकिन चाहे अब हम पहले की तरह प्रकृति की दिव्यता का दर्शन न कर सकें, तो भी मानवजाति के गौरव और कारुण्य में, उसके बड़े-बड़े स्वप्नों और आन्तरिक तूफानों में, उसकी पीड़ाओं और विफलताओं में, उसके संघर्षों और विपत्तियों में, और इन सबसे बढ़कर एक महान् उज्ज्वल भविष्य की आशा में तथा उन महत्त्वाकांक्षाओं की प्राप्ति में हमने उसे पाने का प्रयत्न किया है। जो कष्ट और क्लेश इस खोज में हमें उठाने पड़े हैं, वे बिलकुल ही व्यर्थ नहीं हैं। इस खोज ने समय-समय पर हमें जीवन की तुच्छता से

१. **प्रोटियस**-- प्राचीन काल का एक जलदेवता, जो चाहे जब अपने मनचाहा रूप धारण कर सकता था। बदलती रहनेवाली किसी चीज या व्यक्ति लिए भी, अक्सर इस शब्द का प्रयोग होता है।

२. **ट्रायटन**—पोसिडन का पुत्र और एक ऐसा जलदेवता, जो अर्द्ध-मनुष्य और अर्द्ध-मत्स्य था। इसका खास काम शंख-ध्वनि द्वारा सागर-तरंगों को कम-ज्यादा करते हुए उनपर नियंत्रण रखना था।

३. मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है :—

"To see a World in a Grain of Sand
And a Heaven in a Wild Flower,
Hold Infinity in the palm of your hand
And Eternity in an hour."

ऊँचा उठाया है। लेकिन बहुतों ने इस शोध का प्रयत्न ही नही किया है और पुराने तरीकों से अपनेको बिलकुल अलहदा कर रक्खा है; लेकिन वर्तमान में उनको कोई रास्ता नहीं मिल रहा है। न तो उनकी भावनायें ही ऊँची है, न कुछ वे करते ही हैं। वे फ्रांस की महान् राज्यक्रांति या रूसी राज्यक्रांति-जैसे मानवी उथलपुथल का मर्म नहीं समझते। चिरकाल से दबी हुई मानवी अभिलाषाओं के जटिल तेज और निठुर स्फोटों या उभाडों से वे भयभीत हो जाते हैं। उनके लिए बेस्टिली (फ्रांस) का किला अभी सर नहीं हुआ है।

बड़े रोष के साथ अक्सर यह कहा जाता है कि 'देश-भक्ति का ठेका कुछ कॉंग्रेस-वालों ने ही नही ले रक्खा है।' यही शब्द बारबार दोहराये जाते है, जिनमें कोई नवीनता नही दिखाई देती। यह देखकर कुछ दुःख होता है। मै समझता हूँ, अपने लिए इस भावना के एक अंश का भी कभी किसी कॉंग्रेसी ने दावा नहीं किया होगा। अवश्य ही, मै नही समझता कि कॉंग्रेस ने ही इसका ठेका ले रक्खा है और मै बडी खुशी के साथ जिस किसीको चाह हो उसे इसकी भेंट करने को तैयार हूँ। यह तो अवसर से फायदा उठानेवालों और सुखी और निश्चिन्त जीवन चाहनेवालों के लिए अक्सर एक ढाल का काम देता है और हर तरह की रुचियों, स्वार्थो और वर्गो के अनुकूल उसके कई रूप है। अगर आज 'जूडस' जीवित होता तो वह भी, इसमें कोई शक नहीं, इसीके नाम पर काम करता। लेकिन अब तो देश-भक्ति ही काफी नहीं है; अब तो हमें कोई उससे ज्यादा ऊँची, व्यापक और श्रेष्ठ चीज़ चाहिए।

और नरमी स्वतः ऐसी कोई चीज नही है, जो काफी समझी जाय। हाँ, संयम एक अच्छी चीज है और वह हमारी संस्कृति का एक पैमाना है; मगर कोई चीज भी तो हो, जिसका हम संयम और निग्रह करें। मनुष्य सदा से पंचतत्त्वों पर शासन करता आ रहा है, बिजली पर सवारी गाँठता आ रहा है, लपकती हुई आग और वेगयुक्त और गिरते-पड़ते हुए पानी को अपने काम में लाता रहा है और यह सब वह अब भी करता है; लेकिन उसके लिए इन सबसे ज्यादा मुश्किल हुआ है उसको खाये डालनेवाले विकारों का निग्रह करना या उन्हें संयम में रखना। जबतक वह इन्हें अपने काबू में नहीं कर लेता, तबतक वह अपनी मनुष्यता की विरासत को पूरी तरह नही पा सकता। पर क्या हम उन पैरों को रोक रक्खें, जो हिलते ही नही हैं या उन हाथों को, जिन्हें लकवा मार गया है?

इस प्रसंग पर मै रॉय केम्पबेल की चार पंक्तियाँ देने का लोभ संवरण नही कर सकता, जो उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के किसी उपन्यासकार के संबंध में लिखी थीं :

"विश्व आपके दृढ़ संयम का गाता है यश-गान,
मैं भी उसमें देता उसका साथ आज, मतिमान !
खूब जानते आप खींचना और मोड़ना बाग
पर कमबख़्त कहाँ वह घोड़ा, हे इसका कुछ ध्यान ?"[१]

हमारे लिबरल मित्र हमसे कहते हैं कि वे श्रेयस्कर माध्यमिकता के संकीर्ण पथ पर चलते हैं और एक तरफ कांग्रेस और दूसरी तरफ़ सरकार दोनों की अतियाँ बचाकर अपना रास्ता निकालते हैं। वे दोनों की कमियां बतानेवाले मुंसिफ़ बनते हैं और इस बात के लिए अपने-आपको बधाई देते हैं कि वे इन दोनों की बुराइयों से बरी हैं। मेरी समझ में आँखों पर पट्टी बाँधकर वे निष्पक्ष बनने की कोशिश करते हैं। कहीं यह मेरी ख़ब्त ही तो नहीं है जो, आज मेरे कानों मे सदियों पुरानी वह मशहूर पुकार आ रही है—"स्क्राइब्स[२] और फेरिसियो[३]·········ओ अंधे पथ-प्रदर्शको ! तुम हाथी को तो निगल जाते हो और दुम से परहेज करते हो !"

१. मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है :—

"They praise the firm restraint with which you write.
I'm with you there, of course.
You use the snaffle and the curb all right,
But where's the bloody horse ?"

२. स्क्राइब्स—यहूदी स्मृतिकार और उनके आचार-विचार के व्याख्याता।

३. फ़ेरिसी—प्राचीन यहूदियों के एक दल वालों का नाम, जो प्रचलित रस्म-रिवाजों पर दृढ़ता से जमे रहने के लिए मशहूर थे। इसीलिए रूढ़िवादी, धर्मध्वजी और पाखण्डी लोगों के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता है।

# ५२

## डोमीनियन स्टेटस और आज़ादी

पिछले सत्रह वर्षों से जिन लोगों ने कांग्रेस की नीति का निर्माण किया है उनमें से ज्यादातर मध्यम-श्रेणी के लोग हैं। चाहे वे लिबरल हों चाहे कांग्रेसी, आये हैं सब उसी श्रेणी से और एक-सी परिस्थितियों में उन सबका विकास हुआ है। उनका सामाजिक जीवन, उनका रहन-सहन, उनके मेल-मुलाकाती और इष्ट-मित्र सब एक-से रहे हैं और शुरू में जिन दो किस्मों के मध्यमवर्गी आदर्शों का वे प्रतिपादन करते थे, उनमें ऐसा कोई कहनेलायक अंतर न था। स्वभावगत और मानसिक भेदों ने उनको जुदा करना शुरू किया और वे मुख्तलिफ़ दिशाओं में देखने लगे। एक दल तो सरकार और धनी लोगों—ऊपरी मध्यमवर्ग के लोगों—की तरफ और दूसरा निम्न मध्यमवर्गियों की तरफ। विचारधारा अब भी दोनों की एक-सी थी और ध्येय में भी कोई फर्क नहीं था। लेकिन इस दूसरे दल के पीछे अब साधारण पेशेवर और बेकार पढ़े-लिखे लोगों का समुदाय आने लगा। इससे उसका स्वर बदल गया। उसमें वह अदब और शायस्तगी न रही, बल्कि उसका लहज़ा करारा और हमलावर हो गया। कारगर ढंग से काम करने की ताक़त तो थी नहीं, सो कड़ी ज़बान में उसे कुछ राहत मिल गई। इस नई परिस्थिति को देखकर माडरेट लोग कांग्रेस से खिसक गये और अकेले रहने में ही उन्होंने अपनेको महफूज़ समझा। फिर भी ऊपरी मध्यमवर्गियों का उसमें ज़ोर था, हालाँकि, तादाद में छोटे मध्यमवर्गियों का प्राधान्य था। वे अपने राष्ट्रीय संग्राम में महज़ कामयाबी की ख्वाहिश से ही नहीं आये थे; बल्कि इसलिए कि उस संग्राम में ही उन्हें सच्चा संतोष मिल जाता था। वे उसके द्वारा अपने खोये हुए स्वाभिमान और आत्म-सम्मान को फिर से प्राप्त करना और अपने तहस-नहस हुए गौरव को फिर से पूर्व पद पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे। यों तो एक राष्ट्रवादी के मन में सदा से ही ऐसी प्रेरणा उठती आई है और हालाँकि सभीके मन में उठती है, तो भी यहीं से नरम और गरम दोनों की स्वभावगत भिन्नता सामने आ गई। धीरे-धीरे कांग्रेस में निम्न मध्यमवर्गियों की प्रधानता होती गई और आगे चलकर किसानों ने भी उसे प्रभावित किया।

ज्यों-ज्यों कांग्रेस ग्रामीण-जनता की अधिकाधिक प्रतिनिधि बनती गई त्यों-त्यो उसके और लिबरलों के बीच की खाई और-और चौड़ी होती गई और लिबरलों के लिए कांग्रेस के दृष्टिकोण को समझना या उसकी क़दर करना नामुमकिन हो गया।

उच्चवर्ग के दीवानखाने के लिए छोटी कुटिया या कच्चे झोंपड़े को समझना आसान नहीं है। फिर भी, इन मतभेदों के रहते हुए भी, दोनों की विचार-धारा राष्ट्रीय और मध्यमवर्गीय थी, जो कुछ फर्क था वह मात्रा का था, प्रकार का नहीं। कांग्रेस में आखिर तक कितने ही ऐसे लोग रहे जो नरम दल में बड़े मज़े से खपते और रहते।

कई पीढ़ियों से ब्रिटिश लोग हिन्दुस्तान को अपने खास मौज व आराम का घर समझते आये हैं। वे ठहरे भद्र कुल के और उस घर के मालिक—उसके आवश्यक हिस्सों पर अपना कब्जा किये हुए—इधर हिन्दुस्तानियों के हवाले नौकरों की कोठरियाँ, सामान-घर और रसोई-घर वगैरा किये गये। एक सुव्यवस्थित घर की तरह वहाँ नौकरो के कई दर्जे बंधे हुए हैं—खानसामा, जमादार, रसोइया, कहार वग़ैरा-वग़ैरा—और उनमें छोटे-बड़े का पूरा-पूरा खयाल रक्खा जाता है। लेकिन मकान के ऊपर ओर नीचे के हिस्सों मे एक ऐसी जबरदस्त सामाजिक और राजनैतिक आड़ लगादी है जिसे पार करके कोई इधर-से-उधर जा ही नही सकता। ब्रिटिश सरकार का इस व्यवस्था को हमारे सिर पर लादे रहना तो किसी तरह आश्चर्यजनक नही है। मगर यह जरूर आश्चर्य की बात है कि हम या हममें से बहुतों ने खुद उसके सामने इस तरह से सिर झुका दिया है, गोया वह हमारे जीवन या भाग्य की कोई स्वाभाविक और अवश्यम्भावी व्यवस्था हो। हमने मकान के एक अच्छे नौकर का-सा अपना दिमाग बना लिया। कभी-कभी हमारी बड़ी इज्जत करदी जाती है—दीवानखाने में चाय का एक प्याला हमें दे दिया जाता है। हमारे हौंसलों की उड़ान होती है सम्मानित बनने तक, व्यक्तिगत रूप से ऊँचे दर्जे में चढ़ा दिय जाने तक। सचमुच हथियारों और कूटनीति के द्वारा प्राप्त की गई विजय से ब्रिटिशों की हिन्दुस्तान पर यह मानसिक विजय कहीं बढ़कर है। पुराने समझदारों ने कहा ही है कि 'गुलाम गुलाम की-सी ही बात सोचने लगता है।'

अब ज़माना बदल गया और अब न इंग्लैण्ड में और न हिन्दुस्तान में विश्रान्ति-भवन की वह नमूनेदार सभ्यता राज़ी-खुशी से मानी जाती है। मगर फिर भी हममें ऐसे लोग हैं जो उन्हीं नौकरों की कोठरियों में पड़े रहने की ख्वाहिश रखते है और अपनी सुनहरी चपरासों, पट्टों, वर्दियों और बिल्लों पर नाज़ करते है। दूसरे कुछ लोग लिबरलों की तरह, उस सारे भवन को तो ज्यों-का-त्यों क़ायम रहने देना चाहते हैं, उसकी कारीगरी और उसकी सारी रचना की स्तुति करते हैं, लेकिन इस बात के लिए उत्सुक है कि धीरे-धीरे उसके मालिकों की जगह खुद उन्हें मिल जाय। वे उसे 'भारतीयकरण' कहते है। उनके लिए शासकों का रंग बदल जाना या अधिक-से-अधिक नये शासक-मण्डल का बन जाना काफ़ी है। वे एक नई राज्य-व्यवस्था की भाषा में कभी नहीं सोचते।

उनके लिए स्वराज के मानी है—और सब बातें ज्यों-की-त्यो चलती रहें, सिर्फ़ उसका काला रंग और गहरा कर दिया जाय। वे तो महज़ ऐसे ही भविष्य की कल्पना कर सकते हैं, जिसमें वे या उनके जैसे लोग सूत्र-संचालक रहें और अंग्रेज़ हाकिमों की जगह ले लें—जिसमें कि उसी तरह की नौकरियाँ, महकमे, धारा-सभायें, व्यापार, उद्योग और सिविल सर्विस अपना काम करती रहे। राजा-महाराजा अपनी जगह बरक़रार रहें, कभी-कभी ज़र्क-बर्क पोशाक और जवाहरात से सजकर रिआया पर रौब गाँठते हुए दर्शन दिया करें, जमीदार एक तरफ़ विशेष रूप से अपना रक्षण चाहे और दूसरी तरफ़ काश्तकारों को परेशान करते रहे, साहूकार की तिजोरी भरी रहे, जो ज़मीदार और काश्तकार दोनों को तंग करता रहे, वकील अपना मेहनताना पाते रहे और ईश्वर की ज्योति स्वर्गपुरी में जगमगाती रहे।

हाँ, तो उनका दृष्टिकोण आवश्यक रूप से इसी बात पर आधार रखता है कि वर्तमान व्यवस्था चलती रहे। जो कुछ तबदीलियाँ वे चाहते है वे व्यक्तिगत परिवर्तन कहे जा सकते हैं; और वे इन परिवर्तनो को ब्रिटिशों की सद्भावना से बूँद-बूँद करके कराना चाहते है। उनकी सारी राजनीति और अर्थनीति की बुनियाद ब्रिटिश साम्राज्य की स्थिरता और दृढ़ता पर है। वे देखते है कि इस साम्राज्य की नीव हिल नहीं सकती, कम-से-कम बहुत समय तक, तो फिर वे उसके माफिक अपने-को बनाते है और न केवल उसकी राजनैतिक और आर्थिक विचार धारा को ही ग्रहण करते है, बल्कि बहुत हद तक उसके उन नैतिक आदर्शों को भी अपनाते हैं, जोकि ब्रिटिश प्रभुत्व को कायम रखने के लिए बनाये गये है।

लेकिन कांग्रेस का रुख़ मूल से ही भिन्न है, क्योंकि वह एक नई राज्य-व्यवस्था का निर्माण करना चाहती है, न कि महज़ एक दूसरा शासक-मण्डल बनाना। उस नई व्यवस्था का क्या स्वरूप होगा इसका स्पष्ट ख़याल एक औसत कांग्रेसी के दिमाग़ में आज नही है और इसके बारे में रायें भी अलग-अलग हो सकती है। मगर कांग्रेस में शायद माडरेट विचार के सब लोग इस बात को मानते हैं, कुछ इने-गिने लोगों को छोड़कर, कि मौजूदा अवस्था और तरीक़े क़ायम नहीं रह सकते और न रहने चाहिएं और बुनियादी तबदीलियाँ लाज़िमी हैं। यही फ़रक है डोमीनियन स्टेटस—औपनिवेशिक स्वराज—और पूर्ण स्वाधीनता में। पहला उसी पुराने ढांचे को दृष्टि में रखता है, जो हमें ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष बहुतेरे बन्धनों से बांधे हुए है, और दूसरा हमें अपने हालात के माफिक एक नया ढांचा खड़ा करने की स्वतंत्रता देता है, या उसे देना चाहिए।

यह इंग्लैण्ड या अंग्रेज़ लोगों से अटल शत्रुता रखने का या हर तरह से उनसे

सम्बन्ध हटा लेने का सवाल नही है। परन्तु जो कुछ हो चुका है उसीकी तरह अगर इंग्लैण्ड और हिन्दुस्तान में वैमनस्य बना रहा तो उसका कुदरती नतीजा यही होगा। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर कहते है कि "सत्ता का अनाड़ीपन ताले की कुंजी को तो खराब कर देता है और फिर उसकी जगह गेती से काम लेता है।" हाँ, हमारे दिलों की कुंजी तो कभी की टूट-फूट चुकी है और गेंतियों का जो भरपूर उपयोग हमपर किया गया है उसने हमें अंग्रेजों का तरफ़दार नही बनाया। लेकिन यदि हम भारतवर्ष और मानव-जाति के व्यापक हितों की सेवा करने का दावा करते हैं, तो हम अपनेको क्षणिक विकारों और भावनाओं में नही बहने दे सकते, और अगरचे हम उस तरफ झुक भी जायँ तो गांधीजी ने जो १५ साल तक हमको कड़ी तालीम दी है वह हमें उससे रोक लेगी। यह मै एक ब्रिटिश जेलखाने में बैठकर लिख रहा हूँ, महीनों से मेरा दिमाग़ चिन्ताकुल है और इधर मुझपर जेल में जो कुछ बीती है उससे कही ज्यादा मैने इस तनहाई में कष्ट सहे है। कई घटनाओं के अवसरो पर गुस्से और नाराजगी से मेरा दिल अक्सर भर गया है; लेकिन फिर भी यहाँ बैठा हुआ जब मै अपने दिल और दिमाग़ की गहराई को टटोलता हूँ तो उसमे कही भी इंग्लैंड या अंग्रेज़ों के प्रति-रोष या द्वेष नही दिखाई पड़ता। हाँ, मै ब्रिटिश साम्राज्यवाद को नापसन्द करता हूँ और हिन्दुस्तान पर उसके लाद दिये जाने से मै नाराज हूँ। मुझे पूँजीवादी प्रणाली नापसन्द है। ब्रिटेन के शासकवर्ग हिन्दुस्तान का जिस तरह शोषण कर रहे है उसे मै ज़रा भी पसन्द नही करता और उसपर मुझे रोष है। मगर मै कुल मिलाकर इंग्लैण्ड या अंग्रेज़ों को इसके लिए जिम्मेदार नही ठहराता, और अगर मै ऐसा करूँ भी तो उससे कोई ज्यादा फर्क नहीं पड़ता, क्योकि सारी जाति पर नाराज़ होना या उसकी निन्दा करना जरा बेवक़ूफी की ही बात है। वे भी उसी तरह परिस्थितियों के शिकार बन गये है जैसे कि हम।

मै खुद तो अपनी मनोरचना के लिए इंग्लैण्ड का बहुत ऋणी हूँ। इतना कि उसके प्रति जरा भी शत्रुता का भाव नही रख सकता और मैं जो चाहूँ करूँ, लेकिन मै अपने मन के उन सस्कारों से और दूसरे देशो के और आम तौर पर जीवन के बारे में विचार करने की पद्धतियों और आदर्शों से, जो मैंने इंग्लैण्ड के स्कूल और कालेजों में प्राप्त किये है, मुक्त नही हो सकता। राजनैतिक योजना को छोड़ दें, तो मेरा सारा पूर्वानुराग इंग्लैण्ड और अंग्रेज़ लोगों की ओर दौड़ता है, और अगर मैं हिन्दुस्तान में अंग्रेजी शासन का 'कट्टर विरोधी' बन गया हूँ तो मेरी अपनी स्थिति ऐसी होते हुए भी ऐसा हुआ है।

हम जिसपर ऐतराज करते हैं और जिसके साथ हम कभी राजी-खुशी से समझौता

नहीं कर सकते वह अंग्रेज़ों का शासन है, आधिपत्य है, नकि अंग्रेज़ लोग। हम शौक़ मे अंग्रेज़ों से और दूसरे विदेशियों से घनिष्ठ सम्पर्क बाँधे। हम हिन्दुस्तान में ताज़ी हवा चाहते है, ताज़ा और चेतनामय विचार और निर्मल सहयोग चाहते है, क्योंकि हम जमाने से बहुत पीछे पड़ गये है। लेकिन अगर अंग्रेज़ शेर बनकर यहाँ आते है तो वे हमसे दोस्ती या सहयोग की कोई उम्मीद नहीं रख सकते। साम्राज्यवाद के शेर का तो यहाँ प्राण-पण से मुकाबला किया जायगा और आज हमारे देश का उसी महान् क्रूर पशु से पाला पड़ा है। जंगल के उस क्रुद्ध शेर को पाल लेना और वशीभूत कर लेना संभव हो सकता है, लेकिन पूँजीवाद और साम्राज्यवाद को, जब कि ये दोनों मिलकर एक अभागे देश पर टूट पड़े है, पालतू बना लेना किसी भी तरह मुमकिन नहीं है।

किसीके लिए यह कहना कि वह या उसका देश किसीसे समझौता नही करेगा, एक तरह से बेवकूफी की बात है, क्योंकि जीवन हमेशा हमसे समझौता करवाता है, और जब दूसरे देश या वहाँ के लोगों पर यह बात लागू की जाती हो तब तो यह बिलकुल ही बेवकूफी की बात है। लेकिन जब यह किसी प्रणाली या किन्ही खास हालतों के लिए कहा जाता है तो उसमें कुछ सचाई होती है और ऐसी दशा में समझौता करना मनुष्य की शक्ति के बाहर हो जाता है। भारतीय स्वाधीनता और ब्रिटिश साम्राज्यवाद ये दोनों परस्पर बेमेल है और न तो फ़ौजी क़ानून और न दुनियाभर की ऊपरी चिकनी-चुपड़ी बातें ही उन्हें एकसाथ मिला सकती है। सिर्फ ब्रिटिश-साम्राज्यवाद का हिन्दुस्तान से हट जाना ही एक ऐसी चीज़ है जिससे सच्चे भारत-ब्रिटिश-सहयोग के अनुकूल अवस्थायें पैदा हो सकेंगी।

हमसे कहा जाता है कि आज की दुनिया में स्वाधीनता एक संकुचित ध्येय है; क्योंकि दुनिया अब दिन-दिन परस्पराश्रित होती जा रही है। इसलिए मुकम्मिल आज़ादी का मतालबा करके हम घड़ी का काँटा पीछे घुमा रहे है। लिबरल और शांतिवादी, यहाँतक कि ब्रिटेन के समाजवादी कहलानेवाले भी, इस दलील को पेश करके हमें अपने संकुचित उद्देश पर लताड़ते है और साथ ही यह कहते है कि पूर्ण राष्ट्रीय जीवन का मार्ग तो 'ब्रिटिश राष्ट्र-संघ' में से होकर गुजरता है। यह अजीब-सी बात है कि इंग्लैण्ड में तमाम रास्ते, लिबरलवाद, शांतिवाद, समाजवाद वगैरा, साम्राज्य को क़ायम रखने की ओर ही ले जाते है। ट्राटस्की कहता है—"शासक-राष्ट्र की प्रचलित व्यवस्था को कायम रखने की अभिलाषा अक्सर 'राष्ट्रवाद' से श्रेष्ठ होने का जामा पहन लेती है; ठीक उसी तरह, जैसे विजेता राष्ट्र की अपनी लूट के माल को न छोड़ने की अभिलाषा आसानी मे शांतिवाद का रूप धारण कर लेती है। इस तरह

मैकडानल्ड गांधी के मुकाबिले में ऐसा महसूस करता है मानों वह कोई अन्तर्राष्ट्रीयता का हामी है।"

मैं नहीं जानता हूँ कि हिन्दुस्तान जब राजनैतिक दृष्टि से आज़ाद हो जायगा तो किस तरह का होगा और वह क्या करेगा। लेकिन मैं इतना ज़रूर जानता हूँ कि उसके लोग जो आज राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के हामी हैं, वे व्यापक-से-व्यापक अन्तर्राष्ट्रीयता के भी हिमायती हैं। एक समाजवादी के लिए राष्ट्रीयता का कोई अर्थ ही नहीं है, लेकिन बहुतेरे काँग्रेसी, जो समाजवादी नहीं हैं लेकिन आगे बढ़े हुए हैं, वे पक्की अन्तर्राष्ट्रीयता के उपासक हैं। स्वाधीनता हम इसलिए नहीं चाहते कि हमें सबसे कटकर अलग-सलग रहने की ख्वाहिश है। इसके बरखिलाफ हम तो बिलकुल राज़ी हैं कि और देशों के साथ-साथ अपनी स्वाधीनता का भी कुछ हिस्सा छोड़ दें कि जिससे सच्ची अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था बन सके। कोई भी साम्राज्य-प्रणाली चाहे उसका नाम कितना ही बड़ा रख दिया जाय ऐसी व्यवस्था की दुश्मन ही है और ऐसी प्रणाली के द्वारा विश्वव्यापी सहयोगिता या शांति कभी स्थापित नहीं हो सकती।

इधर हाल में जो घटनायें हुई हैं उन्होंने सारी दुनिया को बता दिया है कि कैसे विभिन्न साम्राज्यवादी प्रणालियाँ स्वाश्रयी सत्ता और आर्थिक साम्राज्यवाद के द्वारा अपने-आपको सबसे जुदा कर रही हैं। अन्तर्राष्ट्रीयता की बढ़ती के बजाय हम उसका उलटा ही देख रहे हैं। इसके कारणों को खोजना मुश्किल नहीं है। वे मौजूदा अर्थ-व्यवस्था की बढ़ती हुई कमज़ोरी को ज़ाहिर करते हैं। इस नीति का एक नतीजा यह हुआ है कि एक ओर जहाँ वह स्वाश्रयी सत्ता के क्षेत्र के अन्दर ज्यादा सहयोग पैदा करती है तहाँ दूसरी ओर वह दुनिया के दूसरे हिस्सों से अपनेको अलग कर लेती है। हिन्दुस्तान को ही लीजिए। हमने ओटावा-सम्बन्धी तथा दूसरे निर्णयों से यह देख लिया है कि दूसरे देशों से हमारा संपर्क और रिश्ता दिन-दिन कम होता चला जा रहा है। हम पहले से भी ज्यादा ब्रिटिश उद्योग-धन्धों के आश्रित हो रहे हैं और, इससे कई बातों में जो तात्कालिक नुकसान हुए हैं उनको अलग रखदें तो भी, इस नीति से पैदा होने-वाले खतरे स्पष्ट हैं। इस प्रकार 'डोमिनियन स्टेटस' हमें व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय संपर्क की ओर ले जाने के बजाय दुनिया से अलग पटकता हुआ दिखाई देता है।

लेकिन हमारे हिन्दुस्तानी लिबरल दोस्त दुनिया को और खास करके खुद अपने मुल्क को असली नीले रंग के ब्रिटिश चश्मे से देखने की एक विलक्षण सहज शक्ति रखते हैं। इस बात को समझने की कोशिश किये बगैर ही कि कांग्रेस क्या कहती है और वह ऐसा क्यों कहती है, वे उसी पुरानी ब्रिटिश दलील को दोहराते रहते हैं कि डोमिनियन स्टेटस की अपेक्षा पूर्ण स्वाधीनता का आदर्श कहीं संकीर्ण और नैतिक

उत्थान की दृष्टि से कम हितकारी है। उनके नज़दीक तो अन्तर्राष्ट्रीयता के मानी ह्वाइट-हॉल होते हैं, क्योंकि उनको दूसरे देशों का तो कुछ पता ही नहीं है। इसका कुछ कारण तो भाषा-सम्बन्धी दिक्कत है; मगर उससे भी ज्यादा कठिनाई यह है कि उन्हें उनकी उपेक्षा करने में ही सन्तोष है। और हिन्दुस्तान में तो वे किसी भी किस्म की उग्र राजनीति या 'सीधे हमले' के खिलाफ हैं। मगर यह देखकर कुतूहल होता है कि उनके कुछ नेताओं को, अगर दूसरे देशों में ये तरीक़े अख़्त्यार किये जायँ, तो कोई ऐतराज़ नहीं होता। वे दूर रहकर ही उनकी क़दर और इज्ज़त कर सकते हैं और पश्चिमी देशों के कुछ मौजूदा डिक्टेटरों को तो उनका मानसिक पूजा-सत्कार भी प्राप्त है।

नामों से धोखा हो सकता है। मगर हमारे सामने हिन्दुस्तान में तो असली सवाल यह है कि हम एक नई राज्य-रचना करना चाहते हैं, या सिर्फ एक नया शासक-मंडल बनाना चाहते हैं? लिबरलों का जवाब स्पष्ट है। वे पिछली बात से ज्यादा कुछ नहीं चाहते और वह भी उनके लिए तो एक दूरवर्ती और क्रम-क्रम से प्राप्त होनेवाला आदर्श है। 'डोमिनियन स्टेटस' का जिक्र अबतक कई बार किया गया है। मगर उसका असली उद्देश्य फिलहाल तो 'केन्द्रीय उत्तरदायित्व' इन गूढ़ शब्दों-द्वारा प्रकट किया गया है। सत्ता, स्वाधीनता, आज़ादी, स्वतन्त्रता आदि उनके ज़ोरदार शब्द उनके लिए नहीं हैं। उन्हें तो ये ख़तरनाक मालूम होते हैं। एक वकील की भाषा और तरीक़े उन्हें ज्यादा जँचते हैं—चाहे भले ही बहुजन-समाज को वे उत्साहित न करते हों। इतिहास में ऐसी बेशुमार मिसालें मिलती हैं कि जहाँ व्यक्तियों और समूहों ने अपने सिद्धान्तों और अपनी आज़ादी के लिए ख़तरों का मुकाबिला किया है और अपनी जान जोखिम में डाली है। मगर यह सन्देहास्पद दिखाई देता है कि 'केन्द्रीय उत्तरदायित्व' या ऐसे किसी दूसरे क़ानूनी शब्दों के लिए कोई जान-बूझकर एक दफा खाना छोड़ देगा या अपनी नींद हराम करेगा।

यह तो है उनका मक़सद और इसको भी हासिल करना है 'सीधे हमले' या और किसी उग्र उपाय से नहीं, मगर जैसा कि श्री श्रीनिवास शास्त्री ने कहा है—'समझदारी, अनुभव, नरमी, समझाने-बुझाने की शक्ति, चुपचाप प्रभाव और असली कार्यदक्षता' का परिचय देकर। यह आशा की जाती है कि हमारे इस सद्व्यवहार और सत्कार्य के द्वारा हम अन्त में जाकर अपने शासकों को इस बात के लिए राजी कर सकेंगे कि वे अपने अधिकार छोड़ दें। दूसरे शब्दों में वे हमारा विरोध इसीलिए करते हैं कि या तो वे हमारे आक्रमणात्मक रुख से चिढ़े हुए हैं या उन्हें हमारी क्षमता पर शक है, या इन दोनों बातों के कारण। साम्राज्यवाद और हमारी मौजूदा स्थिति

का यह कैसा भोला-भाला विश्लेषण है। मगर प्रोफ़ेसर आर० एच० टानी नामक एक विद्वान् अंग्रेज़ लेखक ने क्रम-क्रम से और शासकवर्ग के सहयोग से सत्ता पाने के विचार के सम्बन्ध में बहुत मौजूँ और हृदयाकर्षक भाषा में अपने भाव प्रकाशित किये हैं। उन्होंने तो ब्रिटिश लेबरपार्टी को ध्यान में रखकर लिखा है, लेकिन उनके शब्द हिन्दुस्तान पर और भी ज्यादा लागू होते हैं, क्योंकि इंग्लैण्ड में कम-से-कम लोकतंत्रात्मक संस्थायें तो हैं जहां बहुमत की इच्छा, सिद्धान्त-रूप में तो, अपना प्रभाव डाल सकती है। प्रोफ़ेसर टानी लिखते हैं :—

"प्याज का एक-एक छिलका उतारकर खाया जा सकता है, लेकिन आप एक जिन्दा शेर के एक-एक पजे की खाल नहीं उतार सकते। यह काम तो शेर का है और खाल को पहले उतारनेवाला वह होता है.........

"अगर कोई ऐसा देश है कि जहाँ के विशेषाधिकारप्राप्त वर्ग निरे बुद्धु हों तो कम-से-कम इंग्लैण्ड वह नहीं है। यह ख़याल गलत है कि लेबरपार्टी यदि चतुराई और सौजन्य से अपना पक्ष उपस्थित करे तो इससे वे इस धोखे में आ जायँगे कि वह उनका भी पक्ष है। यह उतना ही निरर्थक है जितना कि किसी चलते पुर्जे कानून-दा को झांसा देकर उस मिलकियत को हथिया लेना, जिसका कि हक़नामा उसके नाम है। श्रीमन्तशाही में ऐसे हरदिलअज़ीज, चालाक, प्रभावशाली, आत्मविश्वासी और बहुत दब जाने पर न्याय-नीति की पर्वा न करनेवाले लोग हैं, जो अच्छी तरह जानते हैं कि रोटी किधर से चुपड़ी जा रही है और जो चुपड़ने के घी में कभी कमी होने देना नहीं चाहते। अगर उनकी स्थिति को गहरा धक्का लगने की आशंका होती है तो वे राजनैतिक और आर्थिक शतरंज के हरेक मोहरे से काम लेने पर उतारू हो जाते है। हाउस आफ़ लॉर्ड्स, सम्राट्, अखबार, फ़ौज, आर्थिक प्रणाली— इनमें से प्रत्येक साधन का उचित-अनुचित उपयोग किये बिना वे न रहेंगे। आवश्यकता पड़ने पर वे अन्तर्राष्ट्रीय उलझनें भी पैदा कर सकते हैं, और जैसा कि १९३१ में पौण्ड की विनिमय-दर गिराने के लिए की गई चेष्टाओं से साबित होता है, वे अन्य देश की शरण लेनेवाले राजनैतिक भगोड़ों की तरह अपनी जेब की रक्षा करने के लिए अपने देश का भी गला कटवा सकते हैं।

ब्रिटिश लेबरपार्टी का ज़ोरदार संगठन है। उसके पीछे कई ट्रेड यूनियनें, जिनके लाखों चन्दा देनेवाले मेम्बर है, सहयोग-समितियों का एक बहुत समुन्नत संगठन तथा पेशेवर वर्गों के बहुत-से मेम्बर और हमदर्द लोग हैं। ब्रिटेन में बालिग़ मताधिकार पर आधार रखनेवाली कई लोक-तन्त्री पार्लमेण्टरी संस्थायें हैं और वहाँ बरसों से नागरिक स्वतंत्रता की परम्परा चली आ रही है। लेकिन इन सब बातों के बावजूद

मि० टानी की यह राय है—और हाल की घटनाओं ने उसको सही साबित कर दिया है—कि लेबरपार्टी खाली मुस्कराकर और समझा-बुझाकर असली हुकूमत पाने की उम्मीद नहीं कर सकती । हालांकि इन दोनों साधनों का प्रयोग करना लाभप्रद और वाञ्छनीय जरूर है । टानी साहब तो यहाँ तक कहते हैं कि अगर कॉमन-सभा में मजदूर दल का बहुमत हो जाय तो भी विशेष लाभ-प्राप्त वर्गों के मुक़ाबिले में वह कोई भी आमूल परिवर्तन नहीं कर सकेगी; क्योंकि उनके हाथ में आज कितनी ही राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, फ़ौजी तथा राजस्व-सम्बन्धी ज़बरदस्त ताक़तें अपनी हिफ़ाजत के लिए हैं । हिन्दुस्तान में यह बताने की जरूरत नहीं है कि हालात बिलकुल दूसरी तरह के हैं । न तो यहाँ लोकतन्त्रात्मक संस्थाये ही हैं और न ऐसी परम्परायें ही । उसके बजाय, यहाँ आर्डिनेन्सों और तानाशाही हुकूमत का और बोलने, लिखने, सभा करने और अखबारों की आज़ादी को कुचलने का खासा रिवाज़ पड़ा हुआ है, और न लिबरलों का यहां कोई खासा मज़बूत संगठन है । ऐसी हालत में उन्हें अपनी मधुर मुस्कान का ही सहारा रह जाता है ।

लिबरल लोग अवैध या 'ग़ैरक़ानूनी' कार्रवाइयों के सख्त ख़िलाफ़ हैं, लेकिन जिन देशों का विधान लोकतन्त्रात्मक है वहाँ वैध शब्द का व्यापक अर्थ होता है । उसमें क़ानून बनाने का अधिकार आ जाता है, वह स्वतन्त्रताओं की रक्षा करता है, कार्यकारिणी को बन्दिश में रखना है, उसमें राजनैतिक ओर आर्थिक ढाचे में परिवर्तन करने के लिए लोकतन्त्रात्मक साधनों की गुजाइश रहती है; लेकिन हिन्दुस्तान में ऐसा कोई विधान नही है, और यहाँ विधान के मानी भी इस तरह के नही हैं ।[१] यहाँ उसका इस्तैमाल करना एक ऐसे भाव को ला बिठाना है जिसके लिए आज के हिन्दुस्तान में कोई जगह नहीं है । और आश्चर्य के साथ कहना पड़ता है कि यहाँ वैध शब्द का प्रयोग अक्सर कार्यकारिणी के बहुत-कुछ मनमाने कार्यो के समर्थन में किया जाता है, या दूसरी तरह उसका 'क़ानूनी' के भाव में व्यवहार किया जाता है । इससे तो यह कही बेहतर है कि हम क़ानूनी और ग़ैरक़ानूनी शब्दों का ही व्यवहार करें, हालाँकि वे काफ़ी गोल्मोल हैं और समय-समय पर उनका अर्थ बदलता रहता है ।

१. श्री० सी. वाई. चिन्तामणि ने, जो कि एक नामी लिबरल नेता और 'लीडर' के प्रधान सम्पादक हैं, युक्तप्रान्त की कौन्सिल में पार्लमेंटरी ज्वाइन्ट सिलेक्ट कमिटी की रिपोर्ट पर टीका करते हुए खुद इस बात पर ज़ोर दिया था कि हिन्दुस्तान में किसी भी किस्म के वैध शासन का अभाव है—"अधिक प्रतिगामी और उससे भी ज्यादा अवैध भावी सरकार को मंजूर करने की बनिस्बत तो बेहतर है कि हम मौजूदा अवैध सरकार को ही लिये बैठे रहें ।"

नये-नये आर्डिनेन्स या नये-नये क़ानून नये-नये जुर्मों को पैदा करते हैं। उनके अनुसार किसी सभा में जाना जुर्म हो सकता है; इसी तरह साइकल पर सवार होना, खास किस्म के कपड़े पहनना, शाम के बाद घर के बाहर निकलना, पुलिस को रोज अपनी रिपोर्ट न देना, ये सब तथा दूसरी कई बातें आज हिन्दुस्तान के कुछ हिस्सों में जुर्म समझी जाती हैं। एक काम देश के एक हिस्से में जुर्म समझा जाता है और दूसरे में नहीं। जब एक ग़ैर-जिम्मेदार कार्यकारिणी के द्वारा ऐसे क़ानून बहुत थोड़े-से-थोड़े नोटिस पर बना दिये जा सकते हैं, तब 'क़ानूनी' शब्द के मानी कार्यकारिणी की इच्छा के सिवा और क्या हो सकते हैं? मामूली तौर पर तो इस इच्छा का पालन ही किया जाता है, चाहे राज़ी से हो चाहे ग़ैरराज़ी से। क्योंकि उसके भंग करने का परिणाम दुखदायी होता है। पर किसी शख्स के लिए यह कहना कि मैं सदा ही उनका पालन करता रहूँगा, मानों तानाशाही या ग़ैरज़िम्मेदार हुकूमत के सामने सब तरह से सिर झुका देना है, अपनी आत्मा को गिरो रख देना है और अपनी प्रकृतियों के लिए आज़ादी को असम्भव बना देना है।

हरेक लोकतंत्री देश में महज़ इस बात पर विवाद खड़ा हो रहा है कि मौजूदा वैधानिक तंत्र के द्वारा मामूली तौर पर आमूल आर्थिक परिवर्तन किये जा सकते हैं या नही? बहुत-से लोगों की राय है कि ऐसा नही हो सकता, इसके लिए कोई-न-कोई असाधारण और क्रान्तिकारी उपाय काम में लाना होगा। लेकिन जहांतक हमारे हिन्दुस्तान का ताल्लुक है, इस प्रश्न पर बहस करना कोई अर्थ नहीं रखता। ऐसा वैधानिक साधन ही नही है जिसके बल पर हम अपनी इच्छा का परिवर्त्तन करा सके। यदि श्वेत-पत्र या वैसा ही कोई चीज़ कानून बन गई तो बहुत-सी दिशाओं में वैधानिक प्रगति बिलकुल रुक जायगी। ऐसी दशा में सिवा क्रान्ति या ग़ैरकानूनी कार्रवाई के और कोई चारा ही नहीं रह जाता। तब हमें करना क्या चाहिए? क्या परिवर्त्तन की सब आशाओ को तिलाञ्जलि देकर भाग्य के भरोसे बैठे रहें?

हिन्दुस्तान में तो आज हालत और भी असाधारण हो गई है। कार्यकारिणी हर किस्म के सार्वजनिक कामो को रोक सकती है, और उनपर बंदिश लगा देती है। जो भी काम उसकी राय में उसके लिए खतरनाक है वह मना कर दिया जाता है। इस तरह हरेक कारगर सार्वजनिक काम बन्द कर दिया जा सकता है, जैसा कि पिछले तीन साल तक बन्द कर दिया गया था। इसको मानने के मानी हैं तमाम सार्वजनिक कामों को छोड़ देना। और यह मान लेना तो किसी तरह मुमकिन नहीं है।

यह कोई नही कह सकता कि वह हमेशा और बिला नागा क़ानून के मुताबिक़

ही काम करेगा। लोकतंत्री राज्य मे भी ऐसे मौक़े पैदा हो सकते हैं जब किसीकी अन्तरात्मा उसके खिलाफ़ चलने के लिए मजबूर करदे और उस देश में जहाँ स्वेच्छाचारी या निरंकुश शासन हो, ऐसे मौके और भी बारबार आ सकते है। यकीनन् ऐसे राज्य में कानून के लिए कोई नैतिक आधार नहीं रह जाता है।

लिबरल लोग कहते है—"सीधा हमला तानाशाही से मेल खाता है, न कि लोकतन्त्र से; और जो लोकतन्त्र की विजय चाहते हैं उन्हे सीधे हमले से दूर ही रहना चाहिए।" यह तो एक प्रकार का ग़लत सोचना और ग़लत लिखना हुआ। बाज वक्त सीधा हमला—जैसे मजदूरों की हड़ताल—भी कानूनी हो सकता है। मगर यहाँ उनकी मन्शा शायद राजनैतिक काम से है। जर्मनी में, जहाँ कि हिटलर का बोलबाला है, आज क्या किया जा सकता है? या तो चुपचाप सिर झुका दो, या ग़ैरकानूनी और क्रान्तिकारी काम करो। वहाँ लोकतन्त्र से काम कैसे चल सकता है?

हिन्दुस्तानी लिबरल अक्सर लोकतन्त्र का नाम लिया करते हैं, लेकिन उनमें से अधिकांश उसके पास जाने की इच्छा नहीं रखते। सर पी० एस० शिवस्वामी ऐयर ने, जो एक बहुत बड़े लिबरल नेता है, मई, १९३४ में कहा था—"विधानकारिणी सभा के आयोजन की पैरवी करते हुए कॉंग्रेस जन-समूह की समझदारी पर ज़रूरत से ज्यादा भरोसा रखती है और उन लोगों की सचाई और योग्यता के साथ बहुत कम इन्साफ करती है, जिन्होंने कि भिन्न-भिन्न गोलमेज़-कान्फ्रेन्सों में भाग लिया है। मुझे तो इस बात में बड़ा शक है कि विधानकारिणी सभा का नतीजा इससे अच्छा हुआ होता।" इस तरह सर शिवस्वामी ऐयर की लोकतन्त्र-संबंधी धारणा 'जन-समूह' से कुछ अलग है, और ब्रिटिश सरकार के नामज़द 'सच्चे और योग्य' लोगों के जमघट में ज्यादा अच्छी तरह बैठ जाती है। आगे चलकर वह श्वेत-पत्र को अपना आशीर्वाद देते है; क्योंकि, यद्यपि वह उससे 'पूरी तरह' संतुष्ट नहीं है, तथापि "देश के लिए उसका सोलहों आना विरोध करना समझदारी का काम न होगा।" तो अब ऐसा कोई सबब नहीं दिखाई देता कि क्यों न ब्रिटिश सरकार और सर पी० एस० शिवस्वामी ऐयर में पूरा-पूरा सहयोग हो।

कॉंग्रेस के द्वारा सविनय भंग के वापस लिये जाने का स्वागत लिबरलों की ओर से होना क़ुदरती ही था। और इसमें भी कोई ताज्जुब की बात नहीं है जो वे इस बात में अपनी समझदारी माने कि उन्होंने इस "मूर्खतापूर्ण और ग़लत आन्दोलन" से अपनेको अलग रक्खा। वे हमसे कहते हैं—"क्या हमने पहले ही ऐसा नहीं कहा था?" लेकिन यह एक अजीब दलील है। क्योंकि जब हम कमर कसकर खड़े हुए

और एक करारी लड़ाई लड़ी तो हम नीचे गिरा दिये गये; इसपर से हमें यह नसीहत दी जाती है कि खड़ा होना ही ग़लत था। पेट के बल रेंगना ही सबसे अच्छी और निरापद बात है। क्योंकि, उस पड़े रहने की हालत से गिरना या गिरा दिया जाना बिलकुल नामुमकिन है।

## ५३

# हिन्दुस्तान—पुराना और नया

यह स्वाभाविक और लाज़िमी बात थी कि हिन्दुस्तान में राष्ट्रवाद विदेशी हुकूमत का विरोधी हो। मगर फिर भी यह कितने कुतूहल की बात है कि हमारे बहु-संख्यक पढ़े-लिखे लोग १९ वीं सदी के अन्ततक, जान में या अनजान में, साम्राज्य के ब्रिटिश आदर्श मे विश्वास करते थे। वही उनकी दलीलों का आधार होता था और उसके कुछ बाहरी अलामात पर ही वे नुक्ताचीनी करके संतुष्ट हो जाते थे। स्कूलों और कॉलेजों में इतिहास, अर्थशास्त्र या जो भी दूसरे विषय पढ़ाये जाते थे वे ब्रिटिश साम्राज्य के दृष्टिकोण से लिखे होते थे और उनमें हमारी पिछली और मौजूदा बहुतेरी बुराइयों और अंग्रेजो के सद्गुणों और उज्ज्वल भविष्य पर ज़ोर दिया रहता था। हमने उनके इस तोडे-मरोडे वर्णन को ही कुछ हद तक मान लिया और अगर कही हमने उसका महज स्फूर्ति से प्रतिकार किया तो भी उसके असर से हम न बच सके। पहले-पहल तो हमारी बुद्धि उसमे से निकल ही नही सकती थी; क्योंकि हमारे पास न तो दूसरे वाक़यात थे और न दलीलें। इसलिए हमने धार्मिक राष्ट्रवाद और इस विचार की शरण ली, कि कम-से-कम धर्म और तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में कोई जाति हमसे बढ़कर नहीं है। हमने अपनी इस बदबख़्ती और गिरावट में भी इस बात से तसल्ली की कि यद्यपि हमारे पास पश्चिम की बाहरी चमक-दमक नही है तो भी हमारे पास अन्दर की चीज़ है जो कि उससे कही ज्यादा क़ीमती और रखने लायक़ निधि है। विवेकानन्द और दूसरों ने तथा पश्चिमी विद्वानों ने हमारे पुराने दर्शनशास्त्रो में जो दिलचस्पी ली उसने हमें कुछ स्वाभिमान प्रदान किया और अपने भूतकाल के प्रति अभिमान का जो भाव मुरझा गया था उसे फिर से लहलहा दिया।

धीरे-धीरे हमारी पुरानी और मौजूदा अवस्था के सम्बन्ध में अंग्रेजों के बयानों पर हमें शक होने लगा और हम बारीकी से उनकी छान-बीन करने लगे। मगर तब भी हम उसी ब्रिटिश विचारावली के घेरे में ही सोचते और काम करते थे। अगर कोई चीज़ ख़राब होती तो वह अ-ब्रिटिश कहलाती थी। यदि किसी अंग्रेज़ ने हिन्दुस्तान में खराब बर्त्ताव किया तो वह उसका क़ुसूर समझा जाता था, उस प्रणाली का नहीं। लेकिन इस छान-बीन के द्वारा हिन्दुस्तान में ब्रिटिश-शासन-सम्बन्धी जो सामग्री हाथ लगी और जो संग्रह हुआ उसने, लेखकों का दृष्टिकोण माडरेट रहते हुए भी, एक क्रान्तिकारी हेतु को सिद्ध किया और हमारे राष्ट्रवाद को राजनैतिक और

आर्थिक पाये पर खड़ा कर दिया। इस तरह दादाभाई नौरोजी की 'पावर्टी एण्ड अन-ब्रिटिश रूल इन इंडिया' और रमेशचन्द्र दत्त, विलियम डिग्बी आदि की किताबों ने हमारे राष्ट्रीय विचारों के विकास में एक क्रान्तिकारी काम किया। भारत के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में आगे चलकर जो और खोज हुई उसने तो बहुत प्राचीन काल की उच्च सभ्यता के उज्ज्वल युगों का वर्णन हमारे सामने ला दिया और हम बड़े संतोष के साथ उन्हें पढ़ते हैं। हमें यह भी पता लगा कि अंग्रेजों के लिखे इतिहासों से हिन्दुस्तान में अंग्रेजों के कारनामों के बारे में हमारे मन में जो धारणा बन गई थी उससे उलटे ही उनके कारनामे हैं।

हम इतिहास, अर्थशास्त्र और भारत में उनकी शासन-व्यवस्था-सम्बन्धी उनके वर्णनों को उत्तरोत्तर चुनौती देने लगे। मगर फिर भी हम काम तो उन्हींकी विचार-धारा के घेरे में करते थे। १९ वीं सदी के आखिर तक हिन्दुस्तानी राष्ट्रवाद की कुल मिलाकर यही हालत रही। आज लिबरल दल का, दूसरे और छोटे-छोटे दलों का और कुछ नरम कॉंग्रेसियों का भी, जो भावुकता में कभी-कभी आगे बढ़ जाते हैं लेकिन विचार की दृष्टि से अभी भी १९ वीं सदी में रह रहे हैं, यही हाल है। यही सबब है कि एक लिबरल हिन्दुस्तान की आज़ादी के भाव ग्रहण करने में असमर्थ है, क्योंकि ये दोनों चीज़ें मूलतः अनमेल हैं। वह सोचता है कि कदम-ब-कदम मैं ऊँचे पदों पर पहुँचता चला जाऊँगा और बड़ी-बड़ी तथा महत्त्व की फाइलों पर कार्रवाई करूँगा। सरकारी मशीन पहले की ही तरह आराम से चलती रहेगी, सिर्फ वह उसका एक धुरा बन जायगा और ब्रिटिश फौज ज़रूरत के वक़्त उसकी रक्षा करने के लिए, बिना ज्यादा दख़ल दिये, किसी कोने में पड़ी रहेगी। साम्राज्यान्तर्गत औपनिवेशिक स्वराज्य—डोमिनियन स्टेटस—से उसका यही मतलब है। यह एक बिलकुल वाहियात बात है जो कभी पार नहीं पड़ सकती; क्योंकि अंग्रेज़ों-द्वारा रक्षित होने की क़ीमत है हिन्दुस्तान की गुलामी। यदि यह मान भी लें कि एक विशाल देश के आत्म-सम्मान को यह गिराने-वाला न हो तो भी हम दही और मही दोनों एकसाथ नहीं खा सकते। सर फ्रेडरिक व्हाइट, जिन्हें भारतीय राष्ट्रवाद का पक्षपाती नहीं कह सकते, अपनी एक नई किताब 'दी फ्युचर ऑफ ईस्ट एण्ड वेस्ट' में लिखते हैं—"वह (हिन्दुस्तानी) अब भी यह मानता है कि जब कभी सर्वनाश का दिन आयगा तो इग्लैण्ड उसके और तबाही के बीच में आकर खड़ा हो जायगा; और जबतक वह इस धोखे में है तबतक वह ख़ुद अपने स्वराज की भी बुनियाद नहीं डाल सकता।" ज़ाहिर है कि उनकी मन्शा उन लिबरल या दूसरे प्रतिगामी और साम्प्रदायिक ढंग के हिन्दुस्तानियों से है जिनसे उनका साबका हिन्दुस्तान की असेम्बली के अध्यक्ष की हैसियत से पड़ा होगा। कॉंग्रेस का ऐसा विश्वास नहीं

है। तब और आगे बढ़ी हुई दूसरी जमातों का तो जरूर ही नहीं हो सकता। मगर हाँ, वे सर फ्रेडरिक की इस बात से सहमत हैं कि, जबतक यह भ्रम हिन्दुस्तान में मौजूद है—और अगर उसकी तकदीर में कोई तबाही लिखी ही हो और वह उसका मुकाबिला करने के लिए अकेला न छोड़ दिया जाय--तबतक हिन्दुस्तान को आज़ादी नहीं मिल सकती। जिस दिन हिन्दुस्तान से ब्रिटिश फौज का दौर-दौरा मुकम्मिल तौर पर हट जायगा उसी दिन हिन्दुस्तान की आज़ादी का श्रीगणेश होगा।

यह कोई ताज्जुब की बात नहीं है कि १९ वीं सदी के पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानी ब्रिटिश विचार-धारा के प्रभाव में आ जायँ, लेकिन बड़े ताज्जुब की बात तो यह है कि बीसवीं सदी के परिवर्तनों और दिल हिलादेनेवाली घटनाओं के होने पर भी कुछ लोग अभीतक उसी भ्रम में पड़े हुए हों। १९वीं सदी में ब्रिटिश शासकवर्ग दुनिया के उन कुलीन वर्गों में से था, जिनके पास काफ़ी धन-दौलत, हुकूमत और सफलतायें थीं। इस लम्बी जिन्दगी और तालीम ने उनमें कुछ श्रीमंतशाही के सद्गुण भी पैदा किये और कुछ दुर्गुण भी। हम हिन्दुस्तानी इस बात में सुख मान सकते हैं कि हमने पिछले लगभग पौने दो सौ बरसों में उन्हें इस उच्च स्थिति पर पहुँचाने और ऐसी तालीम दिलाने की साधन-सामग्री जुटाने में उन्हें काफी मदद की। वे अपनेको—जैसा कि कितनी ही जातियों और राष्ट्रों ने किया है—ईश्वर के लाड़ले और अपने साम्राज्य को पृथ्वी पर का स्वर्ग समझने लगे। यदि आप उनके इस खास दर्जे और रुतबे को मानते रहें और उनकी उच्चता को चुनौती न दी जाय तो वे बड़े मेहरबान रहेंगे और आपकी खातिर करेंगें, बशर्ते कि उससे उनका कुछ नुक़सान न हो। लेकिन उनकी मुखालिफत करना मानों ईश्वरी व्यवस्था का विरोध करना है और इसलिए वह ऐसा पाप है जिसको हर तरह से दबाना ही उचित है।

एम० आंद्रे सीगफ़ीद ने ब्रिटिश मनोविज्ञान के इस पहलू पर मज़ेदार प्रकाश डाला है:—

"परम्परा से शक्ति के साथ-साथ धन पर भी अधिकार रखने की जो आदत पड़ी हुई थी उसने अन्त में (अंग्रेज़ जाति में) रहन-सहन का ऐसा ढंग पैदा कर दिया जो रईसाना था और जिसपर अपने-आपको दैवी अधिकार-प्राप्त मनुष्य जाति समझने के भावों का एक अजीब-सा रंग पड़ा हुआ था। यहाँतक कि ब्रिटिश सत्ता को चुनौती दिये जाने पर भी यह ढंग वास्तव में अधिकाधिक स्पष्ट रूप से प्रकट होने लगा। सदी के अन्त का नवयुवक-समुदाय स्वभाव से ही यह विश्वास करने लगा कि यह सफलता उसका हक़ है।

"घटनाओं ( के रहस्य ) को समझने के इस ढंग पर ज़ोर देना इसलिए दिल-

चस्पी की बात है कि इन घटनाओं के द्वारा, ख़ासकर इस नाजुक विषय में, ब्रिटिश मनोवृत्ति की प्रतिक्रियायें स्पष्ट हो जाती हैं। कोई भी व्यक्ति इस नतीजे पर पहुँचे बिना नहीं रह सकता कि अंग्रेज जाति इन कठिनाइयों का कारण बाहरी घटनाओं में ही ढूँढने का प्रयत्न करती है। उसके मतानुसार शुरुआत सदा किसी दूसरे के क़ुसूर मे होती है और अगर यह (क़ुसूरवार) व्यक्ति अपना सुधार करने के लिए राजी हो जाय तो इंग्लैंड फिर अपने नष्ट वैभव को प्राप्त करले······(अंग्रेज़ जाति की) सदा यह प्रवृत्ति रही है कि खुद तो न बदलें, लेकिन दूसरे बदल जायँ।"

सारे जगत् के प्रति अंग्रेजों का यदि यह आम रवैया है तो हिन्दुस्तान में तो यह और भी ज्यादा प्रकट है। अंग्रेज़ लोग हिन्दुस्तान के मसलों को जिस तरह हल करना चाहते ं, वह है तो कुछ आकर्षक मगर है भड़कानेवाला। शांति के साथ आश्वासन देते हुए उनका यह कहना कि हमने जो कुछ किया है वह सही किया है और हमने अपनी ज़िम्मेदारी को बहुत योग्यता के साथ निबाहा है, अपनी जाति की भवितव्यता पर और अपने नमूने के साम्राज्यवाद पर श्रद्धा, और यदि कोई उस सच्ची श्रद्धा की बुनियाद पर सवाल उठाये तो ऐसे नास्तिकों और पापियों पर क्रोध और घृणा—इन भावों की तह में एक किस्म का धार्मिक जोश-सा दिखाई देता था। मध्यकालीन रोमन केथोलिक धर्म-विचारकों की तरह वे हमारी इच्छा या अनिच्छा की परवा न करते हुए हमारे उद्धार के लिए तुले हुए थे। भलाई के इस व्यापार में रास्ते चलते उनको भी कुछ लाभ हो गया और इस तरह वे 'ईमानदारी ही सबसे अच्छी व्यवहार-नीति है' इस पुरानी कहावत को चरितार्थ कर दिखाने लगे। हिन्दुस्तान की उन्नति का अर्थ, देश को शाही योजनाओं के अनुकूल बनाना और कुछ चुने हुए हिन्दुस्तानियों को ब्रिटिश साचे में ढालना हो गया। जितना ही ज्यादा हम ब्रिटिश आदर्शों और ध्येयों को मानते जायँगे उतना ही ज्यादा हम स्वराज या स्वशासन के अधिक योग्य समझ लिये जायँगे। ज्योंही हम इस बात की गैरंटी दे दें और यह दिखला दें कि हम अंग्रेजों की इच्छा के अनुसार ही अपनेको मिली हुई आजादी का उपयोग करेंगे, त्योंही आज़ादी हमारे पास आ जायगी।

लेकिन मुझे भय है कि हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन के इस कच्चे चिट्ठे पर हिन्दुस्तानी और अंग्रेज़ एकमत न होंगे। और, शायद, यह स्वाभाविक भी है। जब बड़े-बड़े ब्रिटिश अफसर, यहाँतक कि भारत-मंत्री भी, हिन्दुस्तान के भूत और वर्तमान का कल्पित चित्र खींचते हैं और ऐसी बातें कहते है जिनकी वास्तव में कोई बुनियाद ही नहीं होती, तो एक बड़ा धक्का लगता है। यह कितने आश्चर्य की बात है कि कुछ विशेषज्ञों और दूसरे लोगों को छोड़कर अंग्रेज़ लोग हिन्दुस्तान के बारे में

असाधारण रूप से बेखबर हैं। जबकि हक़ीकतें ही उनको धोखा दे जाती हैं तब हिन्दुस्तान की स्पिरिट तो उनकी पहुँच के कितने परे होगी ? उन्होने उसके शरीर को ज़ोर-जबरदस्ती से पकड़कर अपने कब्जे में कर तो लिया है, लेकिन वे न तो उसकी आत्मा को ही समझते हैं और न समझने की कोशिश ही करते हैं। उन्होने कभी उसकी आंख से आँख नहीं मिलाई। वह मिलाते भी कैसे ? क्योंकि उनकी तो आंखें फिरी हुई थीं और उसकी शर्म व जिल्लत से झुकी हुई थी। सदियों के इतने सम्पर्क के बाद भी जब वे एक-दूसरे के सामने आते हैं, तो अब भी अजनबी-से बने हुए हैं और दोनों के मन में एक-दूसरे के प्रति अरुचि के भाव भरे हुए हैं।

अपने इस घोर अधःपतन और दरिद्रता के बावजूद, हिंदुस्तान काफ़ी शरीफ़ और महान् है। और हालांकि वह पुरानी परंपरा और मौजूदा मुसीबतों से काफ़ी दबा हुआ है और उसकी पलकें थकान से कुछ भारी मालूम होती है, फिर भी "अन्दर से निखरती हुई सौन्दर्य-कान्ति उसके शरीर पर चमकती है। उसके अणु-परमाणु में अद्भुत विचारों, स्वच्छंद कल्पनाओं और उत्कृष्ट मनोभावों की झलक दिखाई देती है। उसके जीर्ण-शीर्ण शरीर में अब भी आत्मा की भव्यता झलकती है। अपनी इस लम्बी यात्रा में वह कई युगों में से होकर गुजरा है, और रास्ते में उसने बहुत ज्ञान और अनुभव संचित किया है, दूसरे देश-वासियों से देन-लेन किया है, उन्हें अपने बड़े कुनबे में शामिल कर लिया है, उत्थान और पतन, समृद्धि और ह्रास के दिन देखे हैं, बड़ी-बड़ी ज़िल्लतें उठाई है, महान् दुःख झेले है और कई अद्भुत दृश्य देखे हैं; लेकिन अपनी इस सारी लंबी यात्रा में उसने अपनी अति प्राचीन संस्कृति को नहीं छोड़ा। उससे उसने बल और जीवन-शक्ति प्राप्त की है और दूसरे देश के लोगों को उसका स्वाद भी चखाया है। घड़ी के लटकन की तरह वह कभी ऊपर गया और कभी नीचे आया है। अपने साहसिक विचारों से स्वर्ग और ईश्वर तक पहुँचने की उसने हिम्मत की है, उसके रहस्य खोलकर प्रकट किये हैं और उसे नरक-कुण्ड में गिरने का भी कटु अनुभव हुआ है। दुःखदाई वहमों और पतनकारी रस्म-रिवाजों के बावजूद, जोकि उसमें घुस आये हैं और जिन्होंने उसे नीचे गिरा दिया है, उसने उस स्फूर्ति और जीवन को अपने हृदय से कभी नहीं भुलाया, जो उसकी कुछ अनुभवी सन्तानों ने इतिहास के उस काल में उसे दी है और जो उपनिषदों में संचित हैं। उनकी कुशाग्रबुद्धि सदा खोज में लीन रहती थी, नवीनता को पाने की कोशिश करती थी और सत्य की शोध में व्याकुल रहती थी। वह जड़ सूत्रों को पकड़कर नहीं बैठी रही और न मुर्दा विधि-विधानों, ध्येय-वचनों और निरर्थक कर्म-काण्डों में डूबी रही। न तो उन्होंने इस लोक में खुद अपने लिए कष्टों से छुटकारा चाहा, न उस लोक में स्वर्ग

की इच्छा की। बल्कि उन्होंने ज्ञान और प्रकाश माँगा। 'मुझे असत् से सत् की ओर ले जा; मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जा; मुझे मृत्यु से अमरता की ओर ले जा।'[१] अपनी सबसे प्रसिद्ध प्रार्थना—गायत्री-मंत्र—में जिसका लाखों लोग आज भी नित्य जप करते हैं, ज्ञान और प्रकाश के लिए ही प्रार्थना की गई है।

हालांकि राजनैतिक दृष्टि से अक्सर उसके टुकड़े-टुकड़े होते रहे हैं, लेकिन उसकी आध्यात्मिकता ने सदा ही उसकी सर्व-सामान्य विरासत की रक्षा की है और उसकी विविधताओं में हमेशा एक विलक्षण एकता रही है[२]। तमाम पुराने मुल्कों की तरह इसमें भी अच्छाई और बुराई का एक अजीब मिश्रण था। मगर अच्छाई तो छिपी हुई थी और उसे खोजना पड़ता था; लेकिन ह्रास की बदबू जाहिर थी और सूरज की कड़ी और निठुर धूप ने उसकी उस बुराई को दुनिया के सामने लाकर रख दिया।

इटली और भारतवर्ष में कुछ समता है। दोनों प्राचीन देश हैं और दोनों की संस्कृति भी पुरानी है, हालाँकि हिन्दुस्तान के मुकाबिले में इटली ज़रा नया है और हिन्दुस्तान उससे बहुत विशाल। राजनैतिक दृष्टि से दोनों के टुकड़े-टुकड़े हो गये हैं। लेकिन इटैलियनों की यह भावना कि हम 'इटैलियन' हैं, हिन्दुस्तानियों की तरह कभी नहीं मिटी और उसकी तमाम विविधता और विरोधों में एकता ही मुख्य रही। इटली में वह एकता अधिकांश में रोमन एकता थी, क्योंकि उस विशाल नगर का उस देश में बहुत प्रभुत्व रहा और वह एकता का स्रोत और प्रतीक रहा है। हिन्दुस्तान में ऐसा कोई एक केन्द्र या प्रधान नगर नहीं रहा। हालाँकि काशी को पूर्वी देशों की मोक्षपुरी कह सकते हैं—हिन्दुस्तान के ही लिए नहीं बल्कि पूर्वी एशिया के लिए भी; लेकिन रोम की तरह काशी ने कभी साम्राज्य या लौकिक सत्ता के फेर मे पड़ने की कोशिश नही की। सारे हिन्दुस्तान में भारतीय संस्कृति इतनी फैली हुई थी कि किसी भी एक भाग को संस्कृति का केन्द्र नहीं कह सकते। कन्याकुमारी से लेकर

१. 'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय।'
—बृहदारण्यक उपनिषद् १-३-२७।

२. "हिन्दुस्तान में सबसे बड़ी परस्पर-विरोधी बात यह है कि इस विविधता के अन्दर एक भारी एकता समाई हुई है। यों सरसरी तौर पर वह नहीं दिखाई देती, क्योंकि किसी राजनैतिक एकता के द्वारा सारे देश को एक सूत्र में बाँधने के रूप में इतिहास में उसने अपनेको प्रकट नहीं किया, लेकिन वास्तव में यह एक ऐसी असलियत है और इतनी शक्तिशाली है कि हिन्दुस्तान की मुस्लिम दुनिया को भी यह कुबूल करना पड़ता है कि उसके प्रभाव में आने से उसपर भी गहरा असर हुए बिना नहीं रहा है"—'दि फ्यूचर आफ़ ईस्ट एण्ड वेस्ट' में सर फ्रेडरिक व्हाइट।

हिमालय मे अमरनाथ और बदरीनाथ तक और द्वारका से जगन्नाथपुरी तक एक ही विचारों का प्रचार था और यदि किसी एक जगह में विचारों का विरोध होता तो उसकी आवाज़ देश के दूर-दूर हिस्सोंतक पहुँच जाती थी।

इटली ने जिस प्रकार पश्चिमी योरप को धर्म और संस्कृति की भेंट दी उसी प्रकार हिन्दुस्तान ने पूर्वी एशिया को संस्कृति और धर्म प्रदान किया, हालांकि चीन भी उतना ही पुराना और आदरणीय है जितना कि भारतवर्ष। और तब, जबकि इटली राजनैतिक दृष्टि से निर्बल होकर चित पड़ गया था, उसकी संस्कृति का योरप में बोलबाला था।

मेटरनिक ने कहा था कि इटली तो एक 'भौगोलिक शब्द' है; और कितने ही दूसरे मेटरनिकों ने इसी शब्द का व्यवहार हिन्दुस्तान के लिए भी किया है। यह भी एक अजीब-सी बात है कि दोनों देशों की भौगोलिक स्थिति में भी समता है। लेकिन इंग्लैण्ड और आस्ट्रिया की तुलना तो इससे भी ज्यादा दिलचस्प है। क्योंकि बीसवीं सदी के इंग्लैण्ड की तुलना उन्नीसवीं सदी के मग़रूर, हठी और प्रतापी उस आस्ट्रिया के साथ की गई है जो था तो प्रतापी, मगर जिन जड़ों ने उसे ताक़त दी थी वे सिकुड़ रही थीं और उस ज़बर्दस्त वृक्ष में ह्रास के कीटाणु घुसकर उसे खोखला बना रहे थे।

यह एक अजीब बात है कि देश को देवी-देवता के रूप में मानने की प्रवृत्ति को कोई रोक ही नहीं सकता। हमारी आदत ही ऐसी पड़ गई है और पहले के संस्कार भी ऐसे ही हैं। हिन्दुस्तान 'भारत-माता' हो जाती है—एक सुन्दर स्त्री, बहुत ही वृद्ध होते हुए भी दीखने में युवती, जिसकी आँखों में दुःख और शून्यता भरी हुई, विदेशी और बाहरी लोगों के द्वारा अपमानित और प्रपीड़ित और अपने पुत्र-पुत्रियों को अपनी रक्षा के लिए आर्त्तस्वर से पुकारती हुई। इस तरह का कोई चित्र हजारों लोगों की भावनाओं को उभाड़ देता है और उनको कुछ करने और कुर्बान हो जाने के लिए प्रेरित करता है। लेकिन हिन्दुस्तान तो मुख्यतः उन किसानों और मज़दूरों का देश है, जिनका चेहरा ख़ूबसूरत नहीं है, क्योंकि ग़रीबी ख़ूबसूरत नहीं होती। क्या वह ख़ूबसूरत महिला जिसका हमने काल्पनिक चित्र खड़ा किया है, नंगे बदन और झुकी हुई कमरवाले, खेतों और कार-खानों में काम करनेवाले किसानों और मजदूरों की भावनाओं को प्रकट करती है? या वह उन थोड़े से लोगों के समूह का प्रतिनिधित्व करती है, जिन्होंने युगों से जनता को कुचला और चूसा है, उनपर कठोर-से-कठोर रिवाज लाद दिये हैं और उनमें से बहुतों को अछूत तक क़रार दे दिया है? हम अपने कल्पना-निर्मित जीवों को खड़ा करके सत्य को ढकने की कोशिश करते हैं और असलियत से अपनेको बचाकर सपने की दुनिया में विचरने का प्रयत्न करते हैं।

मगर इन अलग-अलग जात-पांत और उनके आपसी सघर्षों के बावजूद उन सबमें एक ऐसा सूत्र रहता है जो हिन्दुस्तान को एकसाथ बाँधे हुए है, और उसके आग्रह, दृढ़ता और सहिष्णुता को देखकर दांतों अंगुली दबानी पड़ती है। इस ताक़त का क्या कारण है? वह केवल निष्क्रिय शक्ति, जड़ता और परम्परा का प्रभाव ही नहीं है, हालांकि यों तो इनकी भी महत्ता कुछ कम नहीं है। वह तो एक सक्रिय और पोषक तत्त्व है, क्योंकि उसने जोरदार बाहरी प्रभावों का सफलतापूर्वक प्रतिकार किया है और जो-जो भीतरी ताकतें उसके मुकाबिले के लिए उठ खड़ी हुई उन्हें आत्मसात् कर लिया। और फिर भी, इस सारी ताकत के रहते हुए भी, वह राजनैतिक सत्ता को क़ायम न रख सका या राजनैतिक एकता को सिद्ध करने की कोशिश न कर सका। ऐसा जान पड़ता है कि ये दोनों बातें इतनी तरद्दुद करने लायक नहीं जान पड़ीं। उनके महत्व की मूर्खतापूर्ण अवहेलना की गई और इससे हमें बड़ी हानि उठानी पड़ी है। सारे इतिहास में भारत के प्राचीन आदर्श में कहीं भी राजनैतिक या सैनिक विजय का गुणगान नहीं किया गया। वह धन-संपत्ति को और धन कमानेवाले वर्गों को हिक़ारत की दृष्टि से देखता था; सम्मान और धन-सम्पत्ति दोनों एकसाथ नहीं रहते थे, और सम्मान तो, कम-से-कम सिद्धान्त में, उसको मिलता था जो जाति की सेवा करता था और वह भी आर्थिक पुरस्कार की आशा न रखते हुए।

यों तो पुरानी संस्कृति ने बहुतेरे भीषण तूफ़ानों और बवण्डरों का मुकाबिला करके भी अपनेको जीवित रक्खा है, लेकिन यद्यपि उसने अपना बाहरी रूप क़ायम रख छोड़ा है फिर भी वह अपना भीतरी असली सत्त्व खो चुकी है। आज वह चुपचाप और जी-जान लगाकर एक नई और सर्वशक्तिमान् प्रतिद्वन्द्विनी-पश्चिम की बनिया संस्कृति से लड़ रही है। यह नवआगन्तुक वाणिज्य उसपर हावी हो जायगा, क्योंकि पश्चिम के पास विज्ञान है और विज्ञान लाखों भूखों को भोजन देता है। मगर पश्चिम इस एक-दूसरे का गला काटनेवाली सभ्यता की बुराइयों का इलाज भी अपने साथ लाया है—साम्यवाद का, सहयोग का, सबके हित के लिए जाति या समाज की सेवा करने का सिद्धान्त। यह भारत के पुराने ब्राह्मणोचित सेवा के आदर्श से बहुत भिन्न नहीं है; लेकिन इसका अर्थ है तमाम जातियों, वर्गों और समूहों को ब्राह्मण बना देना (अवश्य ही धार्मिक अर्थ में नहीं) और जाति-भेद को मिटा देना। हो सकता है कि जब भारत इस लिबास को पहनेगा, और वह जरूर पहनेगा, क्योंकि पुराना लिबास तो चिथड़े-चिथड़े हो गया है, तो उसे उसमें इस तरह काट-छांट करनी पड़ेगी जिससे वह मौजूदा अवस्थायें और पुराने विचार दोनों का मेल साध सके। जिन विचारों को वह ग्रहण करे वे अवश्य ऐसे हो जाने चाहिएं जो उसकी भूमि के समरस हो जावें।

## ५४

# ब्रिटिश शासन का कच्चा चिट्ठा

हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासन का इतिहास कैसा रहा है ? मुझे यह सम्भव नही मालूम होता कि कोई भी हिन्दुस्तानी या अंग्रेज इस लम्बे इतिहास पर निष्पक्ष और निर्लिप्त रूप से विचार कर सकता हो। और यह सम्भव भी हो तो मनोवैज्ञानिक तथा अन्य सूक्ष्य घटनाओं को तौलना और जांचना तो और भी कठिन होगा। हमसे कहा जाता है कि ब्रिटिश शासन ने "भारतवर्ष को वह चीज दी है जो सदियों में भी उसे हासिल नही हुई—अर्थात् ऐसी सरकार, जिसकी सत्ता इस उप-महाद्वीप के कोने-कोने में मानी जाती है;"[१] इसने क़ानून का राज्य और एक न्यायोचित तथा निपुणतापूर्ण शासन-व्यवस्था स्थापित की है; इसने हिन्दुस्तान को पार्लमेण्टरी शासन की कल्पना तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्रदान की है; और "ब्रिटिश भारत को एक संगठित एकछत्र राज्य में परिवर्तित करके भारतवासियों में परस्पर राजनैतिक एकता की भावना को जन्म दिया है", और इस प्रकार राष्ट्रीयता के अंकुर का पोषण किया है।[१] अंग्रेजों का यही दावा है और इसमें बहुत-कुछ सचाई भी है, हालाँकि न्याययुक्त शासन और व्यक्तिगत स्वातंत्र्य बहुत वर्षों से नजर नही आ रहे हैं।

इस युग का भारतीय सिंहावलोकन अन्य कई बातों को महत्त्व देता है और उस आर्थिक तथा आध्यात्मिक क्षति का दिग्दर्शन कराता है जो विदेशी शासन के कारण हमको पहुँची है। दोनों के दृष्टि-कोण में इतना अन्तर है कि कभी-कभी जिस बात की अंग्रेज़ लोग तारीफ़ करते है उसी बात की हिन्दुस्तानी लोग निन्दा करते हैं। जैसा कि डॉक्टर आनन्द कुमारस्वामी ने लिखा है—"भारत में अंग्रेज़ी राज्य की एक सबसे ज्यादा विलक्षण बात यह रही है कि हिन्दुस्तानियों को पहुँचाई जानेवाली बड़ी-से-बड़ी हानि भी बाहर से भलाई ही मालूम होती है।"

सच तो यह है कि पिछले सौ या कुछ ज्यादा बरसों में हिन्दुस्तान में जो परिवर्तन हुए हैं वे संसारव्यापी हैं, और वे पूर्व व पश्चिम के अधिकांश देशों में समान रूप से हुए हैं। पश्चिमी योरप में, और इसके बाद बाकी के देशों में भी, उद्योगवाद के विकास के परिणामस्वरूप सब जगह राष्ट्रीयता और सुदृढ़ एकछत्र राज्य-सत्ता का

१. ये उद्धरण भारतीय शासन-सुधार सम्बन्धी-ज्वाइन्ट पार्लमेन्टरी कमिटी (१९३४) की रिपोर्ट से लिये गये हैं।

उदय हुआ । अंग्रेज़ लोग इस बात का श्रेय ले सकते हैं कि उन्होंने पहली बार भारतवर्ष का पश्चिम के साथ सम्बन्ध जोड़ा और उसे पश्चिमी उद्योगवाद तथा विज्ञान का एक हिस्सा प्रदान किया । परन्तु इतना कर चुकने पर वे इस देश के अधिकतर औद्योगिक विकास का गला घोंटते रहे, जबतक कि परिस्थिति ने इससे बाज़ आने के लिए उन्हें मजबूर नहीं कर दिया । हिन्दुस्तान तो पहले ही दो संस्कृतियों का सम्मिलन-क्षेत्र था; एक तो पश्चिमी एशिया से आई हुई इस्लाम की संस्कृति और दूसरी स्वयं उसकी पूर्वी संस्कृति जो सुदूर-पूर्व तक फैल गई थी । और अब सुदूर-पश्चिम से एक तीसरी और अधिक ज़ोरदार लहर आई, और भारतवर्ष भिन्न-भिन्न पुराने तथा नये विचारों का आकर्षण-केन्द्र तथा युद्धक्षेत्र बन गया । इसमें शक नहीं कि यह तीसरी लहर विजयी हो जाती और हिन्दुस्तान के बहुत-से पुराने सवालों को हल कर देती, लेकिन अंग्रेज़ों ने, जो खुद इस लहर को लाने में सहायक हुए थे, इसकी प्रगति को रोकने का प्रयत्न किया । उन्होंने हमारी औद्योगिक तरक्क़ी को रोक दिया, और इस तरह हमारी राजनैतिक उन्नति में बाधा डाल दी, और जितनी असामयिक मांडलिकशाही या या दूसरी पुरानी रूढ़ियाँ उन्हें यहाँ मिलीं उन सबका उन्होंने पोषण किया । उन्होंने हमारे परिवर्तन-शील, और कुछ हदतक प्रगति-शील, क़ानूनों और रिवाजों तक को भी जिस स्थिति में पाया उसी स्थिति में जमा दिया और हमारे लिए उनकी जंजीरों से छुटकारा पाना मुश्किल कर दिया । हिन्दुस्तान में मध्यमवर्ग का उदय कोई इन लोगों की सद्‌भावना या सहायता से नहीं हुआ । परन्तु रेल और उद्योगवाद के दूसरे उपकरणों का प्रचार करने के बाद वे परिवर्त्तन की गति को बंद नहीं कर सके; वे तो उसे केवल रोकने और धीमी करने में ही समर्थ हुए और इससे उन्हें स्पष्ट रूप से लाभ हुआ ।

"भारतीय शासन की शाही इमारत इसी पुख़्ता नींव पर खड़ी की गई है और बड़े भरोसे के साथ यह दावा किया जा सकता है कि १८५८ से, जबकि ईस्टइंडिया-कम्पनी के सारे प्रदेश पर सम्राट् की हुकूमत मानी गई, आजतक हिन्दुस्तान की शिक्षा-संबन्धी और माली तरक्क़ी उससे कहीं ज्यादा हुई है जितनी अपने लम्बे और उतार-चढ़ाव के इतिहास के किसी भी काल में हासिल करना उसके लिए सम्भव था ।"[१] लेकिन यह बात ऐसी नहीं मालूम होती जैसी कि बताई गई है और यह बार-बार कहा गया है कि अंग्रेज़ी राज्य का उदय होने से साक्षरता में तो दरअसल कमी आ गई है, लेकिन यह कथन बिलकुल सच भी हो तो उसका मतलब है आधुनिक औद्योगिक युग की प्राचीन युगों से तुलना करना । विज्ञान और उद्योगवाद के कारण दुनिया के क़रीब-

१. ज्वाइन्ट पार्लमेन्टरी कमिटी १९३४ की रिपोर्ट ।

क़रीब सभी देशों में, पिछली सदी में, बड़ी भारी तालीमी और माली तरक्क़ी हुई है, और ऐसे किसी भी देश के बारे में यह यक़ीनन कहा जा सकता है कि इस तरह की उन्नति "उससे कहीं ज्यादा हुई है जितनी अपने लम्बे और उतार-चढ़ाव के इतिहास के किसी भी काल में हासिल करना उसके लिए सम्भव था।", हालांकि शायद उस देश का इतिहास भारत के इतिहास के मुक़ाबिले में पुराना न हो। अगर हम यह कहें कि इस तरह की औद्योगिक उन्नति हमको इस औद्योगिक युग में ब्रिटिश शासन के न होने पर भी हासिल हो सकती थी, तो क्या यह फ़जूल का ही झगड़ा या ज़िद है? और सचमुच में अगर हम बहुत-से दूसरे देशों की हालत से अपनी हालत का मुक़ाबिला करें तो क्या हम यह कहने का साहस न करें कि इस प्रकार की उन्नति और भी ज्यादा होती? क्योंकि हमें अंग्रेज़ों के उस प्रयत्न से भी तो भिड़ना पड़ा है जो उन्होंने इस उन्नति का गला घोंटने के लिए किया। रेल, तार, टेलीफोन, बेतार के तार आदि अंग्रेज़ी राज्य की अच्छाई और भलाई की कसौटी नहीं माने जा सकते। ये वाञ्छनीय और आवश्यक थे, और चूँकि अंग्रेज़ लोग संयोगवश इनको सबसे पहले लेकर आये, इसलिए हमें उनका शुक्रगुज़ार होना चाहिए। लेकिन उद्योगवाद के ये चोबदार भी हमारे पास खास तौर पर ब्रिटिश राज्य को मज़बूत करने के लिए लाये गये। ये तो नसें और नाड़ियां थी जिनमें होकर राष्ट्र के खून को गर्दिश करनी चाहिए थी, जिससे व्यापार की तरक्क़ी होती, पैदावार एक जगह से दूसरी जगह पहुँचाई जाती, और करोड़ो मनुष्यों को नई ज़िन्दगी और धन हासिल होता। यह सही है कि आख़िरकार इस तरह का कोई-न-कोई नतीजा निकलता ही, लेकिन इन्हें जमाने और काम में लाने का मक़सद ही दूसरा था—साम्राज्य के पंजे को मजबूत करना और अंग्रेज़ी माल को बाज़ार में खपाना—जिसके पूरा करने में ये लोग कामयाब भी हो गये। मैं औद्योगीकरण और माल को दिसावर भेजने के नये-से-नये तरीक़ों के बिलकुल पक्ष में हूँ, लेकिन कभी-कभी, हिन्दुस्तान के मैदान में सफ़र करते हुए, मुझे यह जीवनदायी रेल भी लोहे के बन्धनों के समान मालूम पड़ी है, जो भारतवर्ष को जकड़े हुए और बन्दी बनाये हुए है।

हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ों ने अपने शासन का आधार जिस कल्पना पर रक्खा है, वह वैसी ही है जैसी कि एक पुलिस-राज्य की होती है। शासन का काम तो सिर्फ़ सरकार की रक्षा करना था और बाकी सब काम दूसरों पर थे। उसके सार्वजनिक राजस्व का सम्बन्ध फ़ौजी खर्च, पुलिस, शासन-व्यवस्था और क़र्ज़े के ब्याज से था। नागरिकों की आर्थिक ज़रूरतों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था और वे ब्रिटिश हितों पर कुर्बान कर दी जाती थीं। जनता की सांस्कृतिक और दूसरी आवश्य-

कता, कुछ थोड़ी-सी को छोडकर, बिलकुल बालाये ताक रखदी जाती थी। सार्वजनिक राजस्व की परिवर्त्तनशील धारणायें, जिनके फलस्वरूप अन्य देशों में निःशुल्क और देशव्यापी शिक्षा, जनता के स्वास्थ्य की उन्नति, निर्धन और बुद्धिहीन व्यक्तियो का पालन, श्रमजीवियों का बीमारी, बुढ़ापे तथा बेकारी के लिए बीमा, वगैरा जारी हुए, लगभग सरकार की कल्पना मे बाहर की बातें थीं। वह इन खर्चीले कामों में नहीं पड़ सकती थी, क्योंकि उसकी कर-प्रणाली अत्यन्त प्रगतिविरोधी थी, जिसके द्वारा कम आमदनीवालों से ज्यादा आमदनीवालों की बनिस्बत ज्यादा वसूल किया जाता था, और रक्षा और शासन के कामों पर उसका इतना अधिक खर्च था कि यह क़रीब-करीब सारी आमदनी को चट कर जाता था।

अंग्रेज़ी शासन की सबसे मुख्य बात यह थी कि सिर्फ़ ऐसी ही बातों पर ध्यान दिया जाय जिनसे कि मुल्क पर उनका राजनैतिक और आर्थिक क़ब्ज़ा मज़बूत हो। बाक़ी सब बात गौण थीं। अगर उन्होंने एक शक्तिशाली केन्द्रीय शासन-व्यवस्था और एक होशियार पुलिस-फोर्स की रचना कर डाली तो इस सफलता के लिए वे श्रेय ले सकते हैं, लेकिन भारतवासी इसके लिए अपने-आपको भाग्यशाली शायद ही कह सकें। एकता चीज़ अच्छी है, लेकिन पराधीनता की एकता कोई गर्व करने की वस्तु नहीं है। एक स्वेच्छाचारी शासन का बल ही जनता के ऊपर एक बड़ा भारी बोझ बन सकता है; और पुलिस की शक्ति, अनेक दिशाओं में निस्सन्देह उपयोगी होते हुए भी, जिन लोगों की वह रक्षक मानी जाती है उन्हीके खिलाफ़ खड़ी की जा सकती है, और बहुत बार की भी गई है। बर्ट्रेन्ड रसल ने आधुनिक सभ्यता की तुलना ग्रीस की प्राचीन सभ्यता से करते हुए हाल ही में लिखा है—"हमारी सभ्यता के मुक़ाबिले में ग्रीस की सभ्यता की खाली यही विचारणीय श्रेष्ठता थी कि उसकी पुलिस अयोग्य थी, जिसके कारण ज्यादातर भले आदमी अपने-आपको उसके चंगुल मे बचा सकते थे।"

भारत मे अंग्रेज़ों के आधिपत्य से हमें अमन-चैन मिला है। हिन्दुस्तान को मुग़ल-साम्राज्य के पतन के पीछे होनेवाली तकलीफ़ों और कम्बख़्तियों के बाद अमन-चैन की ज़रूरत भी थी इसमें शक नहीं। अमन-चैन एक बड़ी कीमती चीज़ है जो किसीभी तरह की तरक्की के लिए ज़रूरी है, और जब वह हमको मिली तो हमने उसका स्वागत किया। लेकिन उसकी क़ीमत की भी एक हद होनी चाहिए। अगर वह किसी भी क़ीमत पर ख़रीदी जायगी तो उससे हमें जो शान्ति मिलेगी वह स्मशान-शान्ति होगी। और उसके ज़रिये हमें जो हिफ़ाज़त मिलेगी वह होगी पिंजरे या जेलख़ाने की-सी हिफ़ाज़त। या वह अमन ऐसे लोगों की बेकस मायूसी हो सकता है, जो अपनी बहबूदी करने के क़ाबिल

न रहे हों। विदेशी विजेता की जबरन क़ायम की हुई शान्ति में वे विश्रामप्रद और शान्तिदायक गुण मुश्किल से पाये जाते हैं जो सच्ची शान्ति में होते हैं। युद्ध बड़ी भयंकर चीज़ है और इससे बचना चाहिए, लेकिन मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स के कथनानुसार यह निस्सन्देह कुछ गुणों को प्रोत्साहन देता है, जैसे एकनिष्ठा, मिलकर रहने की शक्ति, दृढ़ता, वीरता, आत्मविश्वास, शिक्षा, मौलिकता, मितव्ययिता, शारीरिक स्वस्थता और पौरुष। इसी कारण जेम्स ने युद्ध का एक ऐसा नैतिक रूप तलाश करने की कोशिश की जो युद्ध की भयंकरता के बिना ही किसी जाति में ऊपर के इन गुणों को उत्तेजन दे। अगर उन्हें असहयोग और सविनय-भंग का ज्ञान होता तो शायद उनको मनोवाञ्छित वस्तु, अर्थात् युद्ध का नैतिक और शान्तिमय सादृश्य मिल गया होता।

इतिहास की 'अगर-मगर' और सम्भावनाओं पर विचार करना फ़जूल है। मेरा विश्वास है कि हिन्दुस्तान का विज्ञानशील और उद्योगवान योरप के सम्पर्क में आना अच्छा ही हुआ। विज्ञान पश्चिम की एक बड़ी भारी देन है और हिन्दुस्तान में इसकी कमी थी, इसके बिना उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी भी थी। लेकिन जिस तरह हमारा उससे सम्बन्ध स्थापित हुआ वह दुर्भाग्यपूर्ण था। मगर फिर भी, शायद सिर्फ़ जोर-जोर की लगातार टक्करें ही हमें गहरी नींद से जगा सकतीं। इस दृष्टि से प्रोटेस्टेन्ट, व्यक्तिवादी, ऐंग्लो-सेक्सन अंग्रेज लोग इस काम के लिए उपयुक्त थे, क्योंकि अन्य पश्चिमी जातियों की बनिस्बत उनमें और हमारे में बहुत ज्यादा फ़र्क था और वे हमें अधिक जोर की ठोकर लगा सकते थे।

उन्होंने हमें राजनैतिक एकता दी, जो एक वाञ्छनीय वस्तु थी, पर हमारे अन्दर यह एकता होती या न होती तो भी भारतीय राष्ट्रीयता तो बढ़ती ही और इस प्रकार की एकता का तकाज़ा भी करती। आजकल अरब बहुत-सी मुख़्तलिफ़ रियासतों में बंटा हुआ है, जो स्वतन्त्र, परतन्त्र, रक्षित इत्यादि हैं। लेकिन उन सबमें एक अरबी राष्ट्रीयता की भावना दौड़ रही है। इसमें कोई शक नहीं कि अगर पश्चिमी साम्राज्यवादी शक्तियाँ उसके मार्ग में बाधक न हों तो अरबी राष्ट्रीयता बहुत हद तक इस एकता को प्राप्त कर ले। लेकिन जैसा कि हिन्दुस्तान में किया जा रहा है, इन शक्तियों का इरादा यही रहता है कि झगड़ालू प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दिया जाय और अल्प-मत की समस्यायें पैदा कर दी जायँ जिससे राष्ट्रीयता का जोश ठंडा पड़ जाय और कुछ अंश तक रुक जाय, तथा साम्राज्यवादी शक्ति को बने रहने और निष्पक्ष पंच होने का दावा करने का बहाना मिल जाय।

हिन्दुस्तान की राजनैतिक एकता गौण रूप से साम्राज्य की बढ़ोतरी के घुणाक्षर-

न्याय से प्राप्त हुई है। बाद में जब यह एकता राष्ट्रीयता के साथ मिल गई और विदेशी राज्य को चुनौती देने लगी तो हमारे सामने फूट डालने और फ़िरक़ेबंदी के जान-बूझकर बढ़ाये जाने के दृश्य आने लगे और ये दोनों बातें हमारी भावी उन्नति के मार्ग में बड़े जबरदस्त रोड़े हैं।

अंग्रेज़ों को यहाँ आये हुए कितना लम्बा अर्सा हो गया और उन्हें शक्तिशाली हुए भी पौने दो सौ वर्ष हो गये! स्वेच्छाचारी शासकों की भांति वे मनचाही करने में स्वतन्त्र थे, और हिन्दुस्तान को अपनी मर्ज़ी के मुताबिक़ ढालने का उनके पास काफ़ी सुन्दर मौक़ा था। इन वर्षों में संसार बिलकुल ही बदल गया है—इंग्लैण्ड, योरप, अमेरिका, जापान आदि सब बदल गये हैं। अठारहवीं सदी के अटलाण्टिक महासागर के किनारे पर स्थित छोटे-मोटे अमेरिकन उपनिवेश आज मिलकर सबसे धनवान, सबसे शक्तिशाली और कला-विज्ञान में सबसे अधिक उन्नत राष्ट्र बन गये हैं; जापान में थोड़े से ही समय में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया है; रूस का विशाल प्रदेश, जहाँ अभी कल तक ही जार के शासन का फ़ौलादी पंजा सब प्रकार की उन्नतियों का गला दबा रहा था, आज नवजीवन से परिप्लावित हो रहा है और हमारे सामने एक नई दुनिया खड़ी कर रहा है। हिन्दुस्तान में भी बड़े भारी परिवर्तन हुए हैं और यह देश उससे बहुत भिन्न है जो अठारहवीं शताब्दी में था—रेलें, नहरें, कारखाने, स्कूल और कॉलेज, बड़े-बड़े सरकारी दफ़्तर, आदि बन गये हैं।

और फिर, बावजूद इन परिवर्तनों के, आज हिन्दुस्तान की क्या हालत है? वह एक गुलाम देश है, जिसकी महान् शक्ति पिंजड़े में बन्द करदी गई है जो खुल-कर सांस लेने की भी हिम्मत नहीं कर सकता; जो दूर देश में रहनेवाले विदेशियों द्वारा शासित है; जिसके निवासी नितान्त निर्धन, थोड़ी उम्र में मरनेवाले और रोगों तथा महामारियों से अपने-आपको बचाने में असमर्थ हैं; जहाँ अशिक्षा चारों ओर फैली हुई है, जहाँके बहुत-से बड़े-बड़े प्रदेश हर तरह की सफ़ाई या चिकित्सा के साधनों से रहित हैं और जहाँ मध्यमवर्ग और जनता दोनों में बड़े भारी पैमाने पर बेकारी है। हमसे कहा जाता है कि स्वाधीनता, जनसत्तावाद, समाजवाद, वर्गवाद, आदि अव्यावहा-रिक आदर्शवादियों, सिद्धान्तवादियों और धोखेबाज़ों की पुकार है; असली कसौटी तो सारी जनता की भलाई को समझना चाहिए। यह वास्तव में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कसौटी है; लेकिन इस कसौटी पर भी आज हिन्दुस्तान बहुत ही हलका उतरता है। हम अन्य देशों में होनेवाली बेकारी कम करने तथा कष्टों को दूर करने की बड़ी-बड़ी योजनाओं की बातें पढ़ते हैं; लेकिन हमारे यहाँ के करोड़ों बेकारों और चारों ओर फैले हुए स्थायी घोर कष्टों को कौन पूछता है? हम दूसरे देशों की गृह-योजनाओं के विषय

में भी सुनते हैं; हमारे यहाँ के करोड़ों मनुष्यों के, जो कच्ची झोपड़ियों में रहते हैं या जिनके पास रहने तक को जगह नहीं, मकान कहाँ हैं ? क्या हमें दूसरे देशों की हालत से ईर्ष्या न होगी जहाँ शिक्षा, सफ़ाई, चिकित्सा-प्रबन्ध, सांस्कृतिक सुविधायें, और पैदावार बड़ी शीघ्रता से तरक़्क़ी कर रही हैं, जबकि हम लोग जहाँ थे वहीं खड़े हुए हैं या बड़ी दिक़्क़त के साथ जूँ की तरह रेंग रहे हैं ? रूस ने बारह साल के थोड़े-से समय में ही आश्चर्यजनक प्रयत्नों से अपने विशाल देश की अशिक्षा का क़रीब-क़रीब अन्त कर दिया है, और शिक्षा की ऐसी सुन्दर और नई-से-नई प्रणाली का विकास किया है जो जनता के जीवन से सम्पर्क रखती है। पिछड़े हुए टर्की ने अतातुर्क मुस्तफा कमाल के नेतृत्व में देश-व्यापी शिक्षा-प्रसार के मार्ग में बहुत लम्बा क़दम बढ़ाया है। फासिस्ट इटली ने अपने जीवन के आरम्भ में ही ज़ोरों से अशिक्षा पर आक्रमण किया। शिक्षा-सचिव जेन्टाइल ने आवाज़ उठाई कि "निरक्षरता पर सामने से हमला होना चाहिए। यह प्लेग का फोड़ा, जो हमारे राजनैतिक शरीर को सड़ा रहा है, गरम लोहे से दाग़ दिया जाना चाहिए।" घर में बैठकर बातें करने में ये शब्द भले ही कठोर और भद्दे मालूम हों, लेकिन इनके द्वारा इस विचार की तह में रहने-वाली दृढ़ता और शक्ति प्रकट होती है। हम लोग अधिक विनम्र हैं और बहुत चिकने-चुपड़े वाक्यों का प्रयोग करते हैं। हम लोग खूब फूँक-फूँककर क़दम रखते हैं और अपनी तमाम शक्तियों को कमीशनों और कमिटियों में बरबाद कर देते हैं।

हिन्दुस्तानियों पर यह दोषारोप किया जाता है कि वे बातें तो बहुत ज्यादा करते हैं पर काम ज़रा भी नहीं। यह आरोप ठीक भी है। लेकिन क्या हम अंग्रेज़ों की ऐसी कमिटियों और कमीशनों की अथक क्षमता पर आश्चर्य प्रकट न करें जिनमें से हरेक, बड़े परिश्रम के बाद, एक विद्वत्तापूर्ण रिपोर्ट—"एक महान् सरकारी ख़रीता"—तैयार करता है, जो बाक़ायदा तारीफ़ किये जाने के बाद दाख़िल-दफ्तर कर दी जाती है। और इस तरह से हमको आगे बढ़ने का, तरक़्क़ी का, भास तो होता है लेकिन हम रहते वहीं-के-वहीं हैं। मान भी रह जाता है और हमारे स्थापित स्वार्थ भी अछूते और सुरक्षित बने रहते हैं। दूसरे देश यह सोचते हैं कि किस तरह आगे बढ़ें; हम रुकावटों, अटकावों और संरक्षणों का विचार करते हैं कि कहीं ज़रूरत से ज्यादा तेज न चलने लगें।

"शाही शान-शौक़त रिआया की ग़रीबी का नाप बन गई"—मुग़ल साम्राज्य के बारे में यह बात हमको (ज्वाइन्ट पार्लमेण्टरी कमिटी १९३४ के द्वारा) बतलाई जाती है। यह बात ठीक है, लेकिन क्या हम उसी नाप को आज काम में नहीं ला सकते ? आज यह वाइसराय की शान-शौक़त और तड़क-भड़कवाली नई दिल्ली और

प्रान्तीय गवर्नर और उनकी नुमायशी टीम-टाम आखिर क्या है ? और इन सबके पीछे है हैरत में डालनेवाली हद दरजे की ग़रीबी। यह भिन्नता दिल को चोट पहुँचाती है और यह कल्पना करना कठिन है कि कोमल हृदय के लोग इसको किस तरह बरदाश्त कर सकते हैं। तमाम शाही वैभववाली इस ऊँची दूकान के पीछे आज हिन्दुस्तान का एक बड़ा दैन्यपूर्ण और शोकमय चित्र है। जोड़-तोड़ मिलाकर और दिखावटी बातों से शाही शान-शौक़त बढ़ादी गई है, लेकिन इसके पीछे निम्न मध्यमवर्ग के कम्बख़्त लोग हैं, जो ज़माने की हालतों से पिसते ही चले जा रहे हैं। इनके पीछे श्रमजीवी लोग हैं, जो पीस डालनेवाली ग़रीबी में कम्बख़्ती की ज़िन्दगी बसर कर रहे हैं और इनके बाद किसान लोग हैं जो हिन्दुस्तान का वह नमूना है जिनकी क़िस्मत में "अनन्त अंधकार में रहना" ही लिखा है।

"आह ! कितनी सदियों के भार से दबा हुआ वह झुका खड़ा है—
झुका हुआ है अपने फावड़े के सहारे पर, और देख रहा है जमीन की ओर,
उसके चेहरे पर शून्यता का यह आलेखन तो देखो,
और उसकी जर्जरित पीठ पर यह दुनिया भर का बोझ है।

× × × ×

युगों की पीड़ायें झाक रही है इस भयावने हड्डियों के पिंजड़े में से।
वह झुका है या यह महाकाल की दुःखान्त पीड़ा है,
जगत की निर्मातृ शक्तियों के आगे मानवता रो रही है—
अपना दुःख सुना रही है इन हड्डियों के झरोखों से वह मानवता—
ठगी हुई, लुटी हुई और अधिकार पद से उतारी हुई,
उसका यह विरोध-रोदन भविष्यवाणी भी तो है।"[1]

१. ये उद्धरण अमेरिका के कवि ई० मारखम की "The man with the Hoe" नामक कविता से लिये गये हैं। मूल अंग्रेज़ी कविता इस प्रकार है:-

"Bowed by weight of centuries he leans
Upon his hoe and gazes on the ground,
The emptiness of ages on his face,
And on his back the burden of the world

× × × ×

"Through this dread shape the suffering ages look.
Time's tragedy is in that aching stoop,
Through this dread shape humanity betrayed.
Plundered, profaned and disinherited,
Cries protest to the powers that made the world,
A protest that is also prophecy."

हिन्दुस्तान की सारी तकलीफों का दोष अंग्रेजों के सिर मढ़ना ठीक नहीं होगा। इसकी जिम्मेदारी तो हमको अपने ही कंधों पर लेनी पड़ेगी और उससे हम बच भी नहीं सकते; अपनी कमजोरी के अनिवार्य परिणामों के लिए दूसरों को दोष देना अच्छा नहीं मालूम होता। एक हाकिमाना शासन-प्रणाली, ख़ासकर एक विदेशी शासन-प्रणाली, ज़रूर गुलाम मनोवृत्ति को प्रोत्साहन देगी और रिआया के दृष्टिकोण और दृष्टि-क्षेत्र को सीमित रखने का प्रयत्न करेगी। उसे तो नवयुवकों की सबसे सुन्दर प्रवृत्तियों—उद्योग, जोखिम उठाने की भावना, मौलिकता, बल-वीर्य—को पीस डालना और जी चुराना, लकीर के फ़कीर बने रहना और अफसरों की क़दमबोसी और चापलूसी करने की इच्छा आदि को प्रोत्साहन देना ही अभीष्ट है। इस प्रकार की प्रणाली से सच्ची सेवा-वृत्ति, सार्वजनिक सेवा या आदर्श की लगन, उत्पन्न नही होती; यह तो ऐसे लोगों को छाँट लेती है जिनमें सेवा के भाव बहुत कम हों और जिनका एकमात्र उद्देश्य मौज से ज़िन्दगी बसर करना हो। हम देखते हैं कि हिन्दुस्तान में अंग्रेज लोग कैसे व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं! इनमें से कुछ तो कुशाग्रबुद्धि और अच्छा काम करने लायक होते है। ये लोग दूसरी जगह मौक़ा न मिलने के कारण सरकारी या नीम-सरकारी नौकरियों मे पड़कर धीरे-धीरे नरम हो जाते हैं और उस बड़ी मशीन के पुर्जे मात्र बन जाते हैं; उनके दिमाग़ काम के सुस्त ढर्रे में क़ैद हो जाते है। वे नौकरशाही के गुण—"क्लर्की करने का खूब अच्छा ज्ञान और दफ्तर चलाने का कौशल"—प्राप्त कर लेते है। सार्वजनिक सेवा में ज्यादा-से-ज्यादा उनकी मौखिक भक्ति होती है। उबलता हुआ जोश वहां न तो होता है और न हो सकता है। विदेशी सरकार के राज्य में यह सम्भव ही नही है।

लेकिन इनके अलावा, छोटे-मोटे अफसरों में भी अधिकतर किसी तारीफ़ के क़ाबिल नहीं होते। क्योंकि उन्होंने तो सिर्फ अपने बड़े अफसरों की क़दमबोसी करना और अपने मातहतों को डांटना ही सीखा है। इसमें उनका कुसूर नहीं है। यह शिक्षा तो उन्हें शासन-प्रणाली से मिलती है। अगर चापलूसी और रिश्तेदारों के साथ रिआयत फूलती-फलती है, जैसा कि अक्सर होता है, तो इसमें ताज्जुब ही क्या है? नौकरी मे उनका कोई आदर्श नहीं रहता; उनके पीछे तो बेकारी और उसके परिणामस्वरूप भूखों मरने के डर का भूत लगा रहता है, और उनकी ख़ास नीयत यह रहती है कि अपनी नौकरी से चिपके रहें और अपने रिश्तेदारों और दोस्तों के लिए और दूसरी नौकरियाँ प्राप्त करें। जहाँ भेदिया, और सबसे ज्यादा घृणित जीव मुख़बिर, हमेशा पीछे-पीछे लगे फिरते रहते है, वहाँ लोगों में अधिक वाञ्छनीय गुणों की वृद्धि होना कठिन है।

हाल की घटनाओं ने तो भावुक और सार्वजनिक सेवा के भावोंवाले व्यक्तियों के लिए सरकारी नौकरी में घुसना और भी मुश्किल कर दिया है। सरकार तो उनको चाहती नहीं और वे उससे उस समय तक घनिष्ठ सम्बन्ध रखना नहीं चाहते जबतक कि वे आर्थिक परिस्थिति से मजबूर न हो जायँ।

लेकिन, जैसा कि सारी दुनिया जानती है, साम्राज्य का भार गोरों पर है, कालों पर नहीं। साम्राज्य की परम्परा जारी रखने के लिए तरह-तरह की शाही नौकरियाँ और उनके विशेष अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए संरक्षणों की हमारे यहाँ भरमार है, और कहा जाता है कि ये सब है हिन्दुस्तान के ही हित के लिए। यह ताज्जुब की बात है कि हिन्दुस्तान का हित किस तरह से इन ऊँची नौकरियों के स्पष्ट हितों और उन्नति के साथ बँधा हुआ है। हमसे कहा जाता है कि अगर भारतीय सिविल सर्विस का कोई अधिकार या कोई ऊँचा ओहदा छीन लिया गया तो उसका नतीजा बदइन्तजामी और रिश्वतखोरी आदि होगा। अगर भारतीय मेडिकल सर्विस की रिज़र्व की हुई नौकरियाँ कम करदी गई तो यह बात "हिन्दुस्तान की तन्दुरुस्ती के लिए खतरनाक" हो जाती है! और हाँ, अगर फौजों में अंग्रेजों की संख्या को हाथ लगाया गया तो दुनियाभर के भयंकर ख़तरे हमारे सामने आ जाते हैं।

मेरा ख़याल है कि इस बात में कुछ सचाई है कि अगर ऊँचे अफ़सर यकायक चले गये और अपने महकमों को मातहतों के भरोसे छोड़ गये तो इन्तज़ाम में कमी ज़रूर आयगी। लेकिन यह तो इसलिए होगा कि सारी प्रणाली ही इस तरह की बनाई गई है, और मातहत लोग किसी हालत में भी कोई बहुत लायक नहीं हैं, न उनके कन्धों पर कभी ज़िम्मेदारी का बोझ डाला गया है। मुझे विश्वास होता है कि हिन्दुस्तान में अच्छी सामग्री बहुतायत से पड़ी हुई है और वह थोड़े ही समय में मिल भी सकती है, बशर्ते कि ठीक-ठीक उपाय काम में लाये जायँ। लेकिन इसका अर्थ है हमारे शासन और समाज-सम्बन्धी दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन, जिसका अर्थ है एक नई राज्य-व्यवस्था।

अभी तो हमसे यही कहा जाता है कि शासन-विधान में चाहे जो परिवर्तन हमारे सामने आवें, हमारी देखरेख करनेवाला और हमें आश्रय देनेवाला बड़ी-बड़ी नौकरियों का मज़बूत ढांचा ज्यों-का-त्यों बना रहेगा। सरकारी मन्दिर के गूढ़तम रहस्यों को जानने और दूसरों को उनका अधिकारी बनानेवाले ये पण्डे लोग उसकी रक्षा करेंगे और अनधिकारी लोगों को उस पवित्र प्रांगण में न घुसने देंगे। क्रम-क्रम से जैसे-जैसे हम अपनेको उसके योग्य बनाते जायँगे, वैसे-वैसे वे एक के बाद दूसरे परदे को हमारे सामने से उठाते जायँगे, और इस तरह अन्त में किसी सुदूर भविष्य

में अन्तर्कपाट खुलेंगे और हमारी आश्चर्यभरी तथा श्रद्धायुक्त आँखों के सामने वह पवित्रतम देवमूर्ति खड़ी दिखाई देगी।

इन शाही नौकरियों में सबसे ऊँचा स्थान भारतीय सिविल सर्विस का है और हिन्दुस्तान की सरकार के ठीक-ठीक चलते रहने की शाबाशी या लानत ज्यादातर इसीको मिलनी चाहिए। हमको अक्सर इस सर्विस के अनेक गुण बतलाये जाते हैं। साम्राज्य की योजना में इसका महत्त्व एक सिद्धान्त-सा बन गया है। हिन्दुस्तान में इसकी सर्वमान्य अधिकारपूर्ण स्थिति और उससे उत्पन्न स्वेच्छाचारिता और पर्य्याप्त परिमाण में मिलनेवाली तारीफ़ और वाहवाही, यह सब किसी भी व्यक्ति या समुदाय के दिमाग़ को स्थिर रखने के लिए बहुत अच्छी चीज़ें नहीं हो सकतीं। इस सर्विस के लिए प्रशंसा के भाव रखते हुए भी मुझे संकोच के साथ स्वीकार करना पड़ना है कि व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों ही तरह यह पुरानी लेकिन कुछ-कुछ नवीन बीमारी—उन्माद—की विलक्षण रूप से शिकार हो सकती है।

इण्डियन सिविल सर्विस की अच्छाइयों से इन्कार करना फ़ज़ूल है, क्योंकि हमे इनको भूलने ही नहीं दिया जाता। लेकिन इस सर्विस के बारे में इतनी निरर्थक बातें कही गईं और कही जाती हैं कि मुझे कभी-कभी लगता है कि उसकी थोड़ी-सी क़लई खोल देना भी हितकर होगा। अमेरिकन अर्थशास्त्री वेबलेन ने विशेष अधिकार-प्राप्त वर्गों को 'सुरक्षित वर्ग' कहा है। मेरे खयाल से, इण्डियन सिविल सर्विस और दूसरी शाही नौकरियों को भी 'सुरक्षित नौकरियाँ' कहना उतना ही युक्ति-युक्त होगा। यह एक बड़ी महँगी ऐयाशी है।

मेजर डी० ग्रैहम पोल ने, जो पहले ब्रिटिश पार्लमेण्ट के लेबर मेम्बर रह चुके हैं और हिन्दुस्तान के मामलों में बहुत दिलचस्पी लेते हैं, कुछ दिन हुए, 'माडर्न रिव्यू' में एक लेख लिखा था, जिसमें उन्होंने बताया था कि "अभीतक इस बात पर किसीने आपत्ति नहीं की कि इण्डियन सिविल सर्विस एक बहुत योग्य और होशियार कारगर चीज़ है।" चूंकि इस प्रकार की बातें इंग्लैण्ड में अक्सर कही जाती हैं और उन-पर विश्वास किया जाता है, इसलिए इसकी परीक्षा करना लाभकर होगा। ऐसे पक्के और निश्चयात्मक बयान देना, जो सहज ही में काटे जा सकें, हमेशा खतरनाक होता है और मेजर ग्रैहम पोल की यह कल्पना बिलकुल ग़लत है कि इस बात पर कभी किसी-ने ऐतराज़ नहीं किया। इसको तो बारबार चुनौती दी गई है और ठीक नहीं माना गया है, और काफ़ी अर्सा हुआ जब श्री गोपालकृष्ण गोखले तक ने इण्डियन सिविल सर्विस के बारे में बहुत-सी कड़ुवी बातें कही थीं। औसत दर्जे का हिन्दुस्तानी—वह कांग्रेसमैन हो या न हो—मेजर ग्रैहम पोल से इस विषय पर निश्चय ही कदापि सहमत नहीं हो

सकता। फिर भी यह सम्भव है कि दोनों कुछ अंश तक ठीक हों और भिन्न-भिन्न गुणों को मद्देनज़र रखकर सोचते हों। आख़िर योग्यता और होशियारी का पैमाना क्या है ? अगर यह योग्यता और होशियारी हिन्दुस्तान में ब्रिटिश राज्य को मज़बूत बनाये रखने और देश को चूसने में उसे सहायता देने की दृष्टि से नापी जाय, तो इण्डियन सिविल सर्विस ज़रूर बहुत अच्छा काम करने का दावा कर सकती है। लेकिन अगर भारतीय जनता की भलाई की कसौटी पर रखकर देखा जाय, तो कहना होगा कि ये लोग बुरी तरह से नाकामयाब हुए हैं, और इनकी नाकामयाबी तब और भी ज्यादा ज़ाहिर हो जाती है जबकि हम उस बड़े भारी अन्तर को देखते हैं जो आमदनी और रहन-सहन के ढंग के लिहाज़ से इनको उस जनता से अलग कर देता है जिसकी सेवा करना इनका फर्ज़ है और दरअसल जिसके पास से इनकी इतनी लम्बी-चौड़ी तनख़्वाह आदि निकलती है।

यह बिलकुल ठीक है कि आम तौर पर इस सर्विस ने अपना एक ख़ास स्टैण्डर्ड बना लिया है, हालाँकि वह स्टैण्डर्ड लाज़मी तौर पर बहुत नीचे दर्जे का रहा है। कभी-कभी इसमें से असाधारण व्यक्ति भी निकले हैं। ऐसी किसी सर्विस से ज्यादा उम्मीद भी नहीं की जा सकती। इसके अन्दर लाज़िमी तौर पर अन्दर से अपनी अच्छा-इयों और बुराइयों को लिये हुए इंग्लैंड के पब्लिक स्कूलों की भावना भरी हुई थी ( हालाँकि इंडियन सिविल सर्विस के बहुत-से अफसर इन पब्लिक स्कूलों में पढ़े हुए नहीं हैं )। हालाँकि यह एक अच्छा स्टैण्डर्ड बनाये रही, फिर भी इसने अपनी लीक छोड़ना कभी पसन्द नहीं किया, और व्यक्तिगत रूप से इसके मेम्बरों के ख़ास गुण रोज़मर्रा के नीरस काम-काजों में, और कुछ इस डर में कि कहीं दूसरों से भिन्न न नज़र आने लगें, विलीन हो गये। इसमें बहुत-से उत्साही लोग भी थे, और बहुत-से ऐसे भी थे जिनमें सेवा के भाव थे, लेकिन वह सेवा सबसे पहले साम्राज्य की थी और हिन्दुस्तान तो गिरते-पड़ते कहीं दूसरे नम्बर में आता था। जिस तरह की तालीम उन्हें मिली थी और जैसी उनकी परिस्थिति थी उसके अनुसार तो वे सिर्फ़ ऐसा ही कर सकते थे। चूँकि उनकी तादाद कम थी और वे एक विदेशी और अक्सर बे-मेल वातावरण से घिरे रहते थे, इसलिए वे अपने ही में रमे रहते और अपना एक ख़ास स्टैण्डर्ड बनाये रखते थे। जाति और पद की प्रतिष्ठा का यही तक़ाज़ा था। और चूँकि उनको मनमानी करने के ख़ूब अधिकार थे, इसलिए वे आलोचना से नाराज़ होते थे और उसे बड़ा भारी पाप समझते थे। वे दिन-पर-दिन असहिष्णु तथा स्कूल-मास्टर की मनोवृत्तिवाले होते जाते थे, और ग़ैर-जिम्मेदार राज्य-शासकों के बहुत-से दुर्गुण अपने अन्दर भरते जाते थे। वे अपने ही में संतुष्ट रहते और किसी

दूसरे की कुछ दरकार नही समझते थे। उनके दिमाग़ संकीर्ण और घड़े-घड़ाये थे, जो परिवर्तनशील संसार में भी अपरिवर्तित रहते तथा प्रगतिशील वातावरण के बिलकुल अनुपयुक्त थे। जब उनसे अधिक योग्य और स्थिति को अच्छी तरह समझनेवाले हिन्दुस्तान की समस्या को हल करने की कोशिश करते, तो वे लोग नाराज़ होते, उन्हें खरीखोटी सुनाते, उनको दबाते और उनके मार्ग में सब तरह के रोड़े अटकाते। जब युरोपीय महायुद्ध के बाद होनेवाले परिवर्त्तनों ने गतिशील परिस्थिति उत्पन्न कर दी, तो ये लोग एकदम बौखला गये और अपने आपको उसके अनुकूल न बना सके। उनकी परिमित और संकीर्ण शिक्षा ने उन्हें ऐसी संकटापन्न और नवीन परिस्थितियों के योग्य नहीं बनाया था। लम्बे अर्से तक ग़ैर-ज़िम्मेदारी के साथ काम करते-करते वे बिगड़ चुके थे। समुदाय-रूप से तो उनको क़रीब-क़रीब बिलकुल निरंकुश प्रभुता मिली हुई थी, जिसपर सिर्फ़ सिद्धान्त-रूप से ब्रिटिश पार्लमेण्ट का नियन्त्रण था। लार्ड एक्टन ने लिखा है—"प्रभुता हमें बिगाड़ देती है, और पूर्ण प्रभुता तो पूर्णरूप से बिगाड़ देती है।"

मामूली तौर से, ये लोग अपने परिमित दायरे में विश्वासपात्र अफ़सर होते थे, जो अपना रोज़मर्रा का काम काफ़ी होशियारी के साथ करते, लेकिन उसमें प्रवीणता नहीं होती थी। उनकी तो तालीम ही ऐसी होती थी कि कोई बिलकुल अचानक हो जानेवाली घटना उन्हें घबरा देती थी। हालाँकि उनका आत्म-विश्वास, उनकी क़ायदे के साथ काम करने की आदतें और उनका आपसी भ्रातृ-भाव, उनको तात्कालिक कठिनाइयों पर विजय पाने में सहायता देते थे। मैसेपोटेमिया में की हुई मशहूर गड़बड़ ने भारतीय ब्रिटिश सरकार की अयोग्यता और जड़ता का भंडा-फोड़ कर दिया था, लेकिन ऐसी बहुत-सी गड़बड़ें ज़ाहिर ही नहीं होने पाती हैं। सविनय-भंग से जो प्रतिक्रिया इनपर हुई वह भी भोंडी थी। गोली चलाने और लाठी मारने से थोड़ी देर के लिए दुश्मनों से छुटकारा भले ही मिल जाय, लेकिन इससे कोई मसला हल नहीं होता। और उच्चता की जिस भावना की रक्षा करने के लिए यह काम किया जाता है उसीकी जड़ पर इससे कुठाराघात होता है। अगर उन्होंने एक बढ़नेवाले और तेज़-तर्रार राष्ट्रीय आन्दोलन का मुक़ाबिला करने के लिए हिंसा का सहारा लिया तो इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं थी, यह तो अनिवार्य ही था, क्योंकि साम्राज्यों का आधार हिंसा ही है और विरोध का मुकाबिला करने के लिए उन्हें दूसरा तरीक़ा ही नहीं सिखाया गया था। लेकिन अतिशय और अनावश्यक रूप से हिंसा का प्रयोग किया जाना ही इस बात का सबूत था कि स्थिति पर उनका बिलकुल क़ाबू नहीं रहा था, और उनमें वह आत्म-संयम और निग्रह नहीं रह गया था जो साधारण अवस्थाओं में

उनमें रहता था। अक्सर उनके हाथ-पैर फूल जाते थे और उनके सार्वजनिक वक्तव्यों में भी फ़ज़ूल बकवास-सी नज़र आती थी। मामूली तौर पर रहनेवाला गहरा विश्वास जाता रहा था। ख़तरा बड़ी बेरहमी से हम सबकी पोल खोल देता है और हमारी अन्दरूनी कमज़ोरियों का भंडा-फोड़ कर देता है। सविनय भंग एक ऐसा ही ख़तरा और ऐसी ही परीक्षा थी, और लड़नेवाले दोनों दलों—कांग्रेस या सरकार—में से कोई भी इस परीक्षा में पूरा नहीं उतरा। मि० लाइड जार्ज कहते हैं कि ख़तरे के समय में ऊँचे दर्जे की दिमाग़ी ताक़त रखनेवाले पुरुष और स्त्रियों की संख्या बहुत कम मिलती है, और "बाक़ी लोगों की ख़तरे में कोई गिनती नहीं। छोटी-छोटी पहाड़ियाँ, जो सूखे मौसम में उभरी हुई-सी दिखाई पड़ती हैं, ज़ोर की बाढ़ में फ़ौरन डूब जाती हैं, जबकि सिर्फ सबसे ऊँची चोटियाँ ही पानी की सतह के ऊपर नज़र आती हैं।"

जो कुछ भी हुआ, उसके लिए इंडियन सिविल सर्विस के लोग दिल और दिमाग से तैयार न थे। उनमें से बहुतों की आरम्भिक शिक्षा पुराने शाही ज़माने की थी, जिसकी वजह से उनमें कुछ संस्कृति और आकर्षण बना हुआ था। यह तो पुरानी दुनिया का रुख़ था, जो विक्टोरियन युग के उपयुक्त था, लेकिन आधुनिक अवस्थाओं में जिसके लिए कोई स्थान न था। वे लोग अपने संकुचित और गूलर के समान 'ऐंग्लो-इंडिया' संसार में निवास करते थे जो न इंग्लैण्ड था और न हिन्दुस्तान। तात्कालिक समाज में जो शक्तियाँ काम कर रही थी उनकी क़दर वे कर ही नहीं सकते थे। भारतीय जनता के अभिभावक और ट्रस्टी होने की अपनी मज़ेदार धारणा के बावजूद वे इसके बारे में कुछ नहीं जानते थे, और नये उग्रमतवादी मध्यमवर्ग के बारे में तो इससे भी कम जानते थे। वे हिन्दुस्तानियों की योग्यता का अन्दाज़ा उन चापलूसों और नौकरी के उम्मीदवारों से करते थे जो उनको घेरे रहते थे, और बाकी लोगों को वे आन्दोलनकारी और धोखेबाज़ कहकर उड़ा देते थे। लड़ाई के बाद होनेवाले संसार-व्यापी और ख़ासकर आर्थिक क्षेत्र के परिवर्तनों का उन्हें बहुत थोड़ा ज्ञान था और वे ऐसी गहरी लीक में फँस गये थे कि परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुकूल अपनेको बना नहीं सकते थे। वे इस बात को महसूस नहीं करते थे कि जिस श्रेणी के वे प्रतिनिधि थे वह मौजूदा हालतों में पुरानी पड़ चुकी थी, और यह कि वे समुदाय-रूप से धीरे-धीरे उस जाति के निकट पहुँच रहे थे जिसका वर्णन टी० एस० इलियट ने अपने 'दि हॉलो मैन' में किया है।

लेकिन इतने पर भी यह वर्ग जबतक ब्रिटिश साम्राज्यवाद है तबतक क़ायम रहेगा और यह अभीतक काफ़ी शक्तिशाली है और अब भी उसमें योग्य और कुशल नेता हैं। भारत में अंग्रेज़ी-राज्य एक सड़ते हुए दाँत के समान है जो अभीतक

मज़बूती से जमा हुआ है। वह दर्द करता है, लेकिन आसानी से निकाला नहीं जा सकता। यह दर्द सम्भवत: जारी रहेगा और बढ़ता भी रहेगा, जबतक कि दाँत निकाला न जाय या खुद गिर न पड़े।

पब्लिक स्कूलवालों के दिन इंग्लैण्ड में भी पूरे हो गये और अब उनकी वैसी प्रतिष्ठा नहीं है जैसी पहले थी, हालाँकि सार्वजनिक मामलों में वे अब भी प्रमुख हैं। हिन्दुस्तान में तो यह और भी ज्यादा ग़ैरमौज़ूं है और उग्र राष्ट्रीयता के साथ न तो उसका मेल बैठ सकता है और न उसके साथ सहयोग ही हो सकता है; सामाजिक परिवर्तन के लिए कोशिश करनेवालों का साथ देना तो बहुत दूर की बात है।

इण्डियन सिविल सर्विस में अनेक बढ़िया आदमी भी हैं, अंग्रेज़ भी और हिन्दुस्तानी भी, लेकिन जबतक मौजूदा शासन-प्रणाली क़ायम है तबतक उनकी प्रवीणता ऐसे उद्देश्यों के पूरा करने मे खर्च होती रहेगी जिनसे हिन्दुस्तानियों को कुछ फ़ायदा नहीं है। सर्विस के कुछ हिन्दुस्तानी अफ़सर इस पब्लिक स्कूल की भावना के इतने ग़ुलाम है कि वे अपनेको सम्राट् से भी ज्यादा शाही समझते हैं। मुझे याद है कि मेरी मुलाक़ात सिविल सर्विस के एक ऐसे नौजवान अफ़सर से हुई थी जो अपने लिए बड़ी ऊँची राय रखता था लेकिन जिससे दुर्भाग्यवश मैं सहमत नहीं हो सकता था। उसने मेरे सामने अपनी सर्विस के बहुत-से गुण गाये और अन्त में ब्रिटिश साम्राज्य के पक्ष में यह लाजवाब दलील पेश की कि क्या यह रोमन साम्राज्य और चंगेज़खां तथा तैमूर के साम्राज्यों से बेहतर नही है ?

इण्डियन सिविल सर्विसवालों की मुख्य भावना यह है कि वे अपना फर्ज बड़ी होशियारी के साथ अदा करते है, और इसलिए वे अपने दावों पर ज़ोर दे सकते है, और उनके दावे भी बहुत-से और तरह-तरह के हैं। अगर हिन्दुस्तान ग़रीब है तो यह क़ुसूर उसके सामाजिक रीति-रिवाजों का, महाजनों और रुपया उधार देनेवालों का, और सबसे ज्यादा उसकी बड़ी भारी आबादी का है; लेकिन सबसे बड़ी 'बनिया' ब्रिटिश सरकार को आसानी से भुला दिया जाता है। और इस आबादी के बारे में वे क्या करना चाहते हैं यह मैं नहीं जानता, क्योंकि अकालों, महामारियों और आम तौर पर बड़ी तादाद में मौतों से बहुत-कुछ मदद मिलने पर भी यहाँ की आबादी अभीतक बहुत ज्यादा है। संतति-निग्रह की सलाह दी जाती है, और मैं तो यद्यपि बिलकुल इसके पक्ष में हूँ कि संतति-निग्रह के ज्ञान और तरीकों का प्रचार किया जाय। लेकिन खुद इन तरीकों का प्रयोग ही जनता के रहन-सहन का एक काफ़ी ऊँचा ढंग, कुछ हदतक मामूली शिक्षा और सारे देश में असंख्य चिकित्सालयों की आवश्यकता रखता है। मौजूदा हालत में संतति-निग्रह के तरीक़े साधारण जनता की

पहुँच से बिल्कुल बाहर हैं। मध्यम वर्ग के लोग इनसे फ़ायदे उठा सकते हैं और मैं समझता हूँ कि वे लोग अधिकाधिक परिमाण में ऐसा कर भी रहे हैं।

लेकिन ज़रूरत से ज्यादा जन-संख्या-सम्बन्धी यह दलील और भी ग़ौर किये जाने के क़ाबिल है। आज सारी दुनिया में सवाल यह नहीं है कि खाने की या दूसरी ज़रूरी चीज़ों की कमी है, बल्कि दरअसल कमी है खानेवालों की, या दूसरे शब्दों में, कमी है उन लोगों के लिए खाना वग़ैरा खरीदने की शक्ति की कि जो भूखों मर रहे हैं। अकेले हिन्दुस्तान को भी खाने की कोई कमी नहीं है, हालाँकि आबादी बढ़ गई है, खाने का सामान भी बढ़ गया है, और आबादी के मुक़ाबिले में ज्यादा मिक़दार में बढ़ सकता है। फिर हिन्दुस्तान की आबादी की बढ़ोतरी का जिस क़दर ढिंढोरा पीटा जाता है उसकी गति (सिवाय पिछले दस वर्षों के) ज्यादातर पश्चिमी देशों से बहुत नीची है। यह सच है कि भविष्य में यह फ़र्क़ बढ़ता जायगा, क्योंकि पश्चिमी देशों में आबादी की बढ़ोतरी को कम करने या रोक तक देने के लिए तरह-तरह की शक्तियाँ काम कर रही हैं। लेकिन हिन्दुस्तान में भी सीमित करनेवाले कारण शायद जल्दी ही आबादी की बढ़ोतरी को रोक देंगे।

जब कभी भारत स्वतन्त्र होगा और कभी इस स्थिति में होगा कि वह अपनेको जिस तरह बनाना चाहे बना सके तो इस काम के लिए उसे ज़रूर अपने सबसे अच्छे पुत्रों और पुत्रियों की आवश्यकता होगी। ऊँचे दर्जे के मनुष्य हमेशा बड़ी मुश्किल से मिलते हैं और हिन्दुस्तान में तो मिलना और भी मुश्किल है, क्योंकि हमें ब्रिटिश राज्य में उन्नति करने का मौका ही नहीं मिला। हमें सार्वजनिक कार्यों के अनेक विभागों में विदेशी विशेषज्ञों की सहायता की आवश्यकता होगी, ख़ासकर ऐसे कामों के लिए, जिनमें ख़ास तौर पर औद्योगिक और वैज्ञानिक ज्ञान की ज़रूरत हो। जो लोग इंडियन सिविल सर्विस या दूसरी शाही नौकरियों में रह चुके हैं उनमें बहुत-से ऐसे हिन्दुस्तानी और विदेशी होंगे जिनकी ज़रूरत नई व्यवस्था के लिए होगी और उनका स्वागत किया जायगा। लेकिन एक बात का तो मुझे पूरा यक़ीन है कि जबतक हमारे राज्य-शासन और सार्वजनिक नौकरियों में सिविल सर्विस की भावना समाई रहेगी तबतक हिन्दुस्तान में किसी नई व्यवस्था की रचना नहीं की जा सकती। यह शासन-मनोवृत्ति साम्राज्यवाद की पोषक है और स्वतन्त्रता और यह दोनों साथ-साथ नहीं रह सकतीं। या तो यह स्वतन्त्रता को पीस डालने में सफल होगी, या स्वयं उखाड़ फेंकी जायगी। सिर्फ़ एक तरह की राज्य-प्रणाली में इसकी दाल गल सकती है, और वह है फ़ासिस्ट प्रणाली। इसलिए मुझे यह निहायत ज़रूरी मालूम देता है कि, पेश्तर इसके कि हम नई व्यवस्था का कोई अमली काम शुरू करें, सिविल सर्विस और

इस तरह की दूसरी शाही सर्विसों का खात्मा हो जाना चाहिए। इन सर्विसों के अलग-अलग व्यक्ति, अगर वे नई नौकरी के लिए राज़ी हों और योग्य हों, खुशी के साथ आवें, लेकिन सिर्फ़ नई शर्तों पर। यह तो कल्पना ही नही की जा सकती कि उनको वही फ़जूल की मोटी-मोटी तनख्वाहें और भत्ते मिलेंगे जो आज उन्हें दिये जा रहे हैं। नवीन हिन्दुस्तान को ऐसे सच्चे और योग्य कार्यकर्त्ताओं की सेवायें चाहिएँ जिन्हें उस हित में हार्दिक विश्वास हो जिसके लिए वे कार्य कर रहे हों, जो सफलता प्राप्त करने पर तुले हों, और जो बड़ी-बड़ी तनख्वाहों के लोभ से नहीं, बल्कि सेवा-जनित आनन्द और गौरव के लिए काम करते हों। रुपया मिलने की नीयत को घटाकर कम-से-कम कर देना चाहिए। विदेशी सहायकों की बहुत ज्यादा जरूरत पड़ेगी, लेकिन मेरे खयाल से ऐसे राज-काज चलानेवालों की ज़रूरत सबसे कम होगी जिनको औद्योगिक ज्ञान न हो। ऐसे आदमियों का तो हिन्दुस्तान में कुछ अभाव न होगा।

मैं पहले लिख चुका हूँ कि भारत के नरम दलवालों और उनके समान अन्य दलवालों ने किस प्रकार भारत के शासन के विषय में अंग्रेज़ी विचार-सरणि को स्वीकार कर लिया है। सर्विसों के सम्बन्ध में तो यह बात और भी साफ़ ज़ाहिर हो जाती है, क्योंकि उनकी पुकार 'भारतीयकरण' के लिए है, सर्विसों के रूप और भावना और राज्य-व्यवस्था की रचना में आमूल परिवर्तन के लिए नहीं। यह एक ऐसा मौलिक तत्त्व है जिसपर कोई समझौता हो ही नहीं सकता, क्योंकि भारत की स्वतंत्रता न केवल ब्रिटिश फौज और सर्विसों के वापस हटा लिये जाने पर ही अवलम्बित है बल्कि उसके लिए उनके दिमाग़ों में घुसी हुई शासक-मनोवृत्ति के निकाले जाने और उनकी मोटी-मोटी तनख़्वाहों और रिआयतों को समता पर लाने की भी आवश्यकता है। शासन-विधान-रचना के इस काल में संरक्षणों की बहुत बातचीत हो रही है। अगर ये संरक्षण हिन्दुस्तान के हित में रक्खे जायँ, तो उनमें दूसरे बातों के अलावा यह विधान होना चाहिए कि सिविल सर्विस वग़ैरा का उनके वर्तमान रूप में तथा उनको मिली हुई शक्तियों और विशेष अधिकारों के साथ अन्त हो जाय, और नये विधान से उनका कुछ भी सरोकार न रहे।

हमारी रक्षा के नाम पर स्थापित फ़ौजी सर्विसों का हाल तो और भी रहस्यमय और भयंकर है। हम न तो उनकी आलोचना कर सकते हैं, न उनके बारे में कुछ कह ही सकते हैं, क्योंकि ऐसे मामलों में हम समझते ही क्या हैं? हमारा काम तो सिर्फ़ मोटी-मोटी तनख्वाह चुकाते रहने का है—बिना कोई चूं-चपड़ किये। कुछ दिन हुए, सितम्बर १९३४ में, हिन्दुस्तान के जंगी लाट (कमाण्डर-इन-चीफ़) सर फिलिप चेटवुड ने शिमला में कौंसिल-ऑफ़-स्टेट में बोलते हुए चुभती हुई फौजी

भाषा में हिन्दुस्तान के राजनीतिज्ञों से कहा था कि वे लोग अपने काम से काम रक्खें, हमारे काम में दखल न दें। किसी प्रस्ताव पर एक संशोधन पेश करनेवाले की ओर इशारा करते हुए उन्होंने कहा था—"क्या वह और उनके मित्र यह खयाल करते हैं कि बहुत सी लड़ाइयां लड़ी हुई और युद्ध-प्रवीण अंग्रेज-जाति, जिसने अपना साम्राज्य तलवार के जोर से जीता है और तलवार के ही जोर से जिसकी अबतक रक्षा की है, उस अनुभव से प्राप्त किये हुए अपने युद्ध-सम्बन्धी ज्ञान को कुरसियाँ तोड़नेवाले आलोचकों से सीखेगी?" उन्होंने और भी बहुत-सी मजेदार बातें कही थीं, और कहीं हम यह खयाल न करने लगें कि उन्होंने तैश में आकर ऐसा कह डाला था, इसलिए हमें बतलाया गया था कि उन्होने अपना भाषण बड़े विचारपूर्वक लिखा था और उसी हस्तलिपि को पढ़कर सुनाया था।

किसी साधारण आदमी का फ़ौजी मामलों पर एक जंगी लाट से भिड़ पड़ना दरअसल गुस्ताखी है, लेकिन शायद एक कुरसी तोड़नेवाला आलोचक भी कुछ कहने का अधिकारी हो सकता है। यह बात समझ में आ सकती है कि जिन्होंने साम्राज्य को तलवार के जोर से क़ब्ज़े में कर रक्खा है और जिनके सिर के ऊपर यह चमचमाता हथियार हमेशा लटका रहता है, उनके हित शायद एक दूसरे से भिन्न हों। यह सम्भव है कि हिन्दुस्तानी फ़ौज हिन्दुस्तान के हितों या साम्राज्य के हितों के लिए काम में लाई जाय और इन दोनों हितों में भिन्नता ही नहीं बल्कि परस्पर-विरोध भी हो। एक राजनीतिज्ञ और कुरसी तोड़नेवाले आलोचक को यह भी आश्चर्य हो सकता है कि यूरोपीय महायुद्ध के अनुभवों के बाद भी प्रमुख सेनानायकों का यह दावा कि उनके कामों में दख़ल न दिया जाय कहाँतक जायज़ है। उस समय उनको बहुत अंशों तक स्वतन्त्र क्षेत्र मिला था और, जहाँतक मालूम हुआ है, उन्होंने सारी सेनाओं में—अंग्रेजी, फ्रांसीसी, जरमन, आस्ट्रियन, इटैलियन, रूसी—क़रीब-क़रीब तमाम बातों में एक बड़ी भयंकर गड़बड़ पैदा करदी थी! मशहूर अंग्रेज़ फ़ौजी इतिहासज्ञ और युद्ध-विद्या-विशारद कैप्टन लिडैक हार्ट ने अपनी 'हिस्ट्री आफ़ दी वर्ल्ड वार' में लिखा है कि महायुद्ध में एक बार जब अंग्रेज़ सिपाही दुश्मनों से लड़ रहे थे, उसी समय अंग्रेज़ फ़ौजी अफ़सर आपस में लड़ रहे थे। ऐसे राष्ट्रीय खतरे के वक्त में भी वे लोग विचारो ओर कार्यों में एकता न ला सके। वह फिर लिखते हैं, "महायुद्ध ने, अपने आराध्य-देवों के प्रति हमारे श्रद्धा और आदर के इन भावों को नष्ट कर दिया है कि महान् पुरुष उस मिट्टी के बने हुए नहीं होते जिसके साधारण मनुष्य होते हैं। नेताओं की अब भी आवश्यकता है, और शायद ज्यादा आवश्यकता है, लेकिन हममें इस भाव का पैदा हो जाना कि वे भी साधारण मनुष्यों की तरह हैं, हमको उनसे बहुत ज्यादा

आशा रखने या उनपर बहुत ज्यादा विश्वास करने के ख़तरों से बचा लेगा।"

महान् राजनीतिज्ञ मि० डेविड लाइड जार्ज ने अपनी 'वार-मेमॉयर्स' नामक पुस्तक में महायुद्ध के जल और स्थल सेनानायकों की ग़लतियों का—ऐसी ग़लतियों का, जिनके कारण लाखों आदमियों की जानें गई—बड़ा भयंकर चित्र खींचा है। इंग्लैण्ड और उसके सहायकों ने महायुद्ध में विजय तो प्राप्त की, लेकिन यह "विजय पर एक रक्त-रंजित प्रहार था।" ऊंचे अफ़सरों-द्वारा फ़ौजों और परिस्थितियों के मूर्खतापूर्ण और अविवेकयुक्त उपयोग ने इंग्लैण्ड को लगभग सर्वनाश के किनारे ला पटका था और उसकी और उसके सहायकों की रक्षा अधिकतर उनके शत्रुओं की ऐसी भूलों के कारण हुई जिनके होने का सहज ही विश्वास नहीं हो सकता। इंग्लैण्ड का महायुद्ध के समय का महान् प्राइम मिनिस्टर इस प्रकार लिखता है और वह बतलाता है कि किस प्रकार उन्हें लार्ड जेलीको के दिमाग़ में कुछ बातें बिठाने के लिए, ख़ासकर पथ-रक्षक-प्रणाली के प्रस्ताव के बारे में, उनके साथ सख़्ती से पेश आना पड़ा था। फ्रांसीसी मार्शल जॉफर के बारे में तो उनका यह विचार मालूम होता है कि उनका सबसे बड़ा गुण एक दृढ़ता-सूचक चेहरा था जो हृदय में दृढ़ता की भावना को पैदा करता था। "यही चीज़ है जो त्रस्त लोग संकट के समय में खोजते हैं। वे यह समझने की भूल करते हैं कि चतुरता किसी चेहरे में निवास करती है।"

लेकिन मि० लाइड जार्ज का मुख्य आरोप तो ख़ास ब्रिटिश सेना के नायक पर ही, कमाण्डर-इन-चीफ़ फील्ड-मार्शल हेग पर, है। उन्होंने यह सिद्ध किया है कि किस प्रकार लार्ड हेग ने अपने ख़्वामख़्वाह के घमण्ड और राजनीतिज्ञों इत्यादि की बातें सुनने से इन्कार करके ख़ास ब्रिटिश मंत्रिमण्डल से ही महत्त्वपूर्ण बातों को छिपाया, जिसके कारण फ़्रांस में अंग्रेजी फ़ौज को बड़ी भारी हानि उठानी पड़ी और इतने पर भी, जबकि असफलता सामने नज़र आरही थी, वे आख़िर तक अपनी ज़िद पर अड़े रहे, और अपने मूर्खतापूर्ण युद्ध को पैस्शन्डेल तथा कैम्ब्राई की भयंकर दलदलों में कई महीने तक चलाते रहे, यहाँतक कि सत्रह हजार तो अफ़सर ही वहाँ काम आ गये और चार लाख वीर अंग्रेज़ सिपाही हताहत हो गये। सन्तोष की बात इतनी ही है कि आज भी 'बेनाम सिपाही' का उसकी मृत्यु के बाद सम्मान किया जाता है, जब कि अपने जीवन-काल में उसका जीवन बहुत सस्ता था और उसकी कोई पूछ नहीं थी।

अन्य लोगों की तरह राजनीतिज्ञ भी अक्सर ग़लतियाँ करते हैं, लेकिन जन-सत्तावादी राजनीतिज्ञों को जनता के रुख़ और घटनाओं पर ध्यान देकर उनसे प्रभावित होना पड़ता है और वे आम तौर पर अपनी ग़लतियों को स्वीकार करके उन्हें दुरुस्त

करने की कोशिश करते हैं। पर सिपाही का शिक्षण एक भिन्न वातावरण में होता है, जहाँ हुकूमत का साम्राज्य होता है और आलोचना के लिए कोई स्थान नहीं होता। इसलिए वह दूसरों की सलाह से बुरा मानता है और अगर वह ग़लती करता है तो पूरी तरह से करता है और उस ग़लती को किये ही जाता है। उसके लिए दिल और दिमाग की बनिस्बत कठोर मुख-मुद्रा अधिक महत्वपूर्ण है। हिन्दुस्तान में हमें एक मिश्रित श्रेणी उत्पन्न करने का मौका मिला है, क्योंकि खुद मुल्की शासन ही हुकूमत और स्वाश्रय के अर्द्धसैनिक वातावरण में पला और निवास करता है और इस कारण बहुत अंशों तक सिपाहियाना रौबदाब आदि विशेषतायें उसमें मौजूद हैं।

हमसे कहा जाता है कि सेना का 'भारतीयकरण' आगे बढ़ाया जा रहा है और अगले तीस या अधिक बरसों में एक हिन्दुस्तानी जनरल भी शायद हिन्दुस्तान में पैदा हो जायें। यह मुमकिन है कि सौ वर्ष से कुछ ही ज्यादा बरसों में भारतीयकरण बहुत-कुछ उन्नति कर ले। यह सुनकर आश्चर्य हो सकता है कि खतरे के समय में इंग्लैण्ड ने किस तरह एक-दो साल के अर्से में ही लाखों की फ़ौज खड़ी करदी। अगर उसके पास ऐसे ही सलाहकार होते, जैसे कि हमको मिले हुए हैं, तो शायद वह बड़ी चौकसी और होशियारी से फूंक-फूँककर आगे क़दम बढ़ाता और यह बिलकुल सम्भव था कि उस दशा में इस सुसंगठित सेना के तैयार होने के बहुत पहले ही युद्ध खतम हो जाता। हमको रूस की सोवियट सेनाओं का भी विचार होता है, जो बिना किसी प्रकार के पूर्व साधनों के ही अकस्मात् तैयार हो गई और शत्रु की प्रचण्ड सेनाओं से लोहा लेती हुई उन्हें हराने लगीं। आज इन सेनाओं की संसार की सबसे अधिक कुशल युद्धशक्तियों में गणना की जाती है। शायद इनके पास सलाह देने के लिए "संग्राम लड़े हुए और युद्ध-प्रवीण" सेनापति नहीं थे!

हमारे यहाँ देहरादून में एक फौजी शिक्षणालय है, जहाँ शिक्षार्थियों को फौजी अफ़सर बनने की तालीम दी जाती है। वे बड़ी चतुरता से परेड करते हैं और कहा जाता है कि बेशक वे बड़े अच्छे अफ़सर बनकर निकलेंगे। लेकिन मुझे कभी-कभी आश्चर्य होता है कि इस तालीम से क्या फ़ायदा है, जबतक कि उसके साथ युद्ध की कुछ व्यावहारिक शिक्षा न दी जाय? पैदल और घुड़सवार सेनायें आज-कल उतने ही काम की हैं जितनी रोमन फ़ौजें होतीं; और हवाई युद्ध, गैस के बम, टैंक और प्रचंड तोपों के युग में बन्दूक तीर-कमान से ज्यादा कारगर नहीं है। इसमें शक नहीं कि उनके शिक्षक और सलाहकार इस बात को महसूस करते हैं।

हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी राज्य का इतिहास कैसा रहा है? हम उसकी खामियों के बारे में शिकायत करनेवाले होते कौन हैं, जबकि ये खामियां हमारी ही कमज़ोरियों के

फलस्वरूप है ? अगर हम परिवर्तन की धारा से सम्बन्ध छोड़ दे और दलदल में फँस जायँ, एकांगी और स्वयं-संतोषी बन जायँ और शुतुर्मुर्ग की तरह अपने चारों ओर की घटनाओं से आँख मूंद लें, तो इसमें हमारा ही नुकसान है। अंग्रेज लोग हमारे यहाँ संसार-सागर की एक नये जोश की लहर के साथ आये और ऐसी महान् ऐतिहासिक शक्तियों को लाये जिनका खुद उनको भी अनुभव न था। क्या हम उस तूफ़ान की शिकायत करें जो हमें उखाड़कर इधर-उधर फेंक देता है, या उस ठंडी हवा की जो हमें कंप-कंपा देती है ? हमें तो भूतकाल और उसके झगड़े-टंटों को तिलांजलि ही दे देनी चाहिए और भविष्य का मुकाबिला करना चाहिए। हमें एक महान् भेंट के लिए अंग्रेज़ों का कृतज्ञ होना चाहिए, जिसे कि वे लेकर आये। यह भेंट है विज्ञान और उसके सुन्दर फल। साथ ही, ब्रिटिश सरकार के उन प्रयत्नों को भी भूल जाना या शान्ति के साथ बरदाश्त करना मुश्किल है जो उन्होंने देश के झगड़ालू, प्रतिक्रियावादी, विरोधक, जातिगत तथा मौक़े से लाभ उठानेवाले लोगों को प्रोत्साहन देने के लिए किये। शायद यह भी हमारे लिए एक ज़रूरी परीक्षा और चुनौती है, और पेश्तर इसके कि हिन्दुस्तान नया जन्म धारण करे, उसे बार-बार उस आग में तपना पड़ेगा जो शुद्ध और दृढ़ बनाती है और जो दुर्बल पतित और आचार-भ्रष्टों को जलाकर खाक कर देती है।

## ५५
# अन्तर्जातीय विवाह और लिपि का प्रश्न

सितम्बर १९३३ के बीच में क़रीब एक हफ्ता बम्बई और पूना में रहने के बाद मैं लखनऊ लौट आया। मेरी मा अभीतक अस्पताल में थी, और उनकी हालत धीरे-धीरे सुधर रही थी। कमला भी लखनऊ में, खुद तन्दुरुस्त न होते हुए भी, माताजी की सेवा करने में तत्पर थी। हर सप्ताह के आखिरी दिनों में मेरी बहनें भी इलाहाबाद से आती रहती थीं। लखनऊ में मैं दो-तीन हफ्ते रहा। वहाँ इलाहाबाद के मुकाबिले में ज्यादा फुर्सत मिली थी। मेरा खास काम दिन में दो बार अस्पताल जाना था। मैंने अपना यह फुरसत का समय अखबार के लिए लेख लिखने में लगाया और ये सब लेख देश के लगभग सभी अखबारों में छपे। 'हिन्दुस्तान किधर ?' शीर्षक लेखमाला पर जनता का काफ़ी ध्यान गया। इस लेखमाला में मैंने दुनिया की हलचलों पर, हिंदुस्तान के साथ उनके संबन्ध को ध्यान में रखकर, विचार किया था। मुझे बाद में मालूम हुआ कि इन लेखों का फ़ारसी में तर्जुमा हुआ था और वह तेहरान और क़ाबुल में भी छापे गये थे। आजकल के पश्चिमी विचारों और हलचलों से जानकारी रखनेवालों के लिए इन लेखों में कोई ऐसी नई या अद्भुत बात नहीं थी। मगर हिन्दुस्तान में लोग अपने घरेलू मामलों में ही इतने व्यस्त रहते हैं कि दूसरी जगह क्या हो रहा है इसपर वे ज्यादा ध्यान नहीं दे सकते। मेरे लेखों का जो स्वागत हुआ उससे और दूसरे आसारों से मालूम पड़ा कि लोगों का दृष्टिकोण व्यापक हो रहा है।

माताजी अस्पताल में पड़ी-पड़ी ऊबती-सी जा रही थीं, इसलिए हमने उन्हें इलाहाबाद वापस ले आने का निश्चय कर लिया। वापस लाने के दूसरे कारणों में से एक कारण मेरी बहन कृष्णा की सगाई हो जाना भी था, जो इन्हीं दिनों में घोषित की गई थी। पेश्तर इसके कि मैं फिर से जेल में ठूस दिया जाऊँ, हम चाहते थे कि जल्दी-से-जल्दी विवाह हो जाय। मुझे कुछ खयाल न था कि मैं कितने समय तक बाहर रहने दिया जाऊँगा। क्योंकि सविनय-भंग काँग्रेस का बाकायदा कार्यक्रम था और स्वयं कांग्रेस और दूसरी बीसियों संस्थायें गैर-कानूनी थीं।

हमने अक्तूबर के तीसरे सप्ताह में इलाहाबाद में विवाह करने का निश्चय किया। यह विवाह 'सिविल मैरिज एक्ट' के मुताबिक होनेवाला था। मैं इस बात से खुश था, हालाँकि सच पूछो तो इसके सिवा हमारे पास और कोई उपाय भी न था।

क्योंकि यह विवाह दो मुख़्तलिफ़ बिरादरीवालों में, ब्राह्मण और अ-ब्राह्मण, के बीच, होनेवाला था, और हिन्दुस्तान के मौजूदा क़ानून के मातहत ऐसा विवाह कैसी भी धार्मिक विधि से क्यों न किया जाय, जायज़ नही हो सकता। खुशकिस्मती से उन्ही दिनों में पास हुआ सिविल मैरिज एक्ट हमारी मदद को मिल गया। इस तरह के दो क़ानून थे, जिनमें से दूसरा क़ानून, जिसके मातहत मेरी बहन की शादी हुई, हिन्दुओं और हिन्दू-धर्म से सम्बद्ध दूसरे धर्मवालों के लिए था—जैसे सिक्ख, जैन, बौद्ध। लेकिन वर-वधू में से कोई एक भी जन्मतः या बाद में धर्म-परिवर्तन करके इन धर्मों में से किसी एक को भी माननेवाला न हो, तो यह दूसरा कानून उसपर लागू नही होता। ऐसी हालत में पहले कानून का ही आश्रय लेना पड़ता है। इस पहले क़ानून के अनुसार दोनों को सभी मुख्य धर्मो का परित्याग करना पड़ता है, या उन्हें कम-से-कम यह तो कहना ही पड़ता है कि हममें से कोई किसी भी धर्म को नही मानता है। इस प्रकार का अनावश्यक ऐलान बड़ा वाहियात है। बहुत-से ऐसे लोगों को भी, जिनका कि मज़हब की तरफ कोई रुझान नहीं है, इस ऐलान पर ऐतराज़ है और इस तरह वे इस कानून से फ़ायदा नही उठा सकते। मुख़्तलिफ़ मज़हबों के कट्टर लोग ऐसी सब तबदीलियों का विरोध करते है जिनसे अन्तर्जातीय विवाहों के होने में आसानी हो। इससे जो लोग इस क़ानून के मातहत विवाह करना चाहें, उन्हें या तो धर्म-परित्याग का ऐलान करना पड़ता है, या जिन धर्मवालों को उसके मुताबिक अन्तर्जातीय विवाह करने की छूट है उनमें से किसी धर्म को झूठ-मूठ के लिए अपनाना पड़ता है। ज़ाती तौर पर मैं अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन देना पसन्द करूँगा, लेकिन उन्हें प्रोत्साहन दिया जाय या नहीं, एक ऐसे अनुमतिदायक अन्तर्जातीय विवाह-कानून का बनना तो निहायत ज़रूरी है जो आम तौर पर सब धर्मवालों पर लागू हो और जिससे विवाह करने के लिए उन्हे मज़हब छोड़ने या बदलने की ज़रूरत न पड़े।

मेरी बहन की शादी में कोई धूमधाम नही हुई; सारा काम बड़ी सादगी से हुआ। हिन्दुस्तानी विवाहों में जो धूमधाम हुआ करती है, मामूली तौर पर, वह मुझे पसन्द भी नहीं है। फिर माताजी की बीमारी के कारण और उससे भी अधिक इस बात से कि सविनय-भंग अभी भी जारी था और हमारे बहुत-से साथी जेलों में पड़े सड़ रहे थे, दिखावे के रूप में कोई भी बात करना था भी बिलकुल बेमौज़ूं। इसलिए सिर्फ थोड़े रिश्तेदारों और स्थानीय मित्रों को ही निमन्त्रित किया गया। पिताजी के बहुत-से पुराने मित्रों को इससे सदमा भी पहुँचा। क्योंकि उन्हें यह लगा, हालाँकि वह था ग़लत, कि मैंने जान-बूझकर उनकी उपेक्षा की है।

विवाह के लिए जो छोटा-सा निमन्त्रण-पत्र हमने भेजा था वह लेटिन अक्षरों व हिन्दुस्तानी भाषा में छापा था। यह एक बिलकुल नई बात थी। अबतक इस तरह के निमन्त्रण-पत्र आम तौर पर नागरी या फ़ारसी लिपि में ही लिखे जाते थे। फौज या ईसाई मिशनवालों के सिवाय कहीं भी हिन्दुस्तानी भाषा लैटिन अक्षरों में नहीं लिखी जाती थी। मैंने रोमन लिपि का इस्तैमाल केवल यह देखने के लिए किया था कि इसका मुख्तलिफ किस्म के लोगों पर क्या असर होता है। इसे कुछने पसन्द किया, कुछने नहीं। ज्यादा संख्या नापसन्द करनेवालों की ही थी। बहुत कम लोगों के पास यह निमंत्रण भेजा गया था, और, अगर ज्यादा लोगों के पास भेजा जाता तो इसका असर और भी ज्यादा खिलाफ होता। गांधीजीने भी इसे पसन्द नहीं किया।

मैंने रोमन लिपि इसलिए इस्तैमाल नहीं की थी कि मैं उसके पक्ष में हो गया था, हालां कि उसने मुझे बहुत दिनों से अपनी ओर आकर्षित कर रक्खा था। टर्की और मध्य-एशिया में रोमन लिपि की सफलता ने मुझे प्रभावित किया था। रोमन के पक्ष में जो दलीलें है उसमें काफी वज़न है, फिर भी मैं भारतवर्ष के लिए रोमन लिपि के पक्ष में नहीं हो गया था। अगर मैं उसके पक्ष मे हो भी जाता तो भी मैं अच्छी तरह जानता था कि वर्त्तमान भारत मे उसके अपनाये जाने की रत्तीभर भी सम्भावना न थी। राष्ट्रीय, मज़हबी, हिन्दू-मुस्लिम, नये-पुराने सब दलों की ओर से इसका बहुत सख्त विरोध होता, और यह मैं मानता हूँ कि यह विरोध महज भावुकतावश ही नही होता। किसी भी भाषा के लिए, जिसका पुराना ज़माना उज्ज्वल रहा हो, लिपि का बदलना बहुत बड़ी तबदीली है, क्योंकि लिपि का उस साहित्य से बहुत गहरा सम्बन्ध रहता है। लिपि बदल दीजिए तो सामने कुछ और ही शब्द-चित्र नज़र आयेंगें, ध्वनि बदल जायगी, भाव बदल जायेंगे। पुराने और नये साहित्य के बीच एक अटूट दीवार उठ खड़ी होगी। पुराना साहित्य एकदम किसी विदेशी भाषा में लिखा हुआ-सा जान पड़ेगा, ऐसी भाषा में जो मर चुकी हो। लिपि बदलने का जोखिम उसी भाषा में लेना चाहिए, कि जिसका कोई उल्लेखनीय साहित्य न हो। हिन्दुस्तान में तो मैं ऐसे रद्दो-बदल का ख़याल भी नहीं कर सकता हूँ। क्योंकि हमारा साहित्य केवल समृद्ध और अनूठा ही नहीं, बल्कि हमारे इतिहास और विचार-परम्परा से सम्बद्ध है और हमारी सर्वसाधारण जनता के जीवन के साथ उसका बड़ा गहरा सम्बन्ध रहा है। हमारे देश पर इस तरह का परिवर्त्तन लाद देना एक क्रूर विच्छेद के समान होगा और सार्वजनिक शिक्षा के रास्ते में बाधक होगा।

लेकिन आज तो हिन्दुस्तान में रोमन लिपि का प्रश्न सार्वजनिक चर्चा का विषय ही नहीं है। मेरी समझ में लिपि-सुधार की दृष्टि से जो अगला क़दम होना

चाहिए, वह है संस्कृत भाषा से उत्पन्न चारों सहोदरा—हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती—भाषाओं के लिए एक-सी लिपि बनाना। इन चारों भाषाओं की लिपियों का उद्गम एक ही है और इनमें एक-दूसरे से भिन्नता भी विशेष नहीं है और इसलिए इन सबके लिए एक ही लिपि तैयार करने में कोई खास दिक्कत नहीं होनी चाहिए। इससे ये चारों भाषायें एक-दूसरे के नज़दीक आ जायेंगी।

हमारे अंग्रेज़ी शासकों ने हमारे देश के बारे में जो भ्रमपूर्ण बातें संसारभर में फैला रक्खी हैं, उनमें से एक यह भी है कि हिन्दुस्तान में कईसौ भाषायें बोली जाती हैं। मुझे उनकी ठीक तादाद याद नहीं है। प्रमाण के लिए मर्दुमशुमारी को लिया जाता है। यह एक विचित्र बात है कि इन कईसौ भाषाओं के देश में सारा जीवन बिताने पर भी बहुत कम अंग्रेज़ एक भाषा से मामूली जानकारी हासिल कर पाते हैं। इन सब भाषाओं को 'वर्नाक्युलर' नाम से पुकारते हैं, जिसका अर्थ है गुलामों की भाषा (लैटिन vorna का अर्थ घर में पैदा हुआ गुलाम है)। हममें से बहुतों ने बिना समझे-बूझे इस नामकरण को स्वीकार कर लिया है। यह एक आश्चर्य की बात है कि सारी ज़िन्दगी इस देश में रहकर भी अंग्रेज़ लोग यहाँ की भाषा सीखे बिना किस तरह अपना काम चला लेते हैं। अपने खानसामा व आयाओं की मदद से उन्होंने एक कर्णकटु काम-चलाऊ नई हिन्दुस्तानी खिचड़ी भाषा ईजाद करली है, जिसको वे असली भाषा समझ बैठे हैं। जैसे वे भारतीय जीवन के हालात अपने नौकरों व जीहुज़ूरों से मालूम करते हैं उसी तरह वे हिन्दुस्तानी भाषा के बारे में अपने विचार अपने घरू नौकरों से बनाते हैं। साहब लोगों से वे अपनी इस 'कामचलाऊ खिचड़ी भाषा' में ही बोलते हैं, क्योंकि उन्हें डर है कि वे और कोई भाषा समझेंगे भी नहीं। वे इस बात से बिलकुल अपरिचित मालूम पड़ते हैं कि हिन्दुस्तानी और दूसरी भारतीय भाषाओं का साहित्य बहुत ऊँचा और बहुत विस्तृत है।

अगर मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट हमें यह बताती है कि हिन्दुस्तान में दो सौ या तीनसौ भाषायें हैं, तो जर्मनी की मर्दुमशुमारी भी यह बताती है कि वहां पर भी लगभग ५०-६० भाषायें हैं। मुझे खयाल नहीं कि कभी किसीने इसके कारण ही जर्मनी में असमानता या आपसी फूट साबित करने की कोशिश की हो। सच तो यह है कि मर्दुमशुमारी में सब प्रकार की छोटी-मोटी भाषाओं का भी जिक्र किया जाता है, चाहे इन भाषाओं के बोलनेवाले कुछ हज़ार ही व्यक्ति क्यों न हों, और अक्सर थोड़ा-थोड़ा भेद होने पर भी वैज्ञानिक भेद बताने के लिए भाषाओं को अलग-अलग मान लिया जाता है। हिन्दुस्तान के क्षेत्रफल को देखते हुए इतनी थोड़ी भाषाओं का होना ताज्जुब की बात मालूम होती है। योरप के इतने भाग को लेकर

मुकाबिला करे तो भाषा की दृष्टि से हिन्दुस्तान में इतने भेद नहीं मिलेंगे। लेकिन हिन्दुस्तान में आम जनता में शिक्षा का फैलाव न होने के कारण यहाँ भाषाओं का समान-स्टैण्डर्ड नहीं बन पाया और कई बोलियाँ बन गई। बर्मा को छोड़कर हिन्दुस्तान की मुख्य भाषायें ये हैं—हिन्दुस्तानी (हिन्दी और उर्दू किस्म की) बंगला, गुजराती, मराठी, तामिल, तेलुगु, मलयालम और कन्नड़। इनमें अगर आसामी, उड़िया, सिंधी, पश्तो और पंजाबी को भी शामिल कर दिया जाय, तो सिवा कुछ पहाड़ी और जंगली हिस्सों को छोड़कर सारे देश की भाषायें इनमें आ जाती हैं। इनमें से भारतीय आर्यभाषायें जो उत्तर, मध्य और पश्चिम भारत में प्रचलित है आपस में बहुत मिलती-जुलती हैं और दक्षिणी द्राविड़ी भाषायें भिन्न होते हुए भी संस्कृत से काफ़ी प्रभावित हुई हैं और उनमें संस्कृत शब्दों की बहुतायत है।

इन मुख्य आठ भाषाओं में पुराना बहुमूल्य साहित्य है और ये भाषायें देश के काफ़ी बड़े हिस्से में बोली जाती हैं। इनका क्षेत्र निश्चित और स्पष्ट है। इस तरह बोलनेवालों की संख्या की दृष्टि से देखें तो ये भाषायें संसार की प्रमुख भाषाओं में आ जाती हैं। बंगला बोलनेवालों की संख्या साढ़े पांच करोड़ है। जहाँतक हिन्दुस्तानी से सम्बन्ध है, मेरे पास यहाँ संख्यायें नहीं हैं; लेकिन मेरे ख़याल में वह अपने सभी रूपों सहित १४ करोड़ भारतवासियों में बोली जाती है। इसके अलावा हिन्दुस्तान के अन्य भाषा बोलनेवाले लोग भी हिन्दुस्तानी समझ लेते हैं।[१] साफ़ तौर पर ऐसी

१. हिन्दुस्तानी के समर्थक नीचे दिये आँकड़े पेश करते हैं। मैं नहीं कह सकता कि ये संख्यायें १९३१ की मर्दुमशुमारी के मुताबिक हैं या १९२१ के। मेरे ख़याल में तो १९२१ की गणना के मुताबिक़ हैं। इसलिए १९३१ की संख्या तो ज़रूर इससे कहीं ज्यादा होगी।

| | | | |
|---|---|---|---|
| १ | हिन्दुस्तानी (जिसमें पश्चिमी हिन्दी, पंजाबी राजस्थानी शामिल हैं) | १३९·३ | लाख |
| २ | बंगला | ४९·३ | ,, |
| ३ | तेलुगु | २३·६ | ,, |
| ४ | मराठी | १८·८ | ,, |
| ५ | तामिल | १८·८ | ,, |
| ६ | कन्नड़ | १०·३ | ,, |
| ७ | उड़िया | १०·१ | ,, |
| ८ | गुजराती | ९·६ | ,, |

पश्तो, आसामी, बर्मी आदि कुछ भाषायें जो भाषा-विज्ञान तथा क्षेत्र के लिहाज से बिलकुल अलग हैं, इस सूची में शामिल नहीं की गई हैं।

भाषा की उन्नति की आशा बहुत अधिक है, वह संस्कृत की मजबूत नीव पर जमी हुई है और फ़ारसी का भी उसपर काफी असर है। इस तरह वह दो सम्पन्न स्रोतों से अपना शब्द-कोष ले सकती है और पिछले कुछ वर्षों से वह अंग्रेज़ी से भी शब्द ले रही है। दक्षिण का द्राविड़ी प्रदेश ही एक ऐसा हिस्सा है जहाँ हिन्दुस्तानी एक विदेशी भाषा के समान नज़र आती है। लेकिन वहाँ के निवासी इसे सीखने की पूरी कोशिश कर रहे हैं। दो बरस पहले, १९३२ में, मैंने एक संस्था के आँकड़े देखे थे। यह संस्था दक्षिण में हिन्दी-प्रचार करने के लिए कुछ मित्रों ने खोली थी। उसके काम शुरू करने के बाद से अबतक, पिछले १४ बरसों में, अकेली उस संस्था की कोशिश से मद्रास प्रान्त में लगभग ५५,००० लोगों ने हिन्दी सीखली है। एक ऐसी संस्था के लिए, जिसे सरकारी मदद कुछ भी नहीं मिलती, यह सफलता अनोखी है। वहाँ हिन्दी सीखनेवालों में से अधिकतर खुद भी इस कार्य के प्रचारक बन जाते हैं।

मुझे इसमें कुछ भी शक नहीं है कि हिन्दुस्तानी ही भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा बनेगी। दरअसल रोज़मर्रा के काम-काज के लिए वह एक बड़ी हद तक आज भी राष्ट्रभाषा-सी बनी हुई है। लिपि नागरी हो या फारसी, इस निरर्थक वाद-विवाद ने इसकी तरक्क़ी को रोक दिया है और दोनों दलों की इस कोशिश ने भी इसकी प्रगति में रुकावट खड़ी करदी है कि भाषा को संस्कृत-प्रधान बनाया जाय या फारसी-प्रधान। लिपि का प्रश्न उठते ही इतने झगड़े पैदा हो जाते हैं कि इस कठिनाई को हल करने का इसके सिवाय और कोई उपाय ही मालूम नहीं होता कि दोनों लिपियों को अधिकृत रूप से मान लिया जाय और लोगों को इनमें से किसीको भी काम में लाने की छूट देदी जाय। संस्कृत व फ़ारसी के शब्दों को ज्यादा काम में लाने की जो बेजा प्रवृत्ति चल पड़ी है उसे रोकने के लिए पूरी कोशिश करनी चाहिए और सामान्य व्यवहार में बोली जानेवाली सरल भाषा के ढंग पर एक साहित्यिक भाषा बना लेनी चाहिए। जनता में जैसे-जैसे शिक्षा बढ़ती जायगी, वैसे-वैसे अपने-आप ऐसा होता जायगा। इस समय मध्यमश्रेणी के छोटे-छोटे दल साहित्यिक रुचि और शैली के निर्णायक बने हुए हैं और ये लोग अपने-अपने ढंग से बहुत ही संकुचित हृदय के अनुदार और अपरिवर्त्तनवादी हैं। ये अपनी भाषाओं के पुराने निर्जीव रूप से चिपटे रहना चाहते हैं और अपने देश की साधारण जनता और संसार के साहित्य से इनका बहुत ही कम सम्पर्क है।

हिन्दुस्तानी की वृद्धि और प्रसार को भारत की दूसरी बड़ी भाषाओं—बंगला, गुजराती, मराठी, उड़िया और दक्षिण की द्राविड़ी—के सतत व्यवहार और समृद्धि में न तो बाधक बनना चाहिए और न वह बनेगा। इनमें से कुछ भाषायें तो अब

भी हिन्दुस्तानी की बनिस्बत बहुत अधिक जागरूक और बौद्धिक दृष्टि से सतर्क हैं और इसलिए अपने-अपने क्षेत्र में शिक्षा के माध्यम और अन्य व्यवहारों के लिए अधिकृत रूप से अवश्य स्वीकार कर लेनी चाहिए। सिर्फ इन्हीके ज़रिये साधारण जनता में शिक्षा और संस्कृति तेज़ी के साथ फैल सकती है।

कुछ लोगों का ख़याल है कि बहुत करके अंग्रेज़ी ही भारत की आम भाषा हो जायगी; लेकिन ऊँचे दर्जे के गिने-चुने पढ़े-लिखों को छोड़कर साधारण जनता इसे अपनायगी, यह धारणा मुझे एक असम्भव कल्पना के समान दिखाई देती है। साधारण जनता की शिक्षा और संस्कृति के प्रश्न के साथ इसका कोई सरोकार नहीं है। यह हो सकता है, जैसा कि आजकल कुछ हद तक है भी, कि औद्योगिक, वैज्ञानिक और तिजारती कामों में, विशेषकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों में, अंग्रेज़ी ज्यादा इस्तैमाल में आने लगे। हममें से बहुतों के लिए विदेशी ज़बानों का सीखना व जानना बहुत ज़रूरी है, ताकि संसार के विचारों व प्रगतियों से हमारी जानकारी होती रहे, और इस बात को ध्यान में रखते हुए मैं तो पसन्द करूँगा कि हमारी यूनिवर्सिटियों में अंग्रेज़ी के अलावा फ्रेंच, जरमन, रूसी, स्पेनिश और इटैलियन भाषायें सीखने के लिए विद्यार्थियों को प्रोत्साहित किया जाय। इसका यह मतलब नहीं है कि अंग्रेज़ी की अवहेलना की जाय, लेकिन अगर हमें संसार की हलचलों को निष्पक्ष दृष्टि से देखना है तो हमें अपनेको अंग्रेजी सीखने तक ही सीमित नहीं रखना चाहिए। केवल अंग्रेज़ी शिक्षा ने हमारी मानसिक दृष्टि को अभीसे एकांगी और संकुचित कर दिया है। इसका कारण हमारे विचारों का एक ही दृष्टि और मत की ओर झुका रहना है। हमारे कट्टर-से-कट्टर राष्ट्रवादी भी शायद ही इस बात का अन्दाजा लगा सकते हैं कि अपने देश के सम्बन्ध में उनके दृष्टि-बिन्दु पर अंग्रेजी विचार-सरणि का कितना गहरा असर है।

लेकिन हम विदेशी भाषाओं को सीखने के लिए कितना ही प्रोत्साहन क्यों न दें, बाहरी दुनिया से हमारा सम्बन्ध अंग्रेज़ी भाषा द्वारा ही रहेगा। इसमें कुछ हर्ज भी नहीं है। हम कई पीढ़ियों से अंग्रेज़ी सीखने की कोशिश कर रहे हैं और इसमें हमें काफी कामयाबी मिली है। इस सब किये-कराये को मिटा देना सरासर बेवकूफी होगी। इतने अर्से की मेहनत से हमें लाभ उठाना चाहिए। निस्सन्देह अंग्रेज़ी आज संसार की सबसे ज्यादा व्यापक और महत्त्वपूर्ण भाषा है, और दूसरी भाषाओं पर वह अपना सिक्का जमाती जा रही है। यह सम्भव है कि अब राष्ट्रीय व्यवहारों में और रेडियो आदि के लिए वह माध्यम-भाषा का रूप धारण करले, बशर्ते कि 'अमरेकिन' उसकी जगह न लेले। इसलिए हमें अंग्रेज़ी भाषा के ज्ञान का प्रसार अवश्य जारी रखना

चाहिए। अंग्रेजी को जितनी अच्छी तरह सीख सकें उतना ही अच्छा है, लेकिन मुझको इसकी ज़रूरत नहीं मालूम होती कि अंग्रेज़ी की बारीकियों को सीखने में हम लोग अपना वक्त लगायें, जैसा कि आज कल हममें से बहुत-से करते हैं। कुछ व्यक्ति तो ऐसा कर सकते हैं, लेकिन बहुसंख्यक लोगों के सामने इस बात को आदर्श रूप में रखना उनपर अनावश्यक बोझ डालना और दूसरी दिशाओं में प्रगति करने से रोकना होगा।

इधर कुछ दिनों से मूल अंग्रेज़ी (Basic English) ने मुझे अपनी ओर काफी आकर्षित किया है और ऐसा मालूम होता है कि ज्यादा-से-ज्यादा सरल बनाई हुई इस अंग्रेज़ी का भविश्य बहुत उज्ज्वल है। स्टैण्डर्ड अंग्रेजी तो विशेषज्ञों तथा कुछ और विद्यार्थियों के लिए छोड़ देनी चाहिए और हिन्दुस्तान की सर्वसाधारण जनता में इस मूल अंग्रेज़ी का ही व्यापक प्रचार करना चाहिए।

मैं खुद इस बात को पसन्द करूँगा कि हिन्दुस्तानी अंग्रेजी व दूसरी विदेशी भाषाओं से बहुत-से शब्द अपने में लेले। इस बात की ज़रूरत है, क्योंकि आजकल जो नई चीजें निकली हैं हमारी भाषा में उनके अर्थ-प्रदर्शक शब्द नहीं, इसलिए यही बेहतर है कि संस्कृत फ़ारसी या अरबी से नये और मुश्किल शब्द गढ़ने के बजाय हम उन्हीं सुप्रचलित शब्दों को काम में लावें। भाषा की पवित्रता के हामी विदेशी शब्दों के इस्तैमाल का विरोध करते हैं, लेकिन मेरा खयाल है कि वे ग़लती करते हैं। वास्तव में किसी भाषा को समृद्ध बनाने का तरीक़ा यही है कि वह इतनी लचीली रक्खी जाय, कि दूसरी भाषाओं के भाव और शब्द उसमें शामिल होकर उसीके हो जायँ।

अपनी बहन की शादी के बाद ही मुझे अपने पुराने दोस्त और साथी श्री शिवप्रसाद गुप्त से मिलने के लिए बनारस जाने का इत्तिफाक हुआ। गुप्तजी एक बरस से भी ज्यादा अर्से से बीमार थे। जब वह लखनऊ-जेल में थे, अचानक उनपर लकवे का वार हुआ और अब वह धीरे-धीरे अच्छे हो रहे हैं। बनारस की इस यात्रा के मौक़े पर मुझे हिन्दी-साहित्य की एक छोटी-सी संस्था की ओर से मानपत्र दिया गया और वहाँ उसके सदस्यों से दिलचस्प बातचीत करने का मुझे मौक़ा मिला। मैंने उनसे कहा कि जिस विषय का मेरा ज्ञान बहुत अधूरा है, उसपर बोलते हुए मुझे हिचक होती है; लेकिन फिर भी मैंने उन्हें थोड़ी-सी सूचनायें दीं। आजकल हिन्दी में जो कठिन और आलंकारिक भाषा इस्तैमाल की जाती है उसकी मैंने कड़ी आलोचना की। उसमें कठिन, बनावटी और पुरानी शैली के संस्कृत शब्दों की भरमार रहती है। मैंने यह कहने का भी साहस किया कि यह थोड़े-से लोगों के काम में आने-वाली दरबारी शैली अब छोड़ देनी चाहिए और हिन्दी लेखकों को अब यह कोशिश

करनी चाहिए कि वे हिन्दुस्तान की आम जनता के लिए लिखें और ऐसी भाषा में लिखें जिसे लोग समझ सकें। आम जनता के संसर्ग से भाषा में नया जीवन और असली ओजस्विता आ जायगी। इससे उनकी अनुभूति बढ़ जायगी और वे अधिक अच्छा लिख सकेंगे। साथ ही मैंने यह भी कहा कि हिन्दी लेखक पश्चिमी विचारों व साहित्य का अध्ययन करें तो उससे उन्हें बड़ा लाभ होगा। यह और भी अच्छा होगा कि योरप की भाषाओं के पुराने अमर साहित्य और नवीन विचारों के ग्रंथों का हिन्दी में अनुवाद कर डाला जाय। मैंने यह भी कहा कि सम्भव है कि आज का गुजराती, बंगला और मराठी साहित्य इन बातों में आजकल के हिन्दी-साहित्य से अधिक उन्नत हो, और यह तो मानी हुई बात है कि पिछले वर्षों में हिन्दी की अपेक्षा बंगला में कहीं अधिक उत्पादक साहित्य लिखा गया है।

इन विषयों पर हम लोग मित्रतापूर्ण बातचीत करते रहे और उसके बाद मैं चला गया। मुझे इस बात का ज़रा भी खयाल न था कि मैंने जो कुछ कहा वह अखबारों में दे दिया जायगा, लेकिन वहाँ उपस्थित लोगों में किसीने हमारी उस बातचीत को हिन्दी अखबारों में प्रकाशित करवा दिया।

फिर क्या था, हिन्दी अखबारों में मेरे और हिन्दी-सम्बन्धी मेरी आलोचना के खिलाफ़ बड़ा भारी वावैला मच गया। लोगों को मेरी यह धृष्टता खास तौर पर अखरी कि मैंने हिन्दी को वर्त्तमान बंगला, गुजराती और मराठी से हीन क्यों कहा। मुझे अनजान—इस विषय में मैं सचमुच था भी अनजान—कहा गया। मुझे कुचलने व दबाने के लिए बहुत-से कठोर शब्द काम में लाये गये। मुझे इस वाद-विवाद में पड़ने की फुरसत ही न थी, लेकिन मुझे बताया गया है कि यह झगड़ा कई महीनों चलता रहा—तबतक, जबतक कि मैं फिर जेल में नहीं चला गया।

यह घटना मेरे लिए आँखें खोलनेवाली थी। उसने बतलाया कि हिन्दी के साहित्यिक और सम्पादक कितने ज्यादा तुनकमिज़ाज हैं। मुझे पता लगा कि वे अपने शुभचिन्तक मित्र की सद्भावनापूर्ण आलोचना भी सुनने को तैयार नहीं थे। साफ़ ही यह मालूम होता था कि इस सबकी तह में अपनेको छोटा समझने की भावना ही काम कर रही थी। आत्म-आलोचना की हिन्दी में पूरी कमी है और आलोचना का स्टैण्डर्ड बहुत ही नीचा है। लेखक और उसके टीकाकारों के लिए एक-दूसरे के व्यक्तित्व पर गाली-गलौज शुरू कर देना हिन्दी में कोई असाधारण बात नहीं है। यहाँ का सारा दृष्टिकोण बहुत संकुचित और दरबारी-सा है और ऐसा मालूम होता है, मानों हिन्दी का लेखक और पत्रकार एक-दूसरे के लिए और एक बहुत ही छोटे-से दायरे के लिए लिखते हों। उन्हें आम जनता और उसके हितों से मानों कोई सरोकार

ही नहीं है। हिन्दी का क्षेत्र इतना विशाल और आकर्षक है कि उसमे इन त्रुटियों का होना मुझे अत्यन्त खेदजनक और हिन्दी लेखकों का प्रयत्न शक्ति का अपव्यय-सा जान पड़ा।

हिन्दी-साहित्य का भूतकाल बड़ा उज्ज्वल रहा, लेकिन वह सदा के लिए उसी-के बल पर तो जिन्दा नहीं रह सकता। मुझे पूरा यक़ीन है कि उसका भविष्य भी काफी उज्ज्वल है, और मै यह भी जानता हूँ कि किसी दिन देश में हिन्दी के अखबार एक ज़बरदस्त ताक़त बन जायँगे, लेकिन जबतक हिन्दी के लेखक और पत्रकार पुरानी रूढ़ियों व बन्धनों से अपने-आपको बाहर नहीं निकालेंगे और आम जनता को साहस के साथ सम्बोधित करना न सीखेंगे तबतक उनकी अधिक उन्नति न हो सकेगी।

# ५६

## साम्प्रदायिकता और प्रतिक्रिया

मेरी बहन की शादी के करीब, योरप में श्रीयुत् विट्ठलभाई पटेल के इन्तक़ाल की ख़बर आई। वह बहुत दिनों से बीमार थे और सेहत ख़राब होने की वजह से ही वह हिन्दुस्तान में जेल से छोड़े गये थे। उनकी मृत्यु एक दुःखद घटना थी। हमारे बुज़ुर्ग नेताओं का इस तरह हमारे बीच में, लड़ाई के बीच में ही, एक के बाद एक का उठकर चले जाना हमारे लिए असाधारण निराशाजनक बात थी। विट्ठलभाई को बहुत-सी श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पण की गईं जिनमें से अधिकतर में उनके कुशल पार्लमेण्टे-रियन होने और उस सफलता पर, जो असेम्बली के प्रेसीडेंट की हैसियत से उन्होंने हासिल की थी, ज़ोर दिया गया था। यह बात थी तो बिल्कुल उचित, मगर इस बात के बार-बार दोहराये जाने से मुझे कुछ चिढ़-सी मालूम होने लगी। क्या हिन्दुस्तान में कुशल पार्लमेण्टेरियन लोगों की कमी थी, या ऐसे लोगों की कमी थी जो स्पीकर (असेम्बली के अध्यक्ष) का आसन योग्यता के साथ निबाह सकें? केवल यही तो एक काम है जिसके लायक वकालत की शिक्षा ने हमें बनाया है। लेकिन इसके अलावा विट्ठलभाई में और भी कहीं अधिक गुण थे। वह हिन्दु-स्तान की आज़ादी के लिए एक ज़बरदस्त और निडर योद्धा थे।

जब नवम्बर में मैं बनारस गया तो उस मौके पर मुझे हिन्दू यूनिवर्सिटी के विद्यार्थियों के सामने व्याख्यान देने के लिए निमंत्रित किया गया। मैंने बड़ी खुशी से इस निमंत्रण को मंज़ूर कर लिया और एक बड़े मजमे में मैंने भाषण दिया, जिसके सभापति यूनिवर्सिटी के वाइस-चान्सलर पण्डित मदनमोहन मालवीय थे। अपने व्याख्यान में मैंने साम्प्रदायिकता के बारे में बहुत कुछ कहा और ज़ोरदार शब्दों में उसकी मलामत की, ख़ासकर हिन्दू-महासभा के काम की तो मैंने कड़ी निंदा की। ऐसा हमला करने का मेरा पहले ही से इरादा रहा हो सो बात नहीं; बल्कि सच बात तो यह थी कि सभी फ़िरकों के सम्प्रदायवादी लोगों की बढ़ती हुई सुधार-विरोधी हरकतों के लिए मुद्दत से मेरे दिमाग़ में गुस्सा भरा हुआ था और जब मैं अपने विषय पर ज़रा जोश से बोलने लगा तो इस गुस्से का कुछ भाग उफनकर बाहर निकल पड़ा। मैंने जानबूझकर सम्प्रदायवादी हिन्दुओं के दकियानूसीपने पर ज़ोर दिया, क्योंकि हिन्दुओं की जमात के सामने मुसलमानों पर टीका-टिप्पणी करने का कोई मतलब न था। उस वक्त यह बात तो मेरे ध्यान ही में नहीं आई कि जिस

सभा के सभापति हिन्दू-महासभा के स्तम्भ मालवीयजी हो उसमें हिन्दू-महासभा पर टीका-टिप्पणी करना बहुत मौजूं न था। मैंने इस बात का विचार ही नहीं किया, क्योंकि मालवीयजी का कुछ दिनों से हिन्दू-महासभा से बहुत सम्बन्ध नहीं था और करीब-क़रीब ऐसा मालूम होता था कि महासभा के नये कट्टर नेताओं ने मालवीयजी जैसे व्यक्ति के लिए उसमें कोई स्थान ही नहीं रहने दिया था। जबतक महासभा की बागडोर उनके हाथ में रही तबतक साम्प्रदायिकता के रहते हुए भी वह राजनैतिक दृष्टि से उन्नति के मार्ग में रोड़ा अटकानेवाली नहीं थी। लेकिन कुछ दिनों से यह नई प्रवृत्ति बहुत उग्र हो गई थी और मुझे यक़ीन था कि मालवीयजी का उससे कोई सम्बन्ध नहीं होगा, वल्कि उन्होंने उसको नापसंद भी किया होगा। फिर भी मेरे लिए यह बात ज़रा अनुचित तो थी कि मैंने ऐसे विचार प्रकट करके, जिससे उनकी स्थिति ख़राब हो, उनके निमंत्रण का अनुचित लाभ उठाया। इस बात का मुझे पीछे जाकर अनुभव हुआ और मुझे इसके लिए अफ़सोस भी हुआ।

उस मूर्खतापूर्ण भूल के लिए भी मुझे खेद है जिसमे कि मैं फँस गया था। किसीने हमको डाक से एक ऐसे प्रस्ताव की नक़ल भेजी जो अजमेर में हिन्दू युवकों की एक सभा में पास हुआ बतलाया गया था। वह प्रस्ताव बहुत आपत्तिजनक था, जिसका मैंने अपने बनारस के भाषण में जिक्र किया था। असल में ऐसा प्रस्ताव किसी संस्था द्वारा पास ही नहीं हुआ था और हम एक धोखे ही के शिकार हो गये थे।

मेरी बनारस को स्पीच की रिपोर्ट सक्षेप में प्रकाशित हुई। इसपर बड़ा होहल्ला मचा। हालांकि मैं ऐसी चिल्ल-पुकार सुनने का आदी था, लेकिन हिन्दू-महासभा के नेताओं के ज़बरदस्त हमलों से मैं सकते में आ गया। ये हमले ज्यादातर व्यक्तिगत थे और असली विषय से तो प्रायः सम्बन्ध ही नही रखते थे। वे हद से बाहर चले गये और मुझे इस बात से ख़ुशी हुई कि उनकी वजह से मुझे भी उस विषय पर अपनी बात कहने का मौक़ा मिल गया। इस बात पर तो मैं कई महीनो से, यहांतक कि जेल में भी, भरा हुआ बैठा था, लेकिन मेरी समझ में नही आता था कि उस विषय को किस तरह छेड़ूं। वह एक बर्र का छत्ता था और हालांकि मुझे बर्र के छत्तों में हाथ डालने की आदत है लेकिन मुझे ऐसे विवादों में पड़ना पसंद नहीं था जो बाद में तू-तू मैं-मैं पर आ जावें। लेकिन अब मेरे सामने दूसरा कोई रास्ता ही न रह गया और फिर मैंने हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता पर एक विचारपूर्ण लेख लिखा, जिसमें मैंने यह बताया कि दोनों ओर की साम्प्रदायिकता सच्ची साम्प्रदायिकता नहीं थी, बल्कि साम्प्रदायिक आवरण में ढकी हुई ठेठ सामाजिक और राजनै-

तिक संकीर्णता थी। इत्तिफ़ाक़ से मेरे पास कई अख़बारों के कटिंग थे, जो मैंने जेल में इकट्ठे किये थे। इनमें साम्प्रदायिक नेताओं के हर तरह के भाषण और वक्तव्य थे। सचमुच मेरे पास इतना मसाला इकट्ठा हो गया था कि मेरे लिए यह मुश्किल हो गया कि मैं किस तरह एकसाथ उसे एक लेख में घुसेड़ दूं।

मेरे इस लेख को हिन्दुस्तान के अखबारों में खूब प्रकाशन मिला। यद्यपि उसमें हिन्दू और मुसलमान सम्प्रदायवादियों के सम्बन्ध में बहुत-कुछ बातें थीं, फिर भी आश्चर्य है कि उसका हिन्दू-मुसलमान दोनों की ओर से कोई उत्तर न मिला। हिन्दू-महासभा के जितने नेताओं ने मुझे बड़ी ज़ोरदार और तरह-तरह की भाषा मे आड़े हाथों लिया था, वे भी चुप्पी साधे रहे। मुसलमानों की तरफ़ से सर मुहम्मद इक़बाल ने गोलमेज-परिषद् सम्बन्धी मेरी कुछ बातों में सुधार करने की कोशिश की; लेकिन मेरी दलीलों के सम्बन्ध में तो उन्होंने कुछ भी नही कहा। उनके जवाब ही में मैंने यह मत प्रकट किया था कि विधान-विधायक सभा (कन्स्टीट्यूएण्ट असेम्बली) द्वारा ही राजनैतिक और साम्प्रदायिक दोनों विषयों का निर्णय होना चाहिए। इसके बाद मैंने सम्प्रदायवाद पर एक या दो लेख और भी लिखे।

इन लेखों का जैसा स्वागत हुआ और समझदार व्यक्तियों पर प्रकट रूप से जो-कुछ उनका प्रभाव पड़ा उससे मेरा उत्साह बहुत-कुछ बढ़ गया।

असल मे मैंने इस बात का तो अनुमान ही नहीं किया था कि साम्प्रदायिक भावना की तह में जो जोश छिपा रहता है मैं उसे हटा सकूँगा। मेरा उद्देश तो यह बताना था कि किस तरह साम्प्रदायिक नेता हिन्दुस्तान और इंग्लैण्ड के घोर प्रतिक्रियावादी फिरकों से मिले रहते हैं और वे असल में राजनैतिक और उससे भी अधिक सामाजिक प्रगति के विरोधी हैं। उनकी सभी माँगों का जन-साधारण से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। उनका उद्देश यही रहता है कि सार्वजनिक क्षेत्र में आगे आये हुए कुछ छोटे-छोटे दलों का भला हो जाय।

मेरा इरादा था कि इस पुर-दलील हमले को जारी रक्खूँ, लेकिन जेल ने फिर मुझे खींच लिया। हिन्दू-मुस्लिम-एकता के लिए आयेदिन जो अपील होती रहती है, उसके निस्सन्देह फ़ायदेमन्द होते हुए भी वह मुझे तबतक बिलकुल फ़जूल मालूम होती है, जबतक कि मतभेद के कारणों को समझने के लिए कुछ कोशिश न की जाय। मगर कुछ लोगों का यह ख़याल मालूम होता है कि इस मन्त्र को बारबार रटने से अन्त में एकता जादू की तरह आ टपकेगी।

सन् १८५७ के ग़दर से अबतक साम्प्रदायिक प्रश्न पर अंग्रेज़ों की जो नीति रही है उसपर सिलसिलेवार नज़र डालना दिलचस्प बात होगी। दरअसल और

जरूरी तौर पर ब्रिटिश नीति यही रही है कि हिन्दू-मुसलमान मिलकर न चले, और आपस में एक-दूसरे से लड़ते रहें। सन् १८५७ के बाद अंग्रेजों का वार हिन्दुओं की बनिस्बत मुसलमानों पर गहरा रहा। मुसलमानों का कुछ ही समय पहले हिन्दुस्तान पर राज्य था। इस बात की याददाश्त उनमें ताजी थी। इस वजह से अंग्रेज उनको ज्यादा उग्र, लड़ाकू और ख़तरनाक समझते थे। फिर मुसलमान नई तालीम से भी दूर-दूर रहे और सरकारी नौकरियों में भी उनकी तादाद कम थी। इन सब कारणो से अग्रेज़ लोग उन्हें सन्देह की दृष्टि से देखते थे। हिन्दुओं ने अंग्रेजी भाषा और सरकारी नौकरियों को बहुत अधिक तत्परता से अपना लिया और अंग्रेजों को ये ज्यादा सुसाध्य मालूम हुए।

इसके बाद नई राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न हुई। इसका उदय उच्चवर्ग के अग्रेज़ी-दां शिक्षितों में हुआ। इस भावना का हिन्दुओं तक महदूद रहना स्वाभाविक ही था, क्योंकि मुसलमान लोग शिक्षा के लिहाज़ से बहुत पिछड़े हुए थे।

इस राष्ट्रीयता का रूप बड़ा विनम्र और दब्बू था, पर फिर भी सरकार इसको न देख सकी और उसने यह निश्चय किया कि मुसलमानों की पीठ ठोंकी जाय और उनको इस नई राष्ट्रीयता की लहर से दूर रक्खा जाय। मुसलमानों के लिए तो अंग्रेज़ी शिक्षा का न होना ही एक काफ़ी रुकावट थी। लेकिन इस रुकावट का धीरे-धीरे दूर होना लाज़िमी था। अंग्रेज़ों ने बड़ी दूरंदेशी से आगे के लिए इन्तज़ाम कर लिया और इस काम में उन्हे सर सैयदअहमदखा की जोरदार हस्ती से बहुत बड़ी मदद मिली।

सर सैयद इस बात से दुःखी थे कि उनकी जाति पिछड़ी हुई है, खासकर शिक्षा के क्षेत्र में, और इस बात से उनके दिल में दर्द होता था कि उनकी जाति पर न तो अग्रेजों की कृपा-दृष्टि थी और न उनकी नजरों में मुसलमानों का कुछ प्रभाव ही था। उस ज़माने के बहुत-से दूसरे लोगों की तरह वह भी अंग्रेज़ों के बहुत बड़े प्रशंसक थे और मालूम होता है कि उनपर योरप-यात्रा का और भी ज़बरदस्त असर पड़ा था।

उन्नीसवी सदी के आखिरी ज़माने में योरप, या यों कहो कि, पश्चिमी योरप की सभ्यता का सितारा बहुत बुलन्दी पर था। योरप उस समय संसार का एकछत्र अधिपति था और उसमें वे सब गुण भलीभांति प्रकट हो रहे थे जिनके कारण उसे महत्ता प्राप्त हुई थी। उच्चवर्ग के लोग अपनी पैतृक सम्पत्ति को सुरक्षित समझते थे और उसे बढ़ा रहे थे, क्योंकि उनको यह डर नहीं था कि कोई उनसे मुक़ाबिला करके कामयाब हो सकेगा। वह ज़माना प्रगतिशील प्रजातन्त्रीय सुधारवादियों का था, जिनका अपने उज्ज्वल भविष्य में दृढ़ विश्वास था। इसलिए कोई ताज्जुब नहीं कि जो

हिन्दुस्तानी उधर गये वे वहाँ का शानदार नजारा देखकर मोहित हो गये। शुरू-शुरू में हिन्दू लोग ही ज्यादा गये और वे योरप और इंग्लैण्ड के प्रशंसक बनकर वापस लौटे। धीरे-धीरे वे इस तड़क-भड़क और चमक-दमक के आदी हो गये और जो ताज्जुब पहले-पहल उनको होता था वह दिल से निकल गया। लेकिन सर सैयदअहमद को पहली ही बार वहाँ की तड़क-भड़क से जो विस्मय और आकर्षण हुआ, वह साफ़ ज़ाहिर है। वह सन् १८६९ में इंग्लैण्ड गये थे। उस समय उन्होंने घर को जो पत्र लिखे उनमें उन्होंने वहाँके सम्बन्ध में अपने खयालात ज़ाहिर किये थे। इनमें से एक पत्र में उन्होंने लिखा था—"इस सबका नतीजा यह निकलता है कि हालांकि अंग्रेज़ लोग जिस तरह हिन्दुस्तान में शिष्टता का व्यवहार नहीं करते और हिन्दुस्तानियों को जानवरों के समान हेच, नीच और घृणित समझते हैं इसके लिए उनको बख्शा नहीं जा सकता; फिर भी मेरा खयाल है कि वे इस तरह का बरताव इसीलिए करते हैं कि वे हम लोगों को समझ नहीं पाते हैं। और मुझे डरते-डरते यह बात माननी पड़ती है कि उन्होंने जो राय हमारे बारे में क़ायम की है वह ज्यादा ग़लत नहीं है। मैं अंग्रेज़ों की झूठी तारीफ़ नहीं कर रहा हूँ, यदि मैं सचमुच यह कहूँ कि हिन्दुस्तान के लोग चाहे वे ऊँच हों या नीच, बड़े व्यापारी हों या छोटे दूकानदार, पढ़े-लिखे हों या अपढ़, अंग्रेज़ों की तालीम, तमीज़ और ईमानदारी के मुक़ाबिले में ऐसे हैं जैसे किसी क़ाबिल और खूबसूरत आदमी के मुक़ाबिले में एक गन्दा जानवर। अंग्रेज़ लोग अगर हम हिन्दुस्तानियों को निरा जंगली समझें तो उनके पास इसकी वजह है।······"मैं रोज़मर्रा जो-कुछ देख रहा हूँ वह एक हिन्दुस्तानी के क़यास के बिलकुल बाहर की बात है···परलोक और इस लोक दोनों लोकों की सारी सुन्दर वस्तुयें, जो इन्सान में होनी चाहिएँ, खुदा ने योरप को, खासकर इंग्लैण्ड को, बख्श दी है।"[1]

कोई भी आदमी अंग्रेज़ों की और योरप की इससे ज्यादा तारीफ़ नहीं कर सकता। और यह स्पष्ट है कि सर सैयद बहुत अधिक प्रभावित हुए थे। यह भी मुमकिन है कि उन्होंने ऐसी ज़ोरदार भाषा और अतिशयोक्तिपूर्ण तुलना का प्रयोग अपने देशवासियों को गाढ़ी नींद से जगाने और उनको आगे क़दम बढ़ाने के लिए उकसाने की नीयत से किया हो। उनका यह विश्वास था कि यह क़दम पश्चिमी शिक्षा की तरफ बढ़ना चाहिए। बिना उस तालीम के उनकी जाति ज्यादा पिछड़ती और कमज़ोर होती जायगी। अंग्रेजी तालीम का मतलब था सरकारी नौकरियाँ, हिफ़ाज़त, दबदबा और इज्ज़त। इसलिए उन्होंने अपनी सारी ताक़त इस तालीम के लिए लगादी

१. यह उद्धरण हेन्स कोहन की "हिस्ट्री आफ़ नेशनलिज्म इन दि ईस्ट" से लिया गया है।

और सदा यही कोशिश करते रहे कि उनकी जाति के लोग भी उनके हम-खयाल हो जावें। मुसलमानों की सुस्ती और झिझक का दूर करना बड़ा मुश्किल काम था, इसलिए वह यह नहीं चाहते थे कि उनके रास्ते में कहीं बाहर से कोई बाधा या रुकावटें आवे। मध्यम-वर्ग के हिन्दुओं-द्वारा चलाई हुई राष्ट्रीयता को उन्होंने इस प्रकार की रुकावट समझा और इसीलिए उन्होंने इसका विरोध किया। शिक्षा में ५० वर्ष आगे बढ़े हुए होने के कारण हिन्दू लोग सरकार की आलोचना खुशी से कर सकते थे, लेकिन सर सैयद ने तो अपने शिक्षा-सम्बन्धी प्रयत्नों में सरकार की पूरी सहायता पर आँखें गड़ा रक्खी थीं और वे कोई ऐसा जल्दबाजी का काम नहीं करना चाहते थे जिससे उन्हें इस मार्ग में जोखम उठाना पड़े। इसलिए उन्होंने नवजात राष्ट्रीय महासभा को धता बताई। ब्रिटिश सरकार तो उनके इस रवय्ये पर उनकी पीठ ठोंकने के लिए तैयार बैठी ही थी।

मुसलमानों को पश्चिमी शिक्षा दिये जाने पर विशेष ज़ोर देने का सर सैयद का निर्णय दरअसल बहुत ठीक था। उसके बिना मुसलमान लोगों के लिए नये प्रकार की राष्ट्रीयता के निर्माण म कारगर हिस्सा ले सकना असम्भव था और उनको लाज़िमी तौर पर हिन्दुओं के स्वर-में-स्वर मिलाकर ही रहना पड़ता, क्योंकि हिन्दुओं में शिक्षा भी ज्यादा थी और उनकी माली हालत भी ज्यादा अच्छी थी। ऐतिहासिक घटना-चक्र और विचार-आदर्श की दृष्टि से मुसलमान मध्यमवर्गीय राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए तैयार नहीं थे, क्योंकि उनमें हिन्दुओं की तरह कोई मध्यम-वर्ग नहीं बन सका था। इसलिए सर सैयद की कार्रवाइयाँ ऊपर से भले ही नरम दीखती हों, लेकिन वे दरअसल सीधी क्रांति की ओर ले जानेवाली थीं। मुसलमान अभीतक प्रजातन्त्रविरोधी जागीरदाराना विचारादर्श से जकड़े हुए थे, जब कि प्रगतिशील मध्यमश्रेणी के हिन्दू अंग्रेज प्रजातन्त्रीय सुधार-वादियों के-से विचार रखने लग गये थे। दोनों ठेठ नरम नीति को पालनेवाले और ब्रिटिश राज्य पर भरोसा रखनेवाले थे। सर सैयद की नरम नीति उस जागीरदार-वर्ग की नरम नीति थी, जिसमें मुट्ठी-भर धनवान मुसलमान शामिल थे। उधर हिन्दुओं की नरम नीति थी उस होशियार पेशेवर या व्यापारी की नरम नीति, जो उद्योग-धंधों और व्यापार में धन लगाने का साधन ढूंढता हो। इन हिन्दू राजनीतिज्ञों की नज़र हमेशा इंग्लैण्ड के उदार दल के सुविख्यात रत्न ग्लेडस्टन, ब्राइट इत्यादि पर रहती थी। मुझे शक है कि मुसलमानों ने कभी ऐसा किया हो। शायद वे लोग अनुदार दल और इंग्लैण्ड के जागीरदार-वर्ग के प्रशंसक थे। टर्की और आरमीनियनों के कत्ल की बार-बार खूब निन्दा करने के कारण ग्लेडस्टन तो उनके लिए सचमुच घृणा का पात्र बन गया था। लेकिन चूंकि डिस-

रेली का टर्की की तरफ कुछ ज्यादा झुकाव था, इसलिए वे लोग—अर्थात्, वास्तव में वे मुट्ठीभर लोग जो ऐसे मामलों में दिलचस्पी रखते थे—कुछ हद तक उसे चाहते थे।

सर सैयदअहमद के कुछ व्याख्यानों को अगर आज पढ़ा जाय तो बड़े अजीब-से मालूम होंगे। सन् १८८७ के दिसम्बर में उन्होंने लखनऊ में उस अवसर पर एक भाषण दिया था जब कांग्रेस का सालाना जलसा वहाँ हो रहा था। उसमें उन्होंने कांग्रेस की बहुत नरम माँगों की भी निन्दा और आलोचना की थी। उन्होंने कहा था—"अगर सरकार अफ़गानिस्तान से लड़े या बर्मा को जीते तो उसकी नीति की आलोचना करना हमारा काम नहीं है। सरकार ने क़ानून बनाने के लिए कौंसिल बना रक्खी है। उस कौंसिल के लिए वह सभी प्रान्तों से उन अधिकारियों को चुनती है जो राज-काज और जनता की हालत से बहुत अच्छी तरह वाकिफ है, और कुछ रईसों को भी चुनती है जो समाज में अपने ऊंचे रुतबे की वजह से असेम्बली में बैठने के क़ाबिल है। कुछ लोग पूछ सकते है कि उनका चुनाव इसलिए क्यों किया जाय कि वे रुतबेवाले हैं? काबलियत का ख़याल क्यों न रक्खा जाय?......मैं आपसे पूछता हूँ, क्या आपके मालदार घराने के लोग यह पसन्द करेंगे कि छोटी जाति और ओछे खानदान के लोग, चाहे वे बी० ए० या एम० ए० ही क्यों न हों और ज़रूरी योग्यता रखते हों, उनपर हकूमत करें और उनकी जानोमाल के मुतल्लिक क़ानून का भेद बनाने की ताकत रक्खें?'

"वाइसराय ऐसा कभी नही कर सकता कि सिवाय ऊँचे खानदान के आदमी के किसी और को अपना साथी कबूल करे, या उसके साथ भाईचारे का बर्ताव रक्खे या उसे ऐसी दावतों में निमन्त्रण दे जिनमें उसे इंग्लैण्ड के अमीर-उमरा के साथ दस्तरख़ान पर बैठना पड़ता हो।......क्या हम कह सकते हैं कि क़ानून बनाने के लिए जो तरीक़े सरकार ने अख़्त्यार किये हैं, वे लोगों की मर्ज़ी का ख़याल रक्खे बिना ही किये गये है? क्या हम कह सकते हैं कि कानून बनाने में हमारा कुछ भी हाथ नही है? बेशक हम ऐसा नही कह सकते।"[1]

ये थे भाव उस व्यक्ति के जो भारत में 'लोकसत्तात्मक इस्लाम' का नेता और प्रतिनिधि था। इसमें शक है कि अवध के ताल्लुक़ेदार या आगरा, बिहार या बंगाल प्रान्त के बड़े-बड़े ज़मीदार भी आज इस तरह बोलने का साहस कर सकेंगे। लेकिन सर सैयद में ही यह निरालापन हो सो बात नहीं है। कांग्रेस के भी बहुत-से व्याख्यान अगर आज पढ़े जायँ तो ऐसे ही अजीब मालूम होंगे। लेकिन

१. हेन्स कोहन को 'हिस्ट्री इन दी ईस्ट' से उद्धृत।

यह तो साफ़ मालूम होता है कि हिन्दू-मुस्लिम सवाल का राजनैतिक व आर्थिक रूप उस वक़्त यह था कि प्रगतिशील और आर्थिक दृष्टि से आसूदा मध्यम श्रेणी के (हिन्दू) लोगों का पुराने ढंग का कुछ जागीरदार वर्ग (मुसलमान) विरोध करता था और उसकी प्रगति को रोकता था।

हिन्दू ज़मींदारों का सम्बन्ध अक्सर मध्यमवर्ग के साथ था। इसलिए वे मध्यमवर्ग की माँगों के विषय में या तो तटस्थ रहते थे या उनमें सहानुभूति रखते थे और इन माँगों के बनाने में भी अक्सर उनका हाथ रहता था। अंग्रेज़ लोग हमेशा की तरह ज़मींदारों का साथ देते थे। दोनों ओर की साधारण जनता और दोनों निम्नश्रेणी के मध्यमवर्ग की ओर तो किसीका कुछ ध्यान ही न था।

सर सैयद की प्रभावशाली और ज़ोरदार हस्ती का मुसलमानों पर बहुत असर पड़ा और अलीगढ़-कॉलेज उनकी उम्मीदों और ख़्वाहिशों का एक प्रत्यक्ष नमूना साबित हुआ। संक्रमणकाल में अक्सर ऐसा होता है कि तरक़्क़ी की तरफ ले जानेवाला जोश बहुत जल्द अपना मक़सद पूरा कर लेने के बाद एक रुकावट बन जाता है। हिन्दुस्तान का नरम दल इसकी एक ज़ाहिरा मिसाल है। ये लोग अक्सर हमको इस बात की याद दिलाते रहते हैं कि कांग्रेस की पुरानी परम्परा के असली वारिस ये ही हैं और हम लोग, जो बाद में उसमें शामिल हुए हैं, सिर्फ दाल-भात में मूसलचन्द हैं। ठीक है। लेकिन वे लोग इस बात को तो भूल ही जाते हैं कि दुनिया बदलती रहती है और कॉंग्रेस की वह पुरानी परम्परा समय के गर्भ में विलीन होकर अब सिर्फ एक यादगार भर रह गई है। इसी तरह सर सैयद की आवाज़ भी उस ज़माने के लिए मौज़ूं और ज़रूरी थी, लेकिन वह एक उन्नतिशील जाति का अन्तिम आदर्श नहीं हो सकती थी। यह सम्भव है कि अगर वह एक पीढ़ी और रहे होते तो उन्होंने खुद ही अपने संदेश को एक दूसरी ही सूरत दे दी होती। या दूसरे नेता उनके पुराने सदेश को नई तरह से जनता को समझाते और उसे बदली हुई हालत के माफ़िक बना देते। लेकिन सर सैयद को जो सफलता मिली और उनके नाम के साथ जो श्रद्धा जुड़ी रह गई उसने दूसरों के लिए पुरानी लकीर को छोड़ देना मुश्किल कर दिया। दुर्भाग्य से हिन्दुस्तान के मुसलमानों में ऐसी ऊंची काबलियत के लोगों का बहुत बुरी तरह से अभाव था जो कोई नया रास्ता दिखला सकते। अलीगढ़-कॉलेज ने बड़ा अच्छा काम किया और उसने एक बड़ी तादाद में अच्छे क़ाबिल आदमी तैयार करके समझदार मुसलमानों का सारा रुख ही बदल दिया। लेकिन जिस साँचे में वह ढाला गया था उससे वह न निकल सका—उसके ऊपर ज़मींदाराना ख़यालात का असर बना ही रहा और साधारण विद्यार्थी का उद्देश सिर्फ सरकारी नौकरी ही रहा। हिम्मत

के साथ जीवन-संग्राम में उतरने या किसी ऊँचे लक्ष्य को पाने का प्रयत्न करने की इच्छा उसमें नहीं थी। वह तो अगर उसे कहीं डिप्टी कलक्टरी मिल गई, तो इसीमें अपनेको धन्य समझता था। उसका गर्व सिर्फ इस बात की याद दिलाने से ठंडा हो जाता था कि वह इस्लाम की महान् लोकसत्ता का एक अंग है। इस भाईचारे के प्रमाण-स्वरूप वह अपने सिर पर बड़ी शान के साथ एक लाल टोपी पहनता था, जिसे टर्किश फ़ेज कहते हैं और जिसको खुद तुर्कों ने ही बाद में बिल्कुल उतार फेंका। जहाँ उसे अपने अमिट लोकसत्तात्मक अधिकार का विश्वास हुआ—जिसके कारण वह अपने मुसलमान भाइयों के साथ भोजन और प्रार्थना कर सकता था—कि फिर वह इस बात के सोचने की झंझट में नहीं पड़ता था कि हिन्दुस्तान में राजनैतिक लोकसत्ता की कोई हस्ती है या नहीं।

यह तंग दृष्टि और सरकारी नौकरियों के पीछे दौड़ना सिर्फ अलीगढ़ या दूसरी जगह के मुसलमान विद्यार्थियों तक ही महदूद न था। हिन्दू विद्यार्थियों में भी—जो स्वभाव से ही खतरों से घबराते थे—यह उसी परिमाण में पाया जाता था। लेकिन परिस्थिति ने इनमें से बहुतों को इस गड्ढे से निकाल दिया। उनकी संख्या तो थी बहुत ज्यादा और मिलनेवाली नौकरियाँ थीं बहुत कम। नतीजा यह हुआ कि इन वर्गहीन विचारक लोगों की एक ऐसी जमात बन गई, जो राष्ट्रीय क्रान्तिकारी आन्दोलनों की जान हुआ करती है।

सर सैयदअहमदखाँ के राजनैतिक सन्देश के गलाघोंटू असर से हिन्दुस्तान के मुसलमान अच्छी तरह निकलने भी न पाये थे कि बीसवीं सदी की आरम्भिक घटनाओं ने ऐसे साधन उपस्थित कर दिये जो ब्रिटिश सरकार को मुसलमानों और राष्ट्रीय आन्दोलन के ( जो उस समय तक काफ़ी जोर पकड़ चुका था ) बीच खाई चौड़ी करने में सहायक हो गये। सर वेलेन्टाइन शिरोल ने १९१० में 'इंडियन अनरेस्ट' नामक पुस्तक में लिखा था—"यह बड़े विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि आज से पहले भारत के मुसलमानों ने सामूहिक रूप से कभी अपने हितों और आकांक्षाओं को ब्रिटिश राज के संगठन और स्थायित्व के साथ इतनी घनिष्ठता से नहीं मिलाया। राजनीति की दुनिया में भविष्यवाणियाँ करना खतरनाक होता है"। सर वेलेन्टाइन की पुस्तक प्रकाशित होने के बाद, पाँच वर्ष के भीतर ही, समझदार मुसलमान उन बेड़ियों को, जो उनको आगे बढ़ने से रोक रही थीं, तोड़ने और कांग्रेस का साथ देने की जी-जान से कोशिश करने लगे। दस साल के अन्दर ही ऐसा मालूम होने लगा कि मुसलमान तो कांग्रेस से भी आगे बढ़ गये और सचमुच उसका नेतृत्व भी करने लगे। पर ये दस बरस बड़े महत्वपूर्ण थे। इन्हीं दस बरसों में यूरोपीय महायुद्ध शुरू भी हुआ

और ख़तम भी हो गया और अपनी विरासत में एक नष्ट-भ्रष्ट संसार छोड़ गया।

लेकिन फिर भी सर वेलेन्टाइन शिरोल जिन नतीजों पर पहुँचे ज़ाहिरा तौर पर तो उनके कारण साधारणतया ठीक ही थे। आग़ाखां मुसलमानों के नेता के रूप में प्रकट हुए और यह घटना ही इस बात का काफी सबूत था कि मुसलमान लोग अभी-तक अपनी जागीरदाराना परम्परा से चिपके हुए थे; क्योंकि आग़ाखां कोई मध्यम-वर्ग के नेता नहीं थे। वह एक अत्यन्त धनवान् राजा और एक फिरके के धार्मिक गुरु थे। ब्रिटिश राजसत्ता से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने के कारण, अंग्रेज़ों के लिए वह अपने आदमी बन गये थे। बड़े शाइस्ता और एक धनी जागीरदार और खिलाड़ी की भांति ज्यादातर योरप में ही पड़े रहनेवाले। इस कारण व्यक्तिगत रूप से वह मज़हबी या फिरकेवाराना मामलों में संकीर्ण विचारों से बहुत दूर थे। उनका मुसलमानों का नेतृत्व करने का अर्थ यह था कि मुस्लिम ज़मीदार और बढ़ते हुए मध्यमवर्ग के लोग सरकार के हिमायती बन जायँ; साम्प्रदायिक समस्या तो एक गौण बात थी, और वह भी मुख्य उद्देश को सिद्ध करने के अभिप्राय से ही इतने जोरों के साथ ज़ाहिर की जाती थी। सर वेलेन्टाइन शिरोल ने लिखा है कि आग़ाखां ने उस वक्त के वाइसराय लार्ड मिन्टो को यह सुझाया था कि "बंग भंग से पैदा होनेवाली राजनैतिक स्थिति के बारे में मुसलमानों की क्या राय है ताकि जल्दबाज़ी में हिन्दुओं को कहीं ऐसी राजनैतिक सुविधायें न दे दी जायँ जो हिन्दू बहुमत को प्रोत्साहन दें—जो बहुमत ब्रिटिश राज की दृढ़ता और मुस्लिम अल्पमत के हितों के लिए, जिसकी राजभक्ति में किसीको सदेह नहीं हो सकता था, समान रूप से खतरनाक था।"

लेकिन ब्रिटिश सरकार की इन ज़ाहिरा हिमायती ताक़तों के सिवा और दूसरी तरह की शक्तियाँ भी काम कर रही थीं। नया मुस्लिम मध्यमवर्ग मौजूदा परिस्थिति से दिन-दिन लाज़िमी तौर पर असंतुष्ट होता जाता था और राष्ट्रीय आन्दोलन की तरफ़ खिचता जा रहा था। आग़ाखाँ को भी खुद ही इस ओर ध्यान देना पड़ा और उन्हें अंग्रेज़ों को एक खास ढंग की चेतावनी भी देनी पड़ी। जनवरी १९१४ ( यूरोपीय महायुद्ध से बहुत पहले ) के 'एडिनबरा रिव्यू' के अंक में उन्होंने एक लेख लिखा, जिसमें सरकार को यह सलाह दी कि हिन्दू-मुसलमानों को लड़ाने की नीति का परित्याग कर दिया जाय और दोनों सम्प्रदायों के नरम ख़याल के लोगों को एक झंडे के नीचे इकट्ठा किया जाय, जिससे कि तरुण भारत की हिन्दू और मुसल-मान दोनों जातियों की शुद्ध राष्ट्रीय प्रवृत्तियों से टक्कर लेनेवाली एक शक्ति पैदा हो जाय। इसलिए यह साफ़ है कि आग़ाखाँ हिन्दुस्तान की राजनैतिक तबदीली को रोकने में जितनी ज्यादा दिलचस्पी रखते थे, मुसलमानों के साम्प्रदायिक हितों में उतनी नहीं।

लेकिन राष्ट्रीयता की ओर मध्यमवर्ग के मुसलमानों की अनिवार्य प्रगति को न तो आग़ाख़ाँ और न ब्रिटिश सरकार ही रोक सकते थे। संसारव्यापी महायुद्ध ने इस क्रिया को और भी तेज़ कर दिया और जैसे-जैसे नये-नये नेता पैदा होने लगे वैसे-ही-वैसे आग़ाख़ाँ का प्रभाव भी कम होता हुआ मालूम होने लगा। यहाँतक कि अलीगढ़-कॉलेज का भी रुख़ बदल गया। नये नेताओं में सबसे अधिक ज़ोरदार अली-बन्धु निकले; ये दोनों ही उस कॉलेज से निकले हुए थे। डॉक्टर मुख़्तारअहमद अंसारी, मौलाना अबुलकलाम आज़ाद आदि मध्यम-वर्ग के दूसरे कई नेता अब मुसलमानों के राजनैतिक मामलों में महत्त्वपूर्ण भाग लेने लगे। इसी तरह लेकिन कुछ कम परिमाण में मि० जिन्ना भी भाग लेते थे। गांधीजी ने इनमें से अधिकांश नेताओं (मि० जिन्ना को छोड़कर) और आम तौर से मुसलमानों को भी अपने असहयोग-आन्दोलन में घसीट लिया, और १९१९-२३ के दिनों में इन लोगों ने हमारी लड़ाई में ख़ासा प्रमुख भाग लिया।

इसके बाद प्रतिक्रिया शुरू हुई और हिन्दू और मुसलमान दोनों क़ौमों के साम्प्रदायिक और पिछड़े हुए लोग, जो सार्वजनिक क्षेत्र में बरबस पीछे हट चुके थे, अब फिर आगे आने लगे। यह क्रिया धीमी तो थी, पर थी लगातार। हिन्दू-महासभा ने पहली ही बार कुछ ख्याति प्राप्त की, ख़ासकर साम्प्रदायिक तनाव के कारण। मगर राजनैतिक दृष्टि से वह कांग्रेस पर कुछ अधिक असर न डाल सकी। मुसलमानों की साम्प्रदायिक संस्थायें मुस्लिम जनता में अपनी खोई हुई पुरानी प्रतिष्ठा को कुछ अंश तक फिर प्राप्त करने में अधिक सफल रहीं। फिर भी मुस्लिम नेताओं का एक ज़बरदस्त गिरोह सदा कांग्रेस के साथ रहा। उधर ब्रिटिश सरकार ने मुस्लिम साम्प्रदायिक नेताओं को, जो राजनैतिक दृष्टि से पूरे प्रतिक्रियावादी थे, प्रोत्साहन देने में कोई कसर नहीं रक्खी। इन प्रतिक्रियावादियों की सफलता को देखकर हिन्दू-महासभा के मुँह में भी पानी आ गया और उसने भी ब्रिटिश सरकार की कृपा प्राप्त करने की आशा से प्रतिक्रिया में इनके साथ होड़ लगाना शुरू कर दिया। महासभा के उन्नतिशील विचारोंवाले बहुतसे लोग या तो निकाल दिये गये या ख़ुद ही निकल गये और मध्यमश्रेणी के उच्चवर्ग—विशेषकर महाजन और साहूकार—की ओर महासभा अधिकाधिक झुकने लगी।

दोनों ओर के साम्प्रदायिक राजनीतिज्ञ, जो निरन्तर कौंसिलों की सीटों के बारे में बहस किया करते थे, केवल उसी कृपा का विचार करते रहते थे जो सरकारी क्षेत्रों में प्रभाव होने से हासिल होती है। यह तो मध्यमवर्ग के पढ़े-लिखे लोगों के लिए नौकरियों की लड़ाई थी। यह स्पष्ट है कि नौकरियाँ इतनी तो हो ही नहीं सकती थीं

जो सबको मिल जातीं, इसलिए हिन्दू और मुसलमान सम्प्रदायवादी इन्हींके बारे में लड़ते-झगड़ते थे। हिन्दू लोग अपने बचाव की फिक्र में थे, क्योंकि ज्यादातर नौकरियाँ उन्हींने घेर रक्खी थीं और मुसलमान लोग सदा "और-और" की रट लगाये रहते थे। इस नौकरियों की लड़ाई के पीछे एक और भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण कशमकश चल रही थी, जो ठेठ साम्प्रदायिक तो नहीं थी लेकिन जिसका असर साम्प्रदायिक समस्या पर पड़ जरूर रहा था। पंजाब, सिन्ध और बंगाल में हिन्दू लोग सब तरह से ज्यादा मालदार, साहूकार और शहरी थे। इन प्रान्तों के मुसलमान ग़रीब, कर्ज़दार, और देहाती थे। इसलिए इन दोनों की टक्कर अक्सर आर्थिक होती थी, पर उसको हमेशा साम्प्रदायिक रंग दे दिया जाता था। पिछले महीनों में प्रान्तीय धारा-सभाओं में पेश किये गये देहाती कर्ज़ के भार को घटानेवाले मुख्तलिफ़ बिलों पर, खासकर पंजाब में, जो बहसें हुई हैं उनसे यह बात बिलकुल साफ़ हो जाती है। हिन्दू-महासभा के प्रतिनिधियों ने इन युक्तियों का दृढ़ता के साथ विरोध किया है और सदा साहूकार-वर्ग का साथ दिया है।

मुसलमानों की साम्प्रदायिकता पर हिन्दू-महासभा जब कभी आक्षेप करती है तो वह सदा अपनी निर्दोष राष्ट्रीयता का राग अलापती है। यह तो हरेक को ज़ाहिर है कि मुस्लिम संस्थाओं ने अपना एक बिलकुल अजीब साम्प्रदायिक रूप प्रकट किया है। महासभा की साम्प्रदायिकता इतनी स्पष्ट नहीं है, क्योंकि वह राष्ट्रीयता का नक़ली चोग़ा पहने हुए फिरती है। परीक्षा का मौक़ा तो तभी आता है जब राष्ट्रीय और सर्वसाधारण के हित का कोई ऐसा निर्णय होता हो, जिसमें उच्च श्रेणी के हिन्दुओं का हित-विरोध होता हो और वह उसकी मुखालफ़त न करती हो। लेकिन जब कभी ऐसे मौक़े आये हैं, हिन्दू-महासभा इस परीक्षा में बार-बार नाकामयाब रही है। अल्पमत के आर्थिक हितों के विचार से और बहुमत की उद्घोषित इच्छाओं के खिलाफ़ हिन्दुओं ने सिन्ध के पृथक्करण का हमेशा विरोध ही किया है।

लेकिन हिन्दू और मुसलमान दोनों ही दलों के सम्प्रदायवादियों द्वारा राष्ट्र-विरोधी प्रवृत्तियों की सबसे अजीब नुमाइश तो गोलमेज कांफ़ेन्स में हुई। ब्रिटिश-सरकार उसके लिए केवल ऐसे ही मुसलमानों को नामज़द करने पर तुली हुई थी जो हर तरह सम्प्रदायवादी थे। और आग़ाख़ां के नेतृत्व में तो ये लोग इतने नीचे उतर गये थे कि इंग्लैण्ड के सार्वजनिक जीवन के सबसे अधिक प्रतिक्रियावादी और भारत ही नहीं बल्कि सभी उन्नतिशील सम्प्रदायों की दृष्टि से सबसे खतरनाक व्यक्तियों तक के साथ मिलने को उतारू हो गये थे। आग़ाख़ां और उनके गिरोह का लार्ड लायड और उनकी पार्टी के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध एक बड़ी असाधारण-सी बात थी। इतना ही

नहीं, इन लोगों ने गोलमेज़ परिषद में गये हुए यूरोपियन असोसियेशन के प्रतिनिधियों तक से समझौता कर लिया था। यह बड़े दुःख और निराशा की बात थी, क्योंकि यूरोपियन असोसियेशन भारत की स्वतन्त्रता का सबसे कट्टर और ज़ोरदार विरोधी रहा है, और अब भी है।

हिन्दू-महासभा के प्रतिनिधियों ने इसका जवाब इस तरह से दिया कि उन्होंने, खासकर पंजाब के लिए, स्वतंत्रता के मार्ग में ऐसे-ऐसे प्रतिबन्ध माँगे जो अंग्रेज़ों के हक़ में संरक्षण थी। उन्होंने ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग करने के प्रयत्नों में मुसलमानों को भी मात देने की कोशिश की। इससे उनको मिला तो कुछ भी नहीं, उलटे अपने पक्ष को ही उन्होंने नुकसान पहुँचाया और स्वतंत्रता के पक्ष के साथ विश्वास-घात किया। मुसलमानों के बोलने के ढंग में कम-से-कम कुछ शान तो थी, लेकिन हिन्दू सम्प्रदायवादियों के पास तो यह भी न था।

मुझे तो यह बात मालूम पड़ती है कि दोनों तरफ़ के साम्प्रदायिक नेता एक छोटे-से उच्चवर्गीय प्रतिक्रियावादी गिरोह के प्रतिनिधि होने के सिवा और कुछ नहीं है। ये लोग जनता के धार्मिक जोश का अपने स्वार्थ-साधन के लिए दुरुपयोग करते हैं और उससे बेजा फायदा उठाते हैं। दोनों ओर आर्थिक प्रश्नों को टालने और दबाने की भरसक कोशिश की जाती है। वह वक़्त जल्दी ही आनेवाला है, जबकि इन प्रश्नों को दबाया जा सकना असम्भव हो जायगा, और तब दोनों दलों के साम्प्रदायिक नेता निस्संदेह आग़ाखां की बीस बरस पहले की चेतावनी को दोहरायँगे कि नरम विचारवालों को युग-परिवर्तनकारी प्रवृत्तियों के विरुद्ध मिलकर जिहाद बोल देना चाहिए। कुछ हद तक तो अब यह बात ज़ाहिर हो ही चुकी है कि हिन्दू और मुसलमान सम्प्रदायवादी जनता के सामने एक-दूसरे को चाहे जितना बुरा-भला कहे, मगर असेम्बली और अन्य ऐसी ही जगहों में सरकार को राष्ट्र-विरोधी कानून पास करने में सहायता देने के लिए दोनों ही मिल जाते हैं। ओटावा एक ऐसा ही सूत्र था जिसने तीनों को एकसाथ ला मिलाया था।

साथ-ही-साथ, यह मज़ेदार बात भी ध्यान में रखने की है कि आग़ाखाँ का अनुदार पार्टी के सबसे अधिक कट्टर पक्ष के साथ अभीतक घनिष्ठ सम्बन्ध चला आता है। १९३४ के अक्तूबर में आप ब्रिटिश नेवी लीग के सहभोज में, जिसके सभा-पति लार्ड लायड थे, एक सम्मानित मेहमान की हैसियत से सम्मिलित हुए थे। वहाँ आपने लार्ड लायड के उन प्रस्तावों का हृदय से समर्थन किया था जो उन्होंने ब्रिस्टल की कंज़रवेटिव कांफ्रेन्स में ब्रिटिश जहाज़ी बेड़े की शक्ति को और अधिक मज़बूत बनाने की दृष्टि से किये थे। इस तरह हिन्दुस्तान के एक नेता ब्रिटिश सत्ता की

रक्षा और इंग्लैण्ड की हिफाजत के लिए इतने आतुर थे कि वह इंग्लैण्ड की फ़ौजी ताक़त बढ़ाने के काम में मि० बाल्डविन या उनकी 'नेशनल' सरकार से भी आगे बढ़ जाने को तैयार थे। और निस्सन्देह यह सब किया जा रहा था शान्ति-रक्षा के नाम पर!

दूसरे ही महीने, यानी नवम्बर १९३४ में, यह खबर लगी कि लन्दन में, खानगी तौर पर, एक फिल्म दिखलाई गई है, जिसका उद्देश था मुसलमानों को अंग्रेज़ी बादशाहत के साथ सदा के लिए मित्रता के सूत्र में बाँध देना। हमको यह भी पता लगा कि इस अवसर पर आग़ाख़ां और लार्ड लायड सम्मानित मेहमान होकर पधारे थे। ऐसा मालूम पड़ता है कि शाही मामलों में आगाखां और लार्ड लायड दोनों इस तरह एक जान दो क़ालिब हैं जैसे हमारे राष्ट्रीय राजनैतिक क्षेत्र में सर तेजबहादुर सप्रू और मि० जयकर। यह बात भी ग़ौर करने के क़ाबिल है कि इन महीनों में, जबकि ये दोनों एक-दूसरे से इतनी अधिकता से घुल-मिल रहे थे, ठीक उसी वक्त लार्ड लायड नेशनल सरकार और उसके पक्ष के अनुदार नेताओं के विरुद्ध इसलिए एक अत्यंत कटु और कठोर आक्रमण का नेतृत्व कर रहे थे कि उन्होंने हिन्दुस्तान को बहुत अधिक अधिकार देने की कथित कमज़ोरी दिखलाई थी।[१]

इधर पिछले दिनों कुछ मुसलमान साम्प्रदायिक नेताओं के व्याख्यानों और वक्तव्यों में एक मज़ेदार तबदीली हुई है। इसका कुछ वास्तविक महत्त्व नहीं है, लेकिन मुझे शक है कि और लोगों की शायद यह राय न हो। फिर भी, यह बात साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के रूप को प्रकट करती है और इसे प्रधानता भी खूब दी गई है। हिन्दुस्तान में 'मुस्लिम राष्ट्र', 'मुस्लिम संस्कृति' और हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों की घोर असम्बद्धता पर खूब ज़ोर दिया जा रहा है। इसका परिणाम लाज़िमी तौर से यही निकलता है (हालांकि वह इतने खुले तौर पर नहीं रक्खा गया है) कि न्याय करने और दोनों संस्कृतियों में बीच-बचाव करने के लिए हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ों का अनन्तकाल तक बना रहना बहुत जरूरी है।

कुछेक हिन्दू साम्प्रदायिक नेता भी इसी विचार-धारा में बह रहे हैं। फ़र्क़ सिर्फ़ इतना ही है कि उन्हें यह आशा है कि चूंकि उनका बहुमत है इसलिए अन्त में उन्हींकी 'संस्कृति' का बोलबाला होगा।

हिन्दू और मुस्लिम 'संस्कृतियां' और 'मुस्लिम राष्ट्र'—ये शब्द पुराने इतिहास तथा वर्तमान और भविष्य की कल्पना के कैसे मनोमोहक दृश्य उपस्थित कर देते हैं!

१. अभी हाल ही में कुछ अंग्रेज़ लार्डों और भारतीय मुसलमानों ने एक कौंसिल बनाई है, जिसका उद्देश इन दोनों घोर प्रतिक्रियावादी दलों के सम्बन्ध को बढ़ाना और पुख्ता करना है।

हिन्दुस्तान में मुस्लिम राष्ट्र—राष्ट्र के भीतर एक राष्ट्र, वह भी ठोस नहीं बल्कि डावाँडोल, बिखरा हुआ और अनिश्चित ! राजनैतिक दृष्टि से यह विचार बिलकुल वाहियात है; आर्थिक दृष्टि से शेखचिल्लियाना है; यह तो ध्यान में लाने लायक़ भी नहीं है। लेकिन फिर भी इसके पीछे जो मनोवृत्ति छिपी है, इसके ज़रिये थोड़ा-बहुत उसे समझने में सहायता मिलती है।

मध्यवर्ती युग में, और उसके बाद भी, ऐसी कई जुदी-जुदी और आपस में न मिल सकनेवाली जातियाँ एकसाथ मिलकर रहती थी। टर्की के सुलतानों के आरम्भ-काल में भी कुस्तुन्तुनिया में ऐसी हरेक 'जाति'—लेटिन, ईसाई, कट्टर ईसाई, यहूदी वग़ैरा—अलग-अलग रहती थी और उनमें से कुछ तो स्वाधिकार भी रखती थी। यह उस देशेतर भावना का प्रारम्भ था जो, अबसे कुछ ही काल पहले, बहुत-से पूर्वी देशों का हौवा बन गई थी। इसलिए 'मुस्लिम राष्ट्र' की बात चलाने का अर्थ यह है कि राष्ट्र कोई चीज़ नहीं है, केवल एक धार्मिक सूत्र है। इसका अर्थ यह है कि किसी भी राष्ट्र (आधुनिक परिभाषा में) को बढ़ने न दिया जाय। दूसरा यह अर्थ है कि वर्तमान सभ्यता को धता बताई जाय और हम सब मध्यकाल के रस्म-रिवाज अख़्त्यार करलें। इसका मतलब है या तो तानाशाही सरकार, या विदेशी सरकार; अन्त में मस्तिष्क की एक भावुक स्थिति और असलियतों से, ख़ासकर आर्थिक असलियतों से, मुँह छिपाने की एक ज्ञात या अज्ञात इच्छा के सिवा इसका और कुछ अर्थ नहीं है। भाव-वृत्तियाँ कभी-कभी तर्क का भी तख़्ता उलट देती हैं और हम उनको सिर्फ इस बिना पर दरगुज़र नहीं कर सकते कि वे हमें इतनी तर्क रहित मालूम होती हैं। मगर यह मुस्लिम राष्ट्रवाली भावना कुछेक कल्पनाशील व्यक्तियों की केवल कल्पनामात्र है, और अगर अखबारों में इसका इतना शोर न मचता तो शायद यह सुनने में भी न आती। भले ही बहुत-से लोग इसमें विश्वास रखते हों, लेकिन फिर भी वास्तविकता का स्पर्श होते ही वह ग़ायब हो जायगी।

हिन्दू और मुस्लिम 'संस्कृति' की भावना भी इसी क़िस्म की है। अब तो राष्ट्रीय भावनाओं का भी ज़माना तेज़ी के साथ जा रहा है और सारा संसार एक सांस्कृतिक इकाई बन रहा है। विभिन्न राष्ट्र बहुत दिनोंतक अपनी-अपनी विशेषताओं, भाषा, रस्म-रिवाज, विचार-धारा आदि को चाहे न छोड़ें, और शायद बहुत कालतक छोड़ें भी नहीं, मगर मशीनों का युग और विज्ञान—जिसके उपकरण हवाई जहाज, अखबार, टेलीफोन, रेडियो, सिनेमा वग़ैरा हैं—इन विशेषताओं को अधिकाधिक एकरूप बना देंगे। इस अवश्यम्भावी प्रवृत्ति का विरोध कोई नहीं कर सकता, और वर्तमान सभ्यता को नष्ट-भ्रष्ट कर देनेवाला संसार-व्यापी विप्लव ही

इसको रोक सकता है। हिन्दुओं और मुसलमानों के जीवन-सम्बन्धी परम्परागत विचारों में जरूर काफ़ी भारी मत-भेद है। पर अगर हम दोनों की तुलना वर्तमान युग के जीवन के वैज्ञानिक और औद्योगिक पहलू से करें, तो यह मत-भेद क़रीब-करीब लुप्त हो जाता है, क्योंकि इस दृष्टि-कोण और जीवन के उपर्युक्त विचारों में भी आकाश-पाताल का अन्तर है। हिन्दुस्तान में इस समय असली झगड़ा हिन्दू-संस्कृति और मुस्लिम-संस्कृति का नहीं, बल्कि इन्हीं जीवन के विचारादर्श तथा आधुनिक सभ्यता की विजयी वैज्ञानिक संस्कृति के बीच है। जो 'मुस्लिम-संस्कृति' की, जैसी जो कुछ भी वह हो, रक्षा करना चाहते हैं, उन्हें हिन्दू-संस्कृति से घबराने की ज़रूरत नहीं, लेकिन उन्हें पश्चिमी दैत्य का मुक़ाबिला करना चाहिए। व्यक्तिगत रूप से मुझे इसमें कुछ भी सन्देह नहीं मालूम होता है कि हिन्दुओं या मुसलमानों के, आधुनिक वैज्ञानिक और औद्योगिक सभ्यता का विरोध करने के, सब प्रयत्न पूरी तरह से निष्फल साबित होंगे और इस निष्फलता को देखकर मुझे कुछ भी अफ़सोस न होगा। जिस समय रेल वग़ैरा ने हमारे यहाँ प्रवेश किया उसी समय हमने अज्ञात रूप से और खुद-ब-खुद इस बात को स्वीकार कर लिया था। सर सैयदअहमद ने भी अलीगढ़-कॉलेज की स्थापना करके भारत के मुसलमानों के लिए ज़ोरों से इसी मार्ग को चुन लिया था।

लेकिन जिस तरह डूबते हुए मनुष्य के लिए सिवाय ऐसी चीज को पकड़ने के और कोई चारा नहीं रह जाता जिससे उसकी जान बच जाय, उसी तरह असल में हममें से किसीके लिए उसके सिवा और कोई मार्ग न था।

लेकिन यह 'मुस्लिम संस्कृति' आख़िर चीज़ क्या है? क्या यह अरबी, फ़ारसी, तुर्की वग़ैरा के महान् कार्यों की कोई जातीय स्मृति है? या भाषा है? या कला और संगीत है? या रस्मोरिवाज है? मुझे याद नहीं पड़ता कि किसीने आधुनिक मुस्लिम कला या संगीत का ज़िक्र किया हो। हिन्दुस्तान में मुस्लिम विचार-धारा पर अरबी और फ़ारसी दो भाषाओं का, और खासकर फ़ारसी का, प्रभाव पड़ा है। लेकिन फ़ारसी के प्रभाव में धर्म का कोई निशान नहीं है। फ़ारसी भाषा, और बहुत-सी फ़ारसी रीति-रस्म और परम्परायें हज़ारों वर्षों के समय में हिन्दुस्तान में आईं और सारे उत्तरी हिन्दुस्तान पर इनका ज़ोरदार असर पड़ा। फ़ारस तो पूर्व का फ़्रांस था, जिसने अपनी भाषा और संस्कृति अपने पास-पड़ोस सब देशों में फैलादी। यह हम सब भारतीयों की एक-समान और अनमोल विरासत है।

मुसलमान जातियों और देशों के पुराने कारनामों का गर्व मुसलमानों को एक-साथ बांधनेवाले सूत्रों में शायद सबसे अधिक मज़बूत सूत्र है। क्या किसीको इन

जातियों के गौरवपूर्ण इतिहास के कारण मुसलमानों से हसद है ? जबतक वे इसे याद करें और दिल से उसका पोषण करना चाहें तबतक इसे कोई भी उनसे छीन नहीं सकता। सच तो यह है कि यह पुराना इतिहास बहुत करके हम सभीके लिए समान रूप से गौरव की चीज है, क्योंकि शायद हम लोग एशिया-निवासी होने के कारण यह अनुभव करें कि योरप के आक्रमण के विरुद्ध हमको एकता के सूत्र में बाँध देने-वाली यही चीज है। मैं जानता हूं कि जब कभी मैंने स्पेन में या क्रूसेड[१] के वक्त में अरब लोगों के साथ हुए झगड़ों का हाल पढ़ा है तो मेरी हमदर्दी हमेशा अरबों के साथ रही है। मैं निष्पक्ष और बेलौस होने की कोशिश करता हूँ पर मैं चाहे जितनी कोशिश करूँ, फिर भी, जब कभी एशिया के निवासियों का प्रश्न आता है, तो मेरा एशियाईपन मेरी विचार-धारा पर प्रभाव डाले बिना नहीं रहता।

मैंने यह समझने की हरचन्द कोशिश की है कि आखिर यह 'मुस्लिम संस्कृति' है क्या चीज ? लेकिन मुझे स्वीकार करना पड़ता है कि मैं इसमें सफल नही हुआ। मैं देखता हूँ कि उत्तरी हिन्दुस्तान में ऐसे मध्यम-वर्गी मुसलमानों और हिन्दुओं की एक नगण्य-सी संख्या है जिनपर फारसी भाषा और परम्पराओं की छाप पड़ी हुई है। और अगर सर्वसाधारण जनता के रहन-सहन को देखा जाय तो 'मुस्लिम-संस्कृति' के सबसे अधिक स्पष्ट चिन्ह नजर आते हैं। एक खास तरह का पायजामा, न ज्यादा लम्बा न ज्यादा छोटा; डाढ़ी का बढ़ाया जाना और मूँछों के बनाने का एक खास तरीका; और एक खास तरह का टोंटीदार लोटा। इस तरह से हिन्दुओं के भी इसी ढंग के रस्मो-रिवाज है। धोती पहनना; चोटी रखना; और एक भिन्न प्रकार का लोटा रखना। सच तो यह है कि ये भिन्नतायें भी ज्यादातर शहरी हैं और अब कम होती जा रही हैं। मुसलमान किसान और मजदूर और हिन्दू किसान और मजदूरों में कोई भेद नहीं मालूम पड़ता। मुसलमानों के शिक्षितवर्ग में डाढ़ी के लिए बहुत कम प्रेम रह गया है, हालांकि अलीगढ़ में लाल रंग की तुर्रेदार तुर्की टोपी अब भी पसंद की जाती है (यह तुर्की ही कहलाती है, हालाकि तुर्कों ने इससे अब कुछ भी सम्बन्ध नहीं रक्खा है); मुसलमान स्त्रियाँ साड़ी को अपनाने लगी हैं और धीरे-धीरे परदे से भी बाहर निकल रही हैं। मेरी अपनी रुचि तो इनमें से कुछ तौर-तरीकों को पसन्द नहीं करती और डाढ़ी, मूंछ या चोटी से मुझे कुछ भी प्रेम नहीं है; लेकिन मैं अपनी रुचि-सम्बन्धी धारणाओं को दूसरों के गले नहीं मढ़ना चाहता। हाँ, डाढ़ियों के विषय में मैं यह

१. मुसलमानों से अपने धर्मस्थान वापस लेने के लिए ईसाई शक्तियों ने ग्यारहवीं सदी से तेरहवीं सदी तक उनपर जो फौजी हमले किये थे, उन्हें क्रूसेड—धर्म-युद्ध—कहा जाता है।

मानता हूँ कि जब अमानुल्ला ने इनको एक सिरे से उड़ाना शुरू किया था तो मुझे बड़ी ख़ुशी हुई थी।

मुझे यह कहना पड़ता है कि उन हिन्दुओं और मुसलमानों को देखकर मुझे बड़ी दया आती है जो हमेशा पुराने ज़माने का रोना रोया करते हैं और उन चीज़ों को पकड़ने की कोशिश करते रहते हैं जो उनके हाथ से खिसकती जा रही हैं। मैं प्राचीन काल की न तो निन्दा ही करना चाहता हूँ और न उसे बिलकुल छोड़ ही देना चाहता हूँ, क्योंकि हमारे अतीत में बहुत-सी ऐसी बातें हैं जो सुन्दरता में अनुपम हैं। ये सदा रहेंगी, इसमें मुझे सन्देह ही नहीं है। पर ये लोग इन सुन्दर वस्तुओं को तो नहीं पकड़ते, बल्कि ऐसी चीज़ों को पकड़ने दौड़ते हैं जो अक्सर निकम्मी और हानिकर होती हैं।

पिछले कुछ वर्षों में मुसलमानों को बार-बार हादसे पहुँचे हैं और उनके अनेक चिरपोषित विचार नष्ट-भ्रष्ट हो गये हैं। इस्लाम के बानी उस टर्की ने ख़िलाफ़त को ही खतम नहीं कर दिया जिसके लिए हिन्दुस्तानी लोग १९२० में बड़ी बहादुरी से लड़े थे, बल्कि वह तो मज़हब से भी दूर-दूर क़दम हटाता चला जा रहा है। टर्की के नये विधान में एक धारा यह है कि टर्की मुस्लिम राज्य है, परन्तु कोई ख़ाम-ख्याली पैदा न हो जाय इसलिए कमालपाशा ने १९२७ में कहा था—"विधान में यह धारा कि टर्की एक मुस्लिम राज्य है केवल समझौते के तौर पर रक्खी गई है और पहला मौक़ा मिलते ही निकाल दी जानेवाली है।" मुझे विश्वास है कि आगे चलकर उन्होंने इस चेतावनी के अनुसार काम भी किया। मिश्र भी, बहुत अधिक सावधानी से ही सही, इसी मार्ग पर अग्रसर हो रहा है और अपनी राजनीति को मज़हब से बिलकुल अलग रक्खे हुए है। इसी तरह अरब के देश भी कर रहे हैं, सिवा ख़ास अरब के, जो बहुत पिछड़ा हुआ है। फ़ारसवाले सांस्कृतिक स्फूर्ति के लिए अब पूर्व-मुस्लिम काल की याद कर रहे हैं। हर जगह मज़हब पीछे हटता जा रहा है और राष्ट्रीयता उग्र रूप में प्रकट हो रही है। और इस राष्ट्रीयता के पीछे और भी कई 'वाद' हैं जो सामाजिक और आर्थिक दृष्टियों को लिये हुए हैं। इस 'मुस्लिम-राष्ट्र' और 'मुस्लिम-संस्कृति' का क्या होगा? भविष्य में क्या वे सिर्फ़ अंग्रेज़ों के कृपा-शासन की छत्रछाया में मस्त पड़े हुए उत्तर-भारत में ही मिलेंगे?

उन्नति अगर इसी बात में है कि हरेक व्यक्ति राजनीति के मूल आधार पर दृष्टि रक्खे तो यह कहना पड़ेगा कि हमारे सम्प्रदायवादियों का और हमारी सरकार का भी उद्देश, इरादतन और हमेशा, इससे उलटा यानी संकुचित दृष्टि से देखने का रहा है।

# ५७

## दुर्गम घाटी

दुबारा गिरफ्तार होने और सज़ा पाने की सम्भावना हमेशा मेरे सामने बनी रहती थी। उस समय देश में आर्डिनेन्स वगैरा का दौर-दौरा था, और खुद कांग्रेस भी तब ग़ैर-क़ानूनी जमात थी, इसलिए यह सम्भावना और भी ज्यादा थी। ब्रिटिश-सरकार ने जैसा रुख़ अख़्त्यार कर रक्खा था और मेरा स्वभाव जैसा था उसको देखते हुए मुझपर प्रहार होना अनिवार्य मालूम होता था। हमेशा सिर पर सवार रहनेवाली इस सम्भावना का मेरी गति-विधि पर भी असर पड़े बिना न रहा। मैं जमकर कोई काम नहीं कर सकता था और मुझे यह जल्दी रहती थी कि जितना कुछ हो सके कर डालूं।

फिर भी, मेरी इच्छा गिरफ्तारी मोल लेने की नहीं थी और जहांतक हो सकता था मैं ऐसी कार्रवाइयों से बचता था जो मेरी गिरफ्तारियों का कारण बनें। अपने प्रान्त में और प्रान्त के बाहर भी, दौरा करने के लिए मेरे पास कितनी ही जगहों से निमन्त्रण आ रहे थे। मैंने सबसे इन्कार कर दिया, क्योंकि मैं जानता था कि कोई भी व्याख्यानों का दौरा तूफ़ानी हलचल के सिवा और कुछ नहीं हो सकता था, और वह सरकार द्वारा कभी भी यकायक बन्द कर दी जा सकती थी। उस समय मेरे लिए कोई बीच का मार्ग हो ही नहीं सकता था। जब कभी मैं किसी दूसरे काम से किसी जगह जाता—जैसे गांधीजी या वर्किंग कमिटी के सदस्यों से सलाह-मशविरा करने के लिए—तो मैं सार्वजनिक सभाओं में भाषण देता और खूब खुलकर बोलता। जबलपुर में एक बहुत बड़ी सभा हुई और बड़ा शानदार जुलूस निकाला गया; दिल्ली की सभा में तो इस क़दर भीड़ थी जितनी मैंने पहले कभी वहां देखी ही नहीं। वास्तव में इन सभाओं की सफलता से ही यह स्पष्ट हो चला था कि सरकार ऐसी सभाओं का बारबार होना कभी सहन नहीं करेगी। दिल्ली में, सभा के बाद ही, बड़े जोरों की अफ़वाह फैली कि मेरी गिरफ्तारी होनेवाली है; लेकिन मैं बच गया और इलाहाबाद लौट आया। रास्ते में मैं अलीगढ़ ठहरा, जहां मैंने मुस्लिम यूनिवर्सिटी के विद्यार्थियों के सामने एक भाषण दिया।

ऐसे समय में, जब कि सरकार तमाम सक्रिय राजनैतिक कामों को दबाने का प्रयत्न कर रही थी, मुझे यह विचार बिलकुल पसन्द नहीं था कि राजनीति से इतर कार्यों में भाग लिया जाय।

कांग्रेसवालों में मुझे एक जोरदार प्रवृत्ति यह नजर आई कि उग्र राजनैतिक कार्यों से बचकर ऐसे मामूली कामों में पड़ जाना जो लाभकारी तो थे पर जिनका हमारे आन्दोलन से कोई सम्बन्ध नहीं था। यह प्रवृत्ति स्वाभाविक थी, पर मुझे ऐसा लगा कि उस समय इसको प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिए था।

अक्तूबर १९३३ के मध्य में हमने इलाहाबाद में, परिस्थिति पर विचार करने और आगे का कार्यक्रम निश्चत करने के लिए, युक्तप्रान्त के कांग्रेसी कार्यकर्ताओं की मीटिंगें की। प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी एक ग़ैर-क़ानूनी संस्था थी, और चूंकि हमारा उद्देश क़ानून की अवज्ञा करने का नहीं बल्कि आपस में मिलने का था, इसलिए हमने इस कमिटी को बाक़ायदा नहीं बुलाया। हमने उसके उन सब सदस्यों को, जो उस समय जेल से बाहर थे, और दूसरे चुने हुए कार्यकर्ताओं को खानगी तौर पर विचार-विनिमय की नीयत से बुलाया था। हमारी मीटिंगें खानगी तो होती थीं, पर उनकी कार्रवाई को गुप्त रखने का प्रयत्न नहीं किया जाता था। इसलिए आख़िरी दमतक हमें इस बात का पता नहीं लगता था कि सरकार हस्तक्षेप करेगी या नहीं। इन मीटिंगों में हम लोग संसार की स्थिति—घोर मन्दी, नाज़ीवाद, समाजवाद वग़ैरा पर बहुत ध्यान देते थे। हम चाहते थे कि हमारे साथी, बाहर जो कुछ हो रहा है उसकी दृष्टि से भारत के स्वतन्त्रता-आन्दोलन को देखें। इस कान्फ्रेन्स ने अन्त में एक समाजवादी प्रस्ताव पास किया, जिसमें भारतवासियों के लक्ष्य का बयान और सविनय भंग के बन्द किये जाने का विरोध किया गया था। इस बात को तो सब लोग अच्छी तरह जानते थे कि अब देश-व्यापी सविनय भंग की कोई सम्भावना नहीं थी और व्यक्तिगत सविनय भंग भी या तो शीघ्र ही खतम हो जानेवाला था या एक बहुत ही संकुचित रूप में जारी रह सकता था। लेकिन उसके बन्द किये जाने से हमारी स्थिति में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता था, क्योंकि सरकार का हमला और आर्डिनेन्स का शासन तो बरक़रार था। इसलिए बाक़ायदा सविनय भंग जारी रखने का जो निश्चय हमने किया, वह कहने ही के लिए था। असल में तो हमारे कार्यकर्त्ताओं को यह आदेश था कि जान-बूझकर व्यर्थ ही गिरफ्तार न हों। उनको हिदायत थी कि अपना काम हस्बमामूल करते रहें और अगर काम के दौरान में गिरफ्तारी हो जाय तो उसे खुशी के साथ मंजूर करलें। उनसे खासकर यह कहा गया था कि देहात से अपना सम्बन्ध फिर स्थापित करें और यह जानने की कोशिश करें कि लगान में छूट और सरकार की दमन-नीति इन दोनों के परिणामस्वरूप किसानों की क्या अवस्था है। उस वक़्त लगानबन्दी के आन्दोलन का तो कोई प्रश्न ही न था। पूना-कान्फ्रेन्स के बाद ही वह तो नियमानुसार स्थगित किया जा चुका था

और यह साफ़ जाहिर था कि मौजूदा परिस्थिति में उसे पुनर्जीवित नहीं किया जा सकता था।

यह कार्यक्रम बिलकुल नरम और निर्दोष था और इसमें वस्तुतः कोई ग़ैरक़ानूनी बात नहीं थी, लेकिन फिर भी हम जानते थे कि इसमें गिरफ्तारियाँ तो होंगी ही। जैसे ही हमारे कार्यकर्ता गाँवों में पहुँचते, वे गिरफ्तार कर लिये जाते और उनपर करबन्दी आन्दोलन का प्रचार करने का, जोकि आर्डिनेन्स के मातहत एक जुर्म बना दिया गया था, बिलकुल झूठा जुर्म लगाया जाता और सजा देदी जाती। अपने बहुत-से साथियों की गिरफ्तारियों के बाद मेरा इरादा भी था कि मैं इन देहाती क्षेत्रों में जाऊँ। लेकिन कई और ज़रूरी कामों में लग जाने के कारण मुझे अपना जाना स्थगित करना पड़ा, और बाद में तो इसके लिए मौक़ा ही न रहा।

इन महीनों में वर्किंग कमिटी के सदस्य सारे देश की स्थिति पर विचार करने के लिए दो बार इकट्ठे हुए। कमिटी का खुद तो कोई अस्तित्व ही न था—इसलिए नहीं कि वह ग़ैरक़ानूनी थी, लेकिन इसलिए कि पूना के बाद, गांधीजी के आदेश से, सारी कांग्रेस कमिटियाँ और कांग्रेस दफ्तर अस्थायी तौर पर बन्द कर दिये गये थे। मेरी स्थिति एक अजीब तरह की हो रही थी; क्योंकि जेल से छूटकर आने पर मैंने इस आत्म-घातक आर्डिनेन्स को स्वीकार करने से इन्कार किया और अपने-आपको कांग्रेस का जनरल सेक्रेटरी कहने का आग्रह किया। लेकिन मेरा अस्तित्व भी शून्य में था। उस समय न तो कोई ठीक दफ्तर था, न कोई कर्मचारी, न कोई स्थानापन्न सभापति; और गांधीजी यद्यपि सलाह-मशविरे के लिए मौजूद थे, पर वह भी इस बार हरिजन-कार्य के लिए अपने एक बड़े भारी अखिल-भारतीय दौरे में मशगूल थे। हमने उनको दौरे के बीच में जबलपुर और दिल्ली में पकड़ पाया और वर्किंग कमिटी के मेम्बरों के साथ सलाह-मशविरे किये। इन मशविरों ने यह काम किया कि भिन्न-भिन्न मेम्बरों के मतभेद को साफ़ तौर से सामने लाकर रख दिया। बस, यही गाड़ी अटक गई और कोई ऐसा रास्ता नहीं नजर आता था जो सबको पसन्द हो। दोनों पक्षों, सत्याग्रह जारी रखने और बन्द करनेवालों, के बीच गांधीजी ही ऐसे व्यक्ति थे जिनका निर्णय सर्वमान्य हो सकता था। और चूंकि वह बन्द करने के पक्ष में नहीं थे इसलिए जो रफ्तार चल रही थी वही चलती रही।

कांग्रेस की ओर से लेजिस्लेटिव असेम्बली का चुनाव लड़ने के प्रश्न पर भी कांग्रेस के लोग कभी-कभी विचार कर लेते थे, हालाँकि इस समय तक वर्किंग कमिटी के सदस्यों की इस तरफ कोई दिलचस्पी नहीं थी। यह प्रश्न अभी उठता ही नहीं था; इसके लिए अभी समय भी नहीं आया था। 'सुधार' कम-से-कम दो-तीन साल

तक असली सूरत में आनेवाले नहीं थे और उस समय असेम्बली के नये चुनाव का कोई ज़िक्र ही न था। अपनी ज़ाती राय में तो मुझे चुनाव लड़ने में सिद्धान्त-रूप से कोई आपत्ति नहीं थी और मुझे यह भी विश्वास था कि समय आने पर कांग्रेस को इस मार्ग पर चलना ही पड़ेगा। लेकिन उस समय इस प्रश्न को उठाना हमारे ध्यान को दूसरी ओर फेर देना था। मुझे आशा थी कि आन्दोलन के जारी रहने से बहुत-से प्रश्न, जो हमारे सामने आ रहे थे, हल हो जायँगे और समझौते की प्रवृत्तिवाले लोग परिस्थिति पर हावी न हो सकेंगे।

इस दर्मियान मैं लगातार लेख और वक्तव्य अखबारों में भेजता रहा। कुछ हद तक मुझे अपने लेखों को नरम करना पड़ता था, क्योंकि वे प्रकाशन की नीयत से लिखे जाते थे, और उस समय सेन्सर और दूसरे भांति-भांति के क़ानूनों का घातक जाल दूर तक फैला हुआ था। मैं कुछ खतरा उठाने के लिए अगर तैयार भी हो जाता, तो भी मुद्रक, प्रकाशक और सम्पादक तो ऐसा करने के लिए तैयार नहीं थे। वैसे तो सब अखबार मेरी खातिर रखते थे और बहुत-सी बातों में मेरे हक़ में रिआयत भी कर जाते थे। लेकिन हमेशा नहीं। कभी-कभी वक्तव्य और लेखांश रोक दिये जाते थे, और एक बार तो एक लम्बा लेख, जिसको मैंने बड़ी मेहनत से तैयार किया था, प्रकाशित ही न होने पाया। जनवरी १९३४ में, जब मैं कलकत्ते में था, एक प्रमुख दैनिक के सम्पादक मुझसे मिलने आये। उन्होंने मुझे बतलाया कि मेरा एक वक्तव्य कलकत्ते के तमाम समाचारपत्रों के सम्पादक-शिरोमणि के पास मशविरे के लिए भेज दिया गया था, और चूंकि इस सम्पादक-शिरोमणि ने उसे नामंजूर कर दिया, इसलिए वह प्रकाशित न हो सका। यह 'सम्पादक-शिरोमणि' और कोई नहीं थे सिवा कलकत्ते के सरकारी प्रेस-सेन्सर महोदय के।

अखबारों को दी गई कुछ मुलाक़ातों और वक्तव्यों में मैंने कई दलों और व्यक्तियों की बड़ी कड़ी आलोचना करने की धृष्ठता की थी। इससे लोग बहुत नाराज़ हुए। इस नाराज़ी का एक कारण था कांग्रेस की उलटकर जवाब न देने की वृत्ति— जिसके प्रसार में गांधीजी का भी हाथ था। खुद गांधीजी ने इसका उदाहरण प्रस्तुत किया था और प्रमुख कांग्रेसियों ने भी कुछ घट-बढ़ मात्रा में उनके मार्ग का अनुसरण किया, हालाँकि हमेशा ऐसा नहीं होता था। हम लोग अधिकतर अस्पष्ट और सद्भावनायुक्त वाक्यों का प्रयोग करते थे, जिससे हमारे आलोचकों को ग़लत तर्क और समय-साधक चालों को काम में लाने का मौक़ा मिल जाता था। असली प्रश्नों को दोनों दल बचा जाते थे, और ईमानदारी के साथ जब-तब जोश-खरोश के साथ ऐसा वाद-विवाद शायद ही कभी होता जिसमें सनातनी और जोश-खरोश की

नौबत आय, जैसाकि उन देशो को छोड़कर, जहाँकि फासिज्म का बोलबाला है, पश्चिम के दूसरे सब देशों में होता रहता है।

एक महिला मित्र ने, जिनकी राय की मैं कद्र करता था, मुझे लिखा कि मेरे कुछेक वक्तव्यों की तेज़ी पर उनको थोड़ा-सा आश्चर्य हुआ--इसलिए कि मैं क़रीब-क़रीब 'खिसियानी बिल्ली' बन गया था। क्या यह मेरी आशाओं पर 'पानी फिर जाने' का परिणाम था? मुझे भी ताज्जुब हुआ। कुछ हद तक यह सही भी था, क्योंकि राष्ट्रीयता की दृष्टि से हम सब टूटी हुई आशाओं को लिये बैठे है। व्यक्तिगतरूप से भी, कुछ हद तक, शायद यह बात ठीक रही हो। लेकिन फिर भी मुझे ऐसी किसी भावना का खयाल नहीं होता था, क्योंकि खुद मुझे किसी तरह की भी पराजय या असफलता महसूस नहीं हो रही थी। जबसे गांधीजी मेरे राजनैतिक मानसपटल पर आये, मैंने कम-से-कम एक बात उनसे सीखी। वह यह कि परिणामों के डर से अपने हृदयंगत भावों को कभी न दबाया जाय। इस आदत ने—राजनैतिक क्षेत्र मे पालन किये जाने पर (दूसरे क्षेत्रो में इसका पालन करना ज्यादा मुश्किल और ख़तरनाक हो जाना सम्भव है) —मुझे अक्सर कठिनाई में डाल दिया है, लेकिन साथ ही मुझे बहुत-कुछ संतोष भी प्रदान किया है। मैं समझता हूँ, केवल इसी कारण हममें से बहुत-से लोग हृदय की कटुता और घोर पराजय के भावों से बरी रहे है। यह खयाल भी, कि लोगों की एक बहुत बड़ी तादाद किसी व्यक्ति के प्रति प्रेम-भाव रखती है, उस व्यक्ति के हृदय को बहुत सांत्वना पहुँचाता है, और पस्तहिम्मती और पराजय की भावना के विष को दूर करनेवाली एक अमोघ औषधि का काम करता है। अकेला रह जाने या दूसरो से भुला दिये जाने का खयाल, मैं समझता हूँ, सब खयालों मे ज्यादा असह्य है।

लेकिन इतने पर भी, इस विचित्र और दुःखमय ससार मे मनुष्य पराजय की भावना से कैसे बच सकता है? कितनी ही बार हरेक बात बिगड़ती हुई मालूम होती है और, यद्यपि हम आगे बढ़ते जाते है फिर भी, जब हम अपने चारों ओर रहने-वाले लोगों को देखते है तो तरह-तरह की शंकायें आ घेरती है। मुझे भय है, कि मुख़्तलिफ़ घटनाओं और परिवर्त्तनो, यहाँतक कि व्यक्तियों और दलों पर भी मुझे बार-बार गुस्सा और खीझ हो आती है। और पिछले कुछ दिनो मे तो मैं ऐसे लोगो पर बहुत ज्यादा भिन्नाने लगा हूँ जो जीवन की समस्याओं पर संजीदगी से विचार नहीं करते, जिसके कारण वे महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को भूल जाते है और उनका ज़िक्र करना भी बेजा समझते है; क्योंकि इन प्रश्नों का असर उनके पैसों या उनकी चिरपोषित धारणाओं पर पड़ता है। लेकिन मैं समझता हूँ कि इस रोष, इस पराजय,

और इस खिसियाहट के बावजूद मैंने अपनी और दूसरों की बेवकूफ़ियों पर हँसने की अपनी सहज प्रवृत्ति को नहीं खोया है ।

परमात्मा की कृपालुता में लोगों की जो श्रद्धा है उसपर मुझे कभी-कभी आश्चर्य होता है । किस प्रकार यह श्रद्धा चोट-पर-चोट खाकर भी जीवित है और किस तरह घोर विपत्ति और कृपालुता का उलटा सबूत भी इस श्रद्धा की दृढ़ता की परीक्षायें मान ली जाती है । जेरार्ड हॉपकिन्स की ये सुन्दर पंक्तियाँ अनेक हृदयों में गूँजती है :—

"सचमुच तू न्यायी है स्वामी, यदि मैं करूँ विवाद;
किन्तु नाथ, मेरी भी है यह न्याय युक्त फ़रियाद ।
फलते और फूलते है क्यों पापी करकर पाप ?
मुझे निराशा देते है क्यों सभी प्रयत्न-कलाप ?
हे प्रिय बन्धु ! साथ तू मेरे करता यदि रिपु का व्यवहार—
तो इससे क्या अधिक पराजय औ' बाधा का करता वार ?
अरे, उठाईगीर वहाँ वे मद्य और विषयों के दास,
भोग रहे वे पड़े मौज मे है जीवन के विभव-विलास !
और, यहाँ मैं तेरी खातिर काट रहा हूँ जीवन नाथ !
हाँ, जो तेरे पथ पर स्वामी घोर निराशाओं के साथ ।"[१]

विश्वास—उन्नति मे, शुभकार्यों में, आदर्शों मे, मानवी सज्जनता मे और मानव भविष्य की उज्ज्वलता में । क्या ये सब परमात्मा की श्रद्धा के साथ मिलते-जुलते नही है ? यदि हम इनको बुद्धि और तर्क से साबित करना चाहे तो तुरन्त हम कठिनाई में पड़ जायँगे । पर हमारे अन्तस्तल में कोई ऐसी वस्तु है, जो इस आशा, इस विश्वास से चिपटी हुई है; अन्यथा इनके बिना जीवन एक जलाशय-हीन मरुस्थल के समान हो जाय ।

१. मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है :—

"Thou art indeed just, Lord, if I contend
With thee: but, sir, so what I plead is just.
Why do sinners' ways prosper? and why must
Disappointment all I endeavour end?
Wert thou my enemy, O thou my friend,
How wouldst thou worse, I wonder, than thou dost
Defeat, thwart me? Oh, the sots and thralls of lust
Do in spare hours more thrive than I that spend,
Sir, life upon thy cause...."

मेरे समाजवादी प्रचार के प्रभाव ने वर्किंग कमिटी के कुछ सहयोगियों तक को घबरा दिया। वे लोग बिना शिकायत किये मेरे साथ काम करते रहते, जैसा कि पिछले कई वर्षों में इस प्रकार का प्रचार करते रहने पर भी अभीतक वे करते रहे थे; लेकिन अब तो ऐसा ख़याल किया जाने लगा कि कुछ हद तक मैं स्थापित स्वार्थों को भड़का रहा हूँ, और मेरी गति-विधि अहानिकर नहीं कही जा सकती थी। मैं जानता था कि मेरे कुछ सहयोगी समाजवादी नहीं हैं, लेकिन मैं यह हमेशा ख़याल करता रहा कि काँग्रेस की कार्यकारिणी का सदस्य होने की हैसियत से मुझे, बिना काँग्रेस को जवाबदेह ठहराये, समाजवादी प्रचार करने की पूर्ण स्वतंत्रता है। जब मैंने यह महसूस किया कि वर्किंग कमिटी के कुछ सदस्य मेरी इस स्वतन्त्रता को स्वीकार नहीं करते, तो मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैं उनको एक विकट परिस्थिति में डाल रहा था और इसपर उन्होंने अपनी नाराज़गी ज़ाहिर की। लेकिन मैं करता भी तो क्या? जिस चीज़ को मैं अपने कार्य का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग समझता था उसे छोड़ देने के लिए मैं कभी तैयार नहीं था। अगर दोनों में झगड़ा होता तो मैं वर्किंग कमिटी से इस्तीफ़ा दे देना इससे कहीं बेहतर समझता। लेकिन जब कि कमिटी ग़ैरक़ानूनी थी, और उसका कोई अस्तित्व ही न था, तो मैं उससे इस्तीफ़ा कैसे देता?

यह कठिनाई कुछ दिन बाद एक बार फिर मेरे सामने आई। मेरा ख़याल है, यह दिसम्बर के अन्त की बात है, जब गांधीजी ने मद्रास से मुझे एक पत्र भेजा था। उन्होंने मेरे पास 'मद्रास मेल' का एक कटिंग भेजा, जिसमें उनकी दी हुई एक इंटरव्यू का वर्णन था। इंटरव्यू करनेवाले ने उनसे मेरे विषय में प्रश्न किये थे और उन्होंने जो उत्तर दिया था उसमें उन्होंने मेरे कार्य-कलापों पर कुछ खेद-सा प्रकट किया था और मेरे सुधर जाने की दृढ़ आशा प्रकट की थी; और यह भी कहा था कि मैं कांग्रेस को इन नवीन मार्गों में नहीं घसीटूँगा। अपने बारे में इस तरह का ज़िक्र मुझे कुछ अच्छा न लगा, लेकिन इससे ज्यादा जिस बात ने मुझे विचलित कर दिया वह थी—इसी इंटरव्यू में आगे दी हुई—जमींदारी-प्रथा के लिए गांधीजी की वकालत। उनका यह विचार मालूम होता था कि देहाती और राष्ट्रीय व्यवस्था का यह एक बहुत ज़रूरी अंग है। इसने मुझे बहुत हैरत में डाल दिया, क्योंकि बड़ी-बड़ी जमींदारियों या ताल्लुक़ेदारियों की वकालत करनेवाले आज बहुत कम मिलेंगे। सारे संसार में ये प्रथायें नष्ट हो चुकी हैं और हिन्दुस्तान में भी बहुत-से लोग इस बात को महसूस करने लगे हैं कि इनका अन्त दूर नहीं है। खुद ताल्लुकेदार और जमींदार लोग भी इस प्रथा के अन्त का स्वागत करेंगे, बशर्ते कि इसके लिए उनको काफ़ी मुआवज़ा मिल जाय।[१]

१. सर्व-बंगाल जमींदार कान्फरेन्स की स्वागत-कारिणी के सभापति श्री पी०

यह प्रथा तो दरअसल खुद ही अपने पापों के बोझ से डूबी जा रही है। लेकिन फिर भी गांधीजी इसके पक्ष में थे और ट्रस्टीशिप इत्यादि की बातें करते थे। मैंने फिर सोचा कि उनका दृष्टिकोण मेरे दृष्टिकोण से कितना भिन्न है, और मैं ताज्जुब करने लगा कि भविष्य में मैं कहाँतक उनके साथ सहयोग कर सकूँगा। क्या मैं वर्किंग कमिटी का सदस्य बना रहूँ ? उस समय इस उलझन से निकलने का कोई रास्ता ही न था, और कुछ हफ्तों बाद तो, मेरे जेल चले जाने के कारण, यह प्रश्न अप्रासंगिक ही हो गया।

घरेलू झगड़ों में मेरा बहुत-सा समय खर्च हो जाता था। मेरी मा का स्वास्थ्य सुधर तो रहा था, मगर बहुत धीरे-धीरे। वह अभीतक रोगशय्या पर पड़ी थी, पर उनके जीवन का कोई ख़तरा नही मालूम होता था। मैने अब अपना ध्यान अपने आर्थिक मामलों की ओर फेरा, जिनकी इधर बहुत दिनों से परवा नही की गई थी और जो बड़ी गड़बड़ में पड़ गये थे। हम लोग अपने बूते से ज्यादा खर्च कर रहे थे और खर्च कम करने की ज़ाहिरा तौर पर कोई तरकीब ही नज़र नही आती थी। मुझे घर का ख़र्च चलाने की तो कोई ख़ास फिक्र न थी। मै तो करीब-क़रीब उस वक्त के इन्तज़ार में था जब मेरे पास कुछ भी न बचता। वर्तमान संसार में धन और सम्पत्ति बड़ी उपयोगी चीजें है, लेकिन जिस मनुष्य का उद्देश बहुत ऊँचा हो उसके लिए तो ये अक्सर भार-रूप वन जाती है। धनवान आदमियो के लिए ऐसे कामों में हाथ डालना बहुत कठिन हो जाता है जिनमें कुछ ख़तरा हो; उनको सदा अपने धन-दौलत के चले जाने का भय रहता है। लेकिन धन-सम्पत्ति किस काम की, अगर सरकार अपनी मर्ज़ी के मुताबिक़ उसपर अधिकार कर सकती हो या उसे ज़ब्त कर सकती हो ? इसलिए जो थोड़ा-बहुत मेरे पास था उससे भी मै छुटकारा पाना चाहता था। हमारी आवश्यकतायें बहुत थोड़ी थी और मुझे ज़रूरत के मुताबिक कमा लेने की अपनी शक्ति में विश्वास था। मुझे सबसे बड़ी चिन्ता यह थी कि मेरी माताजी को उनके जीवन की इस साध्यवेला में तकलीफ़ न उठानी पड़े या उनके रहन-सहन के

---

**एन० टेगोर ने, २३ दिसम्बर १६३४ को, अपने भाषण में कहा था—"ज़ाती तौर पर मुझे उस दिन कोई अफसोस न होगा जिस दिन ज़मींदारों को पर्याप्त मुआवज़ा देकर उनकी ज़मीन का राष्ट्रीयकरण हो जायगा, जैसा कि आयर्लैण्ड में किया गया है।" यह बात याद रखने की है कि दायमी-बन्दोबस्त** (Permanent Settlement) **के मातहत होने के कारण बंगाल के ज़मींदार अस्थायी बन्दोबस्तवाली ज़मीनों के ज़मींदारों से ज्यादा आसूदा हैं। राष्ट्रीयकरण के बारे में श्री टेगोर के विचार अस्पष्ट मालूम होते हैं।**

ढंग में कोई ख़ास कमी न आने पावे। मुझे यह भी फ़िक्र थी कि मेरी लड़की की शिक्षा में कोई बाधा न पड़े, जिसके लिए मैं उसका योरप में रहना आवश्यक समझता था। इन सबके अलावा मुझे या मेरी पत्नी को रुपये की कोई ख़ास ज़रूरत नहीं थी। कम-से-कम हमारा ख़याल ऐसा ही था, क्योंकि हमें कभी रुपये की सच्ची कमी का तजुर्बा नहीं हुआ था। मुझे यकीन है कि अगर कभी ऐसा समय आया जबकि हमें रुपये की कमी महसूस करनी पड़ी तो मुझे निश्चय है कि हमें दुःख ही होगा। एक खर्चीली आदत जिसका छोड़ना मेरे लिए मुश्किल होगा, वह है किताबें ख़रीदना।

उस वक्त की बिगड़ी हुई आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए हमने यह निश्चय किया कि मेरी पत्नी के जेवर, हमारी सोने-चाँदी की चीज़ें और छोटा-मोटा गाड़ियों सामान बेच दिया जाय। कमला को अपने ज़ेवर बेचने का ख़याल पसन्द नहीं आया, हालाँकि करीब १२ साल से उसने उन्हें नहीं पहना था और वे बैंक में पड़े हुए थे। लेकिन वह किसी दिन उनको अपनी लड़की को देने का विचार करती थी।

१९३४ का जनवरी महीना था। इलाहाबाद ज़िले के गाँवों में हमारे कार्य कर्त्ता कोई ग़ैर कानूनी कार्रवाइयाँ नहीं कर रहे थे, फिर भी उनकी लगातार गिरफ्तारियाँ हो रही थीं। इन गिरफ्तारियों का तक़ाजा था कि हम लोग उनका अनुकरण करें और उन गाँवों में जायँ। युक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमिटी के हमारे महान् प्रभाव-शाली मंत्री रफ़ीअहमद किदवाई भी गिरफ्तार हो चुके थे। २६ जनवरी का स्वतंत्रता-दिवस नज़दीक आ रहा था। उसे दरगुज़र नहीं किया जा सकता था। १९३० से यह दिवस हर साल, देश के कोने-कोने में, आर्डिनेंसों और पाबन्दियों के बावजूद, नियमित रूप से मनाया जाता रहा था। लेकिन अब इसका अगुआ कौन बनता? किस तरह से इसे आगे बढ़ाया जाता? मेरे सिवा आल इंडिया कांग्रेस कमिटी के किसी पदाधिकारी का सिद्धान्त-रूप में कोई भी अस्तित्व न था। मैंने कुछ मित्रों से सलाह की तो करीब-करीब सब इस बात पर सहमत हुए कि कुछ करना चाहिए; लेकिन यह 'कुछ' क्या होना चाहिए, इसपर कोई राय क़ायम न हो सकी। मुझे आम तौर पर लोगों में ऐसे कामों से दूर रहने की प्रवृत्ति नज़र आई कि जिनके फलस्वरूप बहुत-से लोग पकड़े जा सकते थे। आख़िरकार मैंने स्वतंत्रता-दिवस को उचित प्रकार से मनाने की एक छोटी सी अपील निकाली, पर उसे मनाने का ढंग हर जगह के स्थानीय लोगों के निश्चय पर छोड़ दिया। इलाहाबाद में हमने सारे ज़िले में काफ़ी विस्तार के साथ मनाने की योजना तैयार की।

हमारा ख़याल था कि इस स्वतंत्रता-दिवस के संयोजक उसी दिन गिरफ्तार हो जायँगे। लेकिन मैं दुबारा जेल जाने से पहले बंगाल का एक दौरा करना चाहता था।

इसका कुछ-कुछ उद्देश्य तो पुराने साथियों से मिलना था, पर असल में यह बंगालियों के प्रति, उनकी गत वर्षों की असाधारण मुसीबतों के लिए, श्रद्धाञ्जलि थी। मैं भलीभांति जानता था कि मैं उनकी कुछ भी सहायता नहीं कर सकता था। सहानुभूति और भाईचारा किसी मर्ज की दवा नहीं थे, मगर फिर भी इनका स्वागत ही किया गया होता—और खासकर बंगाल तो उस समय एक जुदापन-सा महसूस कर रहा था और इस बात से दुःखी हो रहा था कि ज़रूरत के वक्त बाकी हिन्दुस्तान ने उसे छोड़ दिया। यह भावना न्यायोचित तो नहीं थी, पर फिर भी यह थी।

मुझे कमला के साथ कलकत्ता इसलिए भी जाना था कि अपने डाक्टरों से उसकी बीमारी के बारे में सलाह लूँ। उसका स्वास्थ्य बहुत गिर गया था, पर हम दोनों ने कुछ हदतक इसे दरगुजर करने की और ऐसे इलाज को टालने की कोशिश की, जिसके कारण हमको कलकत्ते में या किसी और जगह बहुत दिनों तक ठहरना पड़ता। जेल से मेरे बाहर रहने के थोड़े समय में हम दोनों यथासंभव एकसाथ ही रहना चाहते थे। मैंने सोचा कि जब मैं जेल चला जाऊंगा तो इसको डाक्टरों और इलाज के लिए चाहे जितना समय मिल जायगा। अब चूँकि गिरफ्तारी नजदीक नज़र आ रही थी, इसलिए मैंने इरादा किया कि यह सलाह-मशविरा कलकत्ते में कम-से-कम मेरी मौजूदगी में हो जाय, बाक़ी बातें तो बाद में भी तय की जा सकती थीं।

इसलिए हम दोनों ने—कमला ने और मैंने -१५ जनवरी को कलकत्ते जाने का निश्चय कर लिया। स्वतंत्रता-दिवस की सभाओं से हम पहले ही लौट आना चाहते थे।

# ५८

## भूकम्प

१५ जनवरी १९३४ का तीसरा पहर था। इलाहाबाद में अपने मकान के बरामदे में खड़ा किसानों के एक गिरोह को मैं कुछ बातें बतला रहा था। माघ मेला आरम्भ हो गया था और सारे दिन हमारे यहाँ मिलने-जुलनेवालों का ताँता लगा रहता था। यकायक मेरे पैर लड़खड़ाने लगे और सम्हलना मुश्किल हो गया। मैंने पास के एक खम्भे का सहारा ले लिया। दरवाज़ों के किवाड़ भड़भड़ाने लगे और बराबर के स्वराज-भवन से, जिसके खपरे छत से नीचे खिसक रहे थे, एक गड़गड़ाहट की आवाज आने लगी। मुझे भूकम्पों का कुछ अनुभव नहीं था। इसलिए पहले तो मैं यह न समझ सका कि क्या हो रहा है, लेकिन मैंने जल्दी ही महसूस कर लिया। इस अनोखे अनुभव से मुझे कुछ विनोद और दिलचस्पी हुई। मैंने किसानों से बातचीत जारी रक्खी और उन्हें भूचालों के बारे में बतलाने लगा। मेरी बूढ़ी चाची ने कुछ दूर से चिल्लाकर मुझसे मकान के बाहर दौड़ आने के लिए कहा। यह विचार मुझे बिलकुल बेहूदा मालूम हुआ। मैंने भूकम्प को कोई गंभीर बात नहीं समझा, और कुछ भी हो, मैं ऊपर की मंजिल में अपनी माता को खाट पर पड़ी हुई, और वहीं अपनी पत्नी को, जो शायद सामान बाँध रही थी, छोड़ जाने और अपनी रक्षा का इन्तज़ाम करने के लिए कभी तैयार न था। ऐसा अनुभव हुआ कि भूचाल के धक्के काफ़ी देर तक जारी रहे और बाद में बन्द हो गये। उन्होंने चन्द मिनटों की बात-चीत के लिए मसाला पैदा कर दिया और लोग उन्हें जल्दी ही क़रीब-क़रीब भूल-से गये। उस वक्त हम नहीं जानते थे, और न इसका अन्दाज ही कर सकते थे, कि ये दो-तीन मिनट बिहार और अन्य स्थानों के लाखों आदमियों के लिए कितने घातक साबित हुए होंगे।

उसी शाम को कमला और मैं कलकत्ते के लिए रवाना हो गये और हम, बिलकुल बेखबर, अपनी गाड़ी में बैठे हुए उसी रात को भूकम्प-प्रदेश के दक्षिण हिस्से में होकर गुज़रे। अगले दिन भी कलकत्ते में भूकम्प-जनित घोर अनर्थ के बारे में कोई खबर नहीं थी। दूसरे दिन इधर-उधर से समाचार आने शुरू हुए। तीसरे दिन हमको इस वज्रपात का कुछ-कुछ आभास मिलने लगा।

हम अपने कलकत्ते के प्रोग्राम में लग गये। अनेक डाक्टरों से बारबार मिलना पड़ा और अन्त में यह निश्चित हुआ कि एक-दो महीने बाद कमला फिर कलकत्ते

आकर इलाज कराये। इसके अलावा बहुत-से मित्र और सहयोगी भी थे जिनसे हम बहुत अर्से से नहीं मिले थे। चारों तरफ दमन के कारण लोगों के दिलों में जो डर बैठ गया था उसका, जबतक मैं वहां रहा, मुझे काफी अनुभव हुआ। लोग किसी तरह का भी काम करने से डरते थे, कि कहीं उनपर आफत न आ जाय; वे बहुत आफतें झेल चुके थे। अख़बार भी, वहाँ के, अन्य प्रान्तो के अखबारो से अधिक फूक-फूककर पैर रखते थे। भविष्य के कार्य के विषय में भी वैसी ही शंका और उलझनें थी, जैसी हिन्दुस्तान के अन्य भागों में। वास्तव में यह शंका ही थी, भय उतना नही, जो सब प्रकार के प्रभावोत्पादक राजनैतिक कार्यों में बाधा डाल रही थी। फासिस्ट प्रवृत्तियाँ बहुत ज़ोरों से उदय हो रही थी, और सोशलिस्ट और कम्यूनिस्ट प्रवृत्तियाँ कुछ-कुछ ऐसे अस्पप्ट रूप में और आपस मे इतनी घुली-मिली-सी सामने आ रही थी कि इन गिरोहों में भेद-निर्णय करना कठिन था। आतंकवादी आन्दोलन के बारे में, जिसपर सरकारी हलकों का बहुत ज्यादा ध्यान खिंचा हुआ था और जिसके सम्बन्ध में उसकी ओर से खूब विज्ञापन किया जा रहा था, ज्यादा पता लगाने की न तो मुझे फुरसत थी और न कोई मौक़ा ही। जहांतक मुझे मालूम हुआ, इसमें कोई राजनैतिक महत्ता नहीं रह गई थी और न आतंकवादी दल के पुराने सदस्यों की इसमें कुछ श्रद्धा थी। उनकी विचार-धारा ही बदल गई थी। सरकारी कार्रवाई के विरुद्ध उत्पन्न रोष ने कुछ इक्के-दुक्के व्यक्तियों का संयम छुड़ा दिया था और उससे बदला लेने के लिए उकसा दिया था। दरअसल दोनों तरफ़ बदला लेने का यह भाव बहुत प्रबल मालूम होता था। व्यक्तिगत आतंकवादियों की तरफ़ से तो यह काफ़ी स्पष्ट था। सरकार की तरफ़ से भी यही रुख़ ज्यादातर प्रकट हो रहा था कि कभी-कभी, बदला ले-लेकर, लड़ाई जारी रक्खी जाय; बजाय इसके कि शान्ति के साथ समाज के लिए एक अनिष्टकर घटना का मुक़ाबिला करके उसे रोका जाय। आतंकवादी कार्यों से साबक़ा पड़ने पर कोई भी सरकार उनका मुक़ाबिला किये बिना और उनको दबाने की कोशिश किये बिना नही रह सकती। लेकिन शान्ति और गंभीरता के साथ नियंत्रण करना सरकार के लिए अधिक गौरव की बात है, बनिस्बत ऐसे अतिरंजित अनाचारों के जो अपराधियों और निरपराधों पर अन्धाधुन्धी से किये जायँ—ख़ासकर निरपराधों पर, क्योंकि इनकी संख्या ज़रूर ही बहुत ज्यादा होती है। शायद ऐसे ख़तरे के समय में गंभीर और धीर रहना आसान नहीं है। आतंकवादी घटनायें बहुत कम होती जा रही थीं, लेकिन उनकी सम्भावना सदा बनी रहती थी; और यह बात उन लोगों के धैर्य्य को डावांडोल करने के लिए काफ़ी थी जिनपर व्यवस्था का भार था। यह बिलकुल स्पष्ट है कि ये घटनायें खुद कोई बीमारी नहीं है, बल्कि बीमारी का एक लक्षण

है। जो रोग है उसका इलाज न करके लक्षणों का उपचार करना बिलकुल बेकार है।

मेरा विश्वास है कि बहुत-से नवयुवक और नवयुवतियां, जिनका आतंकवादियों से सम्बन्ध माना जाता है, दरअसल गुप्त कार्य की मोहकता से आकर्षित हो जाते हैं। साहसी नवयुवकों का गुप्तमंत्रणा और खतरे की तरफ़ हमेशा झुकाव हो जाता है; उनकी इच्छा जानकार बनने की रहती है, वे पता लगाना चाहते हैं कि यह सब हल्ला-गुल्ला किसलिए है और इन मामलों की तह में कौन-कौन लोग हैं। दुनिया में कुछ अद्भुत और साहसपूर्ण कार्य कर दिखाने की महत्त्वाकांक्षा का यह तकाज़ा है। इन लोगों की कुछ करने-धरने की इच्छा नहीं होती---आतंकवादी कार्य करने की तो किसी हालत में भी नहीं;---लेकिन इनका उन लोगों से, जिनपर पुलिस की सन्देह-दृष्टि है, सिर्फ़ मिलना-जुलना ही इनको भी पुलिस का सन्देह-भाजन बना देने के लिए काफ़ी होता है। अगर इनकी क़िस्मत में कुछ ज्यादा बुराई न लिखी हो तो भी इस बात की तो सम्भावना रहती ही है कि ये लोग बहुत जल्दी नजरबन्दों की जमात में या नज़रबन्दों की किसी जेल में धर दिये जायं।

न्याय और व्यवस्था भारत में ब्रिटिश-राज्य की गौरव-पूर्ण सफलताओं मे गिने जाते हैं। मैं खुद भी सहज-स्वभाव से उनका समर्थक हूँ। मुझे जीवन में अनुशासन पसंद है और अराजकता, अशान्ति और ढीला-ढालापन नापसंद। लेकिन कटु अनुभव ने ऐसे न्याय और व्यवस्था की उपयोगिता के विषय में मेरे हृदय में शंका पैदा करदी है जिनको राज्य और सरकारें किसी राष्ट्र पर ज़बरन लाद देती है। कभी कभी उनके लिए आवश्यकता से अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है, और न्याय तो केवल प्रबल राजनैतिक दल की इच्छा होती है और व्यवस्था एक सर्वव्यापी आतंक का प्रतिबिम्ब। कभी-कभी तो, जो चीज़ न्याय और व्यवस्था कही जाती है, दरअसल, उसे न्याय और व्यवस्था का अभाव कहना अधिक उपयुक्त मालूम होता है। कोई सफलता, जो चारों ओर छाये हुए आतंक पर निर्भर रहती है, कभी वाञ्छनीय नहीं हो सकती, और ऐसी 'व्यवस्था' जिसका आधार राज्य का बल-प्रयोग हो और जो इसके बिना जीवित ही न रह सके, अधिकतर फ़ौजी शासन के समान है, क़ानूनी शासन नहीं। कल्हण कवि के हज़ार वर्ष पुराने 'राजतरंगिणी' नामक कश्मीर के ऐतिहासिक महाकाव्य में न्याय और व्यवस्था के लिए जो शब्द बारबार प्रयुक्त हुए हैं और जिनकी स्थापना शासक और राज्य का कर्त्तव्य था, वे हैं 'धर्म' और 'अभय'। न्याय सिर्फ़ क़ानून से कुछ बेहतर चीज थी और व्यवस्था लोगों की निर्भयता थी। निर्भयता सिखलाने की यह भावना सशंकित जनता को ज़बरन व्यवस्था का पाठ पढ़ाने से कितनी अधिक वाञ्छनीय है!

हम साढ़े तीन दिन कलकत्ता ठहरे और इस अर्से में मैंने तीन सार्वजनिक सभाओं में भाषण दिये। जैसा कि मैंने पहले कलकत्ते में किया था, मैंने (इस बार भी) आतंकवादी कार्यों की निन्दा की और उनकी हानियाँ बतलाई, और इसके बाद मैं उन तरीकों पर भी बोला जो सरकार ने बंगाल में अख्त्यार किये थे। मैं काफी जोश के साथ बोला, क्योंकि इस प्रान्त की घटनाओं के विवरणों से मैं बहुत अधीर हो गया था। जिस बात ने मुझे सबसे अधिक चोट पहुँचाई वह था वह तरीक़ा जिसके ज़रिये सारी जनता का अन्धाधुन्ध दमन कर मानव-सम्मान पर बलात्कार किया गया था। इस मानवता के प्रश्न के आगे राजनैतिक प्रश्न ने, अत्यन्त आवश्यक होते हुए भी, गौण स्थान प्राप्त कर लिया था। बाद में, कलकत्ते में मुझपर जो मुकदमा चला उसमें मेरे यही तीनों भाषण मेरे विरुद्ध तीन आरोप बनाये गये और मेरी यह पिछली सज़ा इन्हींका परिणाम है।

कलकत्ता से हम कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर से भेंट करने के लिए शान्ति-निकेतन पहुँचे। कवि से मिलना हमेशा आनन्ददायक था। इतने नज़दीक आकर हम उनसे बिना मिले कैसे जा सकते थे? मैं तो पहले दो बार शान्ति-निकेतन हो आया था, लेकिन कमला का यह पहली बार आना था, और वह इस स्थान को देखने के लिए ख़ास तौर पर आई थी, क्योंकि हम अपनी लड़की को वहाँ भेजना चाहते थे। इन्दिरा कुछ ही दिनों बाद मैट्रिक्युलेशन की परीक्षा देनेवाली थी और उसकी आगे की शिक्षा का प्रश्न हमें परेशान कर रहा था। मैं इसके बिलकुल ख़िलाफ था कि वह सरकारी या नीम-सरकारी यूनिवर्सिटियों में दाखिल हो, क्योंकि मैं उन्हें नापसन्द करता था। इनके चारों ओर का वातावरण सरकारी, गलाघोंटू और हुकूमतपरस्ती का होता है। बेशक, इनमें से पहले भी ऊँचे दर्जे के पुरुष और स्त्रियाँ निकली हैं और आगे भी निकलते रहेंगे। पर ये थोड़े-से अपवाद यूनिवर्सिटियों को, नौजवानों की उदात्त प्रवृत्तियों को दबाने और मृतप्राय बनाने के आरोप से नहीं बचा सकते। शान्ति-निकेतन ही एक ऐसी जगह थी जहाँ इस घातक वातावरण से बचा जा सकता था। इसलिए हमने वहीं उसे भेजने का निश्चय किया, हालांकि कुछ बातों में वह अन्य यूनिवर्सिटियों की मानिन्द बिलकुल अप-टू डेट और सब तरह के सामानों से पूर्ण नहीं थी।

लौटते हुए, हम राजेन्द्र बाबू के साथ भूकम्प-पीड़ितों की सहायता के प्रश्न पर विचार करने के लिए पटना ठहरे। जेल से छूटकर वह अभी आये ही थे और लाज़िमी तौर पर उन्होंने पीड़ितों की सहायता के ग़ैर-सरकारी काम में सबसे आगे क़दम रक्खा। हमारा वहाँ पहुँचना बिलकुल अकस्मात् ही हुआ, क्योंकि हमारा कोई भी तार

उन्हें नहीं मिला था। कमला के भाई के जिस मकान में हम ठहरना चाहते थे वह टूटा-फूटा पड़ा था; पहले वह ईंटों की एक बड़ी भारी दुमंजिला इमारत थी। इसलिए और बहुत-से लोगों की तरह हम भी खुले में ही ठहरे।

दूसरे दिन मैं मुजफ्फरपुर गया। भूकम्प हुए पूरे सात दिन हो चुके थे, पर अभीतक, सिवाय कुछ बड़े रास्तों के, कहीं भी मलवा उठाने के लिए कुछ भी नहीं किया गया था। इन रास्तों को साफ करने वक्त बहुत-सी लाशें निकली थी। इनमें कुछ तो विचित्र भाव-प्रदर्शक अवस्थाओं में थी, जैसे किसी गिरती हुई दीवार या छत से बचने की कोशिश कर रही हों। इमारतों के खंडहरों का दृश्य बड़ा मार्मिक और रोमांचकारी था। जो लोग बच गये थे, वे अपने दिल दहलानेवाले अनुभवों के कारण बिलकुल घबराये हुए और भयभीत हो रहे थे।

इलाहाबाद लौटते ही धन और सामान इकट्ठा करने के काम का फ़ौरन प्रबन्ध किया गया और सब लोग, जो काँग्रेस में थे वे भी और जो नही थे वे भी, मुस्तैदी के साथ इसमें जुट गये। मेरे कुछ सहयोगियों की यह राय हुई कि भूकम्प के कारण स्वतन्त्रता-दिवस के जलसे रोक दिये जायँ। लेकिन दूसरे साथियों को, और मुझे भी, कोई कारण नही नज़र आता था कि भूकंप से भी हमारे प्रोग्राम में क्यों ख़लल पड़े? बहुत-से लोगों का ख़याल था कि शायद पुलिस दस्तन्दाज़ी और गिरफ्तारियाँ कर बैठे और उसकी तरफ़ से कुछ मामूली दस्तन्दाज़ी हुई भी। मगर मीटिंग कर चुकने के बाद जब हम लोग बच गये तो हमें बहुत ताज्जुब हुआ। हमारे यहाँ के कुछ गाँवों में और कुछ दूसरे शहरों में गिरफ्तारियाँ की गई।

बिहार से लौटने के कुछ ही दिन बाद मैंने भूकम्प के सम्बन्ध में एक वक्तव्य निकाला, जिसके अन्त में धन के लिए अपील की गई थी। इस वक्तव्य में मैंने बिहार-सरकार की उस अकर्मण्यता की आलोचना की, जो भूकम्प के बाद शुरू के कुछ दिनों तक उसने बताई थी। मेरा इरादा भूकम्प-ग्रसित इलाकों के अफसरों की आलोचना करने का नहीं था, क्योंकि उनको तो एक ऐसी महाकठिन परिस्थिति का सामना करना पड़ा था जिससे बड़े-से-बड़े दिलेरों के भी दिल हिल जाते। और मुझे इसका अफ़सोस हुआ कि मेरे कुछ शब्दों से ऐसा आशय निकाला जा सकता था। लेकिन मैंने यह तो ज़रूर बड़े ज़ोरों से महसूस किया कि शुरू में बिहार-सरकार के प्रमुख अधिकारियोंने कुछ ज्यादा कारगुज़ारी नही दिखलाई, ख़ासकर मलबा हटाने में, जिससे बहुत-सी जानें बच जातीं। ख़ाली मुंगेर शहर में ही हज़ारों की जानें गई, और तीन हफ्ते बाद भी मैंने देखा कि मलबे का पहाड़-का-पहाड़ ज्यों-का-त्यों पड़ा था, हालांकि कुछ ही मील दूर जमालपुर में हज़ारों रेलवे-कर्मचारी बसे हुए थे, जिनको भूकम्प

के पीछे कुछ ही घण्टों में इस काम में लगाया जा सकता था। भूकम्प के बारह दिन बाद तक भी जिन्दा आदमी खोदकर निकाले गये थे। सरकार ने सम्पत्ति की रक्षा का तो फौरन इन्तजाम कर दिया था, लेकिन जो लोग दब गये थे उनकी जान बचाने में उसने तत्परता नही दिखाई। इन इलाकों में म्यूनिसिपैलिटियां तो रही ही नही थी।

मैं समझता हूँ कि मेरी आलोचना न्यायोचित थी और बाद मे मुझे पता लगा कि भूकम्प-ग्रसित इलाकों के ज्यादातर लोग मुझसे सहमत थे। लेकिन न्यायोचित हो या न हो, वह सच्चे हृदय से की गई थी, और सरकार पर दोषारोपण करने की नीयत से नहीं बल्कि उसको तेजी से काम करने के लिए प्रेरित करने की नीयत से की गई थी। इस बारे में किसीने भी सरकार पर यह दोष नही लगाया कि उसने जान-बूझकर कोई ग़लत कार्रवाई की या कोई कार्रवाई करने मे आनाकानी की। यह तो एक अजीब और पस्तहिम्मत कर देनेवाली परिस्थिति थी और इसमें होनेवाली भूले क्षम्य थी। जहाँतक मुझे मालूम है (क्योंकि मैं जेल में हूँ), बिहार सरकार ने बाद में भूकम्प से हुई क्षति को पूरा करने के लिए बड़ी तेज़ी और मुस्तैदी से काम किया।

लेकिन मेरी आलोचना से लोग नाराज़ हुए, और तुरन्त कुछ ही दिनों बाद बिहार के कुछ लोगों ने मेरी आलोचना के तुर्की-ब-तुर्की जवाब के तौर पर सरकार की प्रशंसा करते हुए एक वक्तव्य प्रकाशित किया। भूकम्प और उससे सम्बन्ध रखनेवाले सरकारी कर्त्तव्य क़रीब-करीब दूसरे दर्जे की बात बना दी गई। यह बात ज्यादा महत्त्वपूर्ण थी कि सरकार की आलोचना की गई है, इसलिए राजभक्त रिआया को उसके पक्ष का समर्थन करना ही चाहिए।

हिन्दुस्तान में फैले हुए उस रवैये का यह एक मजेदार नमूना था जो सरकार की आलोचना को—पश्चिमी देशों मे जो एक बहुत मामूली चीज समझी जाती है—पसन्द नहीं करता। यह फ़ौजी मनोवृत्ति है जो आलोचना को सहन नहीं कर सकती। सम्राट् की तरह भारत की ब्रिटिश सरकार और उसके ऊँचे हाकिम-हुक्काम, कोई ग़लती नहीं कर सकते। ऐसी किसी बात का इशारा भी करना घोर राज-द्रोह है।

इसमें विचित्रता यह है कि शासन में असफलता और अयोग्यता का आरोप बहुत ज्यादा बुरा ख़याल किया जाता है, बनिस्बत कठोर शासन या निर्दयता का दोष लगाने के। निर्दयता का दोष लगानेवाला, बहुत मुमकिन है, जेल में डाल दिया जाय, मगर सरकार इसकी आदी हो गई है और असल में इसकी परवा भी नहीं करती।

आखिर, एक तरह से, प्रभुता-प्राप्त जाति के लिए यह क़रीब-क़रीब एक वाहवाही की बात समझी जा सकती है। लेकिन नालायक और कमज़ोर कहा जाना उनके आत्म-सम्मान की जड़ पर कुठाराघात करता है; इससे हिन्दुस्तान के अंग्रेज़ हाकिमों की अपने-आपको उद्धारक समझने की धारणा पर प्रहार होता है। ये लोग उस अंग्रेज़ पादरी की तरह हैं जो ईसाई-धर्म के विरुद्ध आचरण के आरोप को तो चुपचाप बरदाश्त करने के लिए तैयार था लेकिन अगर उसे कोई बेवक़ूफ़ या नालायक कहे तो वह गुस्सा होकर मारने को दौड़ता था।

अंग्रेज़ लोगों में एक आम विश्वास फैला हुआ है, जो अक्सर इस तरह बयान किया जाता है मानों कोई अकाट्य सिद्धान्त हो, कि अगर हिन्दुस्तान के शासन में कोई ऐसी तबदीली हो जाय जिससे ब्रिटिश-प्रभाव कम हो जाय या निकल जाय, तो यहाँ का शासन और भी ज्यादा खराब और निकम्मा हो जायगा। इस विश्वास को रखते हुए भी, लेकिन अपने जोश में उदारता का भाव रखनेवाले, उग्रमतवादी और उन्नतिशील विचारोंवाले अंग्रेज यह कहते हैं कि सु-राज स्व-राज का स्थानापन्न नहीं हो सकता, और अगर हिन्दुस्तानी लोग गड्ढे में गिरना ही चाहते हैं तो उनको गिरने दिया जाय। मैं नहीं जानता कि ब्रिटिश-प्रभाव के निकल जाने पर हिन्दुस्तान की क्या हालत होगी। यह बात इसपर बहुत कुछ निर्भर है कि अंग्रेज़ लोग किस तरह से निकलकर जायँ और उस समय भारत में किसका अधिकार हो; इसके अलावा, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कई विचारणीय बातें और भी हैं।

हाँ, अंग्रेज़ों की सहायता से स्थापित ऐसी अवस्था की भी मैं अच्छी तरह कल्पना कर सकता हूँ जो वर्तमान में सम्भव होनेवाली किसी हालत से कहीं बदतर और ज्यादा निकम्मी होगी, क्योंकि उसमें मौजूदा प्रणाली के दोष तो सब होंगे और गुण एक भी नहीं। इससे भी ज्यादा आसानी से मैं उस दूसरी अवस्था की कल्पना कर सकता हूँ जो, भारतवासियों के दृष्टिकोण से, किसी भी ऐसी अवस्था से अधिक योग्य और लाभकारी होगी जिसकी हमें आज मिलने की सम्भावना हो सकती है। यह मुमकिन है कि राज्य की बल-प्रयोग करने की शक्ति इतनी कारआमद न हो और शासन-विधान इतना भड़कदार न हो, लेकिन पैदावार, खपत और जनता के शारीरिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक आदर्श को ऊँचा उठानेवाले कार्य अधिक योग्यता से होंगे। मेरा विश्वास है कि स्वराज किसी भी देश के लिए लाभकारी है। लेकिन मैं स्वराज तक को वास्तविक सु-राज देकर लेने के लिए तैयार नहीं हूँ। स्वराज अपने-आपको न्यायोचित तभी कह सकता है जब उसका ध्येय वास्तव में जनता के लिए सु-राज हो। चूंकि मेरा विश्वास है कि भारत में ब्रिटिश सरकार,

भूतकाल में उसका दावा चाहे जो कुछ रहा हो, आज जनता के लिए सु-राज या उन्नत आदर्श प्रदान करने के बिलकुल अयोग्य है, इसलिए मैं महसूस करता हूँ कि भारत में उसकी उपयोगिता जो कुछ भी थी वह नष्ट हो चुकी है। भारत की स्वतंत्रता का सच्चा औचित्य इसीमें है कि उसे सु-राज मिले, उसकी जनता की स्थिति ऊँची हो, उसकी औद्योगिक और सांस्कृतिक प्रगति हो और भय और दमन का वह वातावरण दूर हो जाय जो विदेशी साम्राज्यवादी शासन का अनिवार्य परिणाम होता है। ब्रिटिश सरकार और इंडियन सिविल सर्विस भारत में मनमानी करने की ताक़त भले ही रखते हों, पर वे भारत के तात्कालिक प्रश्नों को हल करने के बिलकुल अयोग्य और निकम्मे हैं। भविष्य के प्रश्नों के लिए तो और भी कम। क्योंकि इनके मूल सिद्धान्त और धारणायें बिलकुल ग़लत हैं और वास्तविकता से उनका सम्बन्ध टूट चुका है। कोई सरकार या शासक-वर्ग जो पूर्णतया योग्य नहीं है या जो पतनशील व्यवस्था का प्रतिनिधि है, ज्यादा दिनोंतक मनमानी नहीं कर सकता।

इलाहाबाद की भूकम्प-सहायता कमिटी ने मुझे भूकम्प-पीड़ित इलाकों में जाने के लिए और वहाँ भूकम्प-पीड़ितों की सहायता के लिए जो ढंग अख्त्यार किया गया था उसकी रिपोर्ट देने के लिए नियुक्त किया। मैं फौरन अकेला ही चल पड़ा और दस दिन तक उन फटे हुए और नष्ट-भ्रष्ट इलाकों में घूमा।

इस दौरे में बड़ा श्रम करना पड़ा और इन दिनों मुझे सोने को बहुत कम मिला। सुबह के पाँच बजे से लगभग आधी रात तक हम लोग चलते ही रहते थे--कभी दरारोंवाली टूटी-फूटी सड़कों पर मोटर में जा रहे हैं, तो कभी छोटी-छोटी डोंगियों के द्वारा ऐसे स्थानों में उतर रहे हैं जहाँ पुल गिर पड़े थे या जहाँ ज़मीन की सतह में फ़र्क़ आने से सड़कें पानी में डूब गई थीं। शहरों में ढेर-के-ढेर खंडहरों और टूटी हुई, या मानों किसी देव के द्वारा मरोड़ी हुई, या दोनों ओर के मकानों की कुर्सी से ऊपर उठी हुई, सड़कों का दृश्य बड़ा हृदय-स्पर्शी था। इन सड़कों की बड़ी-बड़ी दरारों में से पानी और बालू-रेत ने फूट फूटकर मनुष्यों और जानवरों को बहा दिया था। इन शहरों से भी ज्यादा उत्तर बिहार के मैदानों पर--जिनको विहार का बाग़ कहा जाता था---उजाड़ और विनाश की छाप लगी हुई थी। मीलों तक फैली हुई बालू-रेत, पानी के बड़े-बड़े तालाब और विशालकाय दरारें और असंख्य छोटे-छोटे ज्वालामुखी के-से मुंह थे जिनमें से यह बालू-रेत और पानी निकले थे। इस इलाक़े के ऊपर हवाई जहाज़ में बैठकर उड़नेवाले कुछ अंग्रेज़ अफ़सरों ने कहा था, कि यह कुछ-कुछ लड़ाई के ज़माने के और उसके कुछ बाद के उत्तरी फ्रान्स के युद्ध-क्षेत्र से मिलता-जुलता था।

यह एक बड़ा भयानक अनुभव हुआ होगा। भूकम्प ज़ोरदार, इधर-उधर दोनों ओर की गति से, शुरू हुआ, जिससे खड़े हुए मनुष्य गिर पड़े। इसके बाद ऊपर-नीचे की गतियाँ हुईं और एक ऐसी गड़गड़ाहट करती और गूँजती हुई भयंकर आवाज़ हुई जैसे तोपें चल रही हों या आकाश में सैकड़ों हवाई जहाज उड़ रहे हों। अगणित स्थानों पर बड़ी-बड़ी दरारों और गड्ढों में से पानी फूट निकला और उसकी धारें दस-बारह फुट तक ऊँची उछलीं। यह सब शायद तीन या चार मिनट रहा होगा, मगर ये तीन मिनट ही महाभयंकर थे। जिन लोगों ने इन घटनाओं को होते हुए देखा, आश्चर्य नहीं यदि उन्हें यह कल्पना हुई हो कि दुनिया का अन्त आ गया। शहरों में मकानों के गिरने का शोर था, पानी बड़ी ज़ोर से बहकर आ रहा था और सारे वायुमण्डल में धूल भर गई थी, जिससे कुछ ही गज आगे की चीज़ें भी नज़र नहीं आती थीं। देहातों में इतनी धूल नहीं थी और दूर तक दिखलाई देता था, लेकिन वहाँ कोई शान्ति से देखनेवाले ही नहीं थे। जो लोग ज़िन्दा बचे वे भयंकर त्रास के कारण ज़मीन पर लेट गये या इधर-उधर लुढ़कने लगे।

मेरे ख़याल मे, मुजफ्फरपुर मे एक बारह बरस का लड़का भूकम्प के दस दिन बाद खोदकर जीवित निकाला गया। वह बड़ा चकित था। टूट-टूटकर गिरने-वाले ईंट-चूने ने जब उसे धराशायी करके दबा लिया तो उसने कल्पना की कि प्रलय हो गया है और अकेला वही जीवित बचा है।

मुजफ्फरपुर में ही ऐन भूकम्प के मौक़े पर, जबकि मकानात गिर रहे थे और चारों तरफ सैकड़ों आदमी मर रहे थे, एक बच्ची पैदा हुई। उसके अनुभव-हीन माता-पिता को यह न सूझा कि क्या करना चाहिए और पागल-से हो गये। मगर मैंने सुना कि माता और बच्चा दोनो की जानें बच गईं और वे मज़े मे थे। भूकम्प की यादगार में बच्ची का नाम 'कम्पोदेवी' रक्खा गया।

हमारे दौरे का आख़िरी शहर मुंगेर था। हम लोग बहुत घूम चुके थे और क़रीब-क़रीब नेपाल की सीमा तक पहुँच गये थे और हमने अनेक हृदय-विदारक दृश्य देखे थे। हम लोग एक बड़े भारी पैमाने पर खंडहर और विध्वंस देखने के आदी हो गये थे। लेकिन फिर भी जब हमने मुंगेर को और इस धन-सम्पन्न नगर की अत्यन्त विनाश-पूर्ण अवस्था को देखा तो उसकी भयंकरता से हमारा दम फूलने लगा और हमें कँपकँपी आने लगी। मैं उस महाभयंकर दृश्य को कभी नहीं भूल सकता।

भूकम्प के तमाम इलाकों में, क्या शहरों और क्या देहातों में, वहाँ के निवासियों में स्वावलम्बन का बड़ा शोचनीय अभाव नज़र आया। शायद शहरों के मध्यम वर्ग में इसका सबसे अधिक अभाव था। वे लोग इस इन्तज़ार में थे कि कोई सरकारी

या ग़ैरसरकारी भूकम्प-सहायक समिति आकर काम करे और उन्हे सहायता दे। जो दूसरे लोग सेवा करने को आगे आये, उन्होने समझा कि काम करने का अर्थ है लोगों पर हुक्म चलाना। यह निस्सहायता की भावना कुछ तो निस्संदेह भूकम्प के आतंक से पैदा हुई मानसिक दुर्बलता के कारण थी और वह धीरे-धीरे ही कम हुई होगी।

बिहार के दूसरे हिस्सों और दूसरे प्रान्तों से बड़ी संख्या मे आनेवाले मददगारो का जोश और उनकी कार्यशक्ति इसकी तुलना में एक बिलकुल अलग ही चीज़ नज़र आती थी। इन नवयुवकों और नवयुवतियों की, मुस्तैदी के साथ सेवा करने की भावना को देखकर चकित होना पड़ता था। और हालाँकि अनेक भिन्न-भिन्न सहायक-संस्थायें काम कर रही थीं, फिर भी इनमें आपस में बहुत कुछ सहयोग था।

मुंगेर में खोदने और मलबा हटाने की स्वावलम्बी भावना को बढ़ाने के लिए मैंने नाटक-सा किया। इसे करने मे मुझे कुछ हिचकिचाहट तो हुई, पर इसका परिणाम बड़ा सफलतापूर्ण निकला। सहायक संस्थाओं के तमाम नेता टोकरियाँ और फावड़े लेलेकर निकले और इन्होने दिनभर खुदाई की और हमने एक लड़की की लाश बाहर निकाली। मैं तो उसी दिन मुंगेर से चला आया, लेकिन खुदाई का काम जारी रहा और बहुत-से स्थानीय व्यक्तियों ने उसे बड़ी सफलता पूर्वक किया।

जितनी ग़ैर-सरकारी सहायक संस्थायें थी उन सबमें सेन्ट्रल रिलीफ़ कमिटी, जिसके अध्यक्ष बाबू राजेन्द्रप्रसाद थे, सबसे अधिक महत्वपूर्ण थी। यह सर्वथा कांग्रेसी संस्था नही थी। शीघ्र ही यह बढ़कर भिन्न-भिन्न दलो और दानदाताओ के प्रतिनिधि-स्वरूप एक अखिल भारतीय संस्था बन गई। इससे सबसे बड़ा लाभ यह था कि देहातों की कांग्रेस कमिटियों की सहायता इसे मिल सकती थी। गुजरात और युक्त-प्रान्त के कुछ जिलों को छोड़कर कही के कांग्रेसी कार्यकर्त्ता किसानों के इतने अधिक सम्पर्क में नही थे जितने यहाँ के। दरअसल ये कार्यकर्त्ता खुद ही किसान-वर्ग के थे। बिहार भारत का सबसे मुख्य कृपक-प्रदेश है और उसके मध्यमवर्ग तक का किसानों से घनिष्ठ संबन्ध है। कभी कभी, जब मैं कांग्रेस के मंत्री की हैसियत से बिहार-प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी के दफ्तर का निरीक्षण करने जाता था तो मुझे नज़र आनेवाले निकम्मेपन और दफ्तर के काम में ढीलम-ढाल की मैं बड़े कड़े शब्दों में आलोचना किया करता था। वहाँ खड़े रहने के बजाय बैठ जाने की और बैठने की अपेक्षा लेट जाने की प्रवृत्ति थी। दफ्तर भी मेरे अबतक देखे हुए तमाम दफ्तरों में सबसे अधिक साधनहीन था, क्योंकि वे लोग दफ्तर के लिए मामूली तौर पर जरूरी लवाज़मे के बिना ही काम चलाने की कोशिश करते थे। लेकिन दफ्तर की आलोचना के बावजूद, मैं खूब अच्छी तरह जानता था कि कांग्रेस के लिहाज से यह प्रान्त देश के सबसे

ज्यादा उत्साही और लगन के साथ काम करनेवाले प्रान्तों में से था। यहाँ की कांग्रेस में ऊपरी तड़क-भड़क नहीं थी, पर सारा कृषक-वर्ग सामूहिक रूप से उसके पीछे था। आल-इंडिया कांग्रेस कमिटी में भी बिहार के प्रतिनिधियों ने शायद ही कभी किसी मामले में उग्र रुख अख्तियार किया हो। वे तो अपने-आपको वहाँ देखकर कुछ ताज्जुब-सा करते थे। लेकिन सविनय-भंग के दोनों आन्दोलनों में बिहार ने बड़े ऊँचे दर्जे का नमूना पेश किया। यहाँतक कि बाद के व्यक्तिगत सविनय-भंग के आन्दोलन में भी उसने अच्छा काम कर दिखलाया।

रिलीफ कमिटी ने किसानों तक पहुँचने के लिए इस सुन्दर संगठन से लाभ उठाया। देहात में कोई भी साधन, यहाँतक कि सरकार भी, इतने उपयोगी नहीं हो सकते थे। और रिलीफ कमिटी और बिहार कांग्रेस कमिटी दोनों के प्रधान थे राजेन्द्र बाबू, जो निर्विवाद रूप से सारे बिहार के नेता थे। देखने में एक किसान के समान, बिहार-देश के सच्चे सुपुत्र राजेन्द्र बाबू का व्यक्तित्व, जबतक कि कोई उनकी तेज और निष्कपट आँखों और गम्भीर मुख-मुद्रा पर गौर न करे, शुरू-शुरू में देखने पर कुछ प्रभावशाली नहीं मालूम पड़ता। वह मुद्रा और वे आँखें भुलाई नहीं जा सकतीं, क्योंकि उनमें होकर सचाई आपकी ओर झाँकती है और उनपर आप सदेह कर ही नहीं सकते। किसान-स्वभाव होने के कारण उनका दृष्टिकोण शायद ज़रा सीमित है और नई रोशनी की दृष्टि से देखने पर कुछ सीधे-सादे दीखते हैं। पर उनकी ज्वलन्त योग्यता, उनकी शुद्ध निष्कपटता, उनकी शक्ति, और भारत की स्वतन्त्रता के लिए उनकी लगन, ये ऐसे गुण हैं जिन्होंने उनको अपने ही प्रान्त का नहीं बल्कि सारे भारत का प्रेम-पात्र बना दिया है। जैसी सर्वमान्य नेतृत्व की स्थिति राजेन्द्र बाबू को बिहार में प्राप्त है वैसी भारत के किसी भी प्रान्त में किसी भी व्यक्ति को प्राप्त नहीं। उनके सिवा, गांधीजी के वास्तविक संदेश को इतनी पूर्णता से अपनानेवाले, कोई हो भी, तो बिरले ही होंगे।

यह बड़े सद्भाग्य की बात थी कि राजेन्द्र बाबू जैसे व्यक्ति बिहार में सहायता के कार्य का नेतृत्व करने के लिए मौजूद थे, और उनमें लोगों की जो श्रद्धा थी उसीका यह परिणाम था कि सारे भारत से विपुल धन-राशि खिंची चली आई। स्वास्थ्य खराब होने पर भी वह सहायता के कार्य में पिल पड़े। वह अपनी शक्ति से अधिक काम करने लगे, क्योंकि वह सारी कार्रवाइयों का केन्द्र बन गये थे और सलाह के लिए सब उन्हींके पास आते थे।

जिस समय मैं भूकम्प के इलाकों में दौरा कर रहा था, या शायद वहाँ जाने से पहले, मुझे गांधीजी का यह वक्तव्य पढ़कर बड़ी चोट लगी कि यह भूकम्प अस्पृश्यता

के पाप का दंड था। यह वक्तव्य बड़ी हैरत में डालनेवाला था। मैंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर के उत्तर का स्वागत किया और मैं उससे पूर्णतया सहमत भी था। वैज्ञानिक दृष्टिकोण का इससे अधिक विरोध करनेवाली किसी और चीज़ की कल्पना करना कठिन है। कदाचित् विज्ञान भी आज प्रकृति पर चित्तवृत्तियों और मनोवैज्ञानिक घटनाओं के प्रभाव के विषय में इस तरह सर्वथा निश्चयात्मक रूप से कोई बात नही कह सकेगा। मानसिक चोट के परिणामस्वरूप किसी व्यक्ति को अजीर्ण या इससे भी अधिक और कोई खराबी का हो सकना भले ही सम्भव हो, लेकिन यह कहना कि किसी मानवी रिवाज या कर्तव्य-हीनता की प्रतिक्रिया पृथ्वी-तल की गति पर पड़े, एक हैरत में डाल देनेवाली बात है। पाप और ईश्वरीय कोप का विचार और ब्रह्माण्ड की घटनाओ में मनुष्य की सापेक्ष स्थिति, ये ऐसी बातें हैं जो हमको कई सौ वर्ष पीछे ले जाती है, जबकि योरप में धार्मिक अत्याचारों का बोलबाला था, जिसने वैज्ञानिक कुफ़्र के कारण गियोडीनो ब्रूनो को जलवा डाला तथा कितनी ही डाकिनियों को सूली पर चढ़ा दिया! अठारहवी सदी में भी, अमेरिका में बोस्टन के प्रमुख पादरियो ने मैसाचुसेट्स के भूकम्पों का कारण बिजली गिरने से रोकने के लिए लगाये गये खम्भों की अपवित्रता बतलाया था।

और अगर भूकम्प पापों का दैवी दंड भी हो, तो भी हम यह कैसे मालूम करें कि हमको कौन से पाप का दंड मिल रहा है? क्योकि दुर्भाग्यवश हमें तो बहुतसे पापों का फल भोगना है। हरेक व्यक्ति अपनी-अपनी पसंद का कारण बता सकता है। शायद हम लोगों को एक विदेशी राज सत्ता क़बूल करने का या एक अनुचित सामाजिक प्रणाली को सहन करने का दंड मिला हो। आर्थिक दृष्टि से दरभगा महाराज, जो बड़ी लम्बी-चोड़ी जागीरों के मालिक है, भूकम्प के कारण सबसे अधिक नुक़सान उठानेवालों में से थे। इसलिए हम ऐसा भी कह सकते हैं कि यह ज़मीदारी प्रथा के विरुद्ध फ़ैसला है। ऐसा कहना ज्यादा ठीक होगा, बनिस्बत यह कहने के कि बिहार के क़रीब-क़रीब निरपराध निवासी, दक्षिण भारत के लोगों के अस्पृश्यता के पाप के बदले में त्रस्त किये गये। भूकम्प खुद अस्पृश्यता के देश में ही क्यों नही आया? या ब्रिटिश सरकार भी तो इस विपत्ति को सविनय-भंग के लिए दैवी दंड कह सकती है; क्योंकि, यदि वास्तव में देखा जाय तो, उत्तरी बिहार ने, जिसको भूकम्प के कारण सबसे अधिक नुक़सान पहुँचा, आज़ादी की लड़ाई में बड़ा प्रमुख भाग लिया था।

इस तरह हम अनन्त कल्पनायें कर सकते हैं। और फिर यह प्रश्न भी तो उठता है, कि हम लोग परमात्मा की दैवी आज्ञाओं के प्रभाव को अपने मानवी प्रयत्नों से कम करने की कोशिश करके उसके कार्यों में क्यों हस्तक्षेप करें? और हमें इसपर

भी ताज्जुब होता है कि ईश्वर ने हमारे साथ ऐसी निर्दयतापूर्ण दिल्लगी क्यों की—कि, पहले तो हमको त्रुटियों से पूर्ण बनाया, हमारे चारों ओर जाल और गड्ढे बिछा दिये, हमारे लिए एक कठोर और दुःखपूर्ण संसार की रचना कर दी, चीता भी बनाया और भेड़ भी, और फिर हमको सज़ा भी देता है।

"जब तारों ने अपनी झिलमिल किरणें डाली जगती पर,
और गगन-मंडल से उतरी बूंदें रिमझिम धरती पर,
देख-देख कृति अपनी कैसे स्मिति ओठों पर ला सकता!
मेष-वत्स रचनेवाला क्या भीषण सिंह बना सकता ?"[१]

पटना ठहरने की आखिरी रात को मैं बड़ी रात तक बहुतसे मित्रों और सहयोगियों से बातें करता रहा, जो जुदा-जुदा प्रान्तों से सहायता-कार्य में अपनी सेवायें देने के लिए आये थे। युक्तप्रान्त का अच्छा प्रतिनिधित्व था और हमारे कई चुनीदा कार्यकर्त्ता वहाँ थे। हम इस प्रश्न पर विचार कर रहे थे, जो हमें बड़ा हैरान कर रहा था, कि हम लोग किस हद तक अपने-आपको भूकम्प-पीड़ितों की सहायता के काम में लगावें ? इसका अर्थ यह था कि उस हद तक हम अपनेको राजनैतिक कार्य से अलग हटा रहे थे। सहायता का काम बड़ा कठिन था और ऐसा हम कर नही सकते थे कि जब-जब हमें फ़ुरसत मिले तब तो उसे करें और फ़ुरसत न हो तो न करें। इसमें लग जाने से क्रियात्मक राजनैतिक क्षेत्र से बहुत दिनों तक ग़ैरहाज़िर रहने की संभावना थी और राजनैतिक दृष्टि से हमारे प्रान्त पर इसका प्रभाव बुरा पड़े बिना नही रह सकता था। यद्यपि कांग्रेस में बहुत-से लोग थे, फिर भी करने—धरनेवालों की संख्या तो परिमित ही थी और उनको छुट्टी नही दी जा सकती थी। इधर भूकम्प के तक़ाज़े की भी अवहेलना नहीं की जा सकती थी। अपनी ओर से तो मेरा खाली सहायता के ही काम में लग जाने का इरादा न था। मैंने महसूस किया कि इस कार्य के लिए लोगों की कमी न होगी; अलबत्ता अधिक खतरे के कामों को करनेवाले लोग बहुत थोड़े थे।

इसलिए हम बहुत रात तक बातचीत करते रहे। हमने पिछले स्वतंत्रता-दिवस पर भी विचार किया कि किस प्रकार हमारे कुछ सहयोगी तो उस मौक़े पर गिरफ्तार कर लिये गये थे पर हम लोग बच गये थे। मैंने मज़ाक में उन लोगों से कहा कि

१. मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है:—

"When the stars threw down their spears
And water'd heaven with their tears,
Dare he laugh his work to see ?
Dare he who made the lamb make thee ?"

मुझे तो पूरी सुरक्षा के साथ उग्र राजनैतिक कार्य करने के रहस्य का पता लग गया है।

मैं ११ फ़रवरी को, दौरे के कारण बिलकुल थका-मांदा, इलाहाबाद में अपने घर पहुँचा। कड़ी मेहनत के दस दिनों ने मेरी शारीरिक अवस्था बड़ी भयानक बनादी थी और मेरे कुटुम्ब के लोग मेरी शकल देखकर चकित हो गये। मैंने इलाहाबाद रिलीफ कमिटी के लिए अपने दौरे की रिपोर्ट लिखना शुरू किया, लेकिन नींद ने मुझे आ घेरा। अगले २४ घंटों में से मैंने कम-से-कम १२ घंटे नींद में बिताये।

दूसरे दिन, शाम के वक्त, कमला और मैं चाय पीकर बैठे थे और पुरुषोतमदास टंडन हमारे पास आये ही थे। हम लोग बरामदे में खड़े हुए थे। इतने में एक मोटर आई और पुलिस का एक अफसर उसमें से उतरा। मैं फ़ौरन समझ गया कि मेरा वक़्त आ गया है। मैंने उसके पास जाकर कहा—"बहुत दिनों से आपका इंतज़ार था।" वह ज़रा माफ़ी-सी माँगने लगा और कहने लगा कि क़ुसूर उसका नहीं है। वारंट कलकत्ता से आया था।

मै पांच महीने और तेरह दिन बाहर रहा। और अब मैं फिर तखलिया और तनहाई में भेज दिया गया। लेकिन दु:ख का असली भार मुझपर न था। वह तो हमेशा की तरह औरतों पर ही था—मेरी रोगाक्रान्त माता पर, मेरी पत्नी पर और मेरी बहन पर।

# ५६

## अलीपुर-जेल

"फेंक यकायक कहाँ दिया है इतनी दूर मुझे लाकर !
कबतक यों टकराना होगा इन अदृष्ट की लहरों पर ?
किधर खींच ले जावेगे अब झोंकों के यह उलझे तार;
दिखता नही प्रदीप, न जाने कहाँ लगेगी किश्ती पार !"[१]

उसी रात को मै कलकत्ता ले जाया गया। हावड़ा स्टेशन से लालबाज़ार पुलिस-थाने तक मुझे एक बड़ी काली मोटर-लॉरी में बिठाकर ले गये। कलकत्ता-पुलिस के इस मशहूर हेड-क्वार्टर के बारे में मैंने बहुत-कुछ पढ़ रक्खा था। अतः मैं उस जगह को बड़े चाव से देखने लगा। वहाँ अंग्रेज़ सार्जेन्ट और इन्स्पेक्टर इतनी बड़ी तादाद में मौजूद थे, जितने उत्तर-भारत के किसी बड़े पुलिस-थाने में नही है। वहाँके सिपाही अक्सर सभी बिहार और संयुक्तप्रान्त के पूर्वी जिलों के थे। अदालत से जेल या एक जेल से दूसरी जेल जाने के लिए मुझे कई बार जेल की लारी में जाना पड़ता था और हर दफ़ा इनमें से कई सिपाही लारी के भीतर मेरे साथ जाते थे। वे ज़रूर ही कुछ दुःखी मालूम होते थे। उनको यह काम पसन्द न था और स्पष्टतः वे मेरे साथ बड़ी हमदर्दी-सी रखते थे। मैंने देखा कि कई बार उनकी आँखो मे आँसू चमक पड़ते थे।

मुझे शुरू में प्रेसिडेन्सी जेल मे रक्खा गया और वहीसे मुझे अपने मुकदमे के लिए चीफ प्रेसिडेन्सी मजिस्ट्रेट की अदालत मे ले जाया जाता था। यह अदालत मेरे लिए एक नया तजुर्बा था। अदालत का कमरा और इमारत साधारण अदालत के-से नही बल्कि एक घिरे हुए क़िले के जैसे थे। सिवा कुछ अख़बारवालों और वहीके वकीलों के बाहर का कोई आदमी उसके आस-पास भी नही फटक सकता था। पुलिस वहाँ काफ़ी तादाद में जमा थी। यह सब बन्दोबस्त कोई मेरे लिए नया नहीं किया गया

१. रॉबर्ट ब्राउनिंग की मूल कविता इस प्रकार है :—

"Already how am I so far
Out of that minute? Must I go
Still like the thistle-ball, no bar,
Onward wherever light winds blow,
Fixed by no friendly star?"

था, यह तो वहाँका हमेशा का ही दस्तूर है। अदालत के कमरे में जाने के लिए मुझे दूसरे कमरे में होते हुए एक लम्बे रास्ते से जाना पड़ता था, जिसके ऊपर और दोनों बाजुओं में जाली पड़ी हुई थी, मानों किसी पिंजड़े में से निकल रहे हों। मुलज़िम का कटघरा हाक़िम की कुर्सी से कुछ दूर था। कमरा पुलिसवालों और काले कोट और चोग़ेवाले वकीलों से भरा हुआ था।

मुझे अदालती मुक़दमों से काफ़ी वास्ता पड़ चुका है। मेरे पहले के कई मुक़दमे जेल के भीतर हो चुके हैं, परन्तु उन सब मौक़ों पर मेरे साथ दोस्त, रिश्तेदार और पहचानवाले रहते थे इस कारण वहाँ का वातावरण मेरे लिए कुछ सरल जान पड़ता था। पुलिस अधिकतर गौणरूप में होती थी और वहाँ पिंजड़े वग़ैरा नज़र न आते थे। यहाँ तो बात ही दूसरी थी, चारों तरफ़ अजनबी और बिना जान-पहचान की शकलें नज़र आती थीं, जिनमें और मुझमें कुछ भी साम्य नही दीखता था। वे लोग मुझे बहुत पसंद भी नही आये। चोग़ाधारी वकीलों की जमात मुझे तो देखने में सुन्दर नहीं मालूम होती, और खासकर पुलिस की अदालत के वकीलों का नज़ारा तो ज़रूर ही अप्रिय मालूम होता है। आख़िर उस काली जमात में एक जान-पहचान का वकील निकल तो आया, लेकिन वह भी उस झुण्ड में मिलकर कही ग़ायब हो गया।

मुकदमा शुरू होने के पहले जब मै बाहर झरोखे में बैठा रहता था, तब भी मुझे अकेलापन और सूनसान मालूम पड़ता था। मेरी नब्ज़ ज़रूर तेज़ हो गई होगी और मेरा दिल इतना शान्त नही था जैसा पहले के मुक़दमों के समय में रहता था। मुझे तब खयाल आया कि जब इतने मुक़दमों और सज़ाओं का तजुर्बा होते हुए भी मुझपर परिस्थिति की अजीब प्रक्रिया का असर हुए बिना न रहा तो ऐसी हालत में नातजुर्बेकार नौजवानों पर परिस्थिति का कितना बड़ा भार पड़ता होगा ?

कटघरे में मेरा चित्त बहुत-कुछ शान्त मालूम हुआ। हमेशा की तरह कोई सफ़ाई पेश नही की गई, और मैंने अपना एक मुख्तसिर-सा बयान पढ़कर सुना दिया। दूसरे दिन अर्थात् १६ फ़रवरी को मुझे दो बरस की सज़ा हो गई, और यों मेरी सातवीं सज़ा शुरू हुई।

मेरी साढ़े पाँच महीने की रिहाई के समय का बाहरी जीवन मुझे संतोषप्रद मालूम हुआ। इस अर्से में मै काम में काफ़ी लगा रहा और कई उपयोगी काम पूरे कर सका। मेरी माता की बीमारी ने पलटा खा लिया था और अब वह खतरे से बच निकली थीं। मेरी छोटी बहन कृष्णा की शादी हो चुकी थी, मेरी लड़की की आगे की शिक्षा का सिलसिला ठीक बैठ गया था। मैंने भी अपनी घर-गृहस्थी की और आर्थिक कई मुश्किलों को हल कर लिया और कई घरेलू मामले, जिनको मैं अर्से से भुला रहा

था, सुलझा लिये थे। और सार्वजनिक मामलों में तो, मैं जानता था कि, उस समय किसी के लिए भी कुछ विशेष कर लेना सहज न था। हाँ, मैंने कांग्रेस की ताक़त को मज़बूत कर उसका रुख सामाजिक और आर्थिक विचारों के मार्ग की ओर मोड़ने में ज़रूर कुछ मदद की। गांधीजी के साथ मेरी पूना की ख़तो-किताबत और बाद में अख़बारों में निकले मेरे लेखों ने हालत को कुछ बदल दिया था। साम्प्रदायिक मसले पर भी मेरे लेखों ने कुछ ही असर किया। इसके अलावा, मैं दो बरस से ज्यादा अर्से के बाद गाँधीजी और दूसरे मित्रों और साथियों से भी मिल लिया और आगे काम करने के लिए दिली व दिमाग़ी शक्ति संग्रह करली थी।

पर मेरे मन को दुःखी करनेवाली एक घटा तो अब भी बाक़ी थी और वह थी कमला की बीमारी। मुझे उस वक्त तक उसकी बीमारी की गहराई का अन्दाज़ा न था, क्योंकि उसकी आदत थी कि जबतक वह चारपाई पकड़ न लेती तबतक काम में अपनी बीमारी को धकेलती ही रहती। लेकिन मुझे बड़ी फ़िक्र थी। इसपर भी मुझे उम्मीद थी कि अब मेरे जेल में चले जाने पर तो वह मन लगाकर अपना इलाज करायगी। मेरे बाहर रहने पर यह कुछ कठिन था, क्योंकि वह मुझे ज्यादा समय के लिए अकेला छोड़ने को सहसा तैयार नहीं होती थी।

लेकिन एक और बात का भी मुझे दुःख रह गया था। वह यह था कि इलाहाबाद ज़िले के गाँवों में मैं एक बार भी दौरा न कर सका था। मेरे कई नवयुवक साथी हमारी नीति पर कार्य करते हुए गिरफ्तार हो गये थे। इस कारण उनके बाद गाँवों की ख़बर न लेना मुझे एक तरह से उनके प्रति बेवफ़ा-सा होना मालूम होता था।

लेकिन काली मोटर-लारी ने मुझे फिर जेल में पहुँचा दिया। रास्ते में कई फ़ौजी सिपाही मशीनगन और फ़ौजी गाड़ी (आरमर्ड कार) के साथ मार्च करते हुए मिले। जेल की लारी के छोटे सुराखों में से मैंने उनकी ओर देखा। मेरे दिल में ख़याल आया कि फ़ौजी गाड़ी (आरमर्ड कार) और टैंक कितने भद्दे होते हैं। उन्हें देखकर मुझे इतिहास से पूर्व-कालिक दानवों, अजगरों इत्यादि का स्मरण हो आया।

मेरा तबादला प्रेसिडेन्सी जेल से अलीपुर सेन्ट्रल जेल में हो गया और वहाँ मुझे एक दस फ़ुट लम्बी और नौ फ़ुट चौड़ी छोटी-सी कोठरी दी गई। इस कोठरी के सामने एक बरामदा और छोटा-सा सहन था। सहन की चहारदीवारी नीची, क़रीब सात फ़ुट की, थी और उसपर से झांककर देखने पर मेरे सामने एक अजीब नजारा दिखाई दिया। सब तरह की बेढंगी इमारतें, इकमंज़ली, दुमंज़ली, गोल, चौकोर और अजीब छतोंवाली खड़ी थीं। कई तो एक के ऊपर दूसरी नज़र आती थीं। ऐसा मालूम होता था कि ये सब इमारतें बेतरतीब, ज़मीन का एक-एक कोना-कोना भरने

के लिए बनाई गई थीं। यह बनावट मुझे तो किसी घरोंदे की भूल-भुलैयां या किसी भविष्यवादी की हवाई रचना-सी मालूम होती थी। मुझे बताया गया कि ये इमारतें बड़े सिलसिले से बनी हुई हैं, बीच में एक मीनार है (जो ईसाई क़ैदियों का गिर्जा है) और उसके चारों तरफ़ घरों की लाइनें हैं। चूंकि यह जेल शहर में था, इस वजह से ज़मीन बहुत परिमित थी और उसका छोटे-से-छोटा टुकड़ा भी काम में लाये बिना छोड़ा नहीं जा सकता था।

मैं अभी शुरुआत के इस भौंडे नज़ारे को देखकर नज़र हटा ही रहा था, कि मुझे एक दूसरा ख़ौफनाक़ नज़ारा दीख पड़ा। मेरी कोठरी और सहन के ठीक सामने दो चिमनियाँ खड़ी दिखाई दीं, जिनमें से हमेशा गहरा काला धुआँ निकल रहा था, जिसको हवा कभी-कभी मेरी तरफ फेंककर मेरा दम घोंटने लगती थी। ये जेल के बावर्चीख़ानों की चिमनियां थीं। मैंने बाद में जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट को सलाह दी कि इस मुसीबत से मुझे बचाने के वास्ते चिमनियों पर जाली ढक दें।

यह शुरुआत ही अच्छी न थी और न इसके आइन्दा अच्छा होने की ही उम्मीद थी—वही अलीपुर-जेल की अपरिवर्तनीय लाल ईंटों की इमारतों का दृश्य और वही बावर्चीख़ानों की चिमनियों का धुआँ रात-दिन साँस और मुँह में जाना, सामने था। मेरे सहन में दरख़्त या सब्ज़ी कुछ न थे। वह यों तो पत्थरों का पक्का और साफ़ बना हुआ था, पर रोज़-रोज़ धुआँ जम जाने की वजह से बड़ा भद्दा और बदनुमा मालूम होता था। वहींसे पड़ौसवाले सहनों के एक-दो दरख़्तों के ऊपर के सिरे कुछ-कुछ नज़र आते थे। मेरे जेल में पहुँचने पर वे दरख़्त बिला पत्ते और फूलों के ठूंठ-से खड़े थे, पर धीरे-धीरे उनमें एक अजीब तबदीली होना शुरू हुई और सब शाखों में हरी-हरी कोंपलें निकलने लगीं। कोंपलों में से पत्ते निकले और बड़ी जल्दी बढ़कर उन्होंने नंगी शाखों को ख़ुशनुमा हरियाली से ढक दिया। यह तबदीली बड़ी सुखद मालूम हुई और अलीपुर-जेल भी बड़ी ख़ुशनुमा हो गई।

इनमें से एक दरख़्त में चील का घोंसला था। इसमें मुझे दिलचस्पी पैदा हुई और मैं बड़े चाव से उसे देखने लगा। छोटे-छोटे बच्चे बढ़-बढ़कर उड़ने की अपनी पैतृक कला सीख गये। कभी-कभी तो ऐसी हैरत में डालनेवाली होशियारी से उड़कर झपटते कि सीधे किसी क़ैदी के हाथ या मुंह में से रोटी का टुकड़ा झपट लेते।

क़रीब-क़रीब शाम से सुबह तक हमें अपनी कोठरी में बन्द रहना पड़ता था और जाड़े की लम्बी रातें काटे न कटती थीं। घण्टों पढ़ते-पढ़ते थककर मैं अपनी कोठरी में चहलक़दमी शुरू कर देता। चार-पांच क़दम आगे बढ़कर फिर लौटना पड़ता। उस वक़्त मुझे चिड़ियाघर के रीछ के अपने पिंजरे में इधर-उधर चक्कर काटने का दृश्य

याद आ जाता था। कभी-कभी जब मैं बहुत ऊब उठता तो अपना प्रिय शीर्षासन करने लगता था।

रात का शुरू का हिस्सा तो काफ़ी शान्त होता था; केवल शहर की मुख्तलिफ आवाजें—ट्राम, ग्रामोफोन या दूर से किसीके गाने की लहर—धीरे-धीरे पहुँचती थी। इस दूर से आते हुए धीमे गान की आवाज़ खुशनुमा मालूम होती थी। पर रात में चैन नहीं था, क्योंकि जेल के पहरेदार इधर-उधर टहलते रहते थे और हर घण्टे कोई-न-कोई मुआयना होता रहता था। लालटेन हाथ में लिये कोई अफ़सर यह देखने आता कि कोई क़ैदी भाग तो नहीं गया है। हररोज तीन बजे तड़के बड़ा शोर-गुल मचता और बर्तन घिसने व मांजने की आवाज़ आती। उस वक्त बावर्चीख़ाने में काम शुरू हो जाता था।

प्रेसिडेन्सी जेल के माफ़िक़ अलीपुर-जेल में भी एक क़सीर तादाद वार्डरों, पहरेदारों, अफसरों और क्लर्कों की थी। इन दोनों जेलों की आबादी मिलाकर नैनी-जेल की आबादी ( २२००-२३०० ) के बराबर थी, परन्तु कर्मचारियों की तादाद इन हरेक जेल में नैनी-जेल से दुगुनी से भी ज्यादा थी। इनमें कई अंग्रेज वार्डर और पेन्शनयाफ्ता फ़ौजी अफ़सर भी थे। इससे यह एक बात तो साफ़ ज़ाहिर होती थी कि अंग्रेजी-शासन युक्त-प्रान्त के बजाय कलकत्ता में ज्यादा कठोर और ख़र्चीला है। किसी बड़े अफ़सर के पहुँचने पर जो नारा सब क़ैदियों को लगाना पड़ता था वह साम्राज्य की ताक़त का एक चिन्ह और याददिहानी था। यह नारा था "सरकार सलाम", जो लम्बी आवाज़ में और बदन की कुछ ख़ास हरकत के साथ लगाना पड़ता था। मेरे सहन की चहारदीवारी पर से क़ैदियों के इस नारे की आवाज़ दिन में कई मर्त्तबा, और खासकर सुपरिण्टेण्डेण्ट के मुआयने पर हमेशा, आती थी। मेरे सहन की ७ फ़ुट ऊँची दीवार पर से मैं उस 'शाही छत्र' के ऊपरी भाग को देख सकता था जिसके साये में सुपरिण्टेण्डेण्ट गश्त लगाता था।

मैं हैरत में आकर सोचने लगता कि क्या यह अजीब नारा 'सरकार सलाम' और उसके साथ की जानेवाली बदन की यह हरकत किसी पुराने ज़माने की यादगार है या किसी मनचले अंग्रेज अफ़सर की ईजाद? मुझे पता तो नहीं, पर मेरा क़यास है कि यह अंग्रेज़ों की ईजाद है। इसमें एक ख़ास क़िस्म के एंग्लो-इंडियनपन की बू आती है। खुश-क़िस्मती से इस नारे का रिवाज सिवा बंगाल और आसाम के युक्तप्रान्त या हिन्दुस्तान के दूसरे सूबों में नहीं है। सरकार की शान को क़ायम रखने के लिए जिस तरीक़े से इस सलामी पर ज़ोर दिया जाता है, वह मुझे हक़ीक़त में ज़लील करनेवाला मालूम होता है।

अलीपुर-जेल में एक नई बात देखकर तो मुझे खुशी हुई। यहाँ के साधारण क़ैदियों का खाना युक्तप्रान्त के जेलों के खाने से कहीं अच्छा था। जेल के खाने के मामले में तो युक्तप्रान्त दूसरे कई सूबों से पिछड़ा हुआ है।

सुहावनी शरद्-ऋतु जल्द बीत गई, विमल वसन्त भी भागता हुआ-सा निकल गया, और गर्मी आ गई। दिन-दिन गर्मी बढ़ती गई। मुझे कलकत्ते की आबहवा कभी पसन्द न थी, और चन्द दिनों के वहाँ रहने ने ही मुझे निस्तेज और उत्साह-हीन बना दिया। जेल में तो हालत क़ुदरती तौर पर और भी बुरी होती है। समय बीतता गया और मेरी हालत में कोई उन्नति न हुई। शायद कसरत के लिए जगह की कमी होने और ऐसी आबहवा में कई घंटों कोठ ी बन्द रहने से मेरी सेहत कुछ गिर गई और मेरा वज़न तेज़ी से घटने लगा। मुझे तालों, चटख़नियों, सीखचों और दीवारों से नफ़रत-सी होने लग गई।

अलीपुर में एक महीना रहने के बाद मुझे अपने सहन के बाहर कुछ वर्ज़िश करने की सहूलियत दी गई। यह तबदीली मुझे पसन्द आई और मैं सुबह-शाम जेल की बड़ी दीवार के सहारे घूमने लगा। धीरे-धीरे मैं अलीपुर-जेल और कलकत्ता की आबहवा का आदी हो गया और बावर्चीखाना भी, मय उसके धुंए और शोर-गुल के, बर्दाश्त करने लायक़ बुराई हो गई। इस अर्से में मेरे लिए नये-नये मसले खड़े हुए और नई-नई परेशानियाँ तंग करने लगी। बाहर की खबरे भी अच्छी नही थी।

## ६०

# पूरब और पच्छिम में लोकतन्त्र

अलीपुर-जेल में जब मुझे यह मालूम हुआ कि सज़ा होने के बाद मुझे कोई रोज़ाना अख़बार नहीं मिलेगा, तब मुझे बड़ा अचम्भा हुआ। जबतक मेरा मुक़दमा चलता रहा तबतक तो मुझे कलकत्ते का रोज़ाना अख़बार 'स्टेट्समैन' मिलता रहा, लेकिन मुक़दमा ख़त्म होने के बाद दूसरे ही दिन से वह बन्द कर दिया गया। युक्तप्रान्त में तो १९३२ से 'ए' क्लास या पहले डिवीज़न के क़ैदियों को सरकार की मर्ज़ी का एक रोज़ाना अख़बार हमेशा मिलता था। ज्यादातर बाक़ी के दूसरे सूबों में भी यही बात है। और मैं बिलकुल इसी ख़याल में था कि यही क़ानून बंगाल के लिए भी लागू होगा। लेकिन वहाँ मुझे रोज़ाना 'स्टेट्समैन' के बजाय साप्ताहिक 'स्टेट्समैन' दिया गया। साफ़ ज़ाहिर है कि यह अख़बार तो उन अंग्रेज़ों के लिए निकलता है जो हिन्दुस्तान में हाकिमी या रोज़गार करने के बाद वापस इंग्लैण्ड पहुँच जाते हैं। इसलिए इस अख़बार में हिन्दुस्तान की उन ख़बरों का सार रहता है, जिनमें उनकी दिलचस्पी होती है। इस हफ़्तेवार अख़बार में विलायतों की ख़बरें तो बिलकुल नहीं होती थीं। उनका न होना मुझे बहुत ही अखरता था, क्योंकि मैं उनको सिलसिलेवार पढ़ते रहना चाहता था। ख़ुशक़िस्मती से मुझे हफ़्तेवार 'मैञ्चेस्टर गार्जियन' अख़बार भी मिल जाता था, जिसकी वजह से मुझे योरप के और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों की जानकारी हो जाती थी।

फ़रवरी में जब मैं गिरफ़्तार हुआ और जब मुझपर मुक़दमा चला तभी योरप में बड़ी उथल-पुथल और झगड़े हुए। फ्रान्स में भारी खलबली मची, जिसमें फ़ासिस्टों ने दंगे किये और उसकी वजह से राष्ट्रीय सरकार क़ायम हुई। इससे भी बुरी बात यह थी कि आस्ट्रिया का चान्सलर डॉलफस मज़दूरों पर गोलियाँ चलवा रहा था, और सामाजिक लोकतन्त्र के विशाल भवन को ढा रहा था। आस्ट्रिया में होनेवाली ख़ून-ख़राबी की ख़बर सुनकर मुझे बड़ा दुःख हुआ। यह दुनिया कैसी बुरी और ख़ूनी जगह है और इन्सान भी अपने स्थापित स्वार्थों की हिफ़ाज़त के लिए कैसा बर्बर हो जाता है? ऐसा मालूम पड़ता था कि तमाम योरप और अमेरिका में फ़ासिज्म का ज़ोर बढ़ता जाता है। जब जर्मनी में हिटलर का आधिपत्य हुआ तब मुझे यह मालूम होता था कि उसकी हुकूमत ज्यादा दिनों तक नहीं चल सकेगी, क्योंकि उसने जर्मनी की आर्थिक कठिनाइयों का कोई हल पेश नहीं किया था। इसी

तरह जब दूसरी जगह भी फ़ासिज्म फैला तब भी, मैंने अपने मन को यह सोचकर तसल्ली दी कि यह प्रतिक्रिया की आख़िरी मंज़िल है; इसके बाद सब बन्धन टूट जायँगे। लेकिन मैं अब यह सोचने लगा, कि मेरा यह ख़याल कहीं मेरी ख़्वाहिश से ही तो नहीं पैदा हुआ ? क्या सचमुच यह बात इतनी साफ़ दिखाई देती है कि फ़ासिज्म की यह लहर इतनी आसानी से या इतनी जल्दी पीछे लौट जायगी ? यदि ऐसी हालत पैदा हो गई, जो फ़ासिस्ट डिक्टेटरों के लिए असह्य हो, तो क्या वे 'सरे तसलीम ख़म' करने की जगह अपने देशों को सत्यानाशी लड़ाई में न जुटा देंगे ? ऐसी लड़ाई का नतीजा क्या होगा ?

इस बीच में फ़ासिज्म कई क़िस्मों और तरह-तरह की शक्लों में फैलता गया। 'ईमानदार लोगों का नया प्रजातन्त्र' यानी स्पेन, जो सरकारों का ख़ास 'मैञ्चेस्टर गार्जियन' था, बहुत पीछे जाकर प्रतिक्रिया के गड्ढे में जा पड़ा था। स्पेन के लिबरल नेताओं के मनोहर शब्द और भली-भली बातें देश की अधोगति को न रोक सकीं। हर जगह मौजूदा हालतों का मुक़ाबिला करने में लिबरल-नीति बिलकुल बेकार साबित हुई है। यह दल शब्दों और वाक्यों से चिपटा रहता है और समझता है कि बातें काम की जगह ले सकती हैं। इसीलिए जब कभी नाजुक वक़्त आता है तब वह उसी तरह आसानी से ग़ायब हो जाता है जैसे सिनेमा के अन्त में तसवीर।

आस्ट्रिया के दुःखान्त नाटक के बारे में 'मैञ्चेस्टर गार्जियन' के अग्रलेखों को मैं बड़ी दिलचस्पी के साथ पढ़ता था और उनकी क़द्र भी करता था। "और इस ख़ूनी लड़ाई के बाद किस रूप में आस्ट्रिया हमारे सामने आया ? एक ऐसा आस्ट्रिया जिसपर योरप का सबसे ज्यादा प्रतिक्रियावादी दल राइफलों और मशीनगनों से हुकूमत कर रहा है।" "अगर इंग्लैण्ड आज़ादी का हामी है तो उसके प्रधान मन्त्री का मुँह इतना बन्द क्यों है ? डिक्टेटरशाहियों की उन्होंने जो तारीफ़ें की हैं वे हमने सुनी हैं; हमने उन्हें यह कहते हुए भी सुना है कि डिक्टेटरी 'क़ौम की आत्मा को ज़िन्दा रखती है' और 'एक नया जलवा और नई ताक़त पैदा करती है।' लेकिन इंग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री को उन जुल्मों की बाबत भी तो कुछ कहना चाहिए, जो, चाहे वे किसी भी देश में हों, यद्यपि ज़ाहिरा शरीर का नाश करते हैं, किन्तु उससे कहीं अधिक बार आत्मा को बुरी मौत मारते हैं।"

लेकिन अगर 'मैञ्चेस्टर गार्जियन' आज़ादी का ऐसा हामी है, तो क्या वजह है कि जब हिन्दुस्तान में आज़ादी को कुचला जाता है तब उसका मुँह बन्द हो जाता है ? हम लोगों को भी तो न सिर्फ़ शारीरिक तक़लीफें उठानी पड़ी हैं बल्कि उससे भी बदतर आत्मा के कष्ट भी भोगने पड़े हैं।

"आस्ट्रिया का लोक-तन्त्र नष्ट कर दिया गया है, यद्यपि उसके लिए यह बात हमेशा गौरव की रहेगी कि वह मरते दम तक लड़ा और इस तरह उसने एक ऐसी कहानी पैदा कर दी, जो आगे आनेवाले बरसों में किसी दिन यूरोपीय आजादी की आत्मा को फिर जगा देगी।"

"उस योरप ने जो कि आजाद नहीं है, सांस लेना बन्द कर दिया है, अब उसमें स्वस्थ भावनाओं का आवागमन नहीं होता, धीरे-धीरे उसका दम घुटने लगा है और उसकी जो मानसिक बेहोशी नज़दीक आ रही है उसे सिर्फ उग्र झकझोरों या भीतरी दौरों और दाहिने-बायें हर तरफ धड़ाधड़ वार करने से ही बचाया जा सकता है......। राइन नदी से लेकर यूराल पर्वत तक योरप एक बड़ा जेलखाना बना हुआ है।"

ये वाक्य कैसे हृदय-ग्राही थे ! मेरे दिल में इनकी प्रतिध्वनि होती थी; लेकिन साथ ही मैं सोचता, कि हिन्दुस्तान की बाबत क्या है ? यह कैसे हो सकता है कि 'मैञ्चेस्टर गार्जियन' या इंग्लैण्ड मे जो बहुत-से आज़ादी के दीवाने हैं वे हमारी हालत की बाबत इतने उदासीन रहते है ? दूसरी जगह जिन बातों की वे इतने ज़ोरों से निन्दा करते है, जब वही बातें हिन्दुस्तान में होती है, तो उनकी तरफ़ वे क्यों नहीं देखते ? बीस बरस पहले, महायुद्ध शुरू होने से कुछ ही पहले, अंग्रेज़ों के एक बड़े लिबरल नेता ने, जो १९वी सदी की परम्परा में पले थे, स्वभाव से फूंक-फूंककर क़दम रखते थे और अपनी भाषा पर संयम रखते थे, यह कहा था कि "इससे पहले कि कानून पर ताकत की दुःखदायी जीत को मैं चुपचाप देखूँ, मैं यह देखना पसन्द करूंगा कि हमारा यह मुल्क इतिहास के पन्ने से मिटा दिया जाय।" कितना बहादुराना खयाल है; और कैसे धारा-प्रवाह ढंग से कहा गया है ! इंग्लैण्ड के बहादुर नौजवान लाखों की तादाद में इस खयाल को पूरा करने के लिए लड़ाई के मैदान में गये। लेकिन अगर कोई हिन्दुस्तानी मि० एसक्विथ के समान बयान देने की हिम्मत करे, तो उसका क्या हाल होगा ?

राष्ट्रीय मनोवृत्ति बहुत ही जटिल होती है। हममें से ज्यादातर लोग यह समझते हैं कि हम बड़े इन्साफ-पसन्द और निष्पक्ष हैं। हमेशा ग़लती दूसरा शख्स या दूसरा मुल्क ही करता है। हमारे दिमाग में कहीं-न-कहीं यह इत्मीनान छिपा रहता है कि हम वैसे नहीं हैं जैसे दूसरे लोग हैं, हममें और दूसरों में ज़रूर फर्क है—यह दूसरी बात है कि शराफ़त की वजह से हम बारबार उस बात को न कहें। अगर ख़ुशक़िस्मती से हम किसी ऐसी शाही क़ौम के होते जो दूसरे मुल्कों के भाग्य की विधाता हो, तब तो हमारे लिए यह इत्मीनान न करना भी मुश्किल हो जाता कि हमारी सर्वोत्तम दुनिया में सभी बातें सर्वोच्च हैं, और जो लोग क्रान्ति के लिए

आन्दोलन करते हैं वे केवल खुदगर्ज और मुग़ालते मे पड़े हुए बेवकूफ़ ही नही हैं बल्कि हमारे लिए अनेक लाभ प्राप्त करके भी अहसानफरामोशी करनेवाले हैं।

अंग्रेज़ क़ौम टापू में रहनेवाली मुतास्सिम क़ौम है और इतनी मुद्दत तक की कामयाबी और खुशहाली ने उसे इतना घमण्डी बना दिया है कि अंग्रेज़ क़रीब-क़रीब दूसरी सब क़ौमों को हिक़ारत की नज़र से देखते हैं। जैसा कि किसीने कहा है, उनकी राय मे इंग्लैण्ड के समुद्र से आगे हबशी-ही-हबशी रहते हैं। लेकिन यह तो एक बिलकुल साधारण बात है। शायद ब्रिटिश क़ौम के ऊँचे दर्जे के लोग दुनिया को ऊँच-नीच के हिसाब से इस तरह बाँटेंगे—(१) सबसे पहले ब्रिटेन, इसके बाद बहुत दूर तक कुछ नहीं; फिर (२) ब्रिटिश उपनिवेश—इनमें भी सिर्फ़ सफ़ेद चमड़ीवाले और अमेरिका ( महज़ एंग्लो-सेक्शन अमेरिका—डागो, इटैलियन वग़ैरा नही ), (३) पश्चिमी योरप, (४) बाक़ी योरप, (५) दक्षिणी अमेरिका (लेटिन क़ौम); और फिर बहुत दूर तक कोई नही। इसके बाद और सबसे नीचे के नम्बर पर एशिया और अफ्रीका की काली-पीली क़ौमो के आदमी, जो कम-बढ़कर सब एक ही बोरे में भर दिये जा सकने योग्य समझे जाते हैं।

इन दर्जो में आख़िरी दर्जे के हम लोग उस ऊंचाई से कितनी दूर है, जिसपर हमारे शासक रहते हैं ? ऐसी हालत में क्या यह कोई अचरज की बात है कि जब वे उतनी ऊँचाई से हमारी तरफ़ देखते हैं तब उनकी नज़र धुंधली हो जाती है, और जब हम लोकतंत्र और आज़ादी की बातें करते हैं तब वे हमसे चिढ़ते हैं ? ये शब्द हमारे इस्तैमाल के लिए थोड़े ही घड़े गये थे। क्या यह बात एक बड़े लिबरल राज-नीतिज्ञ जॉन मार्ले ने नही कही थी, कि वह बहुत दूर के धुंधले भविष्य मे भी इस बात की कल्पना तक नही कर सकते कि हिन्दुस्तान में लोकतंत्रीय संस्थायें क़ायम होगी ? हिन्दुस्तान के लिए लोकतंत्र ऐसा ही है, जैसा कनाडा के लिए फरों का बहुत गरम कोट (यानी उसकी आबोहवा के खिलाफ़)। और इसके बाद उस मजदूर दल ने जो समाजवाद का झण्डा लिये फिरता था, सब पददलित लोगों का हिमायती बनता था, अपनी जीत की पहली खुशी में हमें सन् १९२४ के बंगाल-आर्डिनेन्स को फिर से जारी करने का इनाम दिया, और उनके दूसरे शासन-काल में हमारा हाल और भी बुरा रहा। मुझे इस बात का पूरा भरोसा है कि उनमें से कोई हमारा बुरा नही चीतता और जब वे लोग हमें अपने, व्याख्याता के, सर्वोत्तम ढंग से 'बहुत ही प्यारे भाई' कहकर पुकारते हैं तब वे अपनी कर्त्तव्यपरायणता पर अपनेको कृतकृत्य समझते हैं। लेकिन उनकी राय में हम उतने ऊँचे नही हैं, जितने कि वे खुद हैं, अतः उनके विचार में दूसरे पैमानों से ही हमारी जाँच होनी चाहिए। भाषा और सांस्कृतिक भेद-भावों

के कारण अंग्रेज़ और फ्रांसीसी के लिए यह काफी मुश्किल है कि वे एक ही तरह से सोचें। ऐसी हालत में एक एशियाई में और एक अंग्रेज़ में तो और भी ज्यादा फ़र्क़ होगा।

हाल ही में, हाउस ऑफ लार्ड्स में, हिन्दुस्तान को दिये जानेवाले शासन-सुधारों के प्रश्न पर बहसें हो रही थीं और अनेक सम्माननीय लॉर्डों ने उस बहस में बहुत-से विचारपूर्ण व्याख्यान दिये। इनमें एक थे लॉर्ड लिटन, जो हिन्दुस्तान के एक सूबे में गवर्नर रह चुके थे और कुछ समय के लिए जिन्होंने वाइसराय की हैसियत से भी काम किया था। अक्सर कहा जाता है कि वह एक उदार और हिन्दुस्तान से सहानुभूति रखनेवाले गवर्नर थे। उनके व्याख्यान की रिपोर्ट के अनुसार, उन्होंने कहा कि "भारत-सरकार सारे हिन्दुस्तान की कहीं अधिक प्रतिनिधि है बनिस्बत कांग्रेसी नेताओं के। वह हिन्दुस्तान के हाकिमों की, फौज की, पुलिस की, राजाओं की, लड़नेवाले रेजीमेण्टों की और हिन्दू तथा मुसलमान दोनों की तरफ से बोल सकती है, जबकि कांग्रेस के नेता हिन्दुस्तान की बड़ी क़ौमों में से किसी एक क़ौम की तरफ से भी नहीं बोल सकते।" इतना कहने के बाद उन्होंने आगे चलकर अपना आशय और भी स्पष्ट किया--"जब मैं हिन्दुस्तानियों की बात कहता हूँ, तब मैं उन लोगों का ख़याल करता हूँ, जिनके सहयोग का मुझे भरोसा करना पड़ा था और जिनके सहयोग पर भावी गवर्नरों और वाइसरायों को भरोसा करना पड़ेगा।"[1]

उनके इस भाषण से दो दिलचस्प बातें निकलती हैं—एक तो यह कि उनके विचार में जो हिन्दुस्तान किसी गिनती में है वह तो वही है जो ब्रिटिश सरकार की मदद करता है; और दूसरे, ब्रिटिश सरकार हिन्दुस्तान में सबसे ज्यादा प्रातिनिधिक और इसलिए सबसे ज्यादा लोकतंत्रीय संस्था है। इस दलील का इतनी संजीदगी से दिया जाना यह ज़ाहिर करता है कि अंग्रेज़ी के शब्द स्वेज़ नहर से पार होते ही अपना अर्थ बदल देते हैं। इस तरह की दलील का दूसरा और साफ़ मतलब यह होगा कि स्वेच्छाचारी सरकार ही सबसे ज्यादा प्रातिनिधिक और लोकतंत्रीय स्वरूप की होती है, क्योंकि बादशाह सबका प्रतिनिधित्व करता है। इस तरह हम फिर लौट-फिरकर बादशाह के ईश्वरीय अधिकार पर पहुँच जाते हैं।

सच बात तो यह है कि हाल में विशुद्ध स्वेच्छाचार को भी एक नामी समर्थक मिल गया है। इण्डियन सिविल सर्विस के आभूषण सर माल्कम हेली ने, ५ नवम्बर १९३४ को बनारस में युक्तप्रान्त के गवर्नर की हैसियत से बोलते हुए, कहा था कि देशी रियासतों में स्वेच्छाचारिता ही रहनी चाहिए। इस सलाह की ऐसी

१. हाउस आफ लार्ड्स, १७ दिसम्बर १९३४।

कोई ज़रूरत न थी, क्योंकि कोई भी हिन्दुस्तानी रियासत अपनी खुशी से स्वेच्छाचारिता को नहीं छोड़ेगी। इसी कोशिश में एक और दिलचस्प तरक़्क़ी यह हुई है कि, योरप में लोकतंत्र के नाकामयाब होने की बिना पर इस स्वेच्छाचारिता को क़ायम रखने की बात कही जाती है। मैसूर के दीवन सर मिर्ज़ा इस्माइल ने इस बात पर अपना आश्चर्य प्रकट किया, कि "एक तरफ जबकि हर जगह पार्लमेण्टरी लोकतंत्र नाकामयाब हो रहा है, दूसरी तरफ इनक़लाबी सुधारों की वकालत की जाती है।" "मुझे विश्वास है कि हमारे राज्य की अन्तरात्मा यह महसूस करती है कि हमारा मौजूदा विधान क़रीब-क़रीब असली कामों के लिए काफ़ी लोकतंत्रीय है।"[१] मेरे ख़याल में मैसूर की 'अन्तरात्मा' वहाँके शासक और दीवान की दार्शनिक भावना है। मैसूर में इन दिनों जो लोकतंत्र जारी है, वह स्वेच्छाचार से किसी क़दर भिन्न नहीं है।

अगर लोकतंत्र हिन्दुस्तान के लिए मौजूँ नहीं है, तो ऐसा मालूम पड़ता है कि वह मिश्र के लिए भी उतना ही बेमौजूँ है। इन दिनों जेल में मुझे रोजाना 'स्टेट्समैन', दिया जाता है। उसमें मैंने मिश्र की राजधानी कैरो से भेजा हुआ ख़रीता अभी हाल ही पढ़ा है।[२] उस ख़रीते में कहा गया है कि वहाँ के प्रधान-मंत्री नसीमपाशा के "इस ऐलान ने कि उन्हें 'यह उम्मीद है कि तमाम राजनैतिक पार्टियाँ, ख़ास तौर पर वफ्द-पार्टी, एक हो जायँगी, और एक होकर या तो राष्ट्रीय परिषद् करके या विधान-विधायक असेम्बली का चुनाव करके उनके ज़रिये नया विधान तैयार करायँगी', ज़िम्मेदार लोगो में कुछ कम भय पैदा नही किया है, क्योंकि आख़िर इसके मानी यही होते है कि लोकतंत्रीय सरकार फिर से क़ायम हो जाय, जो, इतिहास ज़ाहिर करता है, मिश्र के लिए हमेशा खतरनाक साबित हुई है, क्योंकि उसकी प्रवृत्तियाँ पिछले ज़माने में हमेशा हुल्लड़पन से दब जाने की रही है। मिश्र की आन्तरिक राजनीति और उसकी प्रजा की जानकारी रखनेवाले किसी भी शख़्स को क्षणभर के लिए भी इस बात में कोई शक नही हो सकता कि चुनाव का नतीजा यह होगा कि फिर वफ्द-पार्टी का बहुमत हो जाय। इसीलिए इस कार्रवाई को रोकने का बहुत जल्द प्रयत्न न किया गया तो हमपर बहुत जल्दी ऐसा शासन आ जायगा जो घोर उग्र लोकतंत्रीय, विदेशियों का विरोधी और क्रान्तिकारी होगा।"

यह भी कहा गया है कि चुनाव में "वफ्द् पार्टी का मुकाबिला करने के लिए" शासकों को प्रभाव डालना चाहिए, लेकिन बदकिस्मती यह है कि "प्रधान मंत्री को क़ानून की पाबन्दी का बहुत ख़याल रहता है।" इसलिए हमसे कहा गया है कि

१. **मैसूर : २१ जून १९३६। पृष्ठ ६४३ का भी नोट देखिए।**

२. १९ **दिसम्बर** १९३४।

अब सिर्फ़ एक ही रास्ता रह जाता है और वह यह कि ब्रिटिश सरकार दस्तन्दाज़ी करे और "यह बात सबको ज़ाहिर करदे कि वह इस क़िस्म के शासन का फिर से क़ायम होना बर्दाश्त नहीं करेगी।"

ब्रिटिश सरकार क्या करेगी या क्या नहीं करेगी और मिश्र में क्या होगा, मुझे कुछ पता नहीं।[१] लेकिन ग़ालिबन आज़ादी के दीवाने एक अंग्रेज़ द्वारा पेश की गई दलील से हमें मिश्र और हिन्दुस्तान की हालत की जटिलता को समझने में थोड़ी मदद ज़रूर मिलती है। जैसा कि 'स्टेट्समैन' ने एक अग्रलेख में कहा है—"मूल बुराई तो यह है कि ज़िन्दगी के जिस तरीक़े से और दिमाग़ के जिस रुख़ से लोकतंत्र का विकास होता है उससे साधारण मिश्री वोटर की ज़िन्दगी के तरीक़े और उसके दिमाग़ के रुख़ का मेल नहीं मिलता।" इस मेल के न मिलने की मिसाल भी आगे दी गई है: "योरप में अक्सर लोकतंत्र इसलिए नाकामयाब हुआ है, क्योंकि वहाँ बहुत-से दल क़ायम हो गये हैं। लेकिन मिश्र की मुश्किल तो यह है कि वहाँ सिर्फ़ एक वफ्द-पार्टी ही है।"

हिन्दुस्तान में हमसे कहा जाता है कि हमारा साम्प्रदायिक भेदभाव हमारी लोकतंत्र की तरक्क़ी का रास्ता रोकता है और इसीलिए अकाट्य तर्क के साथ इन भेदभावों को हमेशा स्थायी बनाया जाता है। हमसे यह भी कहा जाता है कि हम लोगों में काफ़ी एका नहीं है। मिश्र में किसी क़िस्म का साम्प्रदायिक भेदभाव नहीं है और ऐसा मालूम पड़ता है कि वहाँ पूर्ण राजनैतिक एका मौजूद है। लेकिन वहाँ यही एकता उसके लोकतंत्र और उसकी स्वाधीनता के रास्ते का रोड़ा बन जाती है। सचमुच लोकतंत्र का रास्ता सीधा और तंग है। पूर्वी देशों के लिए लोकतंत्र के सिर्फ़ एक ही मानी है, और वह यह कि साम्राज्यवादी शासक-सत्ता जो हुक्म दे उसे बजा लाया जाय और उसके किसी भी स्वार्थ मे हाथ न डाला जाय। इन शर्तों के मान लेने पर लोकतंत्रीय स्वाधीनता वहाँ भी बे-रोक-टोक फूल-फल सकती है।

**१. नवम्बर १९३४ में मिश्र पर अंग्रेज़ों के अधिकार के ख़िलाफ़ मुल्कभर में दंगे हुए थे**

# ६१

## नैराश्य

"अब तो यही लालसा है मां, जाऊँ आकुल लेट वहाँ
ठंडा-ठंडा हरा सुमंजुल मधुर घास हो बिछा जहाँ;
मां वसुधे ! चरणों पर तेरे निपट निराश-अधीन,
परिश्रान्त इस बालक के वे स्वप्न सभी हो गये विलीन।"[१]

अप्रैल आ गया। अलीपुर में, मेरी कोठरी में, मेरे पास बाहर की घटनाओं की बाबत अफ़वाहें पहुँची—ऐसी अफ़वाहें जो दुःखदायी और बेचैनी पैदा करनेवाली थीं। एक दिन जेल में सुपरिण्टेण्डेण्ट ने मुझे इत्तिला दी कि गांधीजी ने सत्याग्रह की लड़ाई वापस लेली है। मुझे इससे ज्यादा कुछ मालूम नहीं होसका। मुझे यह ख़बर अच्छी नहीं लगी और जिस चीज़ को मैं इतने वरसों से इतना चाहता था उसको इस तरह वापस ले लिये जाने पर मुझे रंज हुआ। फिर भी मैंने अपने को समझाया कि उसका अन्त होना तो लाज़िमी था। अपने मन में मैं यह जानता था कि कम-से-कम कुछ वक्त के लिए सत्याग्रह की लड़ाई कभी-न-कभी बन्द करनी ही पड़ेगी। मुमकिन है कि कुछ शख्स नतीजों की परवा न करके अनिश्चित काल तक लड़ते रहें लेकिन राष्ट्रीय संस्थायें ऐसा नहीं करतीं। मुझे इस बात में कोई शक न था कि गांधीजी ने देश की स्थिति और अधिकांश काँग्रेसवादियों के मनोभावों को ठीक तरह समझ लिया था और यद्यपि जो कुछ हुआ वह अच्छा नही मालूम होता था फिर भी मैंने अपने आपको नवीन परिस्थिति के अनुकूल बनाने की कोशिश की।

अस्पष्ट रूप में यह चर्चा भी मुझे सुनाई दी कि कौंसिलों में जाने की ग़रज से पुरानी स्वराज पार्टी को फिर से ज़िन्दा करने की नई कोशिश की जा रही है। यह बात भी मुझे अनिवार्य मालूम होती थी और मेरी तो बहुत दिनों से यह राय थी कि काँग्रेस अगले चुनावों से अलग नही रह सकती। जब मैं पाँच महीने जेल से बाहर था, तब मैंने कौंसिलों की तरफ़ बढ़नेवाली इस प्रवृत्ति को रोकने की कोशिश की थी, क्योंकि मैं समझता था कि अभी वह वक्त से पहले थी, और उसकी वजह से न सिर्फ़ सीधी लड़ाई

१. मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है :—
"And I yearn to lay my head
Where the grass is cool and sweet.
Mother, all the dreams are fled
From the tired child at thy feet."

से ही लोगों का ध्यान हटता था बल्कि सामाजिक इनक़लाब के उन नये ख़यालों के विकास से भी बाधा पड़ती थी जो कांग्रेसवालों के दिलों में घर करते जा रहे थे। मैं समझता था कि यह संकट जितने दिन ज्यादा बना रहेगा, उतने ही ज्यादा ये ख़याल हमारे यहाँ सर्वसाधारण और पढ़े-लिखे लोगों में फैलेंगे और हमारी राजनैतिक और माली हालत की तह में जो असलियत है वह ज़ाहिर हो जायगी। जैसा कि लैनिन ने कहा है—"कोई भी और हरेक राजनैतिक संकट उपयोगी है, क्योंकि वह छिपी हुई चीज़ों को रोशनी में ले आता है, राजनीति की तह में जो वास्तविक शक्तियाँ काम कर रही हैं उन्हें दिखा देता है; वह झूठ का, भ्रम पैदा करनेवाले शब्द-जाल का और गपोड़ों का भण्डाफोड कर देता है; वह असली बातों को पूरी तरह दिखा देता है, और तथ्य क्या है इस बात को समझने के लिए लोगों को मजबूर कर देता है।" मुझे उम्मीद थी कि इस क्रिया का परिणाम यह होगा कि इससे कांग्रेसवालों का दिमाग़ साफ़ हो जायगा और कांग्रेस एक निश्चित ध्येयवाले लोगों की मज़बूत जमात हो जायगी। ग़ालिबन उसके कुछ कमज़ोर हिस्से उसे छोड़ जायँगे! लेकिन इससे कोई हर्ज़ न होगा और जब कभी उसूली सीधी लड़ाई का मोर्चा ख़त्म करने और वैधानिक व क़ानूनी तरीकों के नाम से पुकारे जानेवाले साधनों से काम लेने का वक़्त आयगा, तब कांग्रेस के आगे बढ़े हुए, वास्तव में क्रियाशील पक्ष के, लोग इन तरीकों का भी, हमारे अन्तिम लक्ष्य की व्यापक दृष्टि से, इस्तैमाल करेंगे।

जाहिरा तौर पर मालूम होता था कि वह वक्त आ गया है। लेकिन मुझे यह देखकर बड़ी परेशानी हुई कि जो लोग दरअसल सत्याग्रह की लड़ाई और कांग्रेस के कारगर कामों के आधारस्तम्भ रहे हैं वे पीछे को हट रहे हैं और दूसरे लोग जिन्होंने ऐसा कोई काम नहीं किया अपनी हुकूमत जमाने लगे हैं।

इसके कुछ दिनों के बाद मेरे पास हफ्तेवार स्टेट्समेन आया और उसमें मैंने वह वक्तव्य पढ़ा जो गांधीजी ने सत्याग्रह को वापस लेते हुए दिया था। उसे पढ़कर मुझे बड़ी हैरत हुई और मेरा दिल बैठ गया। मैंने उसे बार-बार पढ़ा, और सत्याग्रह और दूसरी ज्यादातर बातें मेरे दिमाग़ से ग़ायब हो गईं और उनकी जगह शक और संघर्ष से मेरा दिमाग़ भर गया। गांधीजी ने लिखा था—"इस वक्तव्य की प्रेरणा सत्याग्रह-आश्रम के साथियों से हुई एक आपसी बातचीत का परिणाम है।······ इसका मुख्य कारण वह आँखें खोलनेवाली ख़बर थी जो मुझे अपने एक बहुत पुराने और बहुमूल्य साथी के सम्बन्ध में मिली थी। वह जेल का काम पूरा करने को राज़ी न थे और उसके बजाय किताबें पढ़ना पसन्द करते थे। यह सब कुछ सत्याग्रह के नियमों के सर्वथा विरुद्ध था। इस बात से इस मित्र की, जिसेकि मैं बहुत अधिक

प्यार करता था, दुर्बलताओं की अपेक्षा मुझे अपनी दुर्बलताओं का अधिक बोध हुआ। मित्र ने कहा कि उनका ख़याल था कि मैं उनकी दुर्बलता को जानता हूँ लेकिन मैं अन्धा था। नेता में अन्धापन एक अक्षम्य अपराध है। मैंने फौरन यह भाँप लिया कि कम-से-कम इस समय के लिए तो मैं अकेला ही सक्रिय सत्याग्रही रहूँगा।"

अगर गांधीजी के मित्र में यह दुर्बलता या दोष था—अगर वह सचमुच दुर्बलता थी—तो भी यह एक मामूली-सी बात थी। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि मैं अक्सर इस जुर्म का अपराधी रहा हूँ और मुझे उसपर रत्तीभर भी अफ़सोस नही है। लेकिन अगर वह मामला बहुत भारी भी होता तो भी क्या वह महान् राष्ट्रीय संग्राम, जिसमें वीसियों हज़ार प्रत्यक्ष रूप से और लाखों आदमी अप्रत्यक्ष रूप से लगे हुए हैं, महज़ इसलिए कि किसी एक शख्स ने कोई ग़लती कर डाली यकायक रोक दिया जाना चाहिए? यह बात मुझे बहुत भयंकर और हर तरह अनीतिमय मालूम हुई। मैं इस बात की धृष्टता तो नहीं कर सकता कि मैं यह बताऊँ कि सत्याग्रह क्या है और क्या नहीं है लेकिन अपने साधारण तरीक़े पर मैंने भी कुछ आचार-सम्बन्धी आदर्शों के पालन करने का प्रयन्न किया है। गांधीजी के इस वक्तव्य से मेरे उन सब आदर्शों को धक्का लगा और वे सब गड़बड़ हो गये। मैं यह जानता हूँ कि गांधीजी आम तौर पर सहज-ज्ञान के मुताबिक़ काम करते हैं। गांधीजी उसे अपनी अन्तरात्मा की प्रेरणा या प्रार्थना का प्रतिफल कहते हैं, लेकिन मैं उसे सहज-ज्ञान कहना ही पसन्द करता हूँ, और अक्सर ज्यादातर उनका यह सहज-ज्ञान सही निकलता है। उन्होंने बराबर यह दिखा दिया है कि जनता की मनोवृत्ति को समझने और उपयुक्त समय पर काम करने की उनमें कैसी विलक्षण सूझ है। काम कर डालने के बाद उस काम को ठीक ठहराने के लिए वह पीछे से जो कारण पेश करते हैं वे आमतौर पर काम कर बैठने के बाद के सोचे हुए ख़यालात होते हैं और उनसे शायद ही कभी किसीको पूरी तसल्ली होती हो। संकटकाल में नेता या कर्मवीर पुरुष क़रीब-क़रीब हमेशा किसी अज्ञात-प्रेरणा से काम करते हैं और फिर उसके लिए कारण ढूढने लगते हैं। मैंने यह भी महसूस किया कि सत्याग्रह को मुल्तवी करके गांधीजी ने ठीक ही किया। लेकिन उसे मुल्तवी करने के जो कारण उन्होंने बताये हैं वे बुद्धि के लिए अपमानजनक और एक राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता के लिए बहुत ही हैरत-अंगेज़ मालूम होते थे। इस बात का तो उन्हें पूरा हक़ था कि वह अपने आश्रम में रहनेवालों के साथ जैसा चाहते बर्ताव करते, क्योंकि उन लोगों ने सब तरह की प्रतिज्ञायें ले रक्खी थीं और एक तरह का निश्चित अनुशासन स्वीकार कर रक्खा था। लेकिन कांग्रेस ने ऐसी कोई बात नहीं की थी। मैंने ऐसी कोई बात नहीं की थी। फिर हमें उन सब

कारणों के लिए, जो हमें आध्यात्मिक और रहस्यमय मालूम होते थे, और जिनमें हमें कोई दिलचस्पी नहीं थी, कभी इधर और कभी उधर क्यों फेंका जाता था ? क्या कभी ऐसे आधारों पर किसी राजनैतिक आन्दोलन के चलाये जाने की कल्पना की जा सकती है ? मैं यह मानता हूँ कि सत्याग्रह के नैतिक पहलू को अपनी समझ के मुताबिक़ मैंने एक हद तक स्वीकार कर लिया था। उसका वह बुनियादी पहलू मुझे पसन्द था और उससे ऐसा मालूम होता था कि वह राजनीति को अधिक उच्च और श्रेष्ठ पद पर पहुँचा देगा। मै यह भी मानने के लिए तैयार था कि महज़ उद्देश अच्छा होने से उसे हासिल करने के लिए काम में लाये जानेवाले सब प्रकार के उपाय अच्छे नहीं है। लेकिन यह नई तरक्क़ी या नई व्याख्या उससे कहीं ज्यादा दूर जाती थी और उसमे कुछ नई बातें उठ खड़े होने की सम्भावना थी, जिन्होंने मुझे विचलित कर दिया।

उस पूरे वक्तव्य ने तो मुझे बहुत ज्यादा विचलित और परेशान किया। उसके अन्त में गांधीजी ने कॉंग्रेसवालों को जो सलाह दी वह यह थी— "उन्हें आत्मत्याग और स्वेच्छापूर्वक ग्रहण की गई दरिद्रता की कला और सुन्दरता को समझना होगा; उन्हें राष्ट्र-निर्माण के काम में लग जाना चाहिए, उन्हें स्वयं हाथ से कात-बुनकर खद्दर का प्रचार करना चाहिए, उन्हें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एक दूसरे के साथ निर्दोष सम्पर्क स्थापित करके लोगों के हृदयों में साम्प्रदायिक ऐक्य का बीज बोना चाहिए; स्वय अपने उदाहरण द्वारा अस्पृश्यता का प्रत्येक रूप में निवारण करना चाहिए और नशेबाज़ों के साथ सम्पर्क स्थापित करके और अपने आचरण को पवित्र रखकर मादक चीजों के त्याग का प्रसार करना चाहिए। ये सेवायें हैं जिनके द्वारा ग़रीबों की तरह निर्वाह हो सकता है। जो लोग ग़रीबी में न रह सकते हों, उन्हें किसी छोटे राष्ट्रीय धन्धे में पड़ जाना चाहिए, जिससे वेतन मिल जाय।"

यह था वह राजनैतिक कार्यक्रम, जिसे पूरा करने के लिए हमसे कहा गया था। ऐसा मालूम पड़ता था कि एक बहुत बड़ा अन्तर मुझे उनसे अलग कर रहा है। अत्यन्त तीव्र वेदना के साथ मैंने यह महसूस किया कि भक्ति के वे सूत्र, जिन्होंने इतने वर्षों से उनसे बाँध रक्खा था, टूट गये हैं। बहुत दिनों से मेरे भीतर एक मानसिक द्वंद्व हो रहा था। गांधीजी नें जो बातें कीं उनमें से बहुत-सी बातें न तो मेरी समझ में ही आईं, न वे मुझे पसन्द ही पड़ीं ! सत्याग्रह की लड़ाई जारी रहते हुए, उसी बीच में जबकि उनके साथी लड़ाई की मँझधार में थे, उनके उपवास और दूसरी बातों में अपनी ताक़त लगाना, उनकी निजी और स्वयं-निर्मित उलझनें जिन्होंने उन्हें इस असाधारण स्थिति में ला डाला कि जेल से बाहर रहते हुए भी उन्हें अपने लिए यह प्रतिज्ञा करनी पड़ी कि वह राजनैतिक आन्दोलन में भाग नहीं लेंगे, उनकी नई-नई

निष्ठायें और नई प्रतिज्ञायें, जिन्होंने उनकी पुरानी निष्ठाओं और प्रतिज्ञाओं और कामों को, जो उन्होंने बहुत-से अपने साथियों के साथ लिये थे, और जो अबतक पूरे न हो हो सके थे, पीछे ढकेल दिया। इन सबने मुझे बहुत ही परेशान किया। मैं चन्द दिन जो जेल से बाहर रहा, उस समय मैंने इन और दूसरे मतभेदों को बहुत ही महसूस किया। गांधीजी ने कहा था कि हमारे मतभेदों का कारण स्वभावों की भिन्नता है। लेकिन शायद बात इससे और भी आगे बढ़ी हुई थी। मैंने यह अनुभव किया कि बहुत-से मामलों में मेरे साफ़ और निश्चित विचार हैं और वे उनके विचारों से नहीं मिलते। और फिर भी अबतक मैं इस बात की कोशिश करता रहा कि जहाँतक हो सके, राष्ट्रीय आज़ादी के जिस ध्येय के लिए कांग्रेस कोशिश कर रही थी और जिसके प्रति मेरी अत्यन्त भक्ति थी उसके सामने, मैं अपने ख़यालों को दबाये रखूं। अपने नेता और अपने साथियों के प्रति वफ़ादार और विश्वासपात्र बनने की मैंने हमेशा कोशिश की क्योंकि मेरे आध्यात्मिक दृष्टिबिन्दु से ध्येय के प्रति निष्ठा और अपने साथियों के प्रति वफादारी का स्थान बहुत ऊँचा है। जब-जब मैंने यह महसूस किया कि मुझे अपने आध्यात्मिक विश्वास के लंगर से दूर खींचा जा रहा है, तब-तब मुझे अपने मन में बड़े-बड़े अन्तर्द्वन्द्व लड़ने पड़े हैं, लेकिन उस वक्त मैंने किसी-न-किसी तरह समझौता कर लिया। शायद ऐसा करके मैंने ग़लती की, क्योंकि यह तो किसीके लिए ठीक नहीं हो सकता कि वह अपने आध्यात्मिक लंगर को छोड़ दे। लेकिन आदर्शों की इस टक्कर में मैं अपने साथियों के प्रति वफ़ादारी के आदर्श से चिपटा रहा और यह आशा करता रहा कि घटनाओं की रेल-पेल और हमारी लड़ाई का विकास उन सब मुश्किलों को दूर कर देगा जो मुझे दुःख दे रही हैं और मेरे साथियों को मेरे दृष्टिकोण के नज़दीक ले आयगा।

और अब तो यकायक मुझे अलीपुर की उस जेल में बड़ा अकेलापन मालूम होने लगा। जीवन बहुत ही दुःखमय, जैसे भयावना सूनापन हो। जीवन में मैंने जो कितने ही कठोर सत्य अनुभव किये हैं, उनमें सबसे अधिक कठोर और दुखदायी सत्य इस समय मेरे सामने था, और वह यह था कि महत्वपूर्ण विषयों पर किसीका भरोसा करना उचित नहीं है। हरेक आदमी को अपनी जीवन-यात्रा में अपने ऊपर ही भरोसा रखना चाहिए, दूसरों पर भरोसा करना ज़बर्दस्त निराशा और आफतों को न्योता देना है।

मेरे इस रुके हुए क्रोध का कुछ हिस्सा धर्म और धार्मिक दृष्टिकोण पर टूट पड़ा। मैंने सोचा यह दृष्टिकोण विचारों की स्पष्टता और उद्देश्य की स्थिरता का कितना भारी दुश्मन है? क्या उसका आधार भावुकता और मनोविकार नहीं है? यह दृष्टि-

कोण दावा तो करता है आध्यात्मिकता का, लेकिन असली आध्यात्मिकता और आत्मा की चीज़ों से वह कितनी दूर है ? हमेशा दूसरी दुनिया की बातें सोचते-सोचते मानव-स्वभाव, सामाजिक रूप और सामाजिक न्याय का उसे कुछ पता ही नहीं रहता। अपनी पूर्वकल्पित धारणाओं के कारण धर्म जान-बूझकर इस डर से वास्तविकता से अपनी आँखें मूँद लेना है कि शायद उनसे मेल न खाय। वह अपनी बुनियाद सचाई पर बनाता है फिर भी उसे सत्य को—संपूर्ण सत्य को पा लेने का इतना विश्वास हो जाता है कि वह इस बात के जानने का कष्ट नहीं करता कि उसे जो कुछ मिला है वह असल में सत्य है यह नहीं ? वह तो दूसरों को उसके विषय में कह देना भर ही अपना काम समझता है। सत्य को ढूँढ़ने का संकल्प और विश्वास की भावना दोनों जुदी-जुदी चीज़ें है। धर्म बातें तो शांति की करता है लेकिन उन प्रणालियों और व्यवस्थाओं का समर्थन करता है जो बिना हिंसा के ज़िन्दा नही रह सकती। वह तलवार से की जानेवाली हिंसा की तो बुराई करता है लेकिन उस हिंसा का क्या जो अक्सर शांति का लबादा ओढ़े चुप-चाप आती है और लोगों को भूखों तड़पाती और जान से मार डालती है या जो इससे भी ज्यादा बुरा काम यह करती है कि बिना किसी प्रकार के ज़ाहिरा शरीरिक कष्ट पहुँचाये मन पर बलात्कार करती है, आत्मा को कुचलती है और हृदय के टुकड़े-टुकड़े कर डालती है ?

और इसके बाद मैं फिर उसी शख़्स की बाबत सोचने लगा जिसने कि मेरे मन में यह खलबली पैदा की। आखिर गांधीजी कैसे आश्चर्यजनक आदमी हैं। उनकी मोहकता कितनी हैरत अंगेज़ और सर्वथा अबाध है और लोगों पर उनका कैसा अजीब क़ाबू है। उनकी बातें और उनके लेख उनकी वास्तविकता का बहुत कम परिचय करा पाते हैं। इनसे उनके विषय में लोग जितनी कल्पना कर सकते हैं, उनका व्यक्तित्व उससे कही ऊँचा है। और भारत के लिए उनकी सेवायें कितनी महान् हैं। उन्होंने भारत की जनता में साहस और मर्दानगी फूँक दी है; अनुशासन और कष्ट-सहन, ध्येय पर खुशी-खुशी क़ुर्बान हो जाने की और पूर्ण नम्रता के साथ स्वाभिमान की भावना पैदा कर दी है। उन्होंने कहा है कि चरित्र की वास्तविक नींव साहस ही है। बिना साहस के न तो सदाचार ही सध सकता है, न धर्म और न प्रेम ही। "जब तक कोई भय का शिकार रहता है तबतक वह न तो सत्य का पालन कर सकता है, न प्रेम ही कर सकता है।" हिंसा को वह बहुत ही बुरा समझते हैं, फिर भी उन्होंने हमको यह बताया है कि "कायरता तो एक ऐसी चीज़ है जो हिंसा से भी बुरी है।" और "अनुशासन इस बात की प्रतिज्ञा और गैरंटी है कि आदमी जिस काम को हाथ में ले रहा है उसे करना चाहता है। बलिदान, अनुशासन

और आत्म-संयम के बिना न तो मुक्ति ही हो सकती है, न कोई आशा ही पूरी हो सकती है।" शायद ये कोरे शब्द या सुन्दर वाक्य और खाली उपदेश ही हों। लेकिन इन शब्दों के पीछे ताकत थी, और हिन्दुस्तान यह जानता है कि यह छोटा-सा व्यक्ति जो कहता है, ईमानदारी से पूरा करना चाहता है।

आश्चर्यजनक रूप में वह हिन्दुस्तान के प्रतिनिधि बन गये और इस प्राचीन और पीड़ित भूमि की अन्तरात्मा को प्रकट करने लगे। एक प्रकार से वह खुद भारत के प्रतिबिम्ब थे और उनमें जो त्रुटियाँ थी, वे भारत की त्रुटियाँ थीं। उनका अपमान शायद ही व्यक्तिगत अपमान समझा जाता हो, वह तो सारे राष्ट्र का अपमान था और वाइसराय और दूसरे लोग जो ऐसी घृणित हरकतें कर रहे थे यह नहीं जानते थे कि वे कैसी खतरनाक फ़सल बो रहे हैं। दिसम्बर १९३१ में जब गांधीजी गोलमेज कान्फ्रेंस से लौट रहे थे, तब यह जानकर कि पोप ने गांधीजी से मिलने से इन्कार कर दिया है मुझे कितना दुःख हुआ था वह मुझे याद है। मुझे यह अपमान हिन्दुस्तान का अपमान प्रतीत हुआ और इसमें तो कोई शक ही नही कि इन्कार तो जान-बूझकर किया गया था। यह बात दूसरी है कि ऐसा करते समय शायद अपमान करने की कल्पना न रही हो। कैथोलिक मतानुयायी अपने फिरके से बाहर सन्त और महात्मा का होना स्वीकार नहीं करते और क्योंकि प्रोटेस्टेन्ट मत के कुछ लोगों ने गांधीजी को सच्चा ईसाई और बड़ा धर्मात्मा बताया इसलिए रोम के लिए यह और भी ज़रूरी हो गया कि वह इस कुफ़्र से अपने को अलग रक्खे।

अप्रैल १९३४ में, अलीपुर-जेल में क़रीब-क़रीब इसी समय मैंने बर्नार्ड शा के नये नाटक पढ़े और 'ऑन दि रॉक्स्' (शिला पर) नाम के नाटक की वह भूमिका, जिसमें ईसामसीह और पाइलेट की बहस भी है, मुझे बहुत अच्छी लगी। आज जबकि एक साम्राज्य दूसरे धार्मिक व्यक्ति का मुक़ाबिला कर रहा है मुझे यह भूमिका इस समय के लिए सार्थक प्रतीत हुई। इसमें ईसामसीह ने पाईलेट से कहा है—"मैं तुमसे कहता हूँ कि डर छोड़ दो। रोम की महत्ता के बारे में मुझसे व्यर्थ की बातें मत करो। जिसे तुम रोम की महत्ता कहते हो वह डर के सिवा और कुछ नहीं है। भूत का डर, भविष्य का डर, ग़रीबों का डर, अमीरों का डर, उच्चमठाधीशों का डर, उन यहूदियों और यूनानियों का डर जो विद्वान् हैं, उन गॉल निवासियों, गोथों और हूणों का डर जो जंगली हैं, उस कार्थेज का, जिसके डर से अपनेको बचाने के लिए तुमने उसे बरबाद कर दिया, और अब पहले से भी ज्यादा बुरा डर शाही सीज़र की उस मूर्ति का, जो तुम्हींने बनाई है और मुझ-सरीखे कौड़ीहीन दर-दर के भिखारी का, ठुकराये जानेवाले का, उपहास किये जानेवाले का डर और ईश्वर के राज्य को छोड़

कर बाकी सब चीज़ों का डर । खून-खराबी और धन-दौलत के सिवा और किसी वस्तु में श्रद्धा नहीं । तुम जो रोम के हिमायती हो, जगत-उजागर कायर हो और मैं जो संसार में ईश्वरीय सत्ता का हामी हूँ, प्राणपन की बाज़ी लगा चुका हूं, सर्वस्व तक गवाँ चुका हूँ और इस प्रकार अमर साम्राज्य विजय कर चुका हूँ ।"

लेकिन गांधीजी की महत्ता, भारत के प्रति उनकी महान् सेवायें या मेरे प्रति उनकी महान् उदारतायें, जिनके लिए मैं उनका ऋणी हूँ, इनका कोई प्रश्न ही नहीं है । इन सब बातों के होते हुए भी वह बहुत-सी बातों में, बुरी तरह ग़लती कर सकते हैं । आखिर उनका मक़सद क्या है ? इतने वर्षों तक उनके नज़दीक-से-नज़दीक रहने पर भी मुझे खुद अपने दिमाग़ में यह बात साफ़-साफ़ नहीं दिखाई देती कि उनका ध्येय आखिर क्या है । मुझे तो इस बात में भी शक है कि इस मामले में खुद उनका दिमाग़ कहाँतक साफ़ है । वह कहते हैं कि मेरे लिए तो एक ही क़दम काफ़ी है, और वह भविष्य की तरफ़ देखने की, अपने सामने कोई सुनिश्चित ध्येय रखने की कोशिश नहीं करते । वह यह कहते-कहते कभी नहीं थकते कि हम अपने साधनों की चिंता रक्खें तो साध्य अपने आप ठीक हो जायगा । अपने निजी जीवन में पवित्र बने रहो तो बाक़ी सब बातें अपने आप ठीक हो जायँगी । यह दृष्टि न तो राजनैतिक है, न वैज्ञानिक, और शायद यह तो नैतिक भी नहीं हैं । यह तो संकुचित आचार दृष्टि है, जो इस प्रश्न का, कि सदाचार क्या वस्तु है, पहले से ही निर्णय कर लेती है । क्या वह केवल एक व्यक्तिगत वस्तु है या सामाजिक विषय ? गान्धीजी चरित्र पर ही सब ज़ोर लगा देते हैं, और मानसिक शिक्षा और विकास को बिलकुल महत्व नहीं देते । यह ठीक है कि चरित्र के बिना बुद्धि ख़तरनाक साबित हो सकती है, लेकिन बुद्धि के बिना चरित्र में क्या रह जाता है ? सचमुच, आख़िर चरित्र का विकास कैसे होता है ? गान्धीजी की तुलना मध्यकालीन ईसाई सन्तों से की गई है और वह जो कुछ कहते हैं उसका अधिकांश इसके अनुकूल भी है । लेकिन वह आजकल मनोवैज्ञानिक अनुभव और तरीक़े से क़तई मेल नहीं खाता ।

लेकिन यह कुछ भी हो, ध्येय की अस्पष्टता तो मुझे अत्यन्त खेदजनक प्रतीत होती है । किसी भी कार्य की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उसका ध्येय सुनिश्चित और सुस्पष्ट हो । जीवन केवल तर्कशास्त्र नहीं हैं और यद्यपि उसकी सफलता के लिए समय-समय पर हमें अपने आदर्श बदलने पड़ते हों, फिर भी हमें कोई-न-कोई स्पष्ट आदर्श तो अपने सामने रखना ही होगा ।

मेरा खयाल है कि ध्येय के सम्बन्ध में गांधीजी के विचार उतने अस्पष्ट नहीं हैं जितने वह कभी-कभी मालूम होते हैं । वह किसी एक खास दिशा में जाने के लिए

बहुत अधिक उत्सुक हूं। लेकिन उस तरफ़ जाना आजकल के ख़यालों और आजकल की परिस्थितियों के बिलकुल खिलाफ़ है, और अबतक वह इन दोनों का एक दूसरे से मेल नहीं मिला पाये हैं, न कोई बीच की वे सब पगडण्डियां ही खोज पाये हैं जो उन्हें अपने निश्चित स्थान पर पहुँचा दें। यही उनके ध्येय की अस्पष्टता और उसके स्पष्टीकरण के अभाव का कारण है। लेकिन कोई पचास बरस से, उस वक़्त से, जबसे उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में अपने जीवन-सिद्धान्त निश्चित करना शुरू किये तबसे उनका साधारण दृष्टिकोण कैसा रहा है, यह साफ़ जाहिर है। मुझे पता नहीं कि उनके वे शुरू के लेख, अब भी उनके विचारों के द्योतक हैं या नहीं। वे उनके विचारों को पूरी तरह व्यक्त करते हैं मुझे तो इस बात में शक है, लेकिन फिर भी उनसे हमें उनके विचारों की तह में जो भावनायें काम करती रही है उनके समझने में मदद मिलती है।

१९०९ में उन्होंने लिखा था--"हिन्दुस्तान का उद्धार इसीमें है कि उसने पिछले पचास साल में जो कुछ भी सीखा है उसे भूल जाय। रेलवे, तार या अस्पताल, वकील, डाक्टर और इस तरह की सभी चीजें मिट जानी चाहिएँ, और ऊँची कही जाने-वाली जातियों को स्वेच्छापूर्वक धर्म-भाव से और निश्चित रूप से किसानों का सादा जीवन बिताना सीखना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार का जीवन ही सच्चा सुख देने-वाला है।" और "जब-जब मै रेल या मोटर में बैठता हूँ, मुझे ऐसा महसूस होता है कि जिस बात को मैं ठीक समझता हूँ उसीके साथ मैं ज्यादती कर रहा हूँ।" "इतनी अधिक कृत्रिम और तेज़ी से चलनेवाली चीज़ों से दुनिया का सुधार करने की कोशिश क़तई ग़ैरमुमकिन है।"

ये सब मुझे बिलकुल ग़लत और नुकसान पहुँचानेवाली बातें मालूम होती हैं जिनका पूरा हो सकना असम्भव है। कष्ट-सहन और तपस्वी जीवन के प्रति गांधीजी का जो प्रेम और आदर है वही उक्त सब बातों का कारण है। उनके मत से उन्नति और सभ्यता इस बात में नहीं है कि हम अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाते चले जायं और अपने रहन-सहन का ढंग ज्यादा खर्चीला करलें, बल्कि इस बात में है कि "अपनी ज़रूरतों को स्वेच्छा से और प्रसन्नतापूर्वक हम कम करलें, क्योंकि ऐसा करने से सच्चा सुख और सन्तोष मिलता है और सेवा करने की शक्ति बढ़ती है।" अगर हम एक बार इन उपपत्तियों को मानलें तो गांधीजी के बाक़ी के विचारों और उनके कार्य-कलापों को समझना आसान हो जाता है। लेकिन हममें से ज्यादातर लोग इनको नहीं मानते और जब हम यह देखते हैं कि उनके काम हमारी पसन्द के मुताबिक़ नहीं हैं, तब हम उनकी शिकायत करने लगते हैं।

व्यक्तिगत रूप से मुझे गरीबी की और तकलीफ़ झेलने की तारीफ़ करना पसन्द

नहीं है। मैं यह नहीं समझता कि वे किसी प्रकार वांछनीय हैं, बल्कि मेरी राय में तो उन्हें मिटा देना चाहिए। न मैं सामाजिक आदर्श की दृष्टि से तपस्वी-जीवन को पसन्द करता हूँ, चाहे कुछ व्यक्तियों के लिए वह ठीक ही हो। मैं सादगी, समानता और आत्म-संयम चाहता हूँ और उसकी क़द्र भी करता हूँ, लेकिन शारीरिक दमन करने के पक्ष में नहीं हूँ। मेरा विश्वास है कि जैसे खिलाड़ी या पहलवान के लिए अपने शरीर की साधना ज़रूरी है वैसे ही इस बात की भी ज़रूरत है कि हम अपने मन और अपनी आदतों को साधें और उन्हें अपने नियन्त्रण में रक्खें। यह आशा करना तो बेहूदगी होगा कि जो व्यक्ति अत्यधिक विलासमय जीवन में फँसा हुआ है, वह संकट के दिन आने पर ज्यादा तक़लीफ़ बर्दाश्त कर सकेगा या असाधारण आत्म-संयम दिखा सकेगा या वीरोचित व्यवहार कर सकेगा। नैतिक दृष्टि से उच्च रहने के लिए भी साधना की कम-से-कम उतनी ही ज़रूरत है जितनी कि शरीर को अच्छी हालत में रखने के लिए। लेकिन सचमुच इसके मानी न तो सीमारहित संयम है और न आत्मपीड़न ही है।

'किसानों की-सी सादा जिन्दगी' का आदर्श मुझे ज़रा भी अच्छा नही लगता। मैं तो क़रीब-क़रीब उससे घबड़ाता-सा हूँ और खुद उनकी सी ज़िन्दगी बर्दाश्त करने के बदले मैं तो किसानों को भी उस ज़िन्दगी में से खींचकर बाहर निकाल लाना चाहता हूँ—उन्हें शहरी बनाकर नहीं बल्कि देहातों में शहरों की सांस्कृतिक सुविधायें पहुँचा कर। किसानों की सी यह सादा ज़िन्दगी मुझे सुख तो क़तई नहीं देती, वह तो मुझे क़रीब-क़रीब उतनी ही बुरी मालूम होती है जितना कि जेलखाना। आखिर "फावडेवाले आदमियों" में ऐसी क्या बात है कि उसे अपना आदर्श बनाया जाय? असंख्य युगों से इस पद-दलित और शोषित प्राणी में और उन पशुओं में जिनके साथ वह रहता है, कोई अन्तर नहीं रह गया है।

"किसने यों कर दिया उसे है मृत-सा हर्ष-निराशा से?
व्याकुल नहीं शोक से होता, और प्रफुल्लित आशा से।
स्तब्ध, मूक, जड़रूप खड़ा वह, करे शिकायत क्या किससे?
मानव है या वृषभ सहोदर उपमा इसकी दें जिससे।"[१]

मानव-बुद्धि से काम न लेकर पुराने जंगलीपन की स्थिति में, जहाँ बौद्धिक विकास के लिए कोई स्थान नहीं था, पहुँचने की बात मेरी समझ में बिलकुल नहीं

१. मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है :—

"Who made him dead to rapture and despair,
A thing that grieves not and that never hopes,
Stolid and stunned, a brother to the ox?"

आती। स्वयं उस वस्तु को, जो मानवप्राणी के लिए उसकी विजय और गौरव की बात है, बुरा बताया जाता है और अनुत्साहित किया जाता है और वह भौतिक स्थिति, जो दिमाग़ के लिए भाररूप है और उसकी तरक्क़ी को रोकती है, वांछनीय समझी जाती है। वर्तमान सभ्यता बुराइयों से भरी हुई है, लेकिन उसमें अच्छाइयाँ भी भरी पड़ी हैं, और उसमें वह ताक़त भी है जिससे वह अपनी बुराइयों को दूर कर सके। उसको जड़-मूल से बरबाद करना, उसकी इस ताक़त को भी बरबाद करना होगा और फिर उसी नीरस प्रकाशहीन और दु:खमय स्थिति की ओर पहुँचना होगा। यदि ऐसा करना वांछनीय हो, तो भी वह एक अनहोनी बात है। हम परिवर्तन की नदी को रोक नहीं सकते, न अपने को उसके बहाव से निकाल सकते हैं, और मनोविज्ञान की दृष्टि से हममें से जिन लोगों ने वर्तमान सभ्यता का स्वाद चख लिया है वे उसे भूलकर पुरानी जंगलीपन की स्थिति में जाना पसन्द नही कर सकते।

इस बात को समझना मुश्किल है, क्योंकि ये दोनों दृष्टिकोण बिलकुल जुदे हैं। गांधीजी हमेशा व्यक्तिगत मुक्ति और पाप की भाषा में सोचते हैं, जब कि हममें से अधिकांश लोगों के मन में समाज की भलाई सबसे ऊपर है। मेरे लिए पाप की कल्पना को समझ सकना मुश्किल मालूम पड़ता है और शायद इसीलिए मैं गांधीजी के साधारण दृष्टिकोण को नहीं समझ पाता हूँ। वह समाज या सामाजिक ढांचे को बदलना नही चाहते, वह तो व्यक्तियों में से पाप की भावना को नष्ट कर देना चाहते हैं। उन्होंने लिखा है कि "स्वदेशी का माननेवाला कभी दुनिया को सुधारने के निरर्थक प्रयत्न में हाथ नहीं डालेगा, क्योंकि उसका विश्वास है कि दुनिया उन्हीं नियमों से चलती आई है और चलती रहेगी, जो ईश्वर ने बना दिये हैं।" फिर भी दुनिया को सुधारने के प्रयत्नों में वह काफ़ी आगे बढ़ जाते हैं। पर वह जो सुधार करना चाहते हैं वह है व्यक्तिगत सुधार, जिसके मानी हैं इन्द्रियों पर और उनका उपभोग करने की पापमयी इच्छा पर, विजय प्राप्त करना। फ़ासिज्म पर लिखनेवाले एक योग्य रोमन कैथोलिक लेखक ने आज़ादी की जो परिभाषा की है, शायद गांधीजी उससे सहमत होंगे। वह परिभाषा यह है—"आज़ादी पाप के बन्धन से छुटकारा पाने के सिवाय और कुछ नहीं है।" दो सौ बरस पहले लन्दन के बिशप ने जो शब्द लिखे थे उनसे यह कितना मिलता-जुलता है। वे शब्द ये थे—"ईसाई धर्म जो आज़ादी देता है वह है पाप और शैतान के बन्धनों से और मनुष्य की बुरी कामनाओं, वासनाओं और असाधारण इच्छाओं के जाल से मुक्ति।"[१]

१. यह उद्धरण जिस पत्र से लिया गया है वह ४५६ पृष्ठ पर दिया जा चुका है

अगर एक बार इस दृष्टिकोण को समझ लिया जाय तो स्त्री-पुरुष के सहवास के बारे में गांधीजी का जो रुख है और जोकि आजकल के औसत आदमी को ग़ैर-मामूली-सा मालूम होता है वह भी कुछ-कुछ समझ में आ सकता है। उनकी राय में "जब सन्तान की इच्छा न हो तब स्त्री-पुरुष को आपस में सहवास करना पाप है।" और "सन्तति-निग्रह के कृत्रिम साधनों को काम में लाने का परिणाम नपुंसकता और स्नायविक ह्रास होना है।" "अपने कामों के परिणामों से बचने की कोशिश करना ग़लत और पापमय है। यह बुरा है कि पहले तो ज़रूरत से ज्यादा पेट भरलें और फिर कोई टानिक या दूसरी दवा लेकर उसके नतीजों से बचने की कोशिश करें। और यह तो और भी बुरा है कि कोई शख्स पहले तो अपने पाशविक मनोविकारों को तृप्त करे और फिर उसके परिणामों से बचे।"

ज़ाती तौर पर मैं गांधीजी के इस रुख को बिलकुल अस्वाभाविक और भयावह पाता हूँ और अगर गांधीजी की बात सही है तो मैं तो उन पापियों में से हूँ जो नपुंसकता और स्नायविक ह्रास के नज़दीक पहुँच चुके है। रोमन कैथोलिकों ने भी बड़े ज़ोरों से सन्तति-निग्रह की मुख़ालिफ़त की है। लेकिन वे अपनी दलीलों को उस आख़िरी दर्जे तक नहीं ले गये जिस दर्जे तक गांधीजी ले गये हैं। उसे वे इन्सानी फ़ितरत समझते है, उसके साथ उन्होंने कुछ समझौता कर लिया है और समयानुसार छूट देदी हैं।[1] लेकिन गांधीजी तो अपनी दलील की आख़िरी हद तक पहुँच गये हैं और वह तो सन्तान पैदा करने के सिवा और किसी भी समय स्त्री-पुरुष के प्रसंग को ज़रूरी या जायज़ नहीं समझते। वह इस बात को मानने से इन्कार करते है कि स्त्री-पुरुषों में परस्पर एक दूसरे की तरफ़ क़ुदरती खिंचाव होता है। उनका कहना है—"लेकिन मुझसे कहा जाता है कि यह आदर्श तो असम्भव कल्पना है और स्त्री-पुरुषों में जो एक-दूसरे के लिए स्वाभाविक आकर्षण होता है उसे मैं ध्यान में नहीं रखता। मैं यह मानने से इन्कार करता हूँ कि जिस आकर्षण का संकेत किया गया वह किसी भी हालत में प्राकृतिक माना जा सकता है, और अगर वह ऐसा ही है तो

**१. ईसाइयों के विवाह के बारे में ११ वें पायस पोप ने ३१ दिसम्बर १६३१ को जो धर्माज्ञा दी है उसमें कहा है—"अगर विवाहित लोग अपने हक़ों का गम्भीर और प्राकृतिक कारणों से उपयोग करें तो यह नहीं माना जाना चाहिए कि वे प्रकृति की व्यवस्था के ख़िलाफ़ काम कर रहे हैं, फिर चाहे समय की परिस्थिति या किसी ख़राबी के कारण उनके बच्चे पैदा हो या न हों!" समय की परिस्थिति से मतलब ज़ाहिरा तौर पर 'सुरक्षित समय कहे जानेवाले' उस वक़्त से है, जब गर्भाधान सम्भव नहीं समझा जाता।**

सर्वनाश को बहुत निकट समझना चाहिए। पुरुष और स्त्री में जो स्वाभाविक सम्बन्ध है वह वही आकर्षण है जो भाई और बहिन में, मां और बेटे में, बाप और बेटी में होता है। यही वह स्वाभाविक आकर्षण है, जो दुनिया को क़ायम रक्खे हुए है।" और आगे चलकर इससे भी ज्यादा ज़ोर से कहते हैं—"नहीं, अपनी पूरी ताक़त के साथ कहना चाहिए कि पति-पत्नि का ऐन्द्रिक आकर्षण भी अप्राकृतिक है।"

ऑडीपस कॉम्प्लेक्स[1] और फ़्रूड के विचारों और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के इस युग में किसी विश्वास को इतने ज़ोरदार शब्दों में प्रकट करना आश्चर्यजनक और असामयिक मालूम होता है। यह तो श्रद्धा का सवाल है, तर्क का नही। इसे आप मानें या न मानें। इसके बारे में कोई बीच का रास्ता नहीं है। अपनी तरफ़ से तो मैं कह सकता हूँ कि इस मामले में गांधीजी बिलकुल ग़लती पर हैं। कुछ लोगों के लिए उनकी सलाह ठीक हो सकती है, लेकिन एक व्यापक नीति के रूप में तो इसका नतीजा यही होगा कि लोग ध्वजभंग, मृगी वग़ैरा तरह-तरह के शारीरिक और स्नायविक बीमारियों के शिकार हो जायँगे। विषय-भोग में संयम ज़रूर होना चाहिए, लेकिन मुझे इस बात में शक है कि गांधीजी के उसूलों से यह संयम किसी बड़ी हद तक हो सकेगा। वह संयम बहुत अधिक कड़ा है, और ज्यादातर लोग यही समझते हैं कि वह उनकी ताक़त के बाहर है, और इसलिए आमतौर पर अपने मामूली तरीक़े पर चलते रहते हैं और अगर नहीं चलते तो पति-पत्नी में खटपट हो जाती है। स्पष्टतः गांधीजी यह समझते हैं कि सन्तति-निग्रह के साधनों से निश्चित रूप से लोग अत्यधिक मात्रा में काम-तृप्ति में लग जायँगे और अगर स्त्री और पुरुष का यह इन्द्रिय-सम्बन्ध मान लिया जाय, तो हर मर्द हर औरत के पीछे दौड़ेगा और इसी तरह हर स्त्री हर पुरुष के पीछे। उनके

१. ऑडीपस थेबीज़ के राजा लेइस का लड़का था। इसके जन्म के समय यह भविष्यवाणी हुई थी कि लेइस अपने लड़के के हाथों मारा जायगा। इसपर लेइस ने उसे एक चरवाहे को दे दिया; और उसने कॉरिन्थ के बादशाह पॉलिबस को दे दिया। उसने उसे अपना दत्तक पुत्र बना लिया। जब ऑडीपस बड़ा हुआ और जब उसे इस भविष्यवाणी का पता लगा कि वह अपने बाप को मार डालेगा अपनी मा से शादी कर लेगा, तो घर छोड़कर चल दिया। रास्ते में उसे उसका बाप लेइस और मा जोकेस्टा मिली। वह उन्हें पहचानता न था, अतः बात-ही-बात में उत्तेजना बढ़ जाने पर उसने लेइस को मार डाला और जोकेस्टा से शादी कर ली। इससे उसके तीन बच्चे हुए। अतः मनःशास्त्री फ़्रूड के मतानुसार 'ऑडीपस कॉम्प्लेक्स' का अर्थ है, वह चित्तवृत्ति जिसके अनुसार लड़के की अपनी मा के प्रति और लड़की का अपने पिता के प्रति कामुक आकर्षण हो।

दोनों निष्कर्षों में से एक भी सही नहीं है, और यद्यपि यह सवाल बहुत महत्वपूर्ण है फिर भी मेरी समझ में यह नहीं आता कि गांधीजी उसपर इतना ज्यादा जोर क्यों देते हैं। उनके लिए तो इसके दो ही पहलू हैं—इस पार या उस पार; बीच का कोई रास्ता नहीं है। दोनों ओर वह ऐसी पराकाष्ठा को पहुँच जाते हैं जो मुझे बहुत ग़ैर-मामूली और अप्राकृतिक मालूम होती है। इन दिनों हमारे ऊपर काम-शस्त्रसम्बन्धी साहित्य की जो प्रलयकारी बाढ़ आ रही है शायद उसीकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप गांधीजी ऐसी बातें कहते हैं। मैं मानता हूँ कि मैं एक साधारण व्यक्ति हूँ और मेरे जीवन में वैषयिक भावना का असर रहा है। लेकिन न तो मैं कभी उसके क़ाबू में हुआ और न उसकी वजह से कभी मेरे कोई दूसरे काम रुके। वह केवल गौण रूप में ही रही है।

गांधीजी की वृत्ति तो दरअसल उस विरक्त जैसी है जिसने दुनिया और उसके तौर-तरीक़ों से किनारा कर लिया है, जो जीवन को मिथ्या मानता है और उसकी उपेक्षा करता है। किसी योगी के लिए यह है भी स्वाभाविक, लेकिन जो संसारी स्त्री-पुरुष जीवन को मिथ्या नहीं मानते और उसका सर्वोत्तम उपयोग करने की कोशिश करते हैं उनके लिए यह बहुत दूर की बात है। इसलिए, इस एक बुराई से बचने के लिए उन्हें दूसरी और उससे भी बड़ी-बड़ी बुराइयों को बरदाश्त करना पड़ता है।

मैं विषय से बाहर बह पड़ा हूँ। लेकिन अलीपुर-जेल के उन दुःखदायी दिनों में सभी तरह के विचार मेरे मन में छाये रहते थे। वे किसी तर्क-सम्मत क्रम या व्यवस्थित रूप में नहीं होते थे, बल्कि बिखरे हुए और बे-सिलसिलेवार होते थे और अक्सर मुझे व्यग्र और परेशान कर डालते थे। और इन सबसे बढ़कर एकान्त और सूनेपन का वह भाव था जो जेल की दम घोंटनेवाली आबोहवा से और मेरी छोटी-सी एकान्त कोठरी की वजह से और भी बढ़ जाता था। अगर मैं जेल से बाहर होता तो मुझे जो चोट पहुँची वह क्षणिक होती और मैं ज्यादा जल्दी नई स्थितियों के अनुकूल बन जाता, और अपना ग़ुब्बार निकालकर अपने मन-माफ़िक काम करके अपने दिल को हलका कर लेता। पर जेल के अन्दर ऐसा नहीं हो सकता था, इसलिए मेरे कुछ दिन बड़ी बुरी तरह बीते। ख़ुशक़िस्मती से मैं बड़ा ख़ुशमिजाज हूँ और मायूसी के हमलों से बड़ी जल्दी सम्हल जाता हूँ। इसलिए मैं अपने दुःख को भूलने लगा। इसके बाद जेल में कमला से मेरी मुलक़ात हुई। उससे मुझे और भी बेहद ख़ुशी हुई और मेरी अकेलेपन की भावना दूर हो गई। मैंने महसूस किया कि कुछ भी क्यों न हो हम एक-दूसरे के जीवन-साथी तो हैं ही।

## ६२

# विकट समस्यायें

जो लोग गांधीजी को व्यक्तिगत रूप से नहीं जानते और जिन्होंने सिर्फ उनके लेखों को ही पढ़ा है वे अक्सर यह सोच बैठते हैं कि गांधीजी कोई विरक्त साधू से हैं—खुश्क जाहिद की तरह मनहूस और मुंह लटकाये हुए। लेकिन गांधीजी के लेख गांधीजी के साथ अन्याय करते हैं। वह जो कुछ लिखते हैं उससे वह खुद कहीं ज्यादा बड़े हैं। इसलिए उन्होंने जो कुछ लिखा है उसको उद्धृत करके उसकी आलोचना करने बैठ जाने से उनके साथ पूरी तरह इन्साफ़ नहीं किया जा सकता। धर्मोपासकों के रास्ते से उनका रास्ता बिलकुल जुदा है। उनकी मुस्कराहट आल्हादकारक होती है, उनकी हँसी सबको हँसा देती है, और वह विनोद की एक लहर बहा देते हैं। उनमें भोले बच्चों की-सी कुछ ऐसी बात है जो मोह लेनेवाली है। जब वह किसी कमरे में पैर रखते हैं तो अपने साथ एक ऐसी ताज़ी हवा का झोंका लेते आते हैं जो वहाँ के वातावरण को आमोदित कर देता है।

वह उलझनों के एक असाधारण नमूने हैं। मेरा ख़याल है कि तमाम मशहूर और ख़ास शख़्स कुछ-न-कुछ हद तक ऐसे ही होते हैं। बरसों इस पेचीदा सवाल ने मुझे परेशान किया है कि यह क्या बात है कि गांधीजी पीडितों के लिए इतना प्रेम और उनकी भलाई का इतना ख़याल रखते हुए भी एक ऐसी प्रणाली का समर्थन करते हैं जो लाज़िमी तौर पर पीड़ितों को पैदा करती है और फिर उन्हें कुचलती है। और यह क्या बात है कि एक तरफ तो वह अहिंसा के ऐसे अनन्य उपासक हैं, और दूसरी तरफ़ एक ऐसे राजनैतिक और सामाजिक ढाँचे के पक्ष में हैं जो सोलहों आने हिंसा और बलात्कार पर ही टिका हुआ है? शायद यह कहना सही नहीं होगा कि वह ऐसी प्रणाली के पक्ष में हैं। वह तो कम-बढ़ एक दार्शनिक अराजक हैं, लेकिन क्योंकि अराजकों का आदर्श एक तो अभी बहुत दूर है और हम आसानी से उसका क़यास भी नहीं कर सकते; इसलिए वह मौजूदा व्यवस्था को मंजूर करते हैं। मेरा ख़याल है कि प्रणाली को बदलने में हिंसा के इस्तैमाल की बाबत उन्हें जो ऐतराज़ है वह महज़ साधन के लिहाज़ से ही नहीं है, क्योंकि मौजूदा व्यवस्था को बदलने के लिए किन ज़रियों से काम लेना चाहिए इस सवाल से बिलकुल अलग हम एक ऐसे आदर्श ध्येय को अपनी आखों के सामने रख सकते हैं, जिसको ज्यादा दूर के भविष्य में नहीं, नज़दीक भविष्य में ही, पूरा कर लेना हमारे लिए मुमकिन है।

कभी-कभी वह अपनेको समाजवादी भी कहते हैं, लेकिन वह समाजवाद शब्द का प्रयोग एक ऐसे अनोखे अर्थ में करते हैं जो खुद उनका अपना लगाया हुआ है और जिसका उस आर्थिक ढांचे से कोई सरोकार नहीं है जो आम तौर पर समाजवाद के नाम से पुकारा जाता है। उनकी रहनुमाई में पीछे-पीछे चलते हुए कुछ नामी-गरामी कांग्रेसी भी उन्हीके अर्थ में समाजवाद शब्द का इस्तैमाल करने लगे हैं, लेकिन उस समाजवाद से उनका मतलब खुदा के बन्दों की एक क़िस्म की गोलमटोल ख़िदमत से होता है। इस गोलमटोल राजनैतिक शब्दावली का प्रयोग करने में वह जो ग़लती करते हैं उसमें बड़े-बड़े नामी शख्स उनके साथ हैं, क्योंकि वह तो सिर्फ़ ब्रिटिश नेशनल सरकार के प्रधान मन्त्री की मिसाल के पीछे ही चल रहे हैं।[1] मैं यह जानता हूँ कि गांधीजी समाजवाद से नावाक़िफ़ नहीं हैं क्योंकि उन्होंने अर्थशास्त्र, समाजवाद और मार्क्सवाद पर भी बहुत-सी किताबें पढ़ी हैं और इन विषयों पर दूसरों के साथ वाद-विवाद भी किया है, लेकिन मेरे मन में यह विश्वास घर करता जाता है कि अत्यन्त महत्व के मामलों में अकेला दिमाग़ बज़ात खुद हमें ज्यादा दूर तक नहीं ले जाता। विलियम जेम्स ने कहा है कि—"अगर आपका दिल नहीं चाहता तो इतमीनान रखिए कि आपका दिमाग़ आपको कभी भी विश्वास नहीं करने देगा।" हमारे मनोविकार हमारी आम निगाह पर शासन करते हैं और मन उनके क़ाबू में रहता है। हमारी बातचीत फिर चाहे वह धार्मिक हो या राजनैतिक या आर्थिक, असल में तो सहज ज्ञान या मनोभावों पर ही निर्भर रहती है। शौपेनहर ने कहा है कि—"मनुष्य जिस बात का संकल्प करे, उसे वह पूरा कर सकता है, लेकिन वह जिस बात का संकल्प करना चाहे उसका संकल्प नहीं कर सकता।'

दक्षिण अफ्रीका में अपने शुरू के दिनों में गांधीजी में बहुत जबरदस्त तबदीली हुई। इससे वह एक दम हिल गये और जीवन के बारे में उनकी विचार-दृष्टि बदल गई। तबसे उन्होंने अपने तमाम खयालों के लिए एक बुनियाद बना ली और अब वह किसी सवाल पर उस बुनियाद से हटकर स्वतन्त्र रूप से विचार नहीं कर सकते। जो लोग उनको कई बातें सुझाते हैं उनकी बातों को वह बड़े भारी धीरज और ध्यान से सुनते हैं, लेकिन उनसे बातें करनेवाले पर यह असर पड़ता है कि वह जो

**१. जनवरी, सन् ३५ में एडिनबरा में अनुदार और यूनियनिस्टों के एसोसियेशन के संघ को एक सन्देश देते हुए मि० रेमजे मेकडोनेल्ड ने कहा था कि—"समय की कठिनाइयां हरेक मुल्क के लोगों के लिए यह लाज़िमी बना रही हैं कि वे एक होकर अपनी तमाम ताक़त से काम करें। यही सच्चा समाजवाद है, और यही सच्ची राष्ट्रीयता भी है और सच बात तो यह है कि सच्चा व्यक्तिवाद भी यही है।"**

शराफ़त व दिलचस्पी दिखा रहे हैं उस सबके बावजूद उन बातों के लिए उनके मन का दरवाज़ा बन्द है। कुछ खयालात से उनका लंगर ऐसा बँध गया है कि और सब बातें उन्हें महत्त्व की नहीं मालूम होतीं। उनकी राय में दूसरी और अ-प्रधान बातों पर ज़ोर देने से ज्यादा बड़ी योजना से ध्यान हट जायगा और उसका रूप विकृत हो जायगा। अगर हम उस लंगर को पकड़े रहे तो नतीजा यह होगा कि दूसरे सभी काम ज़रूरी तौर पर अपने-आप वाजिब तरीक़े से ठीक हो जायँगे। अगर हमारे साधन ठीक हैं तो साध्य भी लाज़िमी तौर पर ठीक हो जायगा।

मेरे ख़याल से उनके विचारों का आधार यही है। वह समाजवाद को और उससे भी ज्यादा ख़ास तौर पर मार्क्सवाद को संदेह की दृष्टि से देखते हैं, क्योंकि वह हिंसा से सम्बन्धित है। "वर्ग-युद्ध" शब्द में ही उन्हें लड़ाई और हिंसा की बू आती है, और इसलिए वह उसे नापसन्द करते हैं। इसके अलावा वह यह भी नहीं चाहते कि आम लोगों के रहन-सहन को एक बहुत मामूली पैमाने से ज्यादा ऊँचा बढ़ाया जाय, क्योंकि अगर लोग ज्यादा आराम से और फ़ुर्सत में रहेंगे तो उससे भोग-विलास और पाप की वृद्धि होगी। यही क्या कम बुरा है कि मुट्ठीभर अमीर लोग भोग-विलास में लगे रहते है, अगर ऐसे लोगों की तादाद और भी बढ़ा दी गई तब तो बहुत ही बुरा हो जायगा। १९२६ में उन्होंने जो एक ख़त लिखा था उससे हम ऐसे कुछ नतीजे निकाल सकते हैं। इंग्लैण्ड में उन दिनों कोयले की खानों में मज़दूरों ने बहुत बड़ी हड़ताल कर दी थी, और खानों के मालिकों ने खानें बन्द कर दी थीं। इस कशमकश के दौरान में उनके पास जो ख़त आया था, उसके जवाब में उन्होंने यह ख़त लिखा था। जिन साहब ने उन्हें ख़त भेजा था, उन्होंने उसमें यह दलील पेश की थी कि इस लड़ाई में मज़दूर हार जायेंगे, क्योंकि उनकी तादाद बहुत ज्यादा है। इसलिए उन्हें चाहिए कि वह कृत्रिम साधनों से मदद लेकर ज्यादा सन्तान पैदा करना बन्द कर दें और इस तरह अपनी तादाद घटा लें। इस ख़त का जवाब देते हुए गांधीजी ने लिखा था—"आख़िरी बात यह है कि अगर खानों के मालिक ग़लत रास्ते पर होने पर भी जीत जायेंगे, तो उनकी यह जीत महज इसलिए नहीं होगी कि मजदूर ज्यादा सन्तान पैदा करते हैं; बल्कि इसलिए होगी, कि मज़दूरों ने जिन्दगी में हर तरफ़ संयम से काम लेना नहीं सीखा। अगर खानों के मज़दूरों के बच्चे न हों तो उन्हें अपनी हालत बेहतर बनाने की कोई प्रेरणा ही नहीं रहेगी, और फिर वे यह बात भी कैसे साबित कर दिखायेंगे कि उनकी मजदूरी बढ़ाई जाने की ज़रूरत है? उनको शराब पीने, जुआ खेलने और सिगरेट पीने की कोई ज़रूरत है? क्या इसके जवाब में यह कहना ठीक होगा कि खानों के मालिक भी तो यह सब काम करते हैं, और फिर भी वे चैन की बंसी बजाते

हैं ? अगर मजदूर इस बात का दावा नहीं कर सकते कि वे कुछ बात में पूंजीपतियों से बेहतर हैं तो फिर उन्हें दुनिया की हमदर्दी हासिल करने का क्या हक़ है ? क्या इसलिए कि वे पूंजीपतियों की तादाद बढ़ावें और पूंजीवाद को मजबूत करें ? हम-से कहा जाता है कि हम लोकतन्त्र के सामने अपने सिर झुका दें,क्योंकि वादा यह किया जाता है कि जब लोकतन्त्र की पूरी हुकूमत होगी तब दुनिया की हालत बेहतर हो जायगी। पूंजीवाद और पूंजीपतियों के सिर हम जिन बुराइयों को थोपते हैं, वे ही खुद हमें और भी ज्यादा बड़े पैमाने पर पैदा नहीं करनी चाहिएँ।"[1]

जब मैंने इसे पढ़ा, तब खानों में काम करनेवाले अंग्रेज़ मजदूरों और उनकी औरतों व बच्चों के भूख से उतरे हुए और पिचके हुए चेहरे मेरी आँखों के सामने आ गये, जो मैंने १९२६ की गर्मियों में देखे थे। वे ग़रीब मजदूर उस समय उन्हें कुचलनेवाली पैशाचिक प्रणाली के ख़िलाफ़ लड़ रहे थे। इस लड़ाई में वे बिल्कुल असहाय थे और उनकी हालत पर रहम आता था। गांधीजी ने जो बातें लिखी हैं, वे पूरी तरह सही नहीं हैं; क्योंकि खानों के मजदूर मजदूरी बढ़वाने के लिए नहीं लड़ रहे थे, वे तो इस बात के लिए लड़ रहे थे कि जो मजूरी उन्हें मिलती है उसमें कमी न की जाय, और जो खानें बन्द करदी गई थीं वे खोल दी जायँ। लेकिन इस वक्त हमें इन बातों से कोई ताल्लुक नहीं। न हमारा ताल्लुक इसी बात से है कि मजदूर लोग कृत्रिम साधनों की मदद लेकर सन्तान पैदा करना रोकें या न रोकें, यद्यपि मालिकों और मजदूरों के लड़ाई-झगड़े को निबटाने के लिए यह एक निराला-सा सुझाव था। मैंने तो गांधीजी के जवाब में से इतनी बात यहाँ इसलिए दी है कि जिससे हम लोगो को यह बात समझने में मदद मिले कि मजदूरों के रहन-सहन के ढंग को ऊँचा बनाने की आम माँग के मामले में और मजदूरों के दूसरे मामलों में गांधीजी का दृष्टिकोण क्या है। उनका यह दृष्टिकोण समाजवादी दृष्टिकोण से—और समाजवादी दृष्टिकोण ही से क्यों, सच बात तो यह है कि पूंजीवादी दृष्टिकोण से भी—काफ़ी दूर है। गांधीजी को इस बात में ज्यादा दिलचस्पी नहीं है कि अगर स्वार्थी समुदाय रास्ते के रोड़े न बनें तो यह बात करके दिखाई जा सकती है कि विज्ञान और धन्धों की कला के जरिये हम आज तमाम लोगों को अबसे कहीं ज्यादा बड़े पैमाने पर खाने-पहनने और रहने को दे सकते हैं और उनके रहन-सहन के ढंग को बहुत ज्यादा ऊँचा कर सकते हैं। असल बात यह है कि एक निश्चित हद से आगे वह इन बातों के लिए बहुत उत्सुक नहीं है। इसीलिए समाजवाद से होनेवाले लाभ की आशा उनके लिए आकर्षक नहीं है

१. गांधीजी ने, 'अनीति की राह पर' नाम की जो किताब लिखी है उसमें यह ख़त दिया गया है।

और पूंजीवाद भी महज़ कुछ हद तक ही बरदाश्त किया जा सकता है—और यह भी इसलिए कि वह बुराई को सीमित रखता है। वह पूंजीवाद और समाजवाद दोनों ही को नापसन्द करते हैं, लेकिन पूंजीवाद को फिलहाल की बुराई समझकर उसे बरदाश्त कर लेते हैं। इसके अलावा वह पूंजीवाद को इसलिए भी बरदाश्त करते हैं, क्योंकि वह तो पहले ही से मौजूद है और उससे आँखें नहीं मूंदी जा सकतीं।

शायद उनके मत्थे ये विचार मढ़ने में मैं गलती पर होऊँ, लेकिन मेरा यह ख़याल ज़रूर है कि वह इसी तरह सोचते मालूम पड़ते हैं, और उनके कथनों में हमें जो विरोधाभास और अस्तव्यस्तता परेशान करती हैं उसका असली कारण यह है कि उनके तर्क के आधार बिलकुल भिन्न हैं। वह यह नहीं चाहते कि लोग हमेशा बढ़ते जानेवाले आराम व फ़ुर्सत को अपने जीवन का लक्ष्य बनावें। वह तो यह चाहते हैं कि लोग नैतिक जीवन की बातें सोचें, अपनी बुरी लतें छोड़ दें, शारीरिक भोगों को रोज़-ब-रोज़ कम करते जायँ और इस तरह अपनी भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति करें; और जो लोग आम लोगों की ख़िदमत करना चाहते हैं उनका काम यह नहीं है कि वे उन लोगों की माली हालत को ऊँचा उठायें, बल्कि उन्हें चाहिए कि खुद उनकी तह पर नीचे चले जायँ और उनके साथ बराबरी की हैसियत से मिलें। ऐसा करते हुए वे लाज़िमी तौर पर कुछ हद तक उनकी हालत बेहतर करने में मदद दे सकेंगे। उनकी राय के मुताबिक़ यही सच्चा लोकतन्त्र है। १७ सितम्बर १९३४ को उन्होंने जो वक्तव्य दिया था, उसमें उन्होंने लिखा है कि, "बहुत-से लोग मेरा विरोध करने में निराश हैं। मेरे लिए यह बात ज़लील करने जैसी है, क्योंकि मैं तो जन्म से ही लोकतन्त्री हूँ। ग़रीब-से-ग़रीब इन्सान के साथ बिलकुल उसीका-सा हो जाना जिस हालत में वह रहता है उससे बेहतर हालत में रहने की ख़्वाहिश छोड़ देना, और अपनी पूरी ताक़त के साथ उसकी तह तक पहुँचने की कोशिश हमेशा स्वेच्छापूर्वक करते रहना। अगर ये ऐसी बातें हैं कि जिनकी बुनियाद पर किसीको यह दावा करने का हक़ मिल सकता है, तो मैं यह दावा करता हूँ।"

इस हद तक तो गांधीजी की बात को सभी लोग मानेंगे कि अपनेको आम लोगों से बिलकुल अलग कर लेना और अपनी विलासिता और लोगों के रहन-सहन के ढंग से कहीं ज्यादा ऊँचे ढंगों की नुमाइश उन लाखों लोगों के सामने करना जिनके पास ज़रूरी-से-ज़रूरी चीज़ों की भी कमी है, बहुत ही बेजा और शर्मनाक है। लेकिन इसके अलावा गांधीजी की बाकी दलीलों और उनके दृष्टिकोण से आजकल का कोई भी लोकतन्त्री, पूंजीवादी या समाजवादी सहमत नहीं हो सकता। मगर जिन लोगों का दृष्टिकोण पुराना धार्मिक दृष्टिकोण है, वे इन बातों से कुछ हद तक

सहमत हो सकते हैं, क्योंकि इन लोगों की भावुकता भी अतीत से बँधी हुई हैं और ये लोग हमेशा हर बात को अतीत की दृष्टि से ही देखा करते हैं। वे 'है' या 'होगा' की बाबत इतना नहीं सोचते, जितना कि 'था' की बाबत। भूतकालिक और भविष्य-कालिक मनोवृत्तियों में ज़मीन और आस्मान का फर्क है। पुराने ज़माने में तो इस बात का सोचा जाना भी मुश्किल था कि आम लोगों की माली हालत को ऊँचा किया जाय। उन दिनों ग़रीब हमारे समाज के अभिन्न अंग बने हुए थे। उस वक़्त तो मुट्ठीभर अमीर लोग थे। वे सामाजिक ढाँचों के मुख्य अंग थे। वे उत्पादन-प्रणाली के जरूरी हिस्से थे, इसीलिए सदाचारी सुधारक और परदुःखकातर सभी लोगों ने उनकी सत्ता स्वीकार करली थी, लेकिन साथ ही, उनको यह बात सुझाने की कोशिश करते रहते थे कि वे अपने ग़रीब भाइयों के प्रति अपने कर्तव्य को न भूलें। वे लोग ग़रीबों के ट्रस्टी होकर रहें, दानी बने, यह उनका उपदेश होता था। इस प्रकार यह दान-पुण्य का एक मुख्य अँग हो गया। राजा-महाराजाओं, बड़े-बड़े ज़मीदारों और पूँजीपतियों के लिए गांधीजी ट्रस्टी बनने के इस आदर्श पर हमेशा ज़ोर देते रहते हैं। वे इस विषय में उन अनेक धार्मिक पुरुषों की परम्परा पर चल रहे हैं, जो समय-समय पर यही कह गये हैं। पोप ने ऐलान किया है कि "अमीरों को यही ख़याल करना चाहिए कि वे सर्वशक्तिमान के ऐसे सेवक और उसकी सम्पत्ति के ऐसे संरक्षक और बाँटनेवाले हैं, जिनके हाथ में ग़रीबों का भाग्य ईसामसीह ने खुद सौंप रक्खा है।" जनसाधारण के हिन्दू-धर्म और इस्लाम में भी यही ख़याल मौजूद है। वे हमेशा पैसेवालों से यह कहते रहते हैं कि दान-पुण्य करो, और पैसेवाले भी मन्दिर या मस्जिद या धर्मशालायें बनवाकर या अपनी धन-दौलत में से ग़रीबों को कुछ ताँबे-चाँदी के गोल-गोल टुकड़े देकर उनका हुक्म बजा लाते हैं और यह सोचने लगते है कि हम लोग बड़े धर्मात्मा हैं।

तेरहवें पोप लियो ने मई १८९१ में जो मशहूर धर्माज्ञा निकाली थी, उसमें पुरानी दुनिया का इस मज़हबी रुख़ को दरसानेवाला एक ज्वलन्त वाक्य है। पोप ने कहा था :—

"इसीलिए इन्सान के भाग्य में यही बदा है कि वह धीरज के साथ दुःखों को सहन करता जाय। इन्सान चाहे जितनी कोशिश करे, उसकी ज़िन्दगी को जो बीमारियाँ और तकलीफ़ें रात-दिन परेशान किये रहती हैं, उन्हें हटाने में कोई भी ताक़त या तदबीर कारगर नहीं हो सकती। अगर कोई शख़्स ऐसे हैं जो कहते हैं कि यह बात नहीं है, और जो बुरी तरह दुःखी लोगों को दुःख और वेदना से छुटकारा या उनको शान्ति, आराम और हमेशा भोग की उम्मीद दिलाते हैं, तो वे लोगों को

सरासर धोखा देते हैं। और उनके ये झूठे वादे उन बुराइयों को दुगुना कर देनेवाले हैं। इससे ज्यादा फ़ायदे की बात और कुछ नहीं है कि हम दुनिया को वैसी ही शक्ल में देखें, जैसी कि वह है, और साथ ही दुनिया जिन तकलीफ़ों में फँसी हुई है उनके इलाज के लिए दूसरी जगह तलाश करें।'

इसके आगे हमें यह बताया गया है कि यह "दूसरी जगह" कहाँ है:—

"जो जीवन आनेवाला है और जो जीवन शाश्वत है उसको ध्यान में लाये बिना इस दुनिया को न तो हम अच्छी तरह समझ ही सकते हैं न उसकी कीमत ही आँक सकते हैं...प्रकृति से हम जिस बड़ी सचाई का सबक़ सीखते हैं वह ईसाई धर्म का भी सर्वमान्य सिद्धान्त है—यह कि वास्तव में हमारे जीवन का आरंभ इस लोक को पार करने के बाद ही होगा। ईश्वर ने हमें दुनिया में अनित्य और क्षणभंगुर चीज़ों के लिए नहीं पैदा किया है, बल्कि उन चीज़ों के लिए पैदा किया है जो दिव्य और नित्य हैं। यह दुनिया तो ईश्वर ने हमें देश-निकाले की जगह की बतौर दी है, न कि हमारे अपने देश की तरह। रुपया और वे दूसरी चीज़ें जिन्हें लोग अच्छी और चाहनेलायक़ कहते हैं उनकी बहुतायत भी हो सकती है और अभाव भी हो सकता है—जहाँतक शाश्वत सुख से सम्बन्ध है, उनका होना न होना बराबर है........।"

यह मज़हबी रुख उस प्राचीन काल से बँधा हुआ है जब मौजूदा मुसीबतों से बचने का एकमात्र रास्ता परलोक की शरण लेना था। यद्यपि तबसे लोगों की आर्थिक अवस्था मे कल्पनातीत उन्नति हो चुकी है, फिर भी उस गुज़रे हुए ज़माने की फाँसी हमारे गले में पड़ी हुई है और अब भी कुछ ऐसी आध्यात्मिक बातों पर ज़ोर दिया जाता है जो गोल-मोल हैं और ऊटपटांग-सी हैं और जिनकी नापजोख नहीं हो सकती। कैथोलिक लोगों की निगाह बारहवीं और तेरहवीं सदी की तरफ़ दौड़ती है। दूसरे लोग जिसे अंधकार-युग कहते हैं उसीको ये ईसाई-धर्म का 'स्वर्ण-युग' कहते हैं। जब साधुओं की भरमार थी, जब ईसाई राज धर्मयुद्धों के लिए कूच करते थे और गौथिक ढंगों पर गिरजाघरों का निर्माण होता था, उनकी राय में वह ज़माना सच्चे ईसाई लोकतन्त्र का ज़माना था। उन दिनों मध्यकालीन संघों के शासन में उसकी इतनी उन्नति हुई जितनी न पहले हुई थी न फिर बाद में। मुसलमानों की हसरत की निगाह उस प्रारम्भकाल के खलीफ़ाशाही की ओर दौड़ती है। उनकी दृष्टि में इस्लामी लोकतन्त्र यही था, क्योंकि उन खलीफ़ाओं ने दूर-दूर देशों में अपनी विजय-पताका फहराई थी। इसी तरह हिन्दू भी वैदिक और पौराणिक काल की बातें सोचते हैं और रामराज्य के सपने देखते हैं। फिर भी तमाम तवारीखें हमसे यह कहती हैं कि उन दिनों की अधिकांश जनता बड़ी मुसीबत में रहती थी। उनके लिए तो

अन्न-वस्त्र तक का घोर अभाव था। हो सकता है कि उन दिनों चोटी के कुछ मुट्ठीभर लोग आध्यात्मिक आनन्द का उपभोग करते हों, क्योंकि उनके पास उसके लिए फ़ुर्सत भी थी और साधन भी थे, लेकिन दूसरों के लिए तो यह सोचना भी मुश्किल है कि वे महज़ पेट पालने में दिन-रात जुटे रहने के अलावा और कुछ करते होंगे। जो शख्स भूखों मर रहा है, वह सांस्कृतिक और आध्यात्मिक उन्नति कैसे कर सकता है? वह तो इसी फ़िक्र में लगा रहता है कि खाने का इन्तज़ाम कैसे हो?

उद्योग-धन्धों का ज़माना अपने साथ ऐसी बहुत-सी बुराइयाँ लाया है, जो घनीभूत होकर हमारी नज़रों के सामने घूमती रहती हैं। लेकिन हम भूल जाते हैं कि समस्त संसार और खासकर उन हिस्सों में, जहाँ उद्योग-धन्धे बहुतायत से छा गये हैं, इसने भौतिक प्रगति की ऐसी बुनियाद डाल दी है, जो बहुजनसमाज के लिए सांस्कृतिक और आध्यात्मिक प्रगति को अत्यन्त सुगम कर देती है। यह बात हिन्दुस्तान में या दूसरे औपनिवेशिक देशों में साफ़ ज़ाहिर नहीं दिखाई देती है, क्योंकि हम लोगों ने उद्योगवाद से फ़ायदा नहीं उठा पाया है। हम लोगों का तो उलटा उद्योगवाद ने शोषण किया है, और बहुत-सी बातों में हमारी हालत माली निगाह से भी पहले से भी बदतर हो गई है—सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से तो वह और भी ज्यादा बुरी हो गई है। इस मामले में कुसूर उद्योगवाद का नहीं, बल्कि विदेशी आधिपत्य का है। हिन्दुस्तान में जो चीज़ पाश्चात्यकरण के नाम से पुकारी जाती है, उसने कम-से-कम इस वक्त के लिए तो, असल में, माण्डलिकशाही को और भी मज़बूत कर दिया है। उसने हमारे एक भी मसले को हल करने के बदले उसे और भी पेचीदा कर दिया है।

लेकिन यह तो हमारी बदक़िस्मती की बात हुई। मगर इस भावना से हमें आज की दुनिया को नहीं देखना चाहिए। क्योंकि मौजूदा हालत में तमाम समाज के लिए या उत्पादन-व्यवस्था के लिए धनवान लोग अब न तो ज़रूरी ही रहे हैं, न वाञ्छनीय ही। अब वे फ़जूल हो गये हैं और हर वक्त हमारे रास्ते में रोड़े की तरह अटकते हैं। और धर्माचार्यों के उस पुरातन उपदेश के कोई मानी नहीं रहे, कि धनवान लोग दान-पुण्य करें और ग़रीब जिस हालत में हैं उसीमें संतुष्ट रहें और उसके लिए ईश्वर का धन्यवाद करें, मितव्ययी बनें, और भले आदमियों की तरह रहें। अब तो मानव-समाज के साधन प्रचुरता से बढ़ गये हैं, और वह सांसारिक समस्याओं का सामना कर उनका उपाय कर सकता है। ज्यादातर अमीर लोग निश्चित रूप से दूसरों के श्रम के बल पर जीवन व्यतीत करते हैं, और समाज में ऐसे पराश्रयी समुदाय का होना न केवल इन उत्पादक शक्तियों के मार्ग में बाधा है वरन् उनका अपव्यय करने-

वाला भी है। यह समाज और जो प्रणाली इस जमात को पैदा करती है वह वास्तव में उद्यम और पैदावार को रोकती है और समाज के दोनों भागों के बेकारों को शह देती है, यानी उन लोगों को भी जो दूसरों की मेहनत पर चैन करते हैं और उनको भी जिनको कोई काम ही नहीं मिलता और जो इसीलिए भूखों मरते हैं। खुद गांधीजी ने कुछ वक्त पहले लिखा था—"बेकार और भूखों मरनेवाले लोगों के लिए तो मज़दूरी और वेतन-रूपी भोजन का आश्वासन वही ईश्वर हो सकता है। ईश्वर ने अपने बन्दों को इसलिए पैदा किया था कि वे कमाकर खावें और उसने कह दिया था कि जो बिना कमाये खाते हैं वे चोर हैं।"

उनकी मिल्कियत के अधिकारों को सीमित कर दिया गया है। युद्ध के समय में तो निजी सम्पत्ति के अधिकारों पर लगातार कुठाराघात होता रहता है। निजी सम्पत्ति दिन-पर-दिन स्थूल रूप छोड़कर नये-नये रूप धारण कर रही है—जैसे शेयर, बैंक में जमा की हुई और क़र्ज़ के रूप में दी गई पूंजी। ज्यों-ज्यों सम्पत्ति-सम्बन्धी धारणा बदलती जाती है राज्य अधिकाधिक दस्तन्दाज़ी करता जाता है और जनता की माँगों के फलस्वरूप सम्पत्तिवालों के अन्धाधुन्ध अधिकारों को सीमित कर देता है। सभी प्रकार के भारी-भारी टैक्स, जो एक प्रकार की ज़ब्ती है, सार्वजनिक हित के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकारों का अपहरण-मात्र है। सार्वजनिक हित सार्वजनिक नीति की बुनियाद है और किसी व्यक्ति को यह हक़ नहीं है कि वह अपने साम्पत्तिक अधिकारों की रक्षा के लिए भी इस सार्वजनिक हित के विरुद्ध काम करे। अगर देखा जाय तो पिछले ज़माने में भी ज्यादातर लोगों के कोई साम्पत्तिक अधिकार नहीं थे, वे खुद भी दूसरों की मिल्कियत बने हुए थे। आज भी बहुत कम लोगों को ये हक़ हासिल हैं। स्थापित स्वार्थों की बात बहुत सुनाई देती है, लेकिन आजकल तो एक नया स्थापित स्वार्थ और माना जाने लगा है, और वह स्वार्थ यह है कि हर औरत और मर्द को यह हक़ है कि वह ज़िन्दा रहे, मेहनत करे और अपनी मेहनत के फलों का उपभोग करे। सिर्फ़ इन बदलती रहनेवाली धारणाओं के कारण मिल्कियत और सम्पत्ति लोप नहीं हो जाती, बल्कि उनका क्षेत्र और अधिक व्यापक हो गया है, और मिल्कियत और सम्पत्ति के कुछ थोड़े ही लोगों के पास केन्द्रित हो जाने से इन लोगों को दूसरों पर जो अधिकार प्राप्त हो गया था वह फिर सारे समाज के हाथों में वापस ले लिया जाता है।

गांधीजी लोगों का आन्तरिक, नैतिक और आध्यात्मिक सुधार चाहते हैं और इस प्रकार सारी बाह्य परिस्थिति को ही बदल देना चाहते हैं। वह चाहते हैं कि लोग बुरी आदतें छोड़ दें, इन्द्रियों के भोगों को तिलाञ्जलि दे दें और पवित्र बन जायें।

वह इस बात पर ज़ोर देते हैं कि लोग ब्रह्मचर्य से रहें, नशा न करें, न सिगरेट वग़ैरा पीवें। इस मामले में लोगों में मतभेद हो सकता है कि इन भोगों में से कौन-सा ज्यादा बुरा है और कौन-सा कम। लेकिन क्या इस बात में किसीको शक हो सकता है कि ये व्यक्तिगत त्रुटियाँ व्यक्तिगत दृष्टि से भी और सामाजिक दृष्टि से तो और भी कम अधिक हानिकारक हैं—बनिस्बत लालच, ख़ुदगर्ज़ी, परिग्रह, ज़ाती फ़ायदे के लिए व्यक्तियों के भयानक लड़ाई-झगड़े, जमातों और फ़िरक़ों के क्रूर संघर्ष, एक जमात द्वारा दूसरी जमात के अमानुषिक शोषण और दमन व राष्ट्रों की आपस की भयानक लड़ाइयों के? यह सच है कि गांधीजी इस तमाम हिंसा और पतनकारी संघर्ष से नफ़रत करते हैं। लेकिन क्या ये सब बातें आजकल के स्वार्थी पूंजीपति समाज में स्वाभाविक रूप में मौजूद नहीं हैं, जिसका क़ानून यह है कि बलवान लोगों को कमज़ोरों का शिकार करना चाहिए, और पुराने ज़माने की तरह जिसका मूलमन्त्र यह है कि "जिनके बाज़ुओं में ताक़त है वे जो चाहें सो लेलें और जो रख सकते हैं वे जो चाहें अपने पास रखें?" इस युग की मुनाफ़े की भावना का लाज़िमी परिणाम संघर्ष होता है। यह सारी प्रणाली मनुष्य की लूट-खसोट की सहज वृत्तियों का पोषण करती है और उसको फलने-फूलने की पूरी सुविधा देती है। इसमें सन्देह नहीं कि इससे मनुष्य की उच्च भावनाओं को भी शह मिलती है; लेकिन इनकी अपेक्षा उसकी हीन वृत्तियों को कहीं अधिक पोषण मिलता है। इस प्रणाली में कामयाबी के मानी है दूसरों को नीचे गिरा देना और गिरे हुओं पर चढ़ बैठना। अगर समाज इन उद्देश्यों और महत्त्वाकांक्षाओं को प्रोत्साहित करता है और इन्हींकी तरफ़ समाज के सर्वोत्तम व्यक्ति आकृष्ट होते हैं, तो क्या गांधीजी यह समझते हैं कि ऐसे वातावरण में वह अपने मानव-समाज को सदाचारी बनाने के आदर्श को पूरा कर सकेंगे? वह जनता को सेवाभावमय बनाना चाहते हैं। सम्भव है, कुछ व्यक्तियों को बनाने में उन्हें कामयाबी भी मिल जाय; लेकिन जबतक समाज स्वार्थी शोषक-समाज के शूरमाओं को लोगों के सामने आदर्श के रूप में अपने सामने रक्खेगा और जबतक व्यक्तिगत लाभ की भावना उसकी प्रेरक शक्ति बनी रहेगी तबतक बहुजन-समाज तो इसी मार्ग पर चलता रहेगा।

लेकिन यह मसला तो अब महज़ सदाचार या नीति के वादविवाद का नहीं है। यह तो आजकल का एक बहुत ज़रूरी मसला है, क्योंकि दुनिया ऐसे दलदल में फँस गई है जिससे निकलने की कोई उम्मीद नहीं। उसे उससे निकालने के लिए कोई-न-कोई रास्ता ढूंढना ही होगा। मिकावर[1] की तरह हम इस बात का इन्तजार नहीं कर

१. मिकावर, विल्किन्स, श्री चार्ल्स डिकिन्स के 'डेविड कॉपरफ़ील्ड' नामक

सकते कि कुछ-न-कुछ अपने-आप हो जायगा। न तो पूंजीवाद, समाजवाद, कम्यूनिज्म आदि के बुरे पहलुओं की निरी आलोचना करने से और न यह निराधार आशा लगाये बैठे रहने से, कि कोई ऐसा बीच का रास्ता निकल आयगा जो अभीतक की सब पुरानी और नई प्रणालियों में की चुनी हुई सर्वोत्कृष्ट बातों को एक जगह मिला देगा, कुछ काम नहीं चलेगा। बीमारी का निदान करना होगा, उसका इलाज मालूम करना होगा, और उसे काम में लाना पड़ेगा। यह बिलकुल निश्चित है कि हम जहां हैं वहां-के-वहीं खड़े नहीं रह सकते—न तो राष्ट्रीय दृष्टि से, न अन्तर्राष्ट्रीय से ही। हमारे लिए दो ही रास्ते हो सकते हैं, या तो पीछे हटें या आगे बढ़ें। लेकिन शायद इस बात में हम स्वतन्त्र भी नहीं हैं, क्योंकि पीछे हटने की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती।

फिर भी गांधीजी की बहुत-सी कार्रवाइयों से कोई भी यह सोच सकता है कि उनका ध्येय तो स्वाश्रयी व्यवस्था को फिर से ले आना है। न केवल राष्ट्र बल्कि गांव तक को स्वाश्रयी बना देना है। प्राचीन काल के प्रारम्भिक समाजों में गाँव कम या बढ़ स्वावलम्बी थे। वे अपने खाने को नाज, पहनने को कपड़े और अपनी जरूरतों के दूसरे सामान गाँव में पैदा कर लेते थे। निश्चय ही इसके मानी ये हैं कि लोग बहुत ही गरीबी के ढंग से रहते होंगे। मैं यह नहीं समझता कि गांधीजी हमेशा के लिए यही लक्ष्य बनाये रखना चाहते हैं, क्योंकि यह तो असम्भव लक्ष्य है। ऐसी हालत में जिन मुल्कों की आबादियां बहुत बढ़ी हुई हैं, वे तो जिन्दा ही नहीं रह सकते। इसलिए वे इस बात को बरदाश्त नहीं करेंगे कि इस कष्टमय और भूखों मरने की स्थिति की ओर लौटा जाय। मेरा ख़याल है कि हिन्दुस्तान जैसे कृषि-प्रधान देश में, जहाँ कि रहन-सहन का पैमाना बहुत नीचा है, ग्रामीण उद्योगों को तरक्क़ी देकर वहाँ की जनता के पैमाने को कुछ ऊँचा कर सकते हैं। लेकिन हम लोग बाक़ी दुनियाँ से उसी तरह बंधे हुए हैं जैसे दूसरे मुल्क बंधे हुए हैं, और मुझे यह बात बिलकुल ग़ैरमुमकिन मालूम देती है कि हम उनसे अलग होकर रह सकें। इसलिए हमें सब बातों को तमाम दुनिया की निगाह से देखना होगा और इस दृष्टि से देखने पर संकुचित स्वाश्रयी व्यवस्था की कल्पना ही नहीं हो सकती। ज़ाती तौर पर मैं तो उसे सब दृष्टियों से अवाञ्छनीय समझता हूँ।

लाज़िमी तौर पर हमारे पास सिर्फ़ एक ही हल मुमकिन रह जाता है और वह

---

**नाटक का एक मशहूर पात्र है, जिसको उदासीनता और प्रसन्नता क्षण-क्षण में एक-दूसरी का स्थान लेती रहती थी, जो बड़ा अदूरदर्शी और इसलिए हमेशा मुसीबतों का शिकार रहता था, और जो सदैव इस बात की प्रतीक्षा में रहता था कि अपने-आप कुछ-न-कुछ होने ही वाला है।**

है एक समाजवादी व्यवस्था की स्थापना। यह व्यवस्था पहले राष्ट्रीय सभाओं के अन्दर क़ायम होगी, फिर कालान्तर में तमाम दुनिया में। इस व्यवस्था में उत्पादन और सम्पत्ति का बटवारा सार्वजनिक हित की दृष्टि से और जनता के हाथों से होगा। यह कैसे हो, यह एक दूसरा सवाल है। लेकिन इतनी बात साफ़ है कि महज़ इस ख़याल से कि जिन थोड़े से लोगों को मौजूदा व्यवस्था से फ़ायदा पहुँचता है वे उसे बदलने में ऐतराज़ करते हैं, हमें अपने राष्ट्र या मनुष्य-जाति की भलाई के काम को नहीं रोकना चाहिए। अगर राजनैतिक या सामाजिक संस्थायें ऐसी तबदीली के रास्ते में अड़चन डालती हैं, तो उन संस्थाओं को मिटाना होगा। उस वाञ्छनीय और व्यावहारिक आदर्श को तिलांजली देकर इन संस्थाओं से समझौता करना बहुत बुरा विश्वासघात होगा। दुनिया की हालतें इस तबदीली के लिए कुछ हद तक मजबूर और इसकी रफ्तार को तेज कर सकती हैं। लेकिन पूरे तौर पर तो वह तबतक मुश्किल से ही हो सकती है जबतक जिन लोगों का उससे फ़ायदा है उनमें से बहुत बड़ी तादाद उसे अपनी खुशी से न चाहे और न मंजूर करे। इसीलिए इस बात की ज़रूरत है कि उनको समझा-बुझाकर इस तबदीली के पक्ष में कर लिया जाय। मुट्ठीभर लोगों का षड्यन्त्र करके हिंसात्मक काम करने से काम नहीं चलेगा। कुदरतन कोशिश तो इस बात की की जानी चाहिए कि जिन लोगों को मौजूदा व्यवस्था से फ़ायदा पहुँचता है वे भी हमारे साथ हो जायँ, लेकिन यह बात मुमकिन नहीं मालूम होती कि उनमें का अधिकांश कभी हमारी तरफ़ हो सकेगा।

गांधीजी के ख़ास तौर पर प्रिय खादी-आन्दोलन से उत्पत्ति के काम में व्यक्तिवाद और भी गहरा होता है और इस तरह वह हमें औद्योगिक ज़माने से पीछे फेंक देता है। आजकल के किसी भी बड़े मसले को हल करने के लिहाज़ से तो आप उसपर बहुत भरोसा कर ही नहीं सकते। इसके अलावा उससे एक ऐसी मनोवृत्ति पैदा होती है जो हमें सही दिशा की तरफ़ बढ़ने देने में अड़चन साबित हो सकती है। फिर भी, मैं मानता हूँ कि, कुछ समय के लिए उसने बहुत फ़ायदा पहुँचाया और भविष्य में भी कुछ समय के लिए और लाभदायक हो सकता है, उस वक्त तक के लिए जबतक कि सरकार व्यापक रूप से देशभर के लिए कृषि और उद्योग-धन्धों से सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्नों को ठीक तरह से हल करने के काम को खुद अपने हाथ में नहीं लेलेती। हिन्दुस्तान में इतनी ज्यादा बेकारी है जिसका कहीं कोई हिसाब ही नहीं है, और देहाती क्षेत्रों में तो आंशिक बेकारी इससे भी कहीं ज्यादा है। सरकार की तरफ़ से इस बेकारी का मुक़ाबिला करने के लिए कोई कोशिश नहीं की गई है, न उसने बेकारों को किसी क़िस्म की मदद देने की ही कोशिश की है।

आर्थिक दृष्टि से खादी ने उन लोगों को कुछ थोड़ी-सी मदद जरूर दी है, जो बिलकुल या कुछ हद तक बेकार थे; और क्योंकि उनको जो कुछ मदद मिली वह उनकी अपनी कोशिश से मिली, इसलिए उसने उनके आत्मविश्वास का भाव बढ़ाया है और उनमें स्वाभिमान का भाव जागृत कर दिया है। सच बात यह है कि खादी का सबसे ज्यादा अच्छा परिणाम मानसिक हुआ है। खादी ने शहरवालों और गाँववालों के बीच की खाई को पाटने की कोशिश में कुछ कामयाबी हासिल की है। उसने मध्यमवर्ग के पढ़े-लिखे लोगों और किसानों को एक-दूसरे के नजदीक पहुँचाया है। कपड़ों के पहननेवालों और देखनेवालों दोनों के ही मन पर बहुत असर पड़ता है। इसलिए जब मध्यमवर्ग के लोगों ने सफेद खादी की सादी पोशाक पहनना शुरू किया तो उसका नतीजा यह हुआ कि सादगी बढ़ी, पोशाक की दिखावट और उसका गंवारूपन कम हो गया, और आम लोगों के साथ एकता का भाव बढ़ा। इसके बाद जो लोग मध्यमवर्ग में भी नीची श्रेणी के थे, उन्होंने कपड़ों के मामलों में अमीर लोगों की नक़ल करना छोड़ दिया और खुद सादी पोशाक पहनने मे किसी क़िस्म की बेइज्जती समझना भी छोड़ दिया। सच बात तो यह है कि जो लोग अब भी रेशम और मलमल दिखाते फिरते थे, खादी पहननेवाले उनसे अपनेको ज्यादा प्रतिष्ठित और कुछ ऊँचा समझने लगे। ग़रीब-से-ग़रीब आदमी भी खादी पहनकर आत्मसम्मान और प्रतिष्ठा अनुभव करने लगा। जहाँ बहुत-से खादी-धारी लोग जमा हो जाते थे, वहाँ यह पहचानना मुश्किल हो जाता था कि इनमें कौन अमीर है और कौन ग़रीब और इन लोगों मे साथीपन का भाव पैदा हो जाता था। इसमें कोई शक नही कि खादी ने कांग्रेस को जनता के पास पहुँचने म मदद दी। वह क़ौमी आजादी की वर्दी हो गई।

इसके अलावा, हिन्दुस्तान के कपड़े की मिलों के मालिकों में अपनी मिलों के कपड़ों की क़ीमतें बढ़ाते जाने की जो प्रवृत्ति हमेशा पाई जाती थी उसको भी खादी ने रोका। पुराने जमाने में तो हिन्दुस्तान की इन मिलों के मालिकों को सिर्फ एक ही डर क़ीमतें बढ़ाने से रोकता था, और वह था, विलायती खासतौर पर लंकाशायर, के कपड़ों की क़ीमतों का मुक़ाबिला। जब कभी यह मुक़ाबिला बन्द हो गया, जैसाकि विश्वव्यापी महायुद्ध के जमाने में हुआ था, तभी हिन्दुस्तान में कपड़ों की क़ीमत बेहद चढ़ गई और हिन्दुस्तान की मिलों ने मुनाफ़े में भारी रक़में कमाईं। इसके बाद स्वदेशी की हलचल और विलायती कपड़ों के बहिष्कार के पक्ष में जो आन्दोलन हुआ उसने भी इन मिलों को बहुत बड़ी मदद पहुँचाई, लेकिन जबसे खादी मुक़ाबिले पर आ डटी तबसे बिलकुल दूसरी बात हो गई और मिलों के कपड़ों की क़ीमतें उतनी

न बढ़ सकीं जितनी वे खादी के न होने पर बढ़ती। बल्कि सच बात तो यह है कि इन मिलों ने (साथ ही जापान ने भी) लोगों की खादी की भावना से नाजायज़ फ़ायदा उठाया—उन्होंने ऐसा मोटा कपड़ा तैयार किया, जिसका हाथ के कते और हाथ के बुने कपड़े से भेद करना मुश्किल हो गया। युद्ध की-सी कोई दूसरी ऐसी ग़ैर-मामूली हालत पैदा हो जाने पर, जिसमें विलायती कपड़े का हिन्दुस्तान में आना बन्द हो जाय, हिन्दुस्तानी मिलों के मालिकों के लिए कपड़ों की खरीदार पब्लिक से अब उतना फ़ायदा उठा सकना मुमकिन नहीं है जितना कि १९१४ से बाद तक उठाया गया। खादी का आन्दोलन उन्हें ऐसा करने से रोकेगा और खादी के संगठन में इतनी ताक़त है कि वह थोड़े ही दिनों में अपना काम बढा सकता है।

लेकिन हिन्दुस्तान में खादी के धन्धे के इन सब फ़ायदों के होते हुए भी ऐसा मालूम होता है कि वह संक्रमण-काल की ही वस्तु हो सकती है। मुमकिन है कि इस काल के गुज़र जाने के बाद भी वह एक सहायक धन्धे की तरह चलती रहे, जिससे कि आर्थिक उच्च व्यवस्था—समाजवादी व्यवस्था क़ायम होने में मदद मिले। लेकिन अब आगे तो हमारी मुख्य शक्ति कृषि-सम्बन्धी वर्त्तमान व्यवस्था में आमूल परिवर्त्तन करके औद्योगिक धन्धों के प्रसार में लगेगी। कृषि अथवा भूमि-सम्बन्धी समस्याओं के साथ खिलवाड़ करने से और उन अगणित सरकारी कमीशनों से, जो लाखों रुपये खर्च करने के बाद सिर्फ़ ऊपरी ढांचों में चुट-पुट परिवर्तन करने की तुच्छ तजवीज़ें करते हैं, ज़रा भी लाभ नहीं होगा। हमारे यहाँ जो भूमि-प्रणाली जारी है, वह हमारी आँखों के सामने ढहती जा रही है और वह पैदावार के लिए, बटवारे के लिए, और माक़ूल व बड़े पैमाने पर किये जानेवाले कृषि-प्रयोगों के लिए एक अड़चन साबित हो रही है। इस प्रथा में आमूल परिवर्तन करके छोटे-छोटे खित्तों की जगह संगठित, सामूहिक और सहयोगी कृषि-प्रणाली जारी करके ही थोड़े परिश्रम से ज्यादा पैदावार करके हम मौजूदा हालत का मुक़ाबिला कर सकते हैं। यह ठीक है कि, जैसा गांधीजी को डर है, बड़े पैमाने पर काम कराने से खेती का काम करनेवालों की तादाद कम हो जायगी; लेकिन खेती का काम ऐसा नहीं है कि उसमें हिन्दुस्तान के तमाम लोग लग जायँगे या लग ही सकेंगे। बाक़ी के दूसरे लोगों को सम्भव है कि कुछ हद तक तो छोटे पैमाने पर किये जानेवाले धन्धों में जुटना पड़े, लेकिन ज्यादातर लोगों को तो खास तौर पर बड़े पैमाने पर किये जानेवाले समाज-कृत काम-धन्धों और समाजहित के कामों में लगना होगा।

यह सच है कि कुछ हलकों में खादी से कुछ राहत मिली है, लेकिन उसकी इस कामयाबी में ही एक ख़तरा भी छिपा हुआ है। वह यहाँ की जीर्ण-शीर्ण भूमि-

प्रथा को पोषण दे रही है और उस हद तक उसकी जगह एक उन्नत प्रथा के आने में देर लगा रही है। यह ज़रूर है कि खादी का यह असर इतना काफ़ी ज्यादा नहीं है कि उससे कोई खास फ़र्क पड़े, लेकिन वह प्रवृत्ति ज़रूर मौजूद है। किसान या छोटे किसान-ज़मींदार को उसके खेतों की पैदावार का जो हिस्सा मिलता है वह अब इतना काफ़ी भी नहीं रहा कि जिससे वह उसके ज़रिये अपनी बहुत नीचे गिरी हुई हालत में से भी अपना गुज़ारा करले, जिसपर कि वह पहुँच गया है। अपनी तुच्छ आय बढ़ाने के लिए उसे बाहरी साधनों का सहारा लेना पड़ता है, या जैसा कि वह आम तौर पर करता है, उसे अपना लगान या अपनी मालगुज़ारी अदा करने के लिए और भी ज्यादा क़र्ज़ में फँसना पड़ता है। इस तरह किसान को खादी वग़ैरा से जो ज़ायद आमदनी होती है उससे सरकार या ज़मींदार को अपना हिस्सा वसूल करने में मदद मिलती है, जो उसके अभाव में नही मिलती। और अगर यह ज़ायद आमदनी बहुत काफ़ी होती, तो यह भी मुमकिन हो सकता था कि कुछ दिनों बाद लगान इतना बढ़ जाय कि वह इसे भी हड़प जाता। मौजूदा प्रथा में काश्तकार जितनी ज्यादा मेहनत करेगा और जितनी ज्यादा किफ़ायतशारी करने की कोशिश करेगा, आखिर में ज़मींदार को उतना ही ज्यादा फ़ायदा पहुँचेगा। जहाँतक मुझे याद है, हेनरी जार्ज ने 'तरक्की और ग़रीबी' (Progress and Poverty) नाम की किताब में इस मामले को, ख़ास तौर पर आयर्लैण्ड की मिसालें दे-देकर, अच्छी तरह समझाया है।

गाँवों के धन्धों का पुनरुद्धार करने की गांधीजी जो कोशिश कर रहे हैं वह उनके खादीवाले कार्यक्रम का विस्तार ही है। उससे तात्कालिक लाभ होगा—कुछ अंश में तो स्थायी, और शेष अधिकांश थोड़े दिनों के लिए। वह गाँववालों की उनकी मौजूदा मुसीबत में मदद करेगा और कुछ ऐसे सांस्कृतिक और कला-कौशल-सम्बन्धी गुणों को, जिनके नष्ट हो जाने की आशंका थी, फिर से ज़िन्दा कर देगा। लेकिन जिस हद तक यह कोशिश मशीनों के और उद्योगवाद के ख़िलाफ़ एक बग़ावत है, वहाँतक उसे कामयाबी नहीं मिलेगी। हाल ही में 'हरिजन' में गाँव के धन्धों के बारे में गांधीजी ने लिखा है—"मशीनों से उस वक्त काम लेना अच्छा है जब जिस काम को हम पूरा करना चाहते हैं उसे पूरा करने के लिए काम करनेवाले बहुत कम हों। लेकिन जैसा कि हिन्दुस्तान में है, अगर काम के लिए जितने आदमियों की ज़रूरत है उससे ज्यादा आदमी मौजूद हों तो, मशीनों से काम लेना बुरा है। ...हम लोगों के सामने यह सवाल नहीं है कि हम अपने गाँव के रहनेवाले करोड़ों लोगों को काम से छुट्टी या फुर्सत किस तरह दिलावें। हमारे सामने जो मसला है, वह तो यह है, कि हम उनके उन बेकारी के

घण्टों का किस तरह इस्तैमाल करें जिनकी तादाद साल में काम के छः महीनों के बराबर है।" लेकिन यह ऐतराज़ तो थोड़ी-बहुत मात्रा में उन सब मुल्कों के लिए लागू होता है जो बेकारी की मुसीबत में पड़े हुए हैं। लेकिन सचमुच ख़राबी यह नहीं है कि लोगों के करने के लिए काम नहीं है, वह तो यह है कि मौजूदा पूंजीपति-प्रणाली में अब अधिक लोगों को काम में लगाना लाभकर नहीं होता। काम की तो इतनी बहुतायत है कि वह पुकार-पुकारकर कह रहा है कि आओ, आओ और मुझे पूरा करो—जैसे सड़कों का बनाना, सिंचाई का इन्तज़ाम करना, सफ़ाई और दवादारू की सहूलियतों को फैलाना, धन्धों का, बिजली का, सामाजिक और सांस्कृतिक सेवाओं का और तालीम का प्रसार करना और लोगों के पास जिन बीसियों ज़रूरी चीज़ों की कमी है उनका इन्तज़ाम करना। हमारे करोड़ों भाई अगले पचास साल तक इन कामों में बड़ी मेहनत करके भी उन्हें खत्म न कर पायँगे और लोगों को काम मिलते रहेंगे। लेकिन यह सब तभी हो सकता है जबकि प्रेरक शक्ति समाज की तरक्की करना हो, न कि मुनाफ़े की वृत्ति, और जबकि समाज इन बातों का संगठन आम लोगों की भलाई के लिए करे। रूस की सोवियट यूनियन में और चाहे जितनी खामियाँ हों, लेकिन वहाँ एक भी आदमी बेकार नहीं है। हमारे भाई इसलिए बेकार नहीं हैं, कि उनके लिए कोई काम नही है; बल्कि इसलिए बेकार हैं, क्योंकि उनके लिए काम के और सांस्कृतिक तरक्की के वास्ते किसी क़िस्म की सहूलियतें नही हैं। अगर बच्चों मे मज़दूरी कराना क़ानूनन रोक दिया जाय, एक माक़ूल उम्र तक हरेक के लिए पढ़ना लाज़िमी कर दिया जाय, तो मज़दूरों और बेकारों की तादाद में से इन लड़के और लड़कियों की कमी हो जायगी और मज़दूरों के बाज़ार में से करोड़ों भावी मज़दूरों का बोझ हलका हो जायगा।

गांधीजी ने चर्खे और तकली में और उनके चलाने की ताक़त को बढ़ाने की कोशिश में कुछ कामयाबी हासिल की है, लेकिन यह कोशिश तो औज़ार और मशीन में तरक्की करने की कोशिश है; और अगर तरक्की जारी रही (और तरक्की की बात तो यह है कि यह बात भी क़यास से बाहर नहीं है कि घरेलू धन्धे भी बिजली से चलाये जाने लगें), तो मुनाफ़े की भावना फिर आ घुसेगी और उससे वे अलामात, जो बहुत पैदावार और बेकारी के नाम से पुकारे जाते हैं, पैदा हो जायँगे। जबतक हम गाँव के धन्धों को किसी आजकल की औद्योगिक यन्त्रकला के साथ नहीं मिलायँगे तबतक तो हम आज जिन भौतिक और सांस्कृतिक चीज़ों की लाज़िमी तौर पर हमें ज़रूरत है उन्हें भी पैदा नहीं कर सकेंगे। फिर ये धन्धे मशीन का मुक़ाबिला नहीं कर सकते। क्या हमारे लिए ऐसा करना ठीक होगा, या हम उसे कर भी सकेंगे, कि

हम अपने मुल्क में बड़े पैमाने पर काम करनेवाली मशीनों को अपना काम करने से रोक दें? गांधीजी ने बारबार यह कहा है कि वह मशीन के रूप में मशीन के खिलाफ़ नहीं हैं। ऐसा मालूम होता है कि वह यह समझते हैं कि आज हिन्दुस्तान में उनके लिए कोई जगह नहीं है। लेकिन क्या हम बुनियादी धन्धों को —जैसे लोहे और इसपात को या इनसे हलके उन धन्धों को भी जो पहले से मौजूद हैं—समेटकर बन्द कर सकते है?

साफ़ ज़ाहिर है कि हम ऐसा नहीं कर सकते। अगर हमारे यहाँ रेल, पुल, आवागमन की सहूलियतें वग़ैरा रहें, तो या तो हमें खुद ये चीज़ें बनानी पड़ेंगी या दूसरों पर निर्भर रहना होगा। अगर हमें अपने मुल्क की हिफ़ाज़त के ज़रिये अपने पास रखने हैं, तब तो हमें न सिर्फ़ बुनियादी धन्धे ही जारी रखने पड़ेंगे बल्कि बहुत ज्यादा बढ़ी हुई औद्योगिक प्रणाली भी क़ायम रखनी पड़ेगी। इन दिनों तो कोई भी मुल्क उस वक्त तक असल में आज़ाद नहीं है, और न वह दूसरे मुल्क के हमले का मुक़ाबिला ही कर सकता है, जबतक कि औद्योगिक दृष्टि से वह उन्नत न हो चुका हो। एक बुनियादी धन्धे को इस बात की ज़रूरत रहती है कि उसकी मदद के लिए दूसरा बुनियादी धन्धा जारी किया जाय, जो उसके काम को पूरा करदे, और अन्त में हमें खुद मशीनें बनाने का धन्धा भी जारी करना पड़ेगा। जब ये तमाम बुनियादी धन्धे चलेंगे, तब यह लाज़िमी हो जायगा कि छोटे धन्धे भी फैलें। इस प्रक्रिया को कोई रोक नहीं सकता, क्योंकि उससे न सिर्फ़ हमारी भौतिक और सांस्कृतिक तरक्की ही बंधी हुई है बल्कि हमारी आज़ादी भी उसीपर मुनहसिर है और बड़े धन्धे जितने ज्यादा फैलेंगे, छोटे पैमानों पर किये जानेवाले गाँवों के धन्धे उनका मुकाबिला उतना ही कम कर सकेंगे। समाजवादी प्रणाली में उनके बचने की थोड़ी-बहुत गुंजाइश भी हो सकती है, लेकिन पूँजीवादी प्रणाली में तो उन्हें कोई मौका नहीं मिल सकता; और समाजवाद में भी वे घरेलू धन्धों के रूप में उसी हालत मे रह सकते हैं, जब वे ख़ास तौर पर ऐसा माल तैयार करें, जो बहुत बड़े पैमाने पर तैयार नहीं किया जाता।

कांग्रेस के कुछ नेता उद्योगीकरण से डरते है। उनका ख़याल है कि उद्योग-प्रधान मुल्कों की मौजूदा मुश्किलें बहुत बड़े पैमाने पर माल पैदा करने की वजह से ही पैदा हुई है। लेकिन यह तो स्थिति की बाबत बहुत ही ग़लत ख़याल है।[1] अगर आम

१. ३ जनवरी १९३५ को अहमदाबाद में बोलते हुए सरदार वल्लभभाई पटेल ने कहा था—"सच्चा समाजवाद गाँव के धन्धे को तरक्की देने में है। हम यह नहीं चाहते कि बहुत बड़े पैमाने पर माल तैयार करने की वजह से पश्चिमी मुल्कों में जो ख़राबियाँ पैदा हो गई हैं उन्हें हम अपने यहाँ भी बुलावें।"

लोगों के पास किसी चीज़ की कमी है, तो उस चीज़ को उनके लिए काफ़ी तादाद में तैयार करना क्या कोई बुरी बात है ? क्या उनके लिए यही बेहतर है कि बहुत बड़े पैमाने पर माल तैयार करने के बजाय उस चीज़ के बिना ही वे अपना काम चलायें ? साफ़ ज़ाहिर है कि कुसूर इस तरह माल तैयार करने का नहीं है, बल्कि तैयार हुए माल का बंटवारा करनेवाली प्रणाली की बेहूदगी और अयोग्यता का है ।

गाँवों के धन्धों की तरक्क़ी करनेवालों को जिस दूसरी मुश्किल का सामना करना है, वह यह है कि हमारी खेती दुनिया के बाज़ार पर मुनहसिर है । इसकी वजह से मजबूरन किसानों को ऐसी फ़सल बोनी पड़ती है जिसके दाम अच्छे मिलें और दामों के लिए उन्हें दुनिया के प्रचलित भावों पर निर्भर रहना पड़ता है । लेकिन जबकि ये भाव बदलते रहते हैं तब भी बेचारे किसान को अपना लगान या मालगुजारी नगदनाराण के रूप में देनी पड़ती है । किसी-न-किसी तरह उसे यह रुपया लाना पड़ता है, या हर हालत में वह रुपया भरने की कोशिश करता है, और इसीलिए वह वही फ़सल बोता है जिसकी वह समझता है कि मुझे ज्यादा-से-ज्यादा कीमत मिलेगी । वह तो इतना भी नहीं कर सकता कि कम-से-कम अपने और अपने बाल-बच्चों को खिलाने के लिए जितने अनाज की उसे ज़रूरत है उतना तो ख़ुद अपने खेत में पैदा करले ।

इन सालो में खाद्यपदार्थों में से ज्यादातर अनाजो और दूसरी चीज़ों की कीमत एकदम गिर गई, तो नतीजा यह हुआ कि लाखों किसान, ख़ास तौर पर युक्तप्रान्त और बिहार के, ईख की खेती करने लगे । सरकार ने विलायती शक्कर पर जो चुंगी लगादी है उसकी बदौलत बरसाती मेंढकों की तरह शक्कर के कारखाने खुल गये और गन्ने की माँग बहुत बढ़ गई । लेकिन इस माँग को पूरा करने के लिए लोगों ने जितना गन्ना पैदा किया वह फौरन ही माँग से बहुत ज्यादा बढ़ गया । नतीजा यह हुआ कि कारखानों के मालिकों ने बेरहमी के साथ किसानों से नाजायज़ फायदा उठाया और गन्ने की कीमत गिर गई ।

इन चन्द वजूहात और इनके अलावा और भी बहुत-सी बातों से मुझे ऐसा मालूम होता है कि हम अपनी कृषि और औद्योगिक समस्याओं को किसी तंग स्वाश्रयी प्रणाली के तरीके पर न तो हल कर सकते हैं और न करना ठीक ही होगा । निस्सन्देह, हमारी ज़िन्दगी के हर पहलू से इनका ताल्लुक़ है । हम लोग अस्पष्ट और भावुकतामय वाक्यों के पीछे छिपकर अपनी जान नहीं बचा सकते । हमें तो इन तथ्यों का सामना करना होगा और अपनेको उनके माफ़िक बनाना पड़ेगा, जिससे हम लोग इतिहास के लिए दयनीय वस्तु न रहकर उल्लेखनीय विषय बन जायँ ।

फिर मुझे उसी महान् समस्या—गांधीजी—का ख़याल आता है।' समझ में नहीं आता कि इतनी तीव्र बुद्धि और पददलित और पीड़ितों की हालत सुधारने के लिए इतनी तीव्र भावना रखते हुए भी वह उस प्रणाली का क्यों समर्थन करते हैं, जो इस तमाम पीड़ा और बरबादी को पैदा कर रही है और स्पष्टतः जो अपने-आप गिर रही है! यह सच है कि वह लोगों को मुसीबत से बचाने का रास्ता ढूंढ रहे हैं। लेकिन क्या पुराने ज़माने का वह रास्ता अब बन्द नहीं हो गया है? वह पुरानी व्यवस्था के स्मारक-स्वरूप "उन सब चीज़ों को आशीर्वाद देते जाते हैं जो तरक़्क़ी के रास्ते में रोड़े बनकर अटकी हुई हैं—जैसे माण्डलिक रियासतें, बड़ी-बड़ी ज़मींदारियाँ व ताल्लुकेदारियाँ और मौजूदा पूँजीवादी प्रणाली। क्या ट्रस्टीशिप के उसूल में इत्मीनान करना माकूल बात है? क्या इस बात की उम्मीद करना ठीक है कि एक आदमी को अबाध अधिकार और धन सम्पत्ति दे देने पर वह उसका उपयोग सोलहों आने पब्लिक की भलाई के लिए करेगा? क्या हममें से अच्छे लोग भी इतने सम्पूर्ण हैं कि उनके ऊपर इस हद तक भरोसा किया जा सके? इस बोझ को तो प्लेटो की कल्पना के दार्शनिक बादशाह भी योग्यतापूर्वक नहीं उठा सकते। क्या दूसरों के लिए यह अच्छा है कि वे अपने ऊपर इन उदार दैवी पुरुषों का प्रभुत्व स्वीकार करलें? फिर ऐसे दैवी पुरुष या दार्शनिक बादशाह है कहाँ? यहाँ तो सिर्फ़ मामूली इन्सान भर हैं, जो हमेशा यह सोचा करते हैं कि हमारी अपनी भलाई ही, हमारे अपने विचारों का प्रसार ही, सार्वजनिक हित के समान है। वंशानुगत कुलीनता और प्रतिष्ठा की भावना और धन-दौलत की शेखी स्थायी हो जाती हैं और उसका परिणाम कई तरह से घातक ही होता है।

मैं इस बात को दुहरा देना चाहता हूँ कि इस वक्त मैं यह नहीं सोच रहा कि

१. सन् १९३१ में, लन्दन को दूसरी गोलमेज़ कान्फ्रेन्स में, अपने एक व्याख्यान में गांधीजी ने कहा था—"सबसे ऊपर तो असल में कांग्रेस उन करोड़ों मूक अर्द्धनग्न और अधभूखे प्राणियों की प्रतिनिधि है जो हिन्दुस्तान के सात लाख गाँवों में एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक सब जगह फैले हुए हैं—फिर चाहे ये लोग ब्रिटिश भारत में रहते हों या देशी रियासतों में, जिन्हें 'भारतीय-भारत' के नाम से पुकारा जाता है। इसलिए कांग्रेस की राय में प्रत्येक हित, जो रक्षा के योग्य है, इन करोड़ों मूक प्राणियों के हित का साधक होना चाहिए। आप समय-समय पर विभिन्न हितों में प्रत्यक्ष विरोध देखते हैं, पर अगर सचमुच कोई वास्तविक विरोध हो, तो मैं कांग्रेस की तरफ़ से यह कहने में ज़रा भी नहीं हिचकिचाता कि कांग्रेस इन करोड़ों मूक प्राणियों के हितों के लिए दूसरे प्रत्येक हित का बलिदान कर देगी।"

यह परिवर्त्तन किस तरह किया जाय; हमारे रास्ते में जो रोड़े हैं उन्हें किस तरह हटाया जाय? समझा-बुझाकर हृदय-परिवर्त्तन के प्रेम-भाव से या ज़बर्दस्ती से, अहिंसा से या हिंसा से? इस पहलू पर तो बाद को विचार करूँगा। लेकिन यह बात तो मान ही लेनी और साफ़ कर दी जानी चाहिए कि परिवर्त्तन आवश्यक है। क्योंकि यदि नेता और विचारक खुद ही इस बात को साफ़ तौर पर अनुभव न करें और न कहें, तो वे यह उम्मीद कैसे कर सकते हैं कि वे किसीको अपने ख़याल का बना लेंगे या लोगों में वाञ्छित विचार-धारा फैला सकेंगे? इसमें कोई शक नहीं कि सबसे ज्यादा शिक्षा तो हमें घटनाओं से मिलती है, लेकिन घटनाओं का महत्त्व समझने और उनसे अच्छा नतीजा निकालने के लिए यह ज़रूरी है कि हम उनको अच्छी तरह समझें और उनकी ठीक-ठीक व्याख्या करें।

मेरे जो दोस्त और साथी प्रायः मेरे भाषणों से चिढ़े हैं, उन्होंने अक्सर मुझसे यह बात पूछी है, कि क्या आपको कोई अच्छा और परोपकारी राजा, ज़मींदार और शुभ-चिन्तक, भलामानुष पूंजीपति कभी नहीं मिला? निस्सन्देह मुझे ऐसे आदमी मिले हैं। मैं खुद उस श्रेणी के लोगों में से हूँ, जो इन ज़मींदारों और पूँजीपतियों में मिलते-जुलते रहते हैं। मैं तो खुद ही एक ठेठ बुर्जुआ हूँ, जिसका लालन-पालन भी बुर्जुओं-सा ही हुआ है और इस प्रारम्भिक शिक्षा ने मेरे दिलो-दिमाग़ में जो भले-बुरे संस्कार भर दिये वे सब मुझमें मौजूद हैं। कम्यूनिस्ट मुझे अर्द्ध-बुर्जुआ कहते हैं और उनका यह कहना सोलहों आने सही है। शायद अब वे मुझे अनुतप्त बुर्जुआ कहेंगे। लेकिन मैं क्या हूँ और क्या नहीं, यह सवाल ही नहीं है। जातीय, अन्तर्राष्ट्रीय, आर्थिक और सामाजिक मसलों को कुछ इने-गिने व्यक्तियों की निगाह से देखना बेहूदगी है। वे ही दोस्त जो मुझसे ऐसे सवालात करते हैं, यह कहते कभी नहीं थकते कि हमारी लड़ाई पाप से है, पापी से नहीं। मैं तो इस हद तक भी नहीं जाता। मैं तो यह कहता हूँ कि व्यक्तियों से मेरा कोई झगड़ा नहीं, मेरा झगड़ा तो प्रणालियों से है। यह ठीक है कि प्रणाली बहुत हदतक व्यक्तियों और समूहों में ही मूर्त्तिमान होती है, और इन व्यक्तियों और समूहों को हमें या तो अपने ख़याल का कर लेना पड़ेगा या उनसे लड़ना पड़ेगा। लेकिन अगर कोई प्रणाली किसी काम की न रही हो और भार-स्वरूप हो गई हो तो उसे मिट जाना पड़ेगा, और जो समूह या वर्ग उससे चिपके हुए हैं उन्हें भी बदलना पड़ेगा। परिवर्त्तन की इस क्रिया में यथासम्भव कम-से-कम तक़लीफ़ होनी चाहिए, लेकिन बदक़िस्मती से कुछ कष्ट और कुछ गड़बड़ी का होना तो लाज़िमी भी है। किसी दूसरी कम बुराई के डर की वजह से ही बहुत बड़ी बुराई को बरदाश्त नहीं किया जा सकता, ख़ास

उस वक़्त, जब कि कुछ थोड़ी-सी बुराई से भी बच जाना हमारी ताक़त से बाहर है। हर तरह के मानव-संगठन—राजनैतिक, आर्थिक या सामाजिक—की अपनी-अपनी कोई विचार-सरणि होती है। जब इन संगठनों में कोई हेरफेर हो तो उस विचार-सरणि को उसके अनुकूल बनने और उसका पूरा फ़ायदा उठा लेने के लिए उसके अनुसार हेरफेर कर देना चाहिए। आम तौर पर घटनायें इतनी तेज़ी से बढ़ती हैं कि विचारादर्श पीछे पिछड़ जाता है और यह अन्तर ही इन सब मुसीबतों की जड़ है। लोकतन्त्र और पूँजीवाद दोनों ही १९वीं सदी में पैदा हुए, लेकिन वे एक-दूसरे के अनुकूल नहीं थे। उन दोनों में बुनियादी भेद था। क्योंकि लोकतन्त्र तो ज्यादा लोगों की ताक़त पर जोर देता था, जबकि पूंजीवाद से असली ताक़त थोड़े-से लोगों के हाथ में रहती थी। यह बेमेल जोड़ा किसी तरह कुछ अर्से तक तो इसलिए साथ-साथ चलता रहा, क्योंकि राजनैतिक पार्लमेण्टरी लोकतन्त्र खुद एक अत्यन्त संकुचित लोकतन्त्र था, और आर्थिक एकाधिपत्य और शक्ति के केन्द्रीकरण की वृद्धि रोकने में उसने कोई खास हस्तक्षेप नहीं किया।

फिर भी ज्यों-ज्यों लोकतन्त्र की भावना बढ़ती गई, इन दोनों का सम्बन्ध-विच्छेद अनिवार्य हो गया और अब उसका वक्त आ गया है। आज पार्लमेण्टरी पद्धति बदनाम हो गई है और उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप सब क़िस्म के नये-नये नारे सुनाई पड़ रहे हैं। उसीकी वजह से हिन्दुस्तान में ब्रिटिश-सरकार और भी ज्यादा प्रतिगामी हो गई है, और इससे राजनैतिक स्वतन्त्रता की ऊपरी बातें तक रोक लेने का उसे बहाना मिल गया है। अजीब बात तो यह है कि हिन्दुस्तानी राजा-महाराजा भी इसी आधार पर अपनी अबाध निरंकुशता को उचित ठहराते हैं और उसी मध्यकालिक स्थिति को जारी रखने के इरादे का ज़ोरों से ऐलान करते हैं जो कि दुनिया में अब और कहीं नहीं पाई जाती।[1] लेकिन पार्लमेण्टरी लोकतन्त्र में जो त्रुटि या खामी है वह यह नहीं है कि वह बहुत आगे बढ़ गया है, बल्कि यह

१. २२ जनवरी १९३५ को दिल्ली में, नरेन्द्रमण्डल के चान्सलर महाराजा पटियाला ने, मण्डल में बोलते हुए उन हिन्दुस्तानी राजनीतिज्ञों की राय का ज़िक्र किया था। जो इस आशा से संघ-शासन के समर्थक हैं कि परिस्थितियाँ देशी नरेशों को अपने यहाँ लोकतन्त्रात्मक शासन-पद्धति जारी करने के लिए विवश करेंगी। उन्होंने कहा—"जबकि हिन्दुस्तान के राजा लोग हमेशा उन कामों को करने के लिए राजी रहे हैं जो अपनी प्रजा के लिए सर्वोत्तम हैं, और आगे भी वे समय की रफ्तार के मुताबिक अपने-को और अपने विधानों को बनाने के लिए तैयार रहेंगे, तब हमें यह भी साफ़-साफ़ कह देना चाहिए कि अगर ब्रिटिश भारत यह उम्मीद करता है कि वह हमें इस बात के

है कि उसे जितना आगे बढ़ना चाहिए था उस हदतक आगे नहीं बढ़ा है। वह काफ़ी लोकतन्त्रीय नहीं है, क्योंकि उसमें आर्थिक स्वतन्त्रता की कोई व्यवस्था नहीं है और उसके तरीक़े ऐसे धीमे और उलझन-भरे हैं कि वे तेज़ रफ्तार से जानेवाले ज़माने के अनुकूल नहीं पड़ते।

इस समय सारे संसार में जो स्वेच्छाचारिता मौजूद है शायद हिन्दुस्तानी रियासतें उसके उग्र-से-उग्र रूप की प्रतीक हैं। निस्सन्देह वे ब्रिटिश सत्ता के अधीन हैं, लेकिन ब्रिटिश सरकार महज़ ब्रिटिश स्वार्थों की हिफ़ाज़त के लिए या उनकी तरक्क़ी के लिए ही दस्तन्दाज़ी करती है। सचमुच यह आश्चर्य की बात है कि पुराने ज़माने के ये निर्जीव माण्डलिक गढ़ किस प्रकार इस बीसवी सदी के ठीक मध्य में इतनी थोड़ी तबदीली के साथ टिके हुए हैं। वहाँ का वातावरण गलाघोंटू और स्तब्ध है। वहाँ की गति बहुत धीमी है और परिवर्त्तन और संघर्ष का आदी और कुछ हदतक इनसे थका हुआ नवागंतुक वहाँ पहुँचने पर बेहोशी-सी अनुभव करता है और एक प्रकार का धीमा-सा सम्मोहन उसपर ग़ालिब हो जाता है। यह सब एक ऐसे चित्र-सा अस्वाभाविक मालूम होता है, जहाँ समय स्तब्ध खड़ा रहता है और अपरिवर्त्तनीय दृश्य आँखों के सामने दिखाई देते हैं। सर्वथा अज्ञात-भाव से वह भूतकाल और अपने बचपन के स्वप्नों की ओर बह जाता है, और कटिबद्ध शस्त्र-

लिए मजबूर कर देगा कि हम अपने तन्दुरुस्त राजनैतिक जिस्म पर एक बदनाम राजनैतिक उसूल की जहरीले रंग से रंगी हुई कमीज़ पहन लेंगे तो वह ख्वाबों की दुनिया में रह रहा है।" (इस सिलसिले में पृष्ठ ६०७ पर मैसूर—दीवान के भाषण का अंश भी देखिए) उसी दिन नरेन्द्र-मण्डल में बोलते हुए बीकानेर के महाराज ने कहा था—"हिन्दुस्तानी राज्यों के शासक हम लोग केवल भाग्य के ही बल पर शासन नहीं कर रहे हैं। और मैं यह कहने की धृष्टता करता हूँ कि हम जो सैकड़ों साल की वंश परम्परा के आधार पर यह दावा कर सकते हैं कि हमने राज करने का सहज ज्ञान और, मुझे विश्वास है कि, कुछ अंशों में राजदक्षता भी विरासत में पाई है, उन्हें इस बात का पूरा-पूरा ख़याल रखना चाहिए कि हम इस बात की हिफ़ाज़त करलें कि हम जल्दबाज़ी में अविचारपूर्ण निर्णय करने के लिए आगे न ढकेल दिये जायँ। और क्या मैं अत्यन्त नम्रता के साथ यह कह दूँ, कि राजा लोग अपनेको किसीके हाथों बरबाद हो जाने देने के लिए तैयार नहीं हैं, और अगर दुर्भाग्य से कोई ऐसा समय आ ही जाय, जबकि सम्राट देशी राज्यों की रक्षा के लिए अपने सन्धिगत उत्तरदायित्व को पूरा करने में असमर्थ हो जायँ, तो नरेश और देशी राज्य अपने अधिकारों की रक्षा के लिए आख़िरी दमतक लड़ते-लड़ते मर जायँगे।"

सज्जित शूरमा और सुन्दर तथा वीर कुमारियों के और बुर्जदार क़िले और बहादुर सैनिकों के सम्मान और गौरव के तथा अनुपम साहस और मृत्यु के प्रति तिरस्कार के अद्भुत-अद्भुत दृश्य उसकी आँखों के सामने घूमने लगते हैं। खासकर तब, जब वह संयोग से अद्भुत शौर्य और भावुक पराक्रम की भूमि राजपूताना में पहुँच जाता है।

लेकिन ये स्वप्न जल्दी ही विलीन हो जाते है और विषाद की भावना आ घेरती है। वहाँ का वातावरण अवरोधक है और उसमें साँस लेना मुश्किल हो जाता है। स्थिर और मन्दगति-प्रवाह के नीचे जड़ता और गन्दगी भरी पड़ी है। वहाँपर आदमी ऐसा महसूस करने लगता है, मानों वह चारों ओर काँटों और बाड़ से घिरा हुआ है और उसका शरीर और मन जकड़ दिया गया है। उसे वहाँके राजमहल की चमक-दमक और शान-शौक़त के सर्वथा विपरीत जनता की अवस्था अत्यन्त अवनत और विपद्पूर्ण दिखाई देती है। राज्य का कितना सारा धन उस महल में राजा की अपनी व्यक्तिगत ज़रूरतों और ऐयाशी में पानी की तरह बहाया जाता है, और किसी सेवा के रूप में जनता के पास उसका कितना कम हिस्सा पहुँचता है! अपने राजाओं को बढ़ाना और उन्हें क़ायम रखना भयानक रूप से खर्चीला काम है। उनपर किये गये इस अन्धाधुन्ध खर्च के बदले में वे हमें वापस क्या देते हैं?

इन रियासतों पर रहस्य का एक परदा पड़ा रहता है। अखबारों को वहाँ पनपने नहीं दिया जाता और ज्यादा-से-ज्यादा कोई साहित्यिक या अर्द्धसरकारी साप्ताहिक ही चल सकता है। बाहर के अखबारों को अक्सर राज्य में आने से रोक दिया जाता है। त्रावणकोर, कोचीन आदि दक्षिण की कुछ रियासतों को छोड़कर— जहां साक्षरता ब्रिटिश भारत मे भी कही ज्यादा है—अन्यत्र साक्षरता बहुत ही कम है। रियासतों से जो खास खबरें आती हैं वे या तो वाइसराय के दौरे की बाबत होती हैं, जिसमें धूम-धड़ाके, रस्म-रिवाज की पूर्त्ति और एक-दूसरे की तारीफ़ में दिये गये व्याख्यानों का ज़िक्र होता है, या राजा के विवाह अथवा जन्मगांठ की, जिसमें बेहद रुपया खर्च किया जाता है, या किसानों के विद्रोह-सम्बन्धी। ब्रिटिश भारत तक में खास क़ानून आलोचना से राजाओं की रक्षा करते हैं। रियासतों के भीतर तो नरम-से-नरम टीका-टिप्पणी भी सख्ती से दबा दी जाती है। सार्वजनिक सभाओं को तो वहाँ कोई जानता तक नहीं, और अक्सर सामाजिक बातों के लिए की जानेवाली सभायें तक रोक दी जाती हैं।[1] बाहर के प्रमुख सार्वजनिक नेताओं को अक्सर

**१. हैदराबाद दक्खिन का ३ अक्तूबर १६३४ का प्रेस-समाचार कहता है— "स्थानीय विवेक-वर्धिनी थियेटर में कल गांधीजी का जन्म-दिवस मनाने के लिए जिस**

रियासत में घुसने से रोक दिया जाता है। १९२५ के क़रीब स्व० देशबन्धु दास बहुत बीमार थे, इसलिए अपना स्वास्थ्य सुधारने के लिए उन्होंने कश्मीर जाने का निश्चय किया। वह वहां किसी राजनैतिक काम के लिए नहीं जा रहे थे। वह कश्मीर की सरहद तक पहुँच चुके थे, लेकिन वहीं रोक दिये गये। श्री जिन्ना तक को हैदराबाद रियासत में जाने से रोक दिया गया, और श्रीमती सरोजनी नायडू को भी, जिनका घर ही हैदराबाद में है, जाने की इजाजत नहीं दी गई।

जब कि रियासतों में यह हाल हो रहा है, तो कांग्रेस के लिए यह स्वाभाविक था कि वह रियासतों में रहनेवाले लोगों के प्रारम्भिक अधिकारों के लिए खड़ी हो जाती और उनपर होनेवाले व्यापक दमन का विरोध करती। लेकिन गांधीजी ने कॉंग्रेस में रियासतों के सम्बन्ध में एक नई नीति को जन्म दिया। वह नीति थी "रियासतों के भीतरी इन्तज़ाम में दख़ल न देने की।" रियासतों में असाधारण और दुःखदायी घटनाओं के होते रहने और कॉंग्रेस पर अकारण ही हमले किये जाते रहने पर भी वह अभीतक अपनी उसी चुप्पी साधे रहने की नीति पर डटे हुए हैं। ज़ाहिर है कि डर इस बात का है कि कॉंग्रेस अगर राजाओं की आलोचना करेगी तो वे लोग नाराज़ हो जायँगे। उनका 'हृदय-परिवर्तन' ज्यादा मुश्किल हो जायगा। जुलाई १९३४ में गांधीजी ने श्री एन० सी० केलकर के नाम, जो देशीराज्य-प्रजा-परिषद् के सभापति थे, एक पत्र लिखा था। उसमें उन्होंने इस विश्वास को दुहराया था कि दख़ल न देने की नीति न सिर्फ़ बुद्धिमत्तापूर्ण है बल्कि ठोस भी है। और रियासतों की क़ानूनी और वैधानिक स्थिति के सम्बन्ध में जो राय उन्होंने ज़ाहिर की वह तो बड़ी अजीब थी। उन्होंने लिखा था—"ब्रिटिश क़ानून के अनुसार रियासतें स्वतन्त्र हस्ती रखती हैं। हिन्दुस्तान के उस हिस्से को, जो ब्रिटिश भारत के नाम से पुकारा जाता है, रियासतों की पॉलिसी को शकल देने का उतना भी अख़्त्यार नहीं है जितना उसे,

---

सार्वजनिक सभा का ऐलान किया गया था वह रोक देनी पड़ी है। इस सभा का संगठन हैदराबाद के हरिजन-सेवक-संघ ने किया था। संघ के मन्त्री ने अख़बारों को जो पत्र भेजा है, उसमें कहा है कि मीटिंग के वक्त से २४ घंटे पहले सरकारी अधिकारियों ने यह हुक्म दिया कि मीटिंग करने की इजाज़त तभी मिल सकती है जबकि दो हज़ार की नक़द ज़मानत जमा की जाय और इस बात का वचन दिया जाय कि उसमें कोई राजनैतिक व्याख्यान नहीं दिया जायगा और सरकारी अफ़सरों के किसी सरकारी काम की आलोचना नहीं की जायगी। क्योंकि सभा के संयोजक के पास इन सब बातों के लिए अधिकारियों से चर्चा करने के लिए बहुत ही नाकाफ़ी वक्त रह गया था, इसलिए सभा बन्द कर देनी पड़ी।"

मसलन, अफ़ग़ानिस्तान या सीलोन की नीति को शकल देने का है।" अगर मुलायम और नरम देशीराज्य-प्रजा-परिषद् ने और लिबरलों ने भी उनकी इस राय और इस सलाह पर ऐतराज़ किया तो आश्चर्य ही क्या है ?

लेकिन रियासतों के राजाओं ने इन विचारों का काफ़ी स्वागत किया और उन्होंने उनसे फ़ायदा भी उठाया। एक महीने के भीतर ही त्रावणकोर रियासत ने अपने राज्य में कांग्रेस को ग़ैरक़ानूनी करार दे दिया और उसकी सारी सभाओं को और उसके मेम्बर बनाने के काम को रोक दिया। ऐसा करते हुए रियासत ने कहा, कि "ज़िम्मेदार नेताओं ने खुद यह सलाह दी है।" ज़ाहिर है कि यह इशारा गांधीजी के बयान की तरफ़ था। यह बात नोट करने लायक़ है कि यह रोक ब्रिटिश भारत में सत्याग्रह की लड़ाई वापस लिये जाने के बाद हुई (यद्यपि रियासतों में यह लड़ाई कभी नहीं हुई थी)। जिस वक्त रियासत में यह सब हुआ, ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस को फिर से कानूनी जमात करार दे दिया था। इस बात को नोट करना भी दिलचस्प होगा कि उस वक्त त्रावणकोर-सरकार के खास राजनैतिक सलाहकार सर सी० पी० रामास्वामी ऐय्यर थे ( और अब भी हैं ), जो एक वक्त कांग्रेस के और होमरूल लीग के जनरल सेक्रेटरी थे, उसके बाद लिबरल बने और उसके भी बाद भारत-सरकार और मदरास-सरकार के ऊँचे-ऊँचे ओहदों पर रहे।

गांधीजी की सलाह मानकर कांग्रेस जिस नीति से काम ले रही थी उसके मुताबिक़, मामूली वक्त में भी, त्रावणकोर राज्य ने बिला वजह कांग्रेस के ऊपर जो यह हमला किया उसकी बाबत कांग्रेसवालों की तरफ़ से पब्लिक में एक शब्द तक नहीं कहा गया,[1] जबकि दूसरी ओर लिबरलों तक ने इसके ख़िलाफ़ जोरों से आवाज़ उठाई। सचमुच रियासतों के मामले में गांधीजी का रवैया लिबरलों के रवैये से भी कहीं ज्यादा नरम और संयत है। प्रमुख सार्वजनिक पुरुषों में शायद मालवीयजी ही— बहुतसे राजाओं के साथ अपने निकट-सम्पर्क के कारण—उतने ही संयत और इस बात में सावधान हैं कि उन्हें किसी तरह चिढ़ाया न जाय।

भारतीय नरेशों के बारे में गांधीजी हमेशा इतना फूंक-फूंककर क़दम नहीं रखते थे। फ़रवरी १९१६ को एक प्रसिद्ध अवसर पर—बनारस हिन्दू-विश्व-विद्यालय

१. ६ जनवरी १९३५ को बड़ौदा में सरदार वल्लभभाई पटेल ने एक भाषण देते हुए इस दख़ल न देने की नीति पर जोर दिया था। कहा जाता है कि उन्होंने यह कहा, कि "देशी राज्यों के कार्यकर्त्ताओं को उन सीमाओं में रहते हुए काम करना चाहिए, जो रियासतें बांध लें और शासन की आलोचना करने के बजाय इस बात की कोशिश करनी चाहिए कि शासक और शासितों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बना रहे।"

के उद्घाटन के समय—एक सभा में, जिसके सभापति एक महाराजा थे और जिसमें और भी बहुत-से राजा मौजूद थे, उन्होंने एक भाषण दिया था। गांधीजी उस समय दक्षिण-अफ़्रीका से आये ही थे और अखिल भारतीय राजनीति का बोझ उनके कन्धों पर नहीं था। बड़ी सचाई और एक पैग़म्बर के-से जोश के साथ उन्होंने राजाओं से अपनेको सुधारने और अपनी थोथी शान-शौक़त और विलासिता छोड़ देने के लिए कहा। उन्होंने कहा, "नरेशो! जाओ, और अपने आभूषणों को बेच दो।" उन्होंने अपने आभूषण बेचे हों या न बेचे हों, लेकिन वे वहाँ से चले ज़रूर गये। बहुत ही डरकर, एक-एक करके या छोटी-छोटी टोलियों में, वे सभा भवन से चले गये। यहाँतक कि सभापति महोदय भी चले गये। सभा भवन में अकेले व्याख्याता महोदय रह गये। मीटिंग में श्रीमती बेसेंट भी मौजूद थीं। उन्हें भी गांधीजी की बातें बुरी लगीं और इसलिए, वह भी मीटिंग से उठकर चली गईं।

श्री एन० सी० केलकर को गांधीजी ने जो पत्र लिखा था उसमें आगे उन्होंने यह भी कहा, कि "मैं तो यह पसन्द करूँगा कि रियासतें अपनी प्रजा को स्वतन्त्रता दे दें और वे अपनेको वास्तव में उन लोगों का ट्रस्टी समझें, जिनपर कि वे हुकूमत करती हैं।" अगर ट्रस्टीशिप के इस ख़याल में ऐसी कोई अच्छी बात है, तो हम ब्रिटिश सरकार के इस दावे में क्यों एतराज करते हैं कि वे भारत के लिए ट्रस्टी हैं? मैं इसमें कोई फ़र्क़ नहीं देखता, सिवाय इसके कि अंग्रेज हिन्दुस्तान के लिए विदेशी हैं। लेकिन जहाँतक चमड़े के रंग से; जातीय उत्पत्ति और संस्कृति से, सम्बन्ध है वहाँतक तो हिन्दुस्तान के रहनेवाले तरह-तरह के लोगों में आपस में भी क़रीब-क़रीब उतने ही भेद हैं, जितने कि उनमें और अंग्रेज़ों में।

पिछले थोड़े-से सालों में हिन्दुस्तानी रियासतों में ब्रिटिश अफ़सर बड़ी तेज़ी से घुस रहे हैं। अक्सर वे बेबस राजाओं की मर्ज़ी के ख़िलाफ़ उनके मत्थे मढ़ दिये गये हैं। वैसे तो सदा से भारत-सरकार का देशी राज्यों पर काफ़ी नियन्त्रण रहा है, लेकिन अब तो इसके अलावा कुछ ख़ास बड़ी-बड़ी रियासतों को भीतर से भी जकड़ दिया गया है। इसलिए जब कभी ये रियासतें कुछ कहती हैं, तो असल में उनके द्वारा भारत-सरकार ही बोलती है। हाँ, ऐसा करते समय वह माण्डलिक परिस्थिति का पूरा-पूरा फ़ायदा ज़रूर उठाती है।

मैं यह समझ सकता हूँ कि हमारे लिए हमेशा यह मुमकिन नहीं है कि हम दूसरी जगह जो काम कर सकते हैं वह सब रियासतों में भी कर सकें। सच बात तो यह है कि ब्रिटिश भारत के अलग-अलग सूबों में भी किसानों-सम्बन्धी, उद्योग-धन्धों-सम्बन्धी, सम्प्रदायों-सम्बन्धी और शासन-सम्बन्धी काफी फ़र्क़ है, और हम हमेशा सब

सूबों में एक नीति से काम नहीं ले सकते। लेकिन हालांकि हम कहाँ क्या काम करें यह तो वहाँ के हालात के ऊपर मुनहसिर रहेगा, फिर भी अलग-अलग जगहों में हमारी आम पॉलिसी अलग-अलग नहीं होनी चाहिए, और जो बात एक जगह बुरी है वह दूसरी जगह भी बुरी होनी चाहिए; नहीं तो हमारे ऊपर यह इलज़ाम लगाया जायगा और लगाया गया है कि हमारी कोई एक नीति या कोई एक उसूल नहीं है और हमारा मक़सद सिर्फ़ यही है कि किसी तरह से ताक़त हमारे हाथ में आ जाय।

धार्मिक और अन्य अल्पसंख्यक जातियों के लिए पृथक् चुनाव की जो व्यवस्था की गई है उसके खिलाफ़ काफ़ी नुक़्ताचीनी हुई है, और वह ठीक ही हुई है। यह बताया गया है कि यह चुनाव लोकतन्त्र के बिलकुल खिलाफ़ पड़ता है। इसमें कोई शक नहीं कि अगर हम चुननेवालों को अलग-अलग बन्द कमरों में बाँट दें तो लोकतन्त्र क़ायम करना या जिसे जिम्मेदार सरकार के नाम से पुकारा जाता है उसका क़ायम किया जाना मुमकिन नहीं है। लेकिन पं० मदनमोहन मालवीय और हिन्दू-महासभा के अन्य नेता, जो पृथक् चुनाव के सबसे बड़े और अथक आलोचक हैं, रियासतों में जो कुछ अन्धेर मच रहा है उसके बारे में अजीब तौर से चुप हैं और ज़ाहिरा तौर पर इस बात के लिए तैयार हैं कि रियासतों की स्वेच्छा-चारिता और बाक़ी के हिन्दुस्तान में लोकतन्त्र के नाम से पुकारी जानेवाली चीज आपस में मिलकर संघ-राज्य क़ायम हो जाय। इससे ज्यादा बेमौज़ूँ और बेहूदा एकता की कल्पना करना भी मुश्किल है, लेकिन हिन्दू-महासभा के जो लोग लोकतन्त्र और राष्ट्रीयता के हिमायती बनते हैं वे ही इस एकता को बिना डकार लिये हुए ही निगल जाते हैं। हम लोग तर्क और बुद्धि की बात करते हैं, लेकिन हमारी बुनियादी प्रेर-णायें अभीतक भावुकतामय ही बनी हुई हैं।

इस तरह मैं लौटकर फिर कांग्रेस और रियासतों की विकट समस्या पर आता हूँ। मेरा दिमाग़ थॉमस पेन के उस वाक्य की ओर आकर्षित होता है, जो उसने कोई डेढ़सौ बरस पहले बर्क के सम्बन्ध में कहा था—"वह (बर्क) तो परोपकार से तरस खाते हैं, लेकिन मरनेवाली चिड़िया को भूल जाते हैं।" यह ठीक है कि गांधीजी मरनेवाली चिड़िया को नहीं भूलते। लेकिन वह उसके परों पर इतना ज्यादा जोर क्यों देते हैं?

कम-बढ़ ये ही बातें ताल्लुक़ेदारी और जमींदारी-प्रथा पर भी लागू होती हैं। इस बात को समझाने के लिए अब किसी तर्क की जरूरत नहीं मालूम पड़ती है कि यह अर्ध-जागीरदारी प्रथा अब समय के बिलकुल प्रतिकूल है और उत्पादन-शैली और तरक्की के रास्ते में बड़ी भारी अड़चन है। वह तो बढ़नेवाले पूंजीवाद के भी खिलाफ़

जाती है और क़रीब-क़रीब दुनिया-भर में बड़ी-बड़ी ज़मींदारियाँ धीरे-धीरे गायब हो गई हैं और उनकी जगह ज़मींदार किसानों ने लेली है। मेरी तो हमेशा यही कल्पना रही है कि हिन्दुस्तान में जो एक सवाल सम्भवतः उठ सकता है वह मुआवज़े का है। लेकिन पिछले साल तो मुझे यह देखकर बहुत ही अचरज हुआ कि गांधीजी ताल्लुक़ेदारी प्रथा को भी उस प्रथा की हैसियत से पसन्द करते हैं और चाहते हैं कि वह जारी रहे। कानपुर में जुलाई १९३४ में उन्होंने कहा था—"किसानों और ज़मीदारों, दोनों में हृदय-परिवर्तन द्वारा बेहतर ताल्लुकात पैदा किये जा सकते हैं। अगर यह हो जाय तो दोनों आपस में मेल के साथ अमन-चैन से रह सकते हैं। मैं तो कभी भी ताल्लुक़ेदारी या ज़मींदारी प्रथा को दूर करने के पक्ष में नहीं रहा, और जो लोग यह समझते हैं कि वह रद होनी चाहिए वे खुद अपनी बात को नहीं समझते।" गांधीजी का यह आख़िरी आरोप तो कुछ हद तक कटुतापूर्ण है।

बतलाते हैं कि उन्होंने आगे यह कहा—"बिना उचित कारणों के जायदादवाली श्रेणियों से उनकी निजी जायदाद छीने जाने के काम में मैं कभी साथ नहीं दे सकता। मेरा ध्येय तो यह है कि आपके दिलों पर घर करके मैं आपको अपनी राय का बना लूँ, जिससे आप अपनी निजी जायदाद को किसानों के लिए ट्रस्ट के रूप में रक्खें और उसका इस्तैमाल खास तौर पर उनकी भलाई के लिए करें।......लेकिन मान लीजिए कि आपको आपकी जायदाद से वंचित करने के लिए अन्यायपूर्वक कोशिश की जाती है तो आप मुझे अपनी तरफ़ लड़ता हुआ पायँगे......पश्चिम का समाजवाद और वहाँ का कम्यूनिज्म जिन खास विचारों पर टिका हुआ है, वे हमारे विचारों से बुनियादी तौर पर भिन्न हैं। जिन धारणाओं पर सामाजवाद वग़ैरा टिके हुए हैं, उनमें से एक तो यह है कि उनका विश्वास है कि मानव-स्वभाव मूलतः स्वार्थी है......इसलिए हमारे समाजवाद और हमारे कम्यूनिज्म की बुनियाद तो अहिंसा पर और मज़दूर और मालिकों, किसानों और ज़मीदारों के आपसी मेल पर होनी चाहिए।" ये बातें उन्होंने ज़मींदारों के एक डेपूटेशन से कही थीं।

मैं नहीं मानता कि पूरब और पश्चिम के बुनियादी ख़यालात में ऐसे कोई फ़र्क़ हैं। शायद कुछ हों। लेकिन हाल ही के पिछले दिनों में तो एक ज़ाहिरा फ़र्क़ यह रहा है कि हिन्दुस्तान के मालिकों और ज़मींदारों ने अपने मज़दूरों और किसानों के हितों की जितनी ज्यादा उपेक्षा की है उतनी उनके विलायत के बिरादरीवालों ने नहीं की। हिन्दुस्तान के ज़मींदारों की तरफ़ से किसानों की भलाई के लिए किसी तरह के सामाजिक सेवा के काम में दिलचस्पी लेने की अमलन कोई कोशिश नहीं हुई। पश्चिमी समालोचक मि० एच० एन० ब्रेलसफ़ोर्ड ने कहा है कि "हिन्दुस्तान के सूदखोर और ज़मींदार

ऐसे परोपजीवी, नृशंस और रक्तशोषक प्राणी हैं, कि अर्वाचीन मानव-समाज में उनका सानी नहीं मिलता।"[१] शायद इसमें हिन्दुस्तान के ज़मींदारों का कोई क़ुसूर नहीं है। परिस्थितियाँ उनके इतनी ख़िलाफ़ थीं कि वे उनका मुक़ाबिला न कर सके। वे लगातार नीचे को गिरते ही गये और अब एक ऐसी कठिन स्थिति में फँस गये हैं, जिसमें से अपनेको मुश्किल से निकाल सकते हैं। बहुत-से ज़मींदारों से तो उनकी ज़मींदारियाँ बोहरों ने लेली है, और छोटे-छोटे ज़मींदार जिस ज़मीन के कभी मालिक थे उसीमें अब काश्तकार की हालत में पहुँच गये। शहरों में रहनेवाले इन बोहरों ने पहले तो ज़मीन-जायदाद गिरवी करके रुपया दिया, और फिर उसी रुपये के बदले उसे हड़पकर अब वे ख़ुद ज़मींदार बन बैठे हैं और गाधीजी की राय में अब वे उन अभागों के ट्रस्टी हैं जिनको उन्होंने ख़ुद उनकी ज़मीन से वञ्चित किया है। गांधीजी ऐसे लोगों से यह उम्मीद भी रखते हैं कि वे अपनी आमदनी ख़ास तौर पर किसानों की भलाई के कामों में लगायेंगे।

अगर ताल्लुक़ेदारी की प्रथा अच्छी है, तो वह हिन्दुस्तान भर में क्यों नहीं जारी की जाती। हिन्दुस्तान के कुछ बड़े हिस्सों में रैयतवारी प्रथा चलती है। क्या गांधीजी गुजरात में बड़ी-बड़ी ज़मींदारियाँ और ताल्लुक़ेदारियाँ क़ायम हो जाना पसन्द करेंगे ? तो फिर क्या बात है कि ज़मीन सम्बन्धी एक प्रणाली तो यू० पी०, बिहार या बंगाल के लिए अच्छी है और दूसरी गुजरात और पंजाब के लिए ? जहाँतक मेरा ख़याल है, हिन्दुस्तान के उत्तर व पूरब और पश्चिम व दक्षिण के रहनेवाले लोगों में ऐसा कोई ख़ास फ़र्क़ तो नहीं है; और उनके बुनियादी ख़यालात भी एकसे हैं। इसके मानी तो यह हुए कि जो कुछ है वह जारी रहना चाहिए। इस बात की आर्थिक जाँच नही की जानी चाहिए कि लोगों के लिए कौन-सी बात सबसे ज्यादा वाञ्छनीय या फ़ायदेमन्द है, और न मौजूदा हालत को बदलने की ही कोई कोशिश होनी चाहिए। बस, सिर्फ़ एक ही बात की ज़रूरत है; और वह यह कि लोगों का हृदय-परिवर्तन कर दिया जाय। ज़िन्दगी और उसके मसलों की तरफ़ यह तो विशुद्ध धार्मिक रुख़ है। राजनीति, अर्थ-शास्त्र या समाज-शास्त्र से उसका कोई सरोकार नहीं। फिर भी गांधीजी इससे आगे बढ़ जाते हैं और राजनैतिक और राष्ट्रीय क्षेत्र में अपने धार्मिक रुख़ को ले आते हैं।

ये हैं कुछ विकट समस्यायें जो आज हिंदुस्तान के सामने हैं। हमने अपनेको कुछ गुत्थियों में उलझा लिया है और जबतक हम उन गुत्थियों को सुलझा न लेंगे, तबतक आगे बढ़ना दुश्वार है। यह छुटकारा भावुकता से नहीं होगा। बहुत दिन

१. एच० एन० ब्रेल्सफ़ोर्ड की 'Property or Peace' नामक पुस्तक से।

हुए, स्पिनोज़ा ने एक सवाल पूछा था—"ज्ञान और बुद्धि द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त करने, और भावुकता की गुलामी में रहने, इन दो में से आप कौन-सी चीज़ को पसन्द करेंगे ?" उन्होंने खुद पहली बात पसन्द की थी ।

## ६३

## हृदय-परिवर्तन या बल-प्रयोग

सोलह बरस पहले गांधीजी ने हिन्दुस्तान पर अपने अहिंसा के उसूल की छाप लगाई थी। तबसे अबतक हिन्दुस्तान के क्षितिज में इसी उसूल का बोलबाला रहा है। लोगों की बहुत बड़ी तादाद ने बिना किसी सोच-विचार के उसे दुहराया है, लेकिन दुहराया है खुशी के साथ। कुछ लोगों ने अपनेमें काफ़ी संघर्ष किया और फिर दबे मन से उसे अपना लिया, और कुछ लोगों ने खुल्लमखुल्ला इस उसूल का मज़ाक भी उड़ाया है। हमारे राजनैतिक और सामाजिक जीवन में उसने बहुत बड़ा हिस्सा लिया है और हिन्दुस्तान से बाहर विशाल दुनिया में भी लोगों का काफी ध्यान उसने अपनी तरफ़ खींचा है। निस्सन्देह उसूल बहुत पुराना है—उतना ही पुराना है जितनी कि मनुष्य की विचार-शक्ति है। लेकिन शायद गांधीजी ही पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने राजनैतिक और सामाजिक आन्दोलन में सामूहिकरूप में उसका प्रयोग किया है। इसके पहले अहिंसा वैयक्तिक और इस तरह मूलतः धर्म से सम्बन्धित चीज़ थी। वह आत्म-निग्रह और पूर्ण अनासक्ति प्राप्त करने और इस प्रकार अपने-आपको सासारिक प्रपंचों से ऊँचा उठाकर एक तरह की वैयक्तिक स्वतन्त्रता और मुक्ति लाभ करने का साधन थी। उसके जरिये बड़े-बड़े सामाजिक मसलों को हल करने और सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन करने का कोई ख़याल न था, अगर कुछ था भी तो सर्वथा परोक्ष-रूप में। उस वक्त लोगों की क़रीब-क़रीब यही भावना थी कि मौजूदा सामाजिक ताना-बाना तो, अपनी सब असमानताओं और अन्यायों सहित, ऐसा ही रहेगा। गांधीजी ने कोशिश की कि यह वैयक्तिक आदर्श समाज का भी आदर्श हो जाय। वह राजनैतिक और सामाजिक दोनों ही परिस्थितियों को बदलने पर तुले हुए थे और इसी ग़रज़ से उन्होंने जान-बूझकर इस विस्तृत और सर्वथा भिन्न क्षेत्र में अहिंसा के शस्त्र का प्रयोग किया। उन्होंने लिखा है—"जो लोग मानव-स्थिति और अवस्थाओं में आमूल परिवर्तन करना चाहते हैं वे समाज में खलबली पैदा किये बिना ऐसा नहीं कर सकते। लेकिन ऐसा करने के दो ही तरीक़े हैं; एक हिंसात्मक और दूसरा अहिंसात्मक। हिंसात्मक दबाव आदमी के जिस्म पर पड़ता है। जो इस दबाव से काम लेता है वह खुद नीचे गिर जाता है और जिसपर यह दबाव डाला जाता है उसे हतोत्साह कर देता है। लेकिन स्वयं कष्ट सहकर—जैसे उपवास आदि करके—जो अहिंसात्मक दबाव डाला जाता है, वह बिलकुल दूसरे तरीक़े से अपना असर पैदा करता है। जिन लोगों के

खिलाफ़ उसका प्रयोग किया जाता है, उनके शरीर को न छूकर वह उनकी आत्मा पर असर डालता है और उसे मज़बूत बनाता है।"[१]

यह कुछ हद तक भारतीय दृष्टिकोण से मेल खाता था और इसीलिए देश ने, कम-से-कम सरसरी तौर पर तो ज़रूर ही, उसे उत्साहपूर्वक स्वीकार कर लिया। बहुत ही कम लोग उससे निकलनेवाले व्यापक परिणामों को समझ पाये थे। लेकिन जिन थोड़े-से आदमियों ने उसे अस्पष्ट-रूप में समझा भी, वे श्रद्धापूर्वक काम में जुट पड़े। लेकिन जब काम की रफ्तार धीमी पड़ गई, तब कुछ लोगों के मन में बहुत-से प्रश्न उठ खड़े हुए, जिनका उत्तर दिया जा सकना बहुत कठिन था। इन प्रश्नों का हमारी प्रचलित राजनैतिक गति-विधि पर कोई असर नहीं पड़ता था। इनका सम्बन्ध तो अहिंसात्मक प्रतिरोध के मूल सिद्धान्त से था। राजनैतिक अर्थों में तो अभीतक अहिंसात्मक आन्दोलन को कामयाबी मिली नहीं, क्योंकि हिन्दुस्तान अतभीक साम्राज्यवाद के अनीतिपाश में जकड़ा हुआ है, और सामाजिक अर्थ में तो उसने क्रान्ति की कल्पना तक नहीं की। लेकिन फिर भी जो आदमी ज़रा भी गहराई से देख सकता है, वह यह देख सकता है कि हिन्दुस्तान के करोड़ों लोगों में उसने एक ज़बरदस्त तबदीली कर दी। इस अहिंसात्मक आन्दोलन ने करोड़ों हिन्दुस्तानियों को चरित्रबल, शक्ति और आत्मविश्वास का पाठ पढ़ाया है; और ये ऐसे अमूल्य गुण हैं जिनके बिना राजनैतिक या सामाजिक किसी भी क़िस्म की तरक्की करना या उसे क़ायम रखना कठिन है। यह कहना मुश्किल है कि ये निश्चित लाभ अहिंसा की बदौलत हुए हैं या महज़ संघर्ष की बदौलत। बहुत-से मौक़ों पर कई राष्ट्रों ने ऐसे फ़ायदे हिंसात्मक लड़ाई के ज़रिये भी हासिल किये हैं; फिर भी, मेरा ख़याल है, कि यह बात तो इत्मीनान के साथ कही जा सकती है कि इस मामले में अहिंसा का तरीक़ा हमारे लिए बेशक़ीमत साबित हुआ है। गांधीजी ने समाज में जिस खलबली का ज़िक्र किया था वह खलबली पैदा करने में उसने निश्चित रूप से मदद की, हालांकि निस्सन्देह यह खलबली बुनियादी वजूहात और हालतों की बदौलत हुई। उसने आम लोगों में वह तेज़ी की प्रक्रिया पैदा करदी है जो इनक़िलाबी हेर-फेर से पहले पैदा होती है।

स्पष्ट रूप से यह बात उसके हक़ में है, लेकिन वह हमें ज्यादा दूर नहीं लेजाती। असली सवाल तो ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। बदक़िस्मती यह है कि इस मसले को हल करने में गांधीजी हमें ज्यादा मदद नहीं देते। इस विषय पर उन्होंने बहुत बार लिखा है

१. ४ दिसम्बर १९३२ को अपने एक अनशन के अवसर पर गांधीजी ने जो बयान दिया था उसमें।

और व्याख्यान भी दिये हैं। लेकिन जहाँतक मुझे मालूम है, उन्होंने सार्वजनिक रूप से उससे निकलनेवाले अर्थों पर दार्शनिक या वैज्ञानिक दृष्टि से कभी विचार नहीं किया। वह इस बात पर ज़ोर देते हैं कि साधन साध्य से ज्यादा महत्वपूर्ण है।[1] ज़ोर-जबरदस्ती की बनिस्बत समझा-बुझाकर हृदय-परिवर्तन करना अच्छा है, और वह अहिंसा को सत्य और दूसरी तमाम अच्छाइयों से भिन्न नहीं समझते। सच तो यह है कि इन शब्दों का वह अक्सर इस तरह प्रयोग करते हैं मानों वे एक-दूसरे के समानार्थक हैं। साथ ही, जो इस बात से सहमत न हों उन को उच्चात्माओं की कोटि का मानने की भी एक प्रवृत्ति प्रचलित है बल्कि कुछ ऐसा समझा जाता है मानों वे किसी अनैतिक आचरण के गुनहगार हैं। और गांधीजी के कुछ अनुयायी तो, इसके कारण, लाज़िमी तौर पर अपने-आपको बड़ा पहुँचा हुआ और धर्मात्मा समझने लगे हैं।

लेकिन हममें से जो इतने खुशक़िस्मत नहीं कि इस चीज़ में इतनी श्रद्धा रखते हों, उन्हें बहुत-से सन्देहों से परेशान होना पड़ता है। तात्कालिक आवश्यकताओं से उन-का कोई सम्बन्ध नहीं है, लेकिन वे चाहते हैं कि कोई ऐसा सुसंगत कार्य-सिद्धान्त हो जो वैयक्तिक दृष्टि से नैतिक हो और साथ ही सामाजिक दृष्टि से कारगर भी हो। मैं मानता हूँ कि मुझमें भी यह सन्देह मौजूद हैं और मुझे इस मसले का कोई सन्तोष-जनक हल नहीं दिखाई देता। मैं हिंसा को क़तई नापसन्द करता हूं, लेकिन फिर भी मैं खुद हिंसा से भरा हुआ हूँ और जान में या अनजान में अक्सर दूसरों को दबाने की कोशिश करता रहता हूँ। और मानसिक दबाव से अधिक दबाव भला और क्या हो सकता है, जिसके कारण गांधीजी के अनन्य भक्तों और साथियों के दिमाग़ कुण्ठित हो जाते हैं और वे स्वतंत्र रूप से सोचने के योग्य नहीं रहते ?

लेकिन असली सवाल तो यह था, कि क्या राष्ट्रीय और सामाजिक समुदाय अहिंसा के इस वैयक्तिक सिद्धान्त को काफ़ी तौर पर अपना सकते हैं ? क्योंकि उसका अर्थ यह है कि मानव-समाज सामूहिक रूप से प्रेम और सौजन्य में बहुत ऊँचा चढ़ा हुआ है। यह सच है कि दरअसल वाञ्छनीय और अन्तिम लक्ष्य तो यही है कि मानव-समाज इतना ऊँचा उठ जाय और उसमें से घृणा, कुत्सा और स्वार्थपरता निकल जाय। अन्त में जाकर ऐसा हो भी सकेगा या नहीं, यह एक विवादास्पद विषय हो सकता है; लेकिन उसके बिना जीवन उस निरे बुद्धू की कही हुई कहानी का-सा नीरस हो जायगा, जिसमें कम्पन और तड़प है लेकिन जिसका मतलब कुछ नहीं है। इस मक़सद पर पहुंचने के

१. The Power of Non-violence (अहिंसा की ताक़त) नामक किताब में रिचार्ड बी० ग्रेग ने इस विषय पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है। उनकी यह किताब बहुत ही दिलचस्प और विचारोत्तेजक है।

लिए क्या यह आवश्यक है कि हम इन गुणों को अपनाने के लिए लोगों में प्रचार करे और उन अड़चनों की कुछ भी परवाह न करें, जो इस मक़सद पर पहुँचना नामुमकिन कर रही हैं और जो इस मक़सद के खिलाफ़ पड़नेवाली हरेक प्रवृति को शह दे रही हैं ? अथवा, क्या हम पहले इन अड़चनों को दूर करके प्रेम, सौन्दर्य और सौजन्य की वृद्धि के लिए अधिक उपयुक्त और अनुकूल वातावरण न पैदा करलें ? अथवा, क्या हम इन दोनों उपायों को साथ-साथ काम में लायें ?

और फिर क्या हिंसा और अहिंसा अथवा समझा-बुझाकर किये गये हृदय-परिवर्तन और बलात्कार के बीच का अन्तर इतना स्पष्ट और सरल है ? अक्सर शारीरिक हिंसा की अपेक्षा नैतिक बल कहीं अधिक दबाने या मजबूर करने-वाला भयंकर अस्त्र सिद्ध हुआ है । और क्या अहिंसा और सत्य एक-दूसरे के पर्याय-वाची शब्द हैं ? सत्य क्या है ? यह सवाल बहुत ही पुराना है, जिसके हजारों जवाब दिये जा चुके हैं, मगर यह सवाल आजतक जैसा था वैसा ही बना हुआ है । लेकिन कुछ भी हो, यह बात तय है कि उसको अहिंसा से सर्वथा मिलाया नहीं जा सकता । हिंसा स्वतः बुरी है, लेकिन आप उसको महज़ उसके हिंसा होने की वजह से ही पापमय नहीं कह सकते । उसके कई आकार और प्रकार हैं, और अक्सर यह हो सकता है कि उससे भी ज्यादा बुरी बात के मुक़ाबिले में हमें हिंसा पसन्द करनी पड़े । गांधीजी ने यह खुद कहा है कि बुज़दिली, डर और ग़ुलामी से हिंसा बेहतर है और इसी तरह इस फ़ेहरिस्त में और भी बहुत-सी बुराइयाँ जोड़ी जा सकती हैं, जो हिंसा से भी ज्यादा बुरी हैं। यह सच है कि आम तौर पर हिंसा के साथ घृणा रहती है, लेकिन सैद्धान्तिक रूप से हमेशा ऐसा ही हो, यह जरूरी नहीं है । यह बात हो सकती है कि हिंसा का आधार सद्भावना पर हो (जैसे कि सर्जन द्वारा की गई हिंसा) और कोई भी चीज़, जिसका आधार यह हो, कभी भी सिद्धान्तः पापमय नहीं हो सकती । आखिर नीति और सदाचार की अन्तिम कसौटी तो सद्भाव और वैर-भाव ही है । इस तरह यद्यपि हिंसा सदाचार की दृष्टि से अक्सर ठीक नहीं ठहराई जा सकती और उस दृष्टि से उसे खतरनाक भी समझा जा सकता है; लेकिन यह जरूरी नहीं है कि वह हमेशा ऐसी ही हो ।

हमारा सारा जीवन ही संघर्षमय और हिंसायुक्त है और यह बात सही मालूम होती है कि हिंसा से हिंसा ही पैदा होती है और इस तरह हिंसा को रोकने का उपाय हिंसा नहीं है । लेकिन फिर भी हिंसा का कभी प्रयोग न करने की क़सम खा लेने का अर्थ होता है सर्वथा नकारात्मक रुख अख़्त्यार कर लेना, जिसका स्वयं जीवन से क़तई कोई सम्पर्क नहीं होता । हिंसा तो आजकल के राष्ट्रों और सामाजिक प्रणालियों का जीवन-

तत्त्व है। राष्ट्र के पास अगर यह अस्त्र न हो तो न तो कर वसूल किये जा सकते हैं, न ज़मींदारों को उनका लगान ही मिल सकता है, और न निजी सम्पत्ति ही क़ायम रह सकती है। अपने शस्त्र-बल से क़ानून दूसरों को दूसरों की निजी सम्पत्ति के उपयोग से रोकता है। इस प्रकार आक्रमणात्मक और रक्षणात्मक हिंसा के बल पर वर्त्तमान राज्य कायम है।

यह सच है कि गांधीजी की अहिंसा बिलकुल ही नकारात्मक और अप्रतिरोधक नहीं है। वह तो अहिंसात्मक प्रतिरोध है, जो एक बिलकुल ही दूसरी चीज़, एक विधेयात्मक और सजीव कार्य-प्रणाली है। यह उन लोगों के लिए नहीं है, जो परिस्थितियों के सामने चुपचाप सिर झुका देते हैं। उसका तो उद्देश ही समाज में खलबली पैदा कर देना और इस तरह मौजूदा हालत को बदल देना है। हृदय-परिवर्त्तन के भाव के पीछे उद्देश कुछ भी रहा हो, व्यवहार में तो वह लोगों को विवश करने या दबाने का भी एक ज़बरदस्त साधन रहा है। यह बात दूसरी है कि वह दबाव सबसे ज्यादा शिष्ट और सबसे कम आपत्तिजनक ढंग से काम में लाया गया। सचमुच यह बात ध्यान देने योग्य है कि अपने शुरू के लेखों में गांधीजी ने ख़ुद "मजबूर करना" शब्द का इस्तैमाल किया है। पंजाब के फ़ौजी क़ानून के ज़माने के अत्याचारों के सम्बन्ध में दिये गये वाइसराय लार्ड चैम्सफ़ोर्ड के व्याख्यान की आलोचना करते हुए सन् १९२० में उन्होंने लिखा था:—

"कौंसिल-उद्घाटन के समय वाइसराय ने जो व्याख्यान दिया उससे मुझे उनका ऐसा रुख़ मालूम हुआ कि जिसकी वजह से प्रत्येक आत्मसम्मान रखनेवाले के लिए उनके या उनकी सरकार के साथ सम्बन्ध बनाये रखना असम्भव हो जाता है।

"पंजाब के बारे में उन्होंने जो कुछ कहा है उसका स्पष्ट अर्थ यह है कि वह किसी तरह भी लोगों की शिकायत दूर करने को तैयार नहीं हैं। वह चाहते हैं कि हम लोग निकट-भविष्य की समस्याओं पर ही अपना सारा ध्यान केन्द्रित करदें, लेकिन निकट-भविष्य तो यही है कि पंजाब के मामले में हम सरकार को पश्चात्ताप करने के लिए मजबूर करदें, जिसका कोई लक्षण नहीं दिखाई देता। इसके विरुद्ध, वाइसराय ने अपने आलोचकों की टीकाओं का जवाब देने के अपने प्रलोभन को रोका है, जिसका अर्थ यह है कि हिन्दुस्तान की इज्ज़त से ताल्लुक़ रखनेवाले बहुत-से ज़रूरी मामलों पर उनकी राय अभीतक नहीं बदली है; वह इतने ही से संतुष्ट हैं कि इन विषयों को भावी इतिहास के निर्णय पर छोड़ दिया जाय। मेरे विचार में इस तरह की बातें हिन्दुस्तानियों को और भी अधिक उत्तेजित करने का कारण बनेंगी। जिन लोगों पर अत्याचार किये गये हैं और जो अभीतक उन अफ़सरों के जूतों के नीचे दबे

हुए हैं, जो अपने-आपको किसी विश्वास और ज़िम्मेदारी के ओहदे पर रहने के सर्वथा अयोग्य सिद्ध कर चुके हैं, यदि इतिहास-निर्णय अनुकूल भी हुआ तो वह उनके किस काम आयगा ? पंजाब के प्रति न्याय न करने की सरकार की हठ के मौजूद रहते हुए सहयोग का उपदेश करना, यदि अधिक तीव्र भाषा का प्रयोग न किया जाय तो, कम-से-कम, निरा पाखण्ड तो है ही।"

यह बात जग-ज़ाहिर है कि सरकार बुरी तरह हिंसा पर आश्रित है—न केवल शस्त्र-बल की हिंसा पर वरन् अत्यन्त सूक्ष्म रूप से प्रयुक्त जासूस, मुखबिर, लोगों को भड़कानेवाले एजेण्टों, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से शिक्षा और समाचारपत्रों आदि द्वारा झूठा प्रचार, धार्मिक और अर्थाभाव तथा भुखमरी वगैरा के दूसरे प्रकार के भयों की कहीं अधिक भयंकर हिंसा पर। उनके पीछे अपनी अगणित शाखा-प्रशाखाओं और षड्यंत्र और धोखेबाजी के ताने-बाने और भेदियों-उपभेदियों, अपराधियों के गुप्त अड्डों के साथ सम्बन्ध, रिश्वत और मानव-स्वभाव को पतित करनेवाले दूसरे उपाय व गुप्त हत्याओं के अपने सब साधनों सहित खुफिया पुलिस का बहुत बड़ा जाल काम करता है। शान्तिकाल तक में सरकारों के बीच सब प्रकार का झूठा और दग़ा-फरेब जायज़ है, बशर्ते कि वह खुल न जाय, और युद्ध के समय तो वह और भी ज्यादा जायज़ हो जाता है। खुद ब्रिटिश राजदूत सर हेनरी वॉटन ने तीन सौ बरस पहले राजदूत की यह परिभाषा की थी कि "राजदूत वे ईमानदार प्राणी है जो अपने मुल्क की भलाई के लिए झूठ बोलने को दूसरे मुल्कों में भेजे जाते हैं।" आजकल तो राजदूतों के साथ उनका फ़ौजी, जहाज़ी और व्यापारिक कबीला भी जाता है, जिसका खास काम होता है, उस मुल्क का भद लेना जिस मुल्क में वे भेजे जाते हैं। उनके पीछे खुफ़िया पुलिस का बहुत बड़ा जाल, जो षड्यन्त्रों और धोखेबाज़ी के ताने-बानों से भरा-पूरा रहता है, काम करता है। भेदियों और उपभेदियों से उनका ताल्लुक़, उनकी रिश्वत-खोरी और मानव-प्रकृति का पतन तथा उसकी गुप्त हत्यायें सब बातें उस जाल में शामिल होती हैं। शान्ति-काल के लिए तो ये सब चीजें खराब है ही युद्धकाल में इनको और भी अधिक महत्त्व मिल जाने से इनका नाशकारी प्रभाव हरेक दिशा में फैल जाता है। गत विश्व-व्यापी महायुद्ध के समय जो प्रचार किया गया था उसके कुछ उदाहरण पढ़कर अब हैरत होती है कि किस प्रकार शत्रु-देशों के विरुद्ध आश्चर्यजनक झूठी बातें फैलाई गईं थीं; और इन बातों के फैलाने और खुफिया पुलिस का जाल बिछाने में अन्धाधुन्ध रुपया बहाया गया था। लेकिन वर्तमान शान्ति स्वयं दो युद्धों के बीच का विरामकाल मात्र है, अर्थात् लड़ाई के लिए तैयारी करने की एक अवधि मात्र है और कुछ हदतक आर्थिक तथा दूसरे क्षेत्रों में संघर्ष जारी

रखना ही है। विजयी और पराजितों में, सत्ताओं और उनके मातहत उपनिवेशों में, रक्षित वर्ग और शोषित वर्ग की यह रस्साकशी हर वक्त जारी रहती है। इसलिए जिसे आज शान्ति-काल के नाम से पुकारा जाता है, उसमें भी कुछ हदतक लड़ाई का वातावरण अपने हिंसा और झूठ के सब अस्त्रों-सहित जारी रहता है और दोनों इस स्थिति का मुकाबिला करने के लिए तैयार रहने को अभ्यस्त किये जाते हैं। लार्ड वोलसली ने 'सोल्जर्स पाकेटबुक फ़ॉर फील्ड-सर्विस' नामकी एक पुस्तक में लिखा है—"हम इस सिद्धान्त पर बार-बार जोर देते रहेंगे, कि ईमानदारी ही सबसे अच्छी पालिसी है और आखिर में जाकर हमेशा सचाई की ही जीत होती है, लेकिन ये साधारण वाक्य बच्चों की नोटबुकों के लिए ही ठीक हैं; और अगर लोग युद्ध के दिनों में इनपर अमल करने लगें तो यही बेहतर है कि वे हमेशा के लिए अपनी तलवारें मियानों के अन्दर बन्द करलें।"

वर्तमान स्थिति में, जब कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के और एक वर्ग दूसरे वर्ग के खिलाफ़ है, हिंसा और असत्य का यह पाया क़रीब-क़रीब लाज़िमी मालूम होता है। अपनी शक्ति और विशेषाधिकारों को बनाये रखने के लिए उत्सुक और अपने पीड़ितों को उन्नति का अवसर न देनेवाले अधिकार-प्राप्त राष्ट्रों और समूहों को तो लाजिमी तौर पर हिंसा, दबाव और झूठ का आश्रय लेना ही पड़ता है। संभव है कि ज्यों-ज्यों लोकमत जागृत होता जायगा और इन संघर्षों तथा दमन की वास्तविकता स्पष्ट होती जायगी, त्यों-त्यों इस हिंसा की तीव्रता भी कम होती जायगी। लेकिन असल बात तो यह है कि हाल के तमाम तजुर्बे इसके खिलाफ़ इशारा कर रहे हैं और जैसे-जैसे मौजूदा संस्थाओं के उलटने का आन्दोलन तीव्र होता जाता है, इन लोगों की हिंसा भी बढ़ती जाती है। कभी हिंसा की प्रत्यक्ष उग्रता में कुछ कमी भी आ गई है तो उसने उससे और कहीं अधिक सूक्ष्म और अधिक भयंकर रूप अख़्यार कर लिया है। हिंसा की इस प्रवृत्ति को न तो धार्मिक सहिष्णुता और न नैतिक भावना की वृद्धि ही ज़रा भी रोक सकी है। मानवता के परिमाण की दृष्टि से कुछ व्यक्ति उन्नति करके ऊँचे चढ़ गये हैं और अगर सबसे ऊँचे नमूनों को छोड़ दिया जाय, तो ग़ालिबन दुनिया में आजकल इस क़िस्म के ऊँचे दर्जे के जितने ज्यादा व्यक्ति हैं, उतने इतिहास के और किसी ज़माने में नहीं थे; कुल मिलाकर तो समाज ने तरक्क़ी ही की है, और वह कुछ हद तक पुरातन और सहज क्रूर वृत्तियों पर अंकुश रखने के लिए भी प्रयत्नशील है। लेकिन कुल मिलाकर समूहों या समुदायों ने कोई खास तरक्क़ी नहीं की है। व्यक्ति अधिक सभ्य बनने के प्रयत्न में अपने पूर्वकालिक मनोविकार और बुराइयाँ समाज को देता जा रहा है, और क्योंकि हिंसा हमेशा पहली

नहीं किन्तु दूसरी श्रेणी के लोगों को अपनी ओर आकर्षित करती है, इसलिए इन समुदायों के नेता लोग शायद ही पहले दरजे के पुरुष या स्त्री होते हों।

लेकिन अगर हम यह भी मानलें कि राज्य से धीरे-धीरे हिंसा के सबसे बुरे रूप मिट जायँगे, तब भी इस बात की उपेक्षा कर सकना असम्भव है कि सरकार और सामाजिक जीवन दोनों ही के लिए किसी प्रकार के दबाव की आवश्यकता है। सामाजिक जीवन के लिए किसी-न-किसी तरह की सरकार का होना ज़रूरी है, और इस कारण जिन लोगों को कुछ अधिकार मिल जाता है उनके लिए यह लाज़िमी है कि वे व्यक्तियों और समूहों की उन सब प्रवृत्तियों पर, जो स्वभावतः स्वार्थ परायण हैं और जिनसे समाज को नुकसान पहुँचने का अंदेशा है, अंकुश रक्खें और उन्हें रोकें। आमतौर पर ये अधिकारी लोग ज़रूरत से ज्यादा आगे बढ़ जाते हैं, क्योंकि ताक़त जिसके हाथ में पहुँचती है उसीको भ्रष्ट करके गिरा देती है। इस तरह उन शासकों को स्वतन्त्रता से कितना ही प्रेम और दमन से कितनी ही घृणा क्यों न हो, फिर भी उन्हें उस वक्त तक अपने यहाँ के झगड़ालू व्यक्तियों का दमन करना ही पड़ेगा, जबतक कि राज्य में प्रत्येक व्यक्ति पूर्णता प्राप्त न करले और सर्वथा निःस्वार्थ और परोपकार-परायण न बन जाय। ऐसे राज्य के शासकों को भी उन बाहरी समूहों का मुक़ाबिला करना पड़ेगा, जो लूट मार के लिए उनके राज्य पर हमला करें। अर्थात्, उन्हें ताक़त का मुक़ाबिला ताक़त से करके अपनी रक्षा करनी पड़ेगी। इस बात की ज़रूरत तो तभी दूर होगी जबकि पृथ्वी-भर के लिए केवल एक ही विश्वव्यापी राज्य रह जाय।

इस तरह अगर आन्तरिक अविच्छिन्नता और बाहरी आक्रमणों से अपनी रक्षा इन दोनों के लिए शक्ति और दमन आवश्यक है, तो यह भेद किस तरह किया जाय कि वे सर्वथा अहिंसात्मक हैं या हिंसात्मक? रिन्होल्ड नीयूर[१] का कहना है कि जब आप एक बार नैतिकता के मुक़ाबिले में इतनी भयावह छूट देते हैं और सामाजिक अविच्छिन्नता को क़ायम रखने के लिए बल-प्रयोग एक आवश्यक अस्त्र मान लेते हैं, तब अहिंसात्मक और हिंसात्मक बल-प्रयोग में अथवा सरकार और क्रान्तिकारियों द्वारा किये जानेवाले बल-प्रयोग में आप कोई विशुद्ध भेद नहीं कर सकते।

मैं ठीक-ठीक नही जानता, लेकिन मेरी धारणा है कि गांधीजी यह बात मान लेंगे कि इस अपूर्ण संसार में किसी भी राष्ट्रीय सरकार को अपने ऊपर अकारण ही बाहर से होनेवाले आक्रमणों से अपनी रक्षा करने के लिए शक्ति का प्रयोग करना पड़ेगा। अवश्य ही राज्य को चाहिए कि अपने पड़ोसी और अन्य दूसरे राज्यों के साथ

१. 'Moral Man and Immoral Society.'

सर्वथा शान्तिमय और मैत्रीपूर्ण नीति ग्रहण करे, लेकिन फिर भी आक्रमण की संभावना से इन्कार करना बेहूदगी होगी। राज्य को कुछ ऐसे क़ानून भी बनाने पड़ेंगे, जो इस अर्थ में दबाव डालनेवाले होंगे कि इनके द्वारा विभिन्न समुदायों या समूहों के कुछ अधिकार और विशेष रिआयतें छिन जाती हैं और उनकी कार्य-स्वतंत्रता सीमित हो जाती है। कुछ हदतक तो सभी क़ानून दबाव डालनेवाले होते हैं। कराची-कांग्रेस का प्रोग्राम यह निर्धारित करता है कि--"जन-समूह का शोषण बन्द करने के लिए राजनैतिक स्वतंत्रता में, करोड़ों भूखों मरनेवालों की वास्तविक आर्थिक स्वतंत्रता का भी अवश्य समावेश होना चाहिए। आवश्यक मनोभाव को कार्य में परिणत करने के लिए जिन लोगों के अत्यधिक विशेषाधिकार हैं उन्हें अपने बहुत-से अधिकार उन लोगों के लिए छोड़ देने पड़ेंगे जिनके पास बहुत थोड़े अधिकार हैं।" आगे उसमें यह भी बताया गया है कि मजदूरों को निर्वाह के लिए आवश्यक मजदूरी और जीवन की दूसरी सुविधायें भी ज़रूर मिलनी चाहिएँ, मिल्कियतों पर ख़ास टैक्स लगाये जाने चाहिएँ, और "ख़ास उद्योग-विभागों, खनिज-साधनों, रेलवे, जल-मार्ग, जहाज़रानी और सार्वजनिक आवागमन के दूसरे साधनों पर राज्य अपना अधिकार और नियंत्रण रक्खेगा।" साथ ही यह भी कि "नशीले पेय और पदार्थ सर्वथा बन्द किये जायँगे।" ग़ालिबन बहुत-से लोग इन सब बातों का विरोध करेंगे। यह हो सकता है कि वे बहुमत के निर्णय के सामने सिर झुकालें, लेकिन यह होगा इसी भय के कारण कि आज्ञा-भंग का नतीजा बुरा होगा। सचमुच लोकतंत्र का अर्थ ही बहुसंख्यक लोगों का अल्पसंख्यक लोगों पर दबाव है।

अगर मिल्कियत सम्बन्धी अधिकारों को कम करने या बहुत हदतक उन्हें रद करने के लिए कोई क़ानून बहुमत से पास हो जाय, तो क्या इसलिए उसका विरोध किया जायगा कि यह तो दबाव है? स्पष्ट है कि यह नहीं है, क्योंकि सभी लोकतंत्रात्मक क़ानूनों को बनाने में यही तरीक़ा काम में लाया जाता है। इसलिए दबाव की बिना पर ऐतराज़ नहीं किया जा सकता। यह कहा जा सकता है कि बहुमत ग़लत या अनैतिक मार्ग पर चल रहा है। ऐसी हालत में सवाल यह पैदा होता है कि कसरत राय से जो क़ानून पास हुआ, क्या वह किसी नैतिक सिद्धान्त की अवहेलना करता है? लेकिन इस सवाल का फ़ैसला कौन करेगा? अगर अलग-अलग व्यक्तियों और समूहों को यह छूट देदी जाय कि वे अपने-अपने निजी स्वार्थ के अनुसार कर्तव्य-शास्त्र की व्याख्या करलें, तो लोकतन्त्रात्मक प्रणाली का तो ख़ात्मा ही हो जाता है। व्यक्तिगत रूप से मैं तो यह महसूस करता हूँ कि (बहुत ही संकुचित अर्थों में छोड़कर) व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा कुछ व्यक्तियों को सारे समाज पर भयंकर अधिकार दे

देती है, और इसलिए वह समाज के लिए अत्यन्त हानिकारक है। मैं व्यक्तिगत सम्पत्ति को शराबखोरी से भी ज्यादा अनैतिक समझता हूँ, क्योंकि शराब समाज को उतना नुक़सान नहीं पहुँचाती जितना कि व्यक्ति को।

फिर भी जो लोग अहिंसा के सिद्धान्त में विश्वास रखने का दावा करते हैं उनमें से कुछ लोगों ने मुझसे कहा है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का उसके मालिक की स्वीकृति के बिना राष्ट्रीयकरण करना दबाव होगा और इसीलिए अहिंसा के विरुद्ध अवश्य ही मेरे सामने इस दृष्टिकोण पर उन बड़े-बड़े ज़मींदारों ने, जो ज़बरदस्ती लगान वसूल करने में सरकार की मदद लेने में नहीं हिचकिचाते, और कई फैक्टरियों के मालिक उन पूंजीपतियों ने, जो अपने हलकों में स्वतन्त्र मज़दूर-संघ भी क़ायम नहीं होने देना चाहते, ज़ोर दिया है। यह बात काफ़ी नहीं मानी जाती कि जिन लोगों का उस बात से ताल्लुक़ है उनका अधिकांश परिवर्तन चाहता है, बल्कि परिवर्तन से जिन लोगों को नुक़सान है उन्हींका हृदय-परिवर्तन करने के लिए कहा जाता है। थोड़े-से स्वार्थी दल स्पष्टत: आवश्यक परिवर्तन को रोक सकते हैं।

अगर इतिहास से कोई एक बात सिद्ध होती है, तो वह यह है कि आर्थिक हित ही समूहों और वर्गों के दृष्टिकोण के निर्माता होते हैं। इन हितों के सामने न तो तर्क और न नैतिक विचारों की ही चलती है। हो सकता है कि कुछ व्यक्ति राज़ी हो जायँ और अपने विशेषाधिकार छोड़ दें, यद्यपि ऐसा बहुत विरले ही लोग करते हैं, लेकिन समूह और वर्ग ऐसा कभी नहीं करते। इसीलिए शासक और विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग को अपनी सत्ता और अनुचित विशेषाधिकारों को छोड़ देने के लिए रज़ामन्द करने की जितनी कोशिशें अबतक की गईं वे हमेशा नाकामयाब ही हुईं और इस बात को मानने के लिए कोई वजह नहीं दिखाई देती कि वे भविष्य में कामयाब हो जायँगी। रीन्होल्ड नीबूर ने अपनी किताब[1] में उन सदाचारवादियों को आड़े हाथों लिया है, जो यह कल्पना कर बैठे हैं कि "व्यक्तियों की स्वार्थपरायणता, विवेक और धार्मिक स्फूर्ति-प्राप्त सद्भावना की वृद्धि से, दिन-ब-दिन कम हो रही है और यह भी कि समस्त मानव-समाजों और समूहों में सामाजिक ऐक्य स्थापित कराने के लिए सिर्फ़ इतना ही ज़रूरी है कि यह क्रिया ज़ारी रहे।" ये सदाचारवादी "मनुष्य के सामूहिक व्यवहार में उन मूल बातों को, जो प्रकृति का अंग हैं और जो कभी भी सर्वथा विवेक या अन्तरात्मा के अंकुश में नहीं लाई जा सकतीं, पहचानकर मानव-समाज में न्याय-प्राप्ति के लिए जो संघर्ष चल रहा है उसमें राजनैतिक आवश्यकताओं की अवहेलना कर देते हैं। ये लोग इस सच बात को नहीं मानते कि जब

१. Moral Man and Immoral Society.

सामूहिक शक्ति, चाहे वह साम्राज्यवाद की शक्ल में हों या वर्ग-प्रभुता के रूप में, कमज़ोरों का शोषण करती है तब वह उस वक्ततक अपनी जगह से नहीं हटाई जा सकती जबतक कि उसके खिलाफ़ ताक़त खड़ी न कर दी जाय।" और फिर, "क्योंकि किसी भी सामाजिक स्थिति में विवेक सदा ही कुछ हद तक स्वार्थ का दास होता है, केवल नैतिक या बौद्धिक समझाव-बुझाव से समाज में न्याय स्थापित नहीं हो सकता। संघर्ष अनिवार्य है और इस सघर्ष में शक्ति का मुकाबिला शक्ति से ही किया जाना चाहिए।"

इसलिए यह सोचना, कि किसी वर्ग का किसी राष्ट्र के हृदय-परिवर्तन मात्र से काम चल जायगा या न्याय के नाम पर अपील करने और विवेकयुक्त दलीलें देने से संघर्ष मिट जायगा, अपने-आपको धोखा देना है। यह कल्पना करना कि किसी ऐसे कारगर दबाव के बिना ही, जो मजबूर करने की हदतक पहुँचता हो, कोई साम्राज्यवादी शासक-सत्ता देश पर से अपनी हुकूमत उठा लेगी या कोई वर्ग अपने उच्च पद और विशेषाधिकारों को छोड़ देगा, सर्वथा भ्रम है।

यह स्पष्ट है कि गांधीजी इस दबाव से काम लेना चाहते हैं, हालांकि वह उसे बल-प्रयोग के नाम से नहीं पुकारते। उनके कथनानुसार, उनका तरीक़ा तो स्वयं कष्ट-सहन का तरीक़ा है। इसका समझ सकना कुछ कठिन है, क्योंकि इसमें कुछ आध्यात्मिक भावना छिपी है और हम उसे न तो नाप ही सकते हैं और न किसी भौतिक तरीक़े से उसकी जाँच ही कर सकते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि विरोधी पर भी इस तरीक़े का काफ़ी असर पड़ता ह। यह तरीक़ा विरोधियों की नैतिक दलीलों का परदा फ़ाश कर देता है, उन्हें घबरा देता है, उनकी सर्वोच्च भावना को जागृत कर देता है और समझौते का दरवाज़ा खोल देता है। इस बात में तो कोई शक नहीं हो सकता कि प्रेम की पुकार और स्वयं कष्ट-सहन के अस्त्र का विपक्षी और साथ ही दर्शकों पर बहुत ही जबरदस्त मनोवैज्ञानिक असर पड़ता है। बहुत-से शिकारी यह जानते हैं कि हम जंगली जानवरों के पास जिस दृष्टि से जाते हैं वैसा ही उनपर असर हो जाता है। वह जानवर दूर से ही भाँप लेता है, कि आप उसपर हमला करना चाहते हैं और उसीके मुताबिक़ वह अपना रवैया अख़्यार करता है। इतना ही नहीं, आदमी अगर ख़ुद किसी जानवर से डरे, फिर चाहे वह उसे महसूस न भी हो, तब भी उसका वह डर किसी तरह जानवर के पास पहुँच जाता है और उसे भयभीत कर देता है और इसी भय की वजह से वह हमला कर बैठता है। अगर शेरों को पालनेवाला ज़रा भी डर जाय तो उसपर हमला किये जाने का ख़तरा फ़ौरन पैदा हो जाता है। एक बिलकुल निर्भय आदमी किसी अज्ञात दुर्घटना के सिवा शायद ही कभी किसी हिंसक पशु के

खतरे का शिकार होता हो। इसलिए यह बात स्वाभाविक मालूम होती है कि मानव-प्राणी इन मानसिक प्रभावों से प्रभावित हो। फिर भी यद्यपि व्यक्ति प्रभावित हो सकते हैं, लेकिन इस बात में शक है कि वर्ग या समूह पर इस तरह का प्रभाव पड़ सकता है। वर्ग के रूप में वह वर्ग किसी अन्य दल के व्यक्तिगत और निकट-सम्पर्क में नहीं आता। इतना ही नहीं, उसके संबंध में वह जो रिपोर्ट सुनता है वह भी एकांगी और तोड़ी-मरोड़ी हुई होती है। और हर हालत में जब कोई समूह उसके अधिकार को चुनौती देता है तब उसके रोष की स्वाभाविक प्रतिक्रिया इतनी बलवान होती है कि अन्य सब छोटे-छोटे भाव उसमें विलीन हो जाते हैं। वह वर्ग तो बहुत दिनों से इस ख़याल का आदी हो गया है कि उसे जो विशिष्ट पद और अधिकार मिले हुए हैं, वे समाज-हित के लिए जरूरी हैं। इसलिए उसके ख़िलाफ़ जो राय ज़ाहिर की जाती है वह उसे कुफ़्र जैसी मालूम होती है। क़ानून और व्यवस्था तथा वर्तमान अवस्था को क़ायम रखना ख़ास गुण हो जाते हैं और उनमें विघ्न डालने की कोशिश सब से महान् पाप।

इसलिए जहाँतक विरोधी पक्ष से ताल्लुक़ है, हृदय-परिवर्तन का यह तरीका हमें कुछ बहुत दूर तक नहीं ले जाता। निस्संदेह कभी-कभी तो अपने विरोधी की नर्मी और उसकी साधुता ही प्रतिपक्षी को और भी अधिक क्रोधित बना देती है। क्योंकि वह समझता है कि उसने इससे उसे ग़लत स्थिति में डाल दिया है और जब किसी व्यक्ति को यह शंका होने लगती है कि शायद वह ग़लती पर न हो, तब उसका सात्विक रोष और भी बढ़ जाता है। फिर भी अहिंसा की इस विधि से विपक्ष के कुछ व्यक्तियों पर जरूर प्रभाव पड़ता है और इस प्रकार विरोध की दृढ़ता में कमी आ जाती है। इससे भी अधिक बात यह है कि वह तटस्थ लोगों की सहानुभूति प्राप्त कर लेता है और संसार के लोकमत को प्रभावित करने का बड़ा जबर्दस्त ज़रिया है। लेकिन इस दशा में यह संभव हो सकता है कि शासक-वर्ग ख़बर को बाहर जाने से रोक दे या उसे तोड़-मरोड़कर जाने दे। क्योंकि प्रकाशन की एजेन्सियों पर उसका नियंत्रण रहता है और इस तरह वह असली वाक़यात का पता लगाना रोक सकता है। ताहम अहिंसात्मक अस्त्र का सबसे ज्यादा ज़ोरदार और व्यापक असर तो जिस देश में यह अस्त्र काम में लाया जाता है उसके न्यूनाधिक उदासीन लोगों पर होता है। निस्संदेह उनका हृदय-परिवर्तन हो जाता है और वे अक्सर उनके ज़ोरदार समर्थक बन जाते हैं। लेकिन ऐसे लोगों का हृदय-परिवर्तन कोई बड़ी बात नहीं; क्योंकि ये लोग आम तौर पर उस उद्देश्य को तो मानते ही थे। जो लोग क्रान्ति से घबराते हैं उनपर कोई असर दिखाई नहीं देता। भारत में असहयोग और सत्याग्रह जिस

तेजी से फैला, उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि किस तरह एक अहिंसात्मक हलचल बहुसंख्यक लोगों पर जबरदस्त असर डालती है, और बहुत-से अस्थिर-मति लोगों को किस तरह अपनी ओर खींच लेती है। लेकिन उससे वे लोग कोई ज्यादा हद तक नहीं बदले। मगर जो लोग शुरू से ही उसके विरोधी थे, उनकी किसी उल्लेखनीय संस्था को वह अपने पक्ष का न बना सकी। सच बात तो यह है कि आन्दोलन की सफलता ने उनके भय को और भी बढ़ा दिया और इस प्रकार वह और भी ज्यादा विरोधी बन गये।

अगर एक बार यह मान लिया जाता है कि राज्य के लिए अपनी आज़ादी की रक्षा करने के खातिर हिंसा का प्रयोग जायज़ है, तब यह समझना मुश्किल है कि उस आज़ादी को हासिल करने के लिए उन्हीं हिंसात्मक और बल-प्रयोग के तरीकों को अख़्यार करना उतना ही जायज़ क्यों नहीं है ? कोई अहिंसात्मक तरीक़ा अवाञ्छनीय और अनुपयुक्त हो सकता है, लेकिन वह सर्वथा नाजायज़ और वर्जित नहीं हो सकता। सिर्फ़ इसी कारण से कि सरकार सबसे प्रबल है और उसके हाथ में सशस्त्र सेना है, उसे हिंसा के प्रयोग करने का ज्यादा हक़ नहीं मिल जाता। उस हालत में जबकि अहिंसात्मक क्रान्ति सफल हो जाय और उसका राज्य पर क़ाबू हो जाय, क्या उसको हिंसा को इस्तैमाल करने का वह हक़ फौरन ही हासिल हो जायगा, जो उसके पास पहले नहीं था ? अगर इस नये राज्य की हुकूमत के खिलाफ़ बग़ावत हो, तो वह उसका मुक़ाबिला कैसे करे ? स्वभावतः वह यह नहीं चाहेगा कि हिंसात्मक तरीक़े से काम ले और स्थिति का मुक़ाबिला करने के लिए हर शान्तिमय तरीक़े से कोशिश करेगा। लेकिन वह हिंसा से काम लेने के अपने अधिकार को नहीं छोड़ सकता। यह निश्चय है कि जनता में ऐसे बहुत-से असन्तुष्ट लोग होंगे, जो इस परिवर्तन के खिलाफ़ होंगे और वे इस बात की कोशिश करेंगे कि पहली हालत फिर से लौट आये। अगर वे यह सोचेंगे कि सरकार उनकी हिंसा का मुक़ाबिला अपने दमनकारी शस्त्रों से नहीं करेगी, तब तो वे ग़ालिबन और भी ज्यादा हिंसा को काम में लायँगे। इसलिए ऐसा मालूम होता है कि हिंसा और अहिंसा हृदय-परिवर्तन और बल-प्रयोग के बीच कोई निश्चित और पूर्ण विभाक-रेखा खींच सकना एकदम नामुमकिन है। राजनैतिक परिवर्तन के सम्बन्ध में तो यह कठिनाई सचमुच ठीक है, लेकिन तब खास विशेषाधिकार-प्राप्त और शोषितवर्गों के सम्बन्ध में यह कठिनाई और भी अधिक बढ़ जाती है।

किसी आदर्श के लिए कष्ट-सहन की सदा ही प्रशंसा हुई है, और बिना झुके और बदले में हाथ चलाये बिना किसी उद्देश के लिए तकलीफ़ सहने में एक ऐसी उच्चता और ऐसी भव्यता है जिसे मानना ही पड़ता है। फिर भी इसके और कष्ट-सहन

के लिए कष्ट उठाने के बीच में भेद करनेवाली बहुत पतली लकीर है, और इस प्रकार का कष्ट-सहन अक्सर दूषित और कुछ हद तक पतनकारी हो जाता है। अगर हिंसा अक्सर क्रूरतापूर्ण होती है तो कम-से-कम अपने नकारात्मक पहलुओं में अहिंसा सम्भवत: दूसरी तरफ़ अति पर पहुँच सकती है। इस बात की सम्भावना हमेशा रहती है कि अहिंसा को अपनी कायरता और अकर्मण्यता को छिपाने और स्थितिपालकता को क़ायम रखने का साधन बना लिया जाय।

हिन्दुस्तान में पिछले कुछ बरसों में, जबसे कि क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्तन की भावना ने जोर पकड़ा है, अक्सर यह कहा जाने लगा है कि इस प्रकार के परिवर्त्तन में हिंसा आवश्यक रूप से काम में लानी पड़ती है, इसलिए इन परिवर्तनों के लिए जोर नहीं दिया जा सका। श्रेणी-युद्ध का ज़िक्र तक नहीं किया जाना चाहिए (फिर चाहे वह कितना ही ज्यादा क्यों न मौजूद हो), क्योंकि वह हमारे उस पूर्ण सहयोग और उस अहिंसात्मक प्रगति की भावना में, जो हमें अपने भावी लक्ष्य की ओर ले जानेवाली है, विघ्न डालता है। यह बहुत मुमकिन है कि सामाजिक मसले का हल किसी-न-किसी मौक़े पर हिंसा के बिना न हो सके, क्योंकि यह तो निश्चय ही मालूम पड़ता है कि जिन वर्गों को विशेष अधिकार प्राप्त हैं वे अपने प्राप्त अधिकारों को क़ायम रखने के लिए हिंसा से काम लेने में नहीं हिचकेंगे। लेकिन सिद्धान्तत: अगर अहिंसात्मक तरीक़े से कोई बड़ा भारी राजनैतिक परिवर्तन कर सकना सम्भव है, तो इसी तरीक़े से क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्तन कर सकना उतना ही सम्भव क्यों नहीं होना चाहिए? अगर हम लोग अहिंसा के ज़रिये हिन्दुस्तान की राजनैतिक स्वतन्त्रता हासिल कर सकते हैं और ब्रिटिश साम्राज्यवाद को निकाल सकते हैं, तो हम उसी तरीक़े से माण्डलिक राजाओं, ज़मींदारों और दूसरे सामाजिक मसलों को हल करके समाजवादी सरकार क्यों नहीं क़ायम कर सकते? प्रश्न इतना अधिक यह नहीं है कि यह सब कुछ अहिंसा के ज़रिये हो सकता है या नहीं। सवाल तो यह है कि या तो ये दोनों ही उद्देश अहिंसा के ज़रिये हासिल हो सकते हैं या फिर एक भी नहीं। सचमुच यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि अहिंसात्मक अस्त्र का प्रयोग सिर्फ़ विदेशी शासकों के ही खिलाफ़ किया जा सकता है। ज़ाहिरा तौर पर तो किसी देश में उसके अपने देशी स्वार्थी समुदायों और अड़ंगानीति ग्रहण करनेवालों के खिलाफ़ उसका प्रयोग करना ज्यादा आसान होना चाहिए, क्योंकि उनपर उसका मनोवैज्ञानिक असर बाहरवालों की बनिस्बत ज्यादा पड़ेगा।

हिन्दुस्तान में इन दिनों जो यह प्रवृत्ति चल गई है कि उद्देशों और नीतियों को महज इसलिए बुरा बता दिया जाय क्योंकि वे अहिंसा से टकराती हैं, मुझे ऐसी

मालूम होती है मानों इन समस्याओं को समझने का जो सही तरीक़ा है उसे छोड़कर दूसरी तरह देखा जाता है। पन्द्रह बरस पहले हमने अहिंसात्मक उपाय को इसलिए अख़्त्यार किया था कि हमें यह विश्वास हो चला था कि उसके द्वारा हम सबसे अधिक वाञ्छित और कारगर तरीक़े से अपने लक्ष्य पर पहुँच जायँगे। उस वक्त हमारा लक्ष्य अहिंसा से अलग था। वह न तो केवल अहिंसा का पुछल्ला ही था, न उसका परिणाम। उस वक्त कोई यह नहीं कह सकता था कि हमें आज़ादी या स्वतन्त्रता को अपना ध्येय तभी बनाना चाहिए जब वह अहिंसात्मक तरीक़ों से ही मिल सके। लेकिन अब हमारे ध्येय का फ़ैसला अहिंसा की शर्तों से होता है, और अगर वह उनके मुताबिक़ ठीक नहीं बैठता तो नामंज़ूर कर दिया जाता है। इसलिए अहिंसा का ख़याल एक ऐसा जड़वाद बनता जा रहा है जिसके ख़िलाफ़ आप कुछ नहीं कह सकते। इस कारण आध्यात्मिक रूप में अब वह हमारी बुद्धि को अपील नहीं करता और श्रद्धा और धर्म के घोंसले में अपनी जगह ले रहा है। इतना ही नहीं, वह तो स्वार्थी समुदायों के लिए पक्का लंगर बन रहा है और ये लोग मौजूदा स्थिति को ज्यों-का त्यों बनाये रखने के लिए उससे नाजायज़ फ़ायदा उठा रहे हैं।

यह दुर्भाग्य की बात है, क्योंकि मेरा विश्वास है कि अहिंसात्मक प्रतिरोध के विचार और लड़ाई की अहिंसात्मक विधि, हिन्दुस्तान और बाक़ी की दुनिया के लिए, अत्यन्त लाभप्रद है और गांधीजी ने वर्त्तमान विचार-जगत् को इनपर ग़ौर करने के लिए विवश करके बड़ी ज़बरदस्त सेवा की है। मेरा विश्वास है कि उनका भविष्य महान् है। यह हो सकता है कि मानव समुदाय अभी इतना आगे नहीं बढ़ पाया है कि वह उन्हें पूरी तरह अपना सके। ए० ई० की 'इंटरप्रेटर्स' नामक पुस्तक के एक पात्र का कहना है कि—"आप अन्धों को प्रकाश के लिए अपनी मशाल देते हैं, लेकिन उससे उन्हें क्या विशेष लाभ पहुँच सकता है?" सम्भव है कि आज वह आदर्श अधिक फलीभूत न हो सके, लेकिन सब महान् विचारों की तरह उसका प्रभाव बढ़ता रहेगा, और हमारे कार्य उससे अधिकाधिक प्रभावित होते रहेंगे। असहयोग, जिसका अर्थ है उस राज्य या समाज से जिसे हम बुरा समझते हैं अपना सहयोग हटा लेना, एक बहुत ही ज़बरदस्त और क्रान्तिकारी धारणा है। यदि उच्चकोटि के मुट्ठीभर लोग भी उसपर अमल करें तो उसका प्रभाव फैल जाता है और बढ़ता चला जाता है। सख्या की वृद्धि से उसका बाहरी प्रभाव और अधिक दिखाई देने लगता है। लेकिन उस हालत में प्रवृत्ति यह होती है कि दूसरी बातें नैतिक सवाल को दबा लेती हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि उसके विस्तार से उसकी गहराई पर उसका असर पड़ता है। सामूहिक शक्ति धीरे-धीरे वैयक्तिक शक्ति को पीछे धकेल देती है।

फिर भी विशुद्ध अहिंसा पर जो ज़ोर दिया जाता है, उससे वह एक दूर की-सी तथा जीवन से एक भिन्न-सी वस्तु बन गई है और यह प्रवृत्ति हो चली है कि लोग या तो उसे अन्धे होकर धर्म की तरह मंजूर करलें या उसे बिलकुल नामंजूर कर दें। उसका बौद्धिक अंश पीछे जा छिपा है। १९२० में हिन्दुस्तान के आतंकवादियों पर उसका बहुत असर पड़ा था और जिससे बहुत-से उस दल से अलग हो गये और जो बने रहे, वे भी असमञ्जस में पड़ गये और अपने हिंसात्मक कार्यों को बन्द कर दिया, लेकिन अब उनपर इस अहिंसा का कोई ऐसा असर नहीं रहा है। कांग्रेसवादियों में भी बहुत-से ऐसे लोग, जिन्होंने असहयोग और सविनय-भंग के आन्दोलनों में महत्व-पूर्ण भाग लिया था और जिन्होंने अहिंसा का उसके सब व्यापक अर्थों में ईमानदारी से पालन करने का प्रयत्न किया था; अब वे काफ़िर समझे जाते हैं और कहा जाता है कि उन्हें कांग्रेस में रहने का कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि वे अहिंसा को न तो ध्येय के तौर पर और न धर्मरूप में मानने को तैयार हैं और न उस एकमात्र लक्ष्य को ही छोड़ने को तैयार है, जिसे प्राप्त करना वे अपना कर्त्तव्य समझते हैं, अर्थात् समाजवादी राज्य, जिसमें सबके लिए समान रूप से न्याय और सुविधायें होंगी। व्यवस्थित समाज जो तभी क़ायम हो सकता है, जब कि आजकल जो विशेष सुविधायें और संपत्ति सम्बन्धी अधिकार प्राप्त हैं वे अधिकार समाप्त कर दिये जायँ। निस्सन्देह गांधीजी आज भी वही ज़िन्दा हस्ती बने हुए हैं, जिनकी अहिंसा सजीव और उग्ररूप की है और कोई नहीं कह सकता कि वह कब देश को एक बार फिर आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित कर देंगे। अपनी तमाम महत्ता और परस्पर विरोधी बातों और जनता को विलक्षण रूप से प्रभावित करने की शक्ति के कारण वह साधारण स्टैण्डर्ड से ऊँचे हैं। जैसे हम दूसरों को नापते-तौलते हैं, वैसे उनका नाप-तौल नहीं हो सकता। लेकिन बहुत-से, जो उनके अनुयायी होने का दावा करते हैं, निकम्मे शान्तिवादी या टालस्टाय टाइप के अप्रतिरोधी या किसी संकुचित सम्प्रदाय के सदस्य बन जाते हैं, जिनका कि जीवन और वास्तविकता से कोई सम्पर्क नहीं होता। और ये लोग अपने आस-पास ऐसे बहुत से लोगों को इकट्ठा कर लेते हैं जिनका स्वार्थ इसीमें है कि वर्त्तमान व्यवस्था क़ायम रहे और जो इसी मतलब से अहिंसा की शरण लेते हैं। इस तरह अहिंसा में समय-साधकता घुस पड़ती है और हम प्रयत्न तो करते हैं विरोधी के हृदय परिवर्त्तन का, लेकिन अहिंसा को सुरक्षित रखने की धुन में हम स्वयं परिवर्त्तित हो जाते हैं, और विरोधी की लाइन में आ जाते हैं। जब जोश ठंडा हो जाता है और हम कमजोर पड़ जाते हैं, तब हमेशा थोड़ी सी पीछे की तरफ़ हट जाने और समझौता करने की प्रवृत्ति हो जाती है और इसे बड़े फ़ख्र के साथ अपने विरोधी को जीतने की कला के नाम से पुकारा जाता

है। कभी-कभी तो इसकी प्राप्ति के लिए हम अपने पुराने साथियों तक को खो देते हैं। हम उनकी आदतों की, उनके भाषणों की, जो हमारे नये दोस्तों को चिढ़ाते हैं, निन्दा करते हैं और उनपर हमारी एकता भंग करने का इलज़ाम लगाते हैं। सामाजिक व्यवस्था में वास्तविक परिवर्तन किये जाने पर ज़ोर देने के बजाय हम मौजूदा समाज में दया और उदारता पर ज़ोर देते हैं और स्वार्थी समुदाय वैसे-के-वैसे ही बने रहते हैं।

मेरा विश्वास है कि साधनों की महत्ता पर ज़ोर देकर गांधीजी ने हमारी बड़ी सेवा की है। फिर भी मैं इस बात को विश्वास के साथ महसूस करता हूँ कि अन्तिम ज़ोर तो लाज़िमी और ज़रूरी तौर पर हमारे सामने जो ध्येय या मक़सद हो उसीपर देना चाहिए। जबतक हम ऐसा नहीं करते, तबतक हम इधर-उधर घूमने और इधर-उधर के मामूली सवालों पर अपनी ताक़त बरबाद करते रहने के सिवा और कुछ नहीं कर सकते। लेकिन साधनों की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि उनके नैतिक पक्ष के अलावा उससे बिलकुल अलग उनका एक व्यावहारिक पक्ष भी है। हीन और अनैतिक साधन अक्सर हमारे लक्ष्य को ही विफल कर देते हैं या ज़बर्दस्त नई-नई समस्यायें खड़ी कर देते हैं। और, आख़िरकार, किसी आदमी के बारे में कोई सही निर्णय हम, उसके उद्घोषित लक्ष्य से नहीं कर सकते; बल्कि उन साधनों से ही करते हैं जिन्हें कि वह व्यवहार में लाता है। ऐसे साधनों के अवलम्बन से, जिनसे कि व्यर्थ की लड़ाई पैदा हो और घृणा की वृद्धि हो, लक्ष्य की प्राप्ति और भी अधिक दूर हो जाती है। सच बात तो यह है कि साधन और साध्य का एक दूसरे से इतना नज़दीकी सम्बन्ध है कि उनको अलग-अलग करना बहुत मुश्किल है। अतः निश्चय रूप से साधन ऐसे होने चाहिएं, जिनसे घृणा या झगड़े यथासम्भव कम हो जाय या सीमित हो जायं, ( क्योंकि उनका होना तो अनिवार्य-सा है ) और सद्भावनाओं को प्रोत्साहन मिले। वस्तुतः प्रश्न किसी विशिष्ट साधन का उतना नहीं होता, जितना कि वह हेतु, उद्देश्य और स्वभाव का बन जाता है। गांधीजी ने इसी बुनियादी भावना पर ज़ोर दिया है और अगर वह मानव-स्वभाव को किसी उल्लेखयोग्य सीमा तक बदलने में कामयाब नहीं हुए हैं तो उनको एक बहुत बड़ी राष्ट्रीय हलचल पर, जिसमें लाखों ने हिस्सा लिया, इसकी छाप बिठाने में आश्चर्यजनक कामयाबी हुई है। कड़े नैतिक अनुशासन पर उन्होंने जो ज़ोर दिया वह भी बहुत ज़रूरी था, हालांकि उन्होंने उस वैयक्तिक अनुशासन के जो स्टैण्डर्ड क़ायम किये हैं वे शायद बहस-तलब हैं। वह वैयक्तिक पापों और कमज़ोरियों को तो बहुत ज्यादा महत्त्व देते हैं और सामाजिक पापों को बहुत कम। इस अनुशासन की आवश्यकता तो स्पष्ट है, क्योंकि मुसीबतों का रास्ता छोड़कर

शक्ति और अधिकार के स्थान पर पहुँचे हुए विशेष अधिकारप्राप्त समूह में मिलने के प्रलोभन ने बहुत-से कांग्रेसवादियों को कांग्रेस से बाहर खींच लिया है। क्योंकि किसी भी नामी कांग्रेसवादी के लिए उस सुविधापूर्ण स्थान के द्वार तो सदा खुले ही रहते हैं।

आजकल सारी दुनिया कई तरह के संकटों से ग्रस्त है। लेकिन इनमें सबसे बड़ा संकट आध्यात्मिक संकट है। यह बात पूर्व के देशों में खासतौर पर दिखाई देती है, क्योंकि हाल में दूसरी जगहों की अपेक्षा एशिया में बहुत जल्दी-जल्दी परिवर्त्तन हुए हैं और सामञ्जस्य स्थापित करने की क्रिया बड़ी कष्ट-प्रद है। राजनैतिक समस्या, जो कि आज इतना महत्त्व पागई है, शायद सबसे कम महत्त्व की चीज़ है। हालांकि हमारे लिए तो यह प्रधान समस्या है और इसके पहले कि हम असली मसलों में लगें, उसका संतोषप्रद हल हो जाना ज़रूरी है। पिछले बहुत-से युगों से हम लोग एक अपरिवर्त्तनीय मूल सामाजिक व्यवस्था के आदी हो गये ह। हममें से बहुतों का अब भी यह विश्वास है कि सिर्फ़ यही आधार समाज के लिए सम्भव और ठीक आधार है, और नैतिक दृष्टि से हम उसे ठीक मान लेते हैं। लेकिन भूत-काल से वर्त्तमान को मिलाने की हम जितनी कोशिशें करते हैं वे सब बेकार हो जाती है, जोकि अवश्यम्भावी ही है। अमेरिकन अर्थशास्त्री वेब्लेन ने लिखा है कि—"अन्त में आर्थिक सदाचार आर्थिक आवश्यकताओं का अनुकरण करता है।" आजकल की ज़रूरतें हमें इस बात के लिए मजबूर करेंगी कि हम उनके मुताबिक़ सदाचार की एक नई व्याख्या बनावें। अगर हम लोग इस आध्यात्मिक संकट में से निकल भागने का कोई रास्ता ढूंढना चाहते है और चाहते हैं कि हम आजकल की सच्ची आध्यात्मिक उपयोगिताओं को महसूस करलें तो हमें निर्भीकता से और साहस के साथ सम-स्याओं का सामना करना पड़ेगा और किसी भी धार्मिक आदेश की शरण लेने से काम नहीं चलेगा। धर्म जो कुछ कहता है वह भला भी हो सकता है और बुरा भी। लेकिन जिस तरीक़े से वह उसे कहता है और यह चाहता है कि हम उसपर विश्वास करलें, उससे किसी बात को बुद्धिपूर्वक समझ लेने में हमें क़तई कुछ मदद नहीं मिलती। जैसा कि फ्रूड ने कहा है कि धर्म के आदेश—"विश्वास किये जाने योग्य हैं: इसलिए कि हमारे पूर्व पुरुष उनपर विश्वास करते थे; दूसरे इसलिए कि हमारे पास उनके लिए प्रमाण मौजूद हैं, जो हमें उसी पुराने ज़माने से विरासत में मिलते आये हैं; और तीसरे इसलिए, कि उनकी सचाई के बारे में सवाल उठाना मना है।"[१]

अगर हम अहिंसा पर उसके सब व्यापक भावों सहित निर्भ्रान्त धार्मिक-दृष्टि से विचार करें तो बहस के लिए कोई गुंजाइश नहीं रहती है। उस हालत में तो वह

१. The Future of an Illusion.

एक सम्प्रदाय का संकुचित ध्येय हो जाता है, जिसे लोग मानें या न मानें। उसकी सजीवता जाती रहती है और उसमें मौजूदा मसलों को हल करने की क्षमता नहीं रहती। लेकिन अगर हम लोग मौजूदा हालतों के सिलसिले में उसपर बहस करने को तैयार रहें तो वह हमें इस दुनिया के नवनिर्माण के हमारे प्रयत्नों में बहुत मदद दे सकता है। ऐसा करते समय हमें साधारण व्यक्ति की कमज़ोरियों और उसके स्वभाव का ध्यान रखना चाहिए। विस्तृत प्रमाण में सामूहिक रूप से और ख़ासकर कायापलट और क्रान्तिकारी परिवर्तनों के लिए किये जानेवाले किसी भी प्रयत्न पर केवल इसी बात का असर नहीं पड़ता कि नेता लोग उसके सम्बन्ध में क्या सोचते हैं, बल्कि मौजूदा अवस्थाओं का और इससे भी अधिक मानव प्राणी उसके साथ काम करते हैं वे उसके सम्बन्ध में क्या सोचते हैं, इसका भी प्रभाव पड़ता है।

दुनिया की तवारीख़ में हिंसा का बहुत बड़ा हिस्सा रहा है। आज भी वह बहुत महत्त्वपूर्ण हिस्सा ले रही है और ग़ालिबन आगे भी बहुत वक़्त तक वह अपना काम करती रहेगी। पिछले ज़माने में जो परिवर्त्तन हुए, उनमें से ज्यादातर हिंसा और बलप्रयोग से ही हुए। एक मर्तबा डब्ल्यू० ई० ग्लैडस्टन ने कहा था कि—"मुझे यह कहते हुए दुःख होता है कि अगर राजनैतिक संकट के समय इस मुल्क के लोगों को हिंसा से नफ़रत, व्यवस्था से प्रेम और धीरज से काम लेने की हिदायतों के अलावा और हिदायतें न ज़ारी की गई होतीं, तो इस मुल्क में लोगों को जो आज़ादियाँ हैं वे उन्हें कभी प्राप्त न हो पातीं।"

पिछले ज़माने की, और आजकल भी, हिंसा की अहमियत की उपेक्षा करना नामुमकिन है। उसकी उपेक्षा करना ज़िन्दगी की उपेक्षा करना है। फिर भी बिला शक हिंसा एक बुरी चीज़ है और वह अपने पीछे दुष्ट परिणामों की एक लम्बी लीक छोड़ जाती है। और हिंसा से भी ज्यादा बुरी घृणा, क्रूरता, बदला और सज़ा की वे प्रवृत्तियाँ हैं जो अक्सर हिंसा के साथ चलती हैं। सच बात तो यह है कि हिंसा स्वतः बुरी नहीं बल्कि वह इन्हीं प्रवृत्तियों की वजह से बुरी है जो उसके साथ-साथ चलती हैं। इन प्रवृत्तियों के बिना भी हिंसा हो सकती है। वह तो बुरे उद्देश्य के लिए भी हो सकती है और अच्छे के लिए भी। लेकिन हिंसा को इन प्रवृत्तियों से अलग करना बहुत मुश्किल है, और इसलिए यह वांछनीय है कि जहाँतक मुमकिन हो हिंसा से बचा जाय। फिर भी उससे बचने में हम यह नकारात्मक रुख़ अख़्तियार नहीं कर सकते कि उससे बचने की धुन में दूसरी व उससे कहीं ज्यादा बड़ी बुराइयों के सामने सर झुकादें। हिंसा के सामने दब जाना या हिंसा की नींव पर टिके हुए किसी अन्यायपूर्ण शासन को मंजूर कर लेना अहिंसा की स्पिरिट के बिलकुल खिलाफ़ है।

अहिंसा का तरीक़ा तो तभी ठीक कहा जा सकता है जब वह सजीव हो और इतनी सामर्थ्य रखता हो कि ऐसे शासन या ऐसी सामाजिक व्यवस्था को बदल डाले।

अहिंसा यह कर सकती है या नहीं, यह मैं नहीं जानता। मेरा खयाल है कि वह हमें बहुत दूर तक ले जा सकती है, लेकिन इस बात में मुझे शक है कि वह हमें अन्तिम ध्येय तक ले जा सकती है। हर हालत में किसी-न-किसी क़िस्मका बल-प्रयोग तो लाज़िमी मालूम पड़ता है, क्योंकि जिन लोगों के हाथ में ताक़त और खास अधिकार होते हैं वे उन्हें उस वक्त नहीं छोड़ते जबतक ऐसा करने के लिए मजबूर नहीं कर दिया जाता, या जबतक ऐसी सूरतें न पैदा करदी जायँ जिनमें उनके लिए इन खास हक़ों का रखना उन्हें छोड़ने से ज्यादा नुक़सानदेह न हो जाय। समाज के मौजूदा राष्ट्रीय और वर्गीय संघर्ष बग़ैर बल-प्रयोग के कभी नहीं मिट सकते। निस्सन्देह हमें बहुत बड़े पैमाने पर लोगों के हृदय बदलने पड़ेंगे, क्योंकि जबतक बहुत बड़ी तादाद हैमारे हमखयाल न होगी, तबतक सामाजिक परिवर्त्तन के आन्दोलन का कोई वास्तविक आधार कायम नहीं हो सकेगा। लेकिन कुछ पर बल-प्रयोग करना ही पड़ेगा। हमारे लिए यह ठीक नहीं है कि हम इन बुनियादी लड़ाइयों पर परदा डालें और यह दिखलाने की कोशिश करें कि वे हैं ही नहीं। ऐसा करने से न सिर्फ सच्चाई का ही दमन होता है, बल्कि इसका सीधा परिणाम यह होता है कि यह लोगों को वास्तविक स्थिति से गुमराह करके मौजूदा व्यवस्था को मज़बूत बनाता है और शासक-वर्ग को वह नैतिक आधार मिल जाता है, जिसकी, अपने विशेष अधिकारों को उचित ठहराने के लिए वे हमेशा, तलाश में रहते हैं। किसी भी अन्याययुक्त पद्धति का मुक़ाबिला करने के लिए यह लाज़िमी है कि जिन ग़लत उपपत्तियों पर वह टिकी हुई है उनका रहस्योद्घाटन करके नग्न सत्य सामने रख दिया जाय। असहयोग की एक खूबी यह भी है कि वह इन ग़लत उपपत्तियों और झूठी बातों को मानने और आगे बढ़ाने में सहयोग देने से इन्कार करके उनका रहस्योद्घाटन कर देता है।

हमारा अन्तिम ध्येय तो यही हो सकता है कि समान न्याय और समान सुविधा युक्त एक वर्ग-रहित समाज हो, ऐसा समाज जिसका निर्माण मानव-समाज को भौतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से ऊँचा उठाने और उसमें सहयोग, निस्वार्थपरायण सेवा-भाव, सत्यनिष्ठा, सद्भाव और प्रेम के आध्यात्मिक गुणों की वृद्धि करने के सुनिश्चित आधार पर हुआ हो और अन्त में एक ऐसी संसारव्यापी व्यवस्था हो जाय। जो कोई इस लक्ष्य के रास्ते में रोड़ा बनकर आवेगा उसे हटाना होगा। हो सके तो नम्रता से अन्यथा बलपूर्वक; और इस बात में बहुत कम शक है कि अक्सर बलप्रयोग की जरूरत पड़ेगी। लेकिन अगर उसका प्रयोग करना ही पड़े तो वह घृणा और क्रूरता

की भावना से नहीं, बल्कि एक रुकावट को दूर करने की निर्विकार इच्छा से। ऐसा करना मुश्किल होगा, लेकिन यह काम भी तो आसान नहीं है, कोई सीधा रास्ता भी नहीं है और गड्ढों की कोई गिनती नहीं। हमारे सिर्फ उपेक्षा कर देने से ही ये दिक्कतें और गड्ढे दूर नहीं हो जायँगे, बल्कि उनका असली रूप जानकर और साहस के साथ उनका मुकाबिला करके उन्हें हटाना होगा। यह सब बातें काल्पनिक और सुख स्वप्न सी मालूम होती हैं और अधिकतर यह सम्भव नहीं है कि बहुत-से लोग इन उच्च भावनाओं से प्रेरित होंगे। लेकिन हम उन्हें अपनी नजर के सामने रख सकते हैं और उनपर जोर दे सकते हैं और यह हो सकता है कि इसके फल-स्वरूप हममें से बहुतों में जो घृणा और दूसरे विकार भरे हुए हैं वे कम हो जायँ।

साधन हमें इस लक्ष्य तक पहुँचानेवाले और इन भावनाओं पर अवलंबित होने चाहिएँ। लेकिन हमें यह बात जरूर महसूस कर लेनी चाहिए कि मानव-स्वभाव जैसा है उसे देखते हुए आम लोग हमारी अपीलों पर और दलीलों पर हमेशा ध्यान नहीं देंगे और न ऊँचे नैतिक उसूलों के मुताबिक़ काम ही करेंगे। हृदय-परिवर्तन के अलावा बल-प्रयोग की अक्सर उसपर जरूरत पड़ती रहेगी और सबसे अधिक हम जो कुछ कह सकते हैं वह यही है कि उसको सीमित कर दें, और उसको इस प्रकार से काम में लावें कि उसकी बुराई कम हो जाय।

## ६४

# फिर देहरादून जेल

अलीपुर-जेल में मेरी तन्दुरुस्ती ठीक नहीं रहती थी। मेरा वज़न बहुत घट चुका था, और कलकत्ते की हवा और दिन-दिन बढ़ती हुई गर्मी मुझे परेशान कर रही थी। अफ़वाहें थीं, कि मुझे किसी अच्छी आबोहवावाली जगह में भेजा जायगा। ७ मई को मुझसे अपना सामान समेटने और जेल से बाहर चलने को कहा गया। मैं देहरादून-जेल में भेजा जा रहा था। कुछ महीनों की तनहाई के बाद शाम की ठण्डी-ठण्डी हवा में कलकत्ता के बीच होकर गुज़रना बड़ा ख़ुशगवार मालूम होता था और हावड़ा के आलीशान स्टेशन पर लोगों की भीड़ भी भली मालूम होती थी।

मुझे अपने इस तबादले पर ख़ुशी थी और मैं उम्मीद-भरी नज़रों से देहरादून और उसके आस-पास के पहाड़ों की तरफ़ देखता था। लेकिन वहाँ पहुँचने पर देखा कि, नौ महीने पहले, नैनी जाते समय जैसा मैंने उसे छोड़ा था, वह सब हालत अब नहीं रही है। मैं अब एक नये स्थान पर रखा गया, जो मवेशियों के रहने की जगह को साफ़ और ठीक करके नियत किया गया था।

कोठरी की शकल में वह कुछ बुरी नहीं थी। उसके साथ एक छोटा-सा बरामदा भी था। उसीसे लगा हुआ क़रीब पचास फ़ीट लम्बा सहन था। देहरादून में पहली बार मुझे जो पुरानी कोठरी मिली थी, उससे यह अच्छी थी। लेकिन शीघ्र ही मुझे मालूम हुआ कि दूसरी तब्दीलियाँ कुछ बेहतरी के लिए न थीं। घेरे की दीवार, जो दस फ़ीट ऊँची थी, ख़ासकर मेरी ग़रज से उसी वक़्त चार या पाँच फ़ीट और बढ़ा दी गई थी। इससे पहाड़ियों के जिस नज़ारे की मैं इतनी उम्मीद कर रहा था, वह बिलकुल छिप गया था, और मैं सिर्फ़ कुछ दरख़्तों के सिरे ही देख पाता था। मैं इस जेल में क़रीबन तीन महीने से ज्यादा रहा; लेकिन मुझे कभी पहाड़ों की झलक तक दिखाई नहीं दी। पहली बार की तरह, इस बार मुझे बाहर जेल के दरवाज़े के सामने घूमने की इजाज़त न थी। मेरा छोटा-सा सहन ही वर्ज़िश या कसरत के लिए काफ़ी बड़ा समझा गया था।

ये तथा दूसरी नई बन्दिशें नाउम्मीदी पैदा करनेवाली थीं, जिससे कि मैं खिझ गया। मैं अनमना हो गया और अपने सहन में जो थोड़ी-बहुत वर्ज़िश कर सकता था, उस तक के करने को तबीयत न रही। शायद ही मैंने कभी अपने को इतना अकेला और दुनिया से जुदा महसूस किया हो। तनहाई क़ैद का मेरी तबियत पर ख़राब

असर होने लगा, और मेरी जिस्मानी और दिमाग़ी हालत गिर गई। मैं जानता था कि दीवार के दूसरी तरफ़ कुछ फ़ीट की दूरी पर वायुमण्डल में ताज़गी और खुशबू भरी है, घास और मिट्टी में मिलकर ठण्डी-ठण्डी सुगन्ध फैल रही है और हरे-हरे वृक्षों के बीच में दूर-दूर तक रास्ते बने हुए हैं। लेकिन ये सब मेरी पहुँच के बाहर थे और बारबार उन्हीं दीवारों को देखते-देखते मेरी आँखें पथरा जाती थीं। वहाँ पर जेल की मामूली चहल-पहल तक न थी, क्योंकि मैं सबसे अलग और अकेला रक्खा गया था।

छः हफ्ते बाद मूसलाधार बारिश हुई; पहले हफ्ते में बारह इञ्च पानी बरसा। हवा बदली और नवजीवन का सञ्चार हुआ; गर्मी कम हुई और शरीर हल्का हुआ और आराम-सा मालूम होने लगा। लेकिन आँखों या दिमाग़ को कुछ आराम न मिला। जेल के वार्डर के आने-जाने के लिए जब कभी मेरे सहन का लोहे का दर्वाज़ा खुलता था, तो एक क्षण के लिए बाहरी दुनिया की झलक चमचमाते हुए हरे-भरे खेत और रंग-बिरंगे वृक्ष, जिन पर मेह की बूंदें मोती की तरह चमकती थीं, बिजली के कौध की भांति अकस्मात् दिखाई देकर तत्काल लुप्त हो जाती थीं। दर्वाजा शायद ही कभी पूरा खुलता हो। सिपाहियों को साफ़ तौर पर हिदायत थी कि अगर मैं कहीं नज़दीक होऊं तो वह न खोला जाय, और वे जब-कभी खोलते भी थे, तो बस ज़रा-ही हरियाली और ताज़गी की ये थोड़ी-थोड़ी झाँकियाँ अब मुझे अच्छी नहीं लगती थी, इन्हें देखकर मुझे घर की याद हो आती थी और दिल में एक दर्द-सा उठता था; इसीलिए जब कभी दर्वाज़ा खुलता तो मैं बाहर की तरफ़ नहीं देखता था।

लेकिन यह सब परेशानी असल में जेल की ही वजह से नहीं थी। यह तो बाहरी घटनाओं का असर था। मुझे सताने के लिए एक तरफ़ तो कमला की बीमारी थी और दूसरी तरफ़ मेरी राजनैतिक चिन्तायें। मुझे ऐसा दिखाई दे रहा था कि कमला को उसकी पुरानी बीमारी ने फिर आ दबाया है और ऐसी दशा में मैं उसकी कोई भी सेवा न कर सकने में मजबूरी और लाचारी महसूस कर रहा था। मैं जानता था कि मैं कमला के पास होता तो अवस्था बहुत कुछ बदल जाती।

अलीपुर में तो यह बात न थी; पर देहरादून जेल में मुझे रोज़ाना अखबार मिलने लगा और मुझे बाहर के राजनैतिक और दूसरे हालात मालूम होने लगे। पटना में आल इण्डिया कांग्रेस कमिटी की क़रीब तीन बरस बाद बैठक हुई (इस दर्मियान में तो वह क़रीब-क़रीब ग़ैरक़ानूनी ही रही।) इसकी कार्रवाई पढ़कर तबीयत मुर्झा-सी गई। मुझे आश्चर्य हुआ कि देश और दुनिया में इतना कुछ हो जाने के बाद जब यह पहली बैठक हुई तो परिस्थिति की छानबीन करने, पूरी चर्चा करने और पुराने दर्रे में से निकलने की कुछ कोशिश नहीं की गई। दूर से ऐसा जान पड़ा,

मानों गांधीजी, अपने पुराने एकतन्त्री रूप में खड़े कह रहे हैं "अगर मेरे बताये रास्ते पर चलना चाहते हो, तो मेरी शर्तें क़बूल करो।" उनकी मांग बिलकुल स्वाभाविक थी। क्योंकि यह तो हो नहीं सकता था कि उन्हें रक्खा भी जाय और काम भी उनसे उनके गहरे विश्वासों के विरुद्ध लिया जाय। मगर ऐसा ज़रूर लगा कि ऊपर से लादने की वृत्ति ज्यादा थी और आपस में चर्चा करके किसी नीति को निश्चित करने की कम। यह विचित्र बात है कि एक तरफ़ तो गांधीजी लोगों के दिल और दिमाग़ पर क़ब्ज़ा कर लेते हैं और फ़िर उन्हींकी लाचारी की शिकायत करते हैं। मैं समझता हूं, जनता ने जितनी वफ़ादारी और भक्ति के सामूहिक रूप में उनका साथ दिया है, उतना बहुत कम लोगों का दिया है। ऐसी हालत में जनता को यह दोष देना न्यायोचित नहीं मालूम होता कि उससे जो बड़ी-बड़ी आशायें बांधली गई थी वे पूरी नहीं हुईं। पटना की बैठक में गांधीजी अन्त तक ठहरे तक नहीं क्योंकि उन्हें हरिजन-प्रवास जारी रखना था। उन्होंने आल इण्डिया कांग्रेस कमिटी से फालतू बातों में न पड़कर काम-से-काम रखने और वर्किंग कमिटी के रक्खे हुए प्रस्तावों को जल्दी-से निपटाने के लिए कहा और फिर चले गये।

शायद यह सच है कि लम्बे वाद-विवाद से भी कोई और अच्छा नतीजा न निकलता। सदस्यों के विचारों में इतनी गड़बड़ी और स्पष्टता की कमी थी कि नुक़्ताचीनी करने को तो बहुत लोग तैयार थे, लेकिन रचनात्मक परामर्श शायद ही किसी ने दिया हो। उस वक़्त की परिस्थिति में यह था तो स्वाभाविक, क्योंकि लड़ाई का भार अलग-अलग प्रान्तों से आये हुए इन्ही नेताओं पर आ पड़ा था, और वे जरा थके हुए और परेशान से थे। उन्हें कुछ ऐसा तो लगा कि अब लड़ाई बन्द करनी पड़ेगी, मगर यह न सूझा कि आगे क्या किया जाय। उस समय दो स्पष्ट दल बन गये। जिनमें से एक तो कौंसिलों द्वारा केवल वैधानिक आन्दोलन के पक्ष में था और दूसरा कुछ अनिश्चित समाजवादी विचारों के प्रवाह में बहने लगा। लेकिन ज्यादातर मेम्बर दोनों में से किसी एक पक्ष के भी समर्थक नहीं थे। उन्हें यह भी पसन्द न था कि पीछे हटकर फिर कौंसिलों की शरण ली जाय और साथ ही समाज-वाद से कुछ डर भी लगता था कि कहीं इस नई चीज से आपस में फूट पैदा हो जाय। उनके कोई रचनात्मक विचार न थे और उनकी एकमात्र आशा और सहारा गांधीजी थे। पहले की तरह इस बार भी उन्होंने गांधीजी की तरफ़ देखा और जैसा उन्होंने कहा किया। यह बात दूसरी है कि बहुतों को गांधीजी की बात पूरी तरह पसन्द न थी। गांधीजी के सहारे से नरम वैधानिक विचार के लोगों का कमिटी और कांग्रेस दोनों में बोलबाला हो गया।

यह सब तो होना ही था। मगर जितना मैंने सोचा था, उससे कहीं ज्यादा कांग्रेस पीछे हट गई। पिछले पन्द्रह साल में, जब से असहयोग का जंग हुआ, कांग्रेस के नेताओं ने कभी इतनी परले सिरे की वैध ढंग की बातें नहीं की थीं। पिछली स्वराज-पार्टी, हालांकि वह खुद भी प्रतिक्रिया का ही एक रूप थी, इस नये दल की विचार धारा को देखते हुए कहीं आगे बढ़ी हुई थी। और स्वराज्य पार्टी में जैसे बड़े और प्रभावशाली व्यक्ति थे वैसे इसमें हैं भी नहीं, इसमे बहुत से लोग तो ऐसे थे, जो जबतक जोखम रहा, आन्दोलन से जान-बूझकर अलग रहे और अब कांग्रेस में धड़ाधड़ शामिल होकर बड़े आदमी बन गये।

सरकार ने कांग्रेस पर से बन्दिशें उठालीं और वह क़ानूनी संस्था बन गई। लेकिन इसकी बहुत-सी सहायक संस्थायें फिर भी ग़ैर क़ानूनी बनी रहीं—जैसे, कांग्रेस का स्वयंसेवक विभाग—सेवादल और कई स्वतन्त्र किसान सभायें, शिक्षण-संस्थायें, और नौजवान-सभायें। जिनमें एक बच्चों की संस्था भी थी। खास तौर पर खुदाई खिदमतगार या सरहद्दी लाल कुर्तीवाले फिर भी ग़ैरक़ानूनी बने रहे। यह संस्था १९३१ में कांग्रेस की बाक़ायदा शाखा बनकर सरहद्दी सूबे में उसकी तरफ़ से काम करती थी। इस तरह हालांकि कांग्रेस ने अपनी हलचल का सीधीलड़ाई वाला हिस्सा पूरी तरह मुल्तवी कर दिया था और वैध ढंग इख्तियार कर लिया था, फिर भी सरकार ने सत्याग्रह के लिए जो खास क़ानून बनाये थे, वह सब-के-सब क़ायम रक्खे और कांग्रेस संस्था के जरूरी हिस्सों पर पाबन्दियां जारी रक्खी। किसानों और मजदूरों की संस्थाओं को दबाने की तरफ़ भी खास ध्यान दिया गया। और मजेदार बात तो यह है कि साथ-ही-साथ बड़े-बड़े सरकारी अफ़सर घूम-घूमकर जमींदारों और ताल्लुक़ेदारों को सगठित करने लगे। जमींदारों की इन संस्थाओं को हर तरह की सहूलियतें दी गईं। युक्तप्रान्त को इन संस्थाओं में से बड़ी-बड़ी दो का चन्दा लगान के साथ सरकारी आदमियों ने इकट्ठा किया।

मेरा खयाल है कि मैंने हिन्दू या मुस्लिम साम्प्रदायिक संस्थाओं के साथ कभी रिआयत नहीं की है। लेकिन एक घटना ने हिन्दू-सभा के लिए मेरे मन में खास तौर पर कटुता पैदा कर दी। इसके एक मन्त्री ने खामख़ाह लाल कुर्तीवालों पर लगाई गई बन्दिशों की हिमायत करके सरकार की पीठ ठोंक दी। एक तो मामूली नागरिक अधिकारों का छीना जाना, और फिर भी वह ऐसे वक्त में जब कोई लड़ाई नहीं थी, ऐसी कार्रवाई के समर्थन से मैं दंग रह गया। सिद्धान्त का सवाल छोड़ भी दें, तो भी यह सबको मालूम था कि लड़ाई के दिनों में, इन सरहद्दी लोगों का बर्ताव विलक्षण रहा, और उनके नेता खान अब्दुलग़फ़्फ़ारखां, जो देश में ऊंचे दरजे के बहादुर

और ईमानदार आदमी हैं, और जो बग़ैर मुक़दमा चलाये नज़रबन्द कर दिये गये थे, अभीतक जेल में थे। मुझे ऐसा लगा कि इससे ज्यादा साम्प्रदायिक द्वेष और क्या हो सकता है। मुझे उम्मीद थी कि हिन्दू महासभा के बड़े नेता इस मामले में अपने साथी की फ़ौरन तरदीद करदेंगे। लेकिन जहाँतक मुझे मालूम है, उनमें से किसीने एक शब्द भी न कहा। हिन्दू महासभा के मन्त्री के इस वक्तव्य से मुझे बड़ी अशान्ति हुई।

वह वक्तव्य वैसे ही बुरा था, लेकिन मुझे ऐसा दिखाई दिया कि देश में एक नई स्थिति पैदा हो जाने का पेशखीमा हो। गर्मी के दिन थे और तीसरे पहर का वक़्त। मेरी आँखें झपक गई। याद पड़ता है कि एक अजीब-सा सपना देखा। अब्दुलग़फ्फारख़ां पर चारों तरफ से हमले हो रहे है और मैं उन्हें बचाने के लिए लड़ रहा हूँ। थकान से चूर और भारी वेदना से व्यथित होकर जागा तो क्या देखता हूँ कि तकिया आँसुओं से तर है। मुझे बड़ा ताज्जुब हुआ, क्योंकि जागृत अवस्था में तो कभी मुझ पर ऐसी भावुकता सवार नहीं हुआ करती।

उन दिनों मेरा चित्त सचमुच ही ठिकाने न था। नीद ठीक नही आती थी। यह मेरे लिए नई बात थी। मुझे तरह-तरह के बुरे सपने भी आने लगे थे। कभी-कभी नींद में चिल्ला उठता था। एक बार तो मेरा यह चिल्लाना मामूली से ज्यादा ज़ोर का हो गया। जब मैं चौककर उठा, तो बिस्तर के पास जेल के दो सिपाहियों को खड़ा पाया। उन्हें मेरे शोर से चिन्ता हो गई थी। सपना मुझे यह आया था कि कोई मेरा गला घोंट रहा है।

इसी अर्से में कांग्रेस वर्किंग कमेटी के एक प्रस्ताव का भी मेरे दिल पर तकलीफ़-देह असर हुआ। यह कहा गया था कि "निजी सम्पत्ति की ज़ब्ती और वर्गयुद्ध के संबंध में होनेवाली ग़ैरजिम्मेदाराना चर्चा को मद्दे नज़र रखकर" यह प्रस्ताव पास हुआ है, और आगे चलकर इसके ज़रिये कांग्रेसवालों को यह बताया गया था कि कराची कांग्रेस के प्रस्ताव में "न तो किसी माक़ूल वजह या मुआविज़े के बिना निजी सम्पत्ति की ज़ब्ती का खयाल रक्खा गया है, न वह वर्गयुद्ध की हिमायत ही करता है।" वर्किंग-कमिटी की यह भी राय है कि सम्पत्ति की ज़ब्ती और वर्गयुद्ध कांग्रेस के अहिंसा के सिद्धान्त के ख़िलाफ़ है।" इस प्रस्ताव की भाषा अनुचित थी, जिससे एक हदतक यह ज़ाहिर होता था कि इसके बनानेवाले यह जानते ही नहीं कि वर्गयुद्ध क्या चीज़ है। इस प्रस्ताव द्वारा प्रत्यक्ष रूप से नये कांग्रेस ससाजवादी दल पर हमला किया गया था। असल में, इस दल के किसी भी ज़िम्मेदार शख्स की तरफ से ज़ब्ती की कभी कोई बात नहीं कही गई थी; हाँ, मौजूदा परिस्थितियों में जो वर्गयुद्ध मौजूद है, कभी-कभी उसका ज़िक्र कर दिया जाता था। वर्किंग कमिटी के इस प्रस्ताव में यह

इशारा पाया जाता है कि कोई भी ऐसा शख्स जो इस तरह वर्गयुद्ध की इस वजूदगी में यक़ीन रखता हो काँग्रेस का मामूली मेम्बर तक नहीं बन सकता। किसी ने काँग्रेस के समाजवादी हो जाने या निजी सम्पत्ति के विरुद्ध होने की कभी कोई शिकायत नहीं की थी। कुछ मेम्बर यह राय रखते थे, लेकिन अब यह जाहिर हो गया कि इस राष्ट्रीय संस्था में जहाँ सबके लिए जगह है, समाजवादियों के लिए कोई जगह नहीं।

अक्सर यह कहा गया है कि काँग्रेस राष्ट्र की प्रतिनिधि है—यानी, राजा से लेकर रंक तक सभी क़िस्म के लोग इसमें शामिल हैं। राष्ट्रीय आन्दोलनों का बहुधा यह दावा हुआ ही करता है। इसका मतलब शायद यह है कि ये आन्दोलन राष्ट्र के बहुत बड़े बहुमत के प्रतिनिधि होते हैं और उनकी नीति सभी किस्म के लोगों की भलाई की होती है। लेकिन ज़ाहिर है कि यह दावा तो किया ही नहीं जा सकता। कोई राजनैतिक संस्था विरोधी-हितों की प्रतिनिधि नहीं हो सकती। क्योंकि ऐसा करने से न केवल वह कमज़ोर और बे-मानी संस्था हो जायगी, बल्कि उसका अपना कोई विशेष चिन्ह और स्वरूप भी कायम न रह सकेगा। काँग्रेस या तो एक ऐसा राजनैतिक दल है, जिसका कोई एक निश्चित (या अनिश्चित) उद्देश है और राजनैतिक सत्ता हासिल करने और राष्ट्र की भलाई के लिए उसका उपयोग करने के लिए उसकी अपनी एक ख़ास विचारधारा है; या वह एक ऐसी परोपकारिणी और दया-धर्म-प्रचारिणी संस्था है, जिसके अपने कोई विचार नहीं हैं, बल्कि वह सबका भला चाहती है। यह तो उन्हीं लोगों की नुमाइन्दा बन सकती है जो उस उद्देश और सिद्धान्त के साथ आम तौर पर सहमत हों और जो उसके विरोधी हैं उन्हें राष्ट्र-विरोधी या समाज-विरोधी और प्रतिगामी समझकर उनके असर को रोकें या मिटायें ताकि काँग्रेस अपने सिद्धान्तों पर अमल कर सके। यह सही है कि साम्राज्य-विरोधी राष्ट्रीय आन्दोलन में अधिक लोगों के सहमत होने की गुंजाइश रहती है, क्योंकि उसका सामाजिक संघर्ष से कोई संबंध नहीं होता। इस तरह काँग्रेस किसी-न-किसी मात्रा में भारतवासियों के भारी बहुमत की प्रतिनिधि थोड़े-बहुत रूप में ज़रूर रही है और सब तरह के विरोधी दल के लोग भी इसमें शामिल रहे हैं। ये लोग एकमत सिर्फ़ इस बात पर रहे कि साम्राज्यवाद का विरोध करना चाहिए। लेकिन इस मामले पर ज़ोर देने का जुदा-जुदा लोगों का जुदा-जुदा ढंग था। साम्राज्यवाद के विरोध के इस मूल प्रश्न पर जिन लोगों की राय बिलकुल खिलाफ़ रही, वे लोग काँग्रेस से निकल गये और किसी-न-किसी शकल में ब्रिटिश सरकार के साथ मिल गये। इस तरह काँग्रेस एक तरह की स्थायी सर्वदल काँग्रेस बन गई, जिसमें एक-दूसरे से मिलते-जुलते कई दल रहे जो एक विश्वास और गांधीजी की ज़बरदस्त हस्ती से बंधे रहे।

आगे चलकर वर्किंग कमिटी ने वर्गयुद्ध-सम्बन्धी अपने प्रस्ताव का अर्थ समझाने की कोशिश की। इस प्रस्ताव का महत्व उसकी भाषा या मज़मून में उतना न था, जितना कि इससे कि उसमे कांग्रेस की बदली हुई विचार-धारा का एक बार फिर परिचय मिलता था। साफ है कि यह प्रस्ताव कांग्रेस के नये पार्लमेण्टरी दल की प्रेरणा से पास हुआ था। यह दल आनेवाले असेम्बली के चुनाव में जायदादवाले लोगों की सहायता प्राप्त करना चाहता था। इस दल के (या, इन लोगों के प्रभाव से) कांग्रेस का दृष्टिकोण अधिकाधिक नरम होता जारहा था और वह मुल्क के नरम और पुराने खयाल के लोगों को मिलाने की कोशिश कर रही थी। जिन लोगों ने पहले कांग्रेस की हलचलों का विरोध किया था और सत्याग्रह के जमाने में भी सरकार का साथ दिया था, उन लोगों के प्रति भी चापलूसीभरे शब्द कहे जाने लगे। यह भी महसूस किया गया कि शोर मचाने और नुक्ताचीनी करनेवाला विरोधी पक्ष ( कांग्रेस के गरम विचारवाले लोग ) इस मेल-मिलाप और मत-परिवर्त्तन के काम में बाधक बन रहा था। वर्किंग कमिटी के प्रस्ताव और दूसरे व्यक्तिगत भाषणों से यह प्रकट था कि कांग्रेस की कार्यकारिणी गरमदलवालो के काटने-खसूटने पर भी अपना नया रास्ता छोडने को तैयार नही थी। यह भी ज़ाहिर होता था कि अगर गरम दल का रुख न बदला तो उसे दबोचकर कांग्रेस से ही निकाल बाहर कर दिया जायगा। कांग्रेस के पार्लमेण्टरी बोर्ड ने जो ऐलान निकाला उसमें ऐसा नरम और फूंक-फूंककर क़दम रखने का कार्यक्रम बताया गया, जैसा पिछले पन्द्रह साल में कांग्रेस ने कभी अख़्तियार नहीं किया था।

गांधीजी के अलावा भी कांग्रेस के नेताओं में कई ऐसे मशहूर लोग थे, जिनकी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन में बडी बेशक़ीमती सेवायें रही हैं और जिनकी सचाई और निर्भयता के कारण देशभर में बड़ी इज्जत की जाती है। लेकिन इस नई नीति की वजह से कांग्रेस के दूसरी श्रेणी के ही नही, चोटी के नेताओं में भी बहुत-से ऐसे थे, जिन्हें आदर्शवादी नही कहा जा सकता था। कांग्रेस के दूसरे कार्यकर्ताओं में अलबत्ता बहुत-से आदर्शवादी थे, लेकिन इस समय सम्मान लोलुपों और समय-साधकों के लिए दर्वाज़ा जितना ज्यादा खुल गया था, उतना शायद ही पहले कभी खुला हो। गांधीजी के रहस्यमय और भ्रमात्मक व्यक्तित्त्व के सिवा, जिसने कि सारी नुमाइश पर अपना प्रभाव जमा रक्खा था, कांग्रेस के यह दो रुख थे—एक तो वह जो सर्वथा राजनैतिक था और संगठित दल का रूप अख़्तियार कर रहा था, और दूसरा था धर्मनिष्ठा और भावुकता से पूर्ण प्रार्थना-सभाओं का।

सरकार की तरफ़ विजय का वातावरण स्पष्ट रूप से प्रकट था। उसका विचार

था कि वह जीत उस नीति की सफलता के कारण है जिसका प्रयोग करके उसने सत्याग्रह और उस के आन्दोलन की शाखाओं को दबा दिया था। ऑपरेशन तो सफलतापूर्वक हो ही गया था। फिर उस समय यह क्यों चिन्ता होने लगे कि मरीज़ जियेगा या मरेगा। हालांकि उस वक़्त कांग्रेस किसी हद तक दबादी गई थी, फिर भी सरकार अपनी दमन नीति को, कुछ मामूली सी तबदीलियों के साथ, वैसा ही जारी रखना चाहती थी। वह जानती थी कि जबतक असन्तोष का आधारभूत कारण मौजूद है, तबतक राष्ट्रीय नीति में इस प्रकार के परिवर्त्तन क्षणिक या आरज़ी ही हो सकते हैं, और इसलिए अपनी नीति में ज़रा भी ढिलाई करने से आन्दोलन की गति कहीं उल्टी अधिक तेज़ रफ्तार न पकड़ले। वह शायद यह भी समझती थी कि कांग्रेस अथवा मज़दूर या किसानवर्ग में मे अधिक गरम विचारवालों को दबाने की अपनी नीति जारी रखने में कांग्रेस के विशेष नेताओं की बहुत अधिक नाराज़ी की कोई आशंका नहीं है।

देहरादून-जेल मे मेरे विचारों का प्रवाह किसी हदतक इसी प्रकार का था। परिस्थिति के सम्पर्क में न होने के कारण वास्तव में मै घटनाक्रम के सम्बन्ध में अपना निश्चित मत बनाने की स्थिति में न था। अलीपुर में तो मै परिस्थिति से बिलकुल ही अपरिचित था, देहरादून में मुझे सरकार की पसन्द के अख़बार के ज़रिये अधूरी और कभी-कभी बिलकुल एकतरफ़ा ख़बरें मिलने लगी थी। अपने बाहर के साथियों के सम्पर्क में आने और परिस्थिति के निकट अध्ययन से मेरे विचारों में किसी हदतक परिवर्त्तन होना बहुत मुमकिन था।

वर्त्तमान परिस्थिति से परेशान होकर मै भूतकाल की बातों का, जब से मैंने सार्वजनिक कार्यों में कुछ भाग लेना शुरू किया तब से हिन्दुस्तान में गुज़री हुई राजनैतिक घटनाओं का ख़याल करने लगा। हमने जो कुछ किया, उसमें हम किस हदतक सही रास्ते पर थे? किस हदतक ग़लती पर थे? उसी समय मुझे यह सूझा कि मैं अपने विचारों को अगर क़ाग़ज़ पर लिखता जाऊं तो वह अधिक व्यवस्थित और उपयोगी होंगे। इससे मुझे अपने दिमाग़ को एक निश्चित काम में लगाये रखने से उसे और इस तरह चिन्ता और परेशानी से दूर रखने में भी सहायता मिलेगी। इस तरह जून सन् १९३४ में देहरादून-जेल में मैंने अपनी यह 'कहानी' लिखना शुरू की और आठ महीने तक, जबतक इसकी धुन सवार रही, लिखता रहा। अक्सर ऐसे मौक़े आये जब मुझे लिखने की इच्छा न हुई, तीन बार ऐसा हुआ कि महीने-महीने भर तक मै न लिख सका। लेकिन मैंने इसे जारी रखने की कोशिश की, और अब मैं इस व्यक्तिगत यात्रा की समाप्ति के निकट पहुंच चुका हूं। इसका अधिकांश

एक अजीब परेशानी की हालत में लिखा गया है, जब कि मैं उदासी और मानसिक चिन्ताओं से दबा हुआ था। शायद इसकी थोड़ी-सी झलक, जो कुछ मैंने लिखा, उसमें आ गई है, लेकिन इस लिखने ने ही मुझे वर्तमान चिन्ताओं को भुलाने अपना गम कम करने में बड़ी सहायता दी। जब मैं इसे लिख रहा था, मुझे बाहर के श्रोताओं का बिलकुल खयाल न था; मैं अपने-आपको संबोधन करता था, और प्रश्न बनाकर उसके उत्तर देता था। कभी-कभी तो उससे मेरा कुछ मनोरञ्जन भी हो जाता था। यथा-सम्भव मे बिना किसी लाग-लपेट के सीधा सोचना चाहता था, और मुझे खयाल था कि शायद भूतकाल का यह सिंहावलोकन मुझे इस काम में सहायक होगा।

आखिरी जुलाई के क़रीब कमला की हालत बड़ी तेज़ी से बिगड़ने लगी और कुछ ही दिनों में वह नाजुक हो गई। ११ अगस्त को मुझसे यकायक देहरादून-जेल छोड़ने को कहा गया और उस रात को मैं पुलिस की निगरानी में इलाहाबाद भेज दिया गया। दूसरे दिन शाम को हम इलाहाबाद के प्रयाग स्टेशन पर पहुँचे और वहाँ मुझ से ज़िला मजिस्ट्रेट ने कहा कि मैं आरजी तौर पर रिहा किया जा रहा हूँ कि जिससे मैं अपनी बीमार पत्नी को देख सकूँ। यह मेरी गिरफ्तारी से एक दिन कम छठा महीना था।

# ६५

## ग्यारह दिन

"स्वयं काटकर जीर्ण म्यान को फेंक-फांक देती तलवार,
इसी तरह चोला अपना यह रख देता है जीव उतार।"[१]

मेरी रिहाई आरज़ी थी। मुझे बता दिया गया था कि मेरी रिहाई एक या दो दिन के लिए, या जब तक डॉक्टर बिलकुल ज़रूरी समझें तबतक के लिए है। अनिश्चितता से भरी हुई यह एक अजीब स्थिति थी, और मेरे लिए कुछ निश्चित कर सकना सम्भव न था। एक निश्चित अवधि होती तो मैं जान सकता था, कि मेरी क्या स्थिति है और मैं अपने आपको उसके अनुकूल बनाने की कोशिश करता। मौजूदा हालत जैसी थी, उसमें तो मैं किसी दिन, किसी भी जेल को वापिस भेज दिया जा सकता था।

परिवर्त्तन आकस्मिक था और मैं उसके लिए ज़रा भी तैयार न था। क़ैद की तनहाई से मैं एकदम डॉक्टरों, नर्सों और रिश्तेदारों से भरे हुए घर पर पहुंचाया गया। मेरी लड़की इन्दिरा भी शान्तिनिकेतन से आ गई थी। मुझसे मिलने और कमला की हालत दर्याफ्त करने के लिए बहुत-से मित्र बराबर आते जा रहे थे। रहन-सहन का ढँग भी बिलकुल जुदा था, घर के सब आराम थे, और अच्छा खाना था। वह सब कुछ होते हुए भी कमला की ख़तरनाक हालत की चिन्ता परेशान कर रही थी। मैंने उसे बहुत दुबली और निहायत कमज़ोर हालत में पड़े देखा। उसका ढांचा भर रहा था, जो बड़ी कमज़ोरी से अपनी बीमारी से लोहा ले रहा था। और यह ख़याल कि शायद वह मुझे छोड़ जायगी असह्य वेदना देने लगा। इस समय हमारी शादी को साढ़े अठारह साल हुए थे। मेरा दिमाग़ उस दिन और उसके बाद के इन सब पिछले बरसों में जो कुछ गुज़रा उसकी तरफ़ घूमने लगा। शादी के वक्त मैं छब्बीस साल का था और वह क़रीब सत्रह बरस की, दुनियवी तौर-तरीक़ों से सर्वथा अलिप्त निरी अबोध बालिका थी। हमारी उम्र में काफ़ी अन्तर था, और उससे भी अधिक अन्तर हमारे मानसिक दृष्टि-बिन्दु में था, क्योंकि उसकी बनिस्बत मेरी उम्र कहीं ज्यादा थी। संजीदगी के इन सब अलामात के बावजूद भी मुझमें बड़ा लड़कपन था, और मैंने शायद ही कभी यह महसूस किया हो कि इस सुकुमार और भावुक लड़की

१. **बायरन का मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है—**

"For the Sword outwears its sheath,
And the soul wears out the breast."

का मस्तिष्क फूल की तरह धीरे-धीरे विकसित हो रहा है और उसे सहृदयता और होशियारी के साथ सहारा देने की आवश्यकता है। हम दोनों एक दूसरे की तरफ़ आकर्षित हो रहे थे और काफ़ी अच्छी तरह हिल-मिल गये, लेकिन हमारा दृष्टि-पथ जुदा-जुदा था और एक दूसरे में अनुकूलता का अभाव था। इस विपरीतता के कारण कभी-कभी आपस में संघर्ष तक की नौबत आ जाती थी; और कई बार छोटी-मोटी बातों पर बच्चों के से छोटे-मोटे झगड़े भी हो जाया करते थे, जो ज्यादा देरतक न टिकते थे, और तुरन्त ही मेल मिलाप-होकर समाप्त हो जाते थे। दोनों का स्वभाव तेज था, दोनों ही तुनकमिजाज थे, और दोनों में ही अपनी शान रखने की बच्चों की-सी जिद थी। इतने पर भी हमारा प्रेम बढ़ता गया, हालांकि परस्पर अनुकूलता का अभाव धीरे-धीरे कम हुआ, हमारी शादी के इक्कीस महीने बाद हमारी लड़की और एकमात्र सन्तान इन्दिरा पैदा हुई।

हमारी शादी के बिलकुल साथ-ही-साथ देश की राजनीति में अनेक नई घटनाएँ हुईं और उनमें मेरी सलग्नता बढ़ती गई। वे होमरूल के दिन थे। उनके पीछे फौरन ही पंजाब के मार्शल लॉ और असहयोग का जमाना आया और मैं सार्वजनिक कामों के आंधी-तूफ़ान में अधिकाधिक फँसता ही गया। इन आन्दोलनों में मेरी तल्लीनता इतनी बढ़ गई थी कि ठीक उस समय, जब कि उसे मेरे पूरे सहयोग की आवश्यकता थी, मैंने अनजान में उसे बिलकुल नजर अन्दाज कर, उसे अपने खुदके भरोसे पर छोड़ दिया। उसके प्रति मेरा स्नेह बराबर बना रहा, बल्कि बढ़ा भी और यह जानकर बड़ी तसल्ली हुई कि वह अपने शान्तिप्रद प्रभाव के साथ इसमें मेरी सहायक है। उसने मुझे बल दिया। लेकिन साथ ही उसकी तन्दुरुस्ती पर भी असर पड़ा होगा और उसने अपने प्रति कुछ लापरवाही को भी महसूस किया होगा। इस तरह उसे भूला-सा रहने और कभी-कदास ही उसकी सुध लेने के बजाय उसपर मेरी अकृपा रही होती, तो भी किसी क़दर अच्छा ही था।

उसके बाद उसको बीमारी का दौरा शुरू हुआ और जेल-निवास के कारण मेरी लम्बी ग़ैरहाज़िरी रहने लगी, जिससे हम केवल जेल की मुलाक़ात के समय ही मिल सकते थे। सत्याग्रह-आन्दोलन ने उसे हमारे प्रथम श्रेणी के योद्धाओं के बीच ला खड़ा किया, और जब वह खुद जेल गई तो इसकी उसे बड़ी खुशी हुई। हम सदा एक दूसरे के और भी निकट आते गये। कभी-कभी होनेवाली ये मुलाक़ातें बेशक़ीमती होती गईं; हम उनकी बाट जोहते रहते थे और बीच के दिन गिनते रहते थे। हम आपस में एक दूसरे से उकताते न थे और हमारी बातें नीरस नहीं हुआ करती थीं क्योंकि हमारी मुलाक़ातों और अल्पकालिक सम्मिलनों में हमेशा कुछ-न-कुछ ताजगी

और नवीनता बनी रहती थी। हम दोनों में से हरेक बराबर एक दूसरे में नई-नई बातें पाते रहते थे, हालांकि कभी-कभी ये बातें शायद हमारी पसन्द की न होती थीं। हमारी बढ़ती हुई उम्र के इन मतभेदों मे भी लड़कपन की मात्रा रहती।

हमारे वैवाहिक जीवन के अठारह बरस बाद भी उसकी सूरत पर कौमार्य अभी तक वैसा ही बना हुआ था, स्त्रियोचित संजीदगी का कोई चिन्ह न था। इतने अर्से पहले वह जैसी दुल्हन बनकर हमारे घर में आई थी, अब भी बिलकुल वैसी ही मालूम होती थी। लेकिन मैं बहुत बदल गया था; और हालांकि अपनी उम्र के मुताबिक़ मैं काफ़ी योग्य, क्रियाशील और चुस्त था—और कुछ लोगों का कहना था कि अब भी मुझमें लड़कपन की कई सिफतें मौजूद हैं, फ़िर भी मेरा चेहरा मेरे साथ धोखा करता है। मेरे सिर के आधे बाल उड़ गये थे और जो बाक़ी थे वे पक गये थे, पेशानी पर सिलवटें, चेहरे पर झुर्रियाँ और आँखों के चारों तरफ़ काली झाई पड़ गई थीं। पिछले चार वर्षों की मुसीबतें और परेशानियाँ मुझपर अपने बहुत-से निशान छोड़ गई थीं। इन पिछले बरसों में मैं और कमला जब कभी किसी नई जगह जाते,तो मैं यह देखकर हैरान हो जाता था, कि अक्सर कमला को मेरी लड़की समझ लिया जाता। वह और इन्दिरा सगी बहनें सी दिखाई देती थीं।

वैवाहिक जीवन के अठारह बरस! लेकिन इनमें से कितने साल मैंने जेल की कोठरियों में, और कमला ने अस्पतालों और सेनिटोरियम में बिताये? और फिर इस समय भी मैं जेल की सज़ा भुगत रहा था और वह बीमार पड़ी हुई जीवन के लिए सघर्ष कर रही थी। अपनी तन्दुरुस्ती के बारे में उसकी ला-परवाही पर कुछ झुंझुलाहट सी आई। लेकिन फिर भी मैं उसे दोष किस तरह दे सकता था, क्योंकि उसकी तेज़ तबियत अपनी अक्रियशीलता और राष्ट्रीय युद्ध में पूरा हिस्सा लेने मे अपनी लाचारी के कारण उसे छटपटाती रहती थी। शरीर ऐसा करने मे समर्थ न होने के कारण न तो वह ठीक तरह से काम ही कर सकती थी, न ठीक तौर पर अपना इलाज ही करा सकती थी। नतीजा यह हुआ कि अन्दर-ही अन्दर सुलगती रहनेवाली आग ने उसके शरीर को बरबाद कर दिया।

सचमुच ही, इस समय, जब कि मुझे उसकी सब से अधिक आवश्यकता है, वह मुझे छोड़ तो न जायगी? क्यों, इसलिए कि हम दोनों ने एक दूसरे को ठीक तरह से पहचानना और समझना अभी-अभी शुरू ही किया है। हम दोनों ने एक दूसरे पर बहुत भरोसा किया था, हम दोनों को एकसाथ रहकर बहुत काम करना था।

प्रतिदिन और प्रतिघण्टे उसकी हालत देख-देखकर मेरे दिल में इस तरह के खयाल उठते रहते थे।

साथी और मित्र मुझसे मिलने आये। अभीतक जो कुछ हो चुका था, और जिससे कि मैं वाक़िफ़ नहीं था, उसके मुतल्लिक़ उन्होंने बहुत कुछ कहा। उन्होंने वर्त्तमान राजनैतिक समस्याओं के बारे में मुझसे चर्चा की और प्रश्न पूछे। मुझे उन्हें जवाब देना मुश्किल मालूम हुआ। कमला की बीमारी का ख़याल दिमाग़ से दूर होना आसान न था, और तनहाई और जेल की जुदाई के कारण मैं इस स्थिति में नहीं था कि इन सब प्रश्नों का जवाब यकायक दे सकता। अपने लम्बे तजुर्बे ने मुझे यह सिखाया है कि जेल में मिली हुई मुख़्तसिर-सी जानकारी से स्थिति का ठीक-ठीक अन्दाज़ा नहीं लगाया जा सकता। अच्छी तरह सोचने-समझने के लिए व्यक्तिगत सम्पर्क ज़रूरी था, उसके बग़ैर राय ज़ाहिर करना सर्वथा शाब्दिक-सा और असलीयत से दूर होता। इसके साथ ही मुझे गांधीजी और कांग्रेस वर्किंग कमिटी के अपने पुराने साथियों के साथ सब बातों पर चर्चा करने से पहले कांग्रेस की नीति के सम्बन्ध में कुछ निश्चित राय ज़ाहिर करना, उनके प्रति अन्याय करना मालूम हुआ। जो कुछ हो चुका था, उसपर मेरे दिमाग़ में काफ़ी आलोचना भरी हुई थी; लेकिन मैं कोई निश्चित सूचना देने के लिए तैयार न था। उस समय जेल से बाहर आने का कोई ख़याल न होने के कारण उस दशा में मैंने सोचा ही न था।

इसके साथ ही एक ख़याल यह भी था कि, सरकार ने मुझे अपनी पत्नी के पास आने देने की जो शिष्टता दिखाई है, उसको ध्यान में रखते हुए मेरे लिए यह मुनासिब न होगा कि इस मौक़े का मैं राजनैतिक बातों के लिए उपयोग करूँ। हालांकि ऐसे कामों से दूर रहने की मैंने कोई शर्त या वादा नहीं किया था, फिर भी इस ख़याल का मुझ पर बराबर असर होता रहा।

सिवा झूठी अफ़वाहों के खण्डन के मैंने किसी भी सार्वजनिक वक्तव्य का देना टलाया। प्राइवेट बातचीत में मैंने किसी निश्चित नीति का समर्थन नहीं किया, लेकिन पुरानी घटनाओं की आलोचना काफ़ी खुलकर की। कांग्रेस-समाजवादी दल उन्हीं दिनों अस्तित्व में आया था, और मेरे बहुत-से गहरे साथी उसमें शरीक थे। जहांतक मैंने उसे समझा, उसकी साधारण नीति मुझे पसन्द थी, लेकिन वह एक अजीब और खिचड़ी-सी जमात मालूम हुई, और अगर मैं बिलकुल आज़ाद होता, तो भी यकायक उसमें शरीक न होता। स्थानीय राजनैतिक झगड़ों ने भी मेरा कुछ समय लिया, क्योंकि कुछ दूसरी जगहों की तरह इलाहाबाद में भी स्थानीय कांग्रेस कमिटियों के चुनाव के समय असाधारण रूप से ज़हरीला प्रचार हुआ था। इनमें सिद्धान्त की कोई बात न थी, ये बिलकुल कुछ व्यक्तियों के अपने खानगी प्रश्न थे। मुझसे कहा गया कि इस तरह पैदा हुए कुछ व्यक्तिगत झगड़ों को निबटाने में मैं मदद करूँ।

इन झगड़ों में पड़ने की मेरी जरा भी इच्छा न थी, न मेरे पास समय ही था। इसके बावजूद कुछ वाक़यात मेरे सामने आये और उनसे मुझे बड़ा दुःख हुआ। यह एक ताज्जुब की बात थी कि स्थानीय कांग्रेस के चुनाव पर लोगबाग इतने अधिक उत्तेजित हो उठें! इनमें सबसे अधिक प्रमुख व्यक्ति वही थे, जो अनेक निजी कारणों से सत्याग्रह के समय कांग्रेस से अलग हो गये थे। सत्याग्रह के बन्द हो जाने के साथ ही वे कारण प्रभावहीन हो गये, और ये लोग यकायक मैदान में निकल आये और एक-दूसरे के ख़िलाफ भयंकर और अक्सर कमीना तक प्रचार करने लगे। यह एक असाधारण बात थी कि किस तरह दूसरे दल को गिराने के जोश में शिष्टता के साधारण नियमों तक को भुला दिया गया था। ख़ासकर मुझे इस बात का बहुत ही रंज हुआ कि कमला के नाम और उसकी बीमारी तक का इन स्थानीय चुनावों के ख़ातिर दुरुपयोग किया गया।

जिन व्यापक प्रश्नों पर चर्चा हुई, उनमें कॉंग्रेस का असेम्बली के आने-वाले चुनाव में अपनी ओर से उम्मेदवार खड़ेकर चुनाव लड़ने का निर्णय भी था। नौजवान दल में से बहुतों ने इस निर्णय का विरोध किया था, क्योंकि उनके ख़याल में यह उसी पुराने वैधानिक और समझौते के रास्ते पर वापस लौटना था, लेकिन उन्होंने इसके बदले और कोई कारगर रास्ता नहीं सुझाया। यह एक अजीब-सी बात थी कि इनमें के कुछ विरोधी ऊँचे-ऊँचे सिद्धान्तों के आधार पर कॉंग्रेस के अलावा दूसरी संस्थाओं द्वारा चुनाव लड़ने के ख़िलाफ़ न थे। उनका मक़सद यही मालूम होता था कि साम्प्रदायिक संस्थाओं के लिए मैदान साफ़ छोड़ दिया जाय।

इन स्थानीय झगड़ों और तेजी से बढ़ते हुए ऐसे राजनैतिक दाव-पेचों से मुझे नफ़रत हो गई। मैंने देखा कि मेरा उनसे मेल नहीं बैठता है और अपने ही शहर इलाहाबाद में मैं अपनेको अजनबी-सा महसूस करने लगा। ऐसे में अपनेको उस वातावरण के अनुकूल न पाकर मैं हैरान था। ऐसे वातावरण में जब इन जैसे मामलों पर ध्यान देने का समय आता तो मैं क्या कर सकता था।

मैंने कमला की हालत के बारे में गांधीजी को लिखा। क्योंकि मेरा ख़याल था कि मैं जल्दी ही वापस जेल में चला जाऊँगा, और सम्भव है कि अपने दिल की बात ज़ाहिर करने का फिर दूसरा मौक़ा न मिले, इसलिए मेरे दिमाग़ में जो बातें घूम रही थीं उनकी भी कुछ झलक उन्हें देदी। हाल की घटनाओं ने मुझे बहुत अधिक सन्तप्त और परेशान कर दिया था, और मेरे पत्र में उसकी एक हलकी-सी छाप थी। मैंने यह सूचित करने की कोशिश नहीं की थी कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं। मैंने जो कुछ भी किया वह तो इधर की घटनाओं से मेरे दिल पर जो कुछ भी

प्रतिक्रिया हुई थी उसका खुलासा भर था। वह पत्र क्या था, सर्वथा दबे हुए जोश का उबाल था, और बाद में मुझे मालूम हुआ कि गांधीजी को उससे बहुत दुःख पहुँचा।

दिन-पर-दिन निकलते जाते थे, और मैं जेल की तलबी या सरकार से किसी दूसरी इत्तिला मिलने का इन्तज़ार करता रहता था। समय-समय पर मुझे यह कहा जाता रहा कि आगे के लिए कल या परसों हिदायत जारी होनेवाली है। इस बीच डॉक्टरों को यह हिदायत हो गई थी कि वे सरकार को कमला की हालत की रोज़ाना इत्तिला देते रहें। मेरे आने के बाद से कमला की हालत कुछ सुधर गई थी।

यह आम विश्वास था, यहातक कि जो लोग साधारणतया सरकार के विश्वासपात्र होने के कारण उसकी बातों की जानकारी रखते हैं उनका भी यह ख़याल था, कि मैं पूरी तरह रिहा कर दिया गया होता, अगर आगे होनेवाली दो बातों—अक्तूबर में बम्बई में होनेवाले कांग्रेस के अधिवेशन और नवम्बर में होनेवाले असेम्बली के चुनाव—का सरकार को ध्यान न होता। जेल से बाहर रहने पर सम्भव है कि मैं इन कार्यों में बाधा डालनेवाला होऊँ, इसलिए यह मुमकिन मालूम होता था कि मैं अगले तीन महीने के लिए वापस जेल भेज दिया जाऊँगा और उसके बाद छोड़ दिया जाऊँगा। मेरे जेल वापस न भेजे जाने की भी सम्भावना थी और जैसे-जैसे दिन निकलते जाते थे, यह सम्भावना बढ़ती जाती थी। मैंने क़रीब-क़रीब जम जाने का निश्चय किया।

२३ अगस्त का दिन मेरे छुटकारे का ग्यारहवाँ दिन था। पुलिस की मोटर आई, पुलिस अफ़सर मेरे पास पहुँचा और मुझसे कहा कि मेरी अवधि समाप्त हो गई और मुझे उसके साथ नैनी जेल के लिए रवाना होना होगा। मैंने अपने मित्रों से बिदाई ली। जैसे ही मैं पुलिस की मोटर में बैठ रहा था, मेरी बीमार मा बाहें फैलाये हुए फिर दौड़ी हुई आई। उसकी वह सूरत एक अर्सेतक रह-रहकर मेरी नज़रों में घूमती रही।

# ६६

## फिर जेल में

छाया का मार्ग स्वतः निर्बाध है, पर धूप का स्वभाव ही ऐसा है कि उसकी विविध रंग बिरंगी झांकियाँ हो जाती हैं। इसी प्रकार दुःख सुख से भिन्न वस्तु है; सुख का क्षेत्र असंख्य दुःखों की वेदनाओं और क्षतिओं से घिरा रहता है।

राजतरंगिणी

मैं फिर नैनी जेल के अन्दर दाखिल हो गया। मुझे ऐसा जान पड़ने लगा, जैसे मैं एक नई सज़ा की मियाद शुरू कर रहा हूँ। कभी जेल के भीतर, कभी जेल के बाहर; मैं एक खिलौना-सा बना हुआ था! जीवन में इस प्रकार के अस्थिर परिवर्त्तन भावना-तन्त्रों को हिला डालते हैं, और अपने आपको नये परिवर्त्तनों के अनुकूल कर लेना इतना सहज काम नहीं होता। मैं आशा कर रहा था कि इस बार भी मुझे नैनी की उसी पुरानी कोठरी में रक्खा जायगा, जिसमें मैं अपनी पिछली लम्बी सज़ा काट चुका था। वहाँ थोड़े से फूल के पेड़ थे, जिन्हें मेरे बहनोई रणजीत पण्डित ने शुरू में लगाया था, और एक बरामदा भी था। लेकिन नम्बर ६ की उस पुरानी बैरक में एक नज़रबन्द, सरकारी क़ैदी को, जिस पर न तो कोई मुक़दमा चलाया गया था, न कोई सज़ा दी गई थी, रख दिया गया था। यह उचित नहीं समझा गया कि मैं उसके सम्पर्क में आऊँ, इसलिए मुझे जेल के दूसरे हिस्से में रक्खा गया, जो और भी अधिक अन्दर की तरफ़ था, और जिसमें फूल या हरियाली कुछ भी नहीं थे।

लेकिन मुझे अपने इस स्थान की इतनी चिन्ता नहीं थी; मेरा मन तो दूसरे स्थान पर था। मुझे डर था कि कमला की हालत में जो थोड़ा-सा सुधार हुआ है, वह मेरे दुबारा गिरफ्तार होने के समाचार से रुक जायगा। और हुआ भी ऐसा ही। कुछ दिनों तक ऐसी व्यवस्था रही कि कमला की हालत के बारे में मुझे हररोज़ डाक्टर का एक मुख्तसिर-सा बुलेटिन मिल जाया करता था। यह भी घूम-फिरकर मेरे पास पहुँचता था। डाक्टर टेलीफ़ोन से पुलिस के सदर दफ्तर को सूचना देता, और पुलिस उसे जेलतक पहुँचा देती। डाक्टरों और जेल के कर्मचारियों में सीधा सम्बन्ध वांछनीय नहीं समझा गया। दो सप्ताह तक तो मुझे यह सूचना नियमित, और कभी-कभी अनियमित, रूप से मिलती रही, और उसके बाद रोक दी गई; हालांकि कमला की हालत दिन-ब-दिन गिरती ही जारही थी।

बुरे समाचारों और समाचारों की प्रतीक्षा ने दिनों को असहनीय लम्बा और

रातों को उनसे भी भीषण बना दिया। समय की गति मानो बिलकुल रुक गई हो या अत्यन्त सुस्ती से सरक रही हो; हरेक घण्टा भार और आतंक-सा जान पड़ता था। इतनी तीव्रता से इस तरह की भावना को मैंने कभी महसूस नहीं किया था। उस समय मेरी ऐसी धारणा थी कि दो-तीन महीने के अन्दर बम्बई-कांग्रेस के अधिवेशन के बाद ही, मेरे छूट जाने की सम्भावना थी; लेकिन वे दो महीने भी कभी न समाप्त होनेवाले दिखाई दे रहे थे।

मेरी दुबारा गिरफ्तारी के ठीक एक महीने बाद एक पुलिस अफसर मुझे मेरी पत्नी से थोड़ी-सी देर के लिए मुलाक़ात कराने ले गया। मुझसे कहा गया था कि मुझे इस तरह हफ्ते में दो बार उससे मिलने दिया जाया करेगा और उसके लिए समय भी निश्चित हो गया था। मैंने चौथे दिन प्रतीक्षा की—कोई मुझे लेने नहीं आया; इसी तरह पांचवा, छठा और सातवां दिन बीता; मैं इन्तज़ार करते-करते थक गया। मेरे पास समाचार पहुंचा कि उसकी हालत फ़िर चिन्ताजनक होती जा रही है। मैंने सोचा कि मुझसे सप्ताह में दो बार कमला से मिल सकने की बात कहना कैसा अजीब मज़ाक़ था।

सितम्बर का महीना भी किसी तरह खत्म हुआ। मेरी ज़िन्दगी में वे तीस दिन सबसे लम्बे और सबसे खराब थे।

कई व्यक्तियों के द्वारा मेरे पास तक यह सलाह पहुँचाई गई कि अगर मैं अपनी मियाद के बाक़ी दिनों के लिए राजनीति में भाग न लेने का आश्वासन—चाहे वह लिखित भले ही न हो—देदूं तो मुझे कमला की तीमारदारी के लिए छोड़ा जा सकेगा। राजनीति उस समय मेरे विचारों से दूर की चीज़ थी, और बाहर जाकर ग्यारह दिनों में मैंने राजनीति की जो दशा देखी थी, उससे तो मुझे घृणा ही हो गई थी, पर आश्वासन की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। उसका अर्थ होता, अपनी प्रतिज्ञाओं, कार्य, साथियों और खुद अपने साथ विश्वासघात करना। परिणाम कुछ भी होता, यह तो एक असम्भव शर्त्त थी। ऐसा करने का अर्थ होता अपने अस्तित्त्व की जड़ों पर मर्माघात, और उन सब चीज़ों को, जो मेरी दृष्टि में पवित्र थीं, अपने हाथों कुचल डालना! मुझसे कहा गया कि कमला की हालत दिन-पर-दिन बिगड़ती जा रही है, और उसके निकट मेरी उपस्थिति से जीवन और मरण का अन्तर पड़ सकता है। तो मेरा व्यक्तिगत दम्भ या अहंकार क्या कमला के जीवन से बड़ी चीज़ थी? मेरे लिए यह एक भयंकर समस्या बन जाती, पर भाग्यवश, कम-से-कम इस रूप में, वह मेरे सामने उपस्थित नहीं हुई। मैं जानता था कि इस प्रकार के किसी भीआश्वासन को खुद कमला नापसन्द करती, और अगर मैं कोई ऐसा काम कर बैठता, तो उसे धक्का लगता और नुकसान भी हो जाता।

अक्टूबर के शुरू में मुझे फिर उससे भेंट करने के लिए ले गये। वह क़रीब-क़रीब ग़ाफ़िल-सी पड़ी हुई थी; बुख़ार बहुत तेज़ था। मुझे अपने निकट रखने की उसकी इच्छा बड़ी तीव्र थी, पर जब मैं जेल लौट जाने के लिए उससे बिदा होकर चला, तो उसने साहसपूर्ण मुस्कराहट से मेरी ओर देखा और मुझे नीचे झुकने का इशारा किया। मैं जब उसके नज़दीक जाकर झुका, उसने मेरे कान में कहा, "सरकार को आश्वासन देने की भला यह क्या बात है! ऐसा हर्गिज़ न करना।"

कुल ग्यारह दिन मैं जेल के बाहर था। हम लोगों ने इन दिनों निश्चय कर लिया था, कि कमला के स्वास्थ्य में थोड़ा-सा सुधार होने पर, उसे इलाज के लिए किसी अधिक उपयुक्त जगह पर भेज देंगे। तभीसे हम उसके कुछ अच्छा होने की इन्तज़ारी कर रहे थे, पर, उसके बजाय कमला की हालत दिन-दिन गिरती ही जा रही थी, और अब छः हफ्ते बाद तो, यह गिरावट बहुत साफ़ दिखने लगी थी। इन्तज़ार करते रहना इसलिए अब बेकार समझा गया, और यह निश्चय किया कि उसे ऐसी ही हालत में भुवाली की पहाड़ी पर भेज दिया जाय।

जिस दिन कमला भुवाली जानेवाली थी उसके एक दिन पहले मुझे उससे मिलने के लिए ले जाया गया। मैं सोच रहा था, अब फिर दुबारा कब इससे भेंट होगी, और भेंट होगी भी या नहीं? पर, वह उस दिन प्रसन्न और कुछ स्वस्थ दिखाई दे रही थी; और इससे मुझे इतनी खुशी हुई कि कुछ पूछिए नहीं।

क़रीब तीन हफ्ते बाद, मुझे नैनी-जेल से अलमोड़ा डिस्ट्रिक्ट जेल में भेज दिया गया, जिससे मैं कमला के ज्यादा नज़दीक रह सकूं। भुवाली रास्ते में ही पड़ता था—पुलिस के 'गारद' के साथ मैंने कुछ घण्टे वहीं बिताये। मुझे कमला की हालत में थोड़ा सुधार देखकर बड़ा अच्छा लगा और उससे बिदा लेकर मैं ख़ुशी-ख़ुशी, अपनी अलमोड़ा तक की यात्रा पूरी कर सका। सच तो यह है कि कमला तक पहुँचने के पहले ही पहाड़ों ने मुझे प्रफुल्लित कर दिया था।

मुझे वापस इन पहाड़ों में पहुँच जाने की ख़ुशी थी। ज्यों-ज्यों हमारी मोटर चक्करदार सड़क पर तेज़ी से आगे बढ़ती जा रही थी, सबेरे की ठण्डी हवा और धीरे-धीरे खुलता जानेवाला प्रकृति का सौंदर्य मुझे एक विचित्र हर्ष से भर रहा था। हम ऊपर-ऊपर चढ़ते जा रहे थे, घाटियाँ गहरी होती जा रही थीं—पर्वत की चोटियाँ बादलों में छिपती जा रही थीं। हरियाली भी रंग बदलती गई, और चारों ओर की पहाड़ियाँ देवदार की घटा से घिरी हुई दिखाई देने लगीं। कभी सड़क की किसी मोड़ को पार करते ही, अचानक हमारे सामने पर्वत-श्रेणियों का एक नया विस्तार और कहीं घाटियों की गहराई में एक छोटी नदी कलकल करती हुई दिखाई देती।

उस दृश्य को देखते-देखते मेरा जी नहीं अघाता था; उसे पूरा ही पी जाने की प्रबल इच्छा हो रही थी। मैं अपने स्मृति-पात्र को उससे भर लेना चाहता था, जिससे, उस समय, जबकि सच्चा दृश्य देखना मुझे नसीब नहीं होता, उसीको मैं अपने मन में जगाकर आनन्द उठा लेता।

पहाड़ियों के कक्ष में छोटी-छोटी झोंपड़ियों के झुण्ड दिखाई देते थे, और उनके चारों ओर छोटे-छोटे खेत। जहाँ कहीं थोड़ा भी ढाल मिल गया, वहीं कड़ी मेहनत-मशक्कत करके खेत बना लिये। दूर से वे झरोखों या छज्जों के समान दिखाई देते थे, या ऐसा जान पड़ता था, मानो बड़ी-बड़ी सीढ़ियाँ हों जो घाटी के नीचे से पहाड़ी की चोटी तक सीधी क़तारबन्द चली गई हों। इस बिखरी हुई जनसंख्या के लिए प्रकृति से थोड़े-से खाद्य-पदार्थ निकलवाने के लिए मनुष्य को कितनी कड़ी मेहनत करनी पड़ती है! इस लगातार परिश्रम के बाद भी कितनी कठिनाई से उनकी ज़रूरतें पूरी हो पाती हैं। इन छज्जेनुमा खेतों के कारण पहाड़ियों में एक तरह की बस्ती का-सा बोध होता था और उनके सामने बनस्पति-शून्य या जंगलों से लदी ढालू ज़मीन बड़ी विचित्र लगती थी।

दिन में यह सारा दृश्य बड़ा मनोहर दिखाई देता है, और ज्यों-ज्यों सूर्य आकाश में ऊँचा चढ़ता जाता है, उसकी बढ़ती हुई गरमी से पहाड़ों में एक नया जीवन दिखाई देने लगता है, और वे अपना अजनबीपन भूलकर हमारे मित्र और साथी-से मालूम होने लगते हैं। लेकिन दिन डूब जाने पर उनका सारा रूप कैसा बदल जाता है! जब रात अपने लम्बे-चौड़े डग भरती हुई विश्व को अँकवार में भर लेती है, और उच्छृंखल प्रकृति को पूरी आज़ादी देकर जीवन अपने बचाव के लिए छिपने का मार्ग ढूंढता है, तब ये जीवन-शून्य पर्वत कैसे ठंडे और गम्भीर बन जाते हैं। चांदनी या तारों की रोशनी में पर्वतों की श्रेणियाँ रहस्यमयी, भयंकर, विराट, और फिर भी अपार्थिव-सी आकृति ग्रहण कर लेती हैं, और घाटियों के बीच से वायु का चीत्कार सुनाई पड़ता है। ग़रीब मुसाफ़िर अपने अकेले मार्ग पर चलता हुआ काँप उठता है, और अपने चारों ओर विरोधी शक्तियों की उपस्थिति का अनुभव करता है। पवन की सनसनाहट भी मख़ौल-सा उड़ाती और उपेक्षा-सी करती दिखाई देती है। कभी हवा बन्द भी हो जाती है, दूसरी किसी प्रकार की आवाज़ भी नहीं होती, और चारों ओर एक पूर्ण शान्ति होती है, जिसकी सघनता ही डरावनी लगने लगती है। केवल टेलीग्राफ़ के तार धीमे-धीमे गुन-गुनाते रहते हैं और तारे अधिक चमकदार और अधिक समीप दिखाई देने लगते हैं। पर्वत-श्रेणियाँ संजीदगी से एक ओर देखती रहती हैं और ऐसा जान पड़ता है जैसे कोई भयावना रहस्य उस ओर को घूर रहा है।

पास्कल के समान ही मनुष्य सोचता है, "मुझे अनन्त आकाश की इस अनन्त शान्ति से भय लगता है।" मैदानों में रात कभी इतनी नीरव नहीं होती; प्राणों का कम्पन वहाँ तब भी सुनाई देता रहता है, और कई क़िस्म के जानवरों और कीड़ों की आवाज़ें रात के सन्नाटे को चीरती रहती हैं।

लेकिन जब हम मोटर में बैठे अलमोड़ा जा रहे थे, रात अपनी सर्दी और वीरान सन्देश लिये हमसे—अब भी दूर थी। हमारी यात्रा का अन्त अब समीप ही आगया था। सड़क के मोड़ को पार करने और बादलों के एकसाथ हट जाने से मुझे एक नया दृश्य दिखाई दिया, कितना अचरज और खुशी हुई मुझे वह देखकर। बीच में आ जानेवाले जंगलों से लदे पहाड़ों के बहुत ऊपर बड़ी दूर पर, हिमालय की बर्फीली चोटियाँ चमक रही थीं। अतीत के सारे बुद्धि-वैभव को लिये भारतवर्ष के विस्तृत मैदान के ये संतरी बड़े शान्त और रहस्यमय लगते थे। उनके देखने से ही मन में एक शान्ति-सी छा जाती थी, और हमारे छोटे-छोटे द्वेष और संघर्ष, मैदान और शहरों की वासनायें और छल-छिद्र तुच्छ-से लगने लगते और उनके हमेशा के मार्गों से बहुत दूर की चीज़ लगते।

अलमोड़ा की छोटी-सी जेल एक ढालू ज़मीन पर बनी हुई है। मुझे उसीमें एक 'शानदार' बैरक रहने के लिए दी गई। इसमें ५१×१७ फुट का एक बड़ा-सा कमरा था, जिसका फर्श कच्चा और बड़ा ऊँचा-नीचा था, छत कीड़ों की खाई हुई थी, जिसमें से टुकड़े टूट-टूटकर बराबर नीचे गिरा करते थे। उसमें पन्द्रह खिड़कियाँ और एक दरवाज़ा था, या यों कहना चाहिए कि इतने सीखचों से जड़े हुए खुले स्थान थे; क्योंकि असल में तो दरवाज़ा या खिड़की एक भी नहीं थी। ताज़ी हवा की तो कमी हो ही नहीं सकती थी, क्योंकि सरदी बढ़ गई थी। कुछ खिड़कियों को नारियल की चटाइयों से बन्द कर दिया गया था। इस बड़े कमरे में (जो देहरादून की जेल के किसी भी कमरे से बड़ा था) मैं अपने एकाकी वैभव में रहता था। लेकिन मैं बिलकुल अकेला भी नहीं था, क्योंकि कम-से-कम दो दर्जन चिड़ियों ने उस टूटी छत में अपना घर बना रक्खा था। कभी-कभी कोई भटकता हुआ बादल, अपनी अनेक बांहों द्वारा, कई खिड़कियों में से प्रवेश करता हुआ मेरे पास आ जाता, और सारी जगह को कुहरे से भरकर सीलन फैला देता।

यहाँ रोज़ शाम के साढ़े चार बजे मेरे आखिरी भोजन, या यों कहना चाहिए कि भारी चाय ले लेने के बाद पाँच बजे मुझे बन्द कर दिया जाता था, और फिर सवेरे ७ बजे मेरा सीखचोंवाला दरवाज़ा खुलता था। दिन के समय या तो बैरक में या उसके बाहर एक पास के दालान में, धूप लिया करता था। मेरी चहार-

दिवारी से एक-डेढ़ मील दूर के एक पहाड़ की चोटी दिखाई देती थी, और मेरे सिर पर नीले आकाश का अनन्त वितान तना रहता था, जिसपर बादल छिटके रहते थे। इन बादलों की बड़ी आश्चर्यजनक शकलें बन जातीं, जिन्हें देखते-देखते मैं कभी थकता न था। खयाल करता था कि मैं उन्हें सब तरह के जानवरों का रूप धारण करते हुए देख रहा हूँ, और कभी-कभी वे मिलकर इतने बड़े बन जाते कि एक भारी महासागर के समान दिखाई देने लगते। कभी वे समुद्र के किनारे से लगते, और देवदार के पेड़ों के बीच से आनेवाली वायु की मर्मराहट समुद्र के ज्वार-भाटे की सी आवाज़ लगती। कभी-कभी कोई बादल बड़े साहस के साथ हमारी ओर बढ़ता नज़र आता। दिखने में तो बड़ा ठोस और घना लगता, पर हमारे नज़दीक आते-आते वह बिलकुल कोहरा बन जाता और हमें ढक लेता।

मुझे अपनी विशाल बैरक छोटी कोठरी से ज्यादा पसन्द थी, हालाँकि छोटी कोठरी में इतना अकेलापन महसूस नहीं होता था। बाहर पानी बरसता तो मैं उसमें ही घूम-फिर सकता था। लेकिन जैसे-जैसे सर्दी बढ़ती गई, उसका सूनापन बढ़ता गया और जब सर्दी बहुत ही बढ़ गई, तब मेरा ताज़ी हवा और खुले में रहने का प्रेम भी कम पड़ गया। मुझे उस समय बड़ी खुशी हुई, जब नये साल के शुरू होते ही खूब बर्फ़ पड़ा और जेल का नीरस वातावरण भी सुन्दर हो उठा। बर्फ़ से लिपटे हुए जेल की दीवारों के बाहर के देवदार वृक्ष तो बहुत ही सुहावने और लुभावने दिखने लगे।

कमला की हालत में उतार-चढ़ाव होते रहने से मुझे चिन्ता रहती थी और कभी कोई ख़राब ख़बर मिल जाती, तो उससे मैं कुछ देर के लिए उदास हो जाता, लेकिन पहाड़ की हवा का सान्त्वना देनेवाला प्रभाव मुझ पर पड़ता और मैं फिर गहरी नींद में सोने की अपनी आदत पर लौट आता था। निद्रा-लोक के किनारे पर खड़े होकर मैं कभी-कभी सोचता था कि यह नींद भी कैसी आश्चर्य की और रहस्य की चीज़ है। मनुष्य उससे जगे ही क्यों? मैं बिलकुल ही न जागूं तो?

तो भी जेल से छुटकारा पाने की मेरी इच्छा प्रबल थी, और इस वक्त तो बहुत ही तीव्र हो रही थी। बम्बई-काँग्रेस खत्म हो चुकी थी। नवम्बर भी आकर चला गया और असेम्बली के चुनावों की चहलपहल भी खत्म हो गई थी। मुझे आशा हो चली थी कि मैं जल्दी ही छोड़ दिया जाऊँगा।

लेकिन उसके बाद ही खान अब्दुलग़फ़्फ़ार खां की गिरफ्तारी और सज़ा और श्री सुभाष बोस के हिन्दुस्तान में अल्पकालिक आगमन पर उनको दी गई विचित्र आज्ञा की आश्चर्यजनक खबर मिली। यह आज्ञा स्वतः मनुष्यता से खाली और अविचार-

पूर्ण थी; और एक ऐसे मनुष्य पर लगाई गई थी जिसकी, अपने असंख्य देशवासियों के दिल में प्रेम और आदर की जगह है और जो, अपनी बीमारी की परवाह न करके, मृत्युशैया पर पड़े हुए अपने पिता के दर्शनों के लिए दौड़कर आया था और फिर भी उनसे मिल न सका था। यदि सरकार का दृष्टिकोण इस तरह का बना हुआ है, तब तो मेरे जल्दी छूटने की कोई उम्मीद नहीं थी। बाद के सरकारी वक्तव्यों से यह बात साफ़तौर पर ज़ाहिर भी हो गई थी।

अलमोड़ा जेल में एक महीना रहने के बाद कमला को देखने के लिए मुझे ले जाया गया। उसके बाद मैं तक़रीबन हर तीसरे हफ्ते उससे मिलता रहा। भारत मन्त्री सर सेम्युअल होर ने बार-बार यह बात कही थी कि मुझे हफ्ते में एक या दो बार अपनी पत्नी से मिलने की इजाज़त दी जाती है। लेकिन वह सचाई के ज्यादह नज़दीक होते, अगर यह कहते कि महीने में एक या दोबार मुझे यह इजाज़त मिलती है। पिछले साढ़े तीन महीनों में जब से कि मैं अलमोड़ा आया, मैं पाँच बार उससे मिला। मैं यह शिकायत के तौर पर नहीं लिख रहा हूँ, क्योंकि मेरा ख़याल है कि इस मामले में सरकार मेरे प्रति बहुत विचारशील रही है और मुझे कमला से मिलने की जो सुविधायें दे रक्खी हैं वे असाधारण हैं। मैं उसके लिए उसका आभारी हूँ। उसके साथ की ये मुख़्तसिर-सी मुलाक़ातें मेरे लिए और मैं समझता हूँ उसके लिए भी, बहुत क़ीमती साबित हुई हैं। मेरी मुलाक़ात के दिन डॉक्टरों ने किसी हद तक अपने दूसरे साधारण कार्यक्रम को भी स्थगित कर दिया था, और मुझे उसके साथ लम्बी-लम्बी बाते करने की इजाज़त दी है। इन मुलाकातों के फल-स्वरूप हम सदा ही एक दूसरे के नज़दीक आते गये, और उसे छोड़कर लौटने में सदा ही एक असहनीय पीड़ा होती। हम केवल बिदा होने के लिए ही मिलते थे। और कभी-कभी तो मैं बड़े वेदनाभरे हृदय से सोचता था कि एक ऐसा भी दिन आ सकता है, जब कि यह बिदा आख़िरी बिदा हो।

मेरी माँ बीमारी से उठ न पाई थीं, इसलिए इलाज के लिए बम्बई गई थी। वहाँ उनकी हालत में सुधार होता दिखाई दे रहा था। जनवरी का आधा महीना बीतने के क़रीब, एक दिन सबेरे ही तार के जरिये दिल को चोट पहुँचानेवाली ऐसी इत्तिला मिली जिसकी कल्पना भी नहीं थी। उन्हें लकवा मार गया था। इसलिए मेरे बम्बई-जेल में भेजे जाने की सम्भावना थी; ताकि ज़रूरत पड़ने पर मैं उन्हें देख सकूँ। लेकिन उनकी हालत में थोड़ा सुधार हो जाने के कारण मुझे वहाँ भेजा नहीं गया।

जनवरी ने अपना स्थान अब फ़रवरी को दे दिया है, और वायुमण्डल में वसन्त

के आगमन की आहट सुनाई दे रही है। बुलबुल और दूसरी चिड़ियाँ फिर दिखाई और सुनाई देने लगी हैं और ज़मीन में जगह-जगह छोटे-छोटे कुल्ले फूटकर इस विचित्र दुनिया पर अपनी अचरजभरी नज़र डाल रहे हैं। सदा बहार के फूल पहाड़ियों में स्थान-स्थान पर रक्त के से लाल चप्पे बनाते जा रहे हैं, और शान्तिपूर्ण वातावरण में बेर के फूल बाहर झांक रहे हैं। दिन बीतते जा रहे हैं और ज्यों-ज्यों वे समाप्त होते जाते हैं, मैं उन्हें गिनता रहता हूं और अपनी अगली भवाली-यात्रा की बात सोचता रहता हूँ। मुझे आश्चर्य होता है कि इस कहावत में कहाँ तक सचाई है कि जीवन के बड़े-बड़े पुरस्कार नाउम्मीदी, निर्दयता और वियोग के बाद ही मिलते हैं। अगर ऐसा न हो तो शायद उन पुरस्कारों का मूल्य ठीक-ठीक न आंका जा सके। शायद विचारों की स्पष्टता के लिए कष्ट-सहन ज़रूरी है; परन्तु उसकी अधिकता दिमाग़ पर पर्दा डाल सकती है। जेल से आत्म-चिन्तन को प्रोत्साहन मिलता है और अनेक वर्षों के जेल-निवास ने मुझे अधिक-से-अधिक अपने अन्तर्निरीक्षण के लिए विवश किया है। स्वभाव से मैं अन्तर्मुखी नहीं था, पर जेल का जीवन तेज़ कॉफ़ी या कुचले के सत की तरह आत्म चिन्तन की ओर ले जाता है। कभी-कभी मनोरञ्जन के लिए, मैं प्रोफेसर मैकडूगल के निर्धारित किये हुए मापदण्ड पर अपनी अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी वृत्तियों के सम्बन्ध की परीक्षा करता हूँ, तो मुझे आश्चर्य होता है कि एक प्रवृत्ति से दूसरी की ओर परिवर्तन कितनी अधिक बार होता रहता है, और कितनी तेज़ी के साथ!

# ६७

## कुछ ताज़ी घटनायें

"होता है यह अरुण उषा का नूतन उदय निशा के बाद;
पर न हमारे जीवन के दिन पुनः लौटते हैं कर याद।
आँखों के भीतर बसता है क्षितिज दूर का सुषमावंत;
किन्तु घाव अन्तर में गहरा कर जाता है निठुर बसन्त।" [१]

मुझे जो अखबार दिये जाते थे, उनसे मुझे बम्बई-कांग्रेस के अधिवेशन की कार्रवाई का हाल मालूम हुआ। उसकी राजनीति और व्यक्तियों में स्वभाव से ही मेरी दिलचस्पी थी। बीस साल के गहरे सम्पर्क ने मुझे कांग्रेस के साथ इतना कसके बांध दिया था कि मेरा व्यक्तित्व क़रीब-क़रीब उसमें लीन हो गया था और पदाधिकार और जवाबदेही के बन्धनों से भी कहीं ज्यादा मजबूत कुछ ऐसे अदृश्य बन्धन थे, जिन्होंने मुझे इस महान् संस्था व अपने हज़ारों पुराने साथी कार्यकर्त्ताओं के साथ बांध दिया था। लेकिन इतने पर भी इस अधिवेशन की कार्रवाई से मुझे कुछ स्फूर्ति मिलना कठिन दिखाई दिया। कुछ महत्त्वपूर्ण निर्णयों के बावजूद मुझे तो सारा अधिवेशन लचर-सा मालूम हुआ। जिन विषयों में मेरी दिलचस्पी थी, उन पर शायद ही विचार हुआ हो। मैं इसी चक्कर में था कि अगर मैं वहाँ मौजूद होता, तो मैंने क्या किया होता। निश्चित तौर पर मैं कुछ नहीं जानता था। मैं कह नहीं सकता था कि नई परिस्थितियों और अपने आस-पास के वातावरण के सम्बन्ध में मेरा क्या रुख रहा होता। आखिर मैंने सोचा कि इस कठिन निर्णय पर पहुँचने के लिए मैं जेल में अपने दिमाग़ पर क्यों ज़ोर दूँ, जबकि उस वक्त ऐसा निर्णय करना बिलकुल बेकार था। समय आयगा, जब मुझे तात्कालिक समस्याओं का मुक़ाबिला करना पड़ेगा और अपना कार्य-पथ निश्चित करना होगा। ऐसी हालत में इन गहरे विचारों में पडकर इस तरह के निर्णय की पहले से कल्पना करना बिलकुल वाहियात बात है क्योंकि ऐसा करने का भार मुझ पर पड़ने से पहले ही परिस्थितियां बदल जायँगी।

१. ली तई-पो का मूल अंग्रेज़ी पद्य इस प्रकार है:—

"Dawn reddens in the wake of night,
But the days of our life return not.
The eye contains a far horizon,
But the wound of spring lies deep in the heart."

अपने सुदूर और पहाड़ पर के एकान्त निवास स्थान पर से अधिक-से-अधिक जो दो मोटी विशेषतायें मैं जान सका, वे थीं—गांधीजी का ज़बरदस्त व्यक्तित्व और पण्डित मदनमोहन मालवीय और श्री अणे द्वारा प्रदर्शित साम्प्रदायिक विरोध का बिलकुल नगण्य प्रदर्शन। जो लोग भारत के सर्वसाधारण और मध्यमवर्ग की मनोवृत्ति को अच्छी तरह जानते हैं, उन सबको तो यह जानकर कुछ अचरज नहीं हुआ कि किस तरह गांधीजी एक छोर से दूसरे छोरतक भारत के एकमात्र सर्वेसर्वा बने हुए हैं। सरकारी अफ़सर और कुछ दकियानूसी राजनीतिज्ञ अपनी भीतरी इच्छा को ही कल्पना का आधार बनाकर अक्सर यह सोचने लगते है कि अब राजनैतिक-क्षेत्र में गांधी-युग बीत गया है, या कम-से-कम उनका प्रभाव बहुत-कुछ क्षीण हो गया है। और जब गांधीजी अपनी उस सारी पुरानी शक्ति और प्रभाव के साथ मैदान में आते हैं, तो ये लोग चकित रह जाते हैं और इस प्रत्यक्ष परिवर्त्तन के लिए नये-नये कारण खोजने लगते हैं। कांग्रेस और देश पर गांधीजी की अगर प्रभुता है तो वह उनके उन विचारों के कारण, जोकि आमतौर पर स्वीकार किये जा चुके हैं, उतनी नहीं है, जितनी कि उनके अद्वितीय व्यक्तित्त्व के कारण। व्यक्तित्त्व तो सभी जगह अपना काफ़ी प्रभाव रखता है; लेकिन हिन्दुस्तान में तो वह प्रमुखरूप से और भी अधिक काम करता है।

कांग्रेस से उनकी अलहदगी इस अधिवेशन का एक अजीब वाक़ाया था और ऊपरी तौर से तो यही मालूम होता था कि कांग्रेस और हिन्दुस्तान के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय समाप्त हो गया। लेकिन असल में इसका महत्त्व कुछ अधिक नहीं था क्योंकि वह चाहें तो भी अपने व्यापक नेतृत्त्व-पद से पीछा नहीं छुड़ा सकते। उनकी यह प्रतिष्ठित स्थिति किसी पदाधिकार या अन्य किसी प्रत्यक्ष सम्बन्ध के कारण नहीं थी। कांग्रेस में आज भी गांधीजी का दृष्टिकोण क़रीब-क़रीब पहले जैसाही झलकता है, और यदि वह उनके मार्ग से भटक भी जाय तो भी, गांधीजी अनजाने में भी, उसे और देश को बहुत अधिक हद तक प्रभावित करते रहेंगे। इस भार और जवाबदेही से वह अपनेको जुदा कर नहीं सकते। देश की प्रत्यक्ष स्थिति का खयाल करते हुए उनका व्यक्तित्त्व खुद ही दूसरों का ध्यान बरबस अपनी ओर खींचता है, और इस तरह उसकी उपेक्षा की नहीं जा सकती।

वह इस वक्त, कांग्रेस से शायद इसलिए अलग हो गये हैं, कि उनके कारण कांग्रेस किसी कठिनाई में न पड़े। शायद वह किसी तरह के व्यक्तिगत सत्याग्रह की बात सोच रहे हैं, जिसका अवश्यम्भावी परिणाम सरकार से झगड़ा छिड़ जाना होगा। वह इसे कांग्रेस का प्रश्न नहीं बनाना चाहते।

मुझे खुशी हुई कि कांग्रेस ने देश का विधान निश्चित करने के लिए कांस्टीट्यूएण्ट असेम्बली का विचार मंजूर कर लिया। मेरे खयाल में इस समस्या के हल करने का इसके सिवा कोई दूसरा रास्ता है ही नहीं, और निश्चय ही हमें कभी-न-कभी ऐसी असेम्बली बनानी पड़ेगी। दीखता तो यही है कि ब्रिटिश सरकार की अनुमति के बगैर ऐसा हो नहीं सकेगा; हाँ, कोई सफल क्रान्ति हो जाय तो बात दूसरी है। यह भी साफ़ है कि वर्त्तमान परिस्थितियों में सरकार से ऐसी अनुमति मिलने की कोई उम्मीद नहीं है। देश में जबतक इतनी ताक़त पैदा नहीं हो जाती कि वह इस तरह का कोई क़दम उठाने को बलपूर्वक आगे बढ़ सके; तबतक ऐसी असेम्बली बन नहीं सकती। इसका लाज़िमी नतीजा यही है कि तबतक राजनैतिक समस्या भी नहीं सुलझ सकेगी। कांग्रेस के कुछ नेताओं ने विधानकारिणी असेम्बली के विचार को मंजूर करते हुए, इसकी उग्रता को कम करके क़रीब-क़रीब पुराने ढंग के एक बड़े सर्वदल सम्मेलन का रूप दे दिया है। यह कारंवाई बिलकुल बेकार होगी। वही पुराने लोग, ज्यादा अपने आपही चुने जाकर सम्मिलित हो जायँगे, और उसका परिणाम होगा मतभेद। कांस्टीट्यूएण्ट असेम्बली की असली मन्शा तो यह है कि इस असेम्बली का चुनाव विस्तृतरूप से जनता के द्वारा हो और जनता से ही इसे ताक़त और स्फूर्ति मिले। इस प्रकार का सम्मेलन ही असली प्रश्नों पर विचार करने में सफल हो सकेगा, और साम्प्रदायिक या अन्य झगड़ों से, जिनमें हम लोग इतनी बार उलझ जाते हैं, बरी रहेगा।

इस विचार की शिमला और लन्दन में जो प्रतिक्रिया हुई वह भी बड़ी मजेदार रही। अर्द्ध-सरकारी तौर पर यह तो जाहिर कर दिया गया कि सरकार को इसमें कोई एतराज़ न होगा, उसने अपनी सरपरस्ती की सहमति भी दे ही सी दी, क्योंकि प्रत्यक्ष में उसे यह भी पुराने ढंग के सर्वदल-सम्मेलन की सी ही दिखाई दी, और चूंकि ऐसे सर्वदल-सम्मेलन के भाग्य में पहले से ही असफलता लिखी रहती है, उसने सोचा कि इससे भी उल्टे अपने हाथ ही मजबूत होंगे। लेकिन मालूम होता है बाद में उसने इस विचार के अंदर समाये हुए खतरों और इस तरह की असेम्बली से जिन-जिन बातों की सम्भावनायें हो सकती थीं, उनको महसूस किया, और तब से वह इसका ज़ोरों से विरोध करने लगी।

बम्बई-कांग्रेस के बाद फ़ौरन ही असेम्बली का चुनाव आया। कांग्रेस के चुनावसम्बन्धी कार्यक्रम में मेरा कोई उत्साह न होते हुए भी मेरी इस बात में बड़ी दिलचस्पी थी और मैं मनाता था कि कांग्रेस के उम्मीदवार जीतें, या अधिक सही शब्दों में कहा जाय तो यों कहना चाहिए कि मैं उनके विरोधियों की हार

मनाता था। इन विरोधियों में पदलोलुप सम्प्रदायवादी, पथभ्रष्ट और ऐसे लोगों का अजीब-सा सम्मिश्रण था, जिन्होंने सरकार की दमन-नीति का ज़ोरों से समर्थन किया था। इस बात में कोई शक नहीं था कि इनमें से अधिकाँश लोग हरा दिये जायँगे, लेकिन बदक़िस्मती से साम्प्रदायिक निर्णय ने मुख्य प्रश्न को ढक दिया और इनमें से बहुतों ने साम्प्रदायिक संगठनों की व्यापक रूप में फैली हुई भुजाओं की शरण ली। लेकिन इतने पर भी काँग्रेस को बड़ी मार्के की सफलता मिली, और मुझे खुशी हुई कि अवाञ्छनीय लोगों में से बहुत से खदेड़ दिये गये।

मुझे खासकर, नामधारी काँग्रेस नेशनलिस्ट पार्टी का रुख, बहुत ही खेदजनक लगा। उसके साम्प्रदायिक निर्णय के प्रति तीव्र विरोध को समझा जा सकता है, लेकिन अपनी स्थिति को मज़बूत बनाने के लिए उसने ऐसे कट्टर साम्प्रदायिक संगठनों के साथ सहयोग किया, यहाँ तक कि सनातनियों तक का, जिनसे बढ़कर कि आज भारत में, राजनैतिक और सामाजिक, दोनों ही दृष्टि से प्रतिगामी दल दूसरा नहीं है। साथ ही, अनेक मशहूर राजनैतिक प्रतिगामियों तक का सहारा लिया। बंगाल को छोड़कर, जहाँ कारण विशेष से एक ज़बर्दस्त काँग्रेस दल ने उनका समर्थन किया, उनमें से अधिकतर सब तरह से काँग्रेस के विरुद्ध थे। इसमें शक नहीं कि काँग्रेस के सबसे जबर्दस्त विरोधी यही लोग थे। इतनी सारी तरह की विरोधी शक्तियों के मुकाबिले में, जिनमें कि ज़मींदार, नरम दलवाले, और निस्सन्देह सरकारी अफ़सर तक शामिल थे, काँग्रेस उम्मीदवारों ने काफ़ी शानदार विजय प्राप्त की।

साम्प्रदायिक निर्णय के प्रति काँग्रेस का रुख विचित्र था; लेकिन इस परिस्थिति में इससे भिन्न शायद ही हो सकता था। यह उसकी पिछली तटस्थता की नीति का या यों कहो कि कमज़ोर नीति का लाज़िमी परिणाम था। शुरू से ही दृढ़ नीति अख़्तियार की जाती, और बिना किसी तात्कालिक परिणाम की चिन्ता किये उसका पालन करते रहना अधिक शानदार और सही तरीक़ा होता। लेकिन क्योंकि काँग्रेस ऐसा करने में अनिच्छुक रही, इसलिए उसने जो रास्ता अख़्तयार किया उसके सिवा उसके पास और कोई उपाय था ही नहीं। साम्प्रदायिक निर्णय एक खास बेहूदगी की चीज़ थी और उसका स्वीकार किया जाना असम्भव था, क्योंकि, उसके बने रहने तक किसी तरह की आज़ादी हासिल करना अशक्य था। यह इसलिए नहीं कि सने मुसलमानों को बहुत अधिक दे दिया था। किसी दूसरी तरह शायद यह मुमकिन था कि वे जो कुछ भी मांगते सब कुछ दे दिया जाता। बात यह थी कि इस निर्णय द्वारा ब्रिटिश सरकार ने भारत को अनेक ऐसे आपस में एक दूसरे से अलग अनगिनती हिस्सों में बाँट दिया था, जो एक दूसरे को आगे बढ़ने से रोकता, और उसके प्रभाव को बिलकुल बेकार

कर देता था, जिससे कि विदेशी अंग्रेज़ी सत्ता सर्वोपरि बनी रह सके। इसने ब्रिटिश सरकार पर की निर्भरता को अनिवार्य बना दिया।

खासकर बंगाल में, जहाँ कि छोटे से यूरोपियन समुदाय को भारी प्राधान्य दे दिया गया है, हिन्दुओं के साथ बहुत ही अन्याय किया गया है। ऐसे निर्णय या फ़ैसले, या और जो कुछ भी उसे कहा जाय, ( उसे निर्णय के नाम से पुकारे जाने पर आपत्ति की गई है ) का तीव्र विरोध होना ज़रूरी था। और चाहे वह हम पर लाद भले ही दिया जाय या राजनैतिक कारणों से, अस्थायी रूप से वह बर्दाश्त कर लिया जाय, फिर भी वह रहेगा हमेशा झगड़े की जड़ ही। मेरा अपना ख़याल है कि इसके पक्ष में एक ही बात कही जासकती है कि खुद इसकी बुराई ही इसका गुण है और ऐसी हालत में वह किसी बात का स्थायी आधार बन नहीं सकता।

नेशनलिस्ट पार्टी, और उससे भी अधिक हिन्दू महासभा और दूसरे साम्प्रदायिक संगठनों ने स्वभावतः ही इस जबरदस्ती से लादे गये निर्णय का विरोध किया। लेकिन असल में उनकी आलोचना उसके समर्थकों की तरह ब्रिटिश सरकार की विचारसरणि के आधार पर टिकी हुई थी। यह उनको ऐसी विचित्र नीति की ओर ले गई और अब भी आगे लिये जा रही है जिससे सरकर अवश्य ही प्रसन्न हुई होगी। साम्प्रदायिक निर्णय के भूत से परेशान होकर ये लोग इस आशा में कि सरकार को लालच देने या खुश करने से वह उक्त निर्णय को हमारे पक्ष में बदल देगी, दूसरे मुख्य विषयों के प्रति अपना विरोध नरम करते जा रहे हैं। हिन्दू महासभा इस दिशा में सबसे आगे बढ़ गई है। उसको यह सूझता मालूम नहीं पड़ता कि इस नीति का अख़्तियार करना सिर्फ़ अपमानजनक ही नहीं है बल्कि उससे निर्णय का बदला जाना बहुत ज्यादा कठिन हो जाता है. क्योंकि यह मुसलमानों को खिझाता ही है और उन्हें और भी अधिक दूर खींच ले जाता है। सरकार के लिए राष्ट्रीय शक्तियों को अपनी ओर कर सकना मुश्किल है। अन्तर बहुत बड़ा है और स्वार्थों का संघर्ष बहुत ही साफ़ है। उसके लिए यह भी मुश्किल है कि साम्प्रदायिक स्वार्थों के संकुचित मसले पर हिन्दू और मुस्लिम दोनों साम्प्रदायिकों को खुश कर सके। उसे तो किसी एक को चुनना था, और उसने अपने दृष्टिकोण के अनुसार मुस्लिम सम्प्रदायवादियों का पक्ष चुनना पसन्द किया और ठीक पसन्द किया। क्या वह महज़ मुट्ठीभर हिन्दू सम्प्रदायवादियों को खुश करने के लिए अपनी सुनिश्चित और लाभदायक नीति पलट देगी और मुसलमानों को नाखुश करेगी ?

खुद यह बात कि सामूहिक रूप से हिन्दू राजनैतिक दृष्टि से बहुत आगे बढ़े हुए

हैं और राष्ट्रीय आज़ादी के लिए बहुत ज़ोर देते हैं, उनके विरुद्ध अवश्य जायगी । नगण्य साम्प्रदायिक रिआयतों के कारण ( और नगण्य के सिवाय वे किसी महत्त्व की हो ही नहीं सकती ) उनके राजनैतिक विरोध में कुछ अन्तर नहीं पड़ जायगा; लेकिन ऐसी रिआयतें मुसलमानों के रुख में एक अस्थायी अन्तर पैदा कर देंगी ।

असेम्बली के चुनावों ने दोनों अत्यन्त प्रतिक्रियावादी साम्प्रदायिक संस्थाओं, हिन्दू महासभा और मुस्लिम कान्फ़्रेन्स, के हिमायतियों की अन्यन्त स्पष्ट रूप से क़लई खोल दी । इसके उम्मीदवार बड़े-बड़े ज़मींदारों या साहूकारों से लिये गये थे । महासभा ने हाल ही में क़र्ज़-बिल का ज़ोरों में विरोध करके भी साहूकार वर्ग के प्रति अपनी शुभचिन्तकता बतलाई थी । हिन्दू-समाज के सिरमौर इन छोटे समुदायों से हिन्दू महासभा बनी है और इन्हींके एक भाग या कुछ वकील, डॉक्टर आदि पेशेवाले लोगों से लिबरल-दल बना है । हिन्दुओं पर उनका कोई ख़ास प्रभाव नहीं हैं, क्योंकि निम्न मध्यम वर्ग में राजनैतिक चेतना जागृत हो गई है । औद्योगिक नेता भी इन लोगों से अलग ही रहते हैं, क्योंकि नये-नये धन्धों और अर्द्ध-माण्डलिक वर्ग की आवश्यकताओं में परस्पर कुछ विरोध रहता है । उद्योग-धन्धे-वाले लोग, सीधे हमले या दूसरे किसी खतरे में पड़ने का साहस न होने के कारण, राष्ट्रवादियों और सरकार दोनों ही से अपना सम्बन्ध अच्छा रखना चाहते हैं । वे लिबरल या साम्प्रदायिक दलों पर कोई खास ध्यान नहीं देते । औद्योगिक प्रगति और लाभ ही उनका मुख्य लक्ष्य रहता है ।

मुसलमानों के निम्न मध्यम वर्ग में यह जागृति अभी होनी है, और औद्योगिक दृष्टि से भी वे लोग पिछड़े हुए हैं । इस तरह हम देखते हैं कि अत्यन्त प्रतिक्रियावादी, जागीरदार, और सरकारी नौकरियों में रहे हुए अधिकारी लोग न सिर्फ़ उनकी साम्प्रदायिक संस्थाओं पर ही क़ब्ज़ा किये हुए हैं, बल्कि सारी जाति पर अपना भारी प्रभाव काम में ला रहे हैं। सरकारी उपाधिधारियों, भूतपूर्व मिनिस्टरों और बड़े-बड़े ज़मींदारों के मजमुए का नाम ही मुस्लिम कान्फ़्रेन्स है । और फिर भी मेरा ख़याल है कि सर्वसाधारण मुस्लिम जनता, शायद सामाजिक विषयों में कुछ स्वतन्त्रता होने के कारण, हिन्दू जनता की अपेक्षा ज्यादा हिम्मत और ताक़तवर है । और इसलिए मुमकिन है कि एक बार चेतना मिलते ही वह बड़ी तेज़ी से समाजवाद की ओर बढ़ जायँगे । इस समय तो मुस्लिम शिक्षितवर्ग बौद्धिक और शारीरिक दोनों ही तरह से चेतना-हीन सा होगया है और उसमें कोई स्फूर्त्ति नहीं रह गई है । अपने पुराने रहनुमाओं के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने का वह साहस कर नहीं सकता ।

राजनैतिक दृष्टि से सबसे आगे बढ़ी हुई महान् संस्था कांग्रेस के नेता जो पथ-प्रदर्शन

कर रहे हैं, वह वर्त्तमान अवस्था में जनता को जैसा नेतृत्व मिलना चाहिए उसकी अपेक्षा कहीं अधिक फूंक-फूंककर क़दम रखने का है। वे जनता से सहयोग की तो मांग करते हैं, लेकिन उसकी राय जानने या दुःख-दर्द मालूम करने की कोशिश शायद ही करते हों। असेम्बली के चुनाव से पहले उन्होंने विभिन्न नरम ग़ैर-कांग्रेसियों को अपनी ओर खींचने की ग़रज से अपने कार्य-क्रम को नरम बनाने की हर तरह से कोशिश की। मन्दिर-प्रवेश बिल जैसे कामों तक के सम्बन्ध में उन्होंने अपना रुख़ बदल दिया था, और मदरास के महान् कट्टर-पन्थियों तक को शान्त करने के लिए उसके सम्बन्ध में आश्वासन दिये गये थे। लाग-लपट-रहित और उग्र चुनाव-कार्यक्रम ने कहीं अधिक उत्साह पैदा किया होता, और जनता को शिक्षित करने में उससे कहीं अधिक मदद मिली होती। अब क्योंकि कांग्रेस ने पार्लमेण्टरी कार्यक्रम को अपना लिया है, इसलिए असेम्बली में किसी विषय पर वोट गिने जाने के समय कुछ नगण्य वोट पाजाने की आशा से, उसमें राजनैतिक और सामाजिक दकियानूसों के लिए और भी ज्यादा गुंजायश होजायगी, और कांग्रेस के नेताओं और जनता के बीच खाई और भी चौड़ी हो जायगी। असेम्बली में ज़ोरदार भाषणों की झड़ी लग जायगी, और सर्वोत्तम पार्लमेण्टरी शिष्टता का अनुसरण किया जायगा, समय-समय पर सरकार को हराया जायगा—जिसकी कि सरकार अविचल भाव से उपेक्षा कर देगी, जैसा कि वह पहले से करती आई है।

पिछले कुछ बरसों में, जबकि कांग्रेस कौंसिलों का बहिष्कार कर रही थी, सरकारी मुखिया लोग अक्सर हमसे कहा करते थे कि असेम्बली और प्रान्तीय कौंसिलें जनता की असली प्रतिनिधि हैं और लोकमत को प्रदर्शित करती हैं। लेकिन यह दिल्लगी की बात है कि, अब जब कि असेम्बली में अधिक प्रगतिशील दल का प्रभुत्व है, सरकारी दृष्टिकोण बदल गया है। जब कभी कांग्रेस को चुनाव में मिली सफलता का हवाला दिया जाता है, तो हमसे कहा जाता है कि मतदाताओं की संख्या बहुत ही थोड़ी, तीस करोड़ या उसके लगभग जनता में से, केवल तीस लाख ही है। जिन करोड़ों लोगों को वोट देने का हक़ नहीं मिला है, सरकार के मतानुसार वे साफ़ तौर पर अंग्रेजी सरकार के हामी हैं। इसका जवाब साफ़ है। हरेक बालिग़ व्यक्ति को मत देने का अधिकार दे दिया जाय, और तब पता लग जायगा कि इन लोगों का खयाल क्या है।

असेम्बली के चुनाव के बाद ही भारतीय शासन-सुधारों पर ज्वॉइण्ट पार्लमेण्टरी कमिटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इसकी चारों ओर से और भिन्न-भिन्न जो आलोचनायें हुईं, उनमें अक्सर इस बात पर जोर दिया गया था कि उससे भारतवासियों के प्रति

'अविश्वास' और 'सन्देह' प्रकट होता है। हमारी राष्ट्रीय और सामाजिक समस्याओं पर विचार करने का मुझे यह तरीक़ा बड़ा ही विचित्र मालूम हुआ। क्या ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति और हमारे राष्ट्रीय हितों में कोई महत्त्वपूर्ण विरोध नहीं है? सवाल यह है कि इनमें से किसकी बात रहे। स्वतन्त्रता क्या हम महज़ साम्राज्यवादी नीति को क़ायम रखने के लिए ही चाहते हैं? मालूम तो यही होता है कि ब्रिटिश सरकार यही समझे हुए थी, क्योंकि हमें सूचित कर दिया गया है कि जबतक हम ब्रिटिश नीति के अनुसार अपना आचरण रक्खेंगे और जैसा वह चाहती है, ठीक उसके अनुसार काम करके स्व-शासन के लिए अपनी योग्यता प्रदर्शित करते हैं, तबतक 'संरक्षणों' का उपयोग नहीं किया जायगा। अगर भारत में ब्रिटिश नीति को ही जारी रखना है, तब अपने ख़ुद के हाथों में शासन की बाग़डोर लेने का यह सब शोरगुल क्यों मचाया जा रहा है?

यह साफ़ ज़ाहिर है कि ओटावा-पैक्ट, आर्थिक दृष्टि से इंग्लैण्ड के सिवा हिन्दुस्तान के लिए, बहुत लाभकारी नही हुआ है।[1] हिन्दुस्तान के साथ के ब्रिटिश व्यापार को निस्सन्देह लाभ पहुँचा है, और वह पहुँचा है भारत के राजनीतिज्ञों और व्यवसायियों की राय के अनुसार भारत के विस्तृत हितों के बलिदान पर। उपनिवेशों, खासकर कनाड़ा और आस्ट्रेलिया के सम्बन्ध में स्थिति इससे उलटी है।[2] उन्होंने ब्रिटेन के साथ बड़ा कडा व्यापारिक सौदा किया और उसे हानि पहुँचाकर अधिकांश लाभ खुद उठाया। इतने पर भी, अपने उद्योग-धन्धों की वृद्धि और साथ ही अन्य

**१. सर विलियम करी ने दिसम्बर सन् १९३४ में पी० एण्ड० ओ० जहाज़ी कम्पनी की लन्दन की एक मीटिंग में सभापति की हैसियत से भाषण देते हुए भारतीय व्यापार का उल्लेख करते हुए कहा था कि "ओटावा-पैक्ट ब्रिटेन के लिए निश्चित रूप से लाभप्रद रहा है।"**

**२. जून सन् १९३४ के लन्दन के 'इकनोमिस्ट' अखबार ने लिखा था कि ओटावा-परिषद् का "समर्थन केवल उसी दशा में किया जा सकता था, जब कि वह बाक़ी दुनिया से साम्राज्य के व्यवसाय का योग घटाये बिना अन्तर्साम्राज्य के व्यवसाय का योग बढ़ाती। वास्तव में वह साम्राज्य के क्षीणोन्मुख व्यापार के सामने बहुत ही थोड़े से अनुपात में अन्तर्साम्राज्यिक व्यापार को उत्तेजना दे सकी है। यह विभाजन भी ग्रेट ब्रिटेन की अपेक्षा कहीं अधिक उपनिवेशों के हित में रहा है। हमारे साम्राज्य का आयात सन् १९३१ के २४,७०,००,००० पौण्ड से बढ़कर सन् १९३३ में २४,९०,००,००० पौण्ड हुआ था। किन्तु निर्यात १७,६०,००,००० पौण्ड से घटकर १६,३५००,००० पौण्ड हो गया था। यह बात भी देखना है कि १९२९ से १९३३ के बीच**

देशों के साथ अपना व्यापार बढ़ाने के लिए वे ओटावा और उनके दूसरे फन्दों से छुटकारा पाने का हमेशा प्रयत्न करते रहते हैं।[१] कनाडा में एक प्रमुख राजनैतिक दल, याने लिबरल दल जिसके हाथों में जल्दी ही शासन सूत्र आ जाने की सम्भावना है, निश्चित रूप से ओटावा-पैक्ट को रद्द करने को वचनबद्ध है।[२] आस्ट्रेलिया में ओटावा-पैक्ट के अर्थों की खींचातानी के परिणामस्वरूप कुछ तरह के कपड़ों और सूत पर चुंगी बढ़ा दी गई, जिस पर लंकाशायर के वस्त्र-व्यवसायियों की ओर से सख़्त नाराज़ी ज़ाहिर की गई और इसे ओटावा-पैक्ट का भंग कहकर उसकी निन्दा की गई। इसीके विरोध और बदले के रूप में लंकाशायर में आस्ट्रेलियन माल के बहिष्कार का आन्दोलन भी शुरू किया गया। आस्ट्रेलिया पर इस धमकी का कुछ भी ख़ास असर नहीं हुआ, बल्कि इसके ख़िलाफ़ वहाँ भी कड़ा रुख़ इख़्तियार किया गया।[३]

---

साम्राज्य को हमारा निर्यात ५०·९ फ़ी सदी घटा था, जब कि साम्राज्य से हमारा आयात सिर्फ़ ३२·९ फ़ी सदी ही घटा था। विदेशों को हमारे निर्यात की कमी कहीं अधिक कभी नहीं हुई, किन्तु इन देशों से हमारे आयात की कमी कहीं अधिक थी।"

१. मेलबोर्न का 'एज' नामक पत्र भी ओटावा-पैक्ट को पसन्द नहीं करता। उसकी राय में यह पैक्ट "एक निरन्तर बाधा बन रहा है, और अब दिन-दिन लोग इसे बहुत बड़ी ग़लती मानते जा रहे हैं।" (१९ अक्तूबर सन् १९३४ के 'मेन्चेस्टर गार्जियन' नामक साप्ताहिक पत्र से उद्धृत।)

२. कनाडा के वर्त्तमान अनुदार प्रधान मन्त्री श्री बेनेट तक व्यापारिक मामलों में ब्रिटिश सरकार के लिए कण्टकरूप हो रहे हैं। वह 'नई योजना' (Now Doals) की चर्चा कर रहे हैं और उनके विचारों में आश्चर्यजनक तबदीली हो रही है। श्री लिटवीनोव; सर स्ट्रैफर्ड क्रिप्स और श्री जान स्ट्रेची के भयंकर प्रभाव से वे समष्टिवादी बन गये हैं। इसे तमाम अनुदार, उदार और इम्पीरियल सिविल सर्विसवालों को इस बात का संकेत और चेतावनी समझनी चाहिए कि वे इस किस्म के विचार रखना या ऐसे विचार रखनेवालों का साथ देना छोड़ दें, नहीं तो वे ख़ुद ही उन भयंकर सिद्धान्तों के समर्थक बन जायँगे। (उपर्युक्त नोट लिख चुकने के बाद सुना कि कनाडा में श्री किङ्ग के नेतृत्व में लिबरल पार्टी ने चुनाव में गहरी विजय प्राप्त करली है, और शासन-सूत्र अब उसीके हाथ में आगये हैं।)

३. मेलबोर्न के 'एज' नामक पत्र ने लिखा था कि लङ्काशायरवाले अगर अपने प्रस्तावित बहिष्कार को बन्द न करें तो आस्ट्रेलिया को लङ्काशायर के रहे-सहे व्यापार का भी प्रबल बहिष्कार करना ही चाहिए। अविचल दृढ़ता के साथ हमें लङ्काशायर को जवाब देना होगा। (९ नवम्बर १९३४ के साप्ताहिक 'मैन्चैस्टर गर्जियन' से उद्धृत।)

यह स्पष्ट है कि आर्थिक संघर्ष का कारण कनाड़ा और आस्ट्रेलिया के लोगों में ब्रिटेन के प्रति किसी दुर्भावना का होना नहीं है; हाँ, आयर्लेण्डवालों में यह दुर्भावना प्रत्यक्ष है। संघर्ष स्वार्थों के परस्पर विरोध के कारण होता है, और जहाँ कहीं इस किस्म के हित-विरोध हों, हिन्दुस्तान में 'संरक्षण' का उद्देश्य, यह देखना रहता है कि ब्रिटिश हित प्रधान रहे। 'संरक्षण' के क्या नतीजे होंगे, इसका एक हलका-सा इशारा हाल में की गई भारतीय-ब्रिटिश व्यापारिक सन्धि से लग जायगा, जिसमें ब्रिटिश-धन्धेवालों की तो खबर थी, लेकिन जो भारतीय व्यवसायियों और उद्योग-धन्धेवालों से छिपाकर की गई थी, और उनके विरोध करते रहने और असेम्बली के रद्द कर देने पर भी सरकार ने अपनी ज़िद्द से उसे क़ायम रक्खा। ऐसे संरक्षणों की तो बड़ी ज़बर्दस्त ज़रूरत कनाड़ा, आस्ट्रेलिया और दक्षिण अफ्रीका में है, जिससे कि इन उपनिवेशों के लोग न केवल व्यापारिक मामले में ही, वरन साम्राज्य-रक्षा और उसकी अविच्छिन्नता के महत्त्वपूर्ण विषयों में भी मनमाना रास्ता अख्तियार न करलें।'

कहा गया है कि साम्राज्य का अर्थ है 'क़र्ज़', और संरक्षणों का निर्माण इसीलिए किया गया है कि शाही लेनदार अपने सब विशिष्ट स्वार्थों और शक्तियों को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए अपने अभागे क़र्ज़दार पर अपना ज़बर्दस्त क़ाबू रख सके। एक विचित्र दलील, जो अक्सर सरकार की तरफ़ से दुहरायी जाती है, यह है कि गांधीजी और कांग्रेस ने ऐसे संरक्षणों के विचार को स्वीकार कर लिया है, क्योंकि सन् १९३१ के दिल्ली के गांधी-अर्विन समझौते में भारत के हित में 'संरक्षण' की बात स्वीकार की जा चुकी है।

ओटावा-पैक्ट और वाणिज्य-व्यवसाय-सम्बन्धी संरक्षण फिर भी छोटी बातें हैं।[२] जो कहीं अधिक महत्त्व की बात है, वह तो है वे बीसियों सुविधायें, जिनका

१. दक्षिण अफ्रीका संघ के रक्षा-सचिव श्री ओ० पीरो ने कहा था कि संघ साम्राज्य-रक्षा की किसी भी आम योजना में भाग नहीं लेगा, न किसी बाहरी युद्ध में ही सहयोग करेगा, फिर भले ही ब्रिटेन उस युद्ध में शामिल क्यों न हो। "अगर सरकार अविचारपूर्वक दक्षिण अफ्रीका को दूसरे बाहरी युद्धों में भाग लेने के लिए मजबूर करे, तो बहुत बड़े पैमाने में अशान्ति फैल जायगी, मुमकिन है गृह-युद्ध छिड़ जाय। इसलिए वह साम्राज्य-रक्षा की किसी आम योजना में भाग नहीं लेगी।" (केपटाउन से ५ फ़रवरी १९३५ को भेजा हुआ रूटर का संवाद) प्रधान सचिव जनरल हर्ट ज़ोग ने इस वक्तव्य की पुष्टि की है, और बताया है कि वह यूनियन सरकार की नीति को ज़ाहिर करता है।

२. लन्दन का 'एकनोमिस्ट' (अक्तूबर १९३४) बतलाता है—"भ[illegible] के

उद्देश हिन्दुस्तानियों पर अपने हरेक महत्त्वपूर्ण राजनैतिक और आर्थिक प्रभुत्व को, जिसने कि भूतकाल और वर्तमान में उन्हें इस देश के शोषण में सहायता दी है, स्थायी बना देना है। जबतक ये सुविधायें और 'संरक्षण' बने हुए हैं, तबतक किसी भी दिशा में वास्तविक उन्नति हो सकना ग़ैरमुमकिन है, और तबदीली के लिए, किसी क़िस्म के वैध प्रयत्न के लिए कोई जगह ही नहीं छोड़ी गई है। ऐसा हरेक प्रयत्न 'संरक्षणों की नंगी दीवारों के साथ टकरायगा' और यह दिन-दिन साफ़ होता जायगा कि केवल वैध मार्ग से ही काम नहीं चलेगा। राजनैतिक सुधार की दृष्टि से यह प्रस्तावित शासन-योजना और इसका भीमकाय संघ एक वाहियात चीज़ है; और सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से तो यह और भी बदतर है। समाजवाद का रास्ता तो जान-बूझकर रोक दिया गया है। ऊपरी तौर से बहुत कुछ जवाबदेही भी ( लेकिन वह भी अधिकतर 'सुरक्षित' श्रेणियों को ही ) सौंप दी गई है, लेकिन वास्तविक महत्त्व की कोई शक्तियाँ—कुछ कर-धर सकने के साधन नहीं दिये गये हैं। बिना किसी उत्तरदायित्व के सारी शक्ति इंग्लैण्ड अपने हाथों में रक्खे हुए है। निरंकुशता के नंगेपन को ढकने के लिए कोई झीनी चादर तक नहीं है। हरेक आदमी जानता है कि इस समय की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि विधान पूरी तरह से लचीला और ग्राह्य-शक्तियुक्त हो जिससे कि वह तेज़ी से बदलती रहनेवाली अवस्था के अनुकूल हो सके। निर्णय जल्दी होना चाहिए, और हाथ में उन निर्णयों को अमल में लाने की शक्ति, होनी भी चाहिए। इतने पर भी इसमें शक है कि पार्लमेण्टरी प्रजातन्त्र भी, जैसा कि आजकल पश्चिम के कुछ देशों में चल रहा है, आधुनिक विश्व के सुचारु-संचालन के लिए आवश्यक परिवर्तन कर सकने में सफल हो सकेगा या नहीं, लेकिन वह प्रश्न हमारे यहाँ नहीं उठता, क्योंकि हमारी गति हथकड़ी और बेड़ियों से जान-बूझकर रोक दी गई है, और हमारे दरवाज़े बन्द करके ताले लगा दिये गये हैं। हमें ऐसी मोटर देदी गई है, जिसमें सब जगह रोकने के लिए ब्रेक तो काफ़ी लगे हुए हैं, लेकिन उसे चलानेवाला एंजिन नदारद है। मार्शल-लॉ—फौजी क़ानून ही जिनका सदा आधार है, ऐसे लोगों का बनाया हुआ यह शासन-विधान है। शस्त्रबल में विश्वास रखने वाले के लिए मार्शल-लॉ—फौजी क़ानून—ही उसका असली सहारा है, उसके लिए उसके छोड़ने का अर्थ है अपना सर्व नाश।

---

**लिए ब्रिटिश राज का एक लाभ यह मालूम होता है कि पृथिवी के अनेक हिस्सों में बसनेवाले मूल निवासियों को हम मंहगी दर पर लङ्काशायर का माल ख़रीदने के लिए मज़बूर कर सकेंगे।" सीलोन इसका सबसे अधिक ज्वलन्त और नया उदाहरण है।**

इंग्लैण्ड के इस तोहफ़े से हिन्दुस्तान को किस हदतक आज़ादी मिली है, इसका पता इसी बात से चल सकता है कि नरम-से-नरम और राजनैतिक दृष्टि से अत्यन्त पिछड़े हुए दलोंतक ने इसे प्रगति-विरोधी बताकर इसकी तीव्र निन्दा की है। सरकार के पुराने और कट्टर हिमायतियों को भी इसकी आलोचना करनी पड़ी है, लेकिन उन्होंने की है अपने उसी सदा के खुशामदी ढंग के साथ। दूसरे लोगों ने उग्र रूप से विरोध किया है।

नरम दलवालों का जो यह अटल विश्वास था कि भगवान ने हिन्दुस्तान को अंग्रेज़ों के मातहत करने में अपार बुद्धिमानी से काम लिया है, शासन-विधान की इन धाराओं ने उनके लिए उसपर उतना ही डटा रहना मुश्किल कर दिया है। उन्होंने तीव्र आलोचना की, लेकिन असलीयत की अवहेलना करके और सुन्दर शब्दों और लुभावने हाव-भावों में अनुरक्त होकर, उसमें इसी बात पर सबसे अधिक ज़ोर दिया कि रिपोर्ट और बिल, दोनों में, 'डोमीनियन स्टेटस' (औपनिवेशिक स्वराज) शब्द ग़ायब हैं। इस सम्बन्ध में, उनकी तरफ़ से, बड़ा बावैला मचा था और अब क्योंकि सर सैमुअल होर ने इस विषय में एक वक्तव्य प्रकाशित कर दिया है, बहुत हदतक उससे उनके आत्म-सम्मान की रक्षा हो जायगी। सम्भव है, औपनिवेशिक स्वराज अज्ञात भविष्य के गर्भ में वास करनेवाली एक झूठी छायामात्र होगी—एक असम्भव से भी असम्भव जगह, जहाँ हम कभी पहुँच नहीं सकेंगे। हाँ, उसके सपने देख सकते हैं और उसकी अनेक सुन्दरताओं का ओजमय वर्णन कर सकते हैं। शायद ब्रिटिश पार्लमेण्ट के प्रति मन में पैदा हुए सन्देहों से परेशान होकर सर तेजबहादुर सप्रू ने अब सम्राट की शरण ली है। क्योंकि वह एक अत्यन्त सुयोग्य और कुशल क़ानूनदां हैं, उन्होंने एक नया ही वैधानिक सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। वह कहते हैं—"ब्रिटिश पार्लमेण्ट और ब्रिटिश जनता भारत के लिए कुछ करें या न करें, इन दोनों के ऊपर सम्राट हैं, जो कि भारतीय प्रजा का सदा हितचिन्तन और शान्ति और समृद्धि की आकांक्षा किया करते हैं।"[१] यह ऐसा सुखद सिद्धान्त है, जो हमें शासन-विधान, क़ानून और राजनैतिक और सामाजिक क्रान्तियों की झंझटों में पड़ने से बचाता है।

लेकिन यह कहना भी ठीक नहीं होगा कि नरम दलवालों ने शासन-विधान का विरोध कम कर दिया है। उनमें से अधिकांश ने यह बिलकुल स्पष्ट कर दिया है कि वे मौजूदा हालतों को, बुरी होने पर भी, पसन्द करते हैं, बनिस्बत उस बिनमांगे तोहफ़े

१. लखनऊ की, २६ जनवरी १९३५ की एक सार्वजनिक सभा में दिये हुए एक भाषण से।

के जो कि हिन्दुस्तान के सर पर ज़बरदस्ती लादा जा रहा है। लेकिन इस बात को कहते रहने के सिवा, खुद उनके सिद्धान्त उन्हें आगे बढ़कर कुछ करने से रोकते हैं, और यह कहा जा सकता है कि वे उक्त बातों पर ज़ोर देते रहेंगे। एक पुरानी कहावत, वर्त्तमान समय के अनुकूल तबदील कर दी जाने पर, उनके मोटो का अच्छा काम दे सकती है और वह है—"अगर एक बार क़ामयाबी न मिले, तो फिर-फिर चिल्लाओ !"

लिबरल नेताओं और कितने ही दूसरे लोगों ने, जिनमें कि कुछ कांग्रेसवाले भी शामिल हैं, इंग्लैण्ड में मज़दूर दल की विजय और मज़दूर सरकार की स्थापना पर कुछ आशा बाँध रक्खी है। निस्सन्देह कोई वजह नहीं है कि हिन्दुस्तान ब्रिटेन के प्रगतिशील दलों के सहयोग से आगे बढ़ने का प्रयत्न क्यों न करे, अथवा मज़दूर सरकार के आगमन से लाभ क्यों न उठावे। लेकिन इंग्लैण्ड के भाग्यचक्र के परिवर्त्तन पर ही बिल्कुल निर्भर रहना न तो सम्मान की बात है, न राष्ट्रीय गौरव के ही किसी तरह अनुकूल है। और यह कोई अच्छी बुद्धिमानी की बात भी नहीं है। ब्रिटिश मज़दूर दल से हम इतनी ज्यादा आशा क्यों रक्खें ? हम अभी दो बार मज़दूर दल की सरकार देख चुके हैं, और उसके समय हिन्दुस्तान को जो तोहफ़े मिले हैं, उन्हें हम भूल नहीं सकते। श्री रेमज़े मेकडानल्ड भले ही मज़दूर दल से अलग हो गये हों, लेकिन उनके पुराने साथियों में भी क़ोई ज्यादा परिवर्त्तन हुआ दिखाई नहीं देता। सन् १९३० के अक्तूबर में साउथपोर्ट में होनेवाली मज़दूर दल-कान्फ़्रेन्स में श्री वी० के० कृष्ण मेनन ने यह प्रस्ताव रखा था—"इस कान्फ़्रेन्स का यह विश्वास है कि यह बहुत ही ज़रूरी है कि हिन्दुस्तान में पूर्ण स्वराज की स्थापना के लिए स्वभाग्य-निर्णय का सिद्धान्त तुरन्त कार्य में परिणत किया जाय।" श्री आर्थर हेण्डर्सन ने इस प्रस्ताव को वापस ले लेने के लिए बड़ा ज़ोर दिया और कार्यकारिणी की ओर से अपनी स्वभाग्य-निर्णय की नीति को भारत के लिए उपयोग में लाने का आश्वासन देने से साफ़ इन्कार कर दिया। उन्होंने कहा—"हम यह बात बहुत ही साफ़ तौर से बता चुके हैं कि सम्भव हुआ तो हम हिन्दुस्तान के सब समुदायों से सलाह करेंगे। इस बात से सबका समाधान हो जाना चाहिए।" लेकिन लोगों का यह सन्तोष इस तथ्य को सामने रखने से शायद कम हो जायगा कि पिछली मज़दूर सरकार और राष्ट्रीय सरकार की भी यही उद्घोषित नीति थी, जिसका परिणाम था राउण्ड टेबल कान्फ़्रेन्स, व्हाइट-पेपर, जॉइन्ट पार्लमेण्टरी कमिटी की रिपोर्ट और नया इण्डिया-एक्ट।

यह बिल्कुल स्पष्ट है कि साम्राज्य की नीति के मामलों में इंग्लैण्ड के अनुदार

और मजदूर-दल में बहुत कम फ़र्क़ है। यह सच है कि सर्व-साधारण मज़दूर-वर्ग कहीं अधिक आगे बढ़ा हुआ है, लेकिन अपने अनुदार नेताओं पर उसका असर बहुत ही कम है। यह हो सकता है कि मज़दूर दल के उग्र विचारवाले शक्तिसम्पन्न हो जायँ, क्योंकि आजकल परिस्थितियाँ बड़ी तेज़ी से बदल रही हैं, लेकिन क्या विलायत के नीति-परिवर्तन के इन्तज़ार में, हमारी राष्ट्रीय और सामाजिक प्रगतियाँ अपना प्रवाह बदल दें और सो जायँ ?

हमारे देश के लिबरल दलवाले ब्रिटिश मज़दूर दल पर जिस तरह भरोसा किये बैठे हैं, उसका एक अजीब पहलू है। अगर, इसी फ़रक से, यह मज़दूर दल उग्र विचार का बन जाय और इंग्लैण्ड में अपने समाजवादी कार्यक्रम को कार्य में परिणत कर डाले, तो हिन्दुस्तान में और यहाँ के लिबरल और दूसरे नरम दलों पर उसकी क्या प्रतिक्रिया होगी ? इनमें के अधिकांश लोग सामाजिक दृष्टि से कट्टर पुराण-पन्थी हैं। वे मजदूर दल के सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों को पसन्द न करेंगे और भारत में उनके प्रचलित किये जाने से डरेंगे। यहाँतक सम्भव हो सकता है कि अगर सामाजिक क्रान्ति ब्रिटिश-सम्बन्ध का लक्षण हो जाय तो शायद इन लोगों की ब्रिटिश-भक्ति समाप्त ही हो जाय। उस दशा में यह मुमकिन हो सकता है कि मुझ जैसे व्यक्ति जो राष्ट्रीय-स्वतंत्रता और ब्रिटेन से सम्बन्ध-विच्छेद के हामी हैं, अपने विचार बदल दें और समाजवादी ब्रिटेन के साथ निकट सम्बन्ध रखना पसन्द करने लगें। निस्सन्देह हममें से किसीको भी ब्रिटिश जनता के साथ सहयोग करने में कोई आपत्ति नहीं है; यह उनका साम्राज्यवाद है, जिसके कि हम विरोधी हैं, साम्राज्यवाद को एकबारगी उन्होंने धता बताई नही कि सहयोग का मार्ग खुल जायगा। उस समय नरम दलवालों का क्या होगा ? शायद वे नई व्यवस्था को, ईश्वर की अगाध बुद्धि का दूसरा संकेत समझकर, स्वीकार कर लेंगे।

गोलमेज़ कान्फ्रेन्स की कार्रवाई और संघ शासन के विधान का एक खास नतीजा है देशी नरेशों को मैदान में बहुत आगे ला देना। उनके और उनकी 'स्वतन्त्रता' के प्रति प्रदर्शित कट्टर अनुदारपन्थियों की शुभचिन्तकता ने उनमें एक नया जोश भर दिया है। इससे पहले कभी उनको इतना महत्त्व नहीं दिया गया था। पहले उनकी मजाल नहीं थी कि वे ब्रिटिश रेजीडेण्ट के संकेत मात्र तक को अस्वीकार करदें, और अनेक देशी नरेशों के प्रति भारत सरकार का व्यवहार भी साफ़ ही अवहेलनापूर्ण था। उनके भीतरी मामलों में बराबर दस्तंदाज़ी होती रहती थी, जो अक्सर न्याय-संगत ही ठहराई जाती थी। आज भी अधिकांश रियासतें प्रत्यक्ष्य या अप्रत्यक्षरूप से 'उधार' दिये हुए अंगेज़-अफ़सरों द्वारा शासित हो रही हैं। लेकिन ऐसा मालूम होता है कि श्री

चर्चिल और लार्ड रॉदरमियर के आन्दोलन ने सरकार को कुछ घबरा सा दिया है, और इसलिए वह उनके निर्णयों में हस्तक्षेप करने में फूंक फूंककर कदम रखने लगी है। देशी नरेश भी अब ज़रा कहीं अधिक अकड़ के साथ बात-चीत करने लगे हैं।

मैंने भारतीय राजनैतिक क्षेत्रों की बाहरी घटनाओं को समझने की कोशिश की है, लेकिन मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि ये सब बातें कोई असली महत्त्व की नहीं हैं। और इन सबकी तह में रहनेवाली भारत की स्थिति का ख़याल मुझे परेशान कर रहा है। असलीयत यह है कि हर तरह की स्वतन्त्रता का दमन हो रहा है, सर्वत्र घोर कष्ट और निराशा फैली हुई है, सद्भावना दूषित की जा रही है, और अनेक प्रकार की हीन वृत्तियों को प्रोत्साहन मिल रहा है। बहुत बड़ी संख्या में लोग जेलों में पड़े या अमूल्य यौवन नष्ट कर रहे हैं और बरसों से अपने जिगर का ख़ून पी रहे हैं।[1] उनके परिवार, मित्र और सम्बन्धी और हज़ारों दूसरे लोगों में कटुता बढ़ती जा रही है और नग्न पाशविकता के सामने अपनी ज़लालत और बेबसी की कुत्सित-भावना ने उन्हें घेर लिया है। साधारण समय में भी अनेक संस्थायें ग़ैरक़ानूनी क़रार दे दी गई हैं और 'संकटकाल के अधिकार' ( इमर्जेन्सी पावर्स ) और 'शान्ति रक्षा-विधान' ( ट्रैंक्विलिटी एक्टस् ) सरकारी शस्त्रागार में क़रीब-क़रीब स्थायीरूप से शामिल कर लिये गये हैं। स्वाधीनता पर प्रतिबन्ध लगाने के अपवाद दिन-दिन साधारण नियम से बनते जा रहे हैं। बहुसंख्यक पुस्तकें और पत्रिकायें या तो ज़ब्त

१. होम मेम्बर सर हेरी हेग ने २३ जुलाई १९३४ को बड़ी धारा सभा में जेलों और स्पेशल केम्पों में बन्द नज़रबन्दों की संख्या इस प्रकार बतलाई थी—बंगाल में १५०० और १६०० के बीच, देवली में ५००, कुल २००० और २१०० के बीच। यह संख्या तो नज़रबन्दों की है, जिन पर न तो मुकद्दमा चलाया गया न सज़ा दी गई। इसमें दूसरे राजनैतिक कैदी शामिल नहीं है। जिन लोगों को सज़ा दी गई है, आमतौर पर उनकी सज़ा बहुत अधिक है। एसोशिएटेड प्रेस के १७ दिसम्बर १९३४) कथनानुसार कलकत्ता के हाल के एक मामले में हाईकोर्ट ने बिना लाइसेंस हथियार और कारतूस रखने के अपराध में ९ वर्ष की कड़ी कैद की सज़ा दी थी! अभियुक्त के पास एक रिवाल्वर और छः कारतूस निकले थे।

इन्हीं दिनों (१९३५ के पिछले पक्ष में) नागरिक स्वतन्त्रता का अपहरण करने वाले कई क़ानूनों की मियाद और बढ़ा दी गई। इनमें से मुख्य क्रिमिनल लॉ अमेण्डमेंट एक्ट—सारे हिन्दुस्तान में लागू कर दिया गया है। असेम्बली ने इस क़ानून को ठुकरा दिया था; लेकिन बाद में वाइसराय ने अपने विशेषाधिकार से इसे जायज़ कर दिया। दूसरे प्रान्तों में भी ऐसे ही क़ानून बनाये गये हैं।

की जा रही हैं या 'सी कस्टम्स एक्ट' के मातहत उनकी प्रवेश बंदी की जा रही है और 'भयंकर' साहित्य रखने के अपराध में लम्बी-लम्बी सजायें दी जाती हैं। किसी राजनैतिक या आर्थिक प्रश्न पर निर्भीक सम्मति देना अथवा रूस की वर्तमान सामाजिक या सांस्कृतिक स्थिति की प्रशंसात्मक रिपोर्टें सेंसर की प्रबल नापसन्दी का शिकार होती हैं। 'माडर्न रिव्यू' को बंगाल सरकार की ओर से महज़ इसी बात पर चेतावनी दे दी गई है कि उसने श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर का रूस-सम्बन्धी लेख छापा था, वह लेख जो उन्होंने स्वयं रूस जाकर आने के बाद लिखा था। भारत के उपमन्त्री इस पर पार्लमेण्ट में फ़रमाते हैं कि—"उस लेख में, भारत में ब्रिटिश राज्य की नियामतों का विकृतरूप दिखाया गया था" इसलिए उसके ख़िलाफ़ कार्रवाई की गई थी।[1] इन नियामतों के निर्णायक सेन्सर महोदय होते हैं, और हम उनके विरुद्ध मत नहीं रख सकते या ज़ाहिर नहीं कर सकते। डब्लिन की सोसाइटी ऑफ फ्रेन्डस् के नाम भेजे गये श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के संक्षिप्त वक्तव्य के प्रकाशन तक पर आपत्ति की गई थी। केवल सांस्कृतिक विषयों में रुचि रखने, और जान-बूझकर अपने को राजनीति से अलग रखनेवाले और न केवल हिन्दुस्तान बल्कि समस्त संसार में सम्मानित और विख्यात श्री रवीन्द्र जैसे सन्त कवि तक को जब इस तरह दबाया जाता है, तब बिचारे असहाय जन-साधारण का तो कहना ही क्या? सरकार ने आतंक का जो वातावरण बना रक्खा है वह तो दमन के इन वास्तविक नमूनों से भी कहीं ज्यादा बदतर है। निष्पक्ष पत्र-सञ्चालन ऐसी परिस्थिति में असम्भव है;[2] न इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति या मौजूदा समस्याओं का ही ठीक-ठीक अध्ययन हो सकता है। सुधार, उत्तरदायी शासन और ऐसी ही बातों की शुरूआत करने के लिए यह एक बड़ा विचित्र वातावरण बनाया गया है।

हरेक समझदार आदमी जानता है कि संसार इस समय एक विचार क्रान्ति के मध्य में है, और हमेशा मौजूदा परिस्थितियों के प्रति, अस्पष्ट या स्पष्ट रूप से अनुभूत घोर असन्तोष फैल रहा है। हमारे देखते-ही-देखते बड़े महत्त्व के परिवर्त्तन

१. १२ नवम्बर १९३४

२. ४ सितम्बर १९३५ को असेम्बली में हिन्दुस्तान में प्रेस एक्ट के प्रयोग के सम्बन्ध में एक सरकारी वक्तव्य दिया गया था। उसमें बताया गया था कि सन् १९३० के बाद ५१४ समाचार पत्रों पर ज़मानत और ज़ब्ती आदि का प्रयोग हुआ था। इनमें से २४८ पत्र बन्द कर देने पड़े, क्योंकि वे और अधिक जमानत की रक़म की व्यवस्था न कर सके; बाक़ी के १६६ पत्रों ने ज़मानत देदी, जो २,५२,८५३ रुपये की रक़म थी!

हो रहे हैं, और भविष्य, चाहे उसका रूप कुछ ही हो, बहुत दूर नहीं है—वह कोई ऐसी दूर की चीज नहीं है, जो मस्तिष्क में निरी शास्त्रीय दिलचस्पी पैदा करता हो। यह एक ऐसी वस्तु है, जिसका प्रत्येक व्यक्ति के हित अथवा अहित से सम्बन्ध होगा, इसलिए निश्चय ही प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि आज जो विभिन्न शक्तियाँ काम कर रही हैं उन्हें वह समझे और अपना कर्त्तव्य-पथ निश्चित करे, पुरानी दुनिया खत्म होने जा रही है और एक नये संसार का निर्माण हो रहा है। किसी समस्या का जवाब ढूंढने के लिए यह ज़रूरी है कि पहले यह जान लिया जाय कि वह है क्या। निस्सन्देह समस्या का समझना उतना ही महत्त्व रखता है, जितना कि उसका हल निकालना।

अफसोस है कि हमारे राजनीतिज्ञ दुनिया की समस्याओं से आश्चर्यजनक रूप से नावाकिफ़ हैं, या उनके प्रति उदासीन है। सम्भवतः यह अज्ञान अधिकांश सरकारी अफ़सरों तक बढ़ा हुआ है, क्योंकि सिविल सर्विसवाले बड़े मज़े से और सन्तोष के साथ अपने ही छोटे-से संकुचित दायरे में रहना पसन्द करते हैं। केवल सर्वोच्च अधिकारियों को ही इन समस्याओं पर विचार करना पड़ता है। ब्रिटिश सरकार को तो अवश्य ही लिखी हुई घटनाओं का ध्यान रखना पड़ता है और उन्हींके अनुसार अपनी नीति निर्धारित करनी पड़ती है। यह दुनिया जानती है कि ब्रिटिश वैदेशिक नीति पर हिन्दुस्तान के आधिपत्य और उसकी रक्षा का बहुत बड़ा प्रभाव रहता है। भला कितने भारतीय राजनीतिज्ञ यह विचारने की तकलीफ गवारा करते हैं कि जापान के साम्राज्यवाद, या रूस के सोवियट-सघ की बढ़ती हुई ताक़त, या स्यांगकियांग में होनेवाले ब्रिटिश-रूस-जापानी षड्यन्त्र अथवा मध्य एशिया या अफ़ग़ानिस्तान या फ़ारस की घटनाओं का हिन्दुस्तान की राजनैतिक समस्या के साथ अत्यन्त गहरा सम्बन्ध है? मध्य एशिया की स्थिति का प्रत्यक्ष परिणाम कश्मीर पर पड़ता है, इसलिए वह ब्रिटिश सरकार की साधारण और रक्षण नीति का आधार-स्तम्भ बन गई है।

किन्तु इससे भी अधिक महत्त्व के हैं वे आर्थिक परिवर्त्तन, जो आज सारे संसार में हो रहे हैं। हमें जान लेना चाहिए कि उन्नीसवीं सदी का तौर-तरीक़ा गुज़र चुका है और वर्त्तमान अवश्यकतायें इसके ज़रिये पूरी नहीं की जा सकतीं। वकीलों का नज़ीरें दे-देकर शुरू करने का तरीक़ा, हिन्दुस्तान में इतना अधिक प्रचलित है, जो अब, जब कि यहाँ नज़ीरें नहीं रही हैं, कुछ काम का नहीं रहा। बैलगाड़ी को रेल की पटरी पर रखकर उसे रेलगाड़ी नहीं कहा जा सकता। इसको नाअमली समझकर छोड़ देना होगा, और इसका स्थान दूसरे को देना होगा। रूस के सिवा भी 'नवीन-योजनाओं' और महान् परिवर्त्तनों की चर्चा हो रही

हैं। सब प्रकार से पूंजीवादी प्रणाली को क़ायम रखने और मजबूत करने की दिली इच्छा से प्रेसीडेण्ड रूज़वेल्ट ने अत्यन्त साहसपूर्वक ऐसी योजनायें प्रचलित की हैं, जिससे अमेरिका का सारा जीवन ही बदल सकता है। उसने "अत्यधिक विशिष्ट अधिकार-प्राप्त वर्ग को उखाड़ फेंकने और पददलित निम्न वर्ग को सक्रिय रूप से उन्नत बनाने की" घोषणा की है। वह सफल हो या न हो, यह बात दूसरी है, लेकिन उस व्यक्ति का साहस और अपने देश को पुरानी लीक से बाहर खींच निकालने की उसकी महत्त्वकांक्षा अवर्णनीय है। अपनी नीति बदलने या अपनी भूलों को स्वीकार करने में भी वह नहीं हिचकिचाता। इंग्लैण्ड में श्री लायड जार्ज अपना 'न्यू डील' (नई योजना) लेकर सामने आये हैं। हम भारत में भी अनेक नई योजनायें चाहते हैं। यह पुरानी धारणा कि "जो कुछ जानने योग्य है, वह सब जान लिया गया है, और जो कुछ करने योग्य है, वह सब कुछ किया जा चुका है" एक भयंकर बेवकूफ़ी है।

हमें बहुत-सी समस्याओं का सामना करना है और वह हमें बहादुरी के साथ करना चाहिए। क्या आज की सामाजिक और आर्थिक प्रणाली को ज़िन्दा रहने का कोई अधिकार है जब कि वह जन-साधारण की अवस्था को अधिकतर उन्नत करने में असमर्थ है? क्या कोई दूसरी प्रणाली इस प्रकार व्यापक प्रगति का आश्वासन देती है? केवल राजनैतिक परिवर्तन से किस हद तक क्रान्तिकारी प्रगति हो सकती है? अगर किसी प्रमुख आवश्यक परिवर्तन के रास्ते में स्थापित स्वार्थवाले बाधक हों तो क्या यह बुद्धिमानी और नैतिकता होगी कि जन-समूह की दुःख-दरिद्रता की क़ीमत पर उनको क़ायम रखने का प्रयत्न किया जाय? अवश्य ही उद्देश्य स्थापित स्वार्थों को आघात पहुँचाना नहीं है, वरन उनको दूसरे लोगों पर आघात करने से रोकना है। यदि इन स्थापित स्वार्थों से समझौता हो सकना मुमकिन हो सकता हो, तो वह कर लेना अत्यन्त वाञ्छनीय होगा। लोग भले ही इसके भलाई-बुराई के सम्बन्ध में मतभेद रक्खें, लेकिन समझौते की समाजिक उपयोगिता में बहुत कम को सन्देह होगा। साफ़ है कि समझौता यह इसप्रकर नहीं हो सकता कि एक नया स्थापित स्वार्थ क़ायम करके दूसरे स्थापित हित को हटाया जाय। जब कभी भी मुमकिन और ज़रूरी हो, समझौते के लिए उपयुक्त मुआवज़ा दिया जा सकता है, क्योंकि झगड़े से अधिक हानि होने की सम्भावना है। मगर, अफ़सोस है, कि सारा इतिहास यह बताता है कि स्थापित हितवाले ऐसे समझौते स्वीकार नहीं करते। वे वर्ग, जो कि समाज के प्रमुख अंग नहीं रह गये हैं, काफी विवेकशून्य होते हैं। वे सब कुछ या न कुछ के लिए अपने प्राणों की बाज़ी लगा देते हैं और इस तरह अपना अन्त कर लेते हैं।

ज़ब्ती आदि के सम्बन्ध में बहुत-सी 'असम्बद्ध चर्चा' (जैसाकि कॉंग्रेस-कार्य-

समिति ने अपने एक प्रस्ताव में कहा था ) हो रही है। लेकिन ज़ब्ती—मुस्तक़िल और मुतवातिर ज़ब्ती, तो मौजूदा प्रणाली का आधार है, और इसका अन्त करने के लिए ही सामाजिक क्रान्ति की बात कही जा रही है। हर रोज़ मज़दूरों के गाढ़े पसीने की कमाई ज़ब्त की जा रही है; और इस हदतक लगान और मालगुज़ारी बढ़ाकर कि किसान उसके अदा करने में असमर्थ हो जायँ, उसकी जोत ज़ब्त करली जाती है। पहले कुछ व्यक्तियों ने सार्वजनिक भूमि पर कब्ज़ा कर लिया और उससे बड़ी-बड़ी ज़मींदारियाँ बनाली; इस तरह भू-स्वामी किसान भी उखाड़ फेंके गये। सारांश यह कि ज़ब्ती ही मौजूदा प्रणाली का आधार है, वही उसका प्राण है।

इसको कुछ हदतक सुधारने के लिए समाज कुछ सामयिक उपाय काम में लाता है, जो स्वयं ही ज़ब्ती के रूपक हैं, जैसे भारी टैक्स, विरासत-कर, क़र्ज़ से छुटकारा दिलाने का क़ानून, मुद्रा-वृद्धि आदि। हाल ही में हमने राष्ट्रों को इन्कार करते, अपरिमित क़र्ज़ की अदायगी से इन्कार करते देखा है; केवल रूस का सोवियट संघ ही नहीं, वरन अग्रणी पूंजीपति राष्ट्र तक इन्कार कर गये हैं। सबसे अधिक उज्ज्वल उदाहरण ब्रिटिश सरकार का है, जिसने संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का क़र्ज़ अदा करने से इन्कार कर दिया है—खुद अंग्रेज़ों द्वारा हिन्दुस्तान के सामने रक्खा गया एक भयंकर उदाहरण! लेकिन इन सब ज़ब्तियों से और क़र्ज़ों को इस तरह रद्द कर देने से, सिर्फ़ कुछ हद तक ही मदद मिलती है, आधारभूत कारणों से छुटकारा नहीं मिलता। नये-निर्माण के लिए तो जड़ पर ही कुठाराघात करना होगा।

मौजूदा हालत बदलने का उपाय निश्चित करते समय हमें भौतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से उसकी उपयोगिता का अन्दाज़ा करना होगा। बहुत संकुचित दृष्टि बनाये रखने से हमारा काम चल नहीं सकता—हमें दूरदर्शी बनना होगा। हमें देखना होगा कि इस परिवर्तन से, भौतिक और आध्यात्मिक दृष्टियों से मनुष्य को सुख-समृद्धि की वृद्धि में कहाँतक सहायता मिलेगी। लेकिन हमें इस बात का भी सदा ध्यान रखना होगा कि मौजूदा व्यवस्था को न बदलकर, हमारे निराशामय और कुत्सित जीवन, भुखमरी और ग़रीबी और आध्यात्मिक तथा नैतिक पतन के गहन भार सहित उसे ज्यों-का-त्यों चलते रहने देने के लिए, हमें कितनी ज़बर्दस्त क़ीमत चुकानी पड़ती है। हमेशा प्रवाहित होनेवाली प्रलय की बाढ़ की तरह वर्तमान आर्थिक व्यवस्था अगणित मानव प्राणियों को लगातार कुचलती हुई तबाही की ओर लिये जा रही है। हम इस जल-प्रलयकारी बाढ़ को रोक नहीं सकते या हममें से कुछ लोग बाल्टी से पानी ऊलींच-ऊलींचकर इन प्राणियों को बचा नहीं सकते। बाँध

बनवाने होंगे, नहरें निकालनी होंगी, जल की नाशक शक्ति को बदलना और मनुष्य की भलाई के लिए उसका प्रयोग करना होगा।

यह स्पष्ट है कि समाजवाद जो महान् परिवर्त्तन लाना चाहता है, वह कुछ क़ानूनों के सहसा पास कर लेने मात्र से नहीं हो सकता। लेकिन और आगे बढ़ने और इमारत की नींव रखने के लिए क़ानून बनाने की मूल सत्ता का हाथ में होना ज़रूरी है। अगर समाजवादी समाज का महान् निर्माण करना है, तब तो वह न तो भाग्य के भरोसे पर छोड़ा जा सकता है, न रुक-रुककर, जितना कुछ बनाया गया है उसे तोड़ने का अवसर देते हुए, काम करने से वह पूरा हो सकता है। इस तरह प्रमुख रुकावटों को हटाना होगा। हमारा उद्देश्य किसीको वञ्चित करना नहीं, वरन सम्पन्न करना है, वर्त्तमान दरिद्रता को सम्पन्नता में बदल देना है। लेकिन ऐसा करने के लिए रास्ते में से सब रुकावटों और स्वार्थों को, जो कि समाज को पीछे रखना चाहते हैं, ज़रूर ही हटाना होगा। और जो रास्ता हम अख़्तियार कर रहे हैं, वह सिर्फ इस प्रश्न पर निर्भर नहीं है कि हम क्या पसन्द करते हैं या क्या पसन्द नही करते, अथवा न केवल सैद्धान्तिक न्याय पर ही, वरन इस बात पर निर्भर होगा कि वह आर्थिक दृष्टि से ठीक हो, उन्नति की तरफ ले जा सकने योग्य हो और जिससे ज्यादा-से-ज्यादा जन-समाज का कल्याण हो सके।

हितों अथवा स्वार्थों का संघर्ष अनिवार्य है। कोई बीच का रास्ता नही है। हममें से हरेक को अपना रास्ता चुनना होगा। लेकिन चुनने से पहले हमें उसे जानना होगा, समझना होगा। समाजवाद की भावुकतामय अपील से काम नही चलेगा। उसके साथ-साथ प्रमाणों और अंकों से पुष्ट आलोचना संविवेक और युक्तियुक्त तफसीली विवेचन भी होना चाहिए। पश्चिम में तो इस तरह का साहित्य बहुतायत से मौजूद है, लेकिन भारत में उसका भयंकर अभाव है, और बहुत-सी अच्छी-अच्छी किताबों का यहाँ आना रोक दिया गया है। लेकिन विदेशों की पुस्तकों का पढ़ना ही काफ़ी नहीं है। अगर भारत में समाजवाद का निर्माण होना है, तो वह भारतीय अवस्थाओं के आधार पर ही होगा और इसके लिए उनका बारीकी से अध्ययन होना आवश्यक है। हमें इसके लिए ऐसे विशेषज्ञों की ज़रूरत है, जो गहरे अध्ययन के बाद एक सर्वांगीण योजना तैयार कर सके। बदक़िस्मती से हमारे विशेषज्ञ अधिकांश में सरकारी नौकरियों में या अर्द्ध सरकारी यूनीवर्सिटियों में फँसे हुए हैं, और वे इस दिशा में आगे बढ़ने का साहस नहीं कर सकते।

समाजवाद की स्थापना करने के लिए केवल बौद्धिक वातावरण ही काफ़ी नहीं है। दूसरी शक्तियाँ भी आवश्यक हैं। लेकिन मैं यह ज़रूर महसूस करता हूँ कि

बिना उस आधार के किसी हालत में भी हम विषय का मर्म नहीं समझ सकते, और न कोई जोरदार हलचल ही पैदा कर सकते हैं। इस क्षण तो खेती की समस्या हिन्दुस्तान की सबसे अधिक महत्त्व की समस्या है, और शायद भविष्य में भी ऐसी ही रहे। किन्तु औद्योगिक समस्या भी कम महत्त्व की नहीं है और वह बढ़ती ही जा रही है। हमारा लक्ष्य क्या है—कृषि-प्रधान राष्ट्र या उद्योग-प्रधान राष्ट्र ? अवश्य ही, मुख्यतः तो हमें कृषि-प्रधान ही रहना होगा, लेकिन उद्योग की ओर भी आगे बढ़ा जा सकता है, और मैं समझता हूँ, अवश्य बढ़ना चाहिए।

हमारे उद्योग-धन्धों के मालिक लोग अपने विचारों में आश्चर्यजनक रूप से पिछड़े हुए हैं; वे आधुनिक दुनिया के 'अप-टू-डेट' पूँजीपति भी नहीं हैं। साधारण लोग इतने निर्धन हैं कि वे उनको पक्का ग्राहक नहीं मानते, और मज़दूरी की वृद्धि और काम के घण्टों की कमी करने की किसी भी मांग का वे जबर्दस्त विरोध करते हैं। इन्हीं दिनों कपड़े की मिलों में काम का समय दस घण्टे से घटाकर नौ घण्टे कर दिया गया है। इस पर अहमदाबाद के मिल मालिकों ने मजदूरों की,—फ़ुटकरिये मज़दूरों तक की मज़दूरी घटा दी है। इस तरह काम के घण्टों की कमी का अर्थ हुआ बेचारे मज़दूर की आमदनी की कमी और उसके जीवन के रहन-सहन का और भी नीचा स्टेण्डर्ड। लेकिन रेशनलाइज़ेशन (अर्थात् औद्योगिक एकीकरण), मज़दूर की उचित मज़दूरी बढ़ाये बिना ही, उसपर काम का भार और उसकी थकान बढ़ाता हुआ, तेजी से बढ़ता जारहा है। सब उद्योगवादियों का दृष्टिकोण उन्नीसवी सदी के शुरू जमाने का-सा है। जब मौक़ा आता है, वे अनाप-शाप लाभ उठाते हैं, और मज़दूर वैसे-का-वैसा बना रहता है; लेकिन अगर कोई आफ़त आजाती है, तो मालिक लोग यह शिकायत करने लगते हैं कि मज़दूरी घटाये बिना काम नहीं चल सकता। उनको सरकार की तो मदद ही है, हमारे मध्यम श्रेणी के राजनीतिज्ञों की सहानुभूति भी आमतौर पर उन्हीकी ओर है। इतने पर भी अहमदाबाद में सूती मिलों के मज़दूरों की अवस्था कहीं अधिक अच्छी है बनिस्बत बम्बई या दूसरी जगह के। आमतौर पर सभी सूती मिल मज़दूरों की हालत बंगाल के जूट मिलों के और कोयले की खानों के मज़दूरों से अच्छी है। छोटे-छोटे, असंगठित उद्योग-धन्धों के मज़दूर औद्योगिक परिमाण में सबसे नीचे दर्जे के हैं। कपड़े और जूट के करोड़पति मालिकों के गगनचुम्बी प्रासादों और विलासी जीवन और शान-शौक़त की अगर अध-नंगे मज़दूरों के रहने की काल-कोठरियों से तुलना की जाय तो उससे गहरी शिक्षा मिल सकती है। लेकिन हम इस अन्तर को स्वाभाविक मान लेते हैं और उससे किसी प्रकार विचलित या प्रभावित हुए बिना उसकी उपेक्षा कर देते हैं।

हिन्दुस्तान के मजदूर-वर्ग की हालत इतनी खराब है, लेकिन आर्थिक दृष्टि से वह किसान-समुदाय की हालत से कहीं अच्छी है। किसान-समुदाय को एक लाभ ज़रूर है, वह यह कि वह खुली हवा में रहता है और गन्दी बस्तियों के पतित जीवन से बच जाता है। लेकिन उसकी हालत इतनी गिर गई है कि, वह अक्सर अपने स्वच्छ वायुमण्डलवाले गाँव को भी, गांधीजी के शब्दों में, गोबर का ढेर बना डालता है। उसमें सहयोग या मिलकर सामाजिक हित का काम करने की भावना ही नहीं होती। इसके लिए उसकी निन्दा करना आसान है, लेकिन वह बेचारा करे भी तो क्या, जबकि जीवन खुद ही इसके लिए एक अत्यन्त कटु और लगातार व्यक्तिगत संघर्ष का विषय बन गया है और हरेक आदमी उसपर प्रहार करने के लिए हाथ उठाये खड़ा है? किस तरह वह अपनी ज़िन्दगी बिता रहा है, यही अत्यन्त आश्चर्य की बात है। देखा गया है कि सन् १९२८–२९ में पंजाब के ठेठ किसान की औसत आमदनी नौ आना थी। लेकिन १९३०–३१ में वह गिर कर तीन पैसे प्रति व्यक्ति हो गई! पंजाब के किसान युक्तप्रान्त, बिहार और बंगाल के किसानों की अपेक्षा कहीं अधिक खुशहाल माने जाते हैं। युक्तप्रान्त के कुछ पूर्वी ज़िलों (गोरखपुर वग़ैरा) में, मन्दी आने से पहले समृद्धि के दिनों में मजदूरी दो आना रोज़ थी। मानव-प्रेम या ग्रामोन्नति के स्थानीय प्रयत्नों द्वारा इस दर्दनाक हालत को उन्नत करने की बातें करना बेचारे किसान और उसकी बेबसी का मज़ाक उड़ाना है।

हम इस दलदल से किस तरह निकल सकते हैं? ऐसी गिरी हुई हालत से जन-समूह को उठाना कठिन तो अवश्य है; लेकिन उसका कुछ उपाय तो सोचना ही होगा। लेकिन असली दिक्क़त तो उस स्वार्थी समुदाय की तरफ़ से आती है, जो तबदीली का विरोधी है, और साम्राज्यवादी सत्ता की अधीनता में रहते हुए तबदीली का हो सकना ग़ैर-मुमकिन-सा मालूम होता है। आगामी वर्षों में भारत क्या रुख अख्तियार करेगा? समाजवाद और फ़ासिज्म इस युग की प्रधान वृत्तियां मालूम होती हैं, और मध्यममार्ग तथा ढिलमिल-यक़ीन समुदाय लुप्त होते जा रहे हैं। सर मालकम हेली ने भविष्यवाणी की थी कि हिन्दुस्तान राष्ट्रीय-समाजवाद को ग्रहण करेगा जो एक प्रकार का फ़ासिज्म ही है। निकट भविष्य के लिहाज़ से तो शायद उनका कहना ठीक ही है। देश के नवयुवक और युवतियों में फ़ासिस्ट भावना साफ़ प्रकट है—खासकर बंगाल में और किसी हद तक दूसरे प्रान्तों में भी, और कांग्रेस में भी उसकी झलक आने लगी है। फ़ासिज्म का सम्बन्ध उग्र रूप की हिंसा से होने के कारण कांग्रेस के बड़े-बूढ़े, जिन्होंने अहिंसा का व्रत ले रक्खा है, स्वभावतः ही उससे डरते हैं। लेकिन फ़ासिज्म का, कार्पोरेट स्टेट का, यह कथित तात्त्विक आधार कि व्यक्तिगत

सम्पत्ति क़ायम रहे और स्थापित स्वार्थों का लोप न होकर राज्य का उनपर नियन्त्रण रहे, शायद उन्हें पसन्द आजायगा। शुरू में ही देखने पर यह तो बड़ा सुन्दर ढंग मालूम होता है, जिससे कि पुराना तरीक़ा बना भी रहे और नया भी मालूम हो। रोटी खा भी लो और उसे बनाये भी रक्खो, ये दोनों बातें एकसाथ मुमकिन भी है या नहीं, यह बात दूसरी है।

फ़ासिज्म को अगर सचमुच प्रोत्साहन मिला तो वह मिलेगा मध्यम श्रेणी के नवयुवकों से। वस्तुतः इस समय हिन्दुस्तान में जो क्रान्तिकारी हैं वह मध्यम श्रेणी का ही भाग है, मज़दूर या किसान वर्ग का उतना नहीं, हालांकि कल-कारखानों के मज़दूर-वर्ग में इसकी शक्यता अधिक है। यह राष्ट्रवादी मध्यम श्रेणी फ़ासिस्ट विचारों के प्रचार के लिए उपयुक्त क्षेत्र है। किन्तु जबतक विदेशी सरकार बनी हुई है, योरप के ढँग का फ़ासिज्म यहाँ नहीं चल सकेगा। भारतीय फ़ासिज्म भारतीय स्वतन्त्रता का अवश्य ही हामी होगा, और इसलिए ब्रिटिश साम्राज्यवादिता से वह अपनेको मिला न सकेगा। इसे जन-साधारण से सहायता लेनी पड़ेगी। यदि ब्रिटिश सत्ता सर्वथा उठ जाय तो फ़ैसिज्म बड़ी तेज़ी से बढ़ेगा, क्योंकि मध्यमश्रेणी के उच्चवर्ग तथा स्थापित स्वार्थों से इसे सहायता अवश्य मिलेगी।

लेकिन ब्रिटिश सत्ता के शीघ्र उठ जाने की सम्भावना नही है, और इस बीच सरकार के उग्र दमन के बाद भी समाजवादी और कम्यूनिस्ट विचारों का भी ज़ोरों से प्रचार हो रहा है। भारत में कम्यूनिस्ट पार्टी (साम्यवादी संस्था) ग़ैर क़ानूनी क़रार दे दी गई है, और साम्यवादी शब्द का इतना लचीला अर्थ लगाया जाता है कि उससे सहानुभूति रखनेवाले और उन्नत-प्रोग्रामवाले मज़दूर संघों तक को शामिल कर लिया जाता है।

फ़ासिज्म और साम्यवाद, इन दोनों में से मेरी सहानुभूति बिलकुल साम्यवाद की ओर है। इस पुस्तक के इन्हीं पृष्ठों से मालूम हो जायगा कि मैं साम्यवादी होने से बहुत दूर हूं। मेरे संस्कार शायद एक हद तक अब भी उन्नीसवीं सदी के हैं और मानववाद [१] की उदार-परम्परा का मुझपर इतना ज्यादा प्रभाव पड़ा है कि मैं उससे बिलकुल बचकर निकल नहीं सकता। यह मध्यमवर्गीय संस्कार मेरे साथ लगे

१. मानववाद (Humanism) वह विचारधारा अथवा कार्य-पद्धति है जिसमें आधिकदैविक अथवा धार्मिक दृष्टिकोण से देखने की अपेक्षा मानवहित को अपना अपना मुख्य दृष्टिकोण माना जाता है। अर्थात् इस मत के अनुसार मनुष्य प्राणी के हिताहित पर ही सब वस्तुओं की उपयोगिता-अनुपयोगिता नापी जानी चाहिए।

रहते हैं और इसलिए स्वभाव से ही बहुत-से साम्यवादी मित्रों की खिझलाहट के कारण बने हुए हैं। कट्टरता को मैं नापसन्द करता हूँ, और कार्ल मार्क्स के लेख या और किसी दूसरी पुस्तक को ईश्वरीय वाक्य समझना, जिसको कि चेलेञ्ज न किया जा सके, और सैनिक अन्धानुकरण और स्वमत-विरोधियों के खिलाफ़ जिहाद, जो कि आज के साम्यवाद के प्रधान लक्षण से बन गये हैं, मुझे पसन्द नहीं हैं।

मूल्यों के सिद्धान्त (Theory of Value) या दूसरे किन्हीं बातों में मार्क्स का विवेचन ग़लत हो सकता है, मैं उसका निर्णय करने के लिए उपयुक्त नहीं हूँ, फिर भी मैं समझता हूँ कि समाज-विज्ञान में उसकी एक असाधारण और अत्यन्त गहन गति थी और प्रत्यक्ष में इसका कारण थी वह वैज्ञानिक शैली जो उसने अख्तियार की थी। अगर इस शैली के अनुसार पूर्व इतिहास या वर्त्तमान घटनाओं का अध्ययन किया जाय तो अन्य किसी भी प्राप्त शैली की अपेक्षा वह जल्दी हो सकेगा, और यही कारण है कि आधुनिक जगत् में होनेवाले परिवर्त्तनों का जो आलोचनात्मक और शिक्षाप्रद विवेचन हो रहा है, वह मार्क्स-मतानुयायी लेखकों की ओर से ही हो रहा है। यह कहना आसान है कि मार्क्स ने, मध्यमवर्ग में होनेवाली क्रान्तकारी भावनाओं की जागृति, जो आज इतनी प्रत्यक्ष है, और ऐसी ही कुछ दूसरे प्रवृत्तियों की उपेक्षा की अथवा उनका महत्व कम आँका है। लेकिन मार्क्सवाद की सबसे बड़ी विशेषता जो मुझे मालूम होती है, वह है उसमें कट्टरता का अभाव होना, निश्चित दृष्टिकोण पर आग्रह रखना और उसकी क्रियाशीलता। यह दृष्टिकोण हमें अपने समय के समाज-संगठन को समझने में सहायता कर सकता है और काम करने का तरीक़ा और बाधाओं से बचने का उपाय बता सकता है।

लेकिन कार्य का वह तरीक़ा भी स्थायी अथवा अपरिवर्त्तनीय नहीं है, बल्कि उसे स्थिति के अनुकूल बनाया जा सकता है। कम-से-कम लेनिन की यही राय थी और उसने परिवर्त्तित परिस्थितियों के अनुसार काम करके बुद्धिमत्तापूर्वक इसे साबित भी कर दिया। वह हमसे कहता है कि "किसी ख़ास अवसर की वास्तविक परिस्थिति का, विकास की एक विशेष सीमा तक पहुँच जाने पर, विस्तृत रूप से विचार किये बिना, किसी संघर्ष के निश्चित साधनों के प्रश्न पर 'हाँ,' या 'ना' कह देना मार्क्स-पद्धति का बिलकुल उल्लंघन करना है।" उसने फिर कहा है—"दुनिया में कोई भी पूर्ण नहीं है, परिस्थितियों से हमें शिक्षा लेनी होगी।"

इस विस्तृत और व्यापक दृष्टिकोण के कारण ही एक सच्चा समझदार साम्यवादी व्यक्ति, एक हद तक सामाजिक जीवन की सजीव भावना जगाता है।

राजनीति उसके लिए तात्कालिक हानि-लाभ का लेखा या अंधेरे में टटोलने

की चीज़ नही रह जाती । जिन आदर्शों और लक्ष्यो को पूरा करने के लिए वह प्रयत्न करता है, वे उसके लिए परिश्रम और उसके प्रसन्नतापूर्वक किये हुए बलिदान को सार्थक और सफल बनाते है । वह समझता है कि वह उस महान् सेना का एक अंग है जो मनुष्यजाति का भाग्य और उसका भविष्य रचने के लिए आगे बढ़ रही है, और 'इतिहास के साथ क़दम-ब-क़दम चलने' की उसमे बुद्धि है ।

शायद अधिकांश कम्यूनिस्ट इन सब बातों को नही समझते । शायद लेनिन ही ऐसा शख्स था जो जीवन की इस सजीव भावना को पूरी तरह समझता था, जिसने कि उसके प्रयत्नों को इतना कारगर बनाया । फिर भी, कुछ हद तक, हरेक कम्यूनिस्ट, जो उसके आन्दोलन के तत्त्व को समझ सका है, इन बातों को जानता है ।

बहुत-से कम्यूनिस्टों के साथ सब्र के साथ पेश आसकना बहुत मुश्किल है; उन्होंने दूसरों को चिढाने देने का अजीब ढंग अख्तियार कर लिया है । लेकिन वे भी बुरी तरह सताये हुए आदमी है, और रूस के सोवियट-संघ के बाहर, उन्हें अनगिनती कठिनाइयों का मुक़ाबिला करना पड़ता है । मैंने इनके महान् साहस और बलिदान की शक्ति को हमेशा सराहा है । करोडों भाग्य हीनों की तरह वे भी अनेक प्रकार से बहुत मुसीबतें उठाते है, लेकिन किसी क्रूर और सर्व शक्तिसम्पन्न दैव में अन्ध-श्रद्धा रखकर नही । मर्दों की तरह वे मुसीबतों का सामना करते हैं, और उनके इस मुसीबत बरदाश्त करने में एक करुण गौरव रहता है ।

रूस के समाजवादी प्रयोगों की सफलता-असफलता का मार्क्स के सिद्धान्तों पर कोई ज़ाहिरा असर नहीं पड़ता । यह हो सकता है, हालाँकि इसकी अधिक सम्भावना नहीं है, कि प्रतिकूल परिस्थितियों या राष्ट्र-शक्तियों का इकट्ठा हो जाना उन प्रयोगों को तहस-नहस कर डाले । लेकिन उस महान् सामाजिक उथल-पुथल का महत्त्व फिर भी बना ही रहेगा । वहाँ अधिकतर जो कुछ भी हुआ, उसके प्रति मेरी स्वाभाविक अरुचि होते हुए भी मै यह समझता हूँ कि वह संसार के लिए ज्यादा से ज्यादा आशा का संदेश देता है । मुझे रूस का पूरा ज्ञान नहीं है, और न मैं अपने आपको उसके कार्यों का उपयुक्त निर्णायक ही समझता हूँ । मेरा अन्देशा तो यह है कि अत्यधिक हिंसा और दमन का वातावरण उनके पीछे कहीं ऐसी भयंकर लीक न छोड़ जाय, जिससे उनका पीछा छुड़ाना मुश्किल हो जाय । लेकिन सबसे बड़ी बात जो रूस के वर्तमान भाग्य-विधाताओं के पक्ष में कही जा सकती है, वह यह है कि वे लोग अपनी भूलों से शिक्षा ग्रहण करने में नहीं हिचकते । वे अपना क़दम पीछे ले सकते हैं; और फिर नये सिरे से शुरू कर सकते हैं । अपने आदर्श को वे हमेशा अपने सामने रखते हैं । कम्यूनिस्ट इण्टरनेशनल—अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादीसंघ—द्वारा दूसरे देशों

में उठायी गई उनकी प्रगतियां नित्तान्त असफल रही हैं, और अब तो वैसी प्रगतियां घटते-घटते कम-से-कम रह गई हैं।

और फिर हिन्दुस्तान में तो कम्यूनिज्म और समाजवाद अभी दूर की बात हैं, बशर्ते कि बाहर की घटनायें उसे क़दम आगे बढ़ाने को विवश न करदें। हमें अपने यहाँ कम्यूनिज्म का सामना नही करना है, वरन उससे बढ़कर सम्प्रदायवाद का करना है। साम्प्रदायिकता की दृष्टि से हिन्दुस्तान एक गहरे अन्धकार में है। प्रभावशाली लोग निकम्मी बातों, साज़िशों और हथकण्डे फैलाने में यहाँ अपनी शक्ति बरबाद कर रहे हैं और इनमें एक-दूसरे को मात देने की कोशिश कर रहे है। उनमें से बिरले ही ऐसे होंगे जो दुनिया को ऊँचा उठाने और अधिक उज्ज्वल बनाने के प्रयत्न में दिलचस्पी रखते हों। लेकिन शायद यह तो एक अस्थायी हालत है, जो कि शीघ्र ही मिट जायगी।

कम-से-कम कांग्रेस इस साम्प्रदायिक अन्धकार से ज्यादातर दूर ही है, लेकिन उसका दृष्टिकोण निम्न बुर्ज़ुआ जैसा है, और इसके, तथा दूसरी समस्याओं के लिए जो उपाय वह सोचती है, वे भी निम्न बुर्ज़ुआई ढंग के-से ही है। मगर इस ढंग से उसका सफल हो सकना मुमकिन नहीं मालूम होता। वह आज इस निम्न मध्यम श्रेणी की प्रतिनिधि है, क्योंकि इस समय इसीकी आवाज़ बुलंद है और यही सबसे अधिक क्रान्तिकारी है। लेकिन फिर भी वह इतनी ताक़तवर नही हैं, जितनी कि वह दिखाई देती है। वह दोनों ओर—एक सबल और सुरक्षित और दूसरी अब भी कमज़ोर लेकिन बढ़ती हुई—दो शक्तियों से दबाई जा रही है। इस समय वह अपने अस्तित्व के ख़तरे में से गुज़र रही है; भविष्य में उसका क्या होगा, यह कह सकना कठिन है। जबतक वह अपने महान् उद्देश, राष्ट्र की आज़ादी, की प्राप्ति को पूरा नहीं कर लेती, तबतक वह उन सुरक्षित शक्तियों की ओर जा नहीं सकती। लेकिन इसके पहले कि वह इसमें सफलता हासिल करे यह मुमकिन है कि दूसरी शक्तियाँ ज़ोर पकड़ लें और उसे अपनी ओर खिचने के लिए प्रभावित करलें। या धीरे-धीरे उसकी जगह लेलें। लेकिन, यह संभव मालूम होता है कि जबतक राष्ट्रीय स्वतन्त्रता बहुत कुछ अंशों में प्राप्त नहीं हो जाती, तबतक कांग्रेस एक मुख्य शक्ति बनी रहेगी।

कोई भी हिंसाजनक प्रवृत्ति अनावश्यक, हानिकर और शक्ति की बरबादी मालूम होती है। मेरा ख़याल है कि असफल और इक्की-दुक्की हिंसा के कुछ उदाहरणों के होते हुए भी हिन्दुस्तान ने आम तौर पर इस प्रवृत्ति की निरर्थकता को समझ लिया है। वह रास्ता हमें हिंसा और प्रतिहिंसा की निराश भूल-भुलैयाँ में डालने के सिवा, जिससे कि निकल सकना मुश्किल होगा, और कहीं नहीं ले जा सकता।

हमसे अक्सर यह कहा जाता है कि हमको आपस में एक सूत्र में बंध जाना चाहिए और सबको 'मिलकर मुकाबिला' करना चाहिए। श्रीमती सरोजिनी नायडू अपनी सारी कवि-सुलभ भावुकता के साथ इसका ज़ोरों से प्रचार करती हैं। वह कवि हैं, इसलिए प्रेम और एकता के महत्त्व पर ज़ोर देने का उन्हें अधिकार है। इसमें शक नहीं कि 'संयुक्त मुक़ाबिला' हमेशा ही वांछनीय वस्तु है, बशर्ते कि वह मुक़ाबिला हो। इस वाक्य का विश्लेषण किया जाय तो उससे इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि जो कुछ चाहा जाता है वह है भिन्न-भिन्न वर्गों के चोटी के व्यक्तियों का पारस्परिक शर्तनामा या समझौता। ऐसे मजमूए का लाज़िमी नतीजा यह होगा कि अत्यन्त शंकाशील और नरम लोग लक्ष्य का निर्णय और पथप्रदर्शन करेंगे। जैसाकि सबको पता है, उनमें से कुछ लोग हर तरह के आन्दोलन को नापसन्द करते हैं, इसलिए नतीजा होगा 'संयुक्त अवरोध' अर्थात् सब हलचलों का रुक जाना—'संयुक्त सामने' के बजाय 'संयुक्त पीठ दिखाने' का एक व्यापक प्रदर्शन होगा।

अवश्य ही यह कहना बेवक़ूफ़ी होगी कि हम लोग दूसरों के साथ सहयोग या समझौता न करेंगे। जीवन और राजनीति दोनों ही इतने गूढ़ हैं कि उनका सरलता से समझा जा सकना हमेशा मुश्किल है। लेनिन जैसे कट्टर आदमी तक ने कहा था कि "बिना समझौता किये या मार्ग बदले आगे कुछ करना मानसिक छिछोरपन है, और क्रान्तिकारी वर्ग की गम्भीर कार्य-कुशलता के विरुद्ध है।" समझौते लाज़िमी हैं, पर हमें उनके सम्बन्ध में बहुत अधिक परेशान होने की ज़रूरत नहीं हैं। हम समझौता करें या उससे इनकार कर दें, यह एक गौण बात है। असली बात तो यह है कि मुख्य वस्तुओं को हमेशा पहला स्थान मिलना चाहिए, और गौण वस्तुयें उनका स्थान कभी न लेने पावें। अगर हम अपने सिद्धान्त और ध्येय पर दृढ़ हैं तो अस्थायी समझौते कुछ नुक़सान नहीं पहुँचा सकते। लेकिन खतरा यही है कि कहीं हम अपने कमज़ोर भाइयों की अप्रसन्नता के डर से अपने सिद्धान्तों और ध्येयों से पीछे न हट जायँ। किसीको गुमराह करना कहीं ज्यादा बुरा है, बनिस्बत किसी को नाखुश करने के।

मैं प्रचलित घटनाओं के सम्बन्ध में सरसरी तौर पर और कुछ हद तक तात्त्विक दृष्टि से लिख रहा हूँ और एक दूर बैठे हुए दर्शक की तरह तटस्थ रहने की कोशिश करता हूँ। आम तौर पर यह खयाल है कि जब कार्य मुझे अपनी ओर बुलाता है, तब मैं तमाशबीन नहीं बना रहता, बल्कि अक्सर मुझसे कहा गया है, कि मेरा दोष यह है कि काफ़ी उत्तेजना के बिना ही मैं बेवक़ूफ़ी से उसमें कूद पड़ता हूँ। मैं अब क्या करूँगा, और अपने देशबन्धुओं को क्या करने की सलाह दूँगा, यह सब

निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। शायद सार्वजनिक कामों में लगे हुए व्यक्ति की स्वाभाविक सतर्क वृत्ति मुझे समय से पहले ही किसी बात से वचन-बद्ध हो जाने से रोक देती है। लेकिन अगर मैं सचाई के साथ कहूँ तो कहना होगा कि सचमुच मैं कुछ नहीं जानता, न जानने की कोशिश ही करता हूँ। जब मैं काम कर नहीं सकता, तब परेशान क्यों होऊँ? ज़रूर ही मैं एक बहुत हद तक तो परेशान होता हूँ, लेकिन यह अनिवार्य है। कम-से-कम जबतक मैं जेल में हूँ, तबतक तो, मैं तत्काल-निर्णय की समस्याओं के चक्कर में फँसने से बचने की कोशिश करता हूँ।

जेल में रहते हुए सब हलचलों से दूर रहना पड़ता है। यहाँ मनुष्य को घटनाओं का शिकार होकर रहना पड़ता है, कार्य का विषय बनकर नहीं; भविष्य में कुछ होने की आशा में रह-रहकर इन्तज़ार करना पड़ता है। मैं हिन्दुस्तान और सारी दुनिया की राजनैतिक और सामाजिक समस्याओं पर लिख रहा हूँ, लेकिन जेल की अपनी इस छोटी-सी दुनिया को, जो कि एक अर्से से मेरा घर बन गई है, इस सबसे क्या वास्ता? क़ैदियों की एक ही बात में ख़ास बड़ी दिलचस्पी रहती है, और वह है उनकी अपनी रिहाई की तारीख़ का ख़याल।

नैनी जेल में और यहाँ अलमोड़ा में भी बहुत-से क़ैदी मेरे पास 'जुगली' के बारे में पूछने को आया करते थे। पहले तो मैं समझ ही नहीं सका कि यह 'जुगली' क्या चीज़ है; लेकिन बाद को मुझे ख़याल आया कि वह जुबिली है। वे बादशाह जार्ज की सिलवर जुबिली मनाई जाने की अफ़वाहों की ओर निर्देश करते थे, लेकिन उसे समझते न थे। पिछले उदाहरणों के कारण उनके लिए उसका एक ही अर्थ था— कुछ लोगों की जेल से मुक्ति या सज़ा में काफ़ी कमी। इसलिए हरेक क़ैदी, और ख़ासकर लम्बी अवधिवाले क़ैदी, आगे आनेवाली 'जुबली' के बारेमें बड़े उत्सुक थे। उनके लिए शासन-सुधार-विधान, पार्लमेण्ट के क़ानून और समाजवाद और कम्यूनिज्म की बनिस्बत यह 'जुगली' कहीं ज्यादा महत्त्व की चीज़ थी।

# उपसंहार

हमें कर्म करने का आदेश है; किन्तु यह क्षमता हमें नहीं दी गई है कि हम अपने कार्यों को पूरा कर सकें।

तालमद

मैं अपनी कहानी की समाप्ति पर पहुँच गया हूँ। अपनी जीवन यात्रा का, अधिकतर अपने से ताल्लुक रखनेवाला, यह विवरण, जैसा कुछ भी यह है, अलमोड़ा ज़िला जेल के अपने निवास के आज दिन—१४ फ़रवरी १९३५—तक का है। तीन महीने पहले, आज के ही दिन मैंने इस जेल में अपनी पैंतालीसवीं वर्षगांठ मनाई थी, और मैं खयाल करता हूँ कि अभी मुझे और भी कई बरस जीना है। कभी-कभी उम्र और थकान का ख़याल मुझपर ग़ालिब आ जाता है; लेकिन फिर मैं अपनेको उत्साह और चैतन्य से भरपूर महसूस करने लगता हूँ। मेरा शरीर काफ़ी गठीला है और मेरे दिमाग़ मे सदमों को पार कर जाने की क्षमता है, इसलिए मै समझता हूँ कि मै अभी काफ़ी अर्से तक ज़िन्दा रहूँगा, बशर्ते कि कोई अघटित घटना न घट जाय। लेकिन इसके पहले कि भविष्य के सम्बन्ध मे कुछ लिखा जाय उसका उपभोग कर लिया जाना ज़रूरी है।

मेरे ये साहसिक काम शायद बहुत उत्तेजना पैदा करनेवाले नहीं रहे है; कई बरसों के जेल-निवास को साहसिक कार्य का नाम नही दिया जा सकता और न वे किसी तरह अद्वितीय ही हुए हैं; क्योंकि इन बरसों को मैने, उनके सब उतार-चढ़ाव सहित, अपने हजारों देश-भाइयों और बहनों के साथ बिताया है, और इसलिए जुदी-जुदी भावनाओं, और हर्ष-विषाद, प्रचण्ड हलचलों और बरबस एकान्तवास का यह वर्णन, हम सबका संयुक्त वर्णन है। मै जन-समूह में का ही एक व्यक्ति रहा हूँ, उसके साथ काम करता रहा हूँ, कभी उसका नेतृत्व कर उसे आगे बढ़ाता रहा हूँ, कभी उससे प्रभावित होता रहा हूँ, और फिर भी, दूसरी इकाइयों की तरह दूसरों से अलग जन-कोलाहल के बीच में अपना पृथक् जीवन व्यतीत करता हूँ। हम अक्सर भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट हुए है, और उनके अनुसार अपने अनेक रंग बताये हैं, लेकिन हमने जो कुछ किया उसमें बहुत कुछ असलीयत थी, बहुत सचाई थी, और उसने हम नाचीज़ प्राणियों को ऊँचा उठा दिया, हमें अधिक सजीव बना दिया और इतना महत्त्व दे दिया जो कि अन्यथा हमें मिल नहीं सकता था। कभी-कभी हमें जीवन की उस पूर्णता को अनुभव करने का सौभाग्य मिला जो आदर्शों को कार्यरूप में परिणत करने से होती है और हमने समझ लिया कि इससे भिन्न कोई भी दूसरा ऐसा जीवन

बिताना, जिसमें इन आदर्शों का परित्याग करके किसी महान् शक्ति के सामने दीनता-अधीनता ग्रहण करनी होती, अपने अस्तित्व को नष्ट करना होता, असन्तोष और अन्तःक्लेश से भरा होता।

इन वर्षों में मुझे बहुत-से तोहफ़ों के साथ-साथ एक अनमोल तोहफ़ा यह भी मिला है कि मैं जीवन को अधिकाधिक महत्त्व का प्रयोग समझने लगा हूँ, जहाँ इतना सीखने को मिलता है। क्रमोन्नति की भावना मुझमें हमेशा रही है, वह अब भी मुझमें है और मेरी हलचलों, उसी तरह पुस्तकों के पठन-पाठन में रुचि पैदा करती है और आम तौर पर जीवन को जीने योग्य बनाती है।

'मेरी कहानी' के लिखने में मैंने हरेक घटना पर जो मनोभाव और विचार उठते थे, उन्हें देने का—जहाँतक सम्भव हो सकता था उस समय के अपने भाव स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। किसी बीते हुए मनोभाव को फिर से याददाश्त पर लाना कठिन है, और बाद में आनेवाली घटनाओं को भुलाना सरल नहीं है। इस तरह मेरे आरम्भिक दिनों के वर्णन पर पिछले विचारों का प्रभाव ज़रूर पड़ा होगा, लेकिन मेरा उद्देश्य, ख़ासकर अपने ही लाभ के लिए, अपने मानसिक विकास को अंकित करना था। मैंने जो कुछ लिखा है, शायद वह इस बात का इतना वर्णन नहीं है, कि मैं क्या रह चुका हूँ, जितना इस बात का कि कभी-कभी मैं कैसा होना चाहता था, या कैसा होने की कल्पना करता था।

कुछ महीनों पहले सर सी० पी० रामस्वामी ऐयर ने अपने एक सार्वजनिक भाषण में कहा था कि मैं जनता के भावों को प्रदर्शित नहीं करता, बल्कि और भी अधिक ख़तरनाक व्यक्ति, अपने आत्म-बलिदानों, आदर्शवाद और आत्मविश्वास की दृढ़ता के कारण, जिसे कि उन्होंने 'आत्मसम्मोहन' कहा था, हो गया हूँ। 'आत्म-सम्मोहन' से ग्रस्त व्यक्ति शायद ही अपने सम्बन्ध में निर्णय कर सकता है और किसी भी हालत में मैं इस व्यक्तिगत मामले में सर रामस्वामी के साथ बहस-मुबाहिसे में न पड़ना चाहूँगा। बहुत बरसों से हम एक-दूसरे से मिले नहीं हैं, लेकिन बहुत अर्से पहले एक समय था जबकि हम दोनों होमरूल लीग के संयुक्त मन्त्री थे। उसके बाद को बहुत घटनायें घट चुकी हैं और रामस्वामी चक्करदार जीनों को पार करते हुए गगनचुम्बी मीनार पर चढ़ते-चढ़ते चोटी तक जा पहुँचे, जबकि मैं पृथिवी पर ही, पृथिवी का साधारण प्राणी बना हुआ हूँ। सिवा इसके कि हम दोनों एक राष्ट्रवासी हैं अब उनमें और मुझमें कोई समानता नहीं रही है। वह अब, पिछले कुछ बरसों से भारत में ब्रिटिश-राज्य के ज़बरदस्त हामी हैं, भारत और उससे बाहर दूसरी जगह डिक्टेटरशिप के समर्थक हैं और ख़ुद भी एक देशी रियासत-में स्वेच्छा-

चारिता के चमकदार आभूषण बने हुए हैं। मैं समझता हूँ, हम अधिकांश बातों में मतभेद रखते हैं, लेकिन एक साधारण से मामले में हम सहमत हो सकते हैं। उनका यह कहना बिल्कुल सच है कि मैं जनता का प्रतिनिधि नहीं हूँ। इस विषय में मुझे कोई भ्रम नहीं है।

निस्सन्देह, कभी-कभी मैं यह सोचने लगता हूँ कि दरअसल क्या मैं किसीके भी भाव को प्रदर्शित करता हूँ, और मैं इसी नतीजे पर पहुँचता हूँ कि, नहीं, मैं वैसा नहीं करता। यह बात दूसरी है कि बहुत-से लोग मेरे प्रति कृपा और मैत्रीपूर्ण भाव रखते हैं। मैं पूर्व और पश्चिम का एक अजीब-सा सम्मिश्रण—मिक्सचर—बन गया हूँ, हर जगह बेमौजूं—अपने घर में कहीं का भी नहीं-सा। शायद मेरे विचार और जीवन का मेरा रास्ता पूर्वी की अपेक्षा पश्चिमी अधिक है, लेकिन हिन्दुस्तन जैसा कि वह अपने सब बच्चों के हृदय में रहता है, अनेक रूप से मेरे हृदय में भी है और अन्तर के किसी अनजान कोने में, कोई सौ, ( या संख्या कुछ भी हो ) पीढ़ियों के ब्राह्मणत्व की जातीय स्मृतियां छिपी हुई हैं। मैं अपने पिछले संस्कार और नूतन अभिज्ञान से मुक्त हो नहीं सकता। ये दोनों मेरे अंग हो गये हैं, और जहाँ वे मुझे पूर्व और पश्चिम दोनों से मिलने में सहायता करते हैं, वहाँ साथ ही, न केवल सार्वजनिक कार्यों में बल्कि खुद जीवन में भी एक आध्यात्मिक निरानन्दता का भाव पैदा करते हैं। पश्चिम में मैं विदेशी हूँ—अजनवी हूँ। मैं उसका हो नहीं सकता। लेकिन अपने देश में भी मुझे कभी-कभी ऐसा लगता है मानो मैं कहीका निर्वासित हूँ।

सुदूर पर्वत सुगम्य और उनपर चढ़ना सरल मालूम होता है, उसका शिखर आवाहन करता दिखाई देता है, लेकिन, ज्यों-ज्यों हम उसके नजदीक पहुँचते हैं, कठिनाइयां दिखाई देने लगती हैं, और जैसे-जैसे ऊँचे चढ़ते जाते हैं, चढ़ाई ज्यादा-से-ज्यादा मालूम होने लगती है और शिखर बादलों में छिपता नजर आने लगता है। फिर भी चढ़ाई प्रयत्न किये जानेयोग्य है और उसका अपना एक विचित्र आनन्द और एक विचित्र सन्तोष है। शायद जीवन को महत्त्व देनेवाली चीज़ संघर्ष ही है, अन्तिम परिणाम इतना नहीं। अक्सर यह जानना मुश्किल होता है कि सही रास्ता कौन-सा है; कभी-कभी यह जानना ज्यादा आसान होता है कि कौन-सा रास्ता सही नहीं है, और दरअसल जिसमें कुछ सचाई है, उसे नजर अन्दाज़ कर दिया जाता है। अत्यंत नम्रता के साथ मैं महान् सुकरात के अन्तिम शब्दों का उल्लेख करना पसन्द करूँगा। उसने कहा था—"मैं नहीं जानता कि मृत्यु क्या चीज है—वह कोई अच्छी चीज हो सकती है, और मुझे इसका कोई भय नहीं है। लेकिन मैं यह जानता हूँ कि किसीके उज्ज्वल भूतकाल को नष्ट कर देना बुरा है, इसलिए जिसके बारे में मैं जानता हूँ कि

बुरी है उसकी अपेक्षा जो अच्छी हो सकती है उसे मैं अपनाना पसन्द करता हूँ।"

बरसों मैंने जेल में बिताये हैं! अकेले बैठे हुए, अपने विचारों में डूबे हुए, कितनी ऋतुओं को मैंने एक दूसरे के पीछे आते-जाते और अन्त में विस्मृति के गर्भ में लीन होते देखा है! कितने चन्द्रमाओं को मैंने पूर्ण विकसित और क्षीण होते देखा है और कितने झिल-मिल करते तारामण्डल को अबाध और अनवरत गति और शान के साथ घूमते देखा है! मेरे यौवन के कितने अतीत दिवसों की यहाँ चिता-भस्म बनी हुई है, और कभी-कभी मैं इन अतीत दिवसों की प्रेत आत्माओं को उठते हुए, अपनी दुःखद स्मृतियों को साथ लाते हुए, कान के पास आकर यह कहते हुए सुनता हूँ "क्या यह करनेयोग्य था"! और इसका जवाब देने में मुझे कोई झिझक नहीं है।

अगर अपने मौजूदा ज्ञान और अनुभव के साथ मुझे अपने जीवन को फिर से दुहराने का मौक़ा मिले, तो इसमें शक नहीं कि मैं अपने व्यक्तिगत जीवन में अनेक तबदीलियाँ करने की कोशिश करूँगा, जो कुछ मैं पहले कर चुका हूँ, उसको कई तरह से उन्नत करने का प्रयत्न करूँगा, लेकिन सार्वजनिक विषयों में मेरे प्रमुख निर्णय ज्यों-के-त्यों बने रहेंगे। निस्सन्देह, मैं उन्हें बदल नहीं सकता, क्योंकि वे मेरी अपेक्षा कहीं अधिक ज़बर्दस्त हैं, और मेरे काबू से बाहर की सत्ता ने मुझे उस ओर खींचकर उन-तक पहुँचाया है।

मेरी सज़ा को आज पूरा एक बरस हो गया; सज़ा के दो बरसों में से एक बरस बीत गया है। दूसरा पूरा एक बरस अभी बाक़ी है, क्योंकि इस बार रिआयती दिन न कटेंगे, सादी सज़ा में इस तरह दिन नहीं काटते। इतना ही नहीं, पिछली अगस्त में जो ग्यारह दिन मैं बाहर रहा था, वे भी मेरी सज़ा की अवधि में बढ़ा दिये गये हैं। लेकिन यह साल भी बीत जायगा और मैं जेल से बाहर हो जाऊँगा—मगर उसके बाद? मैं नहीं जानता, लेकिन एक ऐसा भाव उठता है कि मेरे जीवन का एक अध्याय समाप्त हो गया है, और दूसरा आरम्भ होगा। वह क्या होगा, यह मैं स्पष्ट अनुमान नहीं कर सकता। मेरी जीवन-कथा के—'मेरी कहानी' के ये पन्ने अब समाप्त होते हैं।

## कुछ और

बेडनवीलर, स्वार्टस्वाल्ट
२५ अक्तूबर, १९३५

पिछले मई महीने में मेरी पत्नी भुवाली से योरप इलाज कराने के लिए गई। उसके योरप चले जाने से मेरा भुवाली जाना बन्द हो गया; पहाड़ी सड़कों पर मेरा हर पखवारे आवागमन बन्द हो गया। वह मुझे अब दिखाई न देती थी, और अलमोड़ा-जेल मेरे लिए अब पहले से भी ज्यादा सुनसान हो गया।

क्वेटा के भूकम्प की खबर मिली, जिसने कुछ समय के लिए दूसरी सब बातें भुला दीं। लेकिन अधिक समय के लिए नहीं, क्योंकि भारत सरकार हमें उसको या उसके विचित्र तरीकों को, भूलने नहीं देती। फौरन ही मालूम हुआ कि कांग्रेस के सभापति बाबू राजेन्द्रप्रसाद को, जो कि भूकम्प सहायता का काम हिन्दुस्तान के प्राय: किसी भी अन्य मनुष्य से अधिक जानते है, क्वेटा जाने और पीड़ितों की सहायता करने की इजाज़त नही दी गई। न गांधीजी या अन्य किसी प्रसिद्ध सार्वजनिक कार्य-कर्त्ता को ही वहाँ जाने दिया गया। क्वेटा-भूकम्प के बारे में लेख लिखने के कारण कई भारतीय अखबारों की जमानतें ज़ब्त करली गई।

जिधर देखिए उधर सब ओर फ़ौज़ी मनोवृत्ति, पुलिस-दृष्टिकोण दिखाई देता था—असेम्बली, में सिविल शासन में, सीमान्त पर बम बरसाये जाने में, सबमें, इसीका बोलबाला था। ज्यादातर ऐसा मालूम होता था, मानों हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी सरकार हिन्दुस्तानी जनता के एक बड़े समुदाय से मुतवातिर लड़ाई लड़ रही है।

पुलिस एक काम की और आवश्यक शक्ति है, लेकिन वह दुनिया, जो पुलिस के सिपाहियों और उनके डंडों से भरी हो, शायद रहने के लिए उपयुक्त स्थान न होगी। अक्सर यह कहा गया है कि शक्ति का अनियन्त्रित प्रयोग प्रयोग-कर्त्ता को गिरा देता है, क्योंकि इससे वह जिसके विरुद्ध इसका प्रयोग करता है उसे ज़लील और हीन बना देता है। इस समय हिन्दुस्तान में ऊँची नौकरियां, खासकर भारतीय सिविल-सर्विस वालों के दिन-पर-दिन बढ़ते जानेवाले नैतिक और बौद्धिक पतन के सिवा शायद ही कोई बात मार्के की दिखाई देती हो। खासतौर पर ऊँचे अफ़सरों में यह सबसे अधिक पाई जाती है, लेकिन आमतौर पर सभी नौकरियों में यह एक जाल की तरह फैली हुई है। जब कभी किसी ऊँचे पद पर नये आदमी की नियुक्ति का समय आता है, तब निश्चितरूप से वही आदमी पसन्द किया जाता है, जो इस नई मनोवृत्ति का सबसे अच्छा परिचायक होता है।

गत ४ सितम्बर को यकायक मैं अलमोड़ा-जेल से छोड़ दिया गया, क्योंकि यह समाचार मिला था कि मेरी पत्नी की हालत नाजुक हो गई है। स्वार्टस्वाल्ट (जर्मनी) के वेडनवीलर स्थान पर उसका इलाज हो रहा था। मुझसे कहा गया कि मेरी सज़ा मुल्तवी करदी गई है, और मैं अपनी रिहाई के साढ़े पांच महीने पहले छोड़ दिया गया। मैं फौरन हवाई जहाज़ से योरप को रवाना हुआ।

योरप इस समय हर तरह से अशान्त है, युद्ध और उपद्रवों की आशंकायें और आर्थिक संकट के बादल क्षितिज पर हमेशा ही मंडराते रहते हैं; अबीसीनिया पर धावे हो रहे हैं और वहाँ की जनता पर बम-वर्षा की जा रही है। अनेक साम्राज्यवादी सत्तायें आपस में टकरा रही है और एक-दूसरे के लिए खतरनाक बनी हुई है, और अपनी अधीन जनता पर निर्दय अत्याचार करनेवाला, उसपर बम बरसानेवाला इंग्लैंड, साम्राज्यवादी सत्ताओं का सिरमौर इंग्लैंड, शान्ति और राष्ट्रसंघ की दुहाइयाँ दे रहा है। लेकिन यहाँ इस 'ब्लेक फारेस्ट' में शान्ति और निस्तब्धता का राज्य है, यहाँतक कि जर्मनी का प्रसिद्ध चिन्ह स्वस्तिक भी नज़र नहीं आता। मैं देख रहा हूँ कि उपत्यका से कोहरा उठकर फ्रांस के सुदूर सीमान्त को छिपाता हुआ दिखनेवाले भू-प्रदेश को ढक रहा है और मैं हैरत में हूँ कि उस पार क्या है?

# परिशिष्ट—क

[ २६ जनवरी १९३०, पूर्ण स्वाधीनता-दिवस, का प्रतिज्ञा-पत्र ]

"हम भारतीय प्रजाजन भी अन्य राष्ट्रों की भांति अपना यह जन्म-सिद्ध अधिकार मानते हैं कि हम स्वतंत्र होकर रहें, अपनी मेहनत का फल हम खुद भोगें और हमें जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक सुविधायें मिलें जिससे हमें भी विकास का पूरा-पूरा मौक़ा मिले। हम यह भी मानते हैं कि अगर कोई सरकार ये अधिकार छीन लेती है और प्रजा को सताती है तो प्रजा को उस सरकार के बदल देने या मिटा देने का भी हक़ है। हिन्दुस्तान की अंग्रेज़ी सरकार ने हिन्दुस्तानियों की स्वतन्त्रता का ही अपहरण नहीं किया है, बल्कि उसका आधार भी ग़रीबों के रक्तशोषण पर है और उसने आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से हिन्दुस्तान का नाश कर दिया है। इसलिए हमारा विश्वास है कि हिन्दुस्तान को अंग्रेज़ों से सम्बन्ध-विच्छेद करके पूर्ण स्वराज्य या मुक़म्मिल आज़ादी प्राप्त कर लेनी चाहिए।

"भारत की आर्थिक बरबादी हो चुकी है। जनता की आमदनी को देखते हुए उससे बेहिसाब कर वसूल किया ज़ाता है। हमारी औसत दैनिक आय सात पैसे है और हमसे जो भारी कर लिये जाते हैं उनका २० फी सदी किसानों से लगान के रूप में और ३ फी सदी गरीबों से नमक-कर के रूप में वसूल किया जाता है।

"हाथ-कताई आदि ग्राम-उद्योग नष्ट कर दिये गये हैं। इससे साल में कम-से-कम चार महीने किसान लोग बेकार रहते हैं। हाथ की कारीगरी नष्ट हो जाने से उनकी बुद्धि भी मंद हो गई और जो उद्योग इस प्रकार नष्ट कर दिये गये हैं उनकी जगह दूसरे देशों की भांति कोई नये उद्योग जारी भी नहीं किये गये हैं।

"चुंगी और सिक्के की व्यवस्था इस प्रकार की गई है कि उससे किसानों का भार और भी बढ़ गया। हमारे देश में बाहर का माल अधिकतर अंग्रेज़ी कारख़ानों से आता है। चुंगी के महसूल में अंग्रेज़ी माल के साथ साफ़ तौर पर पक्षपात होता है। इसकी आय का उपयोग ग़रीबों का बोझा हलका करने में नहीं, बल्कि एक अत्यंत अपव्ययी शासन को क़ायम रखने में किया जाता है। विनिमय की दर भी ऐसे मनमाने तरीक़े से निश्चित की गई है कि जिससे देश का करोड़ों रुपया बाहर चला जाता है।

"राजनैतिक दृष्टि से हिन्दुस्तान का दर्जा जितना अंग्रेज़ों के ज़माने में घटा है उतना पहले कभी नहीं घटा था। किसी भी सुधार-योजना से जनता के हाथ में असली राजनैतिक सत्ता नहीं आई। हमारे बड़े-से-बड़े आदमी को विदेशी सत्ता के

सामने सिर झुकाना पड़ता है। अपनी राय आज़ादी से ज़ाहिर करने और आज़ादी से मिलने-जुलने के हमारे हक़ छीन लिये गये हैं और हमारे बहुत-से देशवासी निर्वासित कर दिये गये हैं। हमारी सारी शासन की प्रतिभा मारी गई है और सर्व-साधारण को गांवों के छोटे-छोटे ओहदों और मुंशीगिरी से सन्तोष करना पड़ता है।

"संस्कृति के लिहाज़ से शिक्षा-प्रणाली ने हमारी जड़ ही काट दी और हमें जो तालीम दी जाती है उससे हम अपनी गुलामी की ज़ंजीरों को ही प्यार करने लगे हैं।

"आध्यात्मिक दृष्टि से, हमारे हथियार ज़बरदस्ती छीनकर हमें नामर्द बना दिया गया। विदेशी सेना हमारी छाती पर सदा मौजूद रहती है। उसने हमारी मुक़ाबिले की भावना को बड़ी बुरी तरह से कुचल दिया है। उसने हमारे दिलों में यह बात बिठा दी है कि हम न अपना घर सम्हाल सकते हैं और न विदेशी हमलों से देश की रक्षा कर सकते हैं। इतना ही नहीं, चोर, डाकू और बदमाशों के हमलों से भी हम अपने बाल-बच्चों और जान-माल को नहीं बचा सकते। जिस शासन ने हमारे देश का इस तरह सर्वनाश किया है, उसके अधीन रहना हमारी राय में मनुष्य और ईश्वर दोनों के प्रति जुर्म है। किन्तु हम यह भी मानते हैं कि हमें हिंसा के द्वारा स्वतंत्रता नहीं मिलेगी। इसलिए हम ब्रिटिश सरकार से यथा-संभव स्वेच्छा-पूर्वक किसी भी प्रकार का सहयोग न करने की तैयारी करेंगे और सविनय अवज्ञा और करबन्दी तक के साज सजायंगे। हमारा पक्का विश्वास है कि अगर हम राज़ी-राज़ी सहायता देना और उत्तेजना मिलने पर भी हिंसा किये बग़ैर कर देना बन्द कर सकें तो इस अमानुषी राज्य का नाश निश्चित है। इसलिए हम शपथपूर्वक संकल्प करते हैं कि पूर्ण स्वराज्य की स्थापना के लिए कांग्रेस समय-समय पर जो आज्ञायें देगी, उनका हम पालन करते रहेंगे।"

# परिशिष्ट—ख

*[ यरवड़ा सेन्ट्रल जेल, पूना मे सर तेजबहादुर सप्रू और श्री मुकुन्दराव जयकर को ता० १५ अगस्त को कांग्रेस-नेताओं द्वारा लिखा गया पत्र, जिसमें सुलह की शर्तें थीं । ]*

प्रिय मित्रगण,

आप लोगो ने ब्रिटिश-सरकार और कांग्रेस में शान्तिपूर्ण समझौता करने का जो भार अपने ऊपर लिया है, उसके लिए हम लोग आपके बहुत-बहुत आभारी हैं । आपका वाइसराय के साथ जो खत-किताबत हुआ है, और आपके साथ हम लोगों की जो बहुत अधिक बातें हुई है और हम लोगों में आपस में जो कुछ परामर्श हुआ है, उस सबका ध्यान रखते हुए हम इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि अभी ऐसे समझौते का समय नही आया है, जो हमारे देश के लिए सम्मानपूर्ण हो । पिछले पांच महीनों में देश में जो गज़ब की जागृति हुई है और भिन्न-भिन्न सिद्धान्त व मत रखनेवाले लोगों में से छोटे-बड़े सभी प्रकार और वर्ग के लोगों ने जो बहुत अधिक कष्ट सहन किया है, उसे देखते हुए हम लोग यह अनुभव करते है कि न तो वह कष्ट-सहन काफ़ी ही हुआ है, और न वह इतना बड़ा ही हुआ है कि उससे तुरन्त ही हमारा उद्देश पूरा हो जाय । शायद यहाँ यह बतलाने की कोई आवश्यकता न होगी कि हम आपके या वाइसराय के इस मत से सहमत नही हैं कि सत्याग्रह-आन्दोलन से देश को हानि पहुँची है या वह आन्दोलन कुसमय में खड़ा किया गया है या वह अवैध है । अंग्रेज़ों का इतिहास ऐसे-ऐसे रक्तपूर्ण क्रान्तिकारियों के उदाहरणों से भरा पड़ा है, जिनकी प्रशंसा के राग गाते हुए अंग्रेज़ लोग कभी नहीं थकते; और उन्होंने हम लोगों को भी ऐसा ही करने की शिक्षा दी है । इसलिए जो क्रान्ति विचार की दृष्टि से बिलकुल शान्तिपूर्ण है और जो कार्य-रूप में भी बहुत बड़े पैमाने में और अद्भुत रूप से शान्तिपूर्ण ही है, उसकी निन्दा करना वाइसराय या किसी और समझदार अंग्रेज़ को शोभा नहीं देता । पर जो सरकारी या ग़ैर सरकारी आदमी वर्तमान सत्याग्रह-आन्दोलन की निन्दा करते हैं, उनके साथ झगड़ा करने की हमारी कोई इच्छा नहीं है । हम मानते है कि सर्व-साधारण जिस आश्चर्य-जनक रूप से इस आन्दोलन में शामिल हुए, वही इस बात का यथेष्ट प्रमाण है कि यह उचित और न्यायपूर्ण है । यहाँ कहने की बात यही है कि हम लोग भी प्रसन्नतापूर्वक आपके साथ मिलकर इस बात की कामना करते है कि अगर किसी तरह सम्भव हो, तो यह सत्याग्रह-आन्दोलन बन्द कर दिया जाय या स्थगित कर दिया। अपने देश के पुरुषों, स्त्रियों और

बच्चों तक को अनावश्यक रूप से ऐसी परिस्थिति में रखना कि उन्हें जेल जाना पड़े, लाठियाँ खानी पड़ें और इनसे भी बढ़-बढ़कर दुर्दशायें भोगनी पड़ें, हम लोगों के लिए कभी आनन्ददायक नहीं हो सकता। इसलिए जब हम आपको और आपके द्वारा वाइसराय को यह विश्वास दिलाते हैं कि सम्मानपूर्ण शान्ति और समझौते के लिए जितने मार्ग हो सकते हैं, उन सबको ढूँढकर उनका अवलम्बन करने के लिए हम अपनी ओर से कोई बात न उठा रखेंगे, तो आशा है कि आप हम लोगों की इस बात पर विश्वास करेंगे। लेकिन फिर भी हम मानते हैं कि अभीतक हमें क्षितिज पर ऐसी शान्ति का कोई चिह्न नहीं दिखाई देता। हमें अभीतक इस बात का कोई लक्षण नहीं दिखाई पड़ता कि ब्रिटिश सरकारी दुनिया का अब यह विचार हो गया है कि खुद हिन्दुस्तान के स्त्री-पुरुष ही इस बात का निर्णय कर सकते हैं कि हिन्दुस्तान के लिए सबसे अच्छा कौन-सा रास्ता है। सरकारी कर्मचारियों ने अपने शुभ विचारों की जो निष्ठापूर्ण घोषणायें की हैं और जिनमें से बहुत-सी प्रायः अच्छे उद्देश से की गई हैं, उनपर हम विश्वास नहीं करते। इधर मुद्दतों से अंग्रेज़ इस प्राचीन देश के निवासियों की धन-सम्पत्ति का जो बराबर अपहरण करते आये हैं, उनके कारण उन अंग्रेज़ों में अब इतनी शक्ति और योग्यता नहीं रह गई है कि वे यह बात देख सकें कि उनके इस अपहरण के कारण हमारे देश का कितना अधिक नैतिक, आर्थिक और राजनैतिक ह्रास हुआ है। वे अपने-आपको यह देखने के लिए तैयार ही नहीं कर सकते कि उनके करने का सबसे बड़ा एक काम यही है कि वे जो हमारी पीठ पर चढ़े बैठे हैं, उसपर से उतर जायँ; और लगभग सौ बरसों तक भारत पर उनका राज्य रहने के कारण सब प्रकार से हम लोगों का नाश और ह्रास करनेवाली जो प्रणाली चल रही है, उससे वे बाहर निकलकर विकसित होने में हमारी सहायता करें; और अबतक उन्होंने हमारे साथ जो अन्याय किये हैं, उनका इस रूप में प्रायश्चित्त कर डालें।

पर हम यह बात जानते हैं कि आपके और हमारे देश के कुछ और विज्ञ लोगों के विचार हमारे इन विचारों से भिन्न हैं। आप यह विश्वास करते हैं कि शासकों के भावों में परिवर्तन हो गया है; और अधिक नहीं तो कम-से-कम इतना परिवर्तन जरूर हो गया है कि जिससे हम लोगों को प्रस्तावित परिषद् में जाकर शरीक होना चाहिए। इसलिए हालाँकि हम इस समय एक विशेष प्रकार के बन्धन में पड़े हुए हैं, तो भी जहाँतक हमारे अन्दर शक्ति है वहाँतक हम इस काम में खुशी से आप लोगों का साथ देंगे। हम जिस परिस्थिति में पड़े हुए हैं, उसे देखते हुए, आपके मित्रतापूर्ण प्रयत्न में हम अधिक-से-अधिक जिस रूप में और जिस सीमा तक सहायता दे सकते हैं, वह इस प्रकार है:—

(१) हम यह समझते हैं कि वाइसराय ने आपके पत्र का जो जवाब दिया है, उसमें प्रस्तावित परिषद् के सम्बन्ध में जिस भाषा का प्रयोग किया गया है, वह भाषा ऐसी अनिश्चित है कि पारसाल लाहौर में जो राष्ट्रीय माँग पेश की गई थी, उसका ध्यान रखते हुए हम वाइसराय के उस कथन का कोई मूल्य या महत्व ही निर्धारित नहीं कर सकते; और न हमारी स्थिति ही ऐसी है कि काँग्रेस की कार्य-समिति, और ज़रूरत हो तो महासमिति के नियमित रूप से अधिवेशन में बिना विचार किये हम लोग अधिकारपूर्ण रूप से कोई बात कह सकें। पर हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि व्यक्तिगत तौर पर हम लोगों के लिए इस समस्या का कोई ऐसा निराकरण तबतक सन्तोषजनक न होगा जबतक कि (क) पूरे और स्पष्ट शब्दों में यह बात न मान ली जाय कि भारत को इस बात का अधिकार प्राप्त होगा कि वह जब चाहे तब ब्रिटिश साम्राज्य से अलग हो जाय। (ख) भारत में ऐसी पूर्ण राष्ट्रीय सरकार स्थापित हो जो उसके निवासियों के प्रति जवाबदेह हो। उसे देश की रक्षक शक्तियों (सेना आदि) पर और तमाम आर्थिक विषयों पर पूरा अधिकार और नियन्त्रण प्राप्त हो और जिसमें उन ११ बातों का भी सामावेश हो जाय जो गांधीजी ने वाइसराय को अपने पत्र में लिखकर भेजी थीं। (ग) हिन्दुस्तान को इस बात का अधिकार प्राप्त ने हो जाय कि ज़रूरत हो तो वह एक ऐसी स्वतंत्र पंचायत बैठाकर इस बात का निर्णय करा सके कि, अंग्रेज़ों को जो विशेष पावने और रिआयतें वग़ैरा प्राप्त हैं, जिसमें भारत का सार्वजनिक ऋण भी शामिल होगा, और जिनके सम्बन्ध में राष्ट्रीय सरकार का यह मत होगा कि ये न्याय-पूर्ण नहीं हैं या भारत की जनता के लिए हितकर नहीं है, वे सब अधिकार, रिआयतें और ऋण आदि उचित, न्यायपूर्ण और मान्य हैं या नहीं।

नोट—अधिकार हस्तान्तरित होते वक्त भारत के हित के विचार से इस किस्म के जिस लेन-देन आदि की ज़रूरत होगी, उसका निर्णय भारत के चुने हुए प्रतिनिधि करेंगे

( २ ) ऊपर बतलाई हुई बातें ब्रिटिश-सरकार को अगर ठीक जँचें और वह इस सम्बन्ध में सन्तोष-जनक घोषणा कर दे तो हम कांग्रेस की कार्य-समिति से इस बात की सिफ़ारिश करेंगे कि सत्याग्रह-आन्दोलन या सविनय-अवज्ञा का आन्दोलन बन्द कर दिया जाय; अर्थात्, केवल आज्ञा-भंग करने के लिए ही कुछ विशिष्ट कानूनों का भंग न किया जाय। पर विलायती कपड़े और शराब, ताड़ी वगैरा की दूकानों पर बाकायदा शान्तिपूर्ण पिकेटिंग जारी रहेगी, जबतक कि सरकार खुद कानून बनाकर शराब, ताड़ी आदि और विलायती कपड़े की बिक्री बन्द न कर देगी। सब लोग अपने घरों

में बराबर नमक बनाते रहेंगे और नमक-कानून की दण्ड-सम्बन्धी धारायें काम में नहीं लाई जायँगी। नमक के सरकारी या लोगों के निजी गोदामों पर धावा नहीं किया जायगा।

( ३ ) ( क ) ज्योंही सत्याग्रह-आन्दोलन रोक दिया जायगा, ज्योंही उसके साथ वे सब सत्याग्रही कैदी और राजनैतिक क़ैदी, जो सजा पा चुके हैं पर जो हिंसा के अपराधी नही हैं या जिन्होंने लोगों को हिंसा करने के लिए उत्तेजित नहीं किया है, सरकार-द्वारा छोड़ दिये जायँगे। ( ख ) नमक-क़ानून, प्रेस-क़ानून, लगान-कानून और इसी प्रकार के और क़ानूनो के अनुसार जो तमाम सम्पत्तियां ज़ब्त की गई हैं, वे सब लोगों को वापस कर दी जायँगी। ( ग ) सज़ायाफ्ता सत्याग्रहियों से जो जुर्माने वसूल किये गये हैं या जो जमानतें ली गई हैं, उन सबकी रकमें लौटा दी जायँगी। ( घ ) वे सब राज-कर्मचारी, जिनमें गाँवों के कर्मचारी भी शामिल हैं, जिन्होने अपने पद से इस्तीफा दे दिया है या जो आन्दोलन के समय नौकरी से छुड़ा दिये गये हैं, अगर फिर से सरकारी नौकरी करना चाहें तो अपने पद पर नियुक्त कर दिये जायँगे।

नोट—ऊपर जो उपधारायें दी गई हैं, उनका व्यवहार असहयोग-काल के सज़ायाफ्ता लोगों के लिए भी होगा।

( ङ ) वाइसराय ने अबतक जितने आर्डिनेन्स जारी किये हैं, वे सब रद कर दिये जायँगे।

( च ) प्रस्तावित परिषद् में कौन-कौन लोग सम्मिलित किये जायँगे और उसमें कांग्रेस का प्रतिनिधित्व किस प्रकार का होगा, इसका निर्णय उसी समय होगा जब पहले ऊपर बताई हुई आरम्भिक बातों का सन्तोषजनक निपटारा हो जायगा।

आपके—

मोतीलाल नेहरू
मोहनदास करमचन्द गांधी
सरोजिनी नायडू
वल्लभभाई पटेल
जयरामदास दौलतराम
सैयद महमूद
जवाहरलाल नेहरू

# परिशिष्ट—ग

[ २६ जनवरी १९३१ को पढ़ा गया स्मारक-प्रस्ताव ]

भारत-माता की उन सन्तानों का, जिन्होंने आज़ादी की महान् लड़ाई में भाग लिया और देश की स्वतंत्रता के लिए अनेक कष्ट सहे और क़ुर्बानी की; अपने उन महान् और प्रिय नेता महात्मा गांधी का, जो कि हमारे लिए सतत स्फूर्ति के स्रोत रहे हैं, और जो हमें सदैव उसी ऊँचे आदर्श और पवित्र साधनों का मार्ग दिखाते रहे हैं; उन सैकड़ों हज़ारों बहादुर नवयुवकों का, जिन्होंने स्वतंत्रता की वेदी पर अपने प्राणों की बलि चढ़ाई; पेशावर और सारे सीमाप्रान्त और शोलापुर, मिदनापुर और बम्बई के शहीदों का; उन सैकड़ों हज़ारों भाइयों का, जिन्होंने दुश्मन के नृशंस लाठी-प्रहारों का मुक़ाबिला किया और उन्हें सहा; गढ़वाली रेजीमेन्ट के सैनिकों और फ़ौज और पुलिस के उन सब भारतीय सिपाहियों का, जिन्होंने कि अपनी जानें ख़तरे में डालकर भी अपने देशभाइयों पर गोली आदि चलाने से इनकार कर दिया; गुजरात के उन दबंग किसानों का, जिन्होंने कि बिना झुके और पीठ दिखाये सभी नृशंस अत्याचारों का मुक़ाबिला किया; भारत के अन्य प्रदेशों के उन बहादुर और पीड़ित किसानों का, जिन्होंने कि सब प्रकार के दमन को सहकर भी लड़ाई में पूरा भाग लिया; उन व्यापारियों और व्यवसाय-क्षेत्र के अन्य समुदायों का, जिन्होंने कि ज़बरदस्त नुक़सान उठाकर भी राष्ट्रीय संग्राम में, विशेषकर विदेशी वस्त्र और ब्रिटिश माल के बहिष्कार में, सहायता की; उन एक लाख स्त्री-पुरुषों का, जो जेल गये और सब प्रकार के कष्ट सहे, यहाँतक कि कभी-कभी जेल के अन्दर भी लाठी-प्रहार और चोटें सहीं; और ख़ासकर उन साधारण स्वयंसेवकों का, जिन्होंने कि भारत-माता के सच्चे सिपाहियों की तरह बिना किसी प्रकार की ख्याति या पुरस्कार की इच्छा के एक-मात्र अपने महान् ध्येय का ही ध्यान रखकर कष्टों और कठिनाइयों के बीच भी अनवरत और शान्तिपूर्वक कार्य किया, हम·········के निवासी गौरव और कृतज्ञता-पूर्ण हृदय से अभिवादन करते हैं; और हम अभिनन्दन और हार्दिक सराहना करते हैं, भारत की नारी-जाति का, जो कि भारत-माता के संकट के समय अपने घरों की शरण छोड़कर अदम्य साहस और सहिष्णुतापूर्वक, राष्ट्रीय सेना में अपने भाइयों के साथ कंधे-से-कंधा भिड़ाकर अगली क़तार में खड़ी रहीं और बलिदान और सफलता के उल्लास में पूरा-पूरा भाग लिया; और भारत की उस युवकशक्ति और बानरसेना पर जिसे कि उसकी सुकुमार आयु भी लड़ाई में भाग लेने और अपने ध्येय पर क़ुर्बान होने से न रोक सकी, अपना गर्व प्रकट करते हैं।

और साथ ही, हम कृतज्ञतापूर्वक इस बात की सराहना करते हैं कि भारत की सब बड़ी और छोटी जातियों और वर्णों ने इस महान् संग्राम में हाथ बंटाया और ध्येय की प्राप्ति के लिए शक्तिभर प्रयत्न किया। खासकर अल्पसंख्यक जातियों—मुस्लिम, सिख, पारसी, ईसाई आदि के प्रति और भी कृतज्ञता प्रकट करते हैं, जिन्होंने अपने साहस और अपनी समान-मातृभूमि के प्रति अपनी एकनिष्ठ भक्ति के साथ, एक ऐसे संयुक्त और अविभाज्य राष्ट्र के निर्माण में, जिसकी कि जय निश्चित हो, सहायता दी, और हिन्दुस्तान की स्वतन्त्रता प्राप्त करने और उसे क़ायम रखने तथा उस नवीन स्वतन्त्रता का भारत के सब समुदाय के लोगों की बेड़ियाँ तोड़कर सबमें से असमानता दूर करने के रूप में मानवता के उच्चतर उद्देश्य की पूर्ति के लिए उपयोग करने का निश्चय किया। भारत के हित के लिए बलिदान और कष्ट-सहन के ऐसे महान् और स्फूर्तिदायक उदाहरणों को अपने सामने रखते हुए हम स्वतंत्रता की अपनी प्रतिज्ञा को दुहराते हैं और जबतक हिन्दुस्तान आज़ाद नहीं हो जाता तबतक अपनी लड़ाई जारी रखने का निश्चय करते हैं।

# निर्देशिका

## अ



## आ



## इ

## घ



## च



## छ



## ज



## झ



## ट

## श



## ह

# सस्ता साहित्य मण्डल के प्रकाशन

१—**दिव्य जीवन**। प्रसिद्ध लेखक श्री स्वेट मार्डेन के The Miracle of Right Thought का अनुवाद। जीवन की कठिन समस्याओं से निराश युवक के लिए संजीवनी विद्या। मूल्य ।=)

२—**जीवन-साहित्य**। गुजराती के महान विचारक काका कालेलकर के शिक्षा, संस्कृति, सभ्यता, राजनीति आदि महत्त्वपूर्ण विषयों पर लिखे निबन्धों का संग्रह। मूल्य १।)

३—**तामिलवेद**। दक्षिण के अछूत ऋषि तिरुवल्लुवर का उत्तम और उत्कृष्ट नैतिक, धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, शिक्षाओं से भरा हुआ ग्रन्थ। मूल्य ।।।)

४—**भारत में व्यसन और व्यभिचार**। [ शैतान की लकड़ी ] भारत में व्यसन और व्यभिचार सम्बन्धी हिन्दी की सर्वोत्तम पुस्तक। इन दुर्व्यसनों में फंसे देश का नग्न दर्शन तथा उन व्यसनों को दूर करने का उपाय। मूल्य ।।।=)

५—**सामाजिक कुरीतियाँ**। [ जब्त : अप्राप्य ] मूल्य ।।।)

६—**भारत के स्त्री-रत्न**। प्राचीन भारतीय देवियों के आदर्श जीवन चरित्र, तीन भागों में। मूल्य ३-)

७—**अनोखा**। फ्रांस के प्रसिद्ध उपन्यासकार विक्टर ह्यूगो के 'लाफिंग मैंन' नामक उपन्यास का अनुवाद। राजाओं तथा दरबारियों की कुटिल क्रीड़ाओं का नग्न दर्शन। मनोरंजक, करुण और गंभीर। मूल्य १।=)

८—**ब्रह्मचर्य-विज्ञान**। ब्रह्मचर्य पर अत्युत्तम पुस्तक। उपनिषदों, पुराणों तथा बहुत से अन्य धार्मिक ग्रन्थों के प्रमाणों से युक्त। मूल्य ।।।=)

९—**यूरोप का इतिहास**। अर्थात् बलिदान, राजनीति, देशप्रेम तथा स्वाधीनता का इतिहास। मू० २)

१०—**समाज-विज्ञान**। समाज की रचना उसके विकास तथा निर्माण पर लेखक ने बहुत अच्छा प्रकाश डाला है। 'समाज-शास्त्र' पढ़नेवाले विद्यार्थियों के लिए यह अत्युत्तम ग्रन्थ है। मूल्य १।।)

११—**खद्दर का संपत्तिशास्त्र**। खादी के अर्थशास्त्र पर श्री० रिचर्ड बी० ग्रेग लिखित The Economics of Khaddar का हिन्दी अनुवाद। खादी की उपयोगिता आपने वैज्ञानिक तथा आर्थिक ढंग से सिद्ध की है। मू० ।।।=)

१२—**गोरों का प्रभुत्व**। इसमें बतलाया गया है कि संसार की सवर्ण जातियां स्वतंत्र होने के लिए किस प्रकार गोरी जातियों से लड़ रही हैं और अपनेको स्वतंत्र कर रही हैं। मू० ।।।=

१३—चीन की आवाज़। [ अप्राप्य ] मूल्य ।-)

१४—दक्षिण अफ्रिका के सत्याग्रह का इतिहास। सत्याग्रह की उत्पत्ति तथा उसके प्रयोग का स्वयं गांधीजी द्वारा लिखा इतिहास पढ़ें कि किस प्रकार इस शस्त्र द्वारा अफ्रिकावासियों ने अपने अधिकारों की बहादुरी से और बिना दूसरों को तकलीफ पहुँचाते हुए रक्षा की। मूल्य १।)

१५—विजयी बारडोली। [ अप्राप्य ] मूल्य २)

१६—अनीति की राह पर। ब्रह्मचर्य तथा अप्राकृतिक संतति-निरोध पर लिखी गई महात्मा गांधी की सर्वोत्कृष्ट पुस्तक। मूल्य ।=)

१७—सीताजी की अग्नि-परीक्षा। लंका-विजय के बाद सीताजी की अग्नि-शुद्धि का यह वैज्ञानिक विश्लेषण है। विज्ञान का हवाला देकर यह बताया गया है कि वह घटना सच्ची है। मूल्य ।-)

१८—कन्या-शिक्षा। इसमें बतलाया गया है कि छोटी बालिकाओं को अपने बाल्य-जीवन के विषय मे किस तरह शिक्षा देनी चाहिए। मूल्य ।)

१९—कर्मयोग। [ अप्राप्य ] मूल्य ।=)

२०—कलवार की करतूत। महर्षि टालस्टाय की सरल भाषा में शराब के आविष्कार की मनोरंजक कहानी। मूल्य =)

२१—व्यावहारिक सभ्यता। युवकों, बच्चों तथा अवस्थाप्राप्त लोगों के लिए रोज़ के व्यवहार में आनेवाली शिक्षाओं की पोथी। बोधप्रद, शिक्षाप्रद तथा ज्ञानप्रद। मूल्य ॥)

२२—अँधेरे में उजाला। महर्षि टालस्टाय के नाटक का अनुवाद। हृदय-मंथन की अनुपम कहानी। मूल्य ॥)

२३—स्वामीजी का बलिदान। [ अप्राप्य ] मूल्य ।-)

२४—हमारे ज़माने की गुलामी। [ जब्त : अप्राप्य ] मूल्य ।)

२५—स्त्री और पुरुष। स्त्री और पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध तथा ब्रह्मचर्य पर टालस्टाय के उत्तम विचार। मूल्य ॥)

२६—घरों की सफ़ाई। घरों व गांवों तथा शरीर की सफाई पर उत्तम पुस्तक। मूल्य ।=)

२७—क्या करें? टालस्टाय की पुस्तक What to do? का अनुवाद। गरीबों एवं पीड़ितों की समस्यायें। मूल्य १॥=)

२८—हाथ की कताई-बुनाई। [ अप्राप्य ] मूल्य ॥=)

२९—आत्मोपदेश। यूनान के प्रसिद्ध विचारक महात्मा एपिक्टेटस के उत्तम और

महत्वपूर्ण उपदेशों का संग्रह । मूल्य ।)

**३०—यथार्थ आदर्श जीवन ।** [ अप्राप्य ] मूल्य ।।-)

**३१—जब अंग्रेज़ नहीं आये थे**—तब भारत हरा-भरा था । भारत की दुर्दशा तो अंग्रेजों के यहां आने के बाद से शुरू हुई है । पार्लमेंट द्वारा नियुक्त रिपोर्ट के आधार पर लिखित । मूल्य ।)

**३२—गंगा गोविन्दसिंह ।** [ अप्राप्य ] मूल्य ।।=)

**३३—श्रीरामचरित्र ।** श्री० चिन्तामणि विनायक वैद्य लिखित रामायण की कहानी । करुण और मधुर । मर्यादा-पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी का उत्तम जीवन-चरित्र । मूल्य १।)

**३४—आश्रम-हरिणी ।** पौराणिक उपन्यास । विधवा-विवाह-समस्या पर पौराणिकों के विचार । मूल्य ।)

**३५—हिन्दी-मराठी-कोष ।** मराठी भाषा-भाषियों को हिन्दी सीखने में बड़े काम की चीज है । मूल्य २)

**३६—स्वाधीनता के सिद्धान्त ।** आयर्लेण्ड के अमर शहीद टिरेन्स मेक्स्विनी के Principles of Freedom का अनुवाद । आज़ादी की इच्छावालों की नसों में नया खून, नया जोश और स्फूर्ति भरनेवाली पुस्तक । मूल्य ।।)

**३७—महान् मातृत्व की ओर ।** स्त्री-जीवन की प्रारम्भिक कठिनाइयों का दिग्दर्शन कराती हुई मातृत्व की जिम्मेदारी का दिग्दर्शन करानेवाली स्त्री-उपयोगी उत्तम पुस्तक । मूल्य ।।।=)

**३८—शिवाजी की योग्यता ।** छत्रपति शिवाजी का चरित्र-विश्लेषण । मूल्य ।=)

**३९—तरंगित हृदय ।** गुरूकुल कांगड़ी के आचार्य श्री देवशर्माजी के अनुपम विचार । मूल्य ।।)

**४०—हालैण्ड की राज्यक्रान्ति [ नरमेध ]** डच-प्रजा के आत्मयज्ञ का पुनीत और रोमांचकारी इतिहास । हृदय में उथल-पुथल मचा देनेवाली क्रान्तिकारी पुस्तक । मूल्य १।।)

**४१—दुखी दुनिया या प्रलय-प्रतीक्षा ।** गरीब और पीड़ित मानवी दुनिया के करुण चित्र । चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य की सच्ची घटनाओं पर लिखी कहानियां । मधुर, करुण और सुन्दर । मूल्य ।।)

**४२—जिन्दा लाश ।** टालसटाय के The Living Corpse नामक नाटक का अनुवाद । मूल्य ।।)

**४३—आत्म-कथा ।** महात्मा गांधी लिखित । संसार के साहित्य का एक रत्न ।

उपनिषदों की भांति पवित्र और उपन्यासों की भांति रोचक। चरित्र को ऊँचा उठानेवाली। हरिभाऊ उपाध्याय द्वारा किया गया प्रामाणिक अनुवाद। दो खण्डों में। बढ़िया जिल्द, सुन्दर छपाई। मूल्य १॥)

४४—**जब अंग्रेज आये।** [ ज़ब्त : अप्राप्य ] मूल्य १।=)

४५—**जीवन-विकास।** विकासवाद को विषद रूप से समझानेवाली हिन्दी की एक ही पुस्तक। मूल्य १) १॥)

४६—**किसानों का बिगुल।** [ ज़ब्त : अप्राप्य ] मूल्य =)

४७—**फांसी।** विक्टर ह्यूगो लिखित फांसी की सजा पाये हुए एक युवक के मनोभावों का चित्रण। करुण और रुलानेवाला। मूल्य ॥)

४८—**अनासक्तियोग और गीता-बोध।** गीता पर गांधीजी की व्याख्या। मूल श्लोक तथा महात्माजी के गीता के तात्पर्य—गीताबोध-सहित ३५० पृष्ठों में मूल्य केवल ।=) केवल अनासक्तियोग =), सजिल्द ।) गीताबोध -)॥

४९—**स्वर्ण विहान** [ ज़ब्त : अप्राप्य ] मूल्य ।=)

५०—**मराठों का उत्थान और पतन।** मराठा साम्राज्य का विस्तृत और सच्चा इतिहास। मराठी इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् श्री गो० दा० तामसकर लिखित। मराठी भाषा में भी मराठों का ऐसा इतिहास नहीं हैं। मूल्य २॥)

५१—**भाई के पत्र।** स्त्री-जीवन पर प्रकाश डालनेवाली, उनकी घरेलू एवं रोजमर्रा की कठिनाई में पथप्रदर्शक बहनों के हाथों में दिये जाने योग्य एक ही पुस्तक। अपनी बहनों, बहुओं और बेटियों को इसकी एक प्रति अवश्य दें। मूल्य १॥) २)

५२—**स्वगत।** चरित्र को गढ़नेवाले उच्च तथा युवकों को सच्चा रास्ता दिखानेवाले उत्तम विचार। मूल्य ।=)

५३—**युगधर्म।** [ ज़ब्त : अप्राप्य ] मूल्य १=)

५४—**स्त्री-समस्या।** नारी-जीवन की जटिल समस्याओं का गम्भीर अध्ययन। मूल्य १॥।) सजिल्द २)

५५—**विदेशी कपड़े का मुकाबला।** प्रसिद्ध अर्थशास्त्री श्री मनमोहन गांधी लिखित। इसमें बतलाया गया है कि किस प्रकार भारत अपनी आवश्यकतानुसार पूरा कपड़ा तैयार कर सकता है। मू० ॥=)

५६—**चित्रपट।** श्री शान्तिप्रसाद वर्मा के गद्य-गीतों का संग्रह। भावनामय, करुण और मधुर। मूल्य ।=)

५७—**राष्ट्रवाणी।** [ अप्राप्य ] मूल्य ॥=।

५८—**इंग्लैण्ड में महात्माजी**। महात्माजी के प्राइवेट सेक्रेटरी का लिखा हुआ महात्माजी की इंग्लैण्ड की यात्रा का सुन्दर, सरस और सुबोध वर्णन। हिन्दी में अपने ढंग का सर्वोत्तम यात्रा-वृत्तान्त। मूल्य १)

५९—**रोटी का सवाल**। मशहूर रूसी क्रांतिकारी लेखक प्रिंस क्रोपाटकिन की अमर कृति Conquest of Bread का सरल अनुवाद। समाजवाद का सुन्दर, सरल और सुबोध विवेचन। मूल्य १)

६०—**दैवी-सम्पद्**। सर्वोत्तम नैतिक एवं धार्मिक पुस्तक। 'दैवी-सम्पद् से मनुष्य को मोक्ष होती है।' गीता की इसी बात का सुन्दर विवेचन है। मनुष्य को मोक्ष का रास्ता बतानेवाली पुस्तक। मूल्य।=)

६१—**जीवन-सूत्र**। अंग्रेजी में थॉमस केंपिस लिखित सर्व प्रसिद्ध पुस्तक 'इमिटेशन आफ क्राइस्ट' का अनुवाद। जीवन को उन्नत और विचारों को सात्विक बनानेवाली। मूल्य ।।।)

६२—**हमारा कलंक**। अस्पृश्यता-निवारण पर महात्माजी के विचारों एवं लेखों का संग्रह, उनके महान् उपवास की कहानी। महात्माजी के आशीर्वाद सहित। मूल्य ।।=)

६३—**बुद्बुद्**। (हरिभाऊ उपाध्याय) अपने आदर्शों से जीवन का मेल मिलानेवाले युवकों के लिए विचारणीय पुस्तक है। मूल्य ।।)

६४—**संघर्ष या सहयोग?** प्रिंस क्रोपाटकिन की Mutual Aid नामक पुस्तक का अनुवाद। इसमें दिखलाया है कि पशु और पक्षियों से लेकर मनुष्य तक सबके जीवन का आधार सहयोग है; संघर्ष नहीं; एकता है लड़ाई नहीं। मूल्य १।।)

६५—**गांधी-विचार-दोहन**। श्री किशोरलाल घ० मशरूवाला, इसमें महात्माजी के समस्त राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं नैतिक विचारों का बड़ा सुन्दर दोहन किया है। मूल्य ।।)

६६—**एशिया की क्रांति**। [ ज़ब्त : अप्राप्य ] मूल्य १।।।)

६७—**हमारे राष्ट्र-निर्माता**। लो० तिलक, स्व० मोतीलालजी, मालवीयजी, महात्मा जी, दास बाबू, जवाहरलालजी, मौ० मुहम्मदअली, सरदार और प्रेसिडेन्ट पटेल की जीवनियां—उनके संस्मरण, जीवन की झांकियां एवं व्यक्तित्व के विश्लेषण के साथ—लिखी गई हैं। हिन्दी में अपने क़िस्म की एक पुस्तक, मूल्य २।।) ३)

६८—**स्वतंत्रता की ओर**—। (हरिभाऊ उपाध्याय) इसमें बताया गया है कि हमारे जीवन का लक्ष्य क्या है? हम उस लक्ष्य—स्वतंत्रता—को किस प्रकार और

किन साधनों से प्राप्त कर सकते हैं; हमारा समाज कैसा हो; हमारा साहित्य कैसा हो हमारा जीवन कैसा बनें जिससे हम स्वतंत्रता की ओर बढ़ते चले जावें। हिन्दी में इस पुस्तक का बड़ा आदर हुआ है। मूल्य १॥)

६९—**आगे बढ़ो।** स्वेट् मार्डेन के Pushing to the Front का संक्षिप्त अनुवाद। कठिनाई में पड़े युवकों को सच्चे साथी के समान रास्ता बतानेवाली। मूल्य ॥)

७०—**बुद्ध-वाणी।** भगवान् बुद्ध के चुने हुए वचनों का संग्रह। बुद्धधर्म का सार तत्त्व। बौद्ध-धर्म के हिन्दी में मिले सब ग्रन्थों का सार। मूल्य ॥=)

७१—**कांग्रेस का इतिहास।** डॉ० पट्टाभिसीतारामैया की लिखी तथा कांग्रेस की स्वर्ण-जयन्ती पर प्रकाशित अंग्रेजी पुस्तक The History of the Congress का यह प्रामाणिक अनुवाद है। इसकी भूमिका राष्ट्रपति श्री राजेन्द्र बाबू ने लिखी है। हिन्दी अनुवाद तथा संपादन श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने किया है। यह दूसरा संस्करण है, बड़े आकार के ६५० पृष्ठों की सजिल्द पुस्तक। मूल्य २॥)

७२—**हमारे राष्ट्रपति।** कांग्रेस के पहले अधिवेशन से अबतक के तमाम सभापतियों के जीवन-चरित्र संक्षेप में इस पुस्तक में दे दिये गये हैं। हिन्दी में अपने विषय की यह उत्तम तथा एक-मात्र पुस्तक है। इसकी भूमिका राजेन्द्र बाबू ने लिखी है। सब सभापतियों के चित्रों के साथ, पृष्ठ संख्या ४०० मूल्य १)

७३—**मेरी कहानी।** पं० जवाहरलाल नेहरू की आत्म-कथा, पृष्ठ सं० ७७५ सजिल्द मूल्य ४)

**[ सस्ता साहित्य मण्डल के ये उच्चकोटि के सस्ते और जीवन निर्माणकारी प्रकाशन १) प्रवेश फीस देकर स्थायी ग्राहक बन जाने पर सबको पौने मूल्य में मिल सकते हैं। ग्राहकों को प्रत्येक पुस्तक की एक-एक ही प्रति मिल सकती है। —व्यवस्थापक ]**

———o———